समयसार सिद्धि

भाग-२

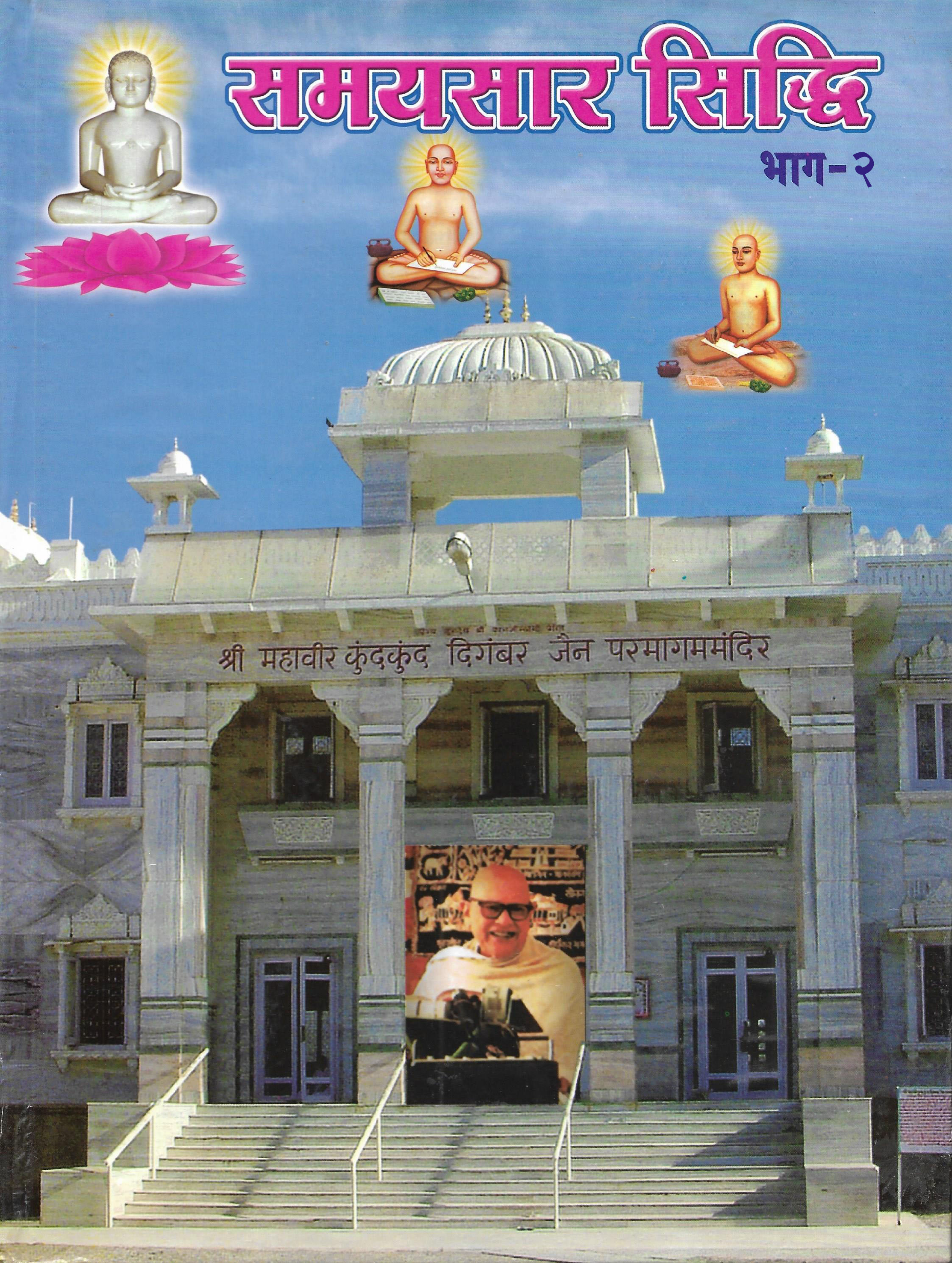

ॐ

परमात्मने नम:

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं. 35

समयसार सिद्धि

भाग-२ (पूर्वार्द्ध)

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दश: प्रवचन
(गाथा १३ से १९ तथा कलश ५ से २०)
प्रवचन क्रमांक ५३ से ८१

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
वीर निर्वाण 2539 विक्रम संवत् 2070 ईस्वी सन् 2013
(प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन की जन्म शताब्दी के अवसर पर)

ISBN No. : 978-93-81057-04

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्मयुगपुरुष,

निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान-वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान-प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे। विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है - ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर-कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल जोहरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा - 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव, प्रतिबुद्ध कैसे हो? - उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 - इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष-वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!
- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला

दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये - ऐसी बात अन्दर है।

- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है - ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म सम्प्रदाय-बाड़ा-गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है – उसका यथार्थ ज्ञान अपने को–मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही – यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है – एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया, इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई – वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी–पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

इस ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के जीव अधिकार की गाथा 13 से 19 तथा कलश 5 से 20 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 53 से 81 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा

है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी ड़ेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस प्रकार उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दश: लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में डॉ. देवेन्द्रभाई एम. दोशी, सुरेन्द्रनगर; श्री देवशीभाई चावड़ा, राजकोट तथा श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन—ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्तत: समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृतने पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त

पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

कलश नम्बर	प्रवचन नम्बर	तारीख	पृष्ठ क्रमांक
कलश–५	–	–	१
	५३	०९–०८–१९७८	२
कलश–६	–	–	१८
	५४	१०–०८–१९७८	१९
	५५	१२–०८–१९७८	३३
	५६	१३–०८–१९७८	४९
	५७	१४–०८–१९७८	६४
कलश–७	–	–	७८
	५८	१५–०८–१९७८	७९
गाथा–१३	–	–	९१
	५८	१५–०८–१९७८	९४
	५९	१६–०८–१९७८	९७
	६०	१७–०८–१९७८	११२
	६१	१८–०८–१९७८	१२८
	६२	१९–०८–१९७८	१४४
कलश–८	–	–	१५५
	६२	१९–०८–१९७८	१५८
	६३	२०–०८–१९७८	१६३
	६४	२१–०८–१९७८	१७८
	६५	२२–०८–१९७८	१९४
कलश–९	–	–	१९७
	६५	२२–०८–१९७८	१९८

कलश नम्बर	प्रवचन नम्बर	तारीख	पृष्ठ क्रमांक
कलश–१०	–	–	२१३
	६६	२३–०८–१९७८	२१४
गाथा–१४	–	–	२२२
	६६	२३–०८–१९७८	२२७
	६७	२४–०८–१९७८	२३६
	६८	२५–०८–१९७८	२५३
	६९	२६–०८–१९७८	२७०
	७०	२७–०८–१९७८	२८७
कलश–११	–	–	३०३
	७१	२८–०८–१९७८	३०४
कलश–१२	–	–	३२०
	७१	२८–०८–१९७८	३२१
	७२	२९–०८–१९७८	३२३
कलश–१३	–	–	३२६
	७२	२९–०८–१९७८	३२६
गाथा–१५	–	–	३३४
	७२	२९–०८–१९७८	३३६
	७३	३०–०८–१९७८	३४४
	७४	३१–०८–१९७८	३६०
	७५	०१–०९–१९७८	३७७
कलश–१४	–	–	३९०
	७५	०१–०९–१९७८	३९१

कलश नम्बर	प्रवचन नम्बर	तारीख	पृष्ठ क्रमांक
कलश–१५	–	–	३९४
	७६	०२–०९–१९७८	३९४
गाथा–१६	–	–	४००
	७६	०२–०९–१९७८	४०१
कलश–१६	–	–	४०८
	७६	०२–०९–१९७८	४०८
कलश–१७	–	–	४११
	७६	०२–०९–१९७८	४११
कलश–१८	–	–	४१४
	७७	०३–०९–१९७८	४१४
कलश–१९	–	–	४२२
	७७	०३–०९–१९७८	४२३
गाथा–१७–१८	–	–	४३०
	७८	०५–०९–१९७८	४३२
	७९	०६–०९–१९७८	४४६
	८०	०८–०९–१९७८	४५९
कलश–२०	–	–	४६४
	८०	०८–०९–१९७८	४६५
	८१	०९–०९–१९७८	४७४
गाथा–१९	–	–	४८५
	८१	०९–०९–१९७८	४८७

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

भाग - २ (पूर्वार्द्ध)

पूर्वरङ्ग

कलश - ५

अब, आचार्य शुद्धनय को प्रधान करके निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं। अशुद्धनय की (व्यवहारनय की) प्रधानता में जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है, जब कि यहाँ उन जीवादि तत्त्वों को शुद्धनय के द्वारा जानने से सम्यक्त्व होता है, यह कहते हैं। टीकाकार इसकी सूचनारूप तीन श्लोक कहते हैं, उनमें से प्रथम श्लोक में यह कहते हैं कि व्यवहारनय को कथञ्चित् प्रयोजनवान कहा, तथापि वह कुछ वस्तुभूत नहीं है :—

(मालिनी)

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित्॥ ५॥

श्लोकार्थ : [व्यवहरण-नयः] जो व्यवहारनय है, वह [यद्यपि] यद्यपि [इह प्राक्-पदव्यां] इस पहली पदवी में (जब तक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक) [निहित-पदानां] जिन्होंने अपना पैर रखा है — ऐसे पुरुषों को [हन्त] अरे रे! [हस्तावलंबः स्यात्] हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, [तद्-अपि] तथापि [चित्-चमत्कार-मात्रं पर-विरहितं परमं अर्थं अन्तः पश्यतां] जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्यभावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत) परम 'अर्थ' को अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं, उन्हें [एषः] यह व्यवहारनय [किञ्चित् न] कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।

भावार्थ : शुद्ध स्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण होने के बाद अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनकारी नहीं है॥ ५॥

प्रवचन नं. ५३ कलश-५ दिनाङ्क ०९-०८-१९७८ बुधवार
श्रावण शुक्ला ५, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, चौथा कलश चला गया है। अन्तिम दो लाइन थी। **अब, आचार्य शुद्धनय को प्रधान करके निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं।** अर्थात् क्या कहा? कि पहले यह कहा था कि ज्ञानस्वरूप आत्मा अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा...ऐसा भेद समझाया था, परन्तु वह भेद कोई चीज नहीं है। ज्ञानस्वरूप आत्मा को समझाने के लिए (कहा) कि यह ज्ञान, वह आत्मा — ऐसा भेद करके समझाया था, वह व्यवहार है। व्यवहार आता अवश्य है बीच में, परन्तु वह आदरणीय नहीं है — ऐसा कहते हैं। समझ में आया कुछ? यह आत्मा चैतन्यस्वरूप, ऐसा जो चैतन्यस्वरूप, वह ज्ञानस्वरूप-ऐसा जो गुण-गुणी का भेद करके बात करना, उसका कथन जो आता है, वह पहले व्यवहार में हस्तावलंबरूप आता है, परन्तु वह आदरणीय नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। **आचार्य शुद्धनय को प्रधान करके निश्चय समयकत्व का स्वरूप कहते हैं।** अर्थात् जो त्रिकाली वस्तु है, अनन्त गुण का पिण्ड-वह निश्चयसम्यक्त्व का विषय है। जो ध्रुवस्वरूप, चिदानन्द भगवत् ज्ञायकस्वभाव, वही सम्यग्दर्शन का विषय है।

निश्चय सम्यग्दर्शन उसके–द्रव्य के लक्ष्य से होता है। सच्चा सम्यक्त्व, सत्य दर्शन, चौथा गुणस्थान... आहाहा!...वह त्रिकाली ज्ञायक भगवत् स्वरूप के आश्रय से होता है। इसलिए यहाँ निश्चयनय को मुख्य करके सम्यक्त्व की व्याख्या की है। आहाहा!

अशुद्धनय की (व्यवहारनय की) प्रधानता में जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। भेद करके बात की थी, वह व्यवहार भी वह वास्तविक है नहीं। आहाहा! **जबकि यहाँ उन जीवादि तत्त्वों को शुद्धनय के द्वारा जानने से सम्यक्त्व होता है, यह कहते हैं।** सूक्ष्म विषय है। आहाहा! नौ के भेद करके कथन नौ का (किया) परन्तु (है) एक का कथन — वह वस्तु है अभेद, उसमें यह ज्ञान, वह आत्मा–ऐसा जो भेद करना, वही एक निमित्त और व्यवहार (है, उसे) हस्तावलम्ब कहा जाता है, परन्तु वह अनुसरण करने योग्य नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। वह व्यवहार की मुख्यता में कहा था। **जबकि यहाँ उन जीवादि तत्त्वों को शुद्धनय के द्वारा जानने से सम्यक्त्व होता है, वह कहते हैं।** आहाहा! **टीकाकार इसकी सूचनारूप तीन श्लोक कहते हैं, उनमें से प्रथम श्लोक में यह कहते हैं कि व्यवहार को कथंचित् प्रयोजनवान कहा....** जानने के लिए कहा था, परन्तु आदर करने के लिए बिलकुल प्रयोजनवान नहीं। आहाहा! **कुछ वस्तुभूत नहीं है।** ऐसा कहते हैं।

व्यवहारणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित्॥ ५॥

वहाँ अपने ११वीं गाथा में आया था — जिनवचन में व्यवहार को — भेद को हस्तावलम्ब जानकर बहुत कहा है। धन्नालालजी! क्या कहा? व्यवहार को हस्तावलम्ब जानकर जिनवाणी में बहुत कहा है, परन्तु उसका फल संसार है। यह हस्तावलम्ब... आहाहा! पण्डित जयचन्द (जी के भावार्थ) में आ गया है, ११वीं गाथा के भावार्थ में... कि भेद का पक्ष तो जगत को अनादि का है और भेद के पक्ष की बातें परस्पर किया करते हैं, और जिनवाणी में भी भेद के पक्ष को हस्तावलम्ब जानकर बहुत कहा है, परन्तु तीनों का फल संसार है। यह गजब बात है।

श्रोता : भगवान ने कहा है और उसका फल संसार?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ने कहा है, वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। उसके बदले निमित्त से लाभ होगा? निमित्त तो राग है, वह तो राग है-गुण-गुणी का भेद है, वह राग है। आहाहा! वह ज्ञान कराया, परन्तु वह आदरणीय नहीं है। आहाहा!

क्योंकि निश्चय के द्रव्यस्वभाव ऐसा है, भगवान आत्मा का गुण-स्वभाव ऐसा है कि विकाररूप परिणमन रहित होना, वह उसका गुण है। क्या कहा? विकाररूप जो परिणमता है, षटकारकरूप से विकृत अवस्था, उससे रहितपने होना, वह उसका 'भाव' नामक गुण है। 'भाव' नाम का एक गुण है। विकृतपने के परिणमन से रहित होना, वह उसका गुण है; विकृतपने से सहित होना — ऐसा उसका कोई गुण नहीं है। आहाहा! (आत्मा में) अनन्त गुण है परन्तु उनमें ऐसा कोई गुण नहीं है कि विकारपने गुण हो — ऐसा कोई गुण नहीं है। आहा...हा...! अर्थात् उसमें एक गुण ऐसा है कि षटकारकरूप परिणति जो विकृत अवस्था, व्यवहार की-राग की होती है; जिसे हस्तावलम्ब कहते हैं — आहाहा! उससे रहितपने परिणमन (हो) — ऐसा उसका वह गुण है। उस व्यवहार से होवे-ऐसा तो गुण उसमें नहीं है, क्योंकि अनन्त गुण निर्मलपने परिणमित हों — ऐसा गुण है। कोई गुण विकारपने परिणमें — ऐसा कोई गुण आत्मा में-अनन्त में है ही नहीं। समझ में आया? यह बात बहुत सूक्ष्म है, बापू! अभी तो इतना फेरफार हो गया है... आहा! व्यवहार के रागरूप परिणमन (होवे) — ऐसा जीव का कोई गुण नहीं है। जीव का गुण तो, भगवान आत्मा का गुण, उस गुण का गुण... विकाररहित परिणमन होना, वह गुण का गुण है। धन्नालालजी!

श्रोता : गुण का गुण?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस गुण का कार्य। गुण का गुण (अर्थात्) गुण का कार्य। आहाहा! ऐसी चीज है, भाई!

भगवान आत्मा, राग के-व्यवहाररत्नत्रय के राग से परिणमन रहित — ऐसा उसका गुण है क्योंकि विकृतरूप से-व्यवहार, दया, दान आदिरूप से परिणमना ऐसा कोई गुण, अनन्त गुण में एक भी गुण नहीं है; परन्तु उससे रहित परिणमना-ऐसा एक गुण है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! समझ में आया? इसलिए यहाँ कहते हैं-टीकाकार उसकी बात करते हैं। व्यवहारनय अब,

(मालिनी)

व्यवहारणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित्॥ ५॥

न ऐसकिंचित, न ऐसकिंचित... आहाहा!

अब इसका श्लोकार्थ... '**व्यवहारनय**' वह कलश टीकाकार ने तो इसका अर्थ ऐसा किया है, व्यवहारनय का तो कथनमात्र! व्यवहारनय अर्थात् कथन मात्र! वस्तु नहीं। भाई! कलश टीकाकार है न, यह पाँचवाँ, पाँचवाँ श्लोक है, बहुत बार कहा जा चुका है, यह तो; सुननेवाले अलग-अलग होते हैं न! व्यवहारनय... जितना कथनमात्र, कथनमात्र! वस्तु नहीं; कथन... क्योंकि राग चाहे तो देव-गुरु की श्रद्धा का राग या पञ्च महाव्रत का राग या शास्त्र की ओर का-परद्रव्य की ओर के झुकाववाला पढ़ने का (या) जानने का राग, उसरूप होना — ऐसा जीव में कोई गुण नहीं है। आहाहा! उसरूप न होना — ऐसा जीव का गुण है। समझ में आया इसमें ? यह तो लोग कहते हैं न कि व्यवहार से निश्चय होता है, परन्तु उस वस्तु में व्यवहार है ही नहीं, उससे निश्चय हो कहाँ से आया ? व्यवहार का परिणमन ही निश्चय का कोई गुण नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! यह भगवान तो, जो विकार के विकल्प-व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग, जिसे जिनवाणी में हस्तावलम्ब कहा, वह भी बन्ध का कारण है। आहाहा! और बन्ध के कारणरूप होना — ऐसा किसी जीव में, अनन्त...अनन्त...अनन्त...अनन्त...अनन्त गुण हैं... अनन्त... अनन्त... अनन्त...अनन्त... जिनकी संख्या की हद नहीं है। जैसे आकाश के क्षेत्र को कहीं हद नहीं है, कहाँ हो रहा आकाश ? वैसे ही अनन्त गुणों की हद नहीं है कि यह गुण, अब यह-यह यह अन्तिम। अनन्त...अनन्त...अनन्त...अनन्त...अनन्त...अनन्त... में अन्तिम (गुण कौनसा ?) ऐसी कोई हद नहीं है। आहाहा! आकाश का अन्त कहाँ ? क्या है यह ? अनन्तगुना अनन्त योजन, अनन्त योजन अनन्त को अनन्त से गुण करो कि अब आकाश हो गया-ऐसा है ? आहाहा! जिसके क्षेत्र का भी अन्त नहीं है — ऐसा जिस क्षेत्र को 'ज्ञ' क्षेत्र जाननेवाला भगवान क्षेत्र 'ज्ञ' है यह तो। उसके गुण की संख्या की कोई हद नहीं है

कि अनन्त...अनन्त...अनन्त...अनन्त में यह...यह..यह...अनन्त में...अनन्त में....अनन्त में...अनन्त में अन्तिम यह आया! आहाहा! ऐसी जो अनन्त गुण की राशि प्रभु, जो सम्यग्दर्शन का विषय (है।) आहाहा! क्योंकि वह सत्य इतना और ऐसा है। उसे उसरूप से ज्ञान करके प्रतीति में लेना, उसे सत्य दर्शन (अर्थात्) जैसा सत्य है, वैसा दर्शन हुआ। समझ में आया? आहाहा! वह यहाँ कहते हैं — व्यवहार पहले कहा गया, **यद्यपि पहली पदवी में (जब तक) स्वरूप की प्राप्ति नहीं हुई हो तब तक** उसे गुण का भेद का विकल्प उसे समझाना पड़ता (है।) आहाहा! कि जो यह आत्मा, वह ज्ञानस्वरूप है, दर्शनस्वरूप है — ऐसा जो भेद का विकल्प, पहले उस ज्ञान का अङ्ग गिनकर, सम्यग्ज्ञान का अङ्ग नहीं परन्तु व्यवहार ज्ञान का अङ्ग गिनकर...ऐसा कलश टीका में लिखा है। समझ में आया? पहले ऐसा आता है। आहाहा!

हस्तावलम्बन जानकर, है? **जिन्होंने अपना पैर रखा है- ऐसे पुरुषों को, अरे-रे! हस्तावलम्बक तुल्य कहा है;** आचार्य खेद से कहते हैं — अरे रे! उसे नौ तत्व की श्रद्धा और गुण-गुणी के भेद की बात-ऐसी बात आती है, अरे रे! परन्तु वह तो खेद का कारण है; वह आत्मा को लाभ का कारण नहीं। आहाहा! जिसे वीतराग कथित व्यवहार का विषय... आहाहा! यह हस्तावलम्बन जानकर बहुत कहा है, आहाहा! प्रवचनसार, चरणानुयोग (सूचक चूलिका) में आया था — हे पंचाचार! ज्ञानाचार! विनय से पढ़ना, अक्षरों को ऐसे करने-योगदान करना-यह सब ज्ञान व्यवहाराचार! तू मेरा स्वरूप नहीं है। दर्शनाचार — निःशंक, निःकाँक्ष — ऐसो व्यवहार सम्यक्त्व के आठ आचार, यह तू मेरा स्वरूप नहीं है। पञ्च महाव्रत और पाँच समिति, (तीन) गुप्ति — ऐसे अट्ठाईस मूलगुण, यह विकल्प-तू मेरा स्वरूप नहीं है, परन्तु मेरी पूर्णदशा नहीं है, तब तक तू है, पाँचों ही आचार है। व्यवहार के ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य और तपाचार। आहाहा! यह जो भगवान ने व्यवहार कहा है, वहाँ अर्थ में तो ऐसा आया है कि मैं तेरे प्रसाद से जब तक पूर्ण न होऊँ (तब तक)... यह व्यवहार का कथन है। (श्रोता : वास्तव में मेरा स्वरूप नहीं है।) ऐसा स्वरूप है। आहाहा!

मैं पूर्णानन्द को प्राप्त न होऊँ, तब तक तेरा ऐसा भाव होता है, इतना बस! परन्तु है,

वह बन्ध का कारण है और जो बन्ध के कारण का भाव...आहाहा! यह अनन्त... अनन्त... अनन्त...गुणों का पर्वत-गुण का गोदाम, अनन्त गुण का गोदाम प्रभु (है), जिसमें अनन्त की अनन्त का अन्त नहीं-ऐसे अनन्त गुणों का गोदाम, (आत्मा में) ऐसा कोई गुण नहीं कि व्यवहाररूप रागपने परिणमित हो — ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है, भाई! कोई वाद-विवाद से पार पड़े — ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? वह यहाँ कहते हैं। पहले जब तक सुनता है, तब तक इसका लक्ष्य भेद में रहता है। आहाहा!

ऐसे पुरुषों को हस्तावलम्बन तुल्य कहा है। निमित्तरूप से ज्ञान कराया है। आहाहा! **तथापि**... आहाहा! **जो पुरुष चैतन्य चमत्कारमात्र...** भगवान आत्मा चैतन्य चमत्कार... चमत्कार, इसका क्या अर्थ? आहाहा! जिसे तीन काल के समय से आकाश के प्रदेश अनन्तगुने, उनसे अनन्त गुने तो आत्मा के गुण (हैं)। आहाहा! और वह चैतन्य-चमत्कार है। ऐसा कोई अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, कोई चमत्कारी चीज है। अहाहाहा...! अरे! उसकी बात का पता नहीं पड़ता, उस वस्तु को दृष्टि नहीं करता, उसका ज्ञान नहीं करता और बाहर की बात मैं करके मर जाता है — यह व्रत किये, यह तप किया और... आहाहा! कठिन काम है। इस व्यवहार व्रत-तपरूप परिणमना — ऐसा उसमें कोई गुण नहीं है। ऐसा जो भगवान आत्मा चित्-चमत्कार वस्तु... आहाहा! जिसका विश्वास करने पर, जिसकी दृष्टि करने पर चैतन्य-चमत्कार के अनन्त गुण, पर्याय में व्यक्तरूप से उछलकर व्यक्त प्रगट होते हैं। आहाहा! कहो, देवीलालजी! ऐसा स्वरूप है, भाई! आहाहा!

जिसकी शक्तियों के संग्रह की संख्या का पार नहीं; क्षेत्र भले ही शरीरप्रमाण हो, परन्तु उसकी शक्तियों के माप का कोई माप नहीं है। कोई माप नहीं; उसका ज्ञान माप कर लेता है। आहाहा! क्या कहा यह? भगवान आत्मा, अनन्त-अनन्त शक्तियों की सीमा नहीं.... आहाहा! उनकी कोई हद नहीं। सीमा नहीं कहते है कि यह मेरा खेत इतना सीमावर्ती है। इतने (योजन में) सीमावर्ती है या २५-५० योजन में है। ऐसी इन गुणों की कोई सीमा नहीं है। आहाहा! ऐसे गुण की सीमा रहित (असीम) प्रभु; जिसे व्यवहाररूप से परिणमना... ऐसे अनन्त-अनन्त गुण, परन्तु ऐसा कोई गुण नहीं कि व्यवहार के रागरूप परिणमे-ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा!

हाँ, उसमें लिया है न भाई! ३९-४० (वीं) शक्ति, नहीं? ३९ (वीं) शक्ति में 'भाव' लिया है, यह कि षट्कारक के परिणमन से परिणमित होती विकृत अवस्था, उससे रहितपने होना-ऐसा उसमें 'भाव' और 'क्रियाशक्ति' गुण है। षटकारक के शुद्ध परिणमनरूप परिणमित होना — यह उसका गुण है-४७ शक्ति! आहा...हा! गजब काम ४७ शक्तियाँ तो... आहाहा! अरे भाई! तू ज्ञान में-लक्ष्य में तो ले! आहाहा! उस अमाप चीज का ज्ञान की पर्याय में माप ले ले। आहाहा!

श्रोता : अमाप का माप कर।

पूज्य गुरुदेवश्री : तू अमाप का माप कर तो यह सम्यग्ज्ञान कहलायेगा। आहाहा! समझ में आया? मार्ग...बापू! वीतरागमार्ग, अर्थात् जिनेश्वरमार्ग, अर्थात् दिगम्बरमार्ग, अर्थात् आत्ममार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र....** यह चैतन्य-चमत्कारमात्र जिसमें राग का तो अभाव है, निमित्त का तो अभाव है, परन्तु जिसमें वर्तमान प्रगट पर्याय का भी जिसमें अभाव है।

श्रोता : चैतन्य का क्या चमत्कार है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वयं ही चमत्कारी है चीज ही।

श्रोता : किस प्रकार रहती है।

पूज्य गुरुदेव श्री : अल्पक्षेत्र में रहती है, फिर भी अलोक-लोक को जानती है, पर्याय। आहाहा! अल्पक्षेत्र में और अल्पकाल मैं एक समय की पर्याय होती है, फिर भी अमाप-ऐसे गुण का समुद्र प्रभु, उसे वह जानती है। जिसके क्षेत्र का माप नहीं, कहीं अन्त नहीं, उसे भी जानती है। जिससे काल की शुरुआत नहीं.... कब? कहाँ? आहाहा! उसे भी जानती है। ऐसी जो ज्ञान की पर्याय, उसे जहाँ चैतन्य चमत्कार की ओर झुकाया.... आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या हो? यह तो इसने अनन्त काल में एक सैकेण्ड (भी) किया ही नहीं!

श्रोता : सुना भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा सुना नहीं। यह क्या है? यह, वह यह? मेरा नाथ अन्दर

चैतन्य-चमत्कार से भरपूर (है।) वह कोई विकार को करे, और पर का करे और पर से अपने में कुछ होवे — ऐसी वह चीज ही नहीं है। आहाहा! आहाहा!

जो पुरुष... पुरुष, अर्थात् आत्मा; पुरुष ही करते हैं — ऐसा कुछ नहीं। **जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र...** आहाहा! जिसमें व्यवहार का परिणमन करना-ऐसा तो गुण नहीं; परन्तु जिसमें वर्तमान पर्याय है, वह उसमें (ध्रुव में) नहीं है। आहा...हा! जिस ज्ञान की पर्याय ने अमाप को माप में ले लिया है, वह पर्याय भी उसमें नहीं है। आहाहा! — ऐसा जो चैतन्य चमत्कार, आहाहा! **मात्र...** मात्र शब्द है न? चैतन्यमात्र अर्थात् कोई राग नहीं, विकल्प नहीं, पर्याय नहीं, भेद नहीं... आहाहा! **परद्रव्य-भावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत)...** आहाहा! जिसे ११वीं गाथा में भूतार्थ कहा; ६वीं गाथा में जिसे ज्ञायक कहा... आहाहा! **चैतन्य चमत्कारमात्र, परद्रव्य-भावों से (रहित)...** पहले तो अस्ति कहा — चैतन्य-चमत्कारमात्र वस्तु, वस्तु, वस्तु वस्तु... अब **परद्रव्यों से रहित...** नास्ति कहा — रागादि से रहित। आहाहा! **परम अर्थ को अन्तरङ्ग में...** आहाहा! ऐसा परम पदार्थ प्रभु.... जिसकी शक्ति के, गुण के संग्रह का माप नहीं है। आहाहा! यह फिर क्या है यह? वहाँ क्षेत्र का माप नहीं है। काल का माप नहीं, यहाँ गुण का माप नहीं; फिर भी क्षेत्र तो इतना है — शरीरप्रमाण क्षेत्र है। अरे! अंगुल के असंख्यातवें भाग में निगोद के अनन्त जीव; वह एक-एक जीव अनन्त-अनन्त गुण के माप से, अमाप से भरा हुआ है। आहाहा! अरे, बापू! उसे द्रव्य की श्रद्धा कब होगी? आहाहा! अंगुल के असंख्यातवें भाग में यहाँ, अनन्त जीव है यहाँ। सारे लोक में इतने भरे हैं। डुंगरी-प्याज, लहसुन की कली-एक टुकड़ा (उसमें) असंख्य शरीर, एक शरीर में अनन्त जीव; एक-एक जीव में अमाप-अनन्त गुण-उन सबका क्षेत्र छोटा है, परन्तु उस क्षेत्र की यहाँ जरूरत नहीं है। उसके स्वभाव के सामर्थ्य की क्या चीज है? समझ में आया? आहाहा!

ऐसे परद्रव्यभावों से रहित परम अर्थ को...परम पदार्थ ...आहाहा! चैतन्य चमत्कार त्रिकाल अनन्त गुण की अमाप वस्तु, प्रभु! आहाहा! उसे **अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं...** अन्तरङ्ग में-अन्तर अवलोकन करते हैं, पर्याय में, आहाहा! ज्ञान की पर्याय उसे अवलोकन करती है। आहाहा! वह पर्याय कैसी और कितनी ताकतवाली है कि जो

अमाप गुण की शक्ति का संग्रह प्रभु... आहाहा! भाई! सम्यग्दर्शन और उसका विषय तथा उसे जाननेवाली ज्ञान की पर्याय, कोई अलौकिक चीज... अरे रे! ऐसी वह जो चीज है, उसे जो अवलोकन करती है... अवलोकन करती है, वह पर्याय है। अमाप ऐसा भगवान आत्मा, उसे जो ज्ञान की पर्याय अवलोकन करती है... (अवलोकन करनेवाली) पर्याय (है) ध्रुव, ध्रुव को कहाँ अवलोकेगा? यह पर्याय सिद्ध की। (पर्याय) अवलोकन करती है, **उसकी श्रद्धा करते हैं।** आहाहा! जो अमाप शक्ति का संग्रहालय प्रभु, अनन्त गुणों के संग्रह का आलय-स्थान, ध्रुवधाम, उसे जो अन्तर में, परसन्मुखता से छूटकर स्वसन्मुख होते हैं और तब अवलोकन करते हैं। समुद्र, बड़ा गुण का समुद्र, उसे जो ज्ञान अन्तर्मुख होकर अवलोकन करता है। आहाहा! **और उसकी जो श्रद्धा करते** हैं। समझ में आया?

अर्थं अन्तः पश्यतां — है न, **तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं...** क्या कहते हैं? कि जो अन्दर ऐसी चीज है, उसका ज्ञान करके, उसकी श्रद्धा करके और उसमें लीनता हो जाती है, उसे कुछ भी व्यवहार नहीं होता। उसे व्यवहार कुछ भी जाना हुआ भी उसे नहीं होता। आहाहा! वह जाना हुआ प्रयोजवान कहा था, वह अब उसमें रहा नहीं। यह क्या कहा? कि प्रथम जो आत्मा का अनुभव-दर्शन-ज्ञान हुआ, परन्तु जहाँ अभी पूर्णता नहीं, वहाँ आगे उसे अपूर्ण शुद्धता और अशुद्धता के अंश है, उन्हें जाना हुआ प्रयोजनवान है — ऐसा कहा था - १२वीं गाथा में (कहा था।) अर्थात् उस समय की ज्ञान की पर्याय, उस प्रकार की शुद्धता का अंश है, पूर्ण नहीं; और अशुद्धता —दोनों हैं; उसे जाना हुआ प्रयोजनवान अर्थात् कि साधकजीव को उस काल में ज्ञान की पर्याय स्व को जानती है और पर को जिस प्रकार का राग और थोड़ी अशुद्धता है — उसका जानना, वह अपनी स्व-पर प्रकाशक पर्याय परिणमित होती है, उसे जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है। समझ में आया? वह अब जहाँ पूर्ण हुआ, वहाँ यह रहा नहीं। समझ में आया? — यह कहना है। व्यवहार आता है, जब तक पूर्ण चारित्रवन्तलीन न हो, यथाख्यात आदि, तब तक उसे स्वभाव का आश्रय और अवलम्बन का ज्ञान-श्रद्धान होने पर भी चारित्र की लीनता पूर्ण नहीं हुई। इस कारण उसे ऐसा शुद्धता का अपूर्ण अंश और अशुद्धता का अंश-ऐसे दोनों होते हैं, उन्हें जाननेवाली ज्ञान की पर्याय उस काल में, अपने काल में (अपने)

कारण से स्व और पर को प्रकाशित करे-वैसी स्व-परप्रकाशक पर्याय होती है, इसलिए उसे जाना हुआ प्रयोजनवान कहा गया है। आहाहा! धन्नालालजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

परन्तु जहाँ ज्ञान, दर्शन और स्थिरता पूर्ण हो गये, फिर अपूर्ण शुद्धता और राग नहीं रहा; इसलिए जो जाना हुआ प्रयोजनवान था, वह वहाँ नहीं रहा। आहाहा! आहाहा! अरे! यह मार्ग तो देखो! चिमनभाई! ऐसा मार्ग, और लोग बिचारै, एकान्त है... एकान्त है...अरे, बापू! भाई! तुझे वस्तु स्वरूप...बापू! इससे उल्टा परिणाम का फल, भाई! कठोर आएंगे, भाई!! वह दूसरों से देखे नहीं जाएँ-ऐसे दुःख होंगे। आहाहा! तुझे अभी अच्छा लगता है, ऐसा मानो हम ओ हो हो.... और लोग भी पागल, सब इकट्ठे आहाहा! अद्‌भुत बात करते हैं, अच्छी बात करते हैं... व्यवहार से चाहिए और व्यवहार से होता है न! ११वीं (गाथा में) कहा न-परस्पर व्यवहार का — भेद का उपदेश करते हैं, परस्पर... यह तो अनादि का है, इससे नया क्या है ? आहाहा!

श्रोता : वहाँ व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहा, उसे यहाँ निकाल दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसे यहाँ निकाल दिया। पूर्ण हुआ, पूर्ण हुआ; इसलिए निकाल दिया। वहाँ अपूर्ण था; दृष्टि-ज्ञान का विषय तो पूर्ण ही है, परन्तु यहाँ पर्याय में अपूर्णता और शुद्धता पूर्ण नहीं थी और अशुद्धता थी; तब उस प्रकार का ज्ञान, स्व और पर को उसी प्रकार जानता हुआ प्रगट होता था। उस प्रकार का ज्ञान, अब पूर्ण हुआ तो वहाँ रहा नहीं। आहाहाहा।

भाषा तो सादी है, बापू! भाई! तेरी बातें क्या करना, प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं है। आहा! एक-एक पर्याय में उसकी प्रभुता पसर गयी है। क्योंकि उसमें प्रभुत्व नाम का एक गुण है और वह गुण है, उसका अनन्त गुणों में रूप है। आहाहा! और अनन्त गुणों में प्रभुत्व का रूप है और उसकी पर्याय में भी प्रभुत्व की पर्याय प्रगट होती है। वह अखण्ड प्रतापित स्वतन्त्र शोभित, जिसे राग के निमित्त के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। आहाहाहा! इस प्रकार अखण्ड प्रतापित स्वतन्त्र स्वाधीन पर्याय एक प्रभुत्व गुण की होती है, इसी प्रकार अनन्त गुणों की, प्रभुत्व गुण के कारण स्वयं का भी स्वरूप ऐसा है, इसलिए... आहाहा! स्वतन्त्रपने, स्वाधीनपने, जिसका प्रताप कोई खण्डित न कर सके-

ऐसी गुण की पर्याय का परिणमन स्वतन्त्र स्वयं से होता है। आहाहा! उसे व्यवहार से यह होता है, निमित्त से यह होता है — यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी वस्तु है।

पहले तो सुनना कठिन पड़े। आहाहा! बापू! प्रभु! तू ऐसा है न? यह तू है, उसकी बात चलती है। आहाहा! इस चैतन्य-चमत्कारमात्र प्रभु का ज्ञान-श्रद्धा हुई और फिर लीनता पूर्ण हो गयी; उसे फिर अपूर्णता — जो शुद्धता का अंश और अशुद्धता, वह नहीं है; इसलिए उसे व्यवहारनय नहीं है; इसलिए व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान भी नहीं रहा। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : उन्नीसवीं बार बात हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उन्नीसवीं बार; सत्य बात है। उन्नीसवीं बार है। उन्नीसवीं बार, उसमें हमारे चूड़ावाले छोटा भाई कहते हैं कि यह (उन्नीसवीं बार) पहली गाथा से बहुत अच्छा चलता है — ऐसा कहते हैं। उन्नीसवीं बार... छोटा भाई! वे कहते थे, अन्दर आकर कहते थे। मार्ग ऐसा, बापू! आहाहा! यह भगवान ने कहा — ऐसा है। कहीं भगवान ने किया नहीं है यह कुछ! स्वयं का किया, परन्तु पर का कुछ नहीं किया। वह तो उसकी चीज स्वतन्त्र है। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि तेरे स्वरूप की प्राप्ति के लिए तेरा गुण ऐसा है कि हमारी अपेक्षा बिना तेरा परिणमन होता है — ऐसा तेरा गुण है। आहाहा!

हम देव-शास्त्र और गुरु जो पर हैं और पर की अपेक्षा से तुझमें कुछ राग होता है — यह तेरा स्वभाव है ही नहीं। आहाहा! तब? कि उसे होता है न? कि होता है, उसे जानने की पर्याय स्व-परप्रकाशक में जानती है। आहाहा!

श्रोता : व्यवहार से प्रचार-प्रसार किया, फिर उसका फल आया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रचार-प्रसार कुछ नहीं होता। यह तो पहले इतना आया कि यह आत्मा, वह ज्ञान है — ऐसा भेद आया, इतनी बात.... वह इसे अनुसरण करना नहीं; अनुसरण तो अभेद का करना है और फिर भी जब पर्याय में पूर्णता नहीं है, तब तक अपूर्ण शुद्धता और अशुद्धता का अंश साथ में है; भिन्न-भिन्न अंश है.... आहाहा! उसे जाना हुआ

प्रयोजनबान है, अर्थात् उस समय वैसा ही ज्ञान; वह राग और अशुद्धता है – उसकी अपेक्षा रखे बिना, ज्ञान की पर्याय भी स्वतन्त्र अपने से; जिसकी अखण्डता की स्वतन्त्रता से शोभायमान जिसकी पर्याय है; उसे कोई राग है, इसलिए उसका ज्ञान होता है — ऐसी भी अपेक्षा नहीं है। आहाहाहा! समझ में आया? उसकी उस समय की ज्ञान की पर्याय स्व-परप्रकाशकरूप से उस काल में, उसी प्रकार की उत्पन्न होने की स्वतन्त्रता से शोभित होती है, उसे कोई राग है, इसलिए स्व-परप्रकाशक पर्याय उत्पन्न हुई — ऐसा नहीं है। आहाहाहा! यह वस्तु तत्त्वज्ञान कोई चीज ही अलग है। आहाहा! यह तो महा गहरा पाताल का कुआँ, यह पाताल का पानी.... पार आवे ऐसा है?

श्रोता : यह अव्यवहत् हो गया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : अव्यवहत्.....! आहाहा! जनडा में कहा था न? पाताल में पानी तुरन्त तैयार था। बहुत खोदा, बहुत खोदा निकला नहीं, एक चार इंच की पत्थर की वह रह गयी पाताल के और टूटने की, तो थक गये तो चले गये घर, पानी नहीं निकला। इतने में एक बारात आयी। बारात समझे न? दूल्हा; विवाह का समय दश बजे का; दश-साडे दश.... कि यहाँ कुआँ है, हम यहाँ आराम करेंगे, यहाँ नाश्ता करते हैं और लड्डू खाते हैं और बारात, यह विवाह कुछ आगे जाना होगा या साड़े दश हो गये होंगे कि यह कुआँ है, वहाँ खड़ा रखा, वहाँ ऐसे देखे न तो वहाँ पानी नहीं मिलता। उसमें एक व्यक्ति ने कहा — ऊपर बड़े पत्थर पड़े हैं, बड़े पच्चीस-पच्चीस मन के, डालो! और उसमें एक पत्थर जहाँ डाला वहाँ चार इंच टूटकर अन्दर से पानी की सीर उड़ी, ऐसे अन्दर से सीर उड़ी। वहाँ तो नीचे पानी का प्रवाह है न नीचे पाताल में जोरदार, आहाहा! (कुएँ में) पानी भरा है। इसी प्रकार आत्मा में पानी भरा है — गुण का गहरा-गहरा.... आहाहा! यह लोग नहीं कहते? यह व्यक्ति पानीवाला लड़का है। पानीवाला, अर्थात् ताकतवाला। इसी तरह भगवान अनन्त पानीवाला है। आहाहा! जिसके तल में-पाताल में पार नहीं है; जिसका पार केवली पा सकें या ज्ञानी पा सकें, वरना तर्क से प्राप्त की जा सके — ऐसी वह चीज नहीं है। आहाहा! ऐसे चैतन्य -चमत्कारमात्र का अवलोकन करते हैं। ऐसा है न? **उन्हें व्यवहारनय कुछ भी**

प्रयोजनवान नहीं है अर्थात् उन्हें व्यवहारनय का विषय ही नहीं रहता। आहाहाहा! कुछ समझ में आया? ऐसा मार्ग है, भाई!

जहाँ सम्यग्दर्शन ज्ञान हुआ, पूर्णानन्द के नाथ का — उस दातार का दर्शन हुआ.... आहाहा! अद्‌बद्‌नाथ स्वयं प्रभु, उसकी प्रतीति और ज्ञान हुआ परन्तु उसमें लीनता पूर्ण न हो, तब तक उसे शुद्धता तथा अशुद्धता के अंश.... वह पर्याय है, वह व्यवहारनय का विषय है। पर्याय है और शुद्ध का अंश और वह व्यवहार का अर्थात् व्यवहारनय जाना हुआ अर्थात् उस काल में उस ज्ञान की पर्याय की उत्पत्ति उसी प्रकार से स्व-पर को प्रकाशित करे, वैसी उत्पत्ति होती है, उसे ऐसा कहा कि व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है परन्तु जहाँ पूर्णदशा हुई, तब उसे शुद्धता, अपूर्णता और अशुद्धता थी, वह नहीं रही; पूर्ण शुद्धता हो गयी। इसीलिए वह ज्ञान भी स्व-पर को पूर्ण प्रकाशित करे - ऐसा ज्ञान हो गया। अपूर्ण को प्रकाशित करे - ऐसा जो ज्ञान था, वह वहाँ नहीं रहा। आहाहा! कहो, देवीलालजी! ऐसा मार्ग है। यह दिगम्बर धर्म.... आहाहा!

दूसरे प्रकार से कहें तो इस आत्मा की पर्याय-ज्ञान की एक समय की पर्याय, उसे छह द्रव्य जानने का उसका स्वभाव है और वह पर्याय तब मानी कहलाती है कि छह द्रव्य - उसमें अनन्त तीर्थंकर, सिद्ध आये, निगोद के जीव आये, साक्षात् वर्तमान महाविदेह में विराजनेवाले, वे द्रव्य उसमें आये - ऐसे अनन्त द्रव्यों को एक समय की पर्याय, भले ही श्रुतज्ञान की हो, वह जानने की ताकत रखती है। इसलिए जिसने एक समय की पर्याय की प्रतीति की, उसने छह द्रव्यों को माना है परन्तु यह तो अभी व्यवहार है। आहाहा! एक समय में अनन्त तीर्थंकर, सिद्धों को माना-जाना, (वह) पर्याय, उसका स्वभाव ही ऐसा है परन्तु एक पर्याय को जब तक माने, तब तक तो अभी व्यवहारनय है उसका। आहाहा! वह छूटकर द्रव्य के यह जहाँ त्रिकाल जिसमें एक ऐसी पर्याय नहीं, अनन्त-अनन्त एक गुण का संग्रह पड़ा है - ऐसे अनन्तगुणों का प्रभु.... आहाहा! अनन्त.... अनन्त.... अनन्त.... अनन्त.... अनन्त... शक्तियाँ अर्थात् संख्या, उसकी एक-एक शक्ति प्रभुत्व गुण से भरपूर है। आहाहा! और उसकी पर्याय भी प्रभुत्वगुण की पर्याय है। उसकी प्रभुत्वगुण की पर्याय को कोई पर खण्डित कर सके या पर की अपेक्षा से वह प्रभुत्वगुण

की पर्याय अथवा दूसरे गुणों में भी प्रभुत्वगुण का रूप है; दूसरे गुणों की पर्याय में भी प्रभुत्व का रूप है परन्तु दूसरे गुण की पर्याय को भी पर की अपेक्षा हो तब तो पर्याय उत्पन्न हो और पर्याय रहे और पर्याय बढ़े – ऐसा नहीं है। आहाहा! मानो या न मानो, जगत चाहे जो कहे.... समझ में आया?

ऐसा वस्तु का स्वरूप! अद्‌भुत बात, उस बेचारे जापानवाले ने लिखा है न कि एक तो ऐसा जैनधर्म.... अनुभूतिस्वरूप जैनधर्म और निर्वाणरूप आत्मा, अर्थात् हम मुक्तस्वरूप आत्मा कहते हैं, उसने निर्वाण कहा। आत्मा स्वयं मुक्तस्वरूप ही है। स्वभाव, शक्तिस्वरूप मुक्तस्वरूप ही है, उसने निर्वाण लिया (कहा) बेचारे ने; उसने एक यह कहा – अभी यह धर्म बनियों के हाथ आया और बनिये व्यापार के व्यवसाय में घुस गये हैं। ऐ हिम्मतभाई! लोहे में.... आहाहा! यहाँ उसने लिखा है (जापानवाले ने)। बनिया-व्यापारी उसमें – व्यवसाय में घुस गये हैं, उसमें यह क्या चीज है, उसका निर्णय करने के लिए निवृत्ति भी नहीं लेते हैं। आहाहा! एक तो व्यापार के धन्धे में घुस गये, दूसरे फिर स्त्री, पुत्र को, परिवार को सम्हालने में, प्रसन्न रखने में और उनके साथ यह.... यह.... यह.... प्रसन्न रखने और अच्छा करने में क्रीड़ा करनी और.... अरररर......! व्यापार के व्यवसाय उपरान्त यह, यह तो सबको होता है... यह जैनधर्म का मर्म है, उसका निर्णय करने के लिए बनिये, व्यापार के व्यवसायवाले निवृत्त नहीं हैं और भाई ने तो लिखा है – जगमोहनलालजी ने – अरे....! यह लोग ऐसे जापान के अन्य मिथ्यादृष्टि, उस अनार्य देश में रहनेवाले, ऐसे विज्ञान की शोध करते-करते ऐसा जिन्होंने जैनधर्म का रूप निकाला; हम जैन लोग प्रमादी हैं – ऐसा लिखा है। बेचारे जगमोहनलालजी, है? है और ऐसा पढ़ा, बताया था। अपन ने रात्रि में पढ़ा था न, मोहनलालजी! रात्रि में दो-तीन दिन पहले।

श्रोता : प्रमादी.....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रमादी है। अरे, अपन बनिये अर्थात् जैन; उन लोगों ने ऐसा शोधा और निकाला कि जैन का स्वरूप ऐसा है और तुम बनिये-व्यापारी जैन में जन्मे हुए को कुछ निर्णय का ठिकाना नहीं है। आहाहा!

श्रोता : बनिये ऐसे ही होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब उसके लिए निर्धार करना चाहिए। निर्णय करो — ऐसा लिखा। फिर अब, तैयार हो, प्रमाद को छोड़ो बाहर के व्यवसाय में रुकना छोड़ दो। आहाहा! भाई नहीं आये न? हसमुख नहीं आये न, दोपहर में आते हैं। दोपहर में आते हैं हसमुख। हमारे गाँधी हैं हसमुख बोटाद का, मात्र बयालीस वर्ष की उम्र, दो-तीन लाख की आमदनी दुकान में, लोहे की, मुम्बई में अपने हाथ से दुकान की, वह गाँधी तुम्हारे में से वह हसमुख... हसमुख, हसमुख कान्तिलाल, आहाहा! तीन-तीन लाख की आमदनी स्वयं ने की, बयालीस वर्ष की उम्र। एक लड़का है दस या ग्यारह वर्ष का, एक लड़की है। भाईयों को कहता है - भाई! अब मुझे कोई व्यापार नहीं करना है। भाई! हम तीन भाई हैं, मेरा तीसरा हिस्सा आता है न, मुझे चौथाई भाग दो परन्तु अब मैं दुकान पर नहीं आऊँगा। आता है बहुत बार, दोपहर में आता है। आज आवे तो आवे, कल नहीं आये थे। नहीं तो शनिवार-रविवार को हमेशा।

श्रोता : यह सब आपका प्रताप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे एकदम ऐसा हो गया है कि आहाहा! अपने को करने का तो रह जाता है और यह क्या? लड़कों ने पाँच लाख दिये, चिमनभाई! दो भाईयों को दो-तीन लाख की वार्षिक आमदनी। पैसा बहुत होगा, भाई ने पाँच लाख दिया। भाई! हम पाँच लाख देंगे। बस, कुछ नहीं बोला। बस, मुझे काफी है। पाँच लाख का पाँच हजार रुपये महीने ब्याज आयेगा। बस, मैं खर्च करूँगा। मैं इन शास्त्रों में, लड़कों की दवा में, गरीब व्यक्ति आवे तो; उसने देखा था न गरीबपना स्वयं, इसलिए गरीबपने को देखकर दया आ जाती है और कहता है — दो-पाँच रुपया ले जा भाई, ले जा! महीने में पाँच हजार रुपये का ब्याज आता है, उसे इस प्रकार खर्च कर देता है, पाँच लाख पड़े हैं। आता है दोपहर में बारम्बार। शनि-रवि का आता है। एकान्तरे आता है, ४२ वर्ष में सन्तोष किया और यहाँ तो तुम्हारे करोड़ों रुपये और पचास-पचास लाख हों, दश लाख हों, बीस लाख हों तो भी सब्र (सन्तोष) नहीं। कहीं ऐसा दृष्टान्त बैठाया,... गाँधी कुटुम्ब में दूसरे पैसेवाले बहुत हैं, हीरालाल और चम्पकलाल और अमुकभाई अपने तीन भाई। किया स्वयं ने दुकान का, फिर दो भाई तो बाद में आये, भले ही आये बापू! भाई, यह सब तेरा है। मुझे तीसरा भाग

आता है, न, मुझे चौथा दो। वस्तु हो उसमें से मुझे चौथा दो परन्तु अब मैं दुकान पर बिलकुल आनेवाला नहीं हूँ। दुकान मेरे लिए बन्द है। निवृत्ति करके और वहाँ घर में वाँचन बस — शास्त्र का वाँचन। वाँचन सुबह शुरु होता है, वहाँ आता है। रमेश के भजन, यह तो घाटकोपरवाले धातकीखण्ड याद आता है। वह घाटकोपर, घाटकोपर है न ? रमेश सबेरे से बैठता है।

'गुरुजी म्हारा चेतन ने मने समझाओ' ऐसा करके शुरु करता है। गुरु मेरे चेतन को समझाओ — यह पद शुरु करे पूरे दिन। यह कुछ लेना-देना, व्यापार-धन्धा कुछ नहीं। अरे बापू! करने योग्य तो यह है। अरे! जाना कहाँ है भाई! यह सब संयोग छूट जायेंगे, बापू! ये कहाँ तेरे हैं ? आहाहा! प्रभु! राग का संयोगी भाव भी तेरा नहीं है तो यह चीज तेरी कहाँ से आयी ? तू कहाँ रुक गया, किसे सम्हालने ? आहाहा! जिसे सम्हालना है, उसे तो सम्हालता नहीं और जिसे सम्हाल नहीं सकता, उसे सम्हालने में रुक गया है और इसमें सम्हाल सकता है, वहाँ आता नहीं। आहाहा! यहाँ कहते हैं, जहाँ आगे भगवान आत्मा पूर्ण चैतन्य चमत्कार का जहाँ ज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ और चारित्र की पूर्णता जहाँ हो गयी, फिर अपूर्णता है नहीं; इसलिए अपूर्णता को जानने से ज्ञान को व्यवहार कहने में आता था; है तो वह अपनी स्व-पर प्रकाशक पर्याय, परन्तु पर की अपेक्षा से उसे व्यवहार से जानता है — ऐसा कहा जाता था; यह पूर्णदशा जहाँ हुई, तब वह व्यवहार रहा नहीं। इसलिए उसे जाना हुआ प्रयोजनवान नहीं है। आहाहा! अकेला आनन्द का अनुभव, केवलज्ञान!

विशेष कहा जायेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश ६

अब निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं :—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः॥ ६॥

श्लोकार्थ : [अस्य आत्मनः] इस आत्मा को [यद् इह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् दर्शनम्] अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धान करना) [एतत् एव नियमात् सम्यग्दर्शनम्] - ही नियम से सम्यग्दर्शन है, यह आत्मा [व्याप्तुः] अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त रहनेवाला है, और [शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य] शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है, तथा [पूर्ण-ज्ञान-घनस्य] पूर्ण ज्ञानघन है। [च] एवं [तावान् अयं आत्मा] जितना सम्यक्दर्शन है उतना ही आत्मा है, [तत्] इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हैं कि [इमाम् नव-तत्त्व-सन्ततिं मुक्त्वा] ''इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर, [अयम् आत्मा एकः अस्तु नः] यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो।''

भावार्थ : सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुणपर्यायभेदों में व्यापनेवाला यह आत्मा शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है - शुद्धनय से ज्ञायकमात्र एक-आकार दिखलाया गया है, उसे सर्व अन्य द्रव्यों और अन्य द्रव्यों के भावों से अलग देखना, श्रद्धान करना सो नियम से सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता। शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर व्यभिचार नहीं रहता, इसलिए नियमरूप है। शुद्धनय का विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है — सर्व

लोकालोक को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है। ऐसे आत्मा का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है। यह कहीं पृथक् पदार्थ नहीं है — आत्मा का ही परिणाम है, इसलिए आत्मा ही है। अतः जो सम्यग्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नहीं।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि जो नय है सो श्रुतप्रमाण का अंश है, इसलिए शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि वस्तु को सर्वज्ञ के आगम के वचन से जाना है; इसलिए यह शुद्धनय सर्व द्रव्यों से भिन्न, आत्मा की सर्व पर्यायों में व्याप्त, पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप-सर्व लोकालोक को जाननेवाले, असाधारण चैतन्यधर्म को परोक्ष दिखाता है। यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगम को प्रमाण करके शुद्धनय से दिखाये गये पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करे, सो वह श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। जब तक केवल व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वों का ही श्रद्धान रहता है, तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिए आचार्य कहते हैं कि इन नव तत्त्वों की सन्तति (परिपाटी) को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयों का पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा चैतन्य है, मात्र इतना ही अनुभव में आये तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नहीं? उसका समाधान यह है - नास्तिकों को छोड़कर सभी मतवाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जाएगा, इसलिए सर्वज्ञ की वाणी में जैसा सम्पूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा है, वैसा श्रद्धान होने से ही निश्चय सम्यक्त्व होता है, ऐसा समझना चाहिए॥६॥

प्रवचन नं. ५४ कलश-६ दिनाङ्क १०-०८-१९७८ गुरुवार
श्रावण शुक्ल ६, वीर निर्वाण संवत् २५०४

अब निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं..... सत्य दर्शन, सम्यग्दर्शन जो आत्मा का पूर्ण निर्विकल्प वस्तु, उसका जो अनुभव, उसमें होनेवाली प्रतीति — ऐसा जो निश्चयसम्यग्दर्शन है, उसकी व्याख्या है। आहाहा!

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥ ६ ॥

'न' का अर्थ हमें हो है। 'न' का अर्थ नकार नहीं, 'न' का अर्थ हमें हो। हमें नव तत्त्व की परिपाटी छोड़कर एक भगवान आत्मा प्राप्त हो। आहाहा! क्योंकि नवतत्त्व का अनादि अभ्यास, वह मिथ्यात्व है। एक स्वरूप जो चैतन्य निर्विकल्प वस्तुमात्र को छोड़कर अनादि का, नौ प्रकार के तत्त्वों का अनुभव वह मिथ्यात्वभाव है। मोक्षमार्गप्रकाशक में तो कहा है कि नव तत्त्व का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, वह तो दूसरी बात है। वहाँ नव तत्त्व में एक वचन है, एकरूप आत्मा को जानता है, उसमें नौ तत्त्व की श्रद्धा, उसमें साथ आ जाती है। स्व का पूर्ण स्वरूप निर्विकल्प, निर्विकल्प अभेद ज्ञानघन वस्तु का अनुभव होने पर, सम्यग्दर्शन होने पर उसमें दूसरे तत्त्व नहीं — ऐसा अन्दर ज्ञान होकर श्रद्धा आ जाती है, इतनी बात। वहाँ एक वचन है; और यह नौ तो अनेक प्रकार है। नौ के अनेक प्रकार का अनुभव मिथ्यात्व है और नौ का एकरूप जो अभ्यास, स्वरूपसन्मुख की दृष्टि होकर, आठ उसमें नहीं — ऐसा जो श्रद्धासहित ज्ञान होता है, उसे नौ तत्त्व की श्रद्धा का सम्यग्दर्शन कहा है। अरे! ऐसी बात, भाई! मूल बात ऐसी कठिन, अपरिचित, अभ्यास नहीं।

इसलिए यहाँ कहते हैं यह **आत्मानः** श्लोकार्थ – **इस आत्मा को 'अस्य आत्मनः'** आत्मा की मौजूदगी निर्विकल्पस्वरूप, आहाहा! ऐसा सिद्ध किया पहले। **'अस्य आत्मनः'** निर्विकल्प चैतन्यमात्र प्रभु — ऐसा जो आत्मा... आहाहा! **अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धान करना)....** **'अस्य आत्मनः'** निर्विकल्प विज्ञानघन प्रभु, यह अस्ति से बात की; और **अन्य द्रव्य से पृथक् देखना,** यह पर से नास्ति। आहाहा! है? **'अस्य आत्मनः'** यह तो अध्यात्म के मन्त्र हैं, प्रभु! यह कोई साधारण बात — कथा-वार्ता नहीं है। आहाहा!

भगवान आत्मा, वस्तुरूप से ज्ञायकभावरूप से निर्विकल्प अभेदस्वरूप से जो वस्तु है, उसे **'अस्य आत्मनः' इस आत्मा....** ऐसा कहा है। आहाहा! ऐसे आत्मा को **'यद् इह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् दर्शनम्' अन्य द्रव्यों से पृथक् 'यद् इह्'** इसे इसके

द्रव्यान्तर से अन्य... आहाहा! राग और नौ तत्त्व का भेद भी अन्य द्रव्य है, कहते हैं और तीर्थंकरदेव, देव-गुरु भी अन्य द्रव्य है; उनकी श्रद्धा आदि है, वह भी अन्य द्रव्य है — उन अन्य '**द्रव्यान्तरेभ्यो:**' अपने द्रव्य से अन्य द्रव्य, उससे पृथक्। है? आहाहा! अन्य द्रव्य से जुदा अर्थात् पृथक्। **दर्शनम्** देखना अर्थात् श्रद्धा करना। आहाहा!

रागादि के भेद और नव तत्त्व के जो भेद, वे सब परद्रव्य हैं। आहाहा! उनसे पृथक् भगवान आत्मा '**अस्य आत्मा**' पूर्ण निर्विकल्प विज्ञानघन को अन्य द्रव्यों से पृथक् श्रद्धा करना। है? उसका नाम **सम्यग्दर्शन है...** सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

श्रोता : गुरु तो महान उपकारी है, उन्हें तो पृथक् तो कैसे कहा जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : उनसे पृथक्, वाणी और गुरु, देव वे अन्य द्रव्य हैं; वे तो अन्य द्रव्य हैं परन्तु उनकी मान्यता का जो भाव है, वह राग भी अन्य द्रव्य है। आहाहा!

भाई! अभी तो लोगों को मूल चीज कठिन हो गयी है। सत्य बात को मिथ्या ठहराना और मिथ्या को सत्य ठहराना (— ऐसा हो गया है)। आहाहा! '**अस्य आत्मा**' निर्विकल्प विज्ञानघन जो तत्त्व-वस्तु, उसे अन्य द्रव्य, उससे अन्य द्रव्य... **द्रव्यान्तर** है न? द्रव्यान्तर अर्थात् अपने द्रव्य से अन्य द्रव्य... आहाहा! '**अस्य आत्मा**' यह स्वद्रव्य हुआ और इसे **द्रव्यान्तरेभ्य:...** अपने से जितने पृथक् पुण्य और पाप, राग, दया, दान, काम, क्रोध, या देव-गुरु-शास्त्र आदि या नव तत्त्व के भेद का भाव, वह भी अन्य द्रव्य में जाता है। आहाहा! इसमें है या नहीं, देखो न?

श्रोता : घर छोड़कर दूर-दूर से यहाँ आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने छोड़ा है घर? घर किसे कहना? घर था कब वहाँ? ग्वालियर में घर है? आहाहा! घर तो यहाँ '**अस्य आत्मन:**' वह घर है। आहाहा! भजन में नहीं आया? 'अब हम कबहूँ न निजघर आये' 'अब हम कबहूँ न निजघर आये, पर घर भ्रमत नाम अनेक धराये।' मैं क्रोधी, मैं रागी, मैं पुण्यवन्त, मैं लक्ष्मीवन्त, मैं स्त्रीवाला, परिवारवाला - ऐसे अनेक नाम अज्ञानपने धराये हैं, परन्तु कभी इस निजघर। '**अस्य आत्मन:**' जहाँ अस्य आत्मन: निर्विकल्प विज्ञानघन निजघर (में नहीं आया) आहाहा! कहो देवीलालजी! ऐसा काम है। बापू! क्या हो?

इसके ज्ञान में पहले ऐसा निर्णय तो करे, अनुभव बाद में। आहाहा! इसके विकल्पसहित के निर्णय में भी ऐसा परम सत्य जो द्रव्य कायम निर्विकल्प विज्ञानघन (है), वह अन्य द्रव्यों से पृथक् है, उसके भेदों से भी वह पृथक् है। आहाहा! पर्याय के जो भेद हैं, उससे भी अभेद वस्तु पृथक् है। भाई! यह तो वीतरागमार्ग है, बापू! यह कोई कल्पित आर-पार से कहा वह नहीं। भाई! आहाहा! अरे...रे! चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण करके एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये। इस अवतार के दुःख सुने, आहाहा! देखनेवाले को रुदन आवे — ऐसे दुःख सहन किये, प्रभु! परन्तु वर्तमान में जरा यह मनुष्यपना मिला और यह (अनुकूलता) मिली और भूल गया, हो गया। आहाहा! आहाहा! भाई! जन्म-मरण के दुःख इसे मिटाना हो तो उसका एक उपाय यह है कि जिस चीज में जन्म-मरण तो नहीं, जन्म-मरण के कारणरूप भाव तो नहीं परन्तु जिसके द्रव्य में वर्तमान एक समय की पर्याय भी जिसमें नहीं... आहाहा! ऐसा जो स्वद्रव्य अभेद, निर्विकल्प अर्थात् अभेद। निर्विकल्प ज्ञानघन को अन्य नौ के भेदों से भी भिन्न पृथक् श्रद्धा करना, **पृथक् देखना** अर्थात् श्रद्धा करना। अरे! भाषा तो संक्षिप्त परन्तु भाव बापू! (गहरे) हैं। अरे दुःखी है, देखो न! आहाहा! कल-परसों का सुना वह, रिक्शा पन्द्रह बीस हजार का नया रिक्शा लिया और अब कमाने के लिये बैठे सात व्यक्ति, छह युवक और एक लड़की, सब चकचूर, सिर पर बस फिर गयी, चार (युवक) और लड़की तो तुरन्त मर गये। दो को अस्पताल में ले गये, वहाँ मर गये, पूरी पन्द्रह-बीस हजार का (रिक्शा) गया। कमाने के लिए किया था, वहाँ वे सब स्वयं उसमें मर गये। यह दशा तो देखो बापू! आहाहा! ऐसे भव... प्रभु! अनन्त बार किये हैं। उसकी बात नहीं।

श्रोता : पहले मोटर कहाँ थी ? वे भव किये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मोटर नहीं थी तो दूसरा था, सब था, उस समय भी था। भगवान के समय में तो ऊपर विमान चलते, देव आते, तब आते थे न वे भी... आहाहा! विद्याधरों के विमान थे, मनुष्यों के थे। आहाहा! अरे! सब कलाबाज चीजें थीं, कुछ नहीं थी क्या ? बहुत है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, यह भगवान आत्मा, नव तत्त्व का जो अनादि का जीव के साथ

अजीव और पुण्य-पाप आदि का सम्बन्ध — ऐसे नवतत्त्व का अनुभव, वह तो मिथ्यात्व है; यह सम्यग्दर्शन गुण त्रिकाल है, उससे उलटा वह परिणमन है। सम्यग्दर्शन - श्रद्धा नाम का त्रिकाली गुण आत्मा में है। प्रगट हो, वह उसकी पर्याय है। श्रद्धा नाम का त्रिकाली गुण भगवान आत्मा में एक गुण है, उस गुण का मिथ्यात्वरूप होना, विपरीतरूप परिणमन है, उसे यहाँ मिथ्यात्व कहते हैं। आहाहा! उस मिथ्यात्व के त्याग के लिए... आहाहा! जो भ्रमण का - भव का, भव के भ्रमण का कारण है - ऐसे मिथ्यात्व का नाश के लिए, भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु है, उसे अन्य द्रव्यों से भिन्न श्रद्धान करना। आहाहा! कहो छोटालालजी! ऐसा कलकत्ता में कहीं मिले - ऐसा नहीं है कहीं। आहाहा!

श्रोता : कहीं मिले ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी है। शब्द थोड़े परन्तु बापू! क्या कहें ? आहाहा!

कहते हैं कि मिथ्यात्व — श्रद्धा नाम के गुण का जो विपरीत परिणमन मिथ्यात्व है, वह अनन्त नरक और निगोद के भव का बीज है। आहाहा! यह कहते हैं कि भले ही रागादि हो परन्तु आत्मा राग से और पर से भिन्न है। आहाहा! ऐसा '**अस्य आत्मा**' — विद्यमान वस्तु भगवान आत्मा, यह आत्मा '**ईमाम**' कहते हैं। यह व्यक्ति आया ऐसा कहते हैं न ? यह भगवान आत्मा...

श्रोता : 'यह' तो प्रत्यक्ष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्यक्ष 'यह' प्रत्यक्ष है। आहाहा! **अस्य आत्मानः...** सन्तों की वाणी गजब है! दिगम्बर मुनियों की वाणी तो... आहाहा! उसके समक्ष जगत के विद्वान सब पानी भरे — ऐसी वाणी है! वह यह बात है। आहाहा! लोगों को इसकी महिमा नहीं। समझ में आया ? एक '**अस्य आत्मा**' में तो पूरा तत्त्व निर्विकल्प विज्ञानघन को बतलाया है और वह भी प्रत्यक्ष होता है - ऐसा वह आत्मा... आहाहा! क्योंकि उसमें प्रकाश नाम का एक गुण है। आहाहा! उस गुण का गुण क्या ? कि स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष होना, वह उसका गुण है। मति और श्रुतज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, आहाहा! और प्रत्यक्ष जानकर जो श्रद्धा होती है, आहाहा! उसे यहाँ मिथ्यात्व के नाश का कारण और मोक्ष के मार्गरूप कारण — ऐसा सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा!

अन्य द्रव्यों से पृथक् (श्रद्धान करना) एतत् एव नियमात् सम्यग्दर्शनम्.... है ? **एतत् एव नियमात्....** आहाहा ! **वही नियम से....** (सम्यग्दर्शन है,) **एतत् एव.... वही...** ऐसा **एतत् एव...** अर्थात् वही, एतत् अर्थात् वही, आहाहा ! अर्थात् ज्ञायकस्वरूप जो भगवान निर्विकल्प पदार्थ है, उसे परद्रव्य से पृथक् श्रद्धान करना, **वही नियम से सम्यग्दर्शन है....** आहाहा ! महँगा (कठिन) तो है बापू ! बाकी क्या हो ? मार्ग यह है — ऐसा इसका ज्ञान में निर्णय तो करना पड़ेगा न ! फिर बाद में, अनुभव बाद में; पहले तो विकल्पसहित इसे निर्णय में ऐसा लेना पड़ेगा कि यह वस्तु है, वह अन्दर में कोई रागादि के विकल्प से, नव तत्त्व के भेद से भी अभेद निर्विकल्प चीज अत्यन्त भिन्न है। **'एतत् एव', 'एतत् एव'** 'यह' एतत् अर्थात् यह। एव अर्थात् 'ही' यही, यही, आहाहा ! निश्चय से सम्यग्दर्शन है। चिमनभाई ! आहाहा ! इस भव के नाश का उपाय यह है। आहाहा ! यह प्रथम बीज है, फिर ज्ञानी को रागादि हों, अशुभराग भी हो परन्तु उससे उसका ज्ञान पृथक् काम करता है। आहाहा ! समझ में आया ? **वही नियम से...** अर्थात् निश्चय से, यह नियम ही है। यह निश्चय, उसे सम्यग्दर्शन कहना है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा और नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन नहीं, आहाहा ! वह धर्म की पहली सीढ़ी नहीं। आहाहा !

प्रभु ! तूने तुझे जगत के समक्ष किस प्रकार बतलाया ? यह मैं इज्जतवाला हूँ और पैसेवाला हूँ, साठ वर्षवाला, बीस वर्ष से यह धन्धा किया, उसमें से मेरे बाहुबल से मैंने पैसे इकट्ठे किये — ऐसा तुझे सबको दिखाना है ? आहाहा ! या तुझे स्वयं को देखना है। आहाहा ! मुझे इतना पता है और मुझे इतना आता है — ऐसा तुझे दिखाना है ? या तुझे स्वयं को ही देखना है ? है ? आहाहा ! **वही....** आहाहा ! **एतत् एव - नियम से सम्यग्दर्शन है,....** आहाहा ! तो कोई कहे कि यह तो एक सम्यग्दर्शन की ही बात हुई... उसमें आता है न उसमें ? मोक्षमार्ग तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन है। इस कलश के अर्थ में आता है। मोक्षमार्ग तो तीन हैं और यहाँ तो तुम एक सम्यग्दर्शन की-अनुभव की बात करते हो। क्या कहा ? मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — तीन हैं और तुम यहाँ एक मार्ग — पूर्णानन्द का नाथ, उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान कहकर उसे मोक्षमार्ग कहते हो ? तो बापू ! भगवान तेरी महिमा सुन, नाथ ! तू पूर्णानन्द का नाथ है, उसकी दृष्टि हुई, वहाँ ज्ञान हुआ, उसके स्वरूप का आचरण भी साथ ही है। आहाहा ! हीराभाई ! ऐसी बातें हैं।

श्रोता : यह तो अन्दर की बात हुई न ? क्रिया की बातें तो कुछ आयी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्रिया की कही न ? क्रिया का भुक्का उड़ाया न ! राग की क्रिया हुई, वह परद्रव्य की है, इससे (आत्मा से) भिन्न है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, ब्रह्मचर्य के परिणाम, शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, यह और वह सब राग परद्रव्य है, वह स्वद्रव्य में नहीं है। यह स्वद्रव्य, स्वपने है और परद्रव्यपने नहीं। आहाहा ! ऐसी बातें, कठिन बहुत बापू ! बाहर के सब पीला, हरा, सफेद, ऐसे दिखायी दें, सब उसमें पच्चीस-पचास लाख रुपये और करोड़-दो करोड़ रुपये हुए हों... आहाहा !

श्रोता : रुपये के बिना नहीं चलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये के बिना.... स्वद्रव्य ने परद्रव्य के अभाव से ही चलाया है। क्या कहा ? यह प्रश्न (संवत्) १० की साल में हुआ था, बोटाद में नटूभाई थे, नागरभाई के बड़े भाई वे स्वामी नारायण (पंथ के) थे, और यह थे नागरभाई भी, फिर तो सब प्रेम से आते थे। १० की साल में म्युनिसिपालिटी में व्याख्यान चलता था, उसमें उन्होंने यह प्रश्न किया था, व्याख्यान में (पूछा था) महाराज ! परन्तु कहीं पैसे के बिना चलता है, यह सब्जी लाना... भाई ! तुम एक बार यह बात सुनो। वैसे स्वामी नारायण पालते परन्तु फिर तो इस ओर प्रेम हो गया, बाद-बाद में परिवार को सबको अभी तो सबको प्रेम है। इस ओर उनके नानाभाई तो यहीं रहते थे।

भाई, इस अंगुली ने इस अंगुली के बिना चलाया है। इसके अभाव से यह वस्तु है, इसके भाव से है और इन सबके अभाव से है। इसी प्रकार आत्मा स्वयं अपना अन्दर भाव, स्व से किया है और पर के अभाव से किया है।

श्रोता : यह तो रीति बतायी परन्तु इसे अमल में कैसे लाना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अमल में लाना अन्दर में श्रद्धा-ज्ञान करना वह (अमल में लाना है)। स्वद्रव्य में परद्रव्य के अभाव से स्वद्रव्य टिक रहा है। आहाहा ! अरे ! जिसमें एक समय की पर्याय भी नहीं — ऐसा द्रव्य स्व से टिक रहा है। उसे पर्याय है, इसलिए वह द्रव्य टिक रहा है — ऐसा भी जहाँ नहीं। आहाहा। ऐसी बात !

श्रोता : (ऐसी बात) कहीं नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! बापू! यहाँ तो श्वेत... श्वेत... पीले घूमे ऐसे शरीर, ऐसा पैसा, इज्जत और पचास-पचास-साठ वर्ष की उम्र हुई हो न (तो) मानो बहुत किया हो, ऐसा ऐसे धन्धे किये और हमने ऐसा किया.... धूल भी नहीं किया, किये हैं सब पाप के नरक में जाने के हैं। किये हैं वे नरक में और निगोद में जानेवाले हैं सब। अेय...! तुम्हारा आया है न? भतीजा फकीरचन्द! आहाहा! पर के बिना चलता नहीं — ऐसा जो कहनेवाला है, उसे परमात्मा की ऐसी पुकार है कि पर के अभाव से ही तू निभ रहा है; पर के बिना ही तूने चलाया है। आहाहा! तू जो स्वपने है वह परपने अभावरूप ही तूने तेरा निभाया है। पर की अस्ति से तूने तेरा निभाया है — ऐसा नहीं है। धन्नालालजी!

श्रोता : रोज सब्जी लाने के लिए रुपये चाहिए या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सब्जी लावे और कौन दे? आहाहा! सब्जी तो लड़कों को भी मिलती है, छोटे बालक को भी (मिलती है), उसके पास कहाँ पैसा है? आहाहा! परन्तु वह तो अभावस्वरूप है। सब्जी और पैसे के भाव में आत्मा नहीं है और अपने भाव में वे नहीं हैं। आहाहा!

अरे! इसे अपना पता कहाँ है? सप्तभंगी में पहली भंगी यह है (कि) स्वपने है, और परपने नहीं। आहाहा! परपने नहीं; इस प्रकार ही इसने निभाया है। पर है, इसलिए स्वयं भी परपने है — ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सब बातों में अन्तर है, बापू! पता है न हमें तो.... सब पूरी दुनिया जानी है, अरबोंपति से लेकर रंक, गरीब मनुष्यों को देखा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

श्रोता : वकालात हुई?

पूज्य गुरुदेवश्री : वकालात भी उस प्रकार की — धन्धे की की थी, दुकान में (की थी) पाँच वर्ष दुकान चलायी थी। १७ वर्ष की उम्र से २२ वर्ष (तक) चलायी थी परन्तु यह तो ६६ वर्ष पहले की बात है। कल हमारे पालेजवाले आये थे, श्वेताम्बर थे गये होंगे कुछ होगा, पालीताना (में) पालेज और मियाँगाँव दोनों गाँववाले आये थे, हमें तो पहचानते हैं न, हमारी दुकान वहाँ थी न! अभी दुकान है और अभी हमारे कुँवरजीभाई की, हमारे भागीदार थे, बुआ के लड़के, उनकी दुकान है। बड़ी दुकान है, तीन लड़के हैं, ३५-४० लाख रुपये हैं, तीन-चार लाख की आमदनी है। धूल की आमदनी है। भटककर

मरनेवाले हैं सब। आहाहा! उस दुकान में मैं था, मेरे पिताजी की दुकान थी। गद्दी पर मैं बैठता, भागीदार न हो तब मैं बैठता, भागीदार हो तब मैं अन्दर में अपना अध्ययन करता था। मैं तो पहले से — १८ वर्ष की उम्र थी (तब से अध्ययन करता था) श्वेताम्बर के शास्त्र - स्थानकवासी थे न! श्वेताम्बर के शास्त्र पढ़ता, घर की स्वतन्त्र दुकान थी। अरे...रे! वह स्वतन्त्र नहीं, बापू!

स्वतन्त्र तो यहाँ भगवान जो निर्विकल्प अभेद वस्तु है, वह स्वतन्त्र है। आहाहा! और उसमें प्रभुत्व नाम का एक गुण है। भगवान आत्मा में ध्रुव, नित्य... आहाहा! उसे परद्रव्य से पृथक् मानने पर उसकी मान्यता में प्रभुत्वगुण की पर्याय भी आती है। आहाहा! उस सम्यग्दर्शन में — श्रद्धागुण की पर्याय में प्रभुत्वगुण की पर्याय भी अन्दर आती है। अनन्त पर्यायों का पिण्ड वह अन्दर सम्यग्दर्शन.... आहाहा! उस सम्यग्दर्शन में ईश्वरता आयी। मेरी स्वतन्त्रदशा, मैं स्वतन्त्ररूप से माननेवाला, मेरी पर्याय भी स्वतन्त्र है; किसी की अपेक्षा से नहीं। मेरी पर्याय को कोई हेतु नहीं, इसलिए उत्पन्न हुई है। आहाहा! वह सम्यग्दर्शन की पर्याय, उस समय में पर की अपेक्षा रखे बिना, मात्र स्वद्रव्य के लक्ष्य में था इतना! वह सम्यग्दर्शन की पर्याय को पर की कोई अपेक्षा नहीं है कि यह व्यवहार था, और देव-गुरु को माना, इसलिए सम्यग्दर्शन हुआ (— ऐसी अपेक्षा नहीं है)। इस कारण अन्य द्रव्य से पृथक् कहा है। अन्य द्रव्य की सहाय और निमित्त से (सम्यग्दर्शन आदि) होते हैं — ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा!

कैसा है आत्मा? **अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त रहनेवाला है,....** यह क्या कहते हैं? समुच्चय बात है अभी पहले। आत्मा जो वस्तु है, वह अपने गुणों और विकारी-अविकारी पर्यायों में व्याप्त रहनेवाला है, इतना ही.... अभी तो अस्तित्व सिद्ध करते हैं। इसमें से शुद्धनय ने भिन्न बताया — ऐसा कहते हैं। यह क्या कहा? जो वस्तु - भगवान आत्मा है, उसके जितने गुण हैं और जितनी उसकी पर्यायें हैं - विकारी-अविकारी (पर्यायें हैं), वह द्रव्य स्वयं गुण-पर्याय में व्यापक है, पर में नहीं; पर में नहीं, पर के कारण नहीं। अपने गुण जो ध्रुव-त्रिकाल और वर्तमान प्रगट होनेवाली विकृत या अविकृत पर्याय (है) उनसे गुण-पर्याय में ही वह वस्तुरूप से रहा है।

अभी विषयरूप से (बात है) शुद्धनय का (विषय) इसके बाद बताते हैं। यह तो

वस्तु ऐसी है कि जिसे पर में व्यापकपना तो है नहीं; पर से अपने में व्यापना — ऐसा नहीं है। आहाहा! अर्थात्? विकारी अवस्थारूप आत्मा परिणमता है व्यापक, वह स्वयं से परिणमता है, उसे किसी दूसरी चीज है; इसलिए विकाररूप परिणमता है — ऐसा नहीं है। आहाहा! वह स्वयं ही गुण-पर्याय में परिणमित होनेवाली वस्तु भगवान.... आहाहा! भले विकाररूप परिणमे परन्तु स्वयं, द्रव्य स्वयं, द्रव्य स्वयं गुण और पर्याय में व्यापक है। उसमें कोई अन्य द्रव्य व्यापक है, आया है, पसरा है (- ऐसा नहीं है)। आहाहा! बापू! वीतराग का मार्ग! आहाहा! अलग प्रकार है, भाई! आहाहा! इसे पहले परद्रव्य से भिन्न बतलाया, यहाँ तो अभी। गुण-पर्याय में व्यापक है, इसमें, अभी तो विकार में व्यापक है, गुण में रहता है - ऐसा बतलाया। इसके अतिरिक्त जितने परद्रव्य हैं, उनमें यह व्यापक नहीं है — ऐसा यहाँ सिद्ध किया है।

अब यहाँ परमार्थ बतलाने को.... आहाहा! **अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त रहनेवाला, और....** कैसा है? इसमें से जो भगवान आत्मा वस्तु है, उसके त्रिकाली गुणों में रहता है और उसकी वर्तमान पर्याय में है। इतनी बात सिद्ध की। अभी सम्यग्दर्शन और वह बाद में कहेंगे।

अब इसे **शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है....** आहाहा! यह वस्तु स्वयं त्रिकाली गुण में और वर्तमान पर्याय में रहती है, व्यापक है, पसरी है। गुण-पर्यायरूप हुई है — ऐसे आत्मा को **शुद्धनय** से, अर्थात् निर्विकल्प वस्तु की दृष्टि से देखें तो... आहाहा! **एकत्व** में व्यापक है — **निश्चित किया गया है।** एकरूप त्रिकाल है, उसके गुण और पर्याय के भेद भी जिसमें से निकल गये हैं। आहाहा! ऐसी बात है।

(यहाँ) दो बातें कही कि एक तो अन्य द्रव्यों से भिन्न है, यह तो वस्तु का स्वरूप, पहले सम्यग्दर्शन का विषय बताया... परन्तु फिर भी वह वस्तु है, वह अपने गुण-पर्याय में व्यापक है, वह वस्तु भले कर्म के निमित्त के सम्बन्ध से विकारी पर्याय स्वयं से हुई और उसमें वह व्यापक है। इतना तो उसका द्रव्य और पर्याय का पर से भिन्नपना इतना सिद्ध किया। अभी अब उसमें से, जो गुण और पर्याय में व्यापक रहनेवाले भेद में है, उसे **'शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य' शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है....**

आहाहा! परन्तु उसे भेद के भाव से भिन्न, एकपना — त्रिकाली है, उसे शुद्धनय से एकरूप बताया है। समझ में आया? ऐसी चीज है, देवीलालजी!

परद्रव्य तो दूसरी चीज है, उपस्थित है — इतना है और स्वयं अपने अनन्त गुणों में तथा उनकी पर्यायों में, नैमित्तिक-विकारीदशा, उसमें वह स्वयं व्यापक है, रहता है। उसका पूरा स्वरूप इस प्रकार कहा। समझ में आया? अब उसमें से....। आहाहा! निर्विकल्प एकरूप वस्तु जो शुद्धनय ने बतायी है, उसमें यह भेद नहीं है।

श्रोता : द्रव्य, गुण, पर्याय और सब भेद एकमेक में होंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन, यह कहा न, इतनी वस्तु है इतना। अब इस शुद्धनय का विषय क्या? यह तीन नहीं, यह तो एक चीज बतायी कि यह वस्तु जगत से निराली, अपने गुण-पर्याय में व्याप्त, बस इतना! अब उसमें शुद्धनय अर्थात् निर्विकल्प चीज क्या है? ऐसे प्रकार में रहने पर भी, निर्विकल्प विज्ञानघनस्वरूप जो है, वह एकरूप है, वह यह वस्तु है। आहाहा!

बापू! यह तो अलौकिक मार्ग है! यह तो अपूर्व बातें हैं। पूर्व में कभी सुनी नहीं और सुनी हो तो इसे जँची नहीं। आहाहा! सुनी नहीं — ऐसा ही कहा है। (समयसार) चौथी गाथा में (कहा है)। राग से पृथक् प्रभु है, यह बात तूने सुनी नहीं। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, और यात्रा का भाव, यह तो राग है। इसमें यह (आत्मा) व्यापक है, यह पर्याय से; वस्तु दृष्टि से देखें तो उनसे यह भिन्न है। आहाहा! इसकी वस्तुरूप से देखें तो इसकी पर्याय में राग है परन्तु अब जब अखण्ड वस्तु देखें तो, निर्विकल्प वस्तु में वे गुण के भेद और पर्याय के भेद निर्विकल्प अभेद में नहीं हैं। यह शुद्धनय का विषय निर्विकल्प -अकेली चीज है। आहाहा! जो '**अस्य आत्मनः**' कहा था वह। आहाहा! केवलियों का विरह पड़ा परन्तु केवली की वाणी सन्तों ने रखी है। इस वाणी का भाव समझना बहुत अलौकिक बात है। वाणी तो जड़ है, वह तो नहीं कहती कि मेरा यह स्वरूप है। ऐसा वाणी कहेगी? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन। दो अस्तित्व सिद्ध किये — एक तो तू स्वयं गुण और पर्याय में व्याप्त है - ऐसा भी तू है। अब इससे पर से तो भिन्न; पर में तो व्याप्त नहीं और पर से तो तू तुझमें व्याप्त है — ऐसा भी नहीं। समझ में आया? आहाहा! मिथ्यात्व

और राग-द्वेष की पर्याय में परिणमित व्याप्त... आहाहा! तू उसमें आया है, व्याप्त तू है। अब उसमें से अभेद वस्तु जो सम्यग्दर्शन का विषय, शुद्धनय का विषय है.... पूर्व कथित तो प्रमाण का विषय कहा था। अब उसमें से जो प्रमाण है, वह पूज्य नहीं है। उसमें निश्चयनय पूज्य है। उस निश्चयनय का विषय तो निर्विकल्प वस्तुमात्र स्वयं (है)। उसमें यह गुणी और यह गुण — ऐसा भेद भी जिसमें नहीं है। बापू! यह तो मार्ग है। यह कोई बनियापन नहीं की यह थोड़ा बाहर में बड़ा हो गया, सेठ हो गया और हो गया यह.... ऐय सेठ? नानावटीपणा चलाया और ऐसा किया और वैसा किया सामने... आहाहा! पच्चीस-पचास इसे नौकर... इसे धूल में भी नहीं, बापू! सब भूतावल है।

श्रोता : धूल में नहीं परन्तु पैसे में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा धूल नहीं है तो क्या है वह? मिट्टी का पिण्ड है, पृथ्वीकाय है। आहाहा!

एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रियपना, वह व्यवहारनय से है। पैसावालापना तो इसमें व्यवहारनय से भी नहीं है। वह तो असद्भूतनय से मानता है, माने। वह तो इसमें है एकेन्द्रिय, दोइन्द्रियपना, तथापि वह जीव नहीं है। जीव तो अन्दर ज्ञानस्वरूप, वह जीव है, क्योंकि एकेन्द्रियपना यदि जीवस्वरूप होता तो कायम रहना चाहिए। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, मनुष्य, देव, पशु, नारकी... आहाहा! यह कोई जीव नहीं, पर्याय में है परन्तु यह जीव नहीं। जीव तो अकेला ज्ञानस्वरूप है, वह जीव है। आहाहा! समझ में आया?

अपने गुण-पर्याय में व्याप्त है, तथापि अब शुद्धनय से **एकत्व नियतस्य — शुद्धनय से** तो **एकत्व में निश्चित किया गया है।** आहाहा! भूतार्थनय से त्रिकाली सत्य वस्तु को देखनेवाले-जाननेवाले के नय से वह तो त्रिकाली एकरूप है, वैसा प्रसिद्ध किया है। आहाहा! बात तो ऐसी है, भाई! यह कोई वाद-विवाद, इसमें शास्त्र का पढ़ा बड़ा पण्डित हो और यह बात बैठे, ऐसा नहीं है।

श्रोता : वाद-विवाद करने से तो नियमसार में इनकार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नियमसार में तो निषेध ही किया है बापू! ज्ञाननिधि को पाकर अकेला खाना (भोगना)। स्वसमय और परसमय में वाद मत करना, बापू! ऐसी कोई

चीज है। वह ऐसी चीज है कि उसे अब अनेक अपेक्षा से देखने पर व्यवहार की बातें वीतराग ने की है, वह भी संसार का कारण है। अब, तू किस प्रकार (निश्चित करेगा) भाई! आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा.... एक तो यह सिद्ध करते हैं कि यह आत्मा है वह प्रमाण –पूरा द्रव्य और पर्याय.... इस शरीर में व्यापक नहीं, कर्म में व्यापक नहीं परद्रव्य में व्यापक नहीं, यह व्याप्त हो तो इसके गुण और पर्याय में व्याप्त है, बस इतना! समझ में आया? आहाहा! अब इसे परद्रव्य में व्याप्त नहीं और अपने गुण–पर्याय में व्याप्त है, यह तो प्रमाण का विषय हुआ, परन्तु अब शुद्धनय का विषय इन्हें इसमें से बताना है। आहाहा! एकरूप निर्विकल्प वस्तु जो शुद्धनय का विषय है, जो सम्यग्दर्शन का विषय (है)। आहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय द्रव्य और गुण, पर्याय में व्याप्त द्रव्य, वह विषय इसका है ही नहीं।

श्रोता : वह प्रमाण का द्रव्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! अपने गुण में, पर्याय में व्याप्त होने पर भी, **शुद्धनय से एकत्व में,... शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य...** निर्विकल्प विज्ञानघन को शुद्धनय ने बतलाया, गुण और पर्याय में व्याप्त वह वस्तु का प्रमाण है परन्तु सम्यग्दर्शन का विषय और शुद्धनय से उसे देखने पर वह एकरूप वस्तु है। समझ में आया? ऐसी बातें! उपदेश सुनना कठिन पड़े और यह तो कहाँ का उपदेश होगा, भगवान का होगा? वह यह? अरे बापू! इसने सुना नहीं भाई! वीतराग जिनेश्वरदेव का उपदेश कैसा होता है, भाई! वह तो अलौकिक बात है। आहाहा!

शुद्धनय से एकत्व में व्यापक है और कैसा है? यह तो समुच्चय कहा। अब कैसा है? **पूर्ण-ज्ञान-घनस्य.... पूर्ण ज्ञानघन है।....** एकरूप से निश्चित किया गया परन्तु अभी वह क्या चीज है तब? कि पूर्ण ज्ञानघन है। पूर्ण ज्ञान का पिण्ड है, अकेला अभेद (है) उसके साथ अनन्त गुण साथ लेना। ज्ञान की प्रधानता से बात की है। पूर्ण ज्ञान! पर्याय भी नहीं। आहाहा! पूर्णज्ञान... पूर्णज्ञान... पूर्णज्ञान... जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा, पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्रमा, पूर्णिमा क्यों कहते हैं सुना? पूर्णिमा पूरा चन्द्र, पूरा प्रगट हुआ है; इसलिए पूनम कहते हैं। पूनम में महीना पूरा होता है और अमावस्या में महीना अर्द्धमास होता है, अमास – अर्द्धमास। यहाँ काठियावाड़ में दूसरा रिवाज है, शुक्ल एक से शुरु करते हैं।

सिद्धान्त तो कृष्ण एकम् से शुरु करता है। पहले कृष्ण और फिर शुक्ल, क्योंकि पन्द्रह दिन तो अमावस आती है, वह तो अर्द्धमास हुआ और पूर्ण में पूरण पूनम, चन्द्र भी वहाँ पूर्ण हो गया। सोलह कलाओं से खिल निकला है, एक कला तो सदा ही उसकी खुली हुई होती है। समझे? आहाहा! दूज को तीन कला होती है, एकम् को दो, दूज को तीन, पूर्णिमा को पूर्ण। इसी प्रकार भगवान आत्मा वस्तुरूप से पूर्ण विज्ञानघन है। जिसमें अपूर्णता नहीं, विपरीतता नहीं, अशुद्धता नहीं, अल्पता नहीं, आहाहा! प्रत्येक शब्द में वाच्य है, वह इसे जानना चाहिए भाई! आहाहा! यह कोई विद्वत्ता का विषय नहीं है, विद्वानों को या दूसरों को समझा सकें, इसलिए ऐसी (चीज) यह नहीं है बापू! यह चीज तो कोई अलौकिक है। आहाहा!

इस पूर्ण ज्ञानघन शब्द से एक ज्ञान को ही पूर्ण लिया परन्तु उसके साथ अनन्त गुण पूर्णरूप हैं, एकरूप हैं — ऐसा यह भगवान है। समझ में आया? **'तावान् अयं आत्मा' तावान् - जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है,....** आहाहा! पूर्ण वस्तु है, उसकी अनुभव में प्रतीति हुई तो वह तो वस्तु ही पूर्ण है, उस अनुसार। आहाहा! जो अनादि से कर्मचेतना, और कर्मफलचेतना का जो वेदन था, वह मिथ्यात्व था। समझ में आया? राग और राग के फल का जो वेदन, एकान्त से दुःखी और दुःख का वेदन था। सम्यग्दर्शन होने पर उसे ज्ञानचेतना प्रगट हुई... आहाहा! इससे वह आनन्द के वेदन में आया, अब ऐसी शर्तें। समझ में आया?

एतत् सम्यग्दर्शन.... आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ का जहाँ दर्शन हुआ, और उसके साथ ज्ञान हुआ और उसके साथ आनन्द का वेदन.... आहाहा! अर्थात् साथ में चारित्र आयेगा, आहाहा! समझ में आया? कर्मचेतना, कर्मफलचेतना का अनादि से अज्ञानी को वेदन है। आत्मा का-ज्ञानचेतना का वेदन है ही नहीं। आहाहा! इससे जहाँ पूर्ण ज्ञानघन है - ऐसा जहाँ भान हुआ, उसकी पर्याय में ज्ञानचेतना-शान्ति के आनन्द के वेदनवाली चेतना प्रगट हुई। आहाहा! मिथ्यात्व में अकेले दुःख का वेदन था। (आत्मा) पूर्ण ज्ञानघन है - ऐसा जहाँ सम्यग्दर्शन उसके (स्वभाव के) आश्रय से हुआ, उसमें ज्ञानचेतना - जो ज्ञान, ज्ञान में एकाग्रता होकर उसके साथ आनन्द का वेदन हुआ, इसलिए इस दर्शन में तीनों आ गये - ऐसा मेरा कहना है। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन – पूर्ण की प्रतीति, पूर्ण के ज्ञान को, पूर्ण के ज्ञान के साथ वेदन। आहाहा!

श्रोता : सर्व गुणांश वह समकित।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्व गुणांश वह समकित परन्तु यह तो अभी तीनों का तो काम है और सम्यग्दर्शन में यह प्रश्न है न? उन्हें, अभी ऐसा कि तुम सम्यग्दर्शन की बात करते हो और मोक्षमार्ग तो तीन हैं। बात सत्य बापू! हम तीन से इनकार नहीं करते। आहाहा!

पूर्ण ज्ञानघन प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द से पूर्णघन प्रभु ....यह तो ज्ञान से पूर्ण कहा परन्तु ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द से पूर्ण घन प्रभु, अतीन्द्रिय प्रभुत्वशक्ति से पूर्ण घन प्रभु — ऐसी अनन्त शक्ति से पूर्ण वस्तु प्रभु! आहाहा! भाई! उसका सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर, चेतना भी पलट गयी। जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना थी, वह ज्ञानचेतना हो गयी, वेदन पलट गया। समझ में आया?

भले अभी थोड़ा राग है, उसे वेदन है परन्तु वह गौणरूप से गिनने में आया है। ज्ञान की पर्याय से देखना हो तो दोनों साथ हैं। आनन्द का वेदन भी है और साधक है, इसलिए अभी राग का भी वेदन है; ज्ञान से देखें तब ऐसा कहते हैं। दर्शन की प्रधानता से कथन आवे तब उसे आनन्द का वेदन मुख्यरूप से है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! **इतना ही वह आत्मा है,** फिर देखा! सम्यग्दर्शन में पूरा आत्मा आया है। सम्यग्दर्शन है, वह पूरा आत्मा है। विशेष बात कही जायेगी। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५५ कलश-६ दिनाङ्क १२-०८-१९७८ शनिवार
श्रावण सुद ८, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, श्लोक छठवाँ — हिन्दी चलेगा आज, छठवाँ है न छठवाँ? श्लोक बोलिये फिर से —

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः॥

इसमें आचार्य की पुकार है। देखो तो सही! आहाहा! **इस आत्मा को 'अस्य'** अर्थात् इस आत्मा को; यह शुद्ध चैतन्यघन पूर्ण स्वरूप जो 'अस्य' आत्मा को — ऐसा।

अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना... अन्य पदार्थ — छह द्रव्य, देव-शास्त्र-गुरु, उनकी श्रद्धा आदि का राग, उससे भिन्न श्रद्धान करना। इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न, अपने स्वभाव से अभिन्न... स्वभाव से अभिन्न... सूक्ष्म बात है, भाई!

श्रोता : फरमाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर्मुख होकर उसका श्रद्धान; उसको देखना अर्थात् **श्रद्धान करना ही नियम से सम्यग्दर्शन है।** यह निश्चय से सत्य सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली सीढ़ी कहा जाता है। आहाहा! इस सम्यग्दर्शन में, जितने आत्मा में गुण है, संख्या से अनन्त... अनन्तानन्त... अनन्तानन्त.... अनन्तानन्त; संख्या से जिसका अन्त नहीं है - ऐसे जो अनन्त अनन्त गुण हैं... आहाहा! ऐसे आत्मा का श्रद्धान करना, तो जितनी श्रद्धा जहाँ हुई, तो जितनी संख्या में अनन्त गुण है, उनका एक अंश व्यक्तपने सम्यग्दर्शन में वेदन में आता है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहाहा!

अभी तो चौथा गुणस्थान कहा। पाँचवें और छठवें (गुणस्थान) की व्याख्या तो बहुत कठिन है। आहाहा! यह तो प्रथम में प्रथम भगवान आत्मा, अनन्त गुण का अपार सागर, उसको अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्य के भाव से भिन्न देखना अथवा श्रद्धान करना, वह निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है, उसे दर्शन कहा जाता है। आहाहा! और जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं, वहाँ उसका ज्ञान और व्रत, चारित्र, तप - ये सब बाल — अज्ञानतप - बालव्रत है। आहाहा! समझ में आया ? यह ऐसी बात है, भाई!

यह कैसा है आत्मा ? "**अपने गुण पर्याय में व्याप्त रहनेवाला (आत्मा) है**" क्या कहते हैं ? कि जो वस्तु आत्मा है, ये अपना गुण सहभावी और क्रमवर्ती उसकी पर्याय में व्याप्त है। सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ? ये बाद में कहेंगे। यहाँ तो आत्मा कैसा है कि अपना-अनन्त गुण में व्याप्त है, रहता है और उसकी विकृत अथवा अविकृत अवस्था में वह आत्मा व्याप्त है, पसरा है। अरे! ऐसी व्याख्या अब! आहाहा...!

भगवान आत्मा ये, परद्रव्य से भिन्न। शरीर, कर्म, कर्म का अनुभाग-भाव उससे तो भिन्न, परन्तु अपने अनन्त गुण है और गुण की वर्तमान (पर्याय) क्रमवर्ती विकारी या

अविकारी... अविकारी का अर्थ? अस्तित्वगुण की पर्याय अविकारी है, सब गुण की पर्याय विकारी है — ऐसा नहीं है। यहाँ अज्ञान में भी, हाँ! समझ में आया? ऐसी बात है। अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुण है, उसकी पर्याय तो निर्मल ही होती है परन्तु जो दूसरे गुण है, उसमें कितने गुण की पर्याय विकृत भी होती है। श्रद्धागुण की, चारित्रगुण की, आनन्दगुण की, प्रदेशत्व-गुण की ऐसे गुण की; कर्ता-कर्म, करण, सम्प्रदान गुण की विकृत अवस्था होती है। उस विकृत अवस्था और गुण में आत्मा व्यापक है, उसमें रहा हुआ है; परद्रव्य में नहीं, परद्रव्य के भाव में नही। यहाँ परद्रव्य का भाव अर्थात् जीव के विकारी (भाव) वे यहाँ नहीं लेना। यहाँ तो परद्रव्य — कर्म, शरीर, वाणी आदि वस्तु और उसका भाव अर्थात् शक्ति, उसकी जो गुण-पर्याय, उससे भगवान आत्मा रहित है। वह सम्यग्दर्शन का विषय है या नहीं? — यह बात अभी नहीं है। पहली बात तो यह है — वस्तु कैसी है-पूरे प्रमाण का विषय — निश्चय का विषय और व्यवहार का विषय। विषय शब्द से त्रिकाली द्रव्य निश्चय का विषय है और वर्तमान पर्याय विकृत-अविकृत अवस्था है, वह व्यवहार का विषय है। दो मिलकर प्रमाण का विषय है। आहाहाहाहा!

तो कहते हैं कि '**अपने गुण-पर्याय में व्याप्त रहनेवाला है**'..... इस पर्याय में विकृत भी लेना। समझ में आया? यह दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, हिंसा, झूठ आदि का भाव है, यह विकृत अवस्था है, उसमें भी आत्मा व्याप्त-उसमें रहा हुआ है। किसी परद्रव्य में रहा हुआ है — ऐसा नहीं और परद्रव्य उसमें आया है — ऐसा नहीं। आहाहाहा! यह भगवान आत्मा, वस्तु से त्रिकाल शुद्ध होने पर भी, उसके गुण भी पूर्ण शुद्ध होने पर भी, उसकी पर्याय में अपूर्णता और विकृत अवस्था जो है, वह भी आत्मा उसमें व्यापक है, आत्मा उसमें व्याप्त अर्थात् उसमें पसरा है। उसका वह विस्तार है। धन्नालालजी! द्रव्य-गुण और पर्याय.... द्रव्य जो वस्तु है, वह अपने गुण और पर्याय में रहती है। परद्रव्य के भाव और परद्रव्य में वह नहीं रहती। परद्रव्य के भाव वह विकारी यहाँ नहीं लेना। अपना विकारी भाव, वह नहीं। कर्म और कर्म का अनुभाग जो जड़ है, उससे रहित आत्मा है, परन्तु अपनी पर्याय में जो विकृत अवस्था है, उससे तो वह सहित - व्याप्त है। समझ में आया? क्या कहा?

श्रोता : एक बार आप कहते हो पर्याय का इसमें अभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या? वह तो जब शुद्धनय का — द्रव्य का विषय बताना हो तब। यह तो अभी कहेगा न!

वस्तु जो है अनादि से, अपने गुण-पर्याय में व्याप्त है, अनादि से है। अब इतना होने पर भी.... समझ में आया? भाषा तो सादी है, बापू! वस्तु तो कोई अलौकिक... सम्यग्दर्शन का विषय क्या? और आत्मा किसमें रहता है? आहाहा! अनादि से कोई शरीर में आत्मा रहा है, या कर्म में रहा है, या स्त्री-कुटुम्ब-परिवार में रहा है, या देव-गुरु-शास्त्र में रहा है — ऐसा है नहीं। अनादि से रहा है तो अपने जो अनन्त गुण हैं और उसकी वर्तमान में विकृत और अविकृत अवस्था है, उसमें यह आत्मा रहा है। समझ में आया? यह प्रमाण का विषय बताया। अब उसमें सम्यग्दर्शन का विषय क्या है? — यह बाद में कहेंगे। आहाहा! आ... रे .... क्या हो? मूल तत्त्व की बात में ही बदलाव हो गया और इसलिए लोगों को व्रत करो, तप करो, और यह प्रतिमा ले लो.... धूल है। आहाहा!

श्रोता : वह तो काम की चीज है।

पूज्य गुरुदेवश्री : काम की चीज है न, भटकने की। यह जो शुभभाव है, वह तो संसार है, परिभ्रमण का कारण है, परिभ्रमणस्वरूप है। यह कहा न! आत्मा व्याप्त है, विकारीभाव में! वह परिभ्रमणस्वरूप है। आहाहा! वह परिभ्रमण कर्म के कारण करते हैं — ऐसा है नहीं। आहाहाहा! यहाँ तो भगवान आचार्य, अपनी बात करते-करते यह बात करते हैं कि हमारा आत्मा जो है, वह अपने गुण जो सहवर्ती अनन्त गुण हैं, उसमें तो है द्रव्य, परन्तु अपनी पर्याय में जितना मिथ्यात्वभाव है, रागभाव है, द्वेषभाव है, काम-क्रोधभाव है, पुण्य-पापभाव है, वह उसकी पर्याय में है और द्रव्य उसमें व्यापक (फैला) है, किसी कर्म से विकारी अवस्था हुई है — ऐसा नहीं है। आहाहा....! समझ में आया?

अपने गुण-पर्यायों में, अपनी पर्याय में, विकारी भी अपनी पर्याय है — ऐसा कहते हैं यहाँ। ये विकारी पर्याय कोई कर्म की नहीं है। समझ में आया? आहाहाहा! अरे! मिथ्यात्व भाव है, यह भी अपनी पर्याय है। मिथ्या श्रद्धा है, यह भी अपनी पर्याय है।

श्रोता : कर्मजन्य है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्मजन्य बिल्कुल नहीं। यह तो निमित्त से कथन करना हो। ये तो निमित्त के आश्रय से उत्पन्न हुआ इतना, परन्तु है तो यह अपनी पर्याय में, अपने कारण से।

श्रोता : औदयिक कहते हैं न।

पूज्य गुरुदेवश्री : औदयिक अर्थात् अपनी पर्याय, औदयिकभाव, यह अपनी पर्याय है, जीवतत्त्व है। तत्त्वार्थसूत्र में आया नहीं ? पहले अध्याय में। जीव तत्त्व है। यह मिथ्यात्व, पुण्य, पाप से जीवतत्त्व है। औदयिकभाव यह जीवतत्त्व है। पहले अध्याय में आता है न ? यह तो पीछे सम्यग्दर्शन बताना हो, शुद्धनय का विषय बताना हो तो पीछे (कही) बात। पहले तो इतने में राग में, विकार में मिथ्यात्व में, पुण्य-पाप में आत्मा ही कर्ता है और व्याप्त है। ऐसा भी सिद्ध न करे और विकार पर से होता है तो अपनी पर्याय का अस्तित्व की भी उसको खबर नहीं। आहाहाहाहा *! गहरी बात है भाई! यह तो सम्यग्दर्शन हुये पहले, भगवान आत्मा!* चारों तरफ भले द्रव्य पड़ा हो, कर्म, शरीर, वाणी, परन्तु यह आत्मा जो है, यह तो अपने गुण-पर्याय में ही व्याप्त है, बस! आहाहा! समझ में आया ? मिथ्यात्व में भी आत्मा व्याप्त है। यह दर्शनमोह कर्म के कारण से मिथ्यात्व है — ऐसा है नहीं। आहाहा! राग और द्वेष का परिणाम जो आत्मा में हुआ, यह चारित्रगुण की विपरीत अवस्था अपने में है। समझ में आया ? ऐसे आत्मा को ख्याल में पूर्ण लेकर पीछे सम्यग्दर्शन का विषय क्या है — यह बताना है अब। आहाहा! आहाहा! क्योंकि सम्यग्दर्शन का विषय एक नय का विषय है और यह गुण-पर्याय में व्याप्त द्रव्य, वह प्रमाण का — दो नय का विषय है, प्रमाण का विषय है। क्या कहते हैं यह ?

प्रमाण अर्थात् अर्थात् दो भाग को लक्ष्य में ले, उसका नाम प्रमाण और एक भाग को लक्ष्य में ले, उसका नाम नय। कहो, ऐसी तो सादी भाषा है। आहाहा! पाटनीजी! ऐसी बातें हैं यह! आहाहा! यहाँ तो अभी आचार्य.... यह जो तत्त्व - वस्तु जो आत्मा है, वह पर रजकण — कर्म, शरीर, वाणी, मन में उनके अन्दर बीच में भले दिखायी दे परन्तु वह उनमें है नहीं और उनसे विकार हुआ — ऐसा है नहीं। आहाहा!

द्रव्य अर्थात् त्रिकाली वस्तु, गुण अर्थात् त्रिकाली स्वभाव, और पर्याय अर्थात्

वर्तमान विकृत और अविकृत अवस्था। इन सबमें आत्मा व्यापक है; उस विकार में कोई कर्म व्यापक है — ऐसा है नहीं। समझ में आया?

श्रोता : अब नय की बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी बात बाद में। आहा! पहले से ऐसा विचार करे कि विकार है, वह कर्म से हुआ है तो पहली पर्याय की अस्तित्व की चीज का पता नहीं है। समझ में आया? क्या करें, हमारे कर्म का ऐसा उदय आता है तो विकार होता है (— ऐसा अज्ञानी मानता है)। 'कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।' जड़ कर्म, वह बेचारा अज्ञान-जड़ है, उसका क्या! वह तो अजीव द्रव्य में उसका अस्तित्व है। उस अजीव द्रव्य का अस्तित्व, चैतन्य की विकारी पर्याय में वह कर्म से होता है? बिल्कुल नहीं। आहाहाहा! धन्नालालजी! यह तो है अन्दर, देखो न, अन्दर! उसका तो अर्थ होता है। यह सब हमारे सेठ नहीं आये? मोहनलालजी और बाबूलालजी को सब अन्दर है या नहीं परन्तु अन्दर? पृष्ठ में लिखा है या नहीं?

श्रोता : अन्दर लिखा है परन्तु अन्दर में तो हमें समझ में नहीं आता, आप कहो तब मुश्किल से समझ में आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा....हा...! कहते हैं कि यह आत्मा.... पहले कहा था न कि इस **अस्य आत्मा को परद्रव्य से पृथक् देखना, यह निश्चय से सम्यग्दर्शन है** इतनी बात पहले की। अब यह आत्मा है, यह किसमें व्याप्त है? कितनी शक्ति में और पर्याय में है? अपने गुण-पर्याय में व्याप्त रहनेवाला है। आहाहा! कभी आत्मा कर्म में गया नहीं, शरीर में गया नहीं, शरीररूप हुआ — अनन्त बार शरीर का (संयोग हुआ), परन्तु आत्मा शरीर की पर्यायरूप कभी नहीं हुआ। आहाहाहा! अनन्त कर्म के रजकण के मध्य में प्रभु है, परन्तु वह आत्मा कर्म की पर्यायरूप कभी नहीं हुआ, और वह कर्म की पर्याय आत्मा के साथ में है तो कर्म की पर्याय से विकृत अवस्था आत्मा में होती है — ऐसा कभी नहीं होता। आहाहाहा!

बाबूलालजी! वहाँ तुम्हारे कलकत्ता में कहीं नहीं मिलता, पैसे में — धूल में भी कहीं नहीं मिलता। इसलिए कहते हैं न, हम यहाँ आये हैं न कलकत्ता से। आहाहाहा!

कहाँ गये छोटालालजी! आहाहा! समझ में आये ऐसा है न भगवान! आहाहा! आहाहा! परमात्मा कहते है, वह सन्त कहते हैं। सन्त तो आढ़तिया हैं, कि प्रभु ऐसा कहते हैं और ऐसा है कि यह आत्मा जो वस्तु है, द्रव्यरूप पदार्थ (है) तो उसमें जो अनन्त गुण है, ये आत्मा में है और पर्याय में विकृत अवस्था है, वह भी आत्मा उसमें व्यापक है, कोई परद्रव्य व्यापक है, और विकार है — ऐसा है नहीं। आहाहाहा! समझ में आया?

अपने गुण पर्याय, अपने गुण - अपने पर्याय-मिथ्यात्व राग, द्वेष, अज्ञान, काम-क्रोध, विषय वासना, ये अपनी पर्याय में है, अपनी पर्याय है। आहाहा! कोई परद्रव्य की पर्याय है, और परद्रव्य से हुई है — ऐसा नहीं, इतना तो पहले सिद्ध किया। आहाहा! **और,** ऐसे होने पर भी, ऐसा रहनेवाला होने पर भी, प्रमाण का विषय में गुण ने पर्याय में रहनेवाला होने पर भी **शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है....** आहाहा!

यहाँ त्रिकालीनय.... वह तो दो नय का प्रमाण का विषय सिद्ध किया। अब जो शुद्धनय है, वह तो एकाकार स्वरूप त्रिकाल एकरूप है, उसको बताता हैं। आहाहा! गुण का भेद और पर्याय का भेद वह नहीं बताता। यह गुण का भेद और पर्याय का भेद व्यवहारनय का विषय था तो उसे प्रमाण का विषय बताया। समझ में आया? ऐसी बातें अब! बनियों को फुर्सत नहीं मिलती, धन्धे के कारण-पाप के कारण पूरे दिन। सेठ यह तुम्हारे क्या कहलाता है।

श्रोता : इसमें बनिये बहुत आयेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनिये ही आनेवाले हैं न सब! उसमें ऐसा लिखा है न भाई ने अभी जैनधर्म बनियों को — व्यवसायवालों को आ गया है। व्यवसाय पूरे दिन धन्धा, आहाहा! पाप, स्त्री, पुत्र, परिवार, दवाखाना, इंजैक्शन, यह दवा ली और यह किया धूल... धूल...। आहाहा!

श्रोता : बीमार पड़े तो क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बीमार पड़ता है।

श्रोता : शरीर (बीमार पड़ता है।)

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर, वह तो जड़ है और जड़ की अवस्था में आत्मा नहीं है। आत्मा में रोग है, वह तो मिथ्यात्व और राग-द्वेष का रोग है परन्तु उस रोग में भी आत्मा व्यापक है। समझ में आया? आहाहाहा! आहाहाहा!

किसी ईश्वर ने इसे विकार कराया है या अन्दर में कर्म का बहुत जोर आया; इसलिए विकार करना पड़ा है — ऐसा नहीं है। उस काल में इसकी पर्याय का स्वरूप ही विकृत हुआ है, इस प्रकार इसका व्यापक आत्मा उसमें रहा हुआ है। आहाहाहा!

छठवाँ श्लोक..... हमारे जिनेश्वरदासजी (ने कहा) कि भाई आये हैं न, इनके लिए आज हिन्दी में लो। कहा, अब मंगलवार से शुरु होगा न अपने शिक्षण-शिविर। आहाहा! भाव तो है वह है। हिन्दी में आवे परन्तु वस्तु तो जो है, वही है न भैया। आहाहा!

पहले ज्ञान में आत्मा द्रव्य, गुण और पर्यायस्वरूप है — ऐसा पहले उसे ज्ञान होना चाहिए। वह ज्ञान सम्यक् नहीं परन्तु उस ज्ञान का अंग पहले प्रगट होना चाहिए। आहाहा! उसमें आया है न! ऐसा कि भेद बताना है, वह ज्ञान का अंग है, उसमें वह ज्ञान का अंग उस प्रकार का सच्चा होता है, सम्यग्ज्ञान नहीं परन्तु ज्ञान अन्दर.... दर्शन, ज्ञान, चारित्र वह आत्मा — ऐसा बतलाया परन्तु उसमें एक ज्ञान का अंग वहाँ सिद्ध होता है, एक व्यवहार का.... कलश-टीका में है। समझ में आया? इसमें ही है, पाँचवें कलश में.... कलश-टीका है न देखो! लो यही निकला, पाँचवाँ कलश है न! 'उसी प्रकार गुण-गुणीरूप भेद कथन ज्ञान उपजने का एक अंग है' पहले इस प्रकार का ज्ञान होता है, उस सम्यग्ज्ञान की यहाँ बात नहीं है। यह गुण-गुणी का भेद कथन, व्यवहारनय.... आहाहा! गुण-गुणीरूप भेद कथन वह ज्ञान उपजने का एक अंग है, जीव का लक्षण चेतना, इतना कहने पर पुद्गल आदि अचेतन द्रव्यों से भिन्नपने की प्रतीति उत्पन्न होती है; इसलिए जब अनुभव होता है, तब तक गुण-गुणीरूप भेदकथन ज्ञान का अंग है, जानने में इतना आता है। फिर अनुभव तो उसको छोड़कर होता है। आहाहा! समझ में आया? भाई! वीतरागमार्ग! जिनेश्वर-परमेश्वरमार्ग।

श्रोता : कलश-टीका में व्याप्त का क्या अर्थ किया है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह व्याप्त ही है उसमें। यह तो छठवें की बात हुई, वह तो

पाँचवें की बात है, वह तो पहले आ गया है न। अस्तु...... यह तो लम्बी व्याख्या है। यहाँ तो पहले समकिती की व्याख्या की है, उसमें आ गया है। शुद्ध जीव का अनुभव करने पर तीनों ही है। देखा ? क्या कहा ? यहाँ तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही पर्यायनय का विषय है, वह है; वैसे विकार भी है — ऐसा ले लेना।

परन्तु शुद्धनय से देखने पर — निर्विकल्प वस्तुमात्र को देखने पर शुद्धपना उसरूप है। वस्तु भी वही है न? वस्तुस्थिति है न? **एतत् नियमात सम्यग्दर्शन** व्याप्तु.... व्याप्तु.... शब्द इसमें है न, लम्बा है न अर्थात् **एतत् नियमात सम्यग्दर्शन।**

श्रोता : अन्तिम चार लाईनें लीजिये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ है, देखो न! कहा न! **संसार अवस्था में जीवद्रव्य नवतत्त्वरूप परिणमा है....** यह भाषा की है। यह तो पूर्व में पाँचवें में आ गया है। वह तो कहा था पहले, उसमें आ गया है। यह नौ तत्त्वरूप परिणमा है, यह मिथ्यात्वभाव इसमें है। आहाहा! सच्चे संवर-निर्जरा की यहाँ बात नहीं है परन्तु अनादि से जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि और आस्रव का अंश नहीं, उतना उस गुणस्थान में पहले उतना उसे व्यवहार से संवर गिना, यहाँ कर्म का अंश खिरता है, उसे निर्जरा व्यवहार से गिनी और बंध का एक अंश कम होवे, उसे मोक्ष गिना, द्रव्य.... द्रव्य इन नौ तत्त्वरूप मिथ्यादृष्टि में परिणमित हुआ है। समझ में आया ?

देखो! यहाँ आया, क्योंकि यह जीव द्रव्य '**द्रव्यांतरेभ्य पृथक्**' ऐसा। ऐसा होने पर भी, द्रव्यस्वभाव की दृष्टि लेनी है, दृष्टि लेना है। आहाहा! तो पहले ये बात सिद्ध की कि परद्रव्य तो निमित्तमात्र है, उसकी कोई चीज की बात नहीं। तेरी चीज जो द्रव्य-गुण जो शुद्ध है और तेरी पर्याय में जो अशुद्धता — आस्रव की पुण्य-पाप की, बंध की जो भावबन्ध है, वह तेरी पर्याय में है और उसमें आत्मा व्यापक है। किसी परद्रव्य के कारण से विकार है और मिथ्यात्व है — ऐसा भाव है नहीं। आहाहाहाहा! समझ में आया ? ऐसा मार्ग है, भाई! अभी तो यह तो अपने थोड़ा-सा चल गया है। यह तो हमारे भाई के कारण फिर हिन्दी में लिया है। और शुद्धनय.... वह तो उसके अस्तित्व में, द्रव्य में, गुण में, और पर्याय में अस्तित्व में जो है, वह बतलाया।

अब शुद्धनय का विषय क्या है ? आहाहाहा ! प्रमाण के विषय में विकारी पर्याय या पर्याय का निषेध नहीं होता। क्या कहा ? नयचक्र में यह है, कि प्रमाण के विषय में पर्याय का और विकृत अवस्था का निषेध नहीं होता, इसलिए वह प्रमाण पूज्य नहीं है। आहाहा ! और निश्चयनय के विषय में उस पर्याय का निषेध होता है और त्रिकाली द्रव्य का आश्रय होता है; इसलिए निश्चयनय पूज्य है। आहाहाहा ! सूक्ष्म बात है भाई ! दूसरे प्रकार से कहें तो जो वस्तु है वह अनादि अपने गुण में तो है ही, परन्तु अनादि उसकी विकृत अवस्था में भी वह आत्मा ही है। उस अवस्था में कोई कर्म आया है और कर्म से (अवस्था) हुई है — ऐसा है नहीं। अतः ऐसी चीज का पहले निर्णय कराकर, अब शुद्धनय का विषय... वह तो दो — द्रव्य और पर्याय — दो का ज्ञान कराया, परन्तु वह प्रमाण तो सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। जरा सूक्ष्म पड़ेगा, क्या कहा ? जो त्रिकाली द्रव्य है और गुण है, पर्याय है, उसका विषय करनेवाला प्रमाण है वह। तो वह प्रमाण है उसमें दो आये, इस कारण वह प्रमाण स्वयं सद्भूत व्यवहारनय का विषय है, व्यवहारनय का विषय है। आहाहा ! क्या हो ? क्या कहते हैं ? आहाहा ! पञ्चाध्यायी में है — प्रमाण वह व्यवहारनय का विषय है। आहाहा ! क्योंकि वहाँ एक नहीं आया, दो आये। अतः दो आये, वह प्रमाण का विषय हो गया, दो आये तो व्यवहारनय का विषय हो गया। प्रमाण, व्यवहारनय का विषय है। आहाहाहा !

भाई ! वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है, अभी तो लोगों में इतनी अधिक गड़बड़ (चलती है)। आहा ! प्रतिमा ले लो और ब्रह्मचर्य और वस्त्र बदल दो। आहाहा ! अकेला अज्ञानभाव है।

श्रोता : बाह्य त्याग तो है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाह्य त्याग तो अन्दर में अनादि से है उसमें (आत्मा में)। परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का तो तीनों ही काल अभाव है। आहाहा ! आदान-ग्रहण करना और छोड़ना — परद्रव्य के ग्रहण और छोड़ना, उससे तो वह त्रिकाल रहित है। ऐसा गुण तो उसमें त्रिकाल है। छोड़ना अर्थात् नहीं है — ऐसा तो उसमें गुण है। उसको छोड़ना अर्थात् उसका अर्थ यह हुआ कि उसे ग्रहण किया था उसने ऐसा माना। सूक्ष्म बात, बापू !

वीतराग मार्ग! आहाहा! उसमें भी दिगम्बर धर्म और जैनधर्म, उसकी चीज अलौकिक बातें हैं, भाई! आहाहा! दुनिया के पाप के धन्धे में बारह महीने बहुत समय उसका वहाँ जाता है। है? चौबीस घण्टे में बाईस घण्टे पाप में, व्यापार, कमाना, लिखना, और यह और वह.... अब उसमें एक घण्टा कदाचित् सुनने को मिले और सुने तो भी उसे निर्णय करने का समय नहीं मिलता। आहाहा!

(यह तो) ऐरन का चोरी और सुई का दान (जैसी बात है) इस प्रकार बाईस घण्टे-तेईस घण्टे इसमें (पाप में) रहे और एक घण्टे सुनने जाये, वहाँ सुनने को ऐसा मिलता है कि व्रत ले लो, प्रतिमा ले लो, तपस्या करो, रस छोड़ो, वस्त्र छोड़ दो, एक-दो वस्त्र रखो, रस का परित्याग करो.... लो ऐसी बातें हैं सब!

श्रोता : कितने अधिक परीषह सहन करते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी परीषह नहीं है। सम्यक्त्व के बिना परीषह हो ही नहीं सकता। समझ में आया? परीषह में तो सहन करना अर्थात् ज्ञाता-दृष्टारूप से रहना। यह तो सम्यक्त्व होने के बाद उसे ज्ञाता-दृष्टापना रहे, उसका नाम परीषह है। धन्नालालजी! ऐसी बातें हैं, भाई! क्या हो? भाई!

श्रोता : ज्ञाता-दृष्टापने रहना वह परीषह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसका नाम परीषह है, वह परीषहजय है। अरे प्रभु! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि ऐसा भगवान आत्मा अपने गुण-पर्याय में व्याप्त रहनेवाला है। '**व्याप्तं**' आस्रव, पुण्य-पाप, बन्धभाव उसमें आत्मा रहनेवाला है, आत्मा की पर्याय है और आत्मा उसमें आया है। अनादि से वह नव तत्त्वरूप परिणमन उसका है। आहाहा! नव तत्त्वों में संवर, निर्जरा, मोक्ष वह यहाँ नहीं लेना, द्रव्य, संवर और द्रव्य मोक्ष.... आहाहा!

और '**शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य**' **शुद्धनय से एकत्व में निश्चित कहा गया है।** अन्तर को देखनेवाला शुद्धनय, जो श्रुतज्ञान का निश्चय अंश, उससे देखने से, वह तो पूर्ण स्वरूप को देखता है। सम्यग्दर्शन का विषय पूर्ण स्वरूप है, और शुद्धनय का विषय ही पूर्ण स्वरूप है। नय, ज्ञान की अपेक्षा से है और समकित, श्रद्धा की अपेक्षा से है।

श्रोता : उसमें अपने को क्या? अपने को तो धर्म की बात सुननी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात तो वह चलती है।

श्रोता : सम्यग्दर्शन तो हो जाएगा उसमें क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में...... सम्यग्दर्शन वही धर्म की पहली शुरुआत है। (उसके बिना) धर्म कहाँ से आया... धूल में? प्रतिमा ले ले, दो-पाँच-दस और ग्यारह....।

श्रोता : पन्द्रह होवे तो पन्द्रह ले ले।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें क्या? इसे क्या? गिनती ही गिनना है न? वस्तु कहाँ हैं इसके घर में? आहाहाहा!

श्रोता : हम छोड़ देंगे प्रतिमा।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिमा छोड़ देगा का अर्थ क्या? वह तो विकल्प है, उसको छोड़ देगा तो?

श्रोता : निर्विकल्प होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्विकल्प होगा, तब छोड़ देगा। आहाहा! वह विकल्प भी आत्मा का आत्मा में व्याप्त है। अब उसे शुद्धनय से देखने से.... प्रमाण का विषय बताकर, पर की कोई अपेक्षा पर्याय में नहीं है — ऐसा बताकर, अब शुद्धनय में कोई भेद की अपेक्षा नहीं है। आहाहाहा! भाई! यह तो तीर्थङ्कर जिनेश्वर देव! आहाहा! जिन्हें एकावतारी इन्द्र तीन ज्ञान के स्वामी, आहाहा! जिन्हें वैमानिक देव में से छूटकर सुनने आवें, वह वाणी कैसी होगी? भाई! है?

श्रोता : अलौकिक अद्भुत!

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यहाँ लोग कहते हैं दया पालो, व्रत पालो.... अब यह तो भिखारी, कुम्हार भी कहता है।

श्रोता : भीम ग्यारस से नहीं कहते।

पूज्य गुरुदेवश्री : भीम ग्यारस... हमारे यहाँ कहते थे और कहा न। हमारे उमराला

में, उमराला में साठ वर्ष पहले ऐसा रिवाज था, हमारे गाँव का... दूसरे गाँव में भी था कि श्रावण महीने की यह भीम है न? एकम आवे तो गाँव के जो सेठ हों, वे हमारे नगद सेठ थे, वे दो-चार व्यक्ति इकट्ठे होकर पाँच-पाँच सुपारी लेकर जाते, तेली के पास, तेली-मुसलमान तब यह समझते कि हाँ! इन बनियों का पर्यूषण का महीना आया है, बन्द करना पड़ेगा, तेली घानी नहीं करता। श्रावक शुक्ला एकम् से भाद्र शुक्ला पंचमी तक मुसलमान तेली भी घानी नहीं पेलता था, इतनी महाजन की छाप थी। हमारे गाँव में पाँच हजार की जनसंख्या, उमराला के नगद सेठ थे। पहले तो ठीक था, लोग ठीक थे फिर तो घिस गये। लोग खानदानी थे अभी छह लड़के हैं, हमारे तो सत्तर वर्ष पहले का सब। यह तेली मुसलमान उनके पास जाते चार सेठ.... सावन महीने की एकम, तो वे समझते आज से भाद्र शुक्ल पंचमी तक घानी नहीं पिलेगी। मुसलमान नहीं पेलता, कुम्हार के पास पाँच सुपारी लेकर जाते निम्भाड़ो नहीं करता। श्रावण शुक्ल एकम से भाद्र शुक्ल पंचमी तक निम्भाड़ो.... निम्भाड़ो समझते हो (श्रोता - मिट्टी के बर्तन पकें वह) तन्त्री भी बनियों का पर्यूषण आया है — ऐसा कहे, ऐसा तो लौकिक रीति से गाँव में था और पूरा होने के बाद भी, श्रावण शुक्ल एकम् से भाद्र शुक्ल पंचमी तक बर्तन का पकाना बन्द, घानी बन्द, फिर भी पहले शुरु करेगा वह अधिक पापी है — ऐसा माननेवाले दो-चार दिन आगे-पीछे होते। कोई छटम् को सातम को करता कोई आठम को करता — ऐसा तो मुसलमानों में मानी जाती थी महाजन की बात। वह कहाँ धर्म था? आहाहा! समझ में आया? ऐसा तो गाँवों में था। तुम्हारे शहरों की तो हमें कुछ खबर नहीं। नागनिस (गाँव) सबमें था। पता होगा। यह तो हमारे उमराला में इसलिए तो हमको पता है न? पाँच हजार की आबादी। अब वह बर्तन पकाना बन्द करते, तेली घानी बन्द कर दे, इसलिए वह धर्म है? वह तो तीव्र पाप.... बनियों का पर्यूषण है, गाँव के सेठ हैं, और इनका हमारे ऊपर प्रबल है, इसलिए अपने को ऐसा नहीं करना, मुसलमान नहीं करता, पैंतीस दिन तक मुसलमान घानी नहीं चलाता। इससे ऐसी तो वह लौकिक लाईन थी।

यहाँ तो परमात्मा कहते हैं — विकार की दशा, चाहे तो वह शुभ की विकारदशा, दूसरों को नुकसान न करना, हिंसा न करना, यह न करना — ऐसा जो भाव, वह भी

एक विकृत अवस्था है और उसमें आत्मा व्याप्त है। वह विकृत अवस्था किसी ने करायी है — ऐसा नहीं है।

ऐसा आत्मा, द्रव्य-गुण-पर्याय में रहनेवाला होने पर भी, शुद्धनय अर्थात् जो नय का अंश त्रिकाल को विषय करता है, उसे शुद्धनय कहते हैं। एक अखण्ड आत्मा अभेद, जिसमें गुण-गुणी का भेद भी नहीं, जिसमें पर्याय का भेद नहीं, निर्मल पर्याय का भी जिसके विषय में भेद नहीं.... आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया....** एकरूप निर्णय कराया। आहाहा! एक ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, स्वभावभाव, नित्यभाव, सामान्यभाव, सदृशभाव, एकरूप रहनेवाला त्रिकाली (भाव) वह शुद्धनय का विषय, उसने निर्णय कराया। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात। अभी तो यह कलश....

महाप्रभु.... यह वीतराग का मार्ग.... एक-एक श्लोक में दिगम्बर के सन्तों ने गजब का काम किया है। आहाहा! ऐसी बात कहीं नहीं है। आहाहा! परन्तु उसमें जन्म लेनेवाले तुमको भी भान कब था वहाँ?

श्रोता : उसमें जन्में हैं, ऐसा अपने को मानना किसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दिगम्बर में जन्मे हैं न ये सब.... नामनिक्षेप है। चिमनभाई! आहाहा! भगवान सर्वज्ञदेव परमेश्वर ने ऐसा कहा... ऐसा कहा कि तेरी दशा में विकृत अवस्था अनादि की है। आस्रव, बन्धभाव, रागादि, पुण्य-पाप, मिथ्यात्व, यह तेरी दशा में है, तू उसमें आया है। किसी कर्म से आया है — ऐसा नहीं। इतनी बात का ज्ञान कराकर... वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। उसमें कहा (था), बताया था न कि ज्ञान का अंग... अब सम्यग्ज्ञान कब होता है? त्रिकाली भगवान पूर्णानन्द का नाथ ध्रुवस्वरूप, जो शुद्धनय का और सम्यग्दर्शन का विषय है, इस सम्यग्दर्शन ने त्रिकाली को बताया। शुद्धनय ने त्रिकाली को जाना। आहाहा!

श्रोता : शुद्धता त्रिकाल।

पूज्य गुरुदेवश्री : त्रिकाल शुद्ध एक वस्तु। वर्तमान भले त्रिकाल न लो तो वर्तमान में ध्रुवपना एकरूप, वह उसका विषय है। यह तो शास्त्र भाषा है। आहाहा! जिसमें —

सम्यग्दर्शन के विषय में और शुद्धनय के विषय में गुण-गुणी का भेद भी नहीं आता; उसकी विकारी पर्याय तो नहीं आती परन्तु अविकारी पर्याय — सम्यग्दर्शन की पर्याय, सम्यग्दर्शन के विषय में नहीं आती। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह तो सन्तों की वाणी है, बापू! दिगम्बर सन्त अर्थात् केवली के पथानुगामी। आहाहा! केवलज्ञान के मार्ग पर चलनेवाले और केवलज्ञान लेनेवाले, एक दो भव में मोक्ष जानेवाले, उन सन्तों को करुणा का विकल्प आया तो यह शास्त्र बन गया। आहाहा!

तो कहते हैं कि ऐसे आत्मा देखो तो तेरी विकारी पर्याय में भी व्याप्त तो है। सारा द्रव्य-पर्याय देखने से तो दोनों उसके हैं परन्तु अब उसका कल्याण करने का उपाय बताना है, तो उसमें तो एक रूप त्रिकाल द्रव्य जो ध्रुव है, वह शुद्धनय ने बताया। वह द्रव्य, गुण-पर्याय में व्याप्त होने पर भी, शुद्धनय में अकेले द्रव्य को बताया। द्रव्य -गुण-पर्याय में व्याप्त अर्थात् रहनेवाला होने पर भी सम्यग्दर्शन ने अकेले त्रिकाली को बताया। त्रिकाली, वह मैं; परमात्म द्रव्य वह मैं.... यह आया न, 320 गाथा में, जयसेनाचार्य की टीका में 320 (गाथा में आता है कि) मैं तो परमात्म द्रव्य हूँ। है? 320 नहीं? व्याख्यान हो गया है।

देखो! संस्कृत टीका है (गुजराती) 'जो सकल निरावरण, अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभाससमय, अविनश्वर, शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य वही मैं हूँ।' आहाहा! देखो! यह सम्यग्दर्शन का विषय, यह शुद्धनय का विषय! आहाहा! विषय अर्थात् ध्येय। आहाहा! सम्यग्दर्शन का ध्येय, ध्रुव ध्येय है। ध्रुव ध्येय है। सम्यग्दर्शन का विषय गुणगुणी भेद और पर्याय उसका विषय नहीं है। आहाहाहा! क्षायिक सम्यग्दर्शन का विषय भी ध्रुव है। क्षायिक समकित, समकित का विषय नहीं। यह तो संस्कृत टीका है। यह तो बहुत चला, यह तो तैंतालीस वर्ष उपरान्त चला था। आहाहा! भाई! इसे समझना पड़ेगा बापू! चौरासी लाख के दुःख इसने भोगे हैं। यह कल आया था न उसमें — सज्झाय में — छहढाला में, कि इसकी दुःख की भाषा / कथन करोड़ जीभ से नहीं कहा जा सकता। बापू! आहाहा! उसमें आया था। इसने दुःख भोगा है भाई! इसकी पर्याय में; संयोग का नहीं, मिथ्यात्व और राग-द्वेष के मलिन परिणाम महादुःखरूप हैं, उन्हें इसने

भोगा है। उस दु:ख की बात करोड़ों जीभ से नहीं कही जा सकती, भाई! आहाहा! अरे! तू भूल गया प्रभु तुझे, तुझे तेरी दया नहीं आती, नाथ! तू कौन है ? कहाँ है ? आहाहा! समझ में आया ? कल आया था न छहढाला में! और एक आया था — निगोद में से त्रस की पर्याय प्राप्त हो, वह चिन्तामणि रत्न जैसा है। आहाहा! त्रसपना, अभी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय.... आहाहा! भाई! तुझे यह कठिनता से मिला, निगोद की गोद में पड़ा था, प्रभु! अनन्त काल में दु:खी (पड़ा था) आहाहा! भाई! तू बाहर निकला और अब तू.... आहाहा! जैसे वह चिन्तामणि रत्न प्राप्त हो, वैसे त्रस होता है, आहाहा! यह मनुष्यपना और इसमें यह भगवान की वाणी का योग और आहाहा! यह सब मिलने पर भी, यदि यह शुद्धनय का विषय दृष्टि में नहीं लिया तो सब निरर्थक जायेगा। आहाहा! तेरा दान, दया, मन्दिर बनाया, और करोड़ों रुपये खर्च किये और... आहाहा! यह बड़ा छब्बीस-छब्बीस लाख का मकान... और इसलिए वहाँ अन्दर धर्म हो गया... आहाहा! (ऐसा नहीं है)।

श्रोता : धर्म तो नहीं परन्तु कुछ मदद तो करेगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी मदद नहीं करेगा, नुकसान करेगा। शुभभाव तो आत्मा में नुकसान करनेवाला है। कठिन बात है, बापू! वीतराग का मार्ग, आहाहा! जिनेश्वरदेव.... इन्द्र जिनका तलिया चाटे और इन्द्र जिनकी सभा में, श्वान का बच्चा जैसे बैठे, वैसे बैठता है... भाई! वह मार्ग कैसा होगा ? बापू! आहाहा! वह मार्ग सुनना भी महाभाग्य हो, तब मिलता है और अन्तरपुरुषार्थ प्रगट करे तो प्रगट करे। आहाहा! यह इतने में चला, यहाँ तो अभी। आहाहा!

शुद्धनय से एकत्व में..... शुद्धनय से देखने पर एकत्व में निर्णय कराया। गुण और पर्याय की अनेकता है, वह भले उसके सत्व में हो परन्तु अब आश्रय लेने योग्य वस्तु है, वह तो त्रिकाली द्रव्य ज्ञायकभाव है। आहाहा! उसमें उसका निर्णय कराया एकत्व में। आहाहा! एकपने का अन्दर निर्णय कर, अनुभव (कर) तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा; इसके बिना सब व्यर्थ है। समझ में आये ऐसा है इसमें। आहाहा! भाषा कोई ऐसी (कठिन) नहीं है। बाबूलालजी! भाषा तो आज आपकी हिन्दी आयी।

आहाहा! अब लोग आयेंगे न, कल और परसों से, हिन्दी लोग आयेंगे न, अब तो शुरुआत हो गयी है थोड़ी-थोड़ी। आहाहा!

शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है,..... क्या है? **'पूर्णज्ञान घनस्य'** शुद्धनय से एकत्व का निर्णय कराया वह चीज क्या है? पूर्णज्ञानघन है भगवान! आहाहा...! विकार तो नहीं, परन्तु जिसमें पर्याय नहीं। आहाहा!

श्रोता : अभेदरूप से तो पर्याय है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं है। अभेद में पर्याय कैसी? पर्याय तो अभेद का विषय करती है। पर्याय अभेद को विषय करती है, उसके विषय में पर्याय नहीं है, वह तो अभी कहा — पहले वह कह गये हैं। सम्यग्दर्शन के विषय में सम्यग्दर्शन की पर्याय नहीं है। सब बात हो गयी है, ध्यान रखे तो सब बात साथ आती है।

श्रोता : दो बार हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो बार हुई। आहाहा! पूर्ण ज्ञानघन शुद्धनय का विषय एकत्व बताया, वह क्या चीज? आहाहा! ज्ञान की प्रधानता से कथन है, बाकी अनन्त गुण का कन्द ऐसा एकरूप (निजात्मा) आहाहा! उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, वह शुद्धनय का विषय है, बाकी सब व्यर्थ हैं। जब तक यह न करे, तब तक सब एक बिना की शून्य, (रण में) शोर मचाने जैसा है। समझ में आया? आहाहा! पीछे थोड़ी बात है। समय पूरा हो गया। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव)

प्रवचन नं. ५६ कलश-६ दिनाङ्क १३-०८-१९७८ रविवार
श्रावण सुद १०, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, कलश छठा, श्लोकार्थ फिर से थोड़ा। **'इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धान करना)'** भगवान आत्मा को अन्य द्रव्यों से — कर्म, शरीर, वाणी आदि सब द्रव्यों से भिन्न देखना, क्योंकि वह भिन्न द्रव्य है। आहाहा! **श्रद्धान करना...** अन्य द्रव्यों से भिन्न करके पूर्णज्ञानघन आत्मा की श्रद्धा करना **ही नियम से**

सम्यग्दर्शन है,.... वह निश्चय से सम्यग्दर्शन है-सत्य सम्यग्दर्शन यह है — धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला पगथिया — सोपान। आहाहा! इस आत्मा को नव तत्त्वों के विकल्पों से और परद्रव्यों से भिन्न अन्दर में देखना। अन्दर में (परद्रव्यों से) भिन्न करके उसे देखना, भिन्न करके उसकी श्रद्धा करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! है ?

यह आत्मा कैसा है ? **(यह आत्मा) अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त रहनेवाला है।** आहाहा! आत्मा.... पहले प्रमाण का विषय बतलाते हैं, कि जो आत्मा है, वह अपने अनन्त गुण और अपनी जो विकारी आदि पर्यायें, उनमें व्यापनेवाला है। क्या कहा ? जो आत्मा — वस्तु.... अभी सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ? — वह बाद में लेंगे। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन का ध्येय क्या है ? शुद्धनय का विषय क्या है ? कि सम्यग्दर्शन का विषय — वह सब एक ही है। इससे पहले आत्मा अपना द्रव्य, जो वस्तु है, वह अपने अनन्त गुण / शक्ति में व्यापक है, और अपनी पर्याय — विकृत-अविकृत जो अवस्था है, उसमें व्यापक है। धन्नालालजी!

श्रोता : सम्यग्दर्शनवाला आत्मा दूसरा है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ये नहीं, वह बाद में (कहा जायेगा)। यहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय दो प्रमाण है। (यहाँ) पहले प्रमाण का विषय बतलाते हैं। पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह बताना है। आत्मा तो प्रमाणरूप है परन्तु प्रमाणरूप में अकेला निश्चय का विषय नहीं आता, परन्तु पर्याय का विषय भी आता है, इस कारण यहाँ तो परद्रव्य से भिन्न, शरीर-कर्म से भिन्न, अपने गुण-पर्याय से व्याप्त — ऐसा आत्मा है, बस! उसमें तो ऐसा सिद्ध किया कि अपने गुण और अपनी पर्याय जो विकार हो — मिथ्यात्व हो, राग-द्वेष हो, उस अपने अस्तित्व में आत्मा का व्यापकपना है; कर्म में और शरीर में (आत्मा का) व्यापकपना है — ऐसा नहीं है और कर्म तथा शरीर दूसरी चीज है, वह अपनी पर्याय में व्यापक है — ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है, बापू! यह तो परम सत्य बात है। अभी कभी इसे जँची नहीं, रुचि नहीं। आहाहा!

यह भगवान आत्मा (जो अन्दर वस्तु है) वह, शरीर-कर्म आदि है, उन्हें तो आत्मा स्पर्श करता ही नहीं। कर्म, शरीर, वाणी को तो आत्मा स्पर्श ही नहीं करता, छूता ही नहीं।

आहाहा! तब है कैसा ? किसमें ? कि अपनी अनन्त शक्ति / गुण है, गुण है जो त्रिकाल वस्तु है न, उसमें गुण / शक्तियाँ रहती हैं या नहीं ? वस्तु है, उसका स्वभाव है या नहीं ? वस्तु स्वभाववान है, तो उसका कोई स्वभाव है या नहीं ? यह स्वभाव जो ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण हैं, वह उसका गुणस्वभाव है, उसमें भी व्याप्त है और उसकी जो विकृत-अविकृत अवस्था — अविकृत अवस्था अस्तित्वगुण आदि की अविकृत अवस्था होती है.... सूक्ष्म है भाई! विषय ही एकदम अलग प्रकार का है! और रागादि-दुःखादि वह विकृत अवस्था है, उन सबमें — द्रव्य-गुण-पर्याय में आत्मा व्यापक है।

यह विकार में व्याप्त है तो अपनी पर्याय है, उसमें व्याप्त है। यह विकार, कर्म से हुआ और कर्म व्यापक होकर यहाँ आया — ऐसा है नहीं। आहाहाहा! पहले तो चौदह ब्रह्माण्ड में आत्मा एक वस्तु है, वह कितने में है और कैसी है ? यह बात सिद्ध करते हैं। आहाहा! यह जो अपने अनन्त गुण है - शक्तियाँ हैं — सत् का सत्त्व, वस्तु का स्वभाव, वस्तु का गुण और उसकी वर्तमान पर्याय-अवस्था-हालत.... वह विकारी हो या अविकारी हो; अविकारी अर्थात् संवर-निर्जरा की अविकारी पर्याय अनादि की है, वह यहाँ नहीं, अनादि की नहीं परन्तु उसमें जो विकार होता है तो गुण और विकार में आत्मा व्यापक है, ऐसी वस्तु की चीज पर से भिन्न अपने गुण-पर्याय से सहित बताना, वह प्रमाण का विषय है। अरे! अब ऐसी बात! है ?

अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त रहनेवाला है.... कल यह कलश-टीका में देखा था परन्तु शब्द यह नहीं आये थे। बाद में देखा, उसमें शब्द आया है। **'व्याप्तुम'** बाद में देखा। फिर नव तत्त्व का कहा था न ? परन्तु उसमें ऐसा आया। **'व्याप्तुम्'** अपने गुण-पर्यायसहित है। भाई! पहले इसे मार्ग यथार्थ समझना चाहिए (कि) क्या चीज है.... आहाहा! अनन्त काल से अज्ञान में चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है, वह परिभ्रमण की पर्याय भी इसमें है, उसमें (आत्मा) व्यापक है — ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? मिथ्यात्व और राग-द्वेष का परिणाम भी इसकी पर्याय में है, (उसमें) आत्मा व्याप्त है। वह पर्याय किसी कर्म से हुई है या वह विकारी पर्याय कर्म में जाती है, कर्म में व्यापक होकर जाती है — ऐसा नहीं है। समझ में आया ? आहाहा! ऐसे गुण-पर्याय में व्याप्त रहनेवाला,.... बस, इतनी बात।

अब '**शुद्धनय एकत्वे नियतस्य**' **शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है....** यह क्या कहा? आहाहाहा! यह वस्तु भगवान आत्मा और इसके अनन्त गुण और इसकी पर्याय में व्याप्त यह आत्मा — यह प्रमाण का विषय (है)। अब प्रमाण के विषय में से शुद्धनय का विषय भिन्न करना है। समझ में आया? वस्तु तो इतनी — अपने में बस, इतनी।

अब शुद्धनय से उसे देखने से '**शुद्धनय एकत्वे नियतस्य**' यह शुद्धनय तो एकत्वपने को दिखाता है। गुणगुणी का भेद और पर्याय का भेद, वह शुद्धनय का विषय नहीं है। आहाहा! ऐसी बात! समझ में आया? जो अन्तर वस्तु है, अकेला द्रव्य ज्ञायकभाव, वह शुद्धनय उसे बताता है अर्थात् जो सम्यग्दर्शन की पर्याय है, उसका विषय वह त्रिकाली ध्रुव है। उसका विषय, द्रव्य-गुण-पर्याय में जो व्याप्त था, वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। धन्नालालजी! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! ऐसे अपने अस्तित्व में — द्रव्य-गुण-पर्याय में — रहनेवाला होने पर भी, शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय का विषय जो है, वह तो एकत्व एकरूप त्रिकाल वस्तु, वह उसका विषय है। गुण और पर्याय के भेद सम्यग्दर्शन के विषय और शुद्धनय के विषय में नहीं है। अरे! ऐसा अर्थ है। है?

शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है.... एकरूप त्रिकाल है। जिसमें गुणगुणी का भेद भी नहीं, वह सम्यग्दर्शन का विषय, ध्येय, वह शुद्धनय का विषय (है)। आहाहा! इसने कभी अन्दर विचार भी नहीं किया और ऐसा का ऐसा ऊपर-ऊपर से जाने या माने, वह कोई वस्तु नहीं है। इसके भाव में भासन आना चाहिए। आहाहा! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर से सिद्ध हुआ और लॉजिक से भी वह ऐसा ही सिद्ध होता है। समझ में आया? परन्तु यह गरज कहाँ है? आहा!

कहते है कि प्रभु आत्मा, शरीर-वाणी-कर्म आदि के मध्य में रहता भी हो परन्तु उनको स्पर्श ही नहीं करता और उन कर्म, शरीर ने आत्मा को स्पर्श ही नहीं किया। समझ में आया? आहाहा! यह तो तीसरी गाथा में कहा है। क्या (कहा है)? समयसार तीसरी, प्रत्येक द्रव्य-वस्तु.... यह बात तो जगत से अत्यन्त निराली है। प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्याय का चुम्बन करती है, अपना धर्म अर्थात् धारण की हुई शक्तियाँ और पर्याय को

चुम्बन करती है परन्तु परद्रव्य को एक स्वद्रव्य कभी चुम्बन, स्पर्श नहीं करता, नहीं छूता। आहाहा! समझ में आया?

कल रात्रि में कहा था नहीं? हम दान में पैसा हम देते है... (**श्रोता :** यह तो ठीक है।) **पूज्य गुरुदेवश्री :** क्या ठीक है? पैसे को आत्मा छूता ही नहीं, हाथ को छूता ही नहीं और हाथ, पैसे को छूता नहीं और पैसा मैंने दिया, लो यह.... ये अज्ञानी का अत्यन्त भ्रम है। समझ में आया? क्योंकि परद्रव्य में तो व्याप्त होता नहीं। अपनी पर्याय से परद्रव्य को छूता नहीं, व्याप्त नहीं होता। तो परद्रव्य मैंने दिया, मैंने रखा, मैंने लिया — यह वस्तु में नहीं है। कौन दे और कौन ले? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा! क्या हो? एक, पैसे की नोट हो या पैसा हो, चाँदी का रुपया हो, उसे यह हाथ है, यह स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं और पैसा जाता है, (वह) उसकी क्रिया से (क्रियावतीशक्ति से जाता है) और हाथ की पर्याय को — अंगुली को आत्मा स्पर्श नहीं करता क्योंकि अपना आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में-अपने धर्म में व्यापक है, पर का चुम्बन नहीं करता-शरीर की अंगुली का स्पर्श नहीं करता। पाटनीजी! ऐसा है। वहाँ कलकत्ता में नहीं मिलेगा, वहाँ कहीं ऐसी बात (नहीं मिलेगी) पैसा पैदा हो, यह तो कहते थे पहले, ऐसी बात। आहाहा! ऐसा मार्ग! कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता तो अपना आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को स्पर्श करता है, यह तो कहा। समझ में आया?

अब उसमें से.... इतना निश्चित करने के बाद, उसमें सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। सम्यग्दर्शन में तो पर्याय के भेद का निषेध होता है। प्रमाण में भेद और पर्याय का अस्तित्व साथ में रहता हैं।

श्रोता : यह कुछ समझ में नहीं आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं समझ में आया? आहाहा! जो प्रमाण है, वह त्रिकाली को भी साथ में रखता है और पर्याय को भी साथ में रखता है कि (पर्याय) उसमें है, इस प्रकार प्रमाण अपने विषय में पर्याय को अपने में रखता है। क्या कहा?

श्रोता : प्रमाण के विषय में द्रव्य-पर्याय साथ में रहते हैं?

समाधान : दोनों है। है न परन्तु.... पर्याय उसकी है और उसमें है या पर की है

और पर में है ? अपने भाव में है, अपने क्षेत्र में है, अपने स्व काल में पर्याय है। आहाहाहा! ऐसा होने पर भी, सम्यग्दर्शन प्रगट करने को.... आहाहाहा! धर्म की पहली सीढ़ी-धर्म की पहली दशा प्रगट करने को शुद्धनय का विषय बतलाते हैं कि वह त्रिकाल एकरूप है, वह शुद्धनय का विषय है-सम्यग्दर्शन का विषय वह है।

कहते है कि अपनी शक्तियाँ और वर्तमान दशा में वह (आत्मा) व्याप्त है, यह तो प्रमाण का विषय हुआ। यह चीज पर से भिन्न है और अपने से अभिन्न, यह गुण-पर्याय से भी है, उसमें ऐसा सिद्ध किया परन्तु वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्‌निश्चय शुद्धनय वह भावश्रुतज्ञान.... भावश्रुतज्ञान, द्रव्यश्रुत नहीं। भावश्रुतज्ञान का एक अवयव, जो व्यवहारनय (वह) उसका एक अवयव है, वह तो पर्याय, गुणभेद को भी जानता है, परन्तु उसका जो एक अवयव शुद्धनय है, वह त्रिकाली एकत्व को देखता है। समझ में आये उतना समझना बापू! यह मार्ग तो (अलौकिक है) कभी दरकार ही नहीं की। धर्म के नाम पर साधु हुआ, दिगम्बर हुआ, पञ्च महाव्रत लिये, सब मिथ्यात्वभाव है ये सब भाव.... आहाहाहा!

यहाँ तो सम्यग्दर्शन का विषय अथवा शुद्धनय का विषय अर्थात् शुद्धनय जो ज्ञान का - श्रुतज्ञान का एक निश्चयनय का ज्ञान, उसका विषय एकत्व है। पूर्ण स्वरूप एकत्व की दृष्टि, वह शुद्धनय का विषय है। आहाहा! शशीभाई! ऐसा सूक्ष्म है।

यह तो हिन्दी हुआ। अब अभी यह तो हिन्दी (भाषी साधर्मी) आज आये हैं न। अब अभी हिन्दी चलेगा न ? आहाहा!

वह **पूर्ण ज्ञानघन है।** आहाहा! वस्तु जो द्रव्य है वह तो पूर्ण ज्ञानघन है। यहाँ तो मुझे अभी ऐसा तर्क भी उत्पन्न हुआ — पूर्णज्ञानघन है तो पूर्ण श्रद्धागुण, पूर्ण गुण श्रद्धा — सम्यग्दर्शन गुण, पर्याय नहीं। जो सम्यक् श्रद्धा गुण है, वह उससे परिपूर्ण है। समझ में आया ? फिर से.....

भगवान आत्मा जो द्रव्य-गुण-पर्याय से व्यापक प्रमाण का विषय बतलाया, उससे कोई आत्मा का लाभ नहीं हुआ। आत्मा का लाभ कब होता है कि जो त्रिकाली ज्ञायकभाव, जो ध्रुव (है), वह भेद और पर्याय के विषय से भिन्न एकरूप त्रिकाल वस्तु है, पूर्ण ज्ञानघन

(वस्तु है), वह सम्यग्दर्शन का विषय अथवा शुद्धनय का विषय अर्थात् यह जो पूर्ण ज्ञानघन कहा, वही पूर्ण श्रद्धागुण पूर्ण है, ज्ञान से लो तो पूर्ण है, श्रद्धागुण से लो तो वह पूर्ण है, पर्याय नहीं। आहाहा! चारित्रगुण से लो तो (पूर्ण है, यहाँ) वीतरागी चारित्र पर्याय की बात नहीं है। चारित्रगुण से भी पूर्ण है। आनन्दगुण से लो तो आनन्दगुण से पूर्ण है। आहाहाहा! प्रभुत्वगुण से लो तो प्रभु प्रभुत्वगुण से पूर्ण है। आहाहाहा! ऐसा मार्ग! ऐसा प्रभु! पूर्ण ज्ञानघन, पूर्ण ज्ञानघन यह ज्ञान की प्रधानता से पूर्ण ज्ञानघन कहा। शेष दूसरी चीज से देखो तो पूर्ण चारित्रगुण अर्थात् शान्तगुण, अविकारी वीतरागभाव से परिपूर्ण है। श्रद्धागुण से लो तो त्रिकाली जो श्रद्धागुण है, उस श्रद्धागुण से परिपूर्ण है। आहाहा! ऐसा है।

पूर्ण ज्ञानघनमः, पूर्ण श्रद्धाघनमः, पूर्ण चारित्रघन, पूर्ण आनन्दघन। आहाहा! **'एवं तावान् अयं आत्मा' जितना सम्यग्दर्शन है, उतना ही आत्मा है।** आहाहाहा! एक तो यह बात कि जो वस्तु है, उसका जो श्रद्धागुण है, उस श्रद्धागुणमात्र आत्मा है, एक बात तो यह........ आहाहा! कहते है **जितना सम्यग्दर्शन उतना आत्मा....** एक बात यह। कि त्रिकाली दर्शन गुण है,.... जैसे पूर्ण ज्ञानघन कहा, वैसे पूर्ण दर्शनगुण; दर्शन अर्थात् श्रद्धा। पूर्ण श्रद्धागुण सम्पन्न है, उतना आत्मा है।

श्रोता : पर्याय का आत्मा।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाद में पर्याय का.... आत्मा उसे लिया है। यह कहता हूँ न। पहले तो इस गुण को लिया। पूर्ण ज्ञानघन कहा न? वहाँ पूर्ण श्रद्धाघन, पूर्ण चारित्रघन — ऐसा लेना। अब यह पूर्ण ज्ञानघन... संस्कृत टीका में गुण लिया है, कलश टीका में क्या कहलाता है यह? यह कलश टीका, यह लो, एकत्व नित्यस्य आया, यही आया, राजमलजी की टीका, देखो! आत्मा! 'तावान् अयं आ अयं' यह जीव वस्तु 'तावान्' सम्यक्त्वगुणमात्र है — अपेक्षा से है। जैसे, यह पूर्ण ज्ञान, पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, वैसे श्रद्धा, सम्यक्त्वगुण, अन्दर पूर्ण है। समझ में आया या नहीं?

वस्तु-श्रद्धागुण है या नहीं त्रिकाल? ज्ञानगुण त्रिकाल है या नहीं? आनन्दगुण त्रिकाल है या नहीं? चारित्रगुण-वीतरागगुण त्रिकाल है या नहीं? तो प्रत्येक गुण से देखो तो उस परिपूर्ण गुण से परिपूर्ण है। राजमलजी! ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा!

श्रोता : यह नयी बात आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ तो ऐसा कहना है कि पूर्ण सम्यक् श्रद्धागुण.... आत्मा पूर्ण है तो उसकी प्रतीति की, वह भी आत्मा है। यह क्यों कहा ? कि नव तत्त्व की श्रद्धा, वह आत्मा नहीं, वह अनात्मा है, भाई ! नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा, वह राग है; राग वह आत्मा नहीं, वह अनात्मा है। आहाहाहा ! भगवान आत्मा पूर्ण श्रद्धागुण सम्पन्न त्रिकाल वस्तु भगवान (है), उसकी प्रतीति-श्रद्धा, वह पर्याय आत्मा है। नव तत्त्व की श्रद्धा का राग, वह आत्मा नहीं, यहाँ यह बताना है। समझ में आया ? अरे... ! प्रभु का मार्ग तो अन्दर इतना गम्भीर लगता है ! आहाहा ! वीतराग की शैली बहुत अलौकिक बातें हैं। आहाहा ! और यह तो सन्तों-दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं है नहीं, है नहीं, परन्तु उसे समझनेवाले सम्प्रदाय में पड़े, उन्हें भी इसका पता नहीं होता। आहाहा !

कहते है कि '**पूर्णज्ञानघन ऐवं**' — **जितना सम्यग्दर्शन है, उतना ही आत्मा है।** आहाहाहा ! अर्थात् जो पूर्णज्ञानघन, पूर्णश्रद्धाघन — ऐसी जो प्रतीति हुई, उसके ध्येय से जो प्रतीति हुई, वह प्रतीति आत्मा है। नव तत्त्व की प्रतीति हुई, वह आत्मा नहीं; वह तो राग है, वह अनात्मा है। आहाहा ! समझ में आया ? इस कारण से त्रिकाली ज्ञायकभाव की प्रतीति-अन्दर ज्ञेय बनाकर, ज्ञान होकर प्रतीति हुई, वह आत्मा है, वह आत्मा की पर्याय, आत्मा है। राग, वह आत्मा नहीं; नव तत्त्व की श्रद्धा, वह आत्मा नहीं — ऐसा कहते हैं। आहाहाहा ! यह भेदवाली नव तत्त्व की (श्रद्धा, हाँ !)। मोक्षमार्गप्रकाशक में जो नव तत्त्व की श्रद्धा कही है, वह अभेद है, वह सम्यग्दर्शन (है)। '**तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं**' (ऐसा) जो उमास्वामी ने कहा, वह भी अभेद की दृष्टि, निश्चय सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा का परिणाम है। आहाहाहा ! यहाँ तो वे नव तत्त्व भेद हैं न — जीव, अजीव, आस्रव आदि.... तो वे हैं — ऐसी श्रद्धा करने जाते हैं तो उसको विकल्प उत्पन्न होते हैं, राग आता है। वहाँ राग को व्यवहार श्रद्धा कहा गया है। आहाहा ! अत: वह आत्मा नहीं है। आहाहा !

भगवान आत्मा, अपने एकरूप पूर्ण स्वरूप की प्रतीति और ज्ञान करने से जो परिणाम हुआ, वह परिणाम आत्मा है। यहाँ परिणाम है, वह तो व्यवहारनय का विषय है.... समझ में आया ? परन्तु यहाँ जो परिणाम है, उसका विषय जो परिपूर्ण है, उस पर उसका

ध्येय है; इस कारण से उस परिणाम को आत्मा कहा; क्योंकि जितनी नव तत्त्वों की श्रद्धा और व्यवहारश्रद्धा है, वह सब व्यभिचार आता है, उसमें राग आता है। आहाहाहा! (यह बात) भावार्थ में कहेंगे। समझ में आया? और यह तो अव्यभिचारी भगवान आत्मा पूर्णज्ञानघन, पूर्ण आनन्दघन, सुख का वृन्द प्रभु अकेला सागर पूरा पर्वत एकरूप (है), उसका ज्ञान करके प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन की पर्याय, आत्मा है।

श्रोता : पर्याय आत्मा कैसे हो जायेगी?

समाधान : कहा न कि उस राग को आत्मा नहीं कहा, इसलिए पर्याय को आत्मा कहा। व्यवहार की श्रद्धा, वह आत्मा नहीं है; इस कारण से उसको (सम्यग्दर्शन को) आत्मा कहा है। निर्विकल्प पर्याय हुई है। आहाहाहा! मार्ग तो अभी कहीं.... जगत् को कठिन पड़े ऐसा है। क्या हो भाई?

यह आत्मा क्यों कहा? दो प्रकार से कहा — एक तो श्रद्धागुण से परिपूर्ण प्रभु है, वह आत्मा; और श्रद्धागुण की परिपूर्ण स्वभाव की प्रतीति की, वह भी आत्मा है। यह राग नहीं और विकल्प नहीं; इसलिए उसे आत्मा कहा गया है। आहाहाहा! समझ में आया?

उतना ही आत्मा है, इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हैं..... 'इमाम नव तत्त्व संतति मुकत्वा' देखो! आहाहाहा! आचार्य को तो आत्मा प्राप्त हुआ है परन्तु अभी विकल्प उत्पन्न होते हैं न, नव तत्त्व के, ज्ञान का ज्ञेयरूप से.... आहाहाहा! तो इस **नव तत्त्व की परिपाटी को छोड़कर.... संतति.... संतति।** यह जीव और यह अजीव; यह राग और यह पाप; यह आस्रव और बन्ध — ऐसे जो भेदों की परिपाटी को छोड़कर, आहाहा.... उसमें एकरूपता नहीं आयी। **परिपाटी को छोड़कर 'अयं आत्मा एक अस्तु नः'**, **अयं** अर्थात् **यह**, यह, **अयं आत्मा, एक वस्तु 'न'** एक वस्तु 'न' अर्थात् हमें; **'न'** का अर्थ यहाँ नकार नहीं। एक वस्तु 'न' एक वस्तु हमें हो, बस। आहाहा! लोग अभी बाहर में तूफान करते हैं, उन्हें अपना स्वरूप क्या है, या श्रद्धा क्या है, उसका विचार नहीं करते और यह व्यर्थ का झगड़ा खड़ा (करते हैं)। एकान्त है.... (ऐसा कहते हैं)। अरे भाई! सब जैसा है, वैसा है। सुन न अब! आहाहा!

अभी पहली सम्यग्दर्शन की दशा कैसे प्राप्त हो और उसका विषय क्या? और

प्राप्त होवे तो वह परिणाम कैसा है? उसमें आनन्द आता है और वह आत्मा का परिणाम है, क्योंकि राग नहीं, आस्रव नहीं, बन्ध का परिणाम नहीं; इसलिए वह मोक्ष का परिणाम है, मोक्ष के कारण का परिणाम है, वह आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि उसमें एक भाव-भाव नाम का गुण आत्मा में है। अतः जब द्रव्यस्वभाव की जहाँ एकत्वबुद्धि हुई तो उसमें एक भाव — भाव नाम का गुण है, तो उस कारण जो भाव — भाव नाम का गुण जो है, वह द्रव्य में भी है, गुण में भी है, और सम्यग्दर्शन की पर्याय में भी भाव — भाव नाम का गुण का परिणमन आया! आहाहा! वह आत्मा के गुण का परिणमन हुआ। क्या कहा यह? यहाँ पर्याय को-सम्यग्दर्शन को आत्मा कहा न? आहाहाहा! कि आत्मा में एक आनन्द, ज्ञान और श्रद्धा नामक गुण जैसे त्रिकाल हैं, वैसे एक भाव — भाव नामक एक गुण त्रिकाल है। आहाहा! अरे! इसको पकड़ने से द्रव्य की एकत्वबुद्धि होने से वह भाव — भाव नामक जो गुण है, वह द्रव्य में भी है, गुण में है और पर्याय में भी भाव — भाव का-गुण का परिणमन आया; अतः वह गुण का — आत्मा का परिणमन आया। समझ में आया?

यह तो भाई! तीव्र पुरुषार्थ हो, जिसके लिए जागृतदशा चाहिए। आहाहा! बाकी प्रमादी और आलसियों का यह काम नहीं है। आहाहा... ! आहाहा... ! आहाहा... ! **इतना ही आत्मा... इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर 'अयं आत्मा एक वस्तु नः'...** अनेक परिपाटी जो है — विकल्प नव तत्त्व का, वह पर्याय में हो परन्तु हमारे आश्रय करनेयोग्य चीज तो एकरूप त्रिकाल है। आहाहा! समझ में आया? यह सन्त ऐसा कहते हैं। ऐसा कहकर जगत् को बताते हैं। एकरूप त्रिकाल ज्ञायकभाव, वह एकरूप हमें प्राप्त हो। वर्तमान सम्यग्दर्शन में प्राप्त हुआ है, परन्तु अभी चारित्र में राग की कमजोरी है न, तो उसे छोड़कर हमें अकेला आत्मा प्राप्त हो, बस! आहाहाहा!

श्रोता : परिपाटी शब्द किसलिये आया?

समाधान : कहा न, है न क्रम — एक के बाद एक जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, मोक्ष — ऐसे प्रकार डाले न? ऐसी परिपाटी। यह एकडे एक, बिगड़े दो, तिगड़े तीन, नहीं बोलते — ऐसे अंकों की परिपाटी? वैसे ही यह नौ अंक आये न? जीव, अजीव, पुण्य,

पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष — यह परिपाटी है। आहाहा! यह मार्ग तो मार्ग! आहाहा! आचार्य प्रभु ऐसा कहते हैं... यह तो अमृतचन्द्राचार्य का कलश है। वैसे ही कुन्दकुन्दाचार्य — ऐसे सन्त, सभी सन्तों की (बात है) कि नव के विकल्प... अभी सम्यग्दर्शन हुआ, चारित्र हुआ, तथापि अभी जो विकल्प उठते हैं — भक्ति के, महाव्रतादि के विकल्प उठते हैं.... समझ में आया? तो उस भेद को छोड़कर, आहाहा! हमको तो अकेला आत्मा-मोक्ष की पर्यायवाला, केवलज्ञान की पर्यायवाला आत्मा हमें प्रगट हो।

श्रोता : इसमें चारित्र आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : चारित्र तो अन्दर पहले आ गया है, परन्तु यह तो चारित्र की पूर्णता, केवलज्ञान की पूर्णता वह पर्याय आत्मा की, वह हमें हो। आहाहा! अरे...रे! इसे अनन्त काल हुआ, जैन के नाम से आया, ग्यारह अंग पड़ा शास्त्र परन्तु उसमें क्या हुआ? पढ़ा अवश्य परन्तु गुना नहीं। उसमें आता है न? 'वांचे पण नहीं करे विचार' — यह हमारे आता था। दलपतराम बड़े कवि थे, हमारी पाठशाला के समय 70-75 वर्ष पहले की बात है। दलपतराम कवि थे बड़े। क. द. डा., क. द. डा. अर्थात् कवि दलपतराम डाह्याभाई, उनके तीन नाम थे क. द. डा.। कवि दलपतराम, 75 वर्ष पहले की बात है, जब हमारी परीक्षा लेते (थे)। यहाँ तो परीक्षा में हमें तो उस समय कुछ लगता नहीं था, जो-जो परीक्षा देते, उसमें -परीक्षा में पहले नम्बर पास, क्योंकि वह तो साधारण पढ़ाई (थी) यह तो अन्दर.... आहाहा! परन्तु वे दलपतराम ऐसा कहते थे 'वांचे पण नहीं करे विचार, वे समझे नहीं सघलो सार' — पढ़े परन्तु उसका विचार नहीं करे कि यह क्या है, यह भाव क्या? यह वस्तु क्या? यह स्थिति क्या? आहाहा! और उस समय एक शब्द आता था 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी' (श्रोता : कब।) कब? 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी, मुझरो, मुझरो, मुझरो, मुझ रोग ले हरी' यह तो 75 वर्ष पहले की बात (है) उस समय शरीर की 13 वर्ष की उम्र थी न? आहाहा! कवि होशियार था, बहुत होशियार कवि था। हमने उन्हें नहीं देखा, उनके भाई को देखा है, उनका लड़का था, वह 60 वर्ष में पैदा हुआ था न यहाँ? यहाँ गुरुकुल में पैदा हुआ था, साठ वर्ष का। कवि नाथालाल के एक बड़े भाई थे बढ़वान में, वे व्याख्यान में आते थे, आते दलपतराम (के)।

जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ बड़े-बड़े लोग सुनने आते अवश्य है। (उन्हें) जँचे या न जँचे वह अलग बात। एक-दूसरे वहाँ — बढ़वान में नानालालजी हैं। दूसरे नहीं ? वे ऐसा कहते थे — 'प्रभुता' आत्मा में प्रभु नाम का एक गुण है... यह भाई ! उसे पता नहीं, आत्मा में ईश्वरपने नाम की शक्ति / गुण है। है न ? सैंतालीस शक्तियाँ। जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व — सातवाँ गुण है। सैंतालीस का वर्णन है, (उसमें) यह सातवाँ — तो प्रभुत्व-ईश्वर तेरा गुण है अन्दर; तो प्रभुता, प्रभुपना, तेरी तो खरी.... 'मुझरोग ले हरी' अज्ञान के रोग का नाश कर दे और तेरी प्रभुता प्रगट कर तो तेरी प्रभुता खरी। आहाहा ! उसे तो दूसरी बात थी — ईश्वर की बातें न ! ईश्वर कर्ता.... और मैं तो उसमें ऐसा (अर्थ) कर डालता। समझ में आया ? आहाहा ! इन नव तत्त्व के प्रकार-भेदों को छोड़कर '**यह आत्मा एक ही....**' एक ही, एकान्त करते हैं, देखो ! '**एक अस्तु नः**' **एक ही हमें प्राप्त हो....** एकान्त नहीं करते ? पर्याय भी हो, भेद भी हो तो अनेकान्त होता है — ऐसा नहीं है। यह ऐसा एक आत्मा का भान हुआ तब पर्याय का ज्ञान होते ही (उसे) अनेकान्त कहा जाता है। सम्यक्ज्ञान हुआ, अकेले चैतन्य का एक सम्यग्ज्ञान-एकान्त अपने में हुआ, तब वह ज्ञान, स्व-पर प्रकाशक होने से पर्याय और राग है, उसका ज्ञान करता है — यह अनेकान्त है। समझ में आया ? आहाहा ! यह टीका हुई।

भावार्थ : सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप.... क्या कहते हैं ? आत्मा जो अनन्त गुण — जो स्वाभाविक हैं और उनकी अवस्था जो स्वाभाविक हो, और **नैमित्तिक**-कर्म के निमित्त के संग से जो विकृत अवस्था हो, अपने में अपने से **नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुण पर्याय भेदों में व्यापनेवाला....** आहाहा ! अपनी शक्ति अर्थात् त्रिकाल गुण और वर्तमान पर्याय — विकृत-अविकृत। नैमित्तिक अर्थात् कर्म के निमित्त के संग से उत्पन्न हुआ जो अपने में अपने से, ऐसी विकारी पर्याय, अविकारी पर्याय और अविकारी गुणों में **व्यापनेवाला यह आत्मा,....** उनमें रहनेवाला यह आत्मा.... आहाहा ! **शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है....** आहाहाहा ! **शुद्धनय से ज्ञायकमात्र एक-आकार दिखलाया गया है.....** 'एक-आकार है' एक-आकार अर्थात् एक स्वरूप।

ज्ञायक एकरूप त्रिकाल है, उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। वहाँ से धर्म

की पहली शुरुआत होती है। समझ में आया? आहाहा! **शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है,** एक-आकार दिखलाया गया है। **उसे सर्व अन्य द्रव्यों और अन्य द्रव्यों के भावों से अलग देखना.....** आहाहा! **श्रद्धान करना....** त्रिकाली ज्ञायकभाव एकरूप स्वभाव का ज्ञान करना, उसकी श्रद्धा करना, आहाहा! उसे देखना **सो नियम से सम्यग्दर्शन है।....** निश्चय से सत्यदर्शन / सम्यग्दर्शन उसे कहा जाता है।

व्यवहारनय.... अब दूसरा नय। **आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर....** आत्मा को गुण के भेद और पर्याय के भेद और विकार की अवस्था के भेद.... आहाहा! **आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है....** व्यवहार सम्यग्दर्शन के अनेक भेद — देव-गुरु की श्रद्धा करो, शास्त्र की श्रद्धा करो और नव तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा करो, आहाहा! आस्रव की आस्रवरूप श्रद्धा करो — ऐसे व्यवहार की श्रद्धा भेदरूप कहता है, **वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है....** वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा!

व्यवहारनय वस्तु को एकरूप छोड़कर अनेकरूप दिखाता है और अनेकरूप की श्रद्धा करना, वह दोष है, वह सम्यग्दर्शन नहीं है। समझ में आया? आहाहा! यह तो पण्डित जयचन्दजी ने लिखा है। वह पहले तो आचार्य का था। अब तो गृहस्थाश्रम में रहनेवाले पण्डित (जी) ने लिखा है। है? **(व्यवहारनय आत्मा को अनेक) भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है....** देव को मानो, भगवान देव, हाँ! गुरु को मानो, शास्त्र को मानो, नव तत्त्व को मानो — ऐसे भेद को-अनेक को मानो (ऐसा कहता है) **वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता।.....** उसमें निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता, उसमें एकरूपता नहीं होती। आहा! समझ में आया?

शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर.... आहाहा! स्वरूप की एकता का नय, जो एकता बतलाता है, उसकी सीमा अर्थात् मर्यादा। शुद्धनय की सीमा एकरूप को बताना है, निश्चयनय की मर्यादा एकरूप को बतलाती है। आहाहा! अब यह एक व्यक्ति कहता है कि यह समयसार मैं पन्द्रह दिन में पढ़ गया.... तो तुम समयसार की बहुत महिमा करते हो। बापू! इसकी एक-एक पंक्ति समझना, प्रभु! यह तो मन्त्र है। आहाहा! आहाहा! लो!

आ गये डालचन्दजी! ठीक, समझ में आया? आहाहा! **शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर...** आहाहा! एक ज्ञायकभाव पूर्ण बतानेवाली शुद्धनय की मर्यादा देखने से, आहाहा! **व्यभिचार नहीं रहता....** अनेकता में श्रद्धा करना, वह वहाँ नहीं रहता। एकरूप की श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन रहता है, वह अव्यभिचारी सम्यग्दर्शन है। आहाहा! **इसलिए नियमरूप है....** यथार्थ निश्चयरूप है। त्रिकाल एकरूप परमानन्द प्रभु का ज्ञान करके प्रतीति करना, अनुभव करके (प्रतीति करना), उसमें दोष नहीं रहता, व्यभिचार नहीं रहता, अनेकता नहीं रहती, उसमें दृष्टि में एकरूपता आती है, वह नियम से है।

शुद्धनय का विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है.... आहाहा! यह भगवान तो पूर्ण ज्ञानघन है, पूर्ण श्रद्धाघन है, आनन्दघन है, ज्ञान की प्रधानता से कथन है न? तो कैसा है ज्ञानघन? **सर्व लोकालोक को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है.....** उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि इस लोकालोक को पर्याय में जानता है। उसकी शक्ति लोकालोक को जानने की शक्ति उसमें हैं। समझ में आया? हरिभाई! पता है? इनके बापू थे, (वे) ऐसा कहते थे कि यह तो लोकालोक को जाने, फिर सम्यग्दर्शन होता है। पता है न? वे बीमार थे और कमरे पर गये थे न, मोरबी? यह तो लोकालोक का जानना, यह तो उसकी-गुण की शक्ति है, ज्ञान का स्वभाव लोकालोक को जानने का, उसका स्वभाव है। पर्याय में लोकालोक को जाने, फिर सम्यग्दर्शन हो — ऐसा यहाँ नहीं है। समझ में आया? ऐसा है। बहुत परिचय में आये होते हैं न, बहुत-बहुत, आहाहा! आये होते हैं बहुत-बहुत।

श्रोता : परम अवगाढ़ सम्यग्दर्शन तो केवलज्ञान हो तब होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री - वह दर्शन तो दर्शन ही है। यह तो ज्ञान की अपेक्षा से वहाँ परम अवगाढ़ कहा। क्षायिक समकित हुआ तो क्षायिक समकित वह पूर्ण ही हुआ। वह तो जब ज्ञान हुआ तो ज्ञान की अपेक्षा से परम अवगाढ़ कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! क्षायिक सम्यक्त्व हुआ तो अब अन्दर एक अंश भी कमी नहीं है। आहाहा! वह क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान में साथ में आ जाएगा। श्रेणिक राजा गृहस्थाश्रम में था, हजारों रानियाँ थीं, हजारों राजा चँवर ढोलते थे, क्षायिक सम्यक्त्व था। आहाहा! वह बाहर की चीज अन्दर में कहाँ बाधक है? अन्दर भान हुआ तो क्षायिक समकिती। आहाहा! समकित में

कुछ भी हीनता-न्यूनता नहीं है। आहाहा! और वह क्षायिक समकित लेकर नरक में गये और वह समकित लेकर निकलेंगे और तीर्थंकर होंगे, वह अन्तिम भव। समझ में आया? पहले तीर्थंकर होंगे - महापद्मदेव। आहाहा!

एकरूप त्रिकाल ज्ञायक की प्रतीति ज्ञान करके, हो, यह कहीं कोई साधारण बात है बापू! आहाहा! लक्ष्य में, पूर्ण एकरूप वस्तु लेना वह क्या चीज है! आहाहाहा! ज्ञान की वर्तमान पर्याय के उपयोग में पूर्ण चीज को लेना। उपयोग में! आहाहा! समझ में आया? वह सम्यग्दर्शन है। आहाहा! पहले ही विवाद.... अभी श्रद्धा और सम्यग्दर्शन (नहीं).... इसके बिना व्रत और तप ले लिये, हो गया साधु। एक बिना का शून्य। आहाहा! श्रेणिक राजा गृहस्थाश्रम में क्षायिक समकिती परन्तु मोक्षमार्ग में। आहाहा! क्योंकि पूर्णज्ञानघन का ज्ञान और निर्विकल्प प्रतीति-अप्रतिहत, उस सम्यग्दर्शन से आगे बढ़कर चारित्र होगा, और आगे बढ़कर केवलज्ञान होगा। अत: उसमें सम्यग्दर्शन धारावाही रहेगा। आहाहा!

योगसार में यह आता है (कि) गृहस्थाश्रम में हेयाहेय का ज्ञान.... आता है? 'गृह काम करते हुए हेयाहेय का ज्ञान।' गृहस्थाश्रम का काम करते हुए, यह तो बताया है। (वस्तुत:) काम होता है, उसे जानते हैं। गृह काम करते हुए हेयाहेय का ज्ञान। हेय अर्थात् भेद आदि, विकल्प आदि हेय है और अभेद अखण्डानन्द प्रभु उपादेय अर्थात् अहेय है। अहेय अर्थात् उपादेय है। आहाहा! चक्रवर्ती के राज्य में रहने पर भी यह हो सकता है। आहाहा! समझ में आया? योगसार में आता है न? दो जगह आता है। मुनिजन हो, आत्मज्ञानी अनुभवी हो या गृहस्थी हो, आत्मा का अनुभव कर सकते हैं। आहाहा! और नियमसार में तो वहाँ तक कहा है कि गृहस्थाश्रम में श्रावक है, वह भी निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान, और निश्चय चारित्र की भक्ति करते हैं अर्थात् सेवा करते हैं तीनों (की) नियमसार में है। आहाहा!

तब एक जगह ऐसा कहा कि श्रावक को गृहस्थाश्रम में शुद्ध उपयोग नहीं होता — ऐसा टीका में कहा है। है? इसका अर्थ क्या? जो मुनि को शुद्ध उपयोग होता है — ऐसा शुद्ध उपयोग उसमें नहीं होता। समझ में आया? शुद्ध उपयोग न हो तो शुद्ध उपयोग में तो सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! और फिर बाद में ही किसी को पन्द्रह दिन, महीने में; किसी

को तुरन्त ही शुद्ध उपयोग होता है। आहाहा! किसी को पन्द्रह दिन में, महीने में हो जाता है शुद्ध उपयोग समकिती को.....। आहाहा! समझ में आया? विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव)

प्रवचन नं. ५७ कलश-६ दिनाङ्क १४-०८-१९७८ सोमवार
श्रावण सुद ११, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, छठवें कलश का भावार्थ चलता है। छठा कलश है न? यहाँ आया है.... **इसलिए आचार्य कहते हैं....** यहाँ आया है। अन्तिम तीन लाईन है। क्या इसलिए? कहते हैं, व्यवहार से नवतत्त्व के भेद की श्रद्धा, वह श्रद्धा यथार्थ नहीं है। उसमें तो व्यभिचार आता है, नियमरूप सम्यग्दर्शन नहीं होता। भेदरूप व्यवहार, हाँ! नवतत्त्व, आया न?

जब तक केवल व्यवहारनय के विषयभूत.... उसकी पहली लाइन.... **जीवादि भेदरूप तत्त्वों का...** जीव-अजीव आदि नौ का भेदरूप, भेद का **श्रद्धान रहता है...** तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया? **इसलिए...** इस कारण से.... सूक्ष्म बात है। भाई! आहाहा! **आचार्य कहते हैं कि इस नव तत्त्व की सन्तति (परिपाटी) को छोड़कर....** नव तत्त्व के अनेक प्रकार के भेद को **छोड़कर, शुद्धनय का विषयभूत....** आहाहा! जो आत्मा अनन्त गुणस्वरूप, अनन्त-अनन्त गुणस्वरूप, जो अनन्त गुण में — यह अन्तिम का, अनन्तवाँ गुण है और यह अन्तिम गुण की पर्याय है — ऐसा है नहीं। क्या कहा? आहाहा!

जो भगवान आत्मा जो द्रव्य एक है, उसमें अनन्त गुण हैं, तो अनन्त गुण में यह गुण अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... लेकर यह अन्तिम गुण है — ऐसा उसमें नहीं आता है। आहाहा! समझ में आया? आहा! जैसे क्षेत्र का कोई अन्त नहीं है कि कहाँ आकाश पूर्ण हुआ? आहाहा! अपार, अपार, अपार, अपार, अपार, अनन्त, अनन्त, अनन्त... एक क्षेत्र का भी कहीं अन्त है — ऐसा है नहीं। आहाहा। और काल की भी कहाँ से शुरुआत हुई, वह है नहीं। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा में, भाव यह लिया, क्षेत्र का अन्त नहीं, काल का अन्त नहीं, शुरुआत (नहीं) और अन्त का अन्त नहीं।

आहाहा! ऐसे यह भगवान आत्मा अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण की राशि पिण्ड, यह अनन्त गुण में यह एक दो तीन अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... ऐसे कहकर अन्तिम / आखिर का धर्म / गुण आया — ऐसी चीज है नहीं। आहाहाहा!

श्रोता : यह भगवान महावीर की आत्मा की चर्चा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो प्रत्येक आत्मा की चर्चा है, प्रभु! आहाहा! भाई! गम्भीर चीज है। आहाहाहा!

वस्तु जो भगवान आत्मा, यह (निज) भगवान की बात चलती है आहाहा! इसमें इतनी संख्या में गुण है कि आकाश का अन्त नहीं, इतने जो प्रदेश हैं, अन्त नहीं — इतने प्रदेश हैं, उससे अनन्त गुने धर्म / गुण आत्मा में हैं। आहाहाहा! उसका क्षेत्र में अन्त आ गया-असंख्य प्रदेश में (अन्त आ गया) परन्तु जो भाव की-गुण की संख्या की मर्यादा है.... प्रभु! वह कोई अलौकिक बात है नाथ! ये अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त का यह, यह गुण अनन्त का अन्तिम है — ऐसी चीज है नहीं। आहाहा! क्या कहते है यह! आहाहा! समझ में आया? जैसे क्षेत्र का अन्त नहीं; कहाँ अन्त है उसका? अन्त हो तो पीछे क्या? आहाहाहा! एक क्षेत्र का स्वभाव भी कोई अलौकिक है, और काल का स्वभाव भी (अलौकिक है)! पर्याय की पहली शुरुआत कहाँ से हुई, आहाहा! और काल पहले से-कहाँ से शुरु हुआ और द्रव्य की पहली पर्याय कहाँ से हुई? आहाहाहा!

प्रभु! तेरा द्रव्य स्वभाव, क्षेत्र स्वभाव, काल स्वभाव, द्रव्य स्वभाव कोई अलौकिक है, प्रभु! आहाहाहा! समझ में आया? तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की इच्छा बिना, वाणी के कारण वाणी-दिव्यध्वनि निकली, उसमें ऐसा आया था। आहाहाहा! प्रभु! तुम कितने गुण की संख्या में हो? आहाहाहा! जैसे उस क्षेत्र का कहीं अन्त नहीं, यह क्या है नाथ? नास्तिक भी विचार करें तो... यह क्षेत्र कहाँ-कहाँ पूरा हुआ? अकेला वांचन करके नहीं परन्तु उसके भाव में विचार करके... आहा! कहाँ पूरा हुआ क्षेत्र? आहाहा! कोई अनन्त... अनन्त क्षेत्र का स्वभाव भी ऐसा अनन्त है। काल का प्रारम्भ कहाँ से हुआ? उसका भी

अन्त नहीं — ऐसा काल का भी अनन्त स्वभाव है। आहाहा! ऐसे एक भगवान आत्मा में संख्या में जो अनन्त गुण हैं, वे अनन्त कितने अनन्त? आहाहा! एक क्षेत्र का जो अनन्त है, उसका जो प्रदेश है, उससे भी अनन्त गुणे धर्म / गुण आत्मा में हैं। आहाहाहा! इतने गुण, एक परमाणु में भी इतने अनन्त हैं। आहाहा! क्या कहते हैं यह? प्रभु! तेरा स्वभाव कोई अलौकिक है, भाई! समझ में आया? रागादि विकल्प है, उसकी तो मर्यादा है, सीमा है, क्योंकि मर्यादित है तो छूट जाता है। आहाहाहा! चाहे तो व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प हो, परन्तु वह मर्यादित है। वह राग मर्यादित है, अमर्यादित नहीं कि नहीं छूटे। आहाहाहा!

भगवान आत्मा के गुण अमर्यादित हैं। आहाहाहा! यह क्या कहते हैं? अमर्यादित.... मर्यादा नहीं.... यह कहाँ पूर्ण हुए? आहाहा! अनन्त को अनन्त गुणा वर्ग करो तो भी जिसका अन्त नहीं, इतने आत्मा में गुण हैं। आहाहा! ऐसे अनन्त गुण में गुणभेद की दृष्टि करना, वह भी अभी मिथ्यात्व और व्यवहार है। यहाँ नव तत्त्व का व्यवहार विषय कहा न भेदरूप, उसे मिथ्यात्व कहा। आहाहा! दूसरी प्रकार से कहे तो नव तत्त्व के परिणमन की दशा अनादि की है। वह सच्चा संवर, निर्जरा और मोक्ष नहीं परन्तु व्यवहार से जितना आस्रव नहीं होता, उसे संवर; जितना कर्म का उदय झर जाता है, उसे निर्जरा; एक अंश बन्ध का अभाव हो, उसका नाम मोक्ष व्यवहार.... ऐसा नव तत्त्वरूप तो जीव अनन्त बार अनन्त काल से परिणमित हुआ है। आहाहा! समझ में आया?

अतः यहाँ कहते हैं, **आचार्य....** ओ हो... ऐसे नव तत्त्व का भेदरूप भाव, वह व्यभिचार है, व्यवहार है, उसमें सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, सत्यदर्शन, वह पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण का पिण्ड जिसके गुण का अन्त नहीं, ऐसे स्वभाव सम्यक् सत्य दर्शन में आते है तो मिथ्याभेद में वह श्रद्धा नहीं आती। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दर्शन.... सम्यग्दर्शन.... सत्यदर्शन जो सत्य चीज पूर्णानन्द अनन्त अनन्त अनन्त अनन्त अनन्त अनन्त गुण की राशि का कहीं अन्त नहीं — ऐसा जो द्रव्यस्वरूप (है), उसकी प्रतीति.... इस विकल्प से वह प्रतीति नहीं होती है। आहाहा! क्योंकि विकल्प जो राग है, वह तो मर्यादित है; अतः विकल्प से रहित.... आहाहा! आचार्य माँगते हैं कि हमें तो अकेला आत्मा हो! आहाहा! है? आहाहा!

भाई! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर का यह भाव है। सुन प्रभु! तेरी शक्ति तो अपार है। तुम सुखामृत का सागर प्रभु हो, संख्या में अनन्त गुण हैं और एक-एक गुण में अनन्त संख्यावाले गुण का रूप अनन्त है। क्या कहा? आत्मा में अनन्त, जिसका अन्त नहीं इतनी संख्या में तो गुण हैं और एक गुण में अनन्त संख्या में जो गुण हैं, उस एक-एक गुण में अनन्त गुण का रूप है। आहाहा! जैसे ज्ञानगुण है, अस्तित्वगुण है, वे तो भिन्न हैं परन्तु अस्तित्वगुण का, ज्ञान है, ज्ञान है — ऐसे ज्ञान में अपने अस्तित्व का रूप है — ऐसे एक गुण में अनन्त का रूप है। आहाहाहा! ऐसा अमृत का महासागर भगवान, आहाहा! निर्विकल्प सामान्य वस्तु ध्रुव, वह हमको प्राप्त हो — आचार्य ऐसा कहते है। हमको यह नव के भेद (प्राप्त न हो) आहाहा! है?

नव तत्त्व की सन्तति-परिपाटी को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एकरूप.... भगवान अनन्त गुण में एकरूप, अनन्त धर्म स्वभाव का एकरूप। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! यह तो जिनेश्वर, तीन लोक के नाथ परमात्मा.... आहाहा! जिनकी एक पर्याय में-जिनकी ज्ञान की एक पर्याय है, उस एक पर्याय में भी अनन्त गुण और द्रव्य जानने में आते हैं, और एक पर्याय में अनन्त पर्याय, पर्याय कितनी अनन्त है एक समय में कि उस पर्याय का अन्त नहीं.... क्या कहा? अनन्त गुण की एक समय में अनन्त पर्याय हैं, उन अनन्त पर्यायों में भी किसी पर्याय का अन्त नहीं कि यह अन्तिम पर्याय है। आहाहाहा! ऐसी एक समय में अनन्त गुणों की (पर्यायें हैं)। जैसे गुण का अन्त नहीं, अपार है; वैसे उसकी पर्याय का भी अन्त नहीं कि यह-यह-यह अन्तिम पर्याय है! अनन्त अनन्त अनन्त अनन्त में यह अन्तिम — ऐसी बात नहीं है। पण्डितजी! समझ में आते हैं? आहाहाहा!

श्रोता : पूरी सूक्ष्म बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी है, भगवान! दुनिया को यह चीज मिली नहीं न.... आहाहा! बाहर में भटका-भटक करते हैं। आहा! नव तत्त्व की भेदरूप श्रद्धा, पञ्च महाव्रत की क्रिया, वह सब तो मनुष्य व्यवहार है, वह आत्म व्यवहार नहीं है। प्रवचनसार, गाथा ९४! प्रवचनसार की ९४ गाथा। आहाहा!

नव तत्त्व की भेदरूप की श्रद्धा, वह विकल्प, राग, पञ्च महाव्रत का, २८ मूलगुण

का विकल्प — राग और शास्त्र का पढ़ना, पर तरफ के लक्ष्य से, वह भी राग है, तो कहते हैं... आहाहाहा! वह राग का व्यवहार है, वह मनुष्य व्यवहार है, चार गति में भटकने का – मनुष्य व्यवहार है। आहाहा! तब आत्म व्यवहार क्या? आहाहा! वह तो मनुष्य व्यवहार अर्थात् संसार व्यवहार–गति का व्यवहार हुआ। आहाहा! तो आत्म व्यवहार क्या? कि भगवान आत्मा एक समय में ऐसे अनन्त अनन्त अनन्त अनन्त अनन्त; गुण का अन्त रहित स्वरूप की निर्विकल्प (प्रतीति कर सके वह) राग की शक्ति नहीं है कि निर्विकल्प तत्त्व को प्रतीत कर सके। आहाहा! यह शुभराग की ताकत नहीं है। समझ में आया? आहाहा! यह पूर्णानन्द का नाथ अपार, अपार, अपार, अपार, अपार — ऐसा शक्ति का सागर है, उस पर दृष्टि हो, वह निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, वह निश्चय सम्यग्दर्शन; और उस अपार अपार गुण के पिण्ड प्रभु का ज्ञान हो, वह सम्यग्ज्ञान, और उसमें स्थिरता हो.... अनन्त अनन्त ऐसे गुण की प्रतीति की पर्याय में कितनी ताकत आयी? उस प्रतीति में द्रव्य–गुण नहीं आये। समझ में आया? वे द्रव्य–गुण प्रतीति में नहीं परन्तु प्रतीति में द्रव्य–गुण का स्वरूप है, वह प्रतीति में आ गया। आहाहाहा! ऐसा जहाँ स्वभाव है न, प्रभु! ऐसी प्रतीति और ज्ञान और रमणता, वह भी व्यवहारनय से, पर्याय प्रधान से, मोक्ष का मार्ग कहा जाता है। २४२ गाथा, प्रवचनसार, २४२ गाथा! कल प्रश्न हुआ था न? ज्ञेय ज्ञायक की प्रतीति वह सम्यग्दर्शन.... ऐसा २४२ गाथा प्रवचनसार (में) आया। ज्ञेय और ज्ञायक की.... ज्ञेय जितना है और ज्ञायक जितना स्वभाववाला प्रभु है, दो का ज्ञान होकर प्रतीति होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन लिया है। समझ में आया?

ज्ञेय अनन्त अनन्त ज्ञेय — अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद, अनन्त जीवद्रव्य की संख्या से अनन्तगुणे परमाणु, उससे अनन्तगुणा काल की पर्याय, आहाहा! उससे अनन्तगुणा आकाश के प्रदेश, उससे अनन्तगुणे एक द्रव्य में गुण — ऐसा ज्ञेय का ज्ञान और ज्ञायक का ज्ञान..... सूक्ष्म बात है प्रभु! आहा! ऐसे ज्ञेय और ज्ञायक का यथार्थ ज्ञान होकर प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन है — ऐसा लिया है — २४२ गाथा, प्रवचनसार, चरणानुयोग, (सूचक चूलिका में लिया है)। चरणानुयोग (सूचक चूलिका) है न? २०१ से २७५ (गाथा तक) चरणानुयोग (सूचक चूलिका) है। आहाहा! ९२ गाथा में (अर्थात् गाथा तक) ज्ञानयोग है — ज्ञान (तत्त्व प्रज्ञापन) अधिकार है और ९३ से २०० गाथा तक ज्ञेय

(तत्त्व प्रज्ञापन) अधिकार है। उस ज्ञेय अधिकार में ९४ गाथा में यह आया है कि ज्ञेय का स्वरूप ऐसा है। आहाहाहा! कि जितनी रागादि की क्रिया है, वह सब मनुष्य व्यवहार है। संसार का व्यवहार है, उस ज्ञेय की पर्याय में यह विकृत अवस्था उत्पन्न हो.... आहा! क्रियाकाण्ड आदि की.... और उस ज्ञेय के पूर्ण स्वरूप की प्रतीति, पूर्ण का ज्ञान और रमणता तीनों, ये तीनों पर्याय का व्यवहार है, यह आत्म व्यवहार है। आहाहा! और निश्चय, एकरूप भगवान में एकाग्रता, वही यहाँ निश्चय है। यही यहाँ चाहते हैं। आहाहा! यह तो दिगम्बर सन्तों की बलिहारी है! दिगम्बर सन्तों की वाणी, ऐसी वाणी कहीं नहीं है — ऐसी चीज कहीं नहीं है। श्वेताम्बर और स्थानकवासी (में भी) यह बात (कहीं नहीं है) बापू! दुःख लगे, क्या करें? परन्तु यह चीज है ऐसी है, वैसी कहीं नहीं है। इसके भाव का किंचित् भान करे तो पता पड़े कि क्या चीज, कहाँ है? आहाहाहा!

यह आचार्य कहते हैं कि आहाहा! नौ के भेद तो ठीक, वे तो नहीं, परन्तु द्रव्य जो मेरा स्वभाव है, उसमें एकाग्रता-एकरूप दशा वह मुझे हो। आहाहा! दृष्टि की अपेक्षा से तो एकरूप हुए हैं परन्तु अभी विकल्प है। आहाहा! दृष्टि की अपेक्षा से तो एकरूप दृष्टि-स्वभाव की एकता हुई है परन्तु अभी चारित्र की अपेक्षा में उसमें विकल्प की अस्थिरता (है)। साधक है तो बाधक (भाव भी) आता है। साध्य पूर्ण हो, वहाँ बाधकपना नहीं आता है और जहाँ साधकपना है ही नहीं मिथ्यात्व में (साधकपना है ही नहीं), वहाँ अकेला बाधकपना पड़ा है। आहाहाहा! समझ में आये उतना समझना प्रभु! यह तो गम्भीर चीज है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि इस व्यवहार को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा.... देखो यहाँ तो तीन पर्याय भी नहीं.... विकल्प तो नहीं... आहाहाहा! हमें तो एक... पण्डित जयचन्दजी ऐसा अर्थ करते हैं। आहाहा! पाठ में है, उसे स्पष्ट करते हैं, यह कोई घर की बात नहीं करते हैं। आहाहाहा!

शुद्धनय का विषय अर्थात् ध्येय, जो त्रिकाली एकरूप ध्रुव भूतार्थ वस्तु, सत्यार्थ साहेब प्रभु, सत्य वस्तु — जो अनन्त गुण का पिण्ड, सत्य वस्तु पूर्ण है। आहाहा! वह शुद्धनय का विषय है। विषय शब्द से ध्येय है अथवा वही त्रिकाली वस्तु है, वही शुद्धनय

है। ११वीं गाथा में कहा है, **'भूयत्थो देसियो शुद्धनयो'** दूसरा पद है, पहला पद ऐसा है, **'व्यवहारो अभूयत्थो भूयत्थो देसियो'** भूतार्थ है, त्रिकाल एकरूप वस्तु है, वही शुद्धनय है। नय और नय के विषय का भेद निकालकर, आहाहाहा! वह त्रिकाली ज्ञायकभाव अनन्त अनन्त गुण का अपार स्वभाव का सागर प्रभु, जो एकरूप चीज है, आहाहाहा! उसी को यहाँ शुद्धनय कहा।

फिर दूसरे पद में लिया — ११ वीं गाथा में **'भूदत्थमस्सिदो खलु समादिट्ठी हवदि जीवो'** वह भूतार्थ वस्तु है, उसका आश्रय करते हैं — आश्रय का अर्थ इतना है कि पर्याय का लक्ष्य जो पर के ऊपर था, उस पर्याय का लक्ष्य यहाँ आत्मा पर आया तो आश्रय किया — ऐसा कहने में आता है। वरना द्रव्य और पर्याय एक हो जाते हैं — ऐसा तो है नहीं। आहाहा! क्या कहा? सम्यग्दर्शन की पर्याय.... समझ में आया? उसका विषय भूतार्थ है, तो त्रिकाली वस्तु की प्रतीति आ गयी, प्रतीति हुई, वह प्रतीति सम्यग्दर्शन का लक्षण प्रतीति है। प्रतीति हुई परन्तु उस प्रतीति में द्रव्य और गुण की.... जहाँ ध्रुवता जो यहाँ शक्ति है, उस प्रतीति में वस्तु आयी नहीं, वस्तु की जितनी सामर्थ्य है, उतनी प्रतीति में आ गयी। पण्डितजी! आहाहाहा! ऐसा मार्ग प्रभु! ऐसा मार्ग है। अस्ति — इस प्रकार। आहाहाहा! लालचन्दजी! यह बाहर की लगा बैठे, प्रभु! यह बात नहीं। आहा! अन्दर में महाप्रभु सुखामृत के सागर से भरपूर समुद्र अन्दर उछलता है। आहाहा! ऐसी एकरूप चीज हमें प्राप्त हो — ऐसा आचार्य कहते हैं। दृष्टि में तो एकरूप हुए ही है (किन्तु) श्रोता को साथ में लेकर, हमें यह प्राप्त हो और तुम्हें भी यह प्राप्त हो — ऐसा (कहते हैं)। आहाहा! आहाहा!

हम दूसरा कुछ नहीं चाहते.... हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। पर्याय के भेद भी हम नहीं चाहते। आहाहा! नव तत्त्व के भेद के विकल्प की श्रद्धा तो हम नहीं चाहते है... आहाहा! परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के तीन भेद जो पर्याय व्यवहारनय से है... तत्त्वार्थसूत्र में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग कहा, वह व्यवहारनय से — पर्याय प्रधानता से कहा है। आहाहा! समझ में आया? आहा! यहाँ तो प्रभु आचार्य ऐसा कहते हैं.... वह पाठ में है और कलश अमृतचन्द्राचार्य का है। **तन्मुकत्त्वा**

नवतत्त्वसन्ततिमि -मामात्मायमेकोऽस्तु नः। 'नः' अर्थात् नकार नहीं। 'नः' अर्थात् हमें। आहाहा! हमें तो एक भगवान आत्मा एकस्वरूप है, वह भेद बिना, अनेकता बिना, व्यवहार बिना एकरूप की प्राप्ति हमें हो। आहाहा! समझ में आया? धन्नालालजी! आहाहाहा! अभी गम्भीर बात है।

हम दूसरा कुछ नहीं चाहते,.... तो इसका अर्थ कि हम पर्याय भी नहीं चाहते। यह क्या कहते हैं? **यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है....** पर्याय नहीं है — ऐसा नहीं है। पर्याय नहीं है, अकेला द्रव्य है — ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है। आहाहा! पण्डित जयचन्दजी ने भी पाठ में भाव है, उसे खोलकर स्पष्टीकरण किया है। समझ में आया? कि आचार्य महाराज प्रभु तो ऐसा कहते है न अमृतचन्द्राचार्य, ऐसे प्रत्येक सन्त (ऐसा कहते हैं कि) हमें तो एकरूप आत्मा प्राप्त हो। तीन पर्याय — दर्शन, ज्ञान, चारित्र की, यह तो आयी नहीं कि यह तो हमको एकरूप प्राप्त हो। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है। हमें वीतरागता हो, यह प्रार्थना है। समझ में आया? आहाहा! क्योंकि चारों ही अनुयोगों का तात्पर्य (वीतरागता है — ऐसा) पंचास्तिकाय १७२ गाथा में लिया है। चारों अनुयोगों का तात्पर्य क्या है? कि भाई! द्रव्यानुयोग में ऐसा है और करुणानुयोग में ऐसा है और अमुक में ऐसा है, चारों अनुयोगों का तात्पर्य.... प्रभु! वीतरागता है। आहाहा! १७२ गाथा पञ्चास्तिकाय! तो वीतरागता तात्पर्य! परमात्मा के चारों ही अनुयोग की वाणी में तात्पर्य वीतरागता है।

अब वह वीतरागता का तात्पर्य, पर्याय में कैसे प्रगट होगा? आहाहा! उसका अर्थ ही यह आया कि चारों ही अनुयोग का तात्पर्य तो वीतरागता है तो वह वीतरागता स्वद्रव्य के आश्रय से होती है; अतः त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करना, वह उसका तात्पर्य है। आहाहा! समझ में आया? है न? पञ्चास्तिकाय, १७२ गाथा (में यह बात है)। सूत्र तात्पर्य तो प्रत्येक गाथा में कहते आये हैं, परन्तु सर्व शास्त्रों को तात्पर्य क्या है? वीतरागता प्रगट करना। तो वीतरागता प्रगट हो वह कैसे हो? कि वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा है... समझ में आया? आहाहा! पण्डितजी! अभी वह पत्र आया है, पढ़ा है? जापान का एक पत्र (आया है) जगमोहनलालजी ने लिखा है, पढ़ा है? नहीं पढ़ा? वह बाद में पण्डितजी को देना। जापान में एक बड़ा पण्डित है, ६३ वर्ष की उम्र है, और उसका बड़ा लड़का १७

वर्ष की उम्र है। उसने जैनधर्म की शोध की, सब ऐतिहासिक शोध की है। शोध करते-करते-करते-करते पूरा तो उसे कहाँ.... परन्तु उसने ऐसा निकाला कि जैनधर्म क्या? कि अनुभूति वह जैनधर्म है - ऐसा निकाला। अपने पास वह पत्र आया है। सब ले लेना, सब बाद में पढ़ना। वह जगमोहनलालजी ने (समाचार पत्र में) डाला है कि देखो! जापान के पण्डित शोधक जीव भी ऐसा कहते हैं.... यद्यपि पूर्ण स्वरूप तो उन्हें कहाँ ख्याल में होगा, परन्तु अनन्त गुण और ऐसा ख्याल (न हो), तथापि उसने ऐसा तो निकाला कि जैनधर्म क्या? अनुभूति। दो बोल कहे हैं,.... और वस्तु है वह, आत्मा वह क्या है? कि वस्तु निर्वाणस्वरूप है। अपनी भाषा में कलश टीका में ऐसा कहा कि वस्तु है यह 'मुक्तस्वरूप' है। मुक्तस्वरूप कहो या निर्वाणस्वरूप कहो, क्योंकि मुक्तस्वरूप जो है, उसमें से मुक्तपर्याय प्रगट होगी। राग से नहीं होगी, परन्तु पूर्व की पर्याय — मोक्ष के मार्ग की है, उससे भी मोक्षपर्याय उत्पन्न नहीं होगी। मोक्ष का मार्ग है, वह तो व्यय होता है, फिर मोक्ष की पर्याय उत्पाद होती है, तो उत्पाद का कारण वह व्यय नहीं। आहाहा!

मुक्तस्वरूप जो भगवान आत्मा.... आहाहा! उसने ऐसा लिखा है, दो शब्द उसमें से अच्छे लगे अपने को, वह तो ठीक, परन्तु मूल चीज तो कहाँ किसी को हाथ में आये। अन्यमति को कहाँ पता पड़े, समझे? आहाहा! यह तो ऐतिहासिक शोध कर उसने जैनधर्म के पत्र में यह अच्छे बोल लिखे हैं। जगमोहनलालजी ने समाचार-पत्र में दिये हैं। कौन सा समाचार पत्र? 'अहिंसा वाणी' — उसमें दिया है। आहाहा!

अपने को तो यहाँ यह सिद्ध करना है कि प्रभु जो आत्मा है, वह तो मुक्तस्वरूप है। जैसे १५ वीं गाथा में कहा है कि '**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं**' अबद्ध कहो... नास्ति से अबद्ध कहा, अस्ति से मुक्त है। समझ में आया? आहाहा! जिसने अबद्धस्वरूप — ऐसा मुक्तस्वरूप भगवान को जिसने देखा, जाना, अनुभव किया, वह जैनशासन है, क्योंकि 'जिन सो ही है आत्मा' 'घट घट अन्तर जिन वसे और घट घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सो मतवाला समझे न।' जिनस्वरूपी भगवान आत्मा, प्रत्येक आत्मा जिनस्वरूपी है। मुक्तस्वरूप कहो, वीतरागस्वरूप कहो, अबद्धस्वरूप कहो.... आहाहाहा! वह जिनस्वरूप है; त्रिकाल जिनस्वरूप है। उसके आश्रय से जिनस्वरूप की दशा प्रगट होती है। आहाहाहा!

श्रोता : अस्ति-नास्ति नहीं, हमें तो आप धर्म की बात कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या कहते हैं ? यह धर्म की बात तो चलती है। क्या है ? आहाहा! कभी विचार किया ही नहीं न ? इन सेठियों को दुकान में पैसा ऐसा लेना और ऐसा देना.... बाईस घण्टे अकेला धन्धा। स्त्री, पुत्र, परिवार और पैसे में बाईस घण्टे पाप-पाप, एक-दो घण्टे रहे तो उसमें वाँचन करे, बाकी बाईस घण्टे पाप। आहाहा! 'ऐरन की चोरी और सुई का दान...' ऐरन समझते हो, लोहे की ? स्वर्णकार की होती है न ? ऐरन, लोहे की होती है न ? उस पर गहने गढ़ते हैं, उसे ऐरन कहते हैं। तुम्हारे क्या कहते हैं ? 'ऐरन की चोरी और सुई का दान...' — इस प्रकार बाईस घण्टे पाप और उसमें एक घण्टे-दो घण्टे सुनने को आये तो वह भी शुभभाव है। आहाहा! धर्म तो, यह चीज ऐसी चीज है। आहाहा! कि उस शुभराग की, नव तत्त्व की-भेद की श्रद्धा भी आत्मा की वस्तु नहीं है। आहाहा! भेद की श्रद्धा, हाँ! नव तत्त्व की अभेद की श्रद्धा वह सम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थसूत्र में लिया है न! नौ, वह एकवचन है। जीव-अजीव, पुण्य-पाप (इत्यादि) यह नौ लिये हैं परन्तु वहाँ एकवचन लिया है। तत्त्वार्थसूत्र (में) वह बहुवचन नहीं एकवचन है। बहुवचन तो भेद हो जाता है। है ? तत्त्वार्थसूत्र में — सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिं मोक्षमार्ग:... फिर सम्यग्दर्शन में लेते हैं — जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष — यह सब एकवचन है, एकरूप है — ऐसा एकवचन लिया है। आहाहा!

सन्तों की वाणी, भले व्यवहार से आयी, पर्याय (से आयी) परन्तु उसका क्या आशय है! उमास्वामी हो या कोई भी दिगम्बर सन्त... आहाहा! केवली के पथानुगामी, केवली के मार्ग पर चलनेवाले, एक दो भव में केवलज्ञान लेनेवाले हैं। आहाहा! भाई! उनकी वाणी का पता (थाह) लेना... बापू! बहुत कठिन बात है, अशक्य तो नहीं है परन्तु कठिन बात तो है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि हमारे एकरूप आत्मा हो तो वह एक निश्चयनय के विषय की प्रार्थना हुई, तो पर्यायनय का विषय नहीं है ? कि ऐसा नहीं है। यहाँ जो ऐसा कहा है कि हमें एकरूपता हो, वह वीतरागपर्याय की प्रार्थना है, वीतरागभाव की प्रार्थना है। एक नय ही हमें प्राप्त हो और पर्याय आदि है ही नहीं — ऐसा नहीं है। आहाहा!

क्योंकि जो एकरूप हमें प्राप्त हो, वह भी पर्याय है और पर्याय में एकरूप प्राप्त हो तो वह तो पर्याय में आया है। आहाहा!

क्या प्रभु का कथन! आहाहा! तेरा चैतन्य हीरा अनन्त गुण के श्रृंगार से शोभित प्रभु! आहाहा! यह श्रृंगाररस में डाला है। 'अध्यात्म पंच संग्रह', है न, दीपचन्दजी का! दीपचन्दजी हो गये हैं न साधर्मी! १. अनुभवप्रकाश, २. चिद्विलास,.... उसमें अध्यात्म पंच संग्रह लिया है, यहाँ है, यहाँ है न? नहीं आया लगता, वहाँ होगा। अध्यात्म पंच संग्रह... अध्यात्म पंच संग्रह, आहाहा! उसमें ऐसा लिया है कि अपना श्रृंगार क्या? श्रृंगाररस! नव रस हैं न नव, तो श्रृंगाररस लिया है। एक-एक गुण में श्रृंगाररस लिया है। अपने-अपने गुण में पर को न आने देना और अपनी शोभा अपने में रखना, वह श्रृंगाररस है। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा अनन्त गुण की पर्याय से निर्मल प्रगट होकर उसने अपना श्रृंगार किया। यहाँ इस शरीर का श्रृंगार करते हैं न, गहने, लोहे के लो! और सोने के, हीरे के हैं तो सब धूल, हैं न? यहाँ लटके और यहाँ लटके.... आहाहा!

यह कणवी है न, अभी हीरा से सम्मान करनेवाले हैं, बारीक-बारीक हीरा से। बहिन का जन्मदिन आता है न दूज, श्रावण कृष्ण दूज, उस दिन एक भाई शिवलालभाई साढ़े तेरह हजार रुपये के हीरे से सम्मान करेगा। साढ़े तेरह हजार रुपये के हीरे हैं, उसमें से सात हजार रुपये देगा, उसमें से निकालकर। बहिन के जन्मदिन पर। हमने तो अस्सी हजार का हीरा देखा था, एक बार बेचरभाई ने बताया था राजकोट, करोड़पति है न बेचरभाई और नानालालभाई। यह बारीक... बारीक... बारीक, यह सफेद परमाणु की पर्याय, जड़ की चमकती... चमकती... चमकती पर्याय... अरे प्रभु! इस हीरा से तो तेरी चीज... आहाहा! अनन्त गुण के पासा से चमकता हीरा तेरी चीज तेरे में है। यहाँ आचार्य ऐसा कहते हैं कि हमको वह आत्मा प्राप्त हो, बस! अभेददशा की प्राप्ति चाहते हैं।

यह कहते हैं न? **यह वीतरागदशा की प्रार्थना है। कोई नयपक्ष नहीं है....** यह क्या कहा? अकेला निश्चय ही हमें प्राप्त हो तो पर्याय नहीं है — ऐसा नहीं है। आहाहा! क्योंकि मोक्षमार्ग और मोक्ष स्वयं, स्वयं पर्याय है, सिद्ध पर्याय है, मोक्षमार्ग पर्याय है। आहाहा! अकेले द्रव्य की इच्छा करने में अकेला नयपक्ष है नहीं, उसमें वीतरागता प्राप्त

होना, वीतरागभाव की भावना है। आहाहा! समझ में आया? यह कहते हैं। **कोई नयपक्ष नहीं है,** वरना तो पर्याय जो मोक्षमार्ग है, किन्तु यहाँ तो हमें द्रव्य प्राप्त हो, अभेद बस! तो भेद कोई चीज नहीं है? पर्याय भेद है, पर्याय वह व्यवहारनय का विषय है, द्रव्य निश्चयनय का विषय है परन्तु निश्चयनय का एकान्त पक्ष चाहते हैं तो दूसरा पक्ष रह जाता है। अत: यहाँ नयपक्ष की बात नहीं है। यहाँ तो हमें वीतरागता प्राप्त हो, आहाहा! समझ में आया? ज्ञानचन्दजी! प्रभु का मार्ग तो ऐसा है, भाई! आहाहा! आहाहा! अलौकिक बातें हैं! उनके एक-एक पद के भाव को प्राप्त करना, बहुत कठिन बात है। आहाहा! इन पण्डित ने (पण्डित जयचन्दजी ने) इसका स्पष्टीकरण किया, उसे समझना भी कठिन है।

यहाँ पाठ ऐसा है न? छठवें श्लोक की अन्तिम लाईन **तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंतति -मिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥** हमें तो एक आत्मा हो, वह तो एक शुद्धनय का पक्ष हुआ परन्तु यहाँ वीतराग होना यह प्रार्थना है। अकेला यही पक्ष है और पर्याय नहीं है — ऐसा नहीं है। यह कहते हैं, देखो, समझ में आया?

यदि सर्वथा नयों का पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है.... आहाहा! क्या कहते हैं? कि सर्वथा अकेला शुद्धनय का विषय हो और व्यवहार — पर्याय है ही नहीं — ऐसा यदि सर्वथा नयपक्ष करे तो मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? अब यहाँ यह श्लोक पूरा हुआ। छठवाँ श्लोक — कलश है न कलश!

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा चैतन्य है, मात्र इतना ही अनुभव में आये तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नहीं?..... चैतन्यवस्तु, चैतन्यवस्तु अकेली है। यह इतना मात्र यदि अनुभव में आवे तो वह श्रद्धा है या नहीं? **उसका समाधान यह है — नास्तिकों को छोड़कर सभी मतवाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं;...** चेतन है — ऐसा तो नास्तिक के सिवाय सभी मानते हैं। कहते हैं ऐसा नहीं (मानते हैं)। **यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जाएगा,....** देखो! क्या कहते हैं जरा... **इसलिए सर्वज्ञ की वाणी में जैसा सम्पूर्ण....** आहाहा! क्योंकि जीव जो आत्मा है वह सर्वज्ञस्वरूपी है। क्या कहा? भगवान जो आत्मा है, वह सर्वज्ञस्वभावी है, सर्वज्ञ उसकी एक शक्ति-गुण है। अत: सर्वज्ञस्वरूप ही आत्मा है तो

उस सर्वज्ञस्वरूप में से पर्याय में सर्वज्ञपना आया, उस सर्वज्ञ ने सब जाना। उनकी वाणी में जो आया, वह ही यथार्थ है। आहाहा! वह उन्होंने कहा जो आत्मा (वही सत्यार्थ है)। अज्ञानी तो आत्मा, आत्मा तो बहुत कहते हैं... समझ में आया? **सर्वज्ञ की वाणी में जैसा सम्पूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा है....** आहाहा! जिसकी एक पर्याय में सम्पूर्ण द्रव्य-गुण और सर्वद्रव्यों को जानने की एक पर्याय में सामर्थ्य है, एक ही पर्याय हो तो सारा द्रव्य गुण, सारे छह द्रव्य, गुण समस्त एक पर्याय में... ऐसे भगवान की वाणी में आया है, ऐसी चीज दूसरे किसी जगह है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! और वह भी ऐसा क्यों कहा? कि यह जीव है और प्रत्येक 'ज्ञ' स्वरूपी है। 'ज्ञ' स्वरूपी में जो 'ज्ञ' के साथ सर्व शब्द जोड़ दो तो सर्वज्ञस्वरूपी ही है। आहा!

भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी, समस्त अनन्त आत्माएँ सर्वज्ञस्वरूपी हैं। इस सर्वज्ञस्वरूपी में से पर्याय में सर्वज्ञपना आता है। सर्वज्ञस्वरूप में से सर्वज्ञपर्याय आती है। आहाहा! उसमें पर्याय में जो सर्वज्ञपना आया, उसने जो आत्मा देखा और छह द्रव्यादि देखे... आहाहा! समझ में आया? उसने जो आत्मा कहा... है? चैतन्य, चैतन्य तो सब कहते हैं परन्तु यह चैतन्य भगवान अनन्त गुण और अनन्त धर्म (युक्त) जिनका माप नहीं — ऐसी अनन्त पर्याय और ऐसा आत्मा तो सर्वज्ञ की वाणी में आया है। आहाहा! समझ में आया? वैसे ऊपर-ऊपर से हाथ आवे ऐसा नहीं है, प्रभु! आहाहा! यह तो गहरे... गहरे... गहरे... आहाहा! जिसके ध्रुव.... पर्याय में से ध्रुव का तल है अन्दर, पर्याय तो ऊपर-ऊपर है, एक समय की (है), उसका तल जो ध्रुव, पाताल है। पाताल कुआँ होता है न, पाताल कुआँ! वैसे पर्याय का पाताल, ध्रुव है। आहाहा! अरे! यह सर्वज्ञ की वाणी में ऐसा आया है। इसके अतिरिक्त कहीं ऐसी बात नहीं होती। कहीं (नहीं)। समझ में आया?

श्वेताम्बर में भी एक समय में ज्ञान और दूसरे समय में दर्शन — ऐसी व्याख्या करते हैं, (परन्तु) यह वस्तु तो ऐसी है नहीं। एक समय में सर्वज्ञ का उपयोग दूसरे समय दर्शन उपयोग — सर्वदर्शी उपयोग — ऐसा नहीं है, ये उपयोग एक समय में दोनों ही हैं। आहाहा!

दीपचन्दजी ने पंच संग्रह में अद्भुतरस का वर्णन किया है, उसमें ऐसा वर्णन किया है, प्रभु! एक बार सुन तो सही, कि जो ज्ञान की पर्याय सबको भेद करके — भेद

करके — अनन्त जीव, अनन्त परमाणु, अनन्त गुण, अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें, एक-एक पर्याय के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद, यह ज्ञान की पर्याय सबको भेद है — ऐसा जानती है। एक-एक भेद सब-सबको जानती है और उसी समय दर्शन की पर्याय किसी का भेद किये बिना (देखती है) आहाहा! यह अद्भुतता तो देखो! कहते हैं। आहाहा! सर्वज्ञ की पर्याय, यह जीव है, यह जड़ है, यह जीव का धर्म है, यह जड़ का धर्म है, यह जीव की पर्याय है, यह जड़ की पर्याय है, इस एक पर्याय में अनन्त ताकत है - ऐसी प्रतिच्छेद भेद... भेद... भेद.. अन्तिम अंश का कि जिसमें दूसरा अंश है ही नहीं, उसे भी जिसने केवलज्ञान में जान लिया, आहाहा! उसी ज्ञान की पर्याय के साथ जो दर्शन की पर्याय है, वह है, बस, भेद नहीं! अरे! एक पर्याय की इतनी ताकत और दूसरी पर्याय में 'है' इतना... आहाहा! समझ में आया?

नास्तिक को छोड़कर आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं.... इतनी श्रद्धा हो तो सबको सम्यग्दर्शन हो जाये, किन्तु सर्वज्ञ की वाणी में जैसा सम्पूर्ण आत्मा का... आहाहा! त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ पर्याय में जैसा देखा सारा लोकालोक; उसने जो आत्मा कहा, आहाहा! वह आत्मा अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुणस्वरूप और अनन्त पर्यायसहित और वह द्रव्य अपने गुण-पर्याय में व्यापक — यह पहले — कल आ गया है। परसों आ गया, सूक्ष्म बात आ गयी थोड़ी।

यह आत्मा है, यह गुण-पर्याय में व्याप्त है। गुण और विकारी पर्याय में भी व्याप्त है। पहले आ गया है। है? पहले श्लोक में इसमें है या न इसमें? 'व्याप्तु' पहला पद है। 'व्याप्तु' यह कलश का पहला पद, व्याप्तु की व्याख्या यह है कि यह जो आत्मा है, वह अपने अनन्त गुण और विकारी, अविकारी पर्याय, इन सबमें व्यापक है। यह प्रमाण का विषय पहले बताया। समझ में आया? व्याप्तु में, अपने गुण-पर्याय में व्यापक है। उसका अर्थ है कि शरीर को स्पर्श नहीं करता, कर्म को स्पर्श नहीं करता, शरीर को व्याप्त नहीं, कर्म को व्याप्त नहीं, और कर्म से अपने में विकारी पर्याय व्याप्त है — ऐसा भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह अपने गुण-पर्याय में व्याप्त का अस्तित्व, विकारी पर्याय का अस्तित्व भी अपने में व्याप्त अपने से है — ऐसा बताकर फिर आत्मा प्रमाण का विषय इतना है परन्तु शुद्धनय का विषय क्या है? यह अब बतायेंगे। है न?

पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिहः ऐसा आत्मा है, वह तो प्रमाण का विषय हुआ और प्रमाण का विषय पूज्य नहीं है। प्रमाण पूज्य नहीं है, क्योंकि प्रमाण दो को विषय करता है; अतः व्यवहार का विषय हो गया। प्रमाण व्यवहार का विषय है, दो आये न ? पंचाध्यायी में है। प्रमाण को व्यवहार का विषय कहा है। दो आये न ? एक नहीं रहा। आहाहा ! नयचक्र में तो ऐसा आया — प्रमाण में पर्याय का निषेध नहीं होता; इसलिए वह पूज्य नहीं है; जो निश्चयवस्तु है, उसमें पर्याय का निषेध होता है; इसलिए निश्चयनय पूज्य है। अतः यहाँ कहते हैं कि हमें.... आहाहा ! जैसा सर्वज्ञ की वाणी में जैसा आत्मा द्रव्य-गुण और पर्याय आया है, वैसा अन्दर में प्रतीति और अनुभव में आता है तो उसका नाम सम्यग्दर्शन कहते हैं — ऐसा चैतन्यमात्र, मात्र कहते हैं, यह सारी दुनिया कहती है। नास्तिक के अतिरिक्त (सारी दुनिया कहती है) परन्तु सर्वज्ञ भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ की पर्याय में जैसा आत्मा देखा और जैसा आत्मा है, वैसा कहा है — ऐसे आत्मा की प्रतीति करे तो निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, वरना नहीं होता।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

कलश ७

अब, टीकाकार आचार्य निम्नलिखित श्लोक में यह कहते हैं कि 'तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन, सर्व द्रव्यों से भिन्न, आत्मज्योति प्रगट हो जाती है' —

(अनुष्टुभ्)

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति॥ ७॥

श्लोकार्थ : [अतः] तत्पश्चात् [शुद्धनय-आयत्तं] शुद्धनय के आधीन [प्रत्यग् ज्योतिः] जो भिन्न आत्मज्योति है [तत्] वह [चकास्ति] प्रगट होती है [यद्] कि जो [नव-तत्त्व-गतत्वे अपि] नवतत्त्वों में प्राप्त होने पर भी [एकत्वं] अपने एकत्व को [न मुंचति] नहीं छोड़ती।

भावार्थ : नव तत्त्वों में प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है; यदि उसका भिन्न स्वरूप विचार किया जाये तो वह अपनी चैतन्य-चमत्कारमात्र ज्योति को नहीं छोड़ता॥७॥

प्रवचन नं. ५८ कलश-७, गाथा-१३ दिनाङ्क १५-०८-१९७८ मंगलवार
श्रावण शुक्ला १२, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, सातवाँ कलश है, सातवाँ कलश है न?

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति॥ ७॥

टीकाकार आचार्य निम्नलिखित श्लोक में यह कहते हैं कि तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन सर्वद्रव्यों से भिन्न आत्मज्योति प्रगट हो जाती है।

क्या कहते हैं, कि तत्पश्चात् अर्थात् यथार्थ दृष्टि से '**शुद्धनयायत्तं**' शुद्धनय के आधीन... त्रिकाली वस्तु जो ज्ञायकभाव है, वह शुद्धनयस्वरूप है अथवा शुद्धनय के आधीन... जो ज्ञान का अंश त्रिकाल को स्वीकार करता है, उसे यहाँ शुद्धनय कहते हैं। श्रुतज्ञान प्रमाण है, उसमें नय, प्रमाण का भेद है। उसमें से शुद्धनय जो एक भेद है, वह त्रिकाल को स्वीकार करता है। समझ में आया? शुद्धनय आधीन न हो, ज्ञान की पर्याय त्रिकाली द्रव्य का स्वीकार करती है, उसके आधीन प्रगट होता है तो यह सम्यग्दर्शन, ऐसा होने पर भी, सम्यग्दर्शन की पर्याय में शुद्धनय का विषय जो द्रव्य है, वह पर्याय में नहीं आता। थोड़ी सूक्ष्म बात है।

यहाँ कहते हैं कि शुद्धनय के आधीन प्रत्यज्ञ ज्योति प्रगट होती है। **नव तत्त्व में प्राप्त होने पर भी....** क्या कहते हैं? आहाहा! जीव की एक समय की पर्याय में अजीव का ज्ञान होता है, अजीव तो (उसमें) आता नहीं; अजीवरूप तो परिणमन होता नहीं परन्तु अजीवरूप परिणमन होता है — ऐसा कहा तो अजीव का जो ज्ञान होता है, वह पर्याय है, उस पर्याय को यहाँ अजीव कहते हैं। ज्ञान जानता है न अजीव को, परन्तु उसरूप द्रव्य नहीं होता। आहाहा! है?

श्रोता : कौन होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय होती है। सूक्ष्म बात है। पूरा श्लोक ही सूक्ष्म है। नव तत्त्व अर्थात् यहाँ जीव की एक समय की पर्याय और एक समय का अजीव का ज्ञान और एक समय का वहाँ पुण्य-पाप के विकल्प की उत्पत्ति का काल और दो मिलकर आस्रव की पर्याय और संवर-निर्जरा तथा मोक्षरूप पर्याय परिणमति है तो इस संवर-निर्जरा और मोक्षरूप पर्याय में द्रव्य नहीं आता है। आहाहा! सूक्ष्म है, भगवान!

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष... आस्रव अर्थात् पुण्य-पाप, अन्दर उस पर्यायरूप पर्याय होती है; पर्यायरूप द्रव्य नहीं होता। एकरूप ज्ञायक रहनेवाली चीज, उस पर्याय में नहीं आती। आहाहा! चाहे तो वह मोक्ष की पर्याय हो परन्तु उस पर्याय में द्रव्य नहीं आता है। आहाहा! चाहे तो संवर, निर्जरा, मोक्ष के मार्ग की पर्याय हो, उस समय में उत्पन्न होने के काल में उत्पन्न हो... आहाहा! तथापि जीवद्रव्य जो वस्तु है, वह नव पर्याय में नहीं आया। आहाहा!

श्रोता : पर्याय से द्रव्य भिन्न कहाँ रहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य भिन्न रहा ध्रुव में... सूक्ष्म बात है प्रभु! यहाँ तो नवतत्त्व में से एक भूतार्थ निकालना, यह शुद्धनय का विषय है। आहाहा! नव तत्त्वरूप परिणमन पर्याय में हुआ, वह है, व्यवहाररूप से है। तीर्थरूपी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र; चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ (गुणस्थान), वह तीर्थ है, वह व्यवहारनय का विषय है। तीर्थ और यह लेंगे टीका में। तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए नवतत्त्व कहे हैं। क्योंकि चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ (इत्यादि) यह भेद है। यह भेद है, वह सब व्यवहारनय का विषय है परन्तु उस व्यवहारनय के विषयरूप जो पर्याय है, उससे शुद्धनय के आधीन द्रव्य तो भिन्न है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

है ? **नवतत्त्वगतत्वेपि** यहाँ तो नौ में कितना अशुद्ध है और कितना शुद्ध है। नौ में... यह पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध, अशुद्ध है और संवर-निर्जरा मोक्ष यह शुद्ध है। इन नौ तत्त्व में शुद्धतत्त्व और अशुद्धतत्त्व दो; पर्याय का, हाँ! इन नौ तत्त्वों में **गतत्वेपि**.... पर्याय में इतने — नौ तत्त्व की प्राप्ति होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती। आहाहा! वस्तु जो

ध्रुवस्वरूप चिदानन्द प्रभु नित्य वस्तु द्रव्यस्वभाव है, वह कभी पर्याय में नहीं आता और अपना द्रव्यपना कभी नहीं छोड़ता। आहाहा! ऐसा मार्ग है। है न? **शुद्धनय के आधीन आत्मज्योति प्रगट होती है।** प्रगट तो है परन्तु अन्तर्दृष्टि करने से — शुद्धनय का लक्ष्य करने से स्वभाव में वह जैसा है, वैसा प्रतीति में आता है। है तो है, है परन्तु है वह कब प्रतीति में आता है? समझ में आया?

एक प्रश्न हुआ था न अभी, थोड़े वर्ष पहले... एक वकील का लड़का है, वीरजीभाई वकील हैं, इस काठियावाड़ में दिगम्बर का अभ्यास पहले उनको है, जामनगर! पहले-पहले दिगम्बर का बहुत पुराना ८०-९०-९२ वर्ष, उनका लड़का है। उसने प्रश्न किया अभी दो-तीन वर्ष पहले, कि प्रभु! आप आत्मा को कारणपरमात्मा कहते हो, आत्मा को कारणपरमात्मा कहते हो और कारणजीव कहो, कारणपरमात्मा कहो, द्रव्य कहो, सामान्य कहो, ध्रुव कहो, सदृश कहो, एकरूप कहो — तो उसको प्रभु तुम कारणपरमात्मा कहते हो तो कारण हो तो कार्य तो आना ही चाहिए — ऐसा प्रश्न (किया था)। कार्य तो हमें आता नहीं। कारणपरमात्मा तुम स्थायी कहते हो और कार्य तो आता नहीं। (हमने कहा) प्रभु! एक बार स्वीकार कर तो समझ, यह कारणपरमात्मा है — ऐसी दृष्टि जब हुई तब है — ऐसा उसको आया है। है परन्तु किसको है? जिसकी पर्याय ने अन्दर में आश्रय लिया तो पर्याय में कारणपरमात्मा है — ऐसी श्रद्धा में आया। तथापि कारणपरमात्मा पर्याय में नहीं आया, परन्तु कारणपरमात्मा — ऐसा है ऐसी प्रतीति में आया, उसे कारणपरमात्मा है। आहाहा!

श्रोता : दूसरा माने या न माने उसके साथ क्या सम्बन्ध, वह तो है ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : माने, न माने ऐसा नहीं, परन्तु कारणपरमात्मा है। है, वह किसको ख्याल में आता है? है, जगत् में, परन्तु है वह ख्याल में किसको आता है? पर्याय बुद्धिवाले को तो कारणपरमात्मा ख्याल में नहीं आता। अतः उसके लिये तो कारणपरमात्मा है ही नहीं। आहाहा! है? जरा सूक्ष्म है, भगवान!

सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग — जिनेश्वर का पन्थ कोई अलौकिक है! ओहोहो! उसका कोई अचिन्त्य स्वरूप है! यहाँ तो कहते हैं कि वस्तु कारणपरमात्मा है। तो है

का ज्ञान हुआ, उसको है। जिसको भान नहीं हुआ, उसको 'है' — यह कहाँ से आया? समझ में आया? यह वस्तु है परन्तु है इसका ख्याल आये बिना 'है' — यह किसको आया? आहाहा! बहुत सूक्ष्म लॉजिक है। आहाहा! वस्तु जो त्रिकाल कारणपरमात्मा आनन्दकन्द प्रभु शुद्ध द्रव्य सामान्यरूप है, वह जब पर्याय में ख्याल में आया, उसको कारणपरमात्मा है तो उसे पर्याय में कार्य-सम्यग्दर्शन का (कार्य) हुए बिना नहीं रहेगा। आहाहा! क्या कहा?

यहाँ शुद्धनय के आधीन कहा न? जिसको त्रिकाली वस्तु है, उसका लक्ष्य हुआ तो उसके लिये त्रिकाली शुद्ध है परन्तु जिसे लक्ष्य ही नहीं हुआ — ख्याल में नहीं आया, उसको है कहाँ? उसे कहाँ है? यह तो सर्वज्ञ कहते हैं। आहाहा! है? ऐसी बात है प्रभु! यह तो समयसार बापू! समयसार अर्थात् आहाहा! भरतक्षेत्र में.... एक बार पण्डितजी ने कहा था, वहाँ गोवाहटी आसाम (में)! समयसार पढ़ते-पढ़ते तुम एक बार बोले थे ओ...हो...हो...! समयसार के अतिरिक्त कोई ऐसी चीज नहीं है। आसाम में आये थे। बापू! यह तो क्या चीज है प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं, इस प्रभुता का स्वरूप जो अन्दर त्रिकाल है — है तो त्रिकाल है परन्तु है उसका लक्ष्य करके प्रतीति में आया कि ओ...हो...! यह तो पूर्णानन्द प्रभु है। वह प्रतीति में और ज्ञान की पर्याय में है ऐसा है — ऐसा आया; वह चीज नहीं आयी। आहाहा! धन्नालालजी! यह प्रतीति आयी। है उसकी प्रतीति.... तो प्रतीति में सारा द्रव्य है — ऐसी प्रतीति आयी; सारा द्रव्य पूर्ण है — ऐसी पर्याय में प्रतीति आयी, उसको तो है कारणपरमात्मा; और द्रव्य उसको प्रतीति में आया है। आहाहा! तथापि पर्याय में त्रिकाली द्रव्य — शुद्धनय के आधीन हुआ, तथापि वह पर्याय में जो सम्यग्दर्शन की हुई, उसमें द्रव्य नहीं आया। द्रव्य का सामर्थ्य कितनी है — ऐसी प्रतीति आ गयी। आहाहा! बापू! मार्ग अलग है, भाई! अरे! सम्प्रदाय में — जैन में जन्म हुआ (तो) तुझे जैन तत्त्व का ख्याल आ गया — ऐसा नहीं है। आहाहा!

क्या कहते हैं? कि शुद्धनय के आधीन, जो वस्तु है उस पर दृष्टि गयी तो वह आधीन वहाँ द्रव्य है — ऐसा ख्याल में आया? ऐसा होने पर भी, ऐसी चीज होने पर भी, पर्याय में नौ प्रकार की पर्याय है — परिणमन है। कितना ही शुद्ध और कितना ही अशुद्ध....

आस्रव, बन्ध, और अजीव आदि अशुद्ध और संवर, निर्जरा, मोक्ष यह शुद्ध परन्तु यह शुद्ध और अशुद्ध पर्याय होने पर भी, वह द्रव्यस्वभाव शुद्ध अशुद्ध पर्याय में नहीं आया। आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसी बातें हैं।

यहाँ कहते हैं, **शुद्धनय के आधीन आत्मज्योति प्रगट होती है।** प्रगट होती है अर्थात् है — ऐसा भान हुआ। वस्तु तो है वह है। वस्तु प्रगट होती है? परन्तु जिसकी दृष्टि वहाँ गयी, उसे वह शुद्ध है — ऐसा प्रगट हुआ। आहाहा! समझ में आया? यह तो तेरहवीं गाथा का उपोद्घात है। तेरहवीं गाथा का उपोद्घात है, यह श्लोक। आहाहा! भाई! इसको समझने में बराबर प्रयत्न करना चाहिए प्रभु! आहाहा! कुछ भी एक अंश का (भी) फेरफार रह जायेगा तो वस्तु हाथ नहीं आयेगी।

श्रोता : अन्तर मिटाने के लिए तो आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पण्डितजी (ने) लिखा था कि हमें आना है। आहाहा! प्रभु! यह चीज जो है परम आनन्द और अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... जिसका अन्त नहीं, इतने गुण हैं। गजब बात है प्रभु! आहाहा! कितने गुण हैं? कि जिनकी संख्या की अनन्तता, उसमें यह अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त को अनन्त अनन्त कर लेना तो भी यह अन्तिम अनन्त का अंश है, इस धर्म का गुण — ऐसा तो आता नहीं। आहाहा!

ऐसा अनन्त गुणरूप बेहद अपरिमित शक्ति का सागर प्रभु एकरूप वस्तु, वह सम्यग्दृष्टि को शुद्धनय के आधीन प्रगट होती है। आहाहा! अर्थात् सम्यग्दृष्टि को पर्याय से लक्ष्य छूट जाता है, नौ प्रकार के भेद हैं, उनका लक्ष्य छूट जाता है। आहाहा! समझ में आया? और एक त्रिकाल भगवान पूर्णानन्द ध्रुव प्रवाह है... प्रवाह का अर्थ ध्रुव पानी का प्रवाह - ऐसा चलता है। यह ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... — ऊर्ध्व प्रचय, ऐसा का ऐसा। ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ऐसी शुद्धनय के आधीन ज्ञान की पर्याय, वह ऊपर जाती है, तब वह आधीन यह चीज है, उसको ख्याल में आता है। डाह्याभाई! ऐसा यह सब। तुम्हारे जज-फज में ऐसा कुछ नहीं आता, वहाँ बड़े जज हैं, जज, अहमदाबाद के बड़े जज। अब छोड़ दिया।

श्रोता : सरकार ने छुड़ाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अवधि पूरी हो जाये पचपन वर्ष की, इसलिए फिर छोड़ दें, फिर नहीं रखते। आहाहा!

प्रभु! तू सुन तो सही! तेरी जितनी महत्ता की, महात्म्यवाली महाप्रभु वह चीज है, वह चीज तो शुद्धनय के आधीन प्रगट होती है, अर्थात् जो श्रुतज्ञान का निश्चय अंश है... श्रुतज्ञान के तो दो भेद हैं — निश्चय और व्यवहारनय। समझ में आया? श्रुतज्ञान के दो भेद हैं। श्रुत तो प्रमाण है, उसके दो भेद हैं — निश्चय और व्यवहार। उनमें से जो एक निश्चय अंश है, वह स्वभाव तक जाता है। आहाहा! समझ में आया?

आज है न (१५ अगस्त) स्वतन्त्रता मिली... स्वतन्त्रता धूल में भी नहीं है! स्वतन्त्र तो भगवान त्रिलोकीनाथ। आहाहा! जिसकी पर्याय की अस्ति है तो द्रव्य की अस्ति है — ऐसा भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी जो वस्तु है, वह कहते हैं कि **शुद्धनय के आधीन आत्मज्योति....** आत्मज्योति अर्थात् सहजात्म पूर्णानन्द पूर्णस्वरूप, पर्याय से रहित पर्याय में, पर्याय से रहित, पर्याय में आत्मज्योति का भान होता है। समझ में आया? श्लोक अमृतचन्द्राचार्य का है, गजब है। सन्तों-दिगम्बर सन्तों की वाणी! आहाहा! इस शुद्धनय के आधीन वह (आत्मज्योति) प्रगट होती है। प्रगट होती है अर्थात् वह है तो है, वह कहाँ प्रगट होती है? वह तो व्यक्त है। वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उसे अव्यक्त कहो। समयसार ४९ गाथा में (ऐसा कहा है)। छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है — व्यक्त है, उससे भगवान आत्मा भिन्न अव्यक्त है। ४९ गाथा! अव्यक्त के छह बोल हैं न, उसका पहला बोल — छह द्रव्यस्वरूप लोक एक पर्याय में जानने में आता है — ऐसा पर्याय का ज्ञेय है और वह व्यक्त है अर्थात् पर्याय में प्रगट है। उससे भगवान आत्मा भिन्न अव्यक्त है। इस अपेक्षा से अव्यक्त है, हाँ! पर्याय में आया नहीं न? समझ में आया?

एक-एक बोल की बहुत कीमत है। यह कोई वार्ता — कथा नहीं है। आहाहा! यह तो भागवत कथा है। नियमसार में अन्तिम गाथा में आया है, नियमसार! यह तो भागवत शास्त्र है। लोग कहते हैं वह भागवत नहीं। आहाहा! भगवान परमात्मा का स्वरूप

कहनेवाला शास्त्र... भगवान सर्वज्ञ ने ऐसा कहा, ओहो! प्रभु! तुम नौ तत्त्व में आने पर भी, पर्याय में पर्याय — ऐसी होने पर भी, जो त्रिकाली चीज ध्रुव है, जो सम्यग्दर्शन का विषय है, शुद्धनय के आधीन जो प्रगट ख्याल में आता है, वह चीज नौ तत्त्व में नहीं आती। आहाहा! समझ में आया? जैसे अग्नि — काष्ठ की अग्नि, छाना (कण्डे) की अग्नि छाना कहते हैं न? छाना की अग्नि, पत्तों की अग्नि, पत्ते-तृण की अग्नि — ऐसा कहा जाता है। वह भेद से (कहा जाता है)। वरना तो अग्नि तो उष्णस्वरूप ही त्रिकाली है। त्रिकाल है, समझ में आया? यह दृष्टान्त कलश-टीका में दिया है। यह श्लोक है न, कलश-टीका है न, राजमलजी की; राजमलजी की कलश-टीका है। अलौकिक राजमल टीका! भले जगमोहनलालजी ने किया है, परन्तु प्रभु! क्या कहें? वास्तविक दृष्टि का विषय वहाँ बदल दिया है। व्यवहार से निश्चय प्राप्त होता है — ऐसा वहाँ ले लिया है (परन्तु) ऐसा नहीं है, प्रभु! समझ में आया? आया है न? पण्डितजी को पता है न? पता है। पण्डित ने पढ़ा है और लिखा है, उसमें पहले। आहाहा!

प्रभु! क्या कहें, कहते हैं। इस पर्याय के आधीन द्रव्य प्रगट होता है — ऐसा नहीं है। नव तत्त्व का विकल्प है और भेद है, उसके आधीन आत्मा का भान होता है — ऐसा नहीं है। आहाहा! और जो व्यवहार, दया, दान, व्रत आदि देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नवतत्त्व की (श्रद्धा) व्यवहाररत्नत्रय.... यह व्यवहाररत्नत्रय तो एक राग है... समझ में आया? इस राग में आत्मा आया ही नहीं और राग से आत्मा जानने में आता ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : राग से प्राप्त हो जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल प्राप्त नहीं हो जाता। आहाहा! पण्डितजी स्पष्टीकरण कराते हैं। तीन काल-तीन लोक में व्यवहार का विकल्प चाहे जितना हो, उससे आत्मा की प्राप्ति हो — निश्चय की (ऐसा) तीन काल-तीन लोक में नहीं है।

श्रोता : ऐसा आप कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा शास्त्र का दृष्टान्त तो देते हैं न, आधार तो देते हैं। आहाहा! सेठ स्पष्ट कराते हैं।

कहा नहीं ? कि संवर-निर्जरा की पर्याय भी जिस समय में जिस समय उत्पन्न होनेवाली है, उस समय होगी। ज्ञेय का स्वरूप ऐसा बताया है। प्रवचनसार, ज्ञेय अधिकार, सम्यग्दर्शन अधिकार.... तो ज्ञेय का स्वरूप ऐसा बताया... भगवान कहते हैं कि जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है, वह उसका जन्मकाल है, वह उत्पत्ति का काल है। किसी निमित्त से होता है या द्रव्य-गुण से होता है — ऐसा भी नहीं है। आहाहा! एक-एक समय की पर्याय, यहाँ जीव की लें... छहों द्रव्यों में है तो छहों द्रव्यों में, वहाँ ज्ञेय अधिकार है, छहों द्रव्य जो ज्ञेय हैं, वे जिस समय में जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है, वह क्रमबद्ध, क्रमसर, उस समय में वह पर्याय अपने से उत्पन्न होती है — षट्कारक से उत्पन्न होती है; आहाहा! चाहे तो मलिन पर्याय उत्पन्न हो या निर्मल पर्याय उत्पन्न हो परन्तु वह पर्याय अपने षट्कारक से (उत्पन्न होती है) कर्ता, कर्म, क्रिया, षट्कारक पर्याय, हाँ! द्रव्य-गुण एक ओर रह गये। षट्कारक से पर्याय परिणमित होती है। आहाहा! ऐसे सम्यग्दर्शन की पर्याय भी अपने षट्कारक से उत्पन्न हुई है परन्तु उसका — श्रद्धा का लक्ष्य द्रव्य पर गया है तो द्रव्य की श्रद्धा की — ऐसा कहने में आता है। आहाहा! बापू! यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर का मार्ग — पंथ है, यह कोई पामर का पंथ नहीं है। कहते हैं कि यह आत्मा वस्तु है, यह पूर्ण जिनस्वरूपी है, यह परमात्मस्वरूप ही आत्मा है, पर्याय की बात नहीं; वस्तु... वस्तु तो परमात्मस्वरूप ही है, वस्तु तो जिनस्वरूप ही है। समझ में आया ?

वह कहा था न, कल नहीं ? 'घट घट अन्तर जिन बसै, घट घट अन्तर जैन' आहाहा! वह जिनस्वरूप ही प्रभु आत्मा है, उसका त्रिकालस्वरूप जिनस्वरूप ही है, आहाहा! वह जिनस्वरूपी वस्तु पर्याय में संवर-निर्जरा और मोक्ष आदि शुद्धपर्याय और आस्रव, पुण्य-पाप और बंध यह अशुद्धपर्याय, यह होने पर भी **नवतत्त्वगतत्वेपि** पर्याय में होने पर भी, पर्याय में आया नहीं। आहाहा! ओहोहो! कहो सेठ! पैसे में यहाँ नहीं सेठाई नहीं करना यहाँ। आहाहा!

यह भिन्न आत्मज्योति यह, यह आत्मज्योति, त्रिकाली वस्तु यह शुद्धनय के आधीन अन्तर ज्ञान की पर्याय उस ओर गयी तो उसके आधीन यह है — ऐसा प्रगट हुआ है।

आहाहा! उस व्यवहार के आधीन से निश्चय प्रगट होता है — ऐसा यहाँ है ही नहीं। वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? क्या करे! प्रभु का विरह पड़ा, तीन लोक के नाथ रह गये वहाँ, केवलज्ञान की उत्पत्ति का अभाव हुआ, इस समय इस तत्त्व का बोध कराना और करना बहुत अलौकिक बात है, भाई! आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

शुद्धनय के आधीन **आयत्तं** अर्थात् की जो ज्ञान का अंश अन्तर द्रव्यस्वभाव सन्मुख गया, उसको यह आत्मा है — नित्यानन्द प्रभु, सहजात्मस्वरूप, जिनस्वरूप — ऐसा पर्याय में भान हुआ तो उसको प्रगट हुआ। ग्यारहवीं गाथा में तो कहा है, ग्यारहवीं गाथा है न? **व्यवहारोअभूयत्थो** वहाँ टीका में ऐसा लिया है — ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, वह ज्ञायक अविर्भाव हुआ ऐसा पाठ है टीका में — उसका अर्थ क्या? जो ज्ञायकभाव वस्तु है, वह तिरोभाव हो गयी है, ऐसा कहा। ज्ञायकभाव तो कभी तिरोभाव होता नहीं परन्तु जिसको पता नहीं है तो उसको ज्ञायकभाव है नहीं; अतः तिरोभाव हो गया है (ऐसा कहते हैं)। है तो सही। पाठ ऐसा है टीका में कि ज्ञायकभाव तिरोभाव हो गया है। अरे प्रभु! ज्ञायकभाव तिरोभाव? ज्ञायकभाव तो त्रिकाल एकरूप ही है। तिरोभाव और आविर्भाव उसको लागू पड़ते ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? भगवान अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि (ज्ञायकभाव) तिरोभूत हो गया है — उसका अर्थ? राग और पुण्य तथा पर्यायबुद्धि में, है वह उसको ढँक गया है। आहा...हा...! द्रव्यबुद्धिवाले को (ज्ञायकभाव) है — ऐसा भान हुआ तो उसको ज्ञायकभाव आविर्भाव हुआ — ऐसा कहने में आता है। ज्ञायकभाव तो है वह है। समझ में आया? यह तो प्रभु का मार्ग है, बापू! आहा...हा...! यह कोई पण्डिताई का विषय नहीं है यह। हैं? हमारे पण्डितजी इंकार करते हैं, बात सत्य है। ऐसा है भगवान। आहा...हा...!

है वह चीज त्रिकाल अनन्त आनन्द का पुंज और अनन्त... अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु सामान्य ध्रुव, वह आत्मज्योति शुद्धनय के आधीन प्रगट होती है अर्थात् है तो है ही; त्रिकाल प्रगट ही है, व्यक्त ही है... आहाहा! परन्तु जब दृष्टि शुद्धनय की वहाँ गयी, तब उसको यह है — ऐसा भान हुआ। है वह तो है ही। समझ में आया? भाई! यह तो भगवान की कथा है, यह कोई साधारण वार्ता-कथा नहीं। प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं है, नाथ!

आहा...हा... ! तेरी शक्ति — एक-एक (शक्ति) में पूर्ण प्रभुता पड़ी है। ऐसी अनन्त शक्ति प्रभुता से भरी पड़ी है। आहाहा! ऐसी अनन्त शक्तियों का एकरूप सागर भगवान द्रव्य... आहाहा! वह अन्तर का विषय निश्चयनय है, वहाँ गये तो उसके आधीन यह है — ऐसा ख्याल में आया, तो प्रगट हुआ — ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

कि जो **नव तत्त्व में प्राप्त होने पर भी** जैसे वह अग्नि काष्ठ की, कण्डे की है, अग्निरूप से देखो तो अग्नि, अग्निरूप से है। वह काष्ठ के आकार अग्नि हुई, वह तो पर्याय हुई। अग्निपना जो है, वह तो कायम अग्निरूप है। आहाहा! समझ में आया ? भाई! यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव द्वारा कथित तत्त्व... अरे! यह तो कौन है भाई! आहाहा! भगवान आत्मा, जिसकी एक समय की पर्याय में छह द्रव्य जानने में आते हैं, इतनी तो पर्याय की ताकत है। क्या कहते हैं ? एक समय की पर्याय माने, तब तो छह द्रव्य माने तब कहने में आते हैं। छह द्रव्य माने नहीं और पर्याय को माने नहीं तो उसने छह द्रव्य को नहीं माना और पर्याय को नहीं माना। आहाहा! एक समय की पर्याय में... कलश-टीका में बहुत लिया है। जिसमें छह द्रव्य हैं.... छह द्रव्य में तो अनन्त सिद्ध हैं, केवली हैं, तीर्थंकर हैं — ये सब छह द्रव्य में आ गये। आहाहा! जिसमें एक पर्याय में छह द्रव्य को जानने की ताकत है तो इतनी पर्याय को माने तो छह द्रव्य को माना और छह द्रव्य माने — अनन्त सिद्ध या पंच परमेष्ठी आदि तो पर्याय माने, तथापि उस पर्याय में द्रव्य नहीं आया। आहाहा! स्वद्रव्य नहीं आया। आहाहा! समझ में आया ?

वह पर्याय जब स्वसन्मुख झुकती है, तब शुद्धनय का विषय जो द्रव्य है, उसके आधीन हो गयी, यह दृष्टि हो गयी। ओहो...हो... ! यह तो अनन्त चैतन्यरत्नाकर अनन्त आनन्द का — शान्ति का सागर भगवान आत्मा है — ऐसा ज्ञान की पर्याय में उस सन्मुख झुकने से ख्याल में आया, तो वह प्रगट हुआ — ऐसा कहने में आता है। आहाहा! अरे...रे... ! ऐसा काम भाई! बेचारी महिलाओं को तो पूरे दिन पकाना और यह करना और उसमें यह बातें! क्या कहते हैं यह ? बच्चों को सम्हालना, छोटे को बड़ा करना, यह छोटे बेचारे... आहाहा! भाई! उसमें भी आत्मा काम कर सकता है। आहाहा! वह योगसार में नहीं कहा ? गृहस्थाश्रम में काम करने पर भी हेयाहेय का ज्ञान.... योगसार में आता है! योगीन्द्रदेव!

गृहस्थाश्रम में रहने पर भी हेयाहेय का ज्ञान — रागादि हेय है और स्वरूप उपादेय है, उसका भान है। आहाहा! आहा...! समझ में आया? 'गृहकार्य करते हुए...' ऐसे दो श्लोक हैं। योगसार, योगीन्द्रदेव! हेयाहेय का ज्ञान.... आहाहा! भाई! उसको भी पूर्णानन्द का नाथ अस्तित्वयुत चीज, अस्तित्ववाली चीज, है — ऐसा स्वरूप जिसका त्रिकाल। आहाहा! उसके द्रव्य की दृष्टि हुई तो दृष्टि में और ज्ञान की पर्याय में उसका भान आता है कि यह है। भले चाहे तो उस पर्याय में द्रव्य नहीं आया परन्तु पर्याय में द्रव्य का जितना सामर्थ्य है, उसके ज्ञान में उसका बोध आ गया। समझ में आया? आहाहा! ऐसे श्रद्धा की पर्याय में पूर्णानन्द का नाथ नहीं आया, परन्तु वह पूर्णानन्दस्वरूप है, उसकी प्रतीति में इतनी सामर्थ्य आ गयी। आहाहा! तथापि वह पर्याय, द्रव्यरूप नहीं हुई और वह द्रव्य है, वह पर्यायरूप नहीं हुआ। आहाहा! देखो तो सही तत्त्व प्रभु का! यह थोड़ा-बहुत पढ़े तो ऐसा हो जाता है कि मानो हम समझ गये। बापू! मार्ग अलग है, भाई! आहाहा!

अपने एकत्व को नहीं छोड़ती। है? जो एकरूप चीज है, वह नवतत्त्व की पर्याय / परिणति भले हो परन्तु एकपना चिदानन्द का नहीं छोड़ती दृष्टि। आहाहा! मोक्ष की, केवलज्ञान की पर्याय हो... प्रभु! आहाहा! अक्षर के अनन्तवें भाग निगोद में ज्ञान की पर्याय हो तो भी उसका ज्ञायकभाव तो वहाँ परिपूर्ण ही है और केवलज्ञान की पर्याय जो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण की पर्याय प्रगट हुई, अनन्त केवली-सिद्ध केवलज्ञान में जानने में आये, वह पर्याय प्रगट हुई (तो भी) उस समय में तो ज्ञायकभाव तो पूर्ण है इतना ही है। आहाहा! यह तो अगम्यगम्य की बातें हैं प्रभु! इतनी ताकतवाली पर्याय बाहर आयी तो उसमें कोई शक्ति अन्दर में कम हुई है या नहीं? नहीं; पूर्णानन्द में कुछ घट-बढ़ नहीं है। वह एकत्व को नहीं छोड़ता है — इतना अर्थ हुआ। समझ में आया? भाषा तो सादी है; भाव तो प्रभु है वह है। आहाहा!

भावार्थ - नवतत्त्व में प्राप्त हुआ आत्मा... पर्यायपने परिणमन में दिखता है, अनेकरूप दिखाई देता है। **यदि उसका भिन्नस्वरूप विचार किया जाये।** आहाहा! **तो वह अपनी चैतन्य चमत्कार मात्र ज्योति को नहीं छोड़ता है।** आहाहा! चैतन्य-ज्योति ज्ञायकभाव का पूर्ण रूप, वह उसने कभी नहीं छोड़ा। आहाहा! समझ में आया? बन्धभाव

की पर्याय में आया तो भी ज्ञायकभाव कभी नहीं छूटा। आहाहा! और केवलज्ञान की पर्याय, मुक्तपर्याय है तो भी ज्ञायकभाव में कभी कमी नहीं हुई, (वह) कम नहीं हुआ, वह तो इतना का इतना रहा है। वह वस्तु, बापू! वह स्वभाव ऐसा है। क्षेत्र का स्वभाव देखो न! कहीं-कहीं अन्त नहीं है। क्या है यह ? आहाहा! दसों ही दिशाओं में कहीं अन्त नहीं है। क्या है यह ? तो वह जो क्षेत्र का कहीं अन्त नहीं — ऐसा तर्क से ख्याल में न आवे — ऐसी चीज है। तो भगवान आत्मा ऐसी चीज है कि किसी राग की पर्याय से या पर्यायबुद्धि से ख्याल में आवे — ऐसी चीज नहीं है, भाई! आहाहा! समझ में आया ? ऐसा है। ऐसा ही सत्य है; त्रिकाल सत्य ऐसा है।

यहाँ यह कहा न, **अपनी चैतन्य-चमत्कारमात्र ज्योति को नहीं छोड़ता।** यह तो जितना स्वभाव सामर्थ्य है, चाहे तो केवलज्ञान में आओ या चाहे तो अक्षर के अनन्तवें भाग में निगोद में पर्याय आओ, वस्तु तो है वही पूर्ण है। आहा! यह क्या है बापू ? यह कोई स्वभाव की तरह क्षेत्र का कहीं अन्त नहीं, ऐसा क्षेत्र का कोई स्वभाव... भाव का अन्त नहीं अनन्त गुण की संख्या का — गुण अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... वहाँ पूरा हो गया। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा जो पूर्ण स्वरूप है, वह कभी एकत्वपने को नहीं छोड़ता। आहाहा! नरक और निगोद पर्याय में रहा होने पर भी उसको एकत्वपना नहीं छूटा है। आहाहा! क्या है यह ? ख्याल में तो ऐसे आये कि केवलज्ञान हो तो पर्याय इतनी सामर्थ्यवाली आयी तो कोई गुण में कमी हुई या नहीं ? भाई! जैसे उस क्षेत्र का स्वभाव कहाँ पूर्ण हुआ ? काल का प्रवाह कहाँ से शुरु हुआ ? द्रव्य की पर्याय कहाँ से शुरु हुई ? आहाहा! यह कोई अगम्य स्वभाव ही वस्तु है, बापू! आहाहा! समझ में आया ? ऐसे भगवान आत्मा, केवलज्ञान की पर्याय हो या मिथ्यात्व की पर्याय हो या सम्यग्दर्शन की पर्याय हो; वस्तु तो ज्ञायकभाव जो है, वह पूर्ण-पूर्ण अन्दर पड़ा है। समझ में आया ? यह तो उपोद्घात पूरा हुआ। अब गाथा।

गाथा १३

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ १३॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आस्रवसंवरनिर्जरा बन्धो मोक्षश्च सम्यक्त्वम्॥

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं सम्पद्यन्त एव, अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रव–संवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोऽनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणाया: सम्पद्यमानत्वात्। तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रव:, संवार्य–संवारकोभयं संवर:, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बन्ध्यबन्धकोभयं: बन्ध:, मोच्य–मोचकोभयं मोक्ष:, स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षानुपपत्ते:। तदुभयं च जीवाजीवाविति। बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबन्धपर्याय–मुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूय–मानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। तथान्तर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीव:, जीवस्य विकारहेतुरजीव:। केवलजीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणा:, केवलाजीवविकारहेतुव: पुण्यपापास्रव–संवरनिर्जराबन्धमोक्षा इति। नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैक–द्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलन्तमेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थ–

नयेनैको जीव एव प्रद्योतते। एवमसावेकत्वेन द्योतमान: शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव। या त्वनुभूति: सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव। इति समस्त निरवद्यम्।

इस प्रकार ही शुद्धनय से जानना सो सम्यक्त्व है, यह सूत्रकार इस गाथा में कहते हैं :—

भूतार्थ से जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रु निर्जरा।
आस्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना॥

गाथार्थ : [भूतार्थेन अभिगताः] भूतार्थ नय से ज्ञात [जीवाजीवौ] जीव, अजीव [च] और [पुण्यपापं] पुण्य, पाप [च] तथा [आस्रवसंवर निर्जराः] आस्रव, संवर, निर्जरा [बंधः] बन्ध [च] और [मोक्षः] मोक्ष [सम्यक्त्वम्] — यह नव तत्त्व सम्यक्त्व है।

टीका : यह जीवादि नव तत्त्व भूतार्थनय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं (— यह नियम कहा); क्योंकि तीर्थ की (व्यवहार धर्म की) प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नय से कहा जाता है ऐसे नवतत्त्व — जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष हैं — उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनयरूप से स्थापित आत्मा की अनुभूति — जिसका लक्षण आत्मख्याति है — वह प्राप्त होती है (शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है।) वहाँ विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला — दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं, आस्रव होने योग्य और आस्रव करनेवाला — दोनों आस्रव हैं, संवररूप होने योग्य (संवार्य) और संवर करनेवाला (संवारक) — दोनों संवर हैं, निर्जरा होने के योग्य और निर्जरा करनेवाला — दोनों निर्जरा हैं, बँधने के योग्य और बन्धन करनेवाला — दोनों बन्ध हैं, और मोक्ष होने योग्य तथा मोक्ष करनेवाला — दोनों मोक्ष हैं; क्योंकि एक के ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती। वे दोनों जीव और अजीव हैं (अर्थात् उन दो में से एक जीव है और दूसरा अजीव।)

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाये तो — जीव-पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर यह नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और

एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं; असत्यार्थ हैं; (वे जीव के एकाकार स्वरूप में नहीं हैं;) इसलिए इन नव तत्त्वों में भूतार्थ नय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इसी प्रकार अन्तर्दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायक भाव जीव है और जीव के विकार का हेतु अजीव है; और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष जिनके लक्षण हैं — ऐसे केवल जीव के विकार हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष — ये विकार हेतु केवल अजीव हैं। ऐसे यह नव तत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर, स्वयं और पर जिनके कारण हैं ऐसे एक द्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने पर भूतार्थ हैं और सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं — असत्यार्थ हैं। इसलिए इन तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इस प्रकार यह एकत्वरूप से प्रकाशित होता हुआ शुद्धनयरूप से अनुभव किया जाता है। और जो यह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्मा की पहिचान) ही है, और जो आत्मख्याति है सो सम्यग्दर्शन ही है। इस प्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है — बाधा रहित है।

भावार्थ : इन नव तत्त्वों में, शुद्धनय से देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य-चमत्कार मात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न नवतत्त्व कुछ भी दिखाई नहीं देते। जब तक इस प्रकार जीव तत्त्व की जानकारी जीव को नहीं है, तब तक वह व्यवहारदृष्टि है, भिन्न-भिन्न नवतत्त्वों को मानता है। जीव पुद्गल की बन्ध-पर्यायरूप दृष्टि से यह पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं; किन्तु जब शुद्धनय से जीव-पुद्गल का निज स्वरूप भिन्न-भिन्न देखा जाये तब वे पुण्य, पापादि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं हैं; वे निमित्त-नैमित्तिक भाव से हुए थे इसलिए जब वह निमित्त-नैमित्तिकभाव मिट गया तब जीव, पुद्गल भिन्न-भिन्न होने से अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नहीं हो सकती। वस्तु तो द्रव्य है, और द्रव्य का निजभाव द्रव्य के साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव का अभाव ही होता है, इसलिए शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। जब तक भिन्न-भिन्न नव पदार्थों को जाने, और शुद्धनय से आत्मा को न जाने तब तक पर्यायबुद्धि है।

गाथा १३ पर प्रवचन

अब, गाथा १३।

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ १३॥

भूतार्थ से जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रु निर्जरा।
आस्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना॥

इसका गाथार्थ लेते हैं। यह तो उन्नीसवीं बार चलता है। समयसार उन्नीसवीं बार सभा में चलता है। पण्डितजी! समयसार अठारह बार पहले से ठेठ पूरा सभा में चल गया है। यह उन्नीसवीं बार... एक और नौ। आहाहा!

श्रोता : एक वह द्रव्य तथा नौ वह तत्त्व।

पूज्य गुरुदेवश्री : हैं? वह पर्याय है। द्रव्य तो है वह है। आहा...हा...! सामान्य (लोगों) को तो ऐसा लगे कि इस क्षेत्र का अन्त कहीं नहीं? कहीं होगा नहीं? क्या? पीछे क्या है, क्या है, सुन तो सही। ऐसे भगवान की ज्ञान पर्याय उत्पन्न हुई तो भी स्वभाव में बिल्कुल अपूर्णता — कमी हुई (नहीं)। पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण स्वरूप से भरा पड़ा है। प्रभु! इस स्वभाव की बातें बहुत सूक्ष्म हैं। आहा...हा...! बेचारे साधारण प्राणी कहते हैं न? यह ईश्वर ने किया, क्योंकि यह बात उन्हें जँची नहीं है, है वह है — द्रव्य है, पर्याय है, वह भी अनादि है। आहाहा! और सिद्ध भी अनादि है — ऐसा नहीं कि संसार पहले और पीछे सिद्ध हुए। यह क्या है? आहाहा! संसार भी अनादि है और सिद्ध भी अनादि है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे भगवान आत्मा चाहे जितनी बन्धपर्याय में — नास्तिक की पर्याय मिथ्यात्व की हुई तो ज्ञायकभाव तो जैसा है वैसा ही है। आहाहा! वह भूतार्थनय से ज्ञात, है?

गाथार्थ : **जीव, अजीव** जीव का अर्थ यहाँ वह त्रिकाली नहीं लेना, उसकी एक समय की पर्याय (लेना)। नौ तत्त्व में से भिन्न बताना है न? तो जीव से भी जीव भिन्न है, तो जीव की एक समय की पर्याय से भिन्न हुआ। आहाहा! ज्ञानचन्दजी! आहाहा! नौ लेना

है न ? तो नौ में जीव द्रव्य पूरा आ जावे, तब तो नौ पर्याय होती नहीं, एक समय की पर्याय जो जीव की है, उसको यहाँ नौ में जीव कहा है। **अजीव....** अजीव तो पर्याय में आता ही नहीं न, अजीवरूप पर्याय होती नहीं परन्तु अजीव का ख्याल आया कि यह 'अजीव है', उस ज्ञान की पर्याय को यहाँ अजीव कहा है। अजीव के ज्ञान की पर्याय को 'अजीव' कहा है। समझ में आया ? आहाहा ! ऐसा मार्ग ! और **पुण्य-पाप....** शुभ-अशुभभाव पर्याय में होता है न ? और **आस्रव** वह पुण्य-पाप दोनों मिलकर आस्रव है। तत्त्वार्थसूत्र में सात लिये हैं, यहाँ नौ लिये हैं। तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव कहकर पुण्य-पाप को उसमें डालकर आस्रव कहा। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। यहाँ स्थूल बात स्पष्ट कर दी है। आस्रव में दो भाग हैं, पुण्य और पाप दोनों ही आस्रव हैं। आहाहा ! दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे पुण्यतत्त्व हैं। उस पुण्यतत्त्व के काल में भी भगवान तो ज्ञायकतत्त्व अत्यन्त भिन्न है। पापतत्त्व की पर्याय के काल में भी भगवान तो ज्ञायकतत्त्व अत्यन्त भिन्न है। आस्रवतत्त्व की पर्याय के काल में भी भगवान तो जितना है, उतना ही है। आहाहा ! है ? आस्रव। **संवर...** संवर सच्चा लेना, हाँ ! पहले नौ तत्त्व का जो अनादि का परिणमन है, वह मिथ्यात्व का है। अनादि नौ तत्त्व, वह आया है कलश में कि नौ तत्त्वरूप परिणमन मिथ्यात्वभाव है। उस मिथ्यात्वभाव में यह संवर, निर्जरा, मोक्ष शुद्ध है, वह नहीं लेना। समझ में आया ? यहाँ तो वह भी लेना। क्या कहा ? समझ में आया ? पहले आ गया न ? नव तत्त्व का अपने कलश में लिया है। कलश में लिया है न ? छठवें कलश में, देखो !

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य-पाप का अनादि बन्ध सम्बन्ध को छोड़कर संसार अवस्था में जीवद्रव्य नवतत्त्वरूप परिणमा है। वह तो विभाव परिणति है, नवतत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है। इन नौ में संवर-निर्जरा शुद्ध, वह नहीं लेना वहाँ। द्रव्य-संवर, द्रव्य-निर्जरा और द्रव्य-मोक्ष अर्थात् बन्ध का अभाव, उसको मोक्ष गिन करके नौ तत्त्व लिया है। आहाहा ! क्योंकि नौ तत्त्व का अनुभव तो मिथ्यात्व कहा, तो संवर-निर्जरा हो तो मिथ्यात्व कहाँ से आया ? समझ में आया ? आहाहा !

यहाँ जो नौ तत्त्व है, उसमें तो संवर शुद्ध है, निर्जरा शुद्ध है, मोक्षतत्त्व भी शुद्ध पर्याय है। आस्रव-बन्ध वह अशुद्ध तत्त्व-पर्याय है परन्तु उन नौ में वस्तु जो त्रिकाल चीज है, वह नौ से भिन्न है। आहाहा! ऐसा है। अरे! सन्तों ने ऐसी सरल भाषा — लोगों को समझ में आये ऐसी शैली से (प्रसिद्ध की है)।

श्रोता : गम्भीर तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गम्भीर तो कोई भी चीज ख्याल में लो तो तुम्हें ऐसा लगे कि इस क्षेत्र का अन्त क्या? क्या? मैंने एक बार (संवत्) ९१ की साल में नास्तिक को कहा, (वह) व्याख्यान में आता था। महेरवानजी दीवान था, जामनगर का पारसी था, ९१-९१। कितने वर्ष हुए? ४३ वर्ष। व्याख्यान में (समयसार की) १००वीं गाथा चलती थी। समयसार की १००वीं (गाथा चलती थी)। सभा बड़ी। यहाँ तो प्रसिद्धि बड़ी है न पहले से। आहाहा! तो महेरवानजी दीवान था, बहुत ऐसा था कि जिसके दरबार है, उसका एक हजार का वेतन था, उस समय तो बारह सौ कर दिया, दो सौ बड़ा दिया तो उसे पता पड़ा। किसने यह बारह सौ चढ़ाया? डाह्याभाई! वह दीवान कहता है, यह महीने का एक हजार मेरा वेतन है, बारह सौ किसने लिखा? साहब! दरबार ने लिखा। दरबार ने क्यों लिखा? क्या दरबार का कोई काम आवे तो मेरी सिफारिश में उसका ढीला कर दूँ, ऐसा है? केस-केस, राज्य का केस हो दो सौ मुझे वेतन विशेष मिला तो उसका केस में जिता दूँ, इसलिए दो सौ बढ़ाया है? छोड़ दी नौकरी, नहीं करनी है — ऐसा पारसी था। तुम राजा ने दो सौ (रुपये) वेतन बढ़ा दिया तो तुम्हारे राज्य का काम आवे तो मैं कानूनन नहीं करूँ, फेरफार कर दूँ, इसके लिये हमें दो सौ रुपये विशेष वेतन देते हो — ऐसा हम नहीं लेते। तो फिर उसका लड़का था, तो हम विहार करके आये... लड़का भी आया और एक बड़ा डॉक्टर था, वह भी आया। ढाई हजार का वेतन था। कहा, भाई सुनो! तुम कोई न मानते हो भले, परन्तु मैं इतना कहता हूँ यह क्षेत्र है न क्षेत्र, तो इस क्षेत्र की पूर्णता कहाँ आयी? क्या है? कभी विचार किया है कहा? नास्तिक भी यह विचारेगा या नहीं? अनन्त को, पाँच को पाँच द्वारा पाँच बार गुणा करो तो उसे वर्ग कहा जाता है। वैसे ही अनन्त में अनन्त बार ऐसे अनन्त को अनन्त एक बार गुणा करने से जो आया उसे फिर

अनन्त बार उसके पीछे तीसरी बार अनन्त बार — ऐसे अनन्त को अनन्त बार गुणा करो तो अनन्त वर्ग होता है तो उससे भी क्षेत्र का पार नहीं होता है। क्या है यह ? ऐसे ख्याल में लिये बिना मानना ऐसा नहीं।

जिसका अन्त नहीं — ऐसी कोई चीज है तो उसके जाननेवाले का क्या कहना, प्रभु! उसकी अस्ति की उसे खबर नहीं है। अन्तरहित चीज है, उसको पता है ? आहाहा! ज्ञान की पर्याय में यहाँ उसका पता है। वह अन्तरहित चीज है, यह ज्ञान जानता है। उस ज्ञान की पर्याय और उसका गुण, बापू! वह क्या चीज है ?! आहाहा! भले एक गुण हो परन्तु उस गुण की अचिन्त्य अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... सामर्थ्य है। आहाहा! ऐसे-ऐसे अनन्त गुण में प्रत्येक गुण का रूप और अनन्त सामर्थ्य है — ऐसा ज्ञायकभाव त्रिकाल एकरूप रहता है। समझ में आया ? आहाहा! यह संवर, निर्जरा, बंध है न ? मोक्ष, वह सब नौ तत्त्व समकित है अर्थात् नौ तत्त्व व्यवहार से कहे थे उनमें अकेला आत्मा निकालना, उसका नाम समकित है।

(विशेष कहेंगे।) (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५९ गाथा-१३ दिनाङ्क १६-०८-१९७८ बुधवार
श्रावण शुक्ला १३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार! १३ वीं गाथा, टीका है न? **यह जीवादि नव तत्त्व....** जीवादि नव तत्त्व का अर्थ है कि जीव की एक समय की पर्याय और अजीव का ज्ञान और पर्याय, आस्रव की उत्पत्ति — पुण्य-पाप की, वह पर्याय; बन्ध-राग में रूक जाना, वह बन्धपर्याय और संवर-शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से जो राग के अभावरूप संवररूप पर्याय, वह भी पर्याय है और कर्म की शुद्धता होकर अन्तर में शुद्धता की (पर्याय) प्रगट होना... संवर में जो शुद्धता है, उससे शुद्धि की वृद्धि हो ऐसी पर्याय को निर्जरा कहते हैं और राग से तथा सर्व से मुक्त होकर अपने में पूर्ण आनन्द की, पूर्ण ज्ञान की पर्याय का होना, वह भी नव तत्त्व में एक पर्याय है। ये जीवादि नव तत्त्व.... सूक्ष्म बात है। **भूतार्थनय से जाने हुए....** इसका अर्थ यह है कि नौ की जो पर्याय है, उसकी

दृष्टि छोड़कर, त्रिकाली ज्ञायकभाव जो सत्य, ध्रुव, चैतन्यप्रभु (है), उसके आश्रय से — इस भूतार्थनय से इस त्रिकाली ज्ञायकभाव के आश्रय से उत्पन्न होना, वह भूतार्थनय से जाना हुआ कहा जाता है। आहाहा!

भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व में पर्याय का भेद है, उसका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली ज्ञायकभाव ध्रुव है, भूतार्थ-विद्यमान पदार्थ है, परिपूर्ण आनन्द और परिपूर्ण अतीन्द्रियज्ञान से भरा हुआ प्रभु है, जो नवतत्त्व में कभी एक पर्याय में आया नहीं। आहाहा! ऐसा जो भूतार्थ अर्थात् त्रिकाली ज्ञायक शुद्ध चैतन्य, उसकी नय से अर्थात् उसकी दृष्टि से जाने हुए सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

नौ की पर्याय में से लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली ज्ञायकभाव का लक्ष्य करके (जो भाव) उत्पन्न होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। धन्नालालजी! आहाहा! यहाँ से धर्म की पहली सीढ़ी-धर्म की पहली शुरुआत होती है; बाकी पुण्य और दया और दान आदि विकल्प हों, वे कोई धर्म नहीं है। आहाहा! वे कोई सम्यग्दर्शन नहीं है, और वे सम्यग्दर्शन का कारण भी नहीं है। आहाहा! नवतत्त्व की जो पर्याय है... यहाँ जीव की एक समय की पर्याय को 'जीव' तत्त्व में यहाँ नौ में गिनने में आया है। समझ में आया? यह नव पर्याय की योग्यता से पर्याय में होते हैं परन्तु उसमें से नौ प्रकार की पर्याय का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली चैतन्य भगवान भूतार्थ-विद्यमान पदार्थ, ध्रुव, उसके नय से देखने से सम्यग्दर्शन होता है — ऐसा होने पर भी, सम्यग्दर्शन की पर्याय में वह त्रिकालीभाव नहीं आता। क्या कहा? जुगराजजी है? जुगराजजी गये। समझ में आया? नौ की व्याख्या बाद में करेंगे। अभी भी उसमें से पर्याय का लक्ष्य, भेद का लक्ष्य छोड़कर... भेद है... मोक्ष की पर्याय भी है, संवर, निर्जरा की पर्याय भी है, नौ में कितनी अशुद्ध पर्याय है और कितनी शुद्ध है। पुण्य और पाप, आस्रव-बन्ध, वे अशुद्ध हैं और संवर-निर्जरा वह शुद्ध की अपूर्णता है और मोक्ष की पर्याय, शुद्ध की पूर्णता है, परन्तु वह सब पर्याय है। आहाहा!

उसमें से भूतार्थ ज्ञायकप्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द ध्रुव चैतन्य प्रभु, जो कभी आस्रव की और बन्ध की पर्याय में तो आया नहीं परन्तु वह संवर, निर्जरा, और मोक्ष की

पर्याय में भी कभी ज्ञायक नहीं आता। आहाहा! तथापि उसकी दृष्टि करने से पर्याय में सम्यग्दर्शन होता है तो उस सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली है, उसकी श्रद्धा होती है और वर्तमान ज्ञान में त्रिकाली चीज का ज्ञान होता है, तथापि ज्ञान की पर्याय में और श्रद्धान की पर्याय में वह त्रिकाली द्रव्य आता नहीं। आहाहा! सूक्ष्म विषय है। गाथा ऐसी आ गयी न? आहाहा!

जीवादि नव तत्त्व भूतार्थनय से जाने हुए.... आहाहा! सम्पूर्ण एकरूप चीज जो ध्रुव सदृश सामान्य एक अखण्ड त्रिकाली निरावरण अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय जो चीज है, ज्ञान की पर्याय में प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है — ऐसी जो त्रिकाली चीज अविनश्वर - कभी नाशवान् होती नहीं, नाशवान पर्याय में अविनाशी कभी आता नहीं — ऐसा परम पारिणामिकभाव, परम पारिणामिकभाव लक्षण — ऐसा सहज परमात्मतत्त्व, जिसे यहाँ भूतार्थ कहा गया है, वह सहज परमात्मतत्त्व, वह मैं हूँ। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : पर्याय से द्रव्य भिन्न रहता है, यह ठीक से समझ में नहीं आता?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय और द्रव्य तो दो भिन्न ही है। पर्याय में द्रव्य आता नहीं परन्तु पर्याय - सम्यग्दर्शन की पर्याय में द्रव्य आता नहीं परन्तु द्रव्य की जितनी ताकत है, उतनी सामर्थ्य की प्रतीति होती है। जो सामान्य त्रिकाली वस्तु है, उसकी प्रतीति में उसका पूर्ण सामर्थ्य आता है परन्तु वह चीज नहीं आती। अरे! आहाहा!

भाई! यह तो अपूर्व की बात है। अनन्त काल में किया नहीं और वर्तमान में तो गड़बड़ ऐसी हो गयी है कि यह व्रत करो, अपवास करो, प्रतिमा धारण करो, और उससे धर्म हो जायेगा.... सेठ! इस सेठ को बाहर में प्रवर्ति करे तो उससे धर्म हो जायेगा मानो... उसमें तो राग मन्द होता हो तो पुण्य है और पुण्य, वह आत्मा नहीं है। आहाहा! पुण्य के परिणाम के समीप में - अन्तर के समीप में ध्रुव चैतन्य पड़ा है। अरे! संवर-निर्जरा की पर्याय में — एक समय की पर्याय में समीप में जो ध्रुव पड़ा है, उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है — ऐसा है प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं नाथ! आहाहा!

श्रोता : ऐसी बात सुनने को नहीं मिलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं मिलती, भाई! बापू! क्या हो? अरे...रे...! परमात्मा का

विरह पड़ा! भरतक्षेत्र में, सर्वज्ञ परमात्मा रहे नहीं और सर्वज्ञ की पर्याय उत्पन्न होने के योग्य जीव रहे नहीं। आहाहा! इस काल में, प्रभु! सम्यग्दर्शन क्या चीज है और उसका विषय क्या है ? यह अलौकिक बातें हैं, प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि नवतत्त्व की पर्याय में नौ भेद है परन्तु उसमें से अकेला आत्मा त्रिकाली है... आहाहा! वर्तमान पर्याय को, बहिर्लक्ष्य में जो है, उस पर्याय को अन्तर्लक्ष्य में करने से... भूतार्थ अर्थात् त्रिकाली भगवान आत्मा, दृष्टि में-श्रद्धा में और ज्ञान में आता है, उस दृष्टि को सम्यग्दर्शन कहा जाता है। आहाहा! है ?

जीवादि नव तत्त्व पर्याय — भेद; उनमें से भूतार्थनय से एकरूप त्रिकाली को देखने से सम्यग्दर्शन होता है। वह सम्यग्दर्शन 'ही' है — ऐसा शब्द संस्कृत में पड़ा है। सम्यग्दर्शन ही यह है; दूसरा सम्यग्दर्शन है ही नहीं। समझ में आया ? नव तत्त्व के भेद की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है ही नहीं। आहाहा! और नव तत्त्व में जो संवर-निर्जरा है.... आहाहा! उसे निश्चय से तो उसे परद्रव्य कहा गया है, नियमसार में! पर्याय है उसकी निर्मल, वह स्वद्रव्य नहीं; स्वद्रव्य तो उससे भिन्न अखण्डानन्द प्रभु है। आहाहा! ज्ञानचन्दजी! आज पण्डितजी को बुखार आया है, फूलचन्दजी को, आये नहीं बुखार आया है। आहाहा!

प्रभु! तू कितना है अन्दर ? आहाहा! यह तो हम हर समय वह हमारा आकाश का दृष्टान्त देते हैं। आकाश का अन्त कहाँ आया, प्रभु ? लक्ष्य में-विचार में लो कि आकाश... आकाश... आकाश... आकाश... लोक पूरा हो गया। पीछे अलोक में भी आकाश तो है तो वह आकाश कहाँ पूरा हुआ ? है अन्त ? क्या चीज है यह ? आहाहा! इस क्षेत्र का स्वभाव भी जहाँ लक्ष्य में आना महा कठिन.... आकाश पीछे... पीछे... पीछे... पीछे... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... योजन चले जाओ ऐसे के ऐसे लक्ष्य में, तो भी कहीं अन्त नहीं, प्रभु! ऐसा जो आकाश, उसके जो अनन्त प्रदेश, आहाहा! उससे भी भगवान आत्मा में अनन्तगुने गुण हैं। भाई! यह क्या चीज है ? समझ में आया ? क्षेत्र में तो उसका (क्षेत्र) असंख्य प्रदेशी शरीरप्रमाण है परन्तु उसकी जो गुण की संख्या है, प्रभु! गजब बात है नाथ! आहाहा! यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व करते... करते... करते... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त...

अनन्त... अनन्त... अनन्त... तो अनन्त का अन्तिम यह गुण है — ऐसा कुछ है नहीं? क्या चीज है यह? आहाहा! है? ऐसी जो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण की संख्या का एकरूप, वह भूतार्थ है। आहाहा! जिसमें गुण-गुणी का भेद भी नहीं है। समझ में आया?

नव तत्त्व की पर्याय का भेद भी जिसकी दृष्टि में नहीं और अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण हैं और उन गुण का धारक गुणी है — ऐसा भेद भी जिसमें नहीं, वह सम्यग्दर्शन का विषय भूतार्थ त्रिकाल (आत्मा है)। आहाहा! उसकी दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! है? **(- यह नियम कहा);....** यह वस्तु का नियम कहा। आहाहा! भाई! यह शब्द कोई कथा-वार्ता नहीं; यह तो भगवत्स्वरूप की कथा है। आहाहा!

क्योंकि तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये.... तीर्थ की प्रवृत्ति का अर्थ? व्यवहारनय से तीर्थ उत्पन्न होता है — ऐसा यहाँ नहीं है परन्तु जो चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ गुणस्थान आदि होता है, वह पर्याय है, और वह तीर्थस्वरूप है। उस तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए.... पर्याय के भेद हैं, वे तीर्थ अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की हीनाधिक पर्याय के भेद, उस प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थनय से कहा जाता है। नौ, क्योंकि पर्याय न हो तो धर्म भी नहीं, पर्याय न हो तो संवर-निर्जरा और मोक्ष भी नहीं। आहाहा! ये भेद अर्थात् पर्याय तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए.... उससे तीर्थ उत्पन्न होता है — ऐसा यहाँ नहीं है। पर्याय में से तीर्थ उत्पन्न होता है — ऐसा नहीं है। वह पर्याय स्वयं तीर्थरूप है, भेद है। समझ में आया? आहाहा! चौथा गुणस्थान... क्योंकि चौदह गुणस्थान, वे द्रव्य में नहीं और चौदह गुणस्थान वे तीर्थ अर्थात् पर्याय के भेद में है, तो भेद में है — यह बताने के लिए (अर्थात्) तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए, उसका अर्थात् पर्याय के परिणमन का ज्ञान कराने के लिए.... आहाहा! उसमें से ऐसा अर्थ निकालते हैं (कि) व्यवहारनय से तीर्थ प्रवृत्ति में होता है। व्यवहारनय से होता है — ऐसा यहाँ है नहीं, यहाँ तो पर्याय में जो प्रवृत्ति है वह भेद की प्रवृत्ति है, उस तीर्थ की अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की हीनाधिकदशा का प्रवर्तन है, उसे यहाँ तीर्थ की प्रवर्तना कहा जाता है। सूक्ष्म विषय है भाई! उसने कभी निज घर का पता नहीं लिया एक समय की पर्याय के पीछे सारा ध्रुव तल में, तलिया पाताल अन्दर पड़ा है। आहाहा! पाताल कुआँ

होता है न ? वैसे ही एक समय की नौ की पर्याय के पीछे... आहाहा ! पाताल कुएँ की तरह महा ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... (आत्मा पड़ा है) । आहाहा ! उसका आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है । तो कहते हैं नौ कहे क्यों ? कि पर्याय में नौ भेद है और व्यवहारनय का विषय चौथा गुणस्थान, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ... अरे... ! तेरहवाँ, यह सब व्यवहारनय का विषय है । आहाहा ! समझ में आया ?

पर्याय का भेद, वह व्यवहारनय का विषय है और यह तीर्थ उसमें आता है । चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ और दसवाँ, तथा सिद्ध — यह तीर्थ की प्रवृत्ति के परिणमन में ऐसा होता है, यह बतलाने के लिए अभूतार्थनय से व्यवहारनय से नौ तत्त्व कहे हैं । आहाहा ! अरे ! इसकी बात तो देखो, प्रभु ! उसमें समयसार ! आहाहा ! उसमें कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी और अमृतचन्द्राचार्य सन्त उसकी टीका करनेवाले, केवली के मार्गानुसारी हैं । आहाहा ! उसे, यहाँ कहते हैं प्रभु ! एक बार सुन तो सही नाथ ! भगवन्त ! ऐसा कहकर आचार्य बुलाते हैं । आहाहा ! पामर को भगवान रूप से बुलाते हैं । प्रभु ! ऐसा कहते हैं । आहाहा ! तेरी प्रभुता में जो भगवत्स्वरूप अन्दर पड़ा है... आहाहा ! ऐसा त्रिकालीस्वरूप जो भगवत्स्वरूप है । आहाहा ! भग अर्थात् अनन्त आनन्द, ज्ञान आदि, वान स्वरूप है । भगवन्त, भगवानस्वरूप तेरा त्रिकाली (आत्मा है) । आहाहा ! वह जिनस्वरूप है । कहा न ?

घट घट अन्तर जिन वसै, घट घट अन्तर जैन ।
मति मदिरा के पान सो, मतवाला समझे न ॥

अपने अभिप्राय में पागल हुआ । आहाहा ! अपना मत — मदिरा, मतरूपी मदिरा — शराब पी है । वह जिनस्वरूप त्रिकाल है, उसे नहीं जानता । बस, पर्याय में हम हैं — ऐसा मतवाला है । मतवाला - अपने मिथ्या अभिप्राय से त्रिकाली जिनस्वरूप क्या चीज है — यह नहीं जानता । समझ में आया ? वह त्रिकाली जिनस्वरूप है, वह भूतार्थ है । आहाहा ! भाई ! मार्ग कोई अलौकिक है । इस धर्म की प्रवृत्ति के लिए, अर्थात् पर्याय में परिणति के समझाने के लिए... पर्याय में परिणति होती है, उस पर्याय को समझाने के कारण (उसका ज्ञान कराने के लिए) यह तीर्थ की प्रवृत्ति पर्याय... समझ में आया ? सामने पुस्तक है न ? **अभूतार्थनय से कहे जाते हैं,....** यह व्यवहारनय से कहा जाता है ।

नौ प्रकार की पर्याय.... मोक्ष भी व्यवहारनय से कहने में आया है। पर्याय है न? आहाहा! मोक्ष का मार्ग जो संवर-निर्जरा है, वह भी व्यवहारनय से कहने में आया है। आहाहा! है या नहीं उसमें यह?

श्रोता : भेदरूप परिणति के लिए भी व्यवहारनय।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, वह भी परिणति-पर्याय में परिणति होती है, उसे बतलाने के लिए व्यवहारनय से नव तत्त्व कहे हैं।

श्रोता : तीर्थ की प्रवृत्ति अर्थात् धर्म प्रवृत्ति?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म की पर्याय है, वह तीर्थ की प्रवृत्ति है। उससे तीर्थ होता नहीं, व्यवहारनय से तीर्थ प्रगट होता है, वह प्रश्न यहाँ है नहीं। यहाँ तो पर्याय की प्रवृत्ति होती है, वह तीर्थ की प्रवृत्ति-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें, नौवें (गुणस्थान) आदि वह पर्याय होती है। उस पर्याय की प्रवृत्ति, वह तीर्थ प्रवृत्ति है। वह धर्म पर्याय से होता है और पर्याय के आश्रय से यह प्रश्न यहाँ है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह सूक्ष्म बात है। पण्डितों का भी पानी उतर जाये ऐसा है इसमें तो। देवीचन्दजी! केवलज्ञान की पर्याय भी पर्याय है, तो उस पर्याय की प्रवृत्ति होती है, यह बतलाने के लिये नव तत्त्व बतलाये हैं। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : शास्त्र के सब अर्थ बदल दिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य है। उसका जो अर्थ है, वैसा करते हैं। उल्टा अर्थ करते थे तो बदल दिया। आहाहा! प्रभु! वीतराग का मार्ग भाई! क्योंकि वस्तु जो त्रिकाली वस्तु है, जो सम्यग्दर्शन का विषय है, उसमें तो चौदह गुणस्थान भी नहीं है। ज्ञानचन्दजी! उसमें चौदह गुणस्थान ही नहीं, उसमें तो मोक्ष भी नहीं। आहाहा! वह तो त्रिकाली स्वरूप ही है, तो मुक्तस्वरूप ही है। मुक्त पर्याय होती है, वह दूसरी चीज है। यह वस्तु है, वह तो त्रिकाल मुक्तस्वरूप ही है। जिनस्वरूप कहो, मुक्तस्वरूप कहो (दोनों एकार्थ हैं)। समझ में आया?

अभी आया है न जापान में से, नहीं ? एक जापानी व्यक्ति बड़ा ऐतिहासिक शोधक है, उसने बहुत शोध की है। ६३ वर्ष की उम्र है, जापानी व्यक्ति और उसका लड़का (उसकी) १७ वर्ष की उम्र है तो उसने सारा इतिहास शोधकर जैनधर्म क्या है ? यह शोधा है। बहुत आया है, वह आया है, देखा ? या नहीं ? पुस्तक है भाई ! हेमराज को बाद में देना, तो कहते हैं... पूरा स्वरूप तो उसे कुछ भान नहीं परन्तु उसने ऐसा लिखा कि जैनधर्म अनुभूतिस्वरूप है। उसने शोध करके लिखा, वह जापानी परदेशी भी शास्त्र की शोध करते-करते... शास्त्र बहुत हजारों ढूँढ़े, कि जैनधर्म क्या ? कि अनुभूतिस्वरूप, वह जैनधर्म है। यह राग की क्रिया और दया, दान, व्रत, भक्ति का (विकल्प), वह जैनधर्म नहीं। सेठ ! जापानी व्यक्ति, बहुत ऐतिहासिक है परन्तु यह तत्त्व, यह तत्त्व तो इस तत्त्व की खबर तो उसे है ही नहीं। यह तो अभी जैन में अन्दर में रहनेवालों को पता नहीं तो उसको — बेचारे को (कहाँ से पता होगा)। परन्तु शोध करके इतना निकाला। दो बोल — हम निकालें उसमें से कि जैनधर्म क्या है ? कि अनुभूति जो त्रिकाली चीज की अनुभूति तो वह अनुभूति पर्याय है और त्रिकाली तो... इतना सब तो वह पहुँच नहीं सकता, जापानी है न ! एक बात; और दूसरी बात उसने लिखा कि आत्मा निर्वाणस्वरूप ही है — ऐसा लिखा है। तो हम उसको कहते हैं वह मुक्तस्वरूप ही है। यदि मुक्तस्वरूप न हो तो पर्याय में मुक्तस्वरूप की पर्याय कहाँ से आयेगी ? तो वह भी ऐसा कहते हैं। देवीचन्दजी ! वह देखा है ? पढ़ा है ? नहीं पढ़ा है, अब पढ़ना। हेमराजजी को दिया है, पढ़ना, वह पढ़ने योग्य है थोड़ा। आहाहा ! अनुभूति... फिर लिया निर्वाणस्वरूप। आहाहा ! निर्वाणस्वरूप इस अनुभूतिस्वरूप है, यह पर्याय ली। पर्याय की उसे तो खबर नहीं होगी परन्तु निश्चय से लो तो आत्मा अनुभूतिस्वरूप ही त्रिकाल है। क्या कहा ? ७३ गाथा — कर्ता-कर्म (अधिकार की) ७३ गाथा में (कहा है) — पर्याय में जो षट्कारक का परिणमन होता है, उससे अनुभूति — भगवान भिन्न है — ऐसा बतलाया है। यह अनुभूति यहाँ उसमें बताना है तो अनुभूति पर्याय बताना है परन्तु वस्तु अनुभूतिस्वरूप वह त्रिकाल है। आहाहा ! अब ऐसी बातें !

यह अनुभूति त्रिकाल.... ७३ गाथा कर्ता-कर्म (अधिकार) में कहा है। अनुभूति

त्रिकाल, वह अनुभूति है और दूसरा वहाँ भी लिया है — प्रवचनसार में, आज्ञा लेते हैं न, स्त्री से... चरणानुयोग अधिकार नहीं आया? वह स्त्री से आज्ञा लेते हैं कि हे स्त्री! इस शरीर को रमानेवाली! मेरे आत्मा को रमानेवाली तू नहीं है। आहाहा! हे स्त्री! तू मुझे आज्ञा दे, मैं मेरी अनादि अनुभूति के पास जाना चाहता हूँ। आहाहा! प्रवचनसार, चरणानुयोग (सूचक चूलिका में) है। आहाहा! इतनी सब तो वे लोग शोध नहीं सकते परन्तु यह तो इतना थोड़ा लिया। यह तो अलौकिक बातें... बापू! अभी जैन के पण्डितों को पता नहीं पड़ता वहाँ। आहाहा!

यह अनुभूतिस्वरूप ही भगवान है, पर्याय नहीं। वह त्रिकाली अनुभूतिस्वरूप है तो उसके आश्रय से पर्याय (में) अनुभूति होती है। वह मुक्तस्वरूप ही है, भगवान मुक्तस्वरूप (ही है); मोक्ष (मुक्त) पर्याय नहीं। त्रिकाली द्रव्य मुक्तस्वरूप ही है, यह कलश में आता है। कलश में — समयसार में कलश में आता है। '**स एव मुक्तः**' आहाहा! श्लोक आता है न? श्लोक पीछे है '**एव**' मुक्त एव। अमृतचन्द्राचार्य का कलश है, फिर यादगिरी कहाँ थोड़े ही याद रहती है? हमारा क्षयोपशम तो इतना नहीं है, भाव याद रहते हैं, कहाँ क्या पाठ है! आहाहा! **मुक्त एव** इस ओर है, श्लोक है, पीछे है समयसार में। तो उसमें कहा है कि आत्मा निर्वाणस्वरूप है तो उसका अर्थ? है? १९८ वाँ कलश है, ३१८ वीं गाथा है; आहाहा! हाँ, मिला १९८। '**शुद्धस्वभाव नियतः सः हि मुक्त एव**' १९८ कलश। एक, नौ, और आठ, है? **सः हि मुक्त एव** अन्तिम शब्द है। भगवान आत्मा **मुक्त एव** आहाहा! मोक्ष की (मुक्ति की) पर्याय की बात यह नहीं। भगवान! दूसरी भाषा में कहें तो जो चौदह और पन्द्रह गाथा में अबद्धस्पृष्ट कहा है, १४-१५ गाथा में **अबद्धस्पृष्ट पस्सदि** — जो कोई आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखे तो वह जैनशासन देखता है। तो उसका अर्थ? अबद्ध कहो या मुक्त कहो। बद्ध से रहित कहो या मुक्त कहो। उस मुक्तस्वरूप को जो अन्तर में देखते हैं, शुद्ध उपयोग से, वह शुद्ध उपयोग जैनशासन है। आहाहा! यह व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प उठता है, वह जैनशासन नहीं है। आहाहा! देवीचन्दजी! ऐसी बात है, भाई! **सः हि मुक्त एव।** इन्होंने निर्वाण लिखा है परन्तु इन्हें इतना सब कुछ पता नहीं होता परन्तु यह तो.... समझ में आया?

भगवान आत्मा, जो यहाँ भूतार्थ कहा (गया है), वह मुक्तस्वरूप है। समझ में

आया? उस मुक्तस्वरूप के लक्ष्य से, उसके — शुद्धनय के आश्रय से, उस त्रिकाल भूतार्थ के — मुक्तस्वरूप के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! अभी तो पहली दशा, अभी तो पाँचवें और छठवें गुणस्थान की बातें, बापू! यह तो कोई अलौकिक बात है। आहाहा! अरे...रे...! प्रभु! तू जन्म-मरण करके थका नहीं? चौरासी के अवतार आहाहा! चौरासी लाख योनियों में एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये। प्रभु! तुझे थकान नहीं लगी? वह थकान उतारने का स्थान तो प्रभु मुक्तस्वरूप विश्रामस्थान यह है। आहाहा! वह जो भूतार्थ कहा, वह विश्रामस्थान है। आहाहा!

श्रोता : क्षण में मुक्त एव कहते हो, क्षण में भूतार्थ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भूतार्थ कहो, या मुक्त एव (कहो), दोनों एक ही बात हैं। विद्यमान पदार्थ है त्रिकाली, वह मुक्तस्वरूप ही है। राग के सम्बन्धरहित चीज वह है। आहाहा! वास्तव में तो वह पर्याय के सम्बन्धरहित चीज है, बापू! भाई! वीतराग का मार्ग, उसमें यह जैनदर्शन और उसमें दिगम्बर दर्शन! आहाहा!

श्रोता : पर्यायरहित चीज है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्यायरहित चीज है, उसको यहाँ मुक्तस्वरूप और भूतार्थ कहा है। उसको स्वीकार करती है पर्याय; सम्यग्दर्शन, वह पर्याय है। ध्रुव का — भूतार्थ का निर्णय पर्याय करती है परन्तु वह पर्याय — सम्यग्दर्शन की पर्याय, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन की पर्याय नव तत्त्व में जाती है (क्योंकि) भेद (है)। आहाहा! डाह्याभाई! ऐसा स्वरूप है प्रभु तेरा! तू कौन है अन्दर?

बापू! यह देह तो मिट्टी पिण्ड जड़ है। अन्दर में पुण्य और पाप का विकल्प उठता है, वह राग, मेल, अचेतन और जड़ है। उस जड़ में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है। इसमें जड़ में यह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है, पुण्य-पाप जड़ है तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं परन्तु है अचेतन। चेतनस्वरूप जो है, उसकी किरण पुण्य-पाप में नहीं आती है।

श्रोता : आप ऐसी बात करते हो तो भी लोग आपका विरोध क्यों करते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उन्हें न जँचे तो वे करें क्या बेचारे? उन्हें 'जामैं जितनी बुद्धि है, इतनौ दियो बताय, वांकौ बुरौ न मानिये और कहाँ से लायै' उन बेचारों को बुरा

नहीं कहा जाता, उनके ऊपर करुणा करते हैं। अरे...रे! यह तो कल रात्रि में सुना था भाई! मनोहरलालजी को किसी ने गले में फाँसी दे दी — ऐसा कहते हैं। क्योंकि हमने ऐसा सुना था कि हार्टफेल हो गया परन्तु मरते समय कहते हैं जीभ बाहर निकली थी, आहाहा! किसी ने गले में फाँसी दे दी, क्योंकि उनका पैसा होगा किसी के पास पाँच लाख रुपया था तो किसी एक व्यक्ति के पास ढाई लाख रुपये थे, पैसे बहुत करते थे न? पुस्तक के सेट बनाते और पैसा कमाते। अरे! (यह) तेरा काम है बापू? अरे! पैसा माँगना और (एकत्रित) करना, और बेचना, प्रभु तेरा काम नहीं है... पैसा बहुत कमाते थे — ऐसा सुना है। लाभानन्दजी ने कहा कि जीभ निकल गयी थी बाहर। आहाहा! वह ढाई लाख किसी से माँगते होंगे, पैसे होंगे उनके। सब बड़े-बड़े लोग इकट्ठे होकर आये और उनसे कहा कि तुम ईसरी में रहो। कानजीस्वामी क्यों एक जगह रहकर सर्वत्र प्रचार करते हैं? तुम एक स्थान में रहो तो ऐसा सुना है। सत्य क्या है? हमको पता नहीं। तुरन्त उन्होंने कहा एक महीने में मेरे दस हजार रुपये दो, तुम शास्त्र छपाने को — ऐसा सुना है। बात सत्य, झूठ (क्या है) हमें कुछ पता नहीं। अरे! परन्तु भाई! पैसे का तुझे क्या काम है? भाई! परन्तु पुस्तक बनाना यह क्या तेरा काम है? और उसे बेचना, प्रभु! यह कोई काम है? भाई! किसी से एक पाई भी माँगना, वह आत्मा का कार्य नहीं प्रभु! आहाहा! अरे...रे! परन्तु कल तो सुनकर ऐसा हो गया कि बेचारे को अरे...रे...! कोई मारनेवाला मिला होगा... साढ़े चार बजे तो बैठे थे, कुछ नहीं था, बैठे थे। उसमें एकदम आधे घण्टे के बाद जहाँ देखा वहाँ, आहाहा! किसी ने मार डाला होगा? गले में.... ऐसा लगता है। आहाहा! ऐसा लगता है।

यह दशा... देखो न बापू! ऐसी दशा तो अनन्त बार हो गयी प्रभु! तेरी प्रसन्नता पर में कहाँ आयी? बाहर की चीज की चमत्कृति देखकर तुझे विस्मय होता है, यह महाभ्रम है, मिथ्यात्व है। अन्दर चमत्कारी वस्तु पड़ी है, महाप्रभु देख न! चैतन्य चमत्कार! आहाहा! एक तो बात ऐसी है कि चैतन्य चमत्कार की गुण की संख्या का अन्त नहीं। क्या है यह? क्या कहते हैं? क्षेत्र में तो इतना ही है, शरीर प्रमाण भिन्न, परन्तु वह जो गुण की संख्या है, वह अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त को अनन्तगुना वर्ग करो तो भी उस संख्या का अन्त नहीं है — ऐसे अन्दर में गुण है। यह क्या कहते हैं? आहाहा! भाई! तुझे तेरी चीज का पता नहीं है। प्रभु ने भी ऐसा कहा है कि

जहाँ क्षेत्र का अन्त नहीं, उसका ज्ञान करनेवाली पर्याय... आहाहा! और उस पर्याय के पीछे जो ज्ञानगुण है, उसकी कितनी ताकत है! — ऐसे-ऐसे जो अनन्त गुण हैं, जिन गुणों को यह अनन्त गिनते... गिनते... गिनते... गिनते... यह अन्तिम धर्म-गुण है — ऐसा कभी नहीं होता। क्या कहते हैं यह? समझ में आया?

प्रभु! तेरे पाताल कुएँ में अनन्त गुण पड़े हुए हैं। इन अनन्त गुणों की कोई संख्या कि यह अनन्त अनन्त हो गया (— ऐसा नहीं है।) अनन्त को अनन्त गुणा गुणे तो भी यह अन्तिम / आखिर का गुण है — ऐसा उसमें नहीं है। क्या कहा, समझ में आया? आहाहा! पण्डितजी! ऐसा अमाप... माप कर लेती है, ज्ञान की पर्याय, उसका माप कर लेती है, परन्तु उसकी संख्या का माप नहीं है। क्या कहा यह? ज्ञान की पर्याय... प्रमाण कहो या माप कहो। प्र... माण। मा... प। तो इतने त्रिकाली गुण हैं, उसका माप ले लेती है (ज्ञान की) पर्याय। अनन्त के अनन्तपने का माप ले लेती है। आहाहा! अरे...रे! यह बात चलती नहीं, मूल बात चलती नहीं और ऊपर से सब बातें थोथे-थोथा, उसमें जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा प्रभु! वह सब भटक कर मरने का रास्ता है। शुभभाव भी संसार है प्रभु! आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प है, राग है, दुःख है-दुःख है। वह पर्याय में आता है, बताया; संवर-निर्जरा होती है, यह बताया परन्तु उसमें से अकेला त्रिकाली प्रभु (उसे) भूतार्थनय से जाने हुए का नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

अभी उसका — व्यवहार का ज्ञान भी सच्चा नहीं, तो अन्दर में वह कैसे जा सकेगा? महासत्य प्रभु! ऐसा ज्ञान में भी सच्चा नहीं कि मैं राग से रहित मैं हूँ। राग से मेरी प्राप्ति नहीं होती। मेरी चीज तो अन्दर भिन्न है। मेरी चीज प्राप्त करने में रागादि की अपेक्षा नहीं है, व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा ज्ञान में भी — परलक्षी ज्ञान में भी सच्चापन न आवे, वह अन्तर में — सत्य में जा सकेगा? समझ में आया? मार्ग तो प्रभु (यह है)। सर्वज्ञ का तो विरह पड़ा, प्रभु! अरे...रे! वे त्रिलोकीनाथ तो ऐसा कहते हैं, वहाँ महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान तो यह कहते हैं। उसे सुनकर आये और सन्त कहते हैं। आहाहा! भाई! सम्यग्दर्शन वह कोई चीज है, उसके बिना सारा ज्ञान और व्रत, तप सब निष्फल; संसार अर्थात् निष्फल (है।) धर्म के लिए निष्फल हैं, भटकने के लिए सफल हैं। आहाहा! यह यहाँ कहा।

तीर्थ की प्रवृत्ति.... अर्थात् पर्याय की परिणति को बताने को, यह तीर्थ। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि, चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ (गुणस्थान) आदि पर्याय की प्रवृत्ति है। आहाहा! यह व्यवहारनय से कहा जाता है। प्रवृत्ति जो पर्याय की है, वह व्यवहारनय से कही जाती है। आहाहा! कितनी गम्भीरता है? आहाहा! **ऐसे व्यवहारनय से कहा जाता है। ऐसे नवतत्त्व - जिनके लक्षण जीव,....** इस जीव की व्याख्या में वह पर्याय लेना — एक समय की पर्याय; **अजीव,...** अजीवरूप से तो जीव परिणमित नहीं होता परन्तु अजीव का ज्ञान होता है न, उसे यहाँ अजीव के ज्ञान को अजीव कहा गया है। समझ में आया? ऐसी बात है प्रभु! मार्ग, भाई! आहाहा!

श्रोता : अजीव का ज्ञान करने से ज्ञान अजीव हो जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अजीवरूप नहीं होता है परन्तु अजीव का ज्ञान है, उस ज्ञान को यहाँ अजीव कहते हैं। नवतत्त्वरूप से परिणमा ऐसा कहते हैं न? तो क्या जड़रूप परिणमता है? समझ में आया? परन्तु अजीव का ज्ञान हुआ, उसे ही अजीव कहा गया है। उसरूप परिणमित हुआ है।

जीव, अजीव, (अब) पुण्य.... शुभरूप परिणमता है। अभी यह भी स्पष्टीकरण करेंगे। **पाप,...** हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, पाप की पर्यायरूप परिणमता है। **आस्रव,....** दोनों मिलकर आस्रव — पुण्य और पाप दो मिलकर आस्रव; क्योंकि दोनों आस्रव हैं, इससे नया कर्म आता है, धर्म तो होता नहीं। आहाहा! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, मास-खमण का अपवास, वह सब विकल्प है, वह आस्रव है। सूक्ष्म बात है प्रभु! इस आस्रव से तो बंध होता है परन्तु पर्याय होती है, पर्याय में। आस्रव, बताना है न नौ।

संवर,.... यह शुद्धपर्याय है। पर्याय में शुद्धपर्याय है परन्तु वह व्यवहारनय का विषय है। पर्याय है न? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय स्व के आश्रय से हुई, वह संवर भी व्यवहारनय का विषय है (क्योंकि) पर्याय है न? आहाहा! प्रभु! देख तो सही तेरी बलिहारी! उस पर्याय से पार तेरी चीज अन्दर है। आहाहा!

अरे! जिसे यह बात सुनने को न मिले, वह बेचारा कहाँ विचार करे और कहाँ जाये? अरे...रे! और वह विपरीत मान्यता में, भले स्वयं एकान्त करे परन्तु प्रभु! इस

मिथ्यात्व का फल बहुत कठोर है। प्रभु नाथ! आहाहा! इस मिथ्यात्व के फल में तो नरक-निगोद है। अरे...रे! इसका तिरस्कार कैसे किया जाये? समझ में आया? जो कोई मिथ्यात्व का सेवन करते हैं और सम्यक् चीज को एकान्त कहते हैं तो उस मिथ्यात्व के फल में महादु:ख होगा भाई! तो उस जीव को दु:ख होगा, उसका तिरस्कार क्यों करे, प्रभु? वह तो जानने योग्य है — ऐसे जगत् में होता है। आहाहा! किसी का विरोध करना — ऐसा है नहीं और उस व्यक्ति के प्रति वैर करना (यह भी नहीं क्योंकि वह भी) भगवान है। वह भी वस्तु से तो भगवान है। एक समय की भूल है तो भगवान स्वयमेव भूल मिटायेगा। समझ में आया? किसी व्यक्ति को विरोध से नहीं देखना (नहीं चाहिए।) सभी आत्माएँ भगवान हैं। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं आहाहा! संवर की पर्याय उत्पन्न निर्मल शुद्ध, हाँ! परन्तु है पर्याय न? वह व्यवहारनय का विषय हुआ। आहाहा! **निर्जरा,....** संवर का अर्थ शुद्धि, पुण्य-पाप अशुद्ध-मलिन और संवर में शुद्धि है, पवित्रता (है) और निर्जरा में शुद्धि की वृद्धि है परन्तु है वह पर्याय; और **बन्ध...** राग में रुकना, वह बन्ध है, वह भी एक पर्याय है। कर्म के बन्ध को तो एक ओर दूर रखो। **मोक्ष....** वह भी एक पर्याय है। आहाहा! जीवद्रव्य के दो भेद करना — संसार और मोक्ष, वह व्यवहार हो गया। त्रिकाली ज्ञायकभाव भगवान, यह निश्चय हुआ और उसका संसार और मोक्ष — दो भेद डालना, वह व्यवहारनय हो गया। आहाहा! समझ में आये उतना समझना प्रभु! यह तो परमात्मा के घर की बात है, प्रभु! आहाहा! त्रिलोकनाथ ने ऐसा कहा, वैसा सन्त आडतिया होकर बताते हैं। आहाहा! मार्ग तो ऐसा है प्रभु! तू बाहर में कुछ न कुछ विस्यमता मानकर रुक गया है प्रभु! तेरा द्वार-द्वार खुला नहीं किया तूने। राग के प्रेम से, राग का रस है वह अन्दर में अपने अरागी स्वभाव में नहीं जा सकता है। समझ में आया? यहाँ तो मोक्ष की पर्याय का जिसको लक्ष्य है, वह भी व्यवहार का लक्ष्य है। आहाहा! **मोक्ष है - उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले....** आहाहा! यह पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, (बन्ध), मोक्ष, पर्याय, यह तो अनेकपना हुआ, उनमें से एकत्व प्रगट करनेवाला — त्रिकाली ज्ञायकभाव पर दृष्टि करने से.... आहाहा! **एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से....** त्रिकाली ज्ञायकभाव पर दृष्टि करने

से एकत्व प्राप्त करके, एकत्व प्राप्त करके अनेकपने की पर्यायों में से निकलकर एकत्व त्रिकाली ज्ञायकभाव में एकत्व प्राप्त करके.... आहाहा! ऐसी बात है अब। सभा में समाज को कहे, यह मार्ग बापू! मार्ग तो यह है। समझ में आया?

चौथा काल हो या पाँचवाँ परन्तु ....यह तो पंचम काल के जीव को कहते हैं। पंचम काल के तो साधु हैं, ये पंचम काल के आचार्य, साधु स्वयं हैं, (वे) पंचम काल के जीव को कहते हैं। तो कोई ऐसा कहे कि यह तो चौथे काल की बात है... भगवान ऐसा नहीं होता। नाथ! तेरी चीज की महिमा को कोई काल लागू नहीं पड़ता। समझ में आया? और तेरी चीज की महिमा में कोई काल रुक नहीं सकता। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि नौ प्रकार की पर्यायों में जो अनेकपना है — व्यवहारनय का विषय है, उसे छोड़कर एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय, एकरूप प्रगट करनेवाले त्रिकाली को देखने से एकरूप प्रगट होता है। आहाहा!

शुद्धनयरूप से स्थापित आत्मा की अनुभूति.... यह शुद्धनय से स्थापित, त्रिकाली के आश्रय से जो एकत्व हुआ — ऐसी जो आत्मा की अनुभूति... आहाहा! वह आत्मा की अनुभूति की आनन्द की पर्याय,... यह अनुभूति आयी उससे। इस टीका का नाम आत्मख्याति है। इस टीका का नाम आत्मख्याति है, आत्मा की प्रसिद्धि है तो यह लिया, देखो! जिसका लक्षण... आहाहा! शुद्धनय से नवतत्त्व और आत्मा की अनुभूति शुद्धनयरूप से स्थापित... आहाहा! आत्मा की अनुभूति, स्व का त्रिकाल का आश्रय करके जो अनुभूति हुई, **जिसका लक्षण आत्मख्याति है....** देखो, आत्मा प्रसिद्ध हुआ। जो राग की एकता में अप्रसिद्ध था — दया, दान, विकल्प के प्रेम में वह आत्मा अप्रसिद्ध था। आहाहा! ढँक गया था। वह अन्दर में राग से और पर्याय से भिन्नता करके अपने आत्मा को जहाँ देखा, जाना, माना तो वह जो शक्ति थी, वह पर्याय में व्यक्तरूप प्रसिद्ध हुआ कि मैं तो यह शुद्ध हूँ।

श्रोता : आत्मा की अनुभूति में आत्मा प्रसिद्ध होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रसिद्ध होता है। आहाहा! समझ में आया? पहले संवर, निर्जरा कही, वह पर्याय है परन्तु उसका लक्ष्य छोड़ने को परन्तु उसके आश्रय से संवर-निर्जरा

जो हुई वह तो अनुभूति है। समझ में आया? पहले जो कहा कि उसको नव तो भेद है, उसका आश्रय छुड़ाया। समझ में आया? परन्तु आत्मा का आश्रय लिया तो जो अनुभूति हुई, वह संवर-निर्जरास्वरूप है। आहाहा! समझ में आया? वह आत्मख्याति है। वह प्राप्त होती है। आहाहा! **(शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है।)** विशेष नौ प्रकार हैं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६० गाथा-१३ दिनाङ्क १७-०८-१९७८ गुरुवार
श्रावण शुक्ला १४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

(समयसार) की १३ वीं गाथा है। प्रथम सम्यग्दर्शन कैसे होता है? प्रथम धर्म की शुरुआत (कैसे होती है)? तो कहते हैं कि नवतत्त्व के भेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है! कभी किया नहीं और यथार्थ सुनने में आया नहीं। आहाहा! जो नवतत्त्व है, वह तो भेदरूप है। भेदरूप है तो व्यवहार का विषय हुआ। उसमें से भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन पूर्णानन्द प्रभु एकरूप की अन्तर में दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। धर्म की पहली सीढ़ी यह है, भाई! आहाहा! वे नव तत्त्व क्या हैं? यह पहले। कहते हैं — नव तत्त्व कैसे हुए, यह पहले कहते हैं। यहाँ आया न? **(शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है।)....** सूक्ष्म बात है भगवान! आहाहा!

वहाँ विकारी होने योग्य.... शब्द है? क्या कहते हैं? १३ वीं गाथा, बीच में है, छह लाईन के बाद। **विकारी होने योग्य....** है? यह आत्मा में जो शुभभाव होता है — दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, यह शुभभाव-पुण्यभाव, यह जीव की पर्याय कहा जाता है। आहाहा! उसके लक्ष्य से धर्म नहीं और वह वस्तु धर्म नहीं। आहाहा! विकारी होने योग्य — ऐसा क्यों कहा? कि शुभभाव अपनी पर्याय में अपने से योग्यता से उत्पन्न होता है, कर्म तो उसमें निमित्त है परन्तु विकारी भाव — पुण्य का भाव — दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव अपनी पर्याय में योग्यता से अपने पुरुषार्थ से — उल्टे पुरुषार्थ से उस समय की उत्पन्न होने योग्य पर्याय से, जीव की भावपुण्य पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा!

श्रोता : उसमें कर्म की छाया पड़ती है — ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात बिल्कुल असत्य है। आहाहा! आत्मा कर्म को छूता ही नहीं, परन्तु (कर्म को) निमित्त कहा जाता है।

श्रोता : इसलिए उसकी छाया पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : छाया-फाया कुछ नहीं है। दुनिया के अज्ञानी चाहे जो कहें, दुनिया को (कुछ पता नहीं है)। यह चीज तो वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि (में आयी है), उसका यह सार है। आहाहा! कि जीव की पर्याय में जिस समय पर्याय उत्पन्न होने योग्य है, उस समय पुण्यभाव उत्पन्न होता है। यह पुण्यतत्त्व कहा, वह अपनी योग्यता से उत्पन्न होता है; कर्म से नहीं, कर्म को निमित्त कहा जाता है। क्या कहा यह ? आहाहा! अभी तो व्यवहार का भी पता नहीं होता तो निश्चय तो कहाँ... यह सम्यग्दर्शन अनन्त काल में कभी नहीं किया। आहाहा!

इसलिए कहते हैं — **विकारी होने योग्य....** अपना शुभभाव और अशुभभाव — ये पुण्य और पाप होने योग्य हैं तो अपने से होते हैं। हैं ? **और विकार करनेवाला — दोनों....** जो शुभभाव है, वह अपनी पर्याय में अपने से हुआ, तो पूर्व का जो कर्म है, उसे निमित्त कहा जाता है।

श्रोता : करने योग्य नहीं ?

समाधान : करने योग्य कहा न, उसका अर्थ क्या ? कि अपना स्वभाव नहीं है; त्रिकाल द्रव्य स्वभाव उससे (शुभभाव) उत्पन्न नहीं होता तो यह विकार उत्पन्न.... अरे! संवर कहते हैं, वह भी अभी आगे आयेगा, आने दो। बापू! मार्ग अलग है, भाई! आहाहा! अरेरे! यह मरकर चौरासी के अवतार में चाहे तो देव हो या चाहे तो अरबोंपति, राजा-सेठ हो, वे सब दुःख की रागाग्नि में सुलगते हैं। 'राग आग दाह दहै सदा' छहढाला में आता है। आहाहा! यह शुभ और अशुभराग, 'राग आग दाह दहै सदा', आहाहा! यह शुभ और अशुभराग, वह आग है, अग्नि है, भगवन्त! वह तेरी चीज नहीं है, आहाहा! सेठ! यह थोड़ी दूसरी बात यहाँ आयी है, आहाहा! इसके लिए तो आये हैं न यहाँ, इनके घर में तो (तत्त्व का) प्रेम बहुत है। बहिन तो आती थीं, मुझे पता नहीं, वहाँ गये तो महीने रहे, इनके

घर में ठहरे थे न? यहाँ तो बहिनों के साथ सम्बन्ध नहीं, पहिचान नहीं, पता भी नहीं होता कौन आती हैं और कौन जाती हैं। आहाहा! एक महीने रहीं थीं पहले।

यहाँ कहते हैं, सुन तो सही प्रभु! आहाहा! तेरी पर्याय में जब शुभभाव आता है, वह तेरी योग्यता से आता है। उस कालक्रम में जब दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव आता है... यह है? **विकारी होने योग्य....** उसका अर्थ है। भाई! यह तो मन्त्र है। यह कोई साधारण कथा-वार्ता नहीं है। आहाहा!

अपनी पर्याय में विकारी होने योग्य जो शुभभाव अपने से हुआ, अपनी योग्यता से हुआ, उसमें पूर्व के कर्म का उदय है। सूक्ष्म बात है, थोड़ी! पूर्व के कर्म का उदय वहाँ कदाचित् तीव्र भी हो, परन्तु यहाँ राग की मन्दता जिसने की, उसने उस कर्म का निमित्त जो है, उसको निमित्त 'करनेवाला' कहा, क्योंकि अपना स्वभाव नहीं है। अभी संवर में भी पर का सम्बन्ध करनेवाला... आहाहा! भेद है न? वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। समझ में आया? आहाहा! अभी बात समझ में न आये प्रभु! वह कहाँ जाये, किस ओर, किस तरफ झुके? आहाहा! यहाँ तो पहले '**विकारी होने योग्य**' जो शुभभाव, वह जीव की पर्याय अपने से हुई है, तथापि उसके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन नहीं होता। उससे नहीं होता, उसके लक्ष्य से नहीं होता — एक बात। **और विकार करनेवाला....** पूर्व का जो उदय है, उसको यहाँ शुभभाव में निमित्त कहकर 'करनेवाला' कहा है। सूक्ष्म बात।

सेठ! वहाँ कहाँ बैठे? यहाँ जगह दो जगह। पुस्तक है पुस्तक? समझ में आया? क्या कहा देवीचन्दजी!

श्रोता : कर्म का उदय कदाचित् कराता है।

उत्तर : नहीं... नहीं... नहीं... नहीं... कर्म का उदय तो कदाचित् तीव्र भी हो राग का परन्तु यहाँ राग की मन्दता अपने में अपनी योग्यता से की तो उस पूर्व के कर्म के उदय को निमित्त 'करनेवाला' कहने में आया है।

अरेरे! है? यह तो प्रभु का महासिद्धान्त है। यह तो सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ की वाणी है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य, भगवान के पास गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे। अब इसकी भी यहाँ शंका करते हैं, भाई! कि महाविदेह में नहीं गये थे। अरे! प्रभु! तुझे पता नहीं है।

पंचास्तिकाय की टीका में पाठ है — कुन्दकुन्दाचार्य महाविदेह में गये थे और दर्शनसार में पाठ है, देवसेन आचार्य का दर्शनसार एक शास्त्र है, (उसमें कहा है) कि अरे! कुन्दकुन्दाचार्य महाविदेह में जाकर ऐसी चीज न लाते तो हम मुनिपना कैसे पाते? आहाहा! मुनिराज कहते हैं। दर्शनसार! पुस्तक तो, हजारों शास्त्र हजारों पुस्तकें हैं। पंचास्तिकाय कहा न? वह तो जयसेनाचार्य की टीका में, पहले कहा। जयसेनाचार्य की टीका में ऐसा कहा कि महाविदेह में गये थे। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य नग्न-दिगम्बर मुनि छद्मस्थ, आहाहा! और वहाँ जाकर, यहाँ शिवकुमार राजकुमार के लिये पंचास्तिकाय बनाया है — ऐसा पाठ - संस्कृत है। जयसेन आचार्य की टीका है। जयचन्दजी! जयसेनाचार्य और दर्शनसार नामक एक पुस्तक है, सिद्धान्त है।

यहाँ तो हजारों शास्त्र देखे हैं न! यहाँ तो १८ वर्ष की उम्र से हमारे (यही काम है) यहाँ तो ८९ हुआ। ९० चलते हैं, वास्तव में तो गर्भ के सवा नौ महीने गिनों तब तो ९० पूरे हो गये। लोग तो जन्म से गिनते हैं न? जन्म से... परन्तु माता के गर्भ में सवा नौ महीने आया, भगवान उसको भी कहते हैं (क्योंकि) वह यहाँ की आयु है। समझ में आया? यहाँ तो समय-समय की बात है भगवान! यहाँ तो ७२ वर्ष से चलता है। हम तो दुकान पर... घर की दुकान थी, वहाँ हम तो यह ही पढ़ते थे, ये नहीं, दिगम्बर नहीं थे; हम तो श्वेताम्बर थे न! स्थानकवासी थे। समझ में आया? वह पढ़ते थे। दुकान घर की थी, दुकान भी चलाते थे, दुकान पर जब हमारे भागीदार बैठे हैं तो हम अन्दर शास्त्र पढ़ते थे। वे नहीं (होते) तो हमें दुकान पर-गद्दी पर बैठना पड़ता। छोटी उम्र की बात है। १७ वर्ष से २२ वर्ष तक पाँच वर्ष, पाँच वर्ष दुकान चलायी थी पाप की, परन्तु फिर भी मैं तो शास्त्र पढ़ता था। तो उसमें भी शास्त्र पढ़ते थे। देखो, लोग यह कुछ नहीं, यह तो धन्धे में लवलीन परन्तु हम तो यह शास्त्र से तो इतना — ७२ वर्ष हुआ। आहाहा! यह दिगम्बर शास्त्र (विक्रम संवत्) ७८ से पढ़ते हैं, ५६ वर्ष हुए।

यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं। आहाहा! एक बार सुन तो सही! कि **विकारी होने योग्य....** जो शुभभाव **होने योग्य....** क्यों कहा? कि उस समय में वह जन्म-उत्पत्ति का काल है — शुभभाव की उत्पत्ति का काल है तो शुभभाव उत्पन्न हुआ है — यह एक बात। और

विकारी होने योग्य पाप — दो बात यहाँ हैं। शुभ-अशुभभाव। यह अशुभभाव होता है, पाप-हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग वासना, काम-क्रोध, यह पैसा कमाना, ध्यान रखना, ब्याज उत्पन्न करना, व्यापार-धन्धे का भाव, यह सब पाप अशुभभाव है। यह अशुभ भी विकारी होने योग्य था। उस समय में यह उत्पत्ति का काल था। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो बताना है कि नवतत्त्व है, वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। आहाहा!

जिसे सम्यग्दर्शन — धर्म की पहली सीढ़ी प्राप्त करना है तो उसको ये नव तत्त्व के भेद को जानना, जान करके, अखण्डानन्द चैतन्यभगवान पूर्णानन्द प्रभु एकरूप स्वरूप की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! अभी धर्म की पहली शुरुआत, चारित्र और विशेष स्थिरता और तप वह तो दूसरी कोई आगे की चीज है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि विकारी होने योग्य दो — शुभ और अशुभ, दोनों विकारी होने योग्य थे और विकार करनेवाला पूर्व के कर्म के उदय को निमित्त कहो, यह पुण्यभाव का करनेवाला निमित्त से कहा। वह पापभाव का करनेवाला निमित्त से कहा। आहाहा! समझ में आया? **दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं,....** है? दोनों पुण्य है और दोनों पाप हैं। कौन दो? कि जीव में पुण्य योग्य जो शुभभाव हुआ, वह जीव की पर्याय है और जो निमित्त है, वह अजीव की पर्याय है, दोनों पुण्य हैं और दोनों पाप हैं। आहाहा! समझ में आया?

जो शुभभाव हुआ, वह भावपुण्य है शुभ, और जो निमित्त है, वह द्रव्यपुण्य है कर्म, दोनों मिलकर दोनों को ही पुण्य कहा है, दोनों ही पुण्य हैं और दोनों ही पाप हैं। अपने में अशुभ की योग्यता से जो पापभाव हुआ वह अपने से जन्म-उत्पत्ति काल हुआ तो हुआ, उसमें पूर्व का कर्म का उदय है, उसको निमित्त से पाप कहा जाता है। अतः दोनों ही पुण्य और पाप हैं। जीव की पर्याय भी पुण्य-पाप है और अजीव की पर्याय भी पुण्य-पाप है। अभी तो यह तो व्यवहार है, अभी यह तो धर्म भी नहीं। समझ में आया? आहाहा! दो बात हुई। दोनों पाप हैं। है? आया, 'दोनों' — समझे? जो भावपुण्य हुआ और भावपाप, उसमें जो निमित्त है, द्रव्य उदय तो यह और वह दोनों ही पुण्य हैं और दोनों ही पाप हैं। आहाहा!

तीसरी बात — **आस्रव होने योग्य....** टीका का तीसरा बोल। ये पुण्य-पाप दो मिलकर के आस्रव है, नये कर्म आने का कारण है, आहाहा! आस्रव होने योग्य, शुभ, अशुभभाव अपनी पर्याय में उस समय में जन्मक्षण के कारण उत्पत्ति का काल है, तो अपनी योग्यता से पुण्य-पाप का भाव आस्रव उत्पन्न होता है। आहाहा! शर्त बहुत कठिन, बापू! सूक्ष्म, समझना, आहाहा! बनियों को वह ब्याज-चक्रवर्ती निकालना हो तो निकालते हैं। चक्रवर्ती ब्याज समझते हैं? किसी को दस लाख रुपये दिये हैं आठ आने (ब्याज पर) पहले तो आठ आना था न? अब तो एक प्रतिशत, डेढ़ प्रतिशत होता है। तो दस लाख दिया हो तो एक दिन का दस लाख का आठ आना न? पहले आठ आना था। ब्याज चढ़ाकर दस लाख पर एक दिन का ब्याज चढ़ाकर दूसरे दिन ब्याजसहित का ब्याज चढ़ाकर... इसे चक्रवर्ती ब्याज कहते हैं। बारह माह का मूल ब्याजसहित पहले दस लाख, फिर दूसरे दिन का दस लाख के ऊपर जो उसका ब्याज आया, उसे मिलाकर उसके पीछे वापस उसको मिलाकर.... आहाहा! ये बनिये ऐसे चक्रवर्ती ब्याज निकालते हैं।

श्रोता : वे पुराने बनिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी के बनिये तो अभी ठीक हैं, यह तो पहले की बात है। समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि इस ब्याज की अपेक्षा यह दूसरी कोई चीज है। आहाहा! अपनी पर्याय में शुभ-अशुभभाव होने योग्य शब्द लिया है। वह क्यों? किस कारण? कि उस समय वह जन्म / उत्पत्ति का काल है, शुभाशुभ का, भाव तो उत्पन्न हुआ है, वह जीव की पर्याय हुई और उसमें पूर्व के कर्म का निमित्त है, वह अजीव की पर्याय हुई। उस निमित्त को यहाँ करनेवाला कहा और विकार को यहाँ योग्यतावाला — अपनी जीव की पर्याय को कहा — ऐसी बात है। भाई! है?

आस्रव होने योग्य.... आहाहा! यह क्यों कहा? कि किसी कर्म से यहाँ आस्रव हुआ है - ऐसा नहीं है। यहाँ अपनी पर्याय में अपने पुरुषार्थ की विपरीतता से... आहाहा! - वह शुभ और अशुभभाव होने योग्य अपने से हुआ है। **और आस्रव करनेवाला....** पूर्व के उदय को आस्रव करनेवाला कहा। **दोनों ही आस्रव हैं....** समझ में आया? शुभ-अशुभभाव, यह आस्रव और जो निमित्त कर्म हैं, वह भी आस्रव; एक जीव की पर्याय, एक

अजीव की पर्याय। पर्याय है, यह तो अभी नवतत्त्व सिद्ध करते हैं। इन नवतत्त्व में आत्मा भिन्न है — ऐसी नवतत्त्व की पर्याय से (आत्मा भिन्न है)। आहाहा! भगवान अन्दर चैतन्यमूर्ति प्रभु एक है, नवतत्त्व की पर्याय से भगवान अन्दर भिन्न है। है ?

श्रोता : भगवान नित्य क्या कार्य करता है ?

समाधान : कुछ नहीं करता — ऐसा का ऐसा है अनादि से। अनादि से ज्ञायक है, वह ऐसा है, वह कुछ नहीं करता और वह कुछ नहीं छोड़ता, वह पर्याय में नहीं आता। सूक्ष्म बात है, प्रभु! जैनदर्शन — वीतराग धर्म समझना वह अलौकिक बात है। चाहे जैसा भी तीव्र मिथ्यात्वभाव हो, निगोद में जाने की योग्यता (के योग्य) मिथ्यात्व के समय भी ज्ञायकभाव तो शुद्ध त्रिकाल एकरूप ही पड़ा है। आहाहा! और चाहे तो केवलज्ञान हो, उस केवलज्ञान की पर्याय के काल में भी ज्ञायक तो पूर्ण शुद्ध है ही है। उसमें न्यूनाधिकता कुछ हुई नहीं है। आहाहा!

श्रोता : ज्ञायक कुछ नहीं करता ?

समाधान : ज्ञायक कुछ नहीं करता। कर्तव्य तो पर्याय में है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही, त्रिकाल आनन्दकन्द प्रभु ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... (है)। आहाहा! वह सम्यग्दर्शन का विषय है, वह तो कायम एकरूप रहता है; इसलिए तो यह नौ की बात करते हैं। आहाहा! समझ में आया ? अभी तो नौ समझ में न आवे, उसे सम्यग्दर्शन का विषय अभेद कहाँ से आयेगा ? वह तो भटक कर मरनेवाला है, आहाहा! समझ में आया ? आहा! बापू! देह छूटी और आँखें बन्द हो जायेंगी, चला जायेगा नरक और निगोद, वहाँ कोई अवतार, जहाँ आत्मा का ज्ञान नहीं किया, सम्यग्दर्शन नहीं किया... आहाहा! वह चौरासी के अवतार में अनजाने द्रव्य, अनजाने क्षेत्र, अनजाने काल, अनजाने भव, अनजाने भाव में वहाँ चला जायेगा। आहाहा! भाई! वहाँ कोई सिफारिश काम नहीं करेगी।

यहाँ कहते हैं कि एक बार सुन तो सही! नवतत्त्व की योग्यता कैसे है ? वह भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, तो पहले नौ बतलाते हैं। आहाहा!

आस्रव करने योग्य, होने योग्य, **आस्रव करनेवाला दोनों आस्रव हैं।** वह कर्म का उदय है, वह भी द्रव्य आस्रव। नया आता है वह नहीं, सूक्ष्म बात है। यहाँ शुभ-

अशुभभाव हुआ, वह नये कर्म आते हैं, वे यहाँ नहीं। यहाँ तो जो पुराने कर्म हैं, जो यहाँ पुण्य-पाप का भाव हुआ, उसमें पुराना कर्म निमित्त कहा जाता है, उसको द्रव्य आस्त्रव कहते हैं और पर्याय को भाव आस्त्रव कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

भाई! वीतरागमार्ग...! आहाहा! जिसे इन्द्र सुनने जाते हैं, जिसको बत्तीस लाख विमान हैं, शक्रेन्द्र है, सौधर्म देवलोक का इन्द्र — बत्तीस लाख तो विमान, एक विमान में असंख्य देव हैं — ऐसे बत्तीस लाख विमान का स्वामी शक्रेन्द्र है। अभी तीन ज्ञान का स्वामी है — मति, श्रुत, अवधि; और शास्त्र में - सिद्धान्त में यह कथन है कि वह जीव ऐसा है कि मनुष्य होकर मोक्ष जायेगा, एक भवातारी है। अभी सौधर्म देवलोक में इन्द्र है, वह सुनने को आते हैं, भगवान के पास, तो वह वाणी कैसी होगी? आहाहा! यह दया पालो, और व्रत पालो, और अब यह तो कुम्हार भी कहते हैं। समझ में आया?

जो तीन ज्ञान का स्वामी एक भवातारी है, और जिसकी पत्नी भी एक भवातारी है, हजारो इन्द्रियाँ हैं, और उनमें एक मुख्य इन्द्राणी है, वह एक भव में मोक्ष जानेवाली है। वह भी वहाँ समकिती है, तीन ज्ञान हैं, वहाँ से मनुष्य होकर दोनों मोक्ष जानेवाले हैं। वे भगवान के पास महाविदेह में सुनने को जाते हैं। (जब भगवान) यहाँ थे, तो यहाँ आते थे। भगवान यहाँ थे तो यहाँ आते थे। आहाहा! यहाँ तो ऐसा कहना है कि ऐसा इन्द्र जैसा एकावतारी — एक भवतारी, यह सुनने को आते हैं। तीन ज्ञान के स्वामी समकिती ज्ञानी, आहाहा! वे सुनने को आते हैं। (तो) प्रभु की वह वाणी कैसी होगी? आहाहा! यहाँ तो अभी साधारण वाणी समझने योग्य नहीं, जानते नहीं। आहाहा! वह इन्द्र सरीखा भी यह बात सुनने के लिये भगवान के पास जाता है। यहाँ भगवान थे तो यहाँ आते थे। आहाहा! वह यहाँ कहते हैं कि अभी तो नौ तत्त्व के भेद को दिखलाते हैं, तथापि नवतत्त्व का भेद वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। आहाहाहा! समझ में आया?

तत्पश्चात् **संवररूप होने योग्य....** है? संवररूप होने योग्य — यह क्या कहा? अपनी पर्याय में शुद्धता प्रगट होने की योग्यता अपनी पर्याय में हुई, अपनी योग्यता से संवर अर्थात् धर्म की पर्याय अपने काल में उत्पन्न होने की योग्यता से संवर-पर्याय उत्पन्न हुई, धर्म पर्याय (उत्पन्न हुई), आहाहा! वह भी पर्याय है, उसके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन होता है

— ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! संवर है, वह दो प्रकार का है — एक आत्मा में शुद्धि, निर्मल अनन्त काल में प्रगट नहीं हुई — ऐसी दशा प्रगट हुई, वह भावसंवर और पूर्व के कर्म का उदय इतना उदय में नहीं आया, इसका नाम द्रव्यसंवर; दोनों को संवर कहा जाता है। एक भावसंवर और एक द्रव्यसंवर दोनों भेद हैं। आहाहा! इन दोनों के लक्ष्य से... ये पर्याय हैं तो इनके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन नहीं होता। (जिसे सम्यग्दर्शन) हुआ है, उसको भी उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं टिकता। क्या कहा? संवर होने योग्य तो धर्म तो हुआ है परन्तु उसके आश्रय से समकित नहीं टिकता, आहाहा! उत्पन्न तो होता नहीं परन्तु उसके आश्रय से (टिकता भी नहीं) उत्पन्न तो हुआ है धर्म, सम्यग्दर्शन हुआ है, ज्ञान संवररूप दशा तो हुई है परन्तु उसके आश्रय से... सम्यग्दर्शन उत्पन्न तो पहले अपने स्व के आश्रय से हुआ परन्तु इस संवर के आश्रय से अब सम्यग्दर्शन टिक सकता है — ऐसा नहीं है। यह तो द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। होता है, टिकता है, वृद्धि प्राप्त करता है, वह त्रिकाल द्रव्य के आश्रय से। आहाहा! ऐसी बात है। फुर्सत कहाँ है?

वह कहा था न, एक जापानी व्यक्ति है न बड़ा, बड़ा शोधक है। ६३ वर्ष की उम्र और १७ वर्ष का उसका एक लड़का है। बहुत शोध की है कि जैनधर्म क्या? अनुभूति वह जैनधर्म, ठीक! परन्तु फिर उसने ऐसा कहा कि यह जैनधर्म बनियों को मिला है और बनिये व्यवसाय में घुस गये हैं। जापानी ने (ऐसा कहा है।) व्यापार कहो, या व्यवसाय कहो या अधर्म कहो, सब एक ही है। जापानी व्यक्ति बड़ा शोधक है, बहुत शोधक, हजारों शास्त्र शोधकर जापान में एक संस्था स्थापित की है, जापान में ऐसा शोध करके उसने यहाँ आया है, छापा है। छापा है और कल दिया है तो उसने निकाला कि 'आत्मानुभूति' वह जैनधर्म है और आत्मा निर्वाणस्वरूप है — ऐसा उसने निकाला है। क्या कहा? समझ में आया?

आत्मा जो त्रिकाली स्वरूप है, उसका अनुभव करना, उसके आश्रय से अनुभव करना, वीतरागीदशा प्रगट करना, सम्यग्दर्शन प्रगट करना, वह अनुभूति धर्म है। वह कहते हैं; और आत्मा क्या है, जैनधर्म कहता है कि आत्मा निर्वाणस्वरूप है। आहाहा! अपने यहाँ कहते हैं मुक्तस्वरूप है। मुक्तस्वरूप ही आत्मा अन्दर है। आत्मा, राग के सम्बन्ध से बँधा

हुआ, आत्मा में बन्ध नहीं हुआ है। आहाहा! वह तो पर्याय में राग के सम्बन्ध से बन्ध है। द्रव्य जो वस्तु है वह तो अन्दर मुक्तस्वरूप है, आहाहा! ऐसी बात अब! वह ऐसा कहते हैं। फिर लिखा है कि अरे! बनियों के हाथ में यह जैनधर्म आया और बनिये व्यवसाय में घुस गये हैं। व्यापार और धन्धा... आहाहा! उसमें यह जैनधर्म क्या है? उसको प्रगट करने का अवसर नहीं मिलता। आहाहा!

श्रोता : तब व्यापार करना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यापार कौन कर सकता है? राग कर सकता है। यहाँ कहा न? व्यापार की क्रिया आत्मा कर सकता है? पैसा लेना-देना? ये खेती का काम पण्डितजी को है न? कृषि पण्डित! वह आत्मा कर सकता है?

श्रोता : पैसा तो ले सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा आत्मा के पास आता है? पैसा तो जड़ है। भगवान तो अरूपी चैतन्य है तो उसके पास पैसा आता है?

श्रोता : आत्मा सर्व शक्तिमान है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्व शक्तिमान.... तो जड़ के ऊपर शक्तिमान है — ऐसा कहा? जड़ का शक्तिमान है, ऐसा शक्तिमान है? ऐसा नहीं है। आहाहा! आत्मा तीन काल में एक अंगुली चला नहीं सकता। अंगुली चलती है वह आत्मा से चलती है, यह तीन काल-तीन लोक में नहीं है, क्योंकि वह जड़ की अजीव की पर्याय है। वह अजीव की पर्याय अजीव के काल में अपने जन्मक्षण के कारण उत्पत्ति के काल में ऐसा उत्पाद होता है। आत्मा से नहीं। आहाहा! एक बात।

दूसरी बात — भगवान आत्मा जो स्वद्रव्य है, वह अजीव को कभी स्पर्श नहीं करता। क्या कहा?

श्रोता : अजीव को स्पर्श नहीं करता।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान आत्मा जो अरूपी चैतन्यघन है, वह कभी शरीर को स्पर्श नहीं करता, कर्म को स्पर्श नहीं करता, अंगुली को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! यह

जो हार होता है, उसको आत्मा कभी स्पर्श नहीं करता। पानी आता है, उसको आत्मा कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! तुम यह क्या कहते हो? है? यह जैन परमेश्वर की दुनिया दूसरी है। डाह्याभाई! यह हमारे जज बैठे हैं, जज हैं न, बड़े जज हैं अहमदाबाद में। अब छुट्टी हो गयी, छुट्टी हो गयी, निवृत्ति है। आहाहा! हमारे व्याख्यान में सब जज आते थे, अहमदाबाद जाते हैं तो सब आते हैं। बड़े-बड़े वकील, जज, परन्तु यह चीज पहले समझने में नहीं मिलती। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि संवर होने योग्य तो आत्मा है। अपनी पर्याय में धर्म की दशा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा, अपनी योग्यता से, अपने काल में उत्पन्न होने की योग्यता से अपने में उत्पन्न होती है। संवर किसी राग के कारण से उत्पन्न होता है, व्यवहार, राग किया और राग के कारण से संवर हुआ — ऐसी चीज नहीं है। अभी तो नवतत्त्व का भेद समझाते हैं। आहाहा! समझ में आया? **संवर होने योग्य....** जीव, संवार्य — ऐसा संस्कृत में कहा है। **और संवर करनेवाला (संवारक)....** पूर्व का उदय इतना उदय नहीं आया, उसको निमित्तरूप से संवर कहा जाता है। आहाहा!

अब, निर्जरा — **निर्जरा होने योग्य....** अब क्या कहते हैं? आत्मा में जो संवर-शुद्धि उत्पन्न हुई, वह पर्याय है परन्तु बाद में विशेष शुद्धि का उत्पन्न होना, वह निर्जरा है। आहाहा! भाषा दीठ भाव में अन्तर है। संवर, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो आत्मा के अवलम्बन से उत्पन्न हुआ, वह शुद्ध है और निर्जरा है, वह शुद्धि की विशेष वृद्धि है तो यह शुद्धि की जो विशेष वृद्धि अपने कारण से उत्पन्न हुई है... आहाहा! कोई अपवास किया और ऐसा किया इसलिए निर्जरा हुई ऐसा है नहीं। अपवास आदि करने में तो शुभराग है, वह कोई निर्जरा नहीं और धर्म नहीं। आहाहा!

श्रोता : उपवास से निर्जरा नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपवास ये सब हैं। उपवास तो उसको कहते हैं कि उप... वास — शुद्ध चैतन्यघन प्रभु 'उप' अर्थात् समीप में जाकर बसना, टिकना अन्दर में उसको उपवास कहते हैं — ऐसे भान बिना यह लंघन करते हैं, एक दो और तीन, पाँच, दस, अपवास और पचास अपवास यह सब अपवास है, उपवास नहीं। अप अर्थात् खोटा वास, बुरा राग के वास में पड़ा है वह। आहाहा!

श्रोता : सबका अर्थ बदल जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सबका अर्थ बदल जाता है भाई! भगवान! आहाहा! त्रिलोकनाथ परमात्मा महाविदेह में तो श्रीमुख से यह कह रहे हैं। आहाहा! समझ में आया? अरे...! मनुष्यपना आया, उसमें यह बात समझ में न आवे तो मनुष्यपना मिला, न मिला (जैसा) है। आहाहा! यह तो ढोर को — पशु को नहीं मिला है और इसे मिला है परन्तु यदि यह वस्तु समझ में न आयी तो मिला, वह न मिला हो जायेगा; जायेगा नरक और निगोद के अनन्त भव में चला जायेगा, भाई! आहाहा! यहाँ कहते हैं निर्जरा होने के योग्य, अर्थात् अशुद्धि का नाश होने योग्य और शुद्धि की उत्पत्ति होने योग्य, यह भावनिर्जरा, यह शुद्ध जीव की पर्याय है। गाथा ऐसी आ गयी, यह ठीक है।

श्रोता : आज तो बहुत मजा आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : जिज्ञासु हैं न भगवान, आहाहा!

यह आत्मा अन्दर आनन्दकन्द प्रभु (है), उसके आश्रय से जो शुद्धि की वृद्धि हुई, उसका नाम निर्जरा है। निर्जरा के तीन प्रकार — एक शुद्धि की वृद्धि हो, वह निर्जरा; एक अशुद्धि का नाश हो, वह निर्जरा और यहाँ अशुद्धता का नाश हुआ तो वहाँ कर्म का इतना उदय भी नहीं आता है, नाश होता है, वह द्रव्यनिर्जरा। अभी तो नवतत्त्व की बात चलती है, अभी तो.... आहाहा! समझ में आया? भाई! नहीं आये हमारे जीवराजजी? शरीर को ठीक नहीं होगा, नहीं आये? ब्लडप्रेशर २४५ हो गया। क्या कहलाता है वह? ब्लडप्रेशर २४५। जीवराजजी को है बहुत समय से रहा करता है, ब्लडप्रेशर। जड़ की पर्याय है भाई! आहा...हा...! ब्लडप्रेशर हो या क्षयरोग हो या कैंसर हो, वह तो जड़ की पर्याय है। मिट्टी, धूल की (पर्याय है)। वह भगवान में नहीं है। आहाहा! भगवान शब्द से यह आत्मा। आत्मा रोग को कभी तीन काल में स्पर्श ही नहीं करता, अरे! उसको तो स्पर्श नहीं करता परन्तु ज्ञायकभाव भगवान सच्चिदानन्द प्रभु द्रव्यस्वभाव, राग को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! राग को स्पर्श नहीं करता, परन्तु धर्म की पर्याय जो उत्पन्न होती है, उसको द्रव्य स्पर्श नहीं करता – ऐसा मार्ग है बापू! अरेरे! समझ में आया? द्रव्य जो ज्ञायकस्वरूप है, वह तो त्रिकाल एकरूप रहनेवाली चीज है, वह पर्याय में आती नहीं। यह तो अभी पर्याय के भेद की व्याख्या करते हैं। आहाहा!

निर्जरा होने योग्य और निर्जरा करनेवाला.... अर्थात् पुराने कर्म खिर गये, वह निर्जरा करनेवाला कहा गया है। **दोनों निर्जरा हैं,....** एक अजीव की पर्याय, एक जीव की पर्याय, दोनों निर्जरा हैं।

बँधने के योग्य.... आत्मा विकार की पर्याय में बँधने के योग्य अपने कारण से... आहाहा! राग-पुण्य-पाप के भाव से बँधने योग्य, विकार से बँधने योग्य, वह अपनी योग्यता से बँधने योग्य होता है। किसी कर्म के कारण से बँधने योग्य भाव होता है — ऐसा है नहीं। आहाहा! बँधने के योग्य, वह जीव की पर्याय; बँधन करनेवाला वह पुराना कर्म; यहाँ नये की बात नहीं है। पुराने कर्म निमित्त है, वह बँधन करनेवाले को, द्रव्यबन्ध कहा है, अजीव की पर्याय कहा है। यह भावबन्ध है, वह जीव की पर्याय है, आहाहा! अभी तो नवतत्त्व समझाते हैं, **दोनों बन्ध है।**

मोक्ष होने योग्य.... अब अन्तिम... आहाहा! भगवान आत्मा में केवलज्ञान में सिद्धपद के होने योग्य के काल में मोक्षपर्याय होती है। आहाहा! अपने स्वकाल में मोक्ष होने के समय में अपने निज क्षण में मोक्ष की पर्याय की उत्पत्ति का काल था, तो उसमें मोक्षदशा उत्पन्न हुई, वह मोक्षदशा जीव की पर्याय है। आहाहा! पर्याय है, वह द्रव्य नहीं, आहाहा! मोक्ष होने योग्य जो केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, वह जीव द्रव्य नहीं, पर्याय है। आहाहा! और उस समय कर्म का छूट जाना, वह द्रव्यमोक्ष है। यह भावमोक्ष है, वह कर्म छूट जाना द्रव्यमोक्ष है, एक जीव की पर्याय है, एक अजीव की पर्याय है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बापू! आहाहा! ज्ञान को फैलाना पड़ेगा, भाई! आहाहा!

वह आटा होता है न आटा, लोट, लोट, बनाते हैं न? कोई रोटी तुरन्त बनाते हैं? उस आटे को फैलाते हैं ऐसा। वैसे ज्ञान में पहले यह बात फैलानी पड़ेगी प्रभु! आहाहा! तुझे जानने योग्य को जानना पड़ेगा, आहाहा! अरे! **मोक्ष होने योग्य....** होने योग्य क्यों कहा? कि उस समय में केवलज्ञान की उत्पत्ति होने योग्य अपनी पर्याय में योग्यता से उत्पन्न हुई है, किसी कर्म का क्षय हुआ तो मोक्ष की पर्याय उत्पन्न हुई है — ऐसा नहीं है। आहाहा! क्या कहते हैं?

श्रोता : शुद्ध द्रव्य कहा है?

समाधान : नहीं, नहीं; यह तो पर्याय की बात है। वह पर्याय है, वह शुद्ध द्रव्य नहीं। यहाँ तो नौ पर्याय से भिन्न द्रव्य है, उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है, यह बतलाना है। सूक्ष्म बात है। यह बात तो अभी सुनने में कठिन पड़ती है। बाहर में ऐसा कहते हैं कि व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो, मन्दिर बनाओ, गजरथ निकालो, रथ निकालो... कौन करे ? वह तो जड़ की, पर की क्रिया है, उसमें कदाचित् तेरा भाव मन्द हो तो, राग की मन्दता हो तो वह पुण्य है, वह कोई धर्म नहीं है।

श्रोता : आप धर्म किसे कहते हैं ?

समाधान : यह कहते हैं न, कि यह नौ तत्त्व की जो पर्याय है, एक जीव की और एक अजीव की; दोनों को छोड़कर, दोनों की नवतत्त्व की पर्याय के भेद को छोड़कर, त्रिकाली अखण्डानन्द प्रभु जो शुद्ध है, जो पर्याय में कभी नहीं आया, कभी मलिन नहीं हुआ; कभी केवलज्ञान की पर्याय में भी आत्मा नहीं आता – ऐसी बात है। आहाहा!

श्रोता : परन्तु ऐसा हमारे देश में सुनायी नहीं देता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसे ऐसा समय हो ऐसा मनुष्यपना, बापू! अभी नहीं करे तो कब करेगा, भाई! यह मनुष्यपना तो विघट जायेगा, भाई! आँख बन्द करके चला जायेगा, भटकता हुआ जीव। आहाहा! यह पवन होती है न ? आँधी नहीं होती, आँधी कहते हैं या क्या कहते हैं ? उसमें तिनका होता है तिनका, उड़कर कहाँ जायेगा ? आहाहा! ऐसे जिसको अभी सम्यग्दर्शन नहीं है, मिथ्याश्रद्धा में पड़ा है, वह तिनका (जीव) उड़कर कहाँ जायेगा, भाई! आहाहा!

यहाँ बड़ा चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त, छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक, सोलह हजार देव सेवा करते थे, परन्तु मिथ्यात्व का पाप सेवन करता था। ऐसे हीरे के पलंग पर सोता था, उसकी एक स्त्री की तो हजार देव सेवा करते थे, स्त्री की हजार देव सेवा करते थे — ऐसी तो छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं, वह आँख बन्द करके, प्रभु! उस पलंग में से दूसरे समय सातवें नरक में गया। आहाहा! जिसके एक क्षण की वेदना... प्रभु! करोड़ों जीभ और करोड़ों भव में कही नहीं जा सके — ऐसी वेदना में गया। एक क्षण नहीं परन्तु तैंतीस सागर (की आयु प्राप्त हुई)। एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी

पल्योपम; एक पल्योपम में असंख्य भाग में असंख्य अरब वर्ष (होते हैं)। आहाहा! भाई! ऐसे दु:ख तूने अनन्त बार सहन किये हैं, अनन्त बार नरक में गया है, अनन्त बार निगोद में गया है। प्रभु! तुझे पता नहीं है। भूल गया इसलिए नहीं था — ऐसा कैसे कहें? आहाहा! समझ में आया? जन्म के बाद छह महीने में क्या हुआ, यह अभी पता है? पता नहीं इसलिए नहीं था — ऐसा कौन कहे? इसी प्रकार अनन्त काल में दु:ख सहन किया, वह पता नहीं है तो नहीं था — ऐसा कौन कहे? समझ में आया? लॉजिक से-न्याय से समझना पड़ेगा या नहीं? आहाहा! (यह) तो तेरे जन्म-मरण के दु:ख की दशा... भगवान पुकार करते हैं, प्रभु! इस दु:ख को क्या कहें? वह दु:ख तो सहन किया परन्तु दु:ख, तेरे दु:ख देखनेवाले को आँसू की धारा चलती थी, आहाहा! वह दु:ख मिटाने का रास्ता... आहाहा! नवतत्त्व की दृष्टि छोड़कर... आहाहा! क्योंकि नौ तत्त्व, वह पर्याय का भेद है। आहाहा! पर्याय का लक्ष्य छोड़कर (द्रव्यस्वभाव का लक्ष्य कर) आहाहा! समझ में आया?

मोक्ष होने योग्य तथा मोक्ष करनेवाला - दोनों मोक्ष हैं;.... आहाहा! क्यों? **क्योंकि एक के ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती।....** क्या कहते हैं? अकेला प्रभु ज्ञायकभाव, उसमें यह भेदभाव नहीं होता। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण यह भेदभाव होता है। अकेले ज्ञायकभाव में यह नव भेद नहीं होता। अपनी पर्याय की योग्यता और निमित्त — दूसरी चीज, दो के कारण से यह नव भेद उत्पन्न होता है। आहाहा! समझ में आया? **क्योंकि एक के ही अपने आप, अपने कारण से पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध की सिद्धि नहीं होती।** अकेले ज्ञायकभाव में नौ भेद कैसे आये? उसकी पर्याय और निमित्त दो मिलकर नौ भेद हुए हैं। आहाहा! हैं! आहाहा!

वे दोनों जीव और अजीव हैं.... कौन दो? जो जीव की पर्याय है, वह जीव कहने में आती है और जो उदय-अजीव है, उसे अजीव कहने में आता है। दो मिलकर जीव-अजीव हैं। आहाहा! समझ में आया? ये दोनों जीव-अजीव हैं, अर्थात् उन दोनों में से, दो में से एक जीव है और दूसरा अजीव है। आहाहा! यह पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा,

बन्ध और मोक्ष वह जीव की पर्याय है तथा जो कर्म का उदय है, वह अजीव की पर्याय निमित्त है। दो मिलकर यहाँ नौ भेद हुए हैं। अकेले आत्मा में नौ भेद नहीं होते, आहा! आहाहा!

अब दूसरी चीज, वे तो नौ सिद्ध किये, वे सम्यग्दर्शन का विषय नहीं हैं। आहाहा! अभी तो धर्म की पहली सीढ़ी का विषय वह नौ नहीं है। आहाहा! यह देव-गुरु और शास्त्र तो पर रह गये, वे भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। आहाहा! धर्म की पहली सीढ़ी उत्पन्न होने में त्रिकाली ज्ञायकभाव ही एक आश्रय करने योग्य है, बस! आहाहा! सूक्ष्म तो है परन्तु वस्तु ऐसी है। आहाहा! अब यह कहते हैं।

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाये.... क्या कहते हैं ? स्थूल दृष्टि से देखा जाये तो **जीव-पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय के समीप जाकर....** आहाहा! जीव की पर्याय और अजीव की पर्याय दोनों के समीप जाकर **एकरूप से अनुभव करने पर यह नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं....** नौ हैं। आहाहा! नौ प्रकार की पर्यायें हैं। असत्य है, झूठ है — ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया ? **जीव-पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर यह नवतत्त्व भूतार्थ हैं,....** नौ पर्याय है, नौ भेद है। **एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं; असत्यार्थ हैं....** आहाहा! क्या कहा ? आहाहा! एक स्वरूप भगवान आत्मा के समीप जाकर एकत्व का अनुभव करने पर ये नौ अभूतार्थ -झूठे हैं। आहाहा! डाह्याभाई! यह बात है भाई! कभी सुनी नहीं, बैठे तो कहाँ से ? आहाहा! ऐसी की ऐसी जिन्दगी बिना भान के जिन्दगी निकल जाती है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जीव और जड़ दो के भेद से विचार करने से नौ हैं, नौ हैं **और एक जीवद्रव्य के स्वभाव,....** भगवान पूर्णानन्द प्रभु ध्रुव स्वभाव, नित्य स्वभाव, सामान्य स्वभाव, एक रूप स्वभाव.... आहाहा! उसके **समीप जाकर,** एकरूप स्वभाव के समीप जाकर.... है ? **अनुभव करने पर अभूतार्थ है,** नौ बात (भेद) सत्य नहीं हैं, पर्याय भाव असत्यार्थ है। है ?

श्रोता : समीप कैसे जाना ?

समाधान : कहते हैं न, अन्दर उस ओर के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद में जाना।

सूक्ष्म बात है बापू! आहाहा! यह तो अनन्त काल में एक सेकेण्ड कभी किया नहीं। राग आग दाह दहै, जल गया है, मर गया है उसमें। आहाहा! विकल्प की जाल में जल गया है, मर गया है। इसे भान नहीं है। अन्दर मैं क्या चीज हूँ? आनन्द के नाथ ज्ञायकभाव से विराजमान प्रभु। आहाहा! उसको राग की अग्नि में सुलगा दिया। आहाहा! वह जलता नहीं। राग से जल गया तो उसको ज्ञायकभाव है नहीं — ऐसा हुआ। क्या कहा?

राग की पर्याय में एकाकार से जल उठा तो उसको ज्ञायकभाव है नहीं, तो उसके लिए ज्ञायकभाव तो मर गया है। आहाहा! यहाँ तो वहाँ तक कहते हैं 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' (में) अमृतचन्द्राचार्य.... सन्त तो सब दिगम्बर हैं, (वे कहते हैं) — यह पर की दया पालने का भाव राग है, वह स्वरूप की हिंसा है। वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञायक स्थायी चीज है, उसमें वह राग-विकृतदशा हुई, वह स्वरूप की हिंसा हुई। अपने स्वरूप का निषेध हुआ, राग का अस्तित्व प्रसिद्ध में आया!

श्रोता : इसमें हिंसा क्या हुई?

समाधान : राग हुआ, उसका क्या अर्थ हुआ? राग की अस्ति देखने में त्रिकाल की अस्ति छूट गयी, दृष्टि में से छूट गयी। आहाहा! कठिन बात, भाई! एकरूप वस्तु में से निकलकर विकल्प आया है, चाहे तो... धर्म का, आहाहा! इस अपने स्वरूप का आश्रय नहीं लिया और राग का आश्रय लिया तो स्वरूप की हिंसा हुई। आहाहा!

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६१ गाथा-१३ दिनाङ्क १८-०८-१९७८ शुक्रवार
श्रावण शुक्ला १५, वीर निर्वाण संवत् २५०४

(श्रीसमयसार) गाथा १३, दूसरा पैराग्राफ है न। **स्थूल (बाह्य) दृष्टि से देखा जाये....** पैराग्राफ आया न! सूक्ष्म विषय भगवान! अनन्त काल में नव तत्त्व की परिपाटी का भेद है, उसे छोड़कर ज्ञायकभाव अकेला चैतन्यमूर्ति है — ऐसा कभी आश्रय नहीं किया, कभी दृष्टि नहीं की; तो कहते हैं कि **स्थूल दृष्टि से देखा जाये तो — जीव-पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय के समीप....** भगवान आत्मा और राग का सम्बन्ध-

बन्धपर्याय के समीप जाकर **एकरूप से अनुभव करने पर....** राग और आत्मा, भेद और आत्मा, जीव की एक समय की पर्याय, जो अजीव का ज्ञान होता है वह, उसको यहाँ अजीव कहते हैं। अजीव भाव तो आत्मा में होता ही नहीं और पुण्य-पाप का भाव जो दो मलिनभाव है, उस बन्ध की पर्याय के समीप जाने से दिखते हैं, आहाहा! नवतत्त्व के भेद (दिखते हैं)। सूक्ष्म बात है प्रभु! इस जीव-पुद्गल के समीप जाकर **अनुभव करने पर यह नवतत्त्व भूतार्थ हैं,....** पर्याय में नौ प्रकार हैं। सूक्ष्म बात है बापू! पर्याय में नौ प्रकार हैं, वे भूतार्थ हैं, व्यवहारनय से हैं।

श्रोता : पहले तो अभूतार्थ कहते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे यहाँ हैं, इस अपेक्षा से भूतार्थ कहते थे। उस त्रिकाल की अपेक्षा से अभूतार्थ हैं, यह अभी कहेंगे। आहाहा! बहुत सूक्ष्म विषय! अनन्त काल में कभी... ज्ञायक क्या चीज है? अन्दर परमात्मा स्वरूप है। हरी कहो, विष्णु कहो, ब्रह्मा कहो, ब्रह्मानन्द कहो, परमात्मा कहो, वह सब आत्मा अन्दर है। **'हरति इति हरि'** जो अज्ञान और राग-द्वेष को हरे, वह हरि परमात्मा अपना स्वरूप है हरि। समझ में आया? ऐसे एकरूप परमात्मा में कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में देखने से नवतत्त्व पर्यायरूप हैं, भूतार्थ हैं — ऐसा कहा गया है। समझ में आया? आहाहा!

क्या बात! है न? **और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर....** आहाहा! अब रात्रि को कोई पूछते थे कि हमें कैसे जानना? भाई! यह जीव स्वभाव ज्ञायकरूप शाश्वत् चीज है, उसके सन्मुख जाने से... आहाहा! ज्ञायकभाव शाश्वत् स्वभाव एकरूप भाव; जो भाव, पुण्य-पाप में तो आया नहीं परन्तु वह संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय में भी वह ज्ञायकभाव आया नहीं। आहाहा! जैनधर्म बहुत सूक्ष्म और यही धर्म है, अन्य कोई धर्म है नहीं। समझ में आया?

इस ज्ञायकभाव के समीप जाने से, **एक जीवद्रव्य के स्वभाव....**एक जीवद्रव्य का स्वभाव — एकरूप त्रिकाल ज्ञायकभाव, आनन्दभाव, शान्तभाव, ध्रुवभाव.... जो नौ तत्त्व की पर्याय के समीप जाने से नौ तत्त्व हैं परन्तु उसकी दृष्टि छोड़कर नौ की पर्यायभेद का लक्ष्य छोड़कर, ज्ञायक परम त्रिकाली प्रभु है, उसके सन्मुख जाकर, दृष्टि वहाँ

लगाकर... आहाहा! **भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है।** आहाहा! वहाँ तो नव तत्त्व में-पर्यायभेद में एक जीव ज्ञायकभाव त्रिकाल ही प्रकाशमान है। आहाहा! क्या कहते हैं अभी? समझ में आया?

पर्याय में — वर्तमान दशा में कर्म के निमित्त के सम्बन्ध की दृष्टि से देखो तो नव पर्याय है, पर्याय में नौ प्रकार हैं। इस जीव में नौ प्रकार में जो जीव गिनने में आया, वह जीव का एक अंश / पर्याय लेना (समझना); सम्पूर्ण जीवद्रव्य नहीं। समझ में आया? एक जीव की एक समय की पर्याय को यहाँ जीव नौ (तत्त्व) में-कहने में आया और भेद सब — आस्रव, पुण्य-पाप, संवर-निर्जरा, बन्ध (और) मोक्ष — यह सब भेदरूप पर्याय है। पर्यायदृष्टि से वह वस्तु है, परन्तु उस दृष्टि से आत्मज्ञान नहीं होता, सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली सीढ़ी (नहीं होता)। इस नवतत्त्व के भेद की दृष्टि से सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यक् अर्थात् सत्यदर्शन; वह तो त्रिकाली ज्ञायकभाव जो ध्रुव है, जिसमें भेद नहीं और भेद में वह आया नहीं... आहाहा! ऐसी बात! यह मोक्ष की पर्याय है, उसमें भी द्रव्य आया नहीं। आहाहा! संवर-निर्जरा आदि जो मोक्ष के मार्ग की पर्याय है, उसमें भी वह ज्ञायकभाव आया नहीं। आहा...हा...! ऐसा। है? **नव तत्त्वों में भूतार्थनय से....** नौ की पर्याय में लक्ष्य छोड़कर एकरूप त्रिकाली ज्ञायकभाव की दृष्टि करने से **एक जीव ही प्रकाशमान है।** वहाँ तो चैतन्यमूर्ति भगवान एक ही प्रकाशमान है, वह दृष्टि / सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा! ऐसी बातें, बापू! समाज को साधारण बात में अटककर जिन्दगी निकालते हैं। आहाहा! यहाँ परमात्मा सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ ऐसा फरमाते हैं, वही सन्त कहते हैं। सन्त आडतिया होकर (केवली का) माल कहते हैं। आडतिया समझते हैं? माल तो सर्वज्ञ के घर का है, सन्त आडतिया होकर यह बात करते हैं। आहाहा! समझ में आया? कि **नव तत्त्वों में....** नौ की पर्याय के भेद में से **भूतार्थनय से एक जीव ही....** आहाहा! विद्यमान, विद्यमान चीज, विद्यमान मौजूदगी, त्रिकाली शाश्वत् वस्तु जिसमें पर्यायभेद भी नहीं, आहाहा! ऐसा। **भूतार्थनय से....** भूत अर्थात् विद्यमान पदार्थ पूर्णानन्द प्रभु, इसके नय से — इस दृष्टि से देखने से **एक जीव ही प्रकाशमान है।** भाई! यह तो मन्त्र है, यह कोई वार्ता-कथा नहीं, यह कोई शब्दों-एक शब्द में पूरा पड़े — ऐसी चीज नहीं है। आहाहा!

यह तो सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि में आया हुआ मार्ग है। जो इन्द्र एकावतारी, एक भवतारी भी सुनते हैं, वह चीज कैसी है! भैया! आहा! आहा! यह नवतत्त्व की पर्याय की अवस्था का भेद, है भेद, परन्तु उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। धर्म की पहली श्रेणी (नहीं होती) इस नौ की पर्यायभेद से सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि सम्यक् पूर्णस्वरूप जो भगवान सत् है, वह सत् है, उसकी दृष्टि से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यक् अर्थात् सत्यदृष्टि, आहाहा! उस त्रिकाली ज्ञायकभाव के समीप जाने से जीव के एकरूप द्रव्यस्वभाव के समीप जाने से एक जीव ही प्रकाशमान दिखता है, बस! उसमें भेद नहीं है। संवर, निर्जरा, और मोक्ष की पर्याय भी ऐसे जीवद्रव्यस्वभाव में नहीं है। आहाहा!

इसी प्रकार अन्तर्दृष्टि से देखा जाये.... पहले वह बाह्यदृष्टि की बात की। अब अन्तर्दृष्टि से देखा जाये — अन्तर्दृष्टि से भगवान आत्मा को देखा जाये तो ज्ञायकभाव जीव है, वस्तु जानन... जानन... जानन... स्वभाव, ज्ञानस्वभाव का पिण्ड (है)। जैसे, यह बर्फ की शिला होती है, पचास मण की; वैसे भगवान अनन्त गुण की शिला एकरूप स्वभाव अन्दर है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें हैं। जीव के... ज्ञायकभाव जीव है। भगवान जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... ध्रुव... यह पानी का प्रवाह ऐसे चलता है और आत्मा का ध्रुव प्रवाह ध्रुव.... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ऐसे चलता है। आहाहा! ऐसा ज्ञायकभाव जीव है। यह त्रिकाली ज्ञायकभाव ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... वह जीव है। आहाहा! **और जीव के विकार का हेतु....** विकार का अर्थ भेद का हेतु... यहाँ संवर, निर्जरा, मोक्ष को भी विकार कहते हैं। भेद आया न भेद? विशेष कार्य। यह विकार अर्थात् मलिनता — ऐसा यहाँ नहीं लेना। आहाहा!

जीव के विशेष कार्य का हेतु, भेद पड़ते हैं वह निमित्तकर्म का — अजीव का निमित्त से उसकी अस्ति में पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध के भेद दिखते हैं और उसके अभाव में संवर, निर्जरा भी उसमें भी निमित्त के अभाव की अपेक्षा आयी। क्या कहा? जो भगवान ज्ञायकभावरूप एक है, उसमें जो पर्याय में पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, विकारी पर्याय होती है, उसमें अजीव-कर्म का निमित्त सापेक्ष है; और संवर, निर्जरा, मोक्ष है, वह निमित्त के अभाव की सापेक्षता है। इसमें परमपारिणामिक भाव नहीं आया, उसमें सापेक्षता आयी। आहाहा!

जीव के विशेष कार्य का हेतु — विशेष / पर्याय भेद का हेतु **अजीव** है। आहाहा! भाई! यह तो भगवान परमात्मा सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ की वाणी है। बापू! यह कोई साधारण बात नहीं है। आहाहा! जिसे इन्द्र, सौ इन्द्र, बाघ और सिंह, जंगल में से कुत्ते के बच्चे की तरह चले आयें भगवान के समवसरण में। महाविदेह में भगवान (सीमन्धरनाथ) हैं, यहाँ थे तो यहाँ भी थे। भगवान विराजते हैं, पाँच सौ धनुष का देह है, पूर्व दिशा है न! आहाहा! महाविदेह में, पहले में... बत्तीस भाग हैं, उसमें एक भाग में भगवान विराजमान हैं। आहाहा! पाँच सौ धनुष, का शरीर-देह है, दो हजार हाथ ऊँचा है। अभी प्रभु मनुष्यरूप में विराजते हैं। अन्दर में तो त्रिकाली ज्ञान सर्वज्ञ प्रभु एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक को देखते हैं। उसकी वाणी में यह आया, उसे सन्त जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। समझ में आया? आहा!

जीव तो ज्ञायकभाव ही है। यह त्रिकाली द्रव्य की बात आयी। उन नवतत्त्व में जीव, वह तो एक समय की पर्याय को जीव कहा। समझ में आया? आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकभाव शाश्वत् ध्रुव चीज अनादि-अनन्त अन-उत्पन्न, अ-नाश; नाश नहीं और अपने पूर्ण स्वभाव से भरा पड़ा भगवान, वह **ज्ञायकभाव जीव** है और उसमें विशेष कार्य का हेतु — पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, और मोक्ष, यह विशेष कार्य है, उसमें हेतु अजीव है; तो अजीव हेतु क्यों कहा? कि पुण्य-शुभ—अशुभभाव में आस्रव, बन्ध है उसमें तो अजीव के निमित्त की सापेक्षता आ जाती है परन्तु बाद में संवर-निर्जरा, मोक्ष में भी निमित्त के अभाव की अपेक्षा आती है, ऐसी चीज पर्याय कही जाती है। **उस विकार का हेतु अजीव...** विशेष कार्य में हेतु अर्थात् निमित्त अजीव है, तो संवर-निर्जरा-मोक्ष की पर्याय में हेतु अजीव कैसे? भगवान जो आत्मा त्रिकाली स्वरूप परमपारिणामिक ज्ञायकभाव है, उसमें किसी निमित्त की अस्ति या अभाव की अपेक्षा नहीं है — ऐसी ज्ञायकभाव त्रिकाल वस्तु है, उसके समीप जाने से सम्यग्दर्शन होता है, उससे दूर-दूर भटकते हैं, और नौ पर्याय में उसका लक्ष्य और वहाँ रहता है तो ज्ञायकभाव उसकी दृष्टि में नहीं आता। उसका परिपूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा, वह उसकी दृष्टि में ज्ञान में नहीं आता। आहाहा!

श्रोता : सम्यग्दर्शन का विषय अधूरा है, त्रिकाली वस्तु....

पूज्य गुरुदेवश्री : त्रिकाली वस्तु, वह सम्यग्दर्शन का विषय है।

श्रोता : तो अधूरा रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अधूरा किसने कहा? त्रिकाली वस्तु है न? पर्याय के पीछे।

श्रोता : प्रमाण की अपेक्षा से भेद है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यहाँ तो नय के विषय की बात चलती है न! प्रमाण का विषय तो त्रिकाली ज्ञायकभाव और वर्तमान रागादि पर्याय, संवर आदि — यह सब व्यवहारनय का (विषय है)। निश्चय और व्यवहार दोनों का विषय प्रमाण (है)।

इस प्रमाण के विषय में तो द्रव्य-पर्याय दो आया परन्तु उसमें से जहाँ निश्चयनय की दृष्टि से — एक नय से देखना है.... आहाहा! समझ में आया? तो ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विशेष कार्य का हेतु अजीव है। कौन? **पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष जिनके लक्षण हैं — ऐसे केवल जीव के विकार हैं....** केवल जीव की विशेष दशा है। है? शुभभाव, जीव की विकृत अवस्था; पापभाव, जीव की विकृत अवस्था; आस्रव विकृत अवस्था; संवर अविकृत अवस्था.... परन्तु ये विशेष है न? सामान्य ज्ञायकभाव नहीं। आहाहा! ऐसी बात अब... इसे एक-एक गाथा में....

श्रोता : कभी आप कहते हो आत्मा ध्रुव है, कभी आप कहते हो पर्याय, हमारे समझना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : विशेष स्पष्ट कराते हैं। पर्याय भी है और द्रव्य भी है, दो है। द्रव्य है वह ज्ञायकरूप एकरूप है और पर्याय है वह भेदरूप दशावन्त है। पुण्य-पाप आस्रव, संवर, निर्जरा आदि ये भेदरूप हैं। हैं तो ये भी और वह भी है परन्तु नवतत्त्व का भेद — विशेष है, वह तो व्यवहारनय का विषय है। वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। आहाहा! वह शुद्धनय का विषय नहीं है। विषय शब्द से (आशय) ध्येय; शुद्धनय का ध्येय तो त्रिकाली ज्ञायकभाव है। आहाहा! सूक्ष्म बात बापू! इसने कभी (निर्णय) किया नहीं। दुनिया की होली सुलगायी, पूरे दिन राग-द्वेष। आहाहा!

श्रोता : होली अर्थात्।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग की अग्नि सुलगायी। कल कहा नहीं था ? कहा था न, राग दाह दहै.... छहढाला में आता है न ? पाठशाला में पढ़ाते हैं, छहढाला... उसमें आता है — 'राग दाह दहै सदा, राग आग दाह दहै सदा....' यह राग के विकल्प से अग्नि सुलगती है, अन्दर जलते हैं, अशान्ति से जलते हैं, अनादि से प्राणी (जलते हैं)। समझ में आया ? चाहे तो वह स्वर्ग में हो या चाहे तो इस सेठाई में अरबोंपति में हो, वह राग की अग्नि में जलते हैं, जलते हैं वे। आहाहा!

श्रोता : मजा करते हैं, और आप कहते हो जलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन मजा करे ? मूर्ख है मजा मानता है तो। सन्निपात होता है न सन्निपात....

श्रोता : यह तो चतुर की बात है आप तो पागल की बात करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वात, पित्त और कफ जब विशेष बिगड़ जाते हैं; वात-पित्त-कफ विशेष बिगड़ जाते हैं-विशेष होता है, तब सन्निपात होता है। सन्निपात में दाँत निकालता है, सुखी है ? वैसे ही एकरूप भगवान आत्मा की श्रद्धा बिना, राग और पर्याय की श्रद्धावाला, (उसकी) मिथ्या-श्रद्धा है, ज्ञान मिथ्या है और राग का आचरण — मिथ्या आचरण है, उसे तीनों का सन्निपात लगा है। वह मजा मानता है, वह सन्निपातवाले की तरह हर्ष करता है, वैसे ही यह मजा (मानकर) सन्निपाती, पागल है यह। आहाहा! ऐसा भगवान कहते हैं, हाँ! आहाहा!

श्रोता : सोनगढ़ का सिद्धान्त निकला।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ का ? यह भगवान केवली कहते हैं, यह कौन कहते हैं ? सन्त, दिगम्बर सन्त, आनन्द की क्रीड़ा में रमनेवाले... आहा! निर्विकल्प आनन्द की मौज में अन्दर रमनेवाले, निज वैभव-अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय शान्ति — ऐसे निज वैभव में रमनेवाले सन्त, उसको सन्त-मुनि कहते हैं। वे सन्त यहाँ कहते हैं। आहाहा! यह उनकी संस्कृत टीका है। यह भगवान आत्मा एकरूप जो ज्ञायकभाव है, वह तो उसका स्वभाव है और वही दृष्टि का विषय है। उस ज्ञायकभाव

के समीप जाने से सम्यग्दर्शन होता है। नव के भेद के समीप जाने से सम्यग्दर्शन का अभाव होता है। आहाहा!

यह पुण्य और पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष जिनके लक्षण हैं — ऐसे केवल जीव की पर्याय / **विकार,** जीव का विशेष भाव है। विकार अर्थात् जीव का विशेष भाव है। सामान्य भाव तो ज्ञायक एकरूप त्रिकाल है। समझ में आया? और यह पुण्य-शुभभाव, पापभाव, आस्त्रवभाव दो, दो मिलकर; संवर, निर्जरा, मोक्ष, यह सब जीव की पर्याय, है? केवल जीव की विशेष दशा है। विशेष, विकार, अर्थात् विकार, विकृत अवस्था विशेष अवस्था है। आहाहा! चाहे तो संवर, निर्जरा और मोक्ष भी विशेष अवस्था है, यह ज्ञायकभाव त्रिकाल वह उसमें नहीं आया। आहाहा!

सम्यग्दर्शन में ज्ञायकभाव का भान होता है, प्रतीति आती है परन्तु उस प्रतीति में — पर्याय में ज्ञायकभाव नहीं आता। आहाहा! क्यों? क्योंकि यह द्रव्य है, वह पर्याय में कहाँ से आयेगा? द्रव्य की सामर्थ्य जितनी है, इतनी प्रतीति में सामर्थ्य आती है परन्तु वह द्रव्य - चीज है, वह पर्याय में आ जाये — ऐसा कभी नहीं होता। आहाहा! अरे...! किसने सुना है? जय भगवान (करके) ऐसी की ऐसी जिन्दगी निकाली आहाहा! वह केवल जीव की विशेष दशा है, नौ। एक समय की पर्याय भी विशेष दशा है — ऐसा लिया न, भाई? नौ में जीव की एक पर्याय है, उसे जीव कहा है। द्रव्य-जीव जो है, वह उसमें नहीं आया। समझ में आया? नौ कहे न? नौ, वे केवल जीव के विशेष हैं। आहाहा! समझ में आया? विशेष अर्थात् दशा है, उसकी पर्याय है, उसमें भेद है। वस्तु ज्ञायक है, वह उसमें नहीं आया। आहा! तो यह विकार का — यह प्रकार जीव की पर्याय में नौ प्रकार है, विशेष। एक बात।

पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष - ये विकार हेतु... निमित्त; केवल अजीव हैं।... उसमें जो निमित्त है, वह केवल अजीव है। भेद, जो अपनी पर्याय में है, वह जीव की पर्याय है। आहाहा! यह एक गाथा भी समझना कठिन है। एक व्यक्ति कहता है मैंने पूरा समयसार पन्द्रह दिन में पढ़ लिया। यह तुम समयसार की बहुत महिमा करते हो (कि) समयसार ऐसी चीज है — वैसी चीज है तो पन्द्रह दिन

में पढ़ लिया। अरे! पढ़ा उसमें क्या भला हुआ? उसका भाव क्या है, यह समझे बिना तूने पढ़ा, अंग्रेजी अक्षर लिखे हैं, वह पुस्तक ए, बी, सी, डी... ए, बी, ऐसे अक्षर पढ़े और पढ़ गये तो उसमें भाव आया विशेष? डाह्याभाई! आहाहा! ऐसे अक्षर पढ़ गये परन्तु उसमें भाव क्या है? यह क्या आया तेरे? आहाहा!

श्रोता : आप कहते हैं, ज्ञायकभाव जीव है और नवतत्त्व जीव के विशेष हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : किस प्रकार भाषा में? भाषा में आ गया? आहाहा! यहाँ तो भाव में आना चाहिए — ऐसा कहते हैं। आहाहा!

श्रोता : एक शर्त खत्म हुई तो दूसरी शर्त आयी, कितनी शर्त लाते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो एक की एक शर्त है। त्रिकाली सामान्य ज्ञायकभाव ही सम्यग्दर्शन का विषय है, यह एक ही शर्त है परन्तु भिन्न-भिन्न रूप से समझाते हैं। आहाहा! जिसको जन्म-मरणरहित होना हो, उसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। सम्यग्दर्शन कैसे हो? कि त्रिकाली ज्ञायकभाव के समीप जाने से एकत्वबुद्धि होती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! तथापि सम्यग्दर्शन की पर्याय में सामान्य जीव है, उसकी प्रतीति आयी परन्तु सामान्य जीव है, वह सम्यग्दर्शन की पर्याय में जीव नहीं आया। विशेष में सामान्य नहीं आया। आहाहा! यह क्या कहते हैं? ज्ञानचन्दजी! ये नौ हैं, वे अजीव हैं, विशेष हेतु अजीव हैं।

ऐसे यह नव तत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर,.... आहाहा! भगवान ज्ञायक स्वभाव त्रिकाल है, उसे छोड़कर **स्वयं और पर जिनके कारण हैं....** अपनी पर्याय में नौ और पर निमित्त — यह स्व और पर जिनके कारण हैं — **ऐसे एक द्रव्य की पर्यायों के रूप में....** यह द्रव्य की पर्याय के भेदरूप में **अनुभव करने पर** नौ हैं, नौ हैं। हैं?

भाई! यह मार्ग तो वीतराग का है भाई! जिनके पास इन्द्र, बाघ और सिंह जंगल में से, केसरी सिंह जंगल में से समवसरण में सुनने को चला आता है। शान्त... शान्त... शान्त...! वन का क्या कहा जाये? वह राजा, सिंह वन का राजा, सैकड़ों सिंह जंगल में से चले आते हैं। भगवान की सभा में, तो वह चीज कैसी होगी, वह वार्ता कैसी होगी? आहाहा!

श्रोता : भगवान की वाणी का कितना प्रभाव है!

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभाव तो.... यह तो उनके पुण्य का उदय... परन्तु सुनने योग्य जीव वे सुनते हैं, उसमें कितनी पात्रता है! आहाहा! समझ में आया? साक्षात् तीन लोक के नाथ, उनकी वाणी वह यह वाणी है। आहाहा!

कहते हैं, **यह नव तत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर,....** त्रिकाली ज्ञायकभाव का लक्ष्य छोड़कर, **स्व और पर जिनके कारण....** स्व में वे पहले जीव को अलग किया न, केवल जीव के विकार वह स्व, और पुण्य-पाप आदि अजीव वे पर **ऐसे एक द्रव्य की पर्याय... द्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने पर....** इस वस्तु की वर्तमान दशा का अनुभव करने पर वे नौ हैं। आहाहा! अनुभव शब्द से यहाँ सम्यग्दर्शन नहीं (समझना चाहिए)। नौ का ज्ञान करने पर नौ हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। लोग तो बाहर से मानकर बैठ गये हैं, कुछ व्रत लिये और तपस्या उपवास किये और मन्दिर-मन्दिर बनवाये और भक्ति, पूजा, यात्रा करवाये भगवान....

श्रोता : आगम मन्दिर बनावे तो धर्म होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आगम मन्दिर बनाया, कहा न? यह रामजीभाई ने नहीं बनाया, आहाहा! हाँ! तुम तो प्रमुख थे या नहीं? आहाहा! प्रमुख तो यह थे, भले ही उस समय नवनीतभाई थे परन्तु सब नवनीतभाई तो ठीक परन्तु प्रमुख तो पहले से ये एक ही हैं। यह इनने नहीं बनाया, उनसे तो बना ही नहीं। वह तो जड़ की पर्याय उस समय में उत्पन्न होने की योग्यता से बना है। यह मन्दिर की-जड़ की पर्याय है। आहाहा! वह जन्म-क्षण है, प्रवचनसार गाथा १०२। वह जन्म अर्थात् उत्पत्ति का क्षण था, वहाँ उत्पन्न हुआ है। समझ में आया? इन्हें उसे बनाने में विकल्प हो, वह शुभभाव है, बस! पुण्य है। पुण्य वह आत्मा की विशेष दशा — विकार है। आहाहा! ऐसी बात है।

पर्यायदृष्टि से देखो तो नौ हैं, भूतार्थ है परन्तु उसमें सम्यग्दर्शन नहीं आया। धर्म की पहली सीढ़ी उत्पन्न करने में नव तत्त्व के विषय से वह दर्शन उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! पर्याय विशेष है न? आहाहा! **और सर्व काल में अस्खलित....** देखो, अब यह! सर्व काल में विशेष में नहीं आनेवाला... अस्खलित स्खल का उसमें एक अंश में भी कभी नहीं आता, केवलज्ञान की पर्याय में भी ज्ञायकभाव त्रिकाल नहीं आता। आहाहा!

यह जीव निगोद में है तो ज्ञान का अक्षर के अनन्तवें भाग उसको विकास है, तो भी ज्ञायक तो सर्व काल में अस्खलित है — ऐसा है, वहाँ अन्दर पड़ा है। क्या कहा? ज्ञान की पर्याय.... यह निगोद है न निगोद? निगोद क्या? यह लहसुन, प्याज, उसका एक टुकड़ा राई जितना लो तो उसमें असंख्यात तो शरीर हैं, और एक शरीर में अनन्त जीव हैं और एक जीव को वर्तमान में उसकी पर्याय में अक्षर के अनन्तवें भाग का उसका विकास है — ऐसा पर्याय में होने पर भी वस्तु है वह तो त्रिकाल अस्खलित ज्ञायकभाव है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें अब किसे? और केवलज्ञान होता है, परिपूर्ण पर्याय, वह तीन काल-तीन लोक को जाने ऐसी पर्याय आयी तो भी ज्ञायकभाव तो जैसा है — ऐसा का ऐसा है। लिखा है या नहीं देखो? **सर्व काल में अस्खलित....** है? सर्व काल में स्खलित नहीं होता अर्थात् उसमें कुछ हीनाधिकता नहीं होती। आहाहा! अब ऐसा है।

सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव.... आहाहा! त्रिकाली जीवद्रव्य का वर्तमान स्वभाव। कायम रहनेवाला अस्खलित कायम। सामान्य में से विशेष में स्खलना आ जाती है — ऐसी वह चीज नहीं है। आहाहा! सर्व काल में अस्खलित आहाहा! नरक में नारकीरूप से अनन्त-अनन्त दु:ख पर्याय में वेदन किया परन्तु वस्तु तो सर्व काल में अस्खलित ज्ञायकभाव तो वहाँ भी ऐसा का ऐसा है। आहाहा! और सर्वार्थसिद्धि में गया और वहाँ सुख की सामग्री का पार नहीं और तैतींस हजार वर्ष में तो आहार की डकार कण्ठ में से आती है। उस प्राणी की पर्याय में भी द्रव्य तो जैसा है, वैसा का वैसा अन्दर पड़ा है। **सर्व काल अस्खलित...** यह सर्व काल अस्खलित की व्याख्या होती है। आहाहा! समझ में आया? केवलज्ञान की पर्याय हो परन्तु वस्तु है, वह तो तीन काल, तीनों ही काल अस्खलित है, वह पर्याय में नहीं आती — इसका अर्थ ऐसा है।

श्रोता : पर्याय में नहीं आता, उसका नाम अस्खलित?

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्खलित। आहाहा! देखो! क्या कहते हैं देखो? **सर्व काल में....** यह तो मन्त्र है प्रभु! जैसे बिच्छू उतारने का मन्त्र होता है न, बिच्छू का डंक, ऐसे सर्प का डंक, वैसे ही यह मिथ्यात्व का जहर उतारने का मन्त्र है। आहाहा! अनादि राग और

पुण्य का परिणाम मेरा, उससे मुझे लाभ है, (यह) उसको मिथ्यात्व का जहर लगा है। यह जहर उतारने का यह मन्त्र-दशा है। आहाहा!

सर्व काल में... आहाहा! त्रिकाली स्वभाववन्त परमात्मा सर्व काल में अस्खलित एकरूप है। आहाहा! अनादि काल से यह जगत है, तो अनादि काल से केवलज्ञानी भी है। जगत में केवलज्ञानी भी अनादि काल से है। यह जगत था और केवलज्ञानी परमात्मा नहीं थे — ऐसा नहीं है परन्तु यह जगत है; इसलिए केवलज्ञान हुआ — ऐसा नहीं और केवलज्ञान हुआ तो आत्मा सामान्य में से हटकर स्खलित हो गया... इतनी केवलज्ञानदशा अनन्त आनन्द दशा प्रगट हुई तो त्रिकाली स्वभाव में कोई कमी हो गयी (— ऐसा नहीं है।) आहाहा! समझ में आया? **'सर्व काल में अस्खलित'** शब्द का बड़ा गम्भीर अर्थ है। आहाहा! अरेरे! इसने कुछ सुना नहीं न? आहा!

सातवें नरक के नारकी का दुःख.... प्रभु! कहा था न कल? एक क्षण का दुःख... परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से नहीं कहा जा सकता, इतना (एक) क्षण का दुःख। ऐसे तैंतीस सागर तक अनन्त बार हुआ है परन्तु वस्तु है, वह तो अस्खलित ज्ञायकभाव — ऐसा का ऐसा पड़ा है। आहाहा! आनन्द से परिपूर्ण है, वह ऐसी दुःखदशा के काल में भी आनन्द से परिपूर्ण ज्ञानानन्द भगवान अन्दर पड़ा है। आहाहा! समझ में आया? समझ में आये, उतना समझना बापू! यह तो भगवान का मार्ग, भाई!

अरे! परमात्मा का विरह पड़ा, वीतराग रहे नहीं... जैसे लक्ष्मी जाती है और माता-पिता मर जाते हैं, फिर बाद में लड़के विवाद करते हैं। आहाहा! बँटवारे के लिये (विवाद करते हैं) यह मकान मेरा, मैं बड़ा भाई हूँ मैं इसमें रहता हूँ, पिताजी रहते थे, दस लाख का मकान है परन्तु यह मुझे लेना है — यह विवाद पड़ता है। लक्ष्मी घटे, माँ-बाप स्वर्गस्थ हो जायें... वैसे ही केवलज्ञान की लक्ष्मी गयी, त्रिलोक के नाथ परमात्मा पिताजी रहे नहीं। आहाहा! बाद में यह विवाद खड़ा किया.... कोई कहता है कि नहीं, पुण्य से धर्म होता है, कोई कहता है — देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा से धर्म होता है... कोई कहता है — मन्दिर को बनाने से धर्म होता है! ऐसा विवाद भगवान के विरह में बहुत पड़ा है। युगलजी! आहाहा!

ऐसा हो भले ही, चाहे सो विपरीत दृष्टि (करे) परन्तु वस्तु जो अन्दर है, वह

तो अस्खलित त्रिकाल अन्दर पड़ी है। आहाहा! भाई! भाषा सरल दिखती है परन्तु वह भाव समझना... आहाहा! **सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव....** देखो! त्रिकाल कायम रहनेवाली चीज, एकरूप — ऐसा एक जीवद्रव्य.... देखो! एक जीवद्रव्य, एक अपने जीवद्रव्य के स्वभाव **के समीप जाकर....** आहाहा! नौ तत्त्व के भेद में जब दूर होता है समीप से, (जब) नौ पर्याय के समीप जाते थे परन्तु द्रव्य से दूर होता था। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि भगवान एकरूप द्रव्यस्वभाव सर्व काल में स्खलना अर्थात् विशेषरूप, वह कुछ नहीं होता और विशेष दशा पूर्ण हो तो भी वहाँ कुछ स्खलना नहीं होती और विशेष दशा बहुत अल्प होती है, तो भी वहाँ स्खलना नहीं होती। आहाहा! ऐसे **सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप....** यह अन्तर में दृष्टि कर प्रभु! आहाहा! पर्याय के भेद की दृष्टि छोड़ दे। आहा! तेरा जीव-द्रव्यस्वभाव जानना हो तो... आहाहा! और तुझे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो तो — धर्म की पहली दशा प्रगट करना हो तो त्रिकाल अस्खलित जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जा। पर्याय से दूर हो जा, आहाहा! ऐसा मार्ग है।

एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर — ऐसा क्यों कहा? कि कर्म हटे तो समीप जाकर — ऐसा नहीं। तुम तुम्हारे पुरुषार्थ से त्रिकाली स्वभाव के समीप जा सकते हो। समझ में आया? और अपने उल्टे पुरुषार्थ से ही तुम पर्यायबुद्धि में रुक गये हो। आहाहा! किसी कर्म के कारण रुक गया है और कर्म हट जाये तो सम्यग्दर्शन होता है और (स्वभाव के) समीप जाता है — ऐसा नहीं है। आहाहा!

श्रोता : हमारी तरफ तो ऐसा कहते हैं कि कर्म से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब झूठ है, यह तो पहले से है, देवचन्दजी! यह तो (संवत्) ७१ के साल से हमारे चलती है, ६३ वर्ष हुए। ६३; ६० और ३ वर्ष (हुए)। पहले हमारे गुरु थे, बहुत प्रसिद्ध थे, थे स्थानकवासी परन्तु दृष्टि विपरीत थी, परन्तु हमें ७१ में, ७० में दीक्षा ली, ७० कहते हैं तुम्हारे में सत्तर कहते हैं न। सात और शून्य, १९७०, ६५ वर्ष हुए। पहले हमने निकाला — हमें तो पूर्व का संस्कार था न? तो गुरु ने कहा नहीं,

शास्त्र में पढ़ते थे तो उसमें से निकाला, पहले-पहले बाहर बोले थे कि 'विकार अपने में होता है, वह कर्म से बिल्कुल नहीं।' खलबलाहट हो गयी, दोपहर को व्याख्यान करते थे, सबेरे हमारे सम्प्रदाय के गुरु थे न, वे करते थे और आठमपाखी का प्रोषध करते हैं न प्रोषध? प्रोषध नहीं? चौबीस घण्टे खाना नहीं और एक जगह रहना तो, लाठी, लाठी, दामनगर के पास है तो वहाँ प्रोषध, २५-३०-४० लोग होते थे और दोपहर को लोग कहते कानजीस्वामी पढ़ें, कानजीस्वामी पढ़ें - ऐसे लोग बहुत माँग करते थे तो हम दोपहर को एक घण्टे पढ़ते थे। आठम और पाखी, महीने में चार बार, हर रोज नहीं। जब प्रोषध हो, सबेरे में व्याख्यान हो गया हो, दोपहर को माँग करे कि महाराज कानजी मुनि पढ़ें ऐसा। अत: एक बार पढ़ते न, एक बार तो पहले यह कहा। गुरु बैठे थे, पीछे सुनते थे, सुनते थे कि आत्मा में जो मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेषभाव होता है, वह कर्म के निमित्त से होता है — ऐसा बिल्कुल झूठ है। अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार होता है और सुल्टे पुरुषार्थ से विकार का नाश होता है।

यह बात निकाली तो पीछे स्थानकवासी में गड़बड़ हो गयी, पीछे श्वेताम्बर में बात गयी और वहाँ गड़बड़ हो गयी और इस दिगम्बर में आये तो यहाँ भी गड़बड़ हो गयी। यहाँ भी ऐसा कहते हैं नहीं, विकार ऐसे नहीं होता, विकार कर्म से होता है। यह वर्णीजी के साथ चर्चा हुई थी न? ५१ वर्ष पहले (संवत्) १३ की साल, २१ वर्ष हुए, सब थे — रामजीभाई थे, हमारे हिम्मतभाई थे, फूलचन्दजी थे, कैलाशचन्दजी थे, बंशीधरजी थे — वे इन्दौर के बड़े पण्डित थे, सब थे। तो कहा — देखो! ६२ गाथा पंचास्तिकाय शास्त्र देखो। अपने में षट्कारक से विकार, अपनी पर्याय में अपने कारण से होता है।'षट्कारक' क्या? जो कोई राग-द्वेष और मिथ्यात्व होता है, उस पर्याय का कर्ता पर्याय है। उस मिथ्यात्व की पर्याय का कर्ता पर्याय है। मिथ्यात्व उसका कार्य है, मिथ्यात्व उसका साधन है, मिथ्यात्व उसका अपादान है, उससे — मिथ्यात्व में से मिथ्यात्व आता है और मिथ्यात्व का आधार वह मिथ्यात्व है, द्रव्य-गुण नहीं और पर नहीं। (विकार) पर के कारण से निरपेक्ष होता है — ऐसा कहा न (तो) वहाँ ईशरी में खलबलाहट हो गयी। एक फूलचन्दजी, यह पण्डित हैं न वे मध्यस्थ हैं, उनका मस्तिष्क बहुत अच्छा है, तो वे बोले, सब सभा बैठी थी — कि स्वामीजी ऐसा कहते हैं कि विकार पर के कारक की अपेक्षा

बिना निश्चय से अपने में अपने से होता है। यह फूलचन्दजी ने कहा। ऐसा कहते हैं, मध्यस्थ व्यक्ति है। तो यह बात जरा रुचि नहीं कितनो ही को।

कहा अपनी पर्याय में.... उस समय तो हमने प्रवचनसार देखा नहीं था, पहले कहा न, उस समय देखा था परन्तु जब पहले कहा था तब प्रवचनसार, समयसार देखा ही नहीं था। अन्दर से बात आ गयी। भगवान आत्मा अपनी पर्याय में विकृत राग-द्वेष और मिथ्यात्वभाव करता है, उस समय का अपराध अपने से होता है, कर्म से बिल्कुल नहीं, यहाँ कर्म को अपराध छूता नहीं और अपराध कर्म को छूता नहीं, कर्म अपराध को छूता नहीं। सभा में खलबलाहट हो गयी, सभा को बात नहीं जँची। वह बात बाद में कलकत्ता आ गयी। एक सेठ था सेठ, साहूजी थे न, वहाँ यह बात लाये। हम हमारा भोजन गजराजजी के यहाँ था। गजराजजी नहीं ? वे छोटे-बड़े क्या नाम ? तोलाराम और वहाँ यह वछराजजी दूसरे और तीसरे गजराजजी.... तो गजराजजी के यहाँ भोजन था वहाँ, पत्र वहाँ से आया कि पूछो, विकार कर्म से होता है या नहीं ? उसे लेकर साहूजी आये। (उन्होंने कहा) सम्मेदशिखर से पत्र आया है ? कहा, वहाँ जबाव दे दिया है उठो। साहूजी हो या चाहे जो हो, हमारे क्या यहाँ ? साहूजी लेकर आये, शान्ति साहूजी। (हमने कहा) वहाँ जबाव दे दिया है, विकार अपने से होता है, पर से नहीं यह शास्त्र-पाठ बताया, वहाँ बताया ६२ गाथा पंचास्तिकाय। देखो, यहाँ अभी है कि विकार करने में पर के कारक की अपेक्षा नहीं है, पर के कारक और कारण की अपेक्षा है ही नहीं — ऐसा पाठ पंचास्तिकाय में है। हमने दो दिन पहले बताया था न, दो दिन पहले बताया था, समझ में आया ? आहाहा !

यहाँ यह कहते हैं कि अपने में विकारदशा हो या विशेषदशा हो, वह अपने से होती है, उसमें निमित्त... यह कहा न ? यह जीव की पर्याय नौ है और उसमें निमित्त अजीव है; निमित्त, परन्तु निमित्त से हुआ — ऐसा नहीं है। आहाहा ! निमित्त के लक्ष्य से अन्दर भेद पड़ गया। समझ में आया ? परन्तु वह कोई चीज नहीं है। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है — धर्म की पहली सीढ़ी प्राप्त करना है, तो उसे तो **सर्व काल अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर ये अभूतार्थ हैं,....** नौ पर्याय

झूठी है। आहाहा! समझ में आया? यह तो बापू! अक्षर-अक्षर का अर्थ है। इसमें तो एक अक्षर फेरफार करे तो? सन्तों की वाणी, दिगम्बर सन्त, आत्मअनुभवी भावलिंगी सन्त, परमेश्वर पद में आये। आहाहा! आचार्य तो परमेश्वर हैं, पंचपरमेष्ठी हैं या नहीं? पंच — ये परमेष्ठी हैं न? आहाहा! आचार्य महाराज की यह वाणी है। मूल गाथा और टीका है, वह आचार्य महाराज की, अमृतचन्द्राचार्य! दिगम्बर! हजार वर्ष पहले हुए। इस गाथा में भाव था वह खोलकर रख दिया। यह आचार्य ऐसा कहते हैं कुन्दकुन्दाचार्य! जबकि अभी ऐसा कहते हैं, अभी आया है न? नया 'समयसार' विद्यानन्दजी का तो उसमें ऐसा लिखा है। पण्डित बलभद्र ने उन्होंने कहा होगा कि शास्त्र तो बड़ा सरल है परन्तु विद्वानों ने टीका बनाकर दुरुह (कठिन) कर दिया है। दुरुह क्या कहते हैं? कठिन ऐसा है। समझ में आया? यहाँ पुस्तक है? नहीं.... समझ में आाय? क्योंकि अमृतचन्द्राचार्य! जहाँ पाठ में अव्यक्त है, वहाँ उसके छह बोल निकालकर स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा यह है, पर्याय से व्यक्त है, उससे भिन्न आत्मा है — ऐसा अर्थ लिया ही नहीं, उसमें से, बस एक शब्दार्थ लिया था साधारण, टीका नहीं। अरे भाई! यह आचार्यों की टीका, सन्तों की टीका है, वह कोई वार्ता नहीं। यह तो मूल गाथा में जो भाव था, उसे खोल दिया है। जैसे गाय और भैंस के थन में दूध है न दूध, तो उसमें आँचल में, ऐसा आँचल नहीं लगाते हैं। देखा है? ऐसा नहीं लगाते, ऐसा लगाते हैं। ऐसा लगाते हैं तो यहाँ चाँदा पड़ जाते हैं परन्तु इन्हें — यह हमारे घर में तो बहिन का घर था न तो हमने सब देखा था। दूहते थे तो यह अँगूठा है न यह इसमें खाड है उसमें आँचल रखते हैं आँचल! तो उसमें था वह निकलता है। इसी प्रकार गाथा में भाव है, उसे तर्क से उठाकर यह बनाया है। सेठ! सेठ को तो संस्कृत का और व्याकरण का बहुत अभ्यास है। कारंजा में पढ़े हैं, परन्तु सब बाहर का (अभ्यास है)। आहाहा!

सर्व काल में अस्खलित, विशेष में कभी आता ही नहीं और सामान्य में कभी हीनाधिकता होती ही नहीं। आहाहा! यह क्या कहते हैं? ऐसा एकरूप त्रिकाली भगवान, उसके समीप.... एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर ये नौ हैं, वे झूठे हैं; नौ पर्यायें झूठी हैं। एकरूप सत्यार्थ की दृष्टि करने से नौ पर्यायें दृष्टि

में नहीं आती, इस अपेक्षा से झूठी है। आहाहा! अभी तो नौ तत्त्व झूठे तो बाहर की बात तो कहाँ करना? आहाहा!

श्रोता : नौ पर्याय भी झूठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय सब झूठ... एकरूप प्रभु! कायम एकरूप सर्व काल में रहनेवाला भगवान प्रभु, ज्ञायकस्वभाव, द्रव्यस्वभाव, जीवद्रव्यस्वभाव, एकरूपस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ से वहाँ जाकर अनुभव करने पर नौ पर्याय का भेद झूठा हो जाता है। आहाहा! तब उसे सम्यग्दर्शन होता है, युगलजी! अभी तो धर्म का चौथा गुणस्थान.... पाँचवाँ और छठवाँ वह तो क्या चीज है! समझ में आया? जिसको श्रावक कहते हैं, वह श्रावक.... यह वाड़ा का (सम्प्रदाय के) श्रावक वे कोई श्रावक नहीं हैं। अभी सम्यग्दर्शन क्या है और कैसे प्राप्त होगा, उसका पता नहीं, कहाँ से श्रावक आया? कहाँ से साधु आ गया? आहाहा! **(एक जीवद्रव्य के स्वभाव के) समीप जाकर अनुभव करने पर नौ अभूतार्थ हैं असत्यार्थ हैं इसलिए....**

विशेष आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६२ गाथा-१३ दिनाङ्क १९-०८-१९७८ शनिवार
श्रावण कृष्ण १, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, १३ वीं गाथा। यहाँ आया है — **सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं....** क्या कहा? यह जीव जो आत्मा है, उसकी पर्याय में नौ प्रकार के तत्त्व उत्पन्न होते हैं। यहाँ नौ तत्त्व में जीव का एक अंश / पर्याय है, वह वहाँ नौ में लेना और यहाँ अजीव का ज्ञान होता है, उसे अजीव लेना। अजीव पदार्थ नहीं लेना। यह जीव अपनी पर्याय में — जो एक अंशरूप है, इन नौ तत्त्व में उसे जीव कहा और अजीव जो जड़ है, उसका ज्ञान होता है, उसको यहाँ अजीव कहा और अपनी पर्याय में शुभभाव होने योग्य होते हैं। तब सामने कर्म जो निमित्त है, उसको द्रव्यपुण्य कहा और भावपुण्य अपनी पर्याय में योग्यता से — अपनी योग्यता से उस काल में शुभभाव होता है, उसको जीव भावपुण्य कहा। वैसे ही 'पाप' —

अपनी योग्यता से जीव में पापतत्त्व की योग्यता से उत्पन्न होता है वह भावपाप और उसमें निमित्त जो पूर्व का कर्म है, उसे द्रव्यपाप कहा जाता है। आहा! ऐसे 'आस्रव' अपनी पर्याय में शुभ-अशुभ आस्रव होने योग्य से उस समय उत्पन्न होने योग्य है, उत्पन्न होता है, अपनी योग्यता से, कर्म से नहीं। कर्म वहाँ निमित्त है परन्तु निमित्त से होता है — ऐसा नहीं। समझ में आया? आस्रव, पुराना कर्म निमित्त, जो पुराना उसे द्रव्य-आस्रव कहते हैं और भाव-आस्रव, अपनी पर्याय में जो उत्पन्न होता है, वह भाव आस्रव है। बाद में संवर, निर्जरा और मोक्ष। बन्ध, राग में स्वयं के कारण से रुक जाते हैं वह भावबन्ध है और पुराना कर्म जो है, वह द्रव्यबन्ध है।

और संवर — अपनी योग्यता से शुद्धि की उत्पत्ति हुई, वह जीव संवर कहा जाता है और कर्म का उदय इतना नहीं आया और कोई नया कर्म नहीं आया, उसे द्रव्यसंवर कहते हैं और अपनी पर्याय में शुद्धि की वृद्धि हुई, उसे भावनिर्जरा कहते हैं और कर्म का उदय जो खिर जाता है, उसको द्रव्यनिर्जरा कहते हैं। आहाहा! और अपनी पर्याय में मोक्ष होने योग्य जो केवलज्ञान पर्याय उत्पन्न हुई, वह भावमोक्ष है और उसमें कर्म का अभाव हुआ, उसे द्रव्यमोक्ष कहते हैं — ऐसे नौ तत्त्व पर्याय में उत्पन्न होते हैं परन्तु वह नौ व्यवहारनय से, पर्यायनय से देखने पर नौ हैं परन्तु उसमें सम्यग्दर्शन उससे उत्पन्न नहीं होता। आहा! समझ में आया?

यह कहते हैं देखो! तब सम्यग्दर्शन कैसे होता है? **सर्व काल में अस्खलित....** आहाहा! सर्व काल में अपना ज्ञायकभाव.... पर्याय में आस्रव आदि हुआ तो भी वस्तु तो अस्खलित ज्ञायकभाव परिपूर्ण रही है। आहाहा! नरक और निगोद में, निगोद में अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान की पर्याय हुई, तथापि वहाँ वस्तु तो अस्खलित ज्ञायकभाव ही रही है। आहाहा! सूक्ष्म है भाई! और केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तो भी वस्तु तो त्रिकाली ज्ञायकभाव है ही है। केवलज्ञान हुआ तो ज्ञायकभाव में कमी हो गयी या अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान का क्षयोपशम रहा तो ज्ञायक में अधिकता हो गयी — ऐसी बात है ही नहीं। ज्ञायक तो त्रिकाली एकरूप हीनाधिकतारहित चीज है। आहाहा! समझ में आया? थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई!

यह त्रिकाल **सर्व काल में अस्खलित.....** आहाहा! **एक जीवद्रव्य के स्वभाव....** त्रिकाली ज्ञायक परमपारिणामिक स्वभाव। रागादि आस्रव वह उदयभाव; संवर आदि क्षयोपशमभाव; केवलज्ञानादि क्षायिकभाव सबसे भिन्न.... आहाहा! एक द्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर, उस द्रव्यस्वभाव सन्मुख झुकने से, **अनुभव करने पर...** आहाहा! एक जीवद्रव्य का स्वभाव एकरूप जो त्रिकाल है, जो अपने सामान्यस्वभाव में से कभी विशेष में नहीं आया; केवलज्ञान की पर्याय में भी सामान्यभाव नहीं आया। आहाहा! ऐसा जो त्रिकाली भगवान एकरूप जीवद्रव्य का स्वभाव, उसके समीप जाने पर, है? आहाहा! **अभूतार्थ है....** तो फिर नौ तत्त्व झूठा हुआ। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

भगवान आत्मा ज्ञायक आनन्द, शान्तरस की... जैसे शीतल-शीतल बर्फ की क्या कहलाती है वह? शिला। बर्फ की शिला होती है न, पचास-पचास मन की बर्फ -बर्फ शीतल; वैसे भगवान आत्मा अकषाय स्वभाव का पिण्ड बर्फ जैसा शीतल है। वह त्रिकाली शान्तरस का पिण्ड प्रभु जो वस्तु पर्याय में — केवलज्ञान में भी नहीं आती और अक्षर के अनन्तवें भाग में भी नहीं आती। अरे! जो मोक्ष का मार्ग-सम्यग्दर्शन है, जिसके समीप जाने पर सम्यग्दर्शन होता है, वह पर्याय भी अन्दर नहीं जाती और उस पर्याय में भी द्रव्यसामान्य नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म विषय है, भगवान! आहाहा! यहाँ कहते हैं कि **अनुभव करने पर....** एक द्रव्यस्वभाव त्रिकाली है, उसका — स्वभाव के अनुसार होकर अनुभव करने पर... तो अनुभव है, वह पर्याय है। अनुभव है वह पर्याय है और उसका विषय एकरूप द्रव्यस्वभाव है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

ऐसा अनुभव करने पर, नव के भेद, अभेद की दृष्टि में नव के भेद झूठे हैं। आहाहा! उसका नाम सम्यग्दर्शन है, तथापि सम्यग्दर्शन की पर्याय अस्खलित स्वभाव में नहीं जाती और पर्याय में अस्खलित द्रव्यस्वभाव नहीं आता, तथापि सम्यग्दर्शन की पर्याय अस्खलित स्वभाव की प्रतीति और ज्ञान करती है। ज्ञान की पर्याय अस्खलित स्वभाव का ज्ञान करती है और अस्खलित सामान्यस्वभाव का श्रद्धापर्याय प्रतीति करती है, तथापि प्रतीति और ज्ञान की पर्याय में द्रव्यस्वभाव नहीं आता। आहाहा! ऐसी चीज है। यह नौ भेद

अभूतार्थ हो गया। वह दृष्टि के विषय में नहीं आया, तो है नौ, तथापि गौण करके असत्यार्थ हो गया। मुख्य द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करने से अनुभव करने पर भूतार्थ हो गया और पर्याय का नौ भेद है, वह गौण करके, लक्ष्य छोड़ करके उससे इस ओर आये तो यह नौ तत्त्व अभूतार्थ हो गया, विषय है नहीं, द्रव्य के स्वभाव की दृष्टि से ये हैं नहीं, इसलिए अभूतार्थ कहा गया है। आहाहा! सूक्ष्म बातें, कठिन!

इसलिए उन नवों तत्त्वों में,.... देखो! नौ तत्त्व के भेद में भूतार्थनय से, भूतार्थनय से — त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से आहाहा! **एक जीव ही प्रकाशमान है।** है? नौ भेदों में, विशेष प्रकारों में — उसकी दृष्टि छोड़कर तो अकेला सामान्य प्रकाशमान होता है। आहाहा! ऐसा दुर्लभ है। यह तो अभी पहली (दशा) सम्यग्दर्शन-ज्ञान — चौथे गुणस्थान की बातें हैं भगवान! इसके बिना ये सब दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा सब संसार है। आहाहा! परिभ्रमण का कारण है। आहाहा!

भगवान आत्मा इन नौ तत्त्वों में अर्थात् नौ के भेद में भूतार्थनय से त्रिकाली की दृष्टि कराने को यह जीव ही प्रकाशमान है, नौ भेद वहाँ नहीं। आहाहा! सूक्ष्म है भाई! परन्तु कल्याण करना हो तो उसे करना पड़ेगा! अरे! चौरासी लाख में-अवतार में दुःखी है। आकुलता में रागरूपी अग्नि से जल रहा है। आहाहा! 'राग आग दाह दहै सदा....' आहाहा! राग की आग में अनादि से दाह जलती है। आहाहा! उस कषाय अग्नि में... राग भी अग्नि है तो वह जलती है और अग्नि से प्राणी अत्यन्त दुःखी है। चाहे तो सेठ हो या राजा हो, या देव हो, वह राग की अग्नि में जलता है। आहा! उसे छूटना हो, उससे छूटना हो तो नव तत्त्व की पर्याय में जो भेद हुआ, उसका लक्ष्य छोड़कर एक जीव द्रव्यस्वभाव के समीप जाने पर तुझे सम्यग्दर्शन होगा। आहाहा! समझमें आया?

इस प्रकार यह एकत्वरूप से प्रकाशित होता हुआ.... देखो! आहाहा....! एकरूप एकत्व अर्थात् सामान्य, जो वे अनेक-नौ भेद थे, उनसे छूटकर, त्रिकाली ज्ञायकभाव का अनुभव करने पर एकत्वपना आया। इस प्रकार यह एकत्वरूप से प्रकाशित होता हुआ... आहाहा! **शुद्धनयरूप से अनुभव किया जाता है....** शुद्धनय अर्थात् ज्ञान की जो शुद्ध पर्याय, उसका विषय जो ध्रुव, उस शुद्धनय से अनुभव किया जाता है...

आहाहा! अन्तर्मुख होने की दृष्टि से और अन्तर्मुख होने के ज्ञान के नय से वह अनुभव में आता है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! और **यह अनुभूति है, सो आत्मख्याति है....** इस टीका का नाम भी आत्मख्याति है। आहाहा!

नव तत्त्व की योग्यता से उत्पन्न हुई पर्याय, तो इस भेद में से निकलकर... आहाहा! इस भेद की दृष्टि है, वह उठाकर; अपनी दृष्टि द्रव्यस्वभाव में जोड़ने से उसे द्रव्य का अनुभव होता है; वह अनुभव है तो पर्याय परन्तु वह द्रव्य के आश्रय से अनुभव हुआ, उसको यहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान का अनुभव कहा जाता है। आहा! समझ में आया? **और यह अनुभूति है, सो आत्मख्याति है....** आत्मा की पहचान है। आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द का पिण्ड प्रभु, ज्ञान का सागर, गुण का गोदाम, अनन्त गुण का गोदाम प्रभु है। आहा! ऐसे द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि देने से अनुभूति होती है, वह अनुभूति सम्यक् आत्मख्याति है। उस अनुभूति में आत्मा प्रसिद्ध हुआ; भेद में आत्मा प्रसिद्ध नहीं होता। आहाहा! भेद में तो राग की पर्याय उत्पन्न होती है।

श्रोता : अनुभूति ज्ञान की पर्याय है?

समाधान : ज्ञान की पर्याय है परन्तु वह ज्ञान की पर्याय त्रिकाली के आश्रय से हुई है न? तो पर्याय तो कहा.... अनुभूति है पर्याय परन्तु किसकी अनुभूति की? त्रिकाली द्रव्य की अनुभूति, त्रिकाली द्रव्य की अनुभूति है; अनुभूति की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य नहीं आता परन्तु त्रिकाली द्रव्य की सामर्थ्य है, वह अनुभूति में आता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात बापू! वर्तमान में तो बहुत गड़बड़ हो गयी है। पहले सम्यग्दर्शन की बात में गड़बड़ हो गयी। हैं? आहाहा! ऐसा प्रभु एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में जीवद्रव्य जो स्वभाव त्रिकाली ज्ञायक एकरूप भाव (है), उसके समीप जाने पर अर्थात् नौ तत्त्व के भेद को दूर करके, आहाहा! एक जीव द्रव्यस्वभाव के समीप जाने पर, ज्ञान की पर्याय उस ओर झुकने से, आहाहा! जो आत्मा जैसा है, वैसा अनुभूति में प्रसिद्ध हुआ। वहाँ आत्मा जैसा है, वैसा प्रसिद्ध हुआ। आहाहा! समझ में आया? है न? **यह अनुभूति है, सो आत्मख्याति है....** आहाहा!

यह चैतन्यद्रव्य महाप्रभु सच्चिदानन्द प्रभु, जिनस्वरूपी भगवान का अनुभव करने

पर, उसके सन्मुख झुकने से आहाहा! तब उसको आत्मख्याति (अर्थात्) आत्मा जैसा है, वैसी प्रसिद्धि होती है। अनुभूति में आया कि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप अखण्ड है, अनुभूति में आया कि आनन्दस्वरूप भगवान अखण्ड है, अनुभूति में आया कि प्रभुत्व — ईश्वरता से पूरा भरा पड़ा प्रभु है। आहाहा! इस अनुभूति में आत्मा की प्रसिद्धि हुई। आहाहा! इस राग की पर्याय में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, आदि लाख करोड़ अरब करे.... समझ में आया? वह छहढाला में आता है या नहीं? 'लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ छोड़ सकल जग द्वन्द फन्द निज आतम ध्याओ।' छहढाला में आता है न? परन्तु अर्थ का किसे पता है? पहाड़े बोल जाता है। ऐसा छहढाला में कहा है, परन्तु वस्तु क्या? अनन्त बात की बात... भेद से दूर होकर आत्मा ज्ञायकस्वरूप त्रिकाल शुद्ध चैतन्यघन परमात्मस्वरूप को उर में ध्याओ, ध्यान में उसको ध्येय बनाओ। आहाहा! तब उसको आत्मप्रसिद्धि होती है।

श्रोता : नव तत्त्व द्वन्द्व-फन्द है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो द्वन्द्व-फन्द है, द्वन्द्व है; भेद है, वह द्वन्द्व है; एक रूप में दो प्रकार वह द्वन्द्व है।

श्रोता : द्वन्द्व कहो परन्तु फन्द क्या है?

समाधान : द्वन्द्व कहा न दो, एकरूप में नव प्रकार का द्वन्द्व हुआ तो द्वैत हुआ। आहाहा! भाई! सम्यग्दर्शन और अनुभव का विषय कोई अलौकिक है। कभी किया नहीं, सुनने में आया तो दरकार नहीं की। समझ में आया? आहाहा! पहला धर्म का बीज (दूज) वहाँ से उत्पन्न होता है और दूज होवे दूज (द्वितीया) तो तेरह दिन बाद तो पूर्णिमा होगी... होगी... और होगी।

इसी प्रकार भगवान आत्मा पूर्ण स्वरूप के अनुभव में अनुभूति हुई, सम्यग्दर्शन हुआ, दूज उगी तो उसको पूर्णिमा अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त होगा, होगा, और होगा। आहाहा! समझ में आया? ऐसी अनुभूति में आत्मा की पहचान है। ख्याति का अर्थ यह किया, पहचान अर्थात् प्रसिद्धि। आत्मा जैसा था, वैसा अनुभूति में प्रसिद्ध हुआ, आहाहा! राग और व्यवहाररत्नत्रय में तो राग की प्रसिद्धि थी, अनात्मा की प्रसिद्धि थी। व्यवहाररत्नत्रय के राग में अनात्मा की प्रसिद्धि थी। आहाहा!

अन्तर में ज्ञायकभाव में समीप जाकर बाहर से — सबसे पर्याय को हटाकर, अन्तर में गुफा प्रभु चैतन्य में.... गुफा लिया है, हाँ! ४९ गाथा है न समयसार की, उसमें जयसेनाचार्य की टीका में 'अनुभूतिरूपी गुफा में अन्दर चला जा' — ऐसा पाठ है, संस्कृत में। आचार्य जयसेन की (तात्पर्यवृत्ति) टीका है। है यहाँ? संस्कृत नहीं? समयसार नहीं? संस्कृत टीका है ४९ (गाथा की) टीका है। अरस, अगन्ध, अरूप, अव्यक्त... उसकी टीका में लिया है कि धर्मात्मा मुनि कहाँ जाते हैं? अपनी निर्विकल्प समाधिरूपी गुफा में अन्दर प्रवेश करते हैं। बाहर की गुफा में तो तू अनन्त बार रहा। पर्वत की गुफा में रहते हैं तो वहाँ धर्म होता है — ऐसा नहीं है। अन्तर चैतन्य भगवान पूर्णानन्द की गुफा अन्दर है। आहाहा! गिरिगुफा-ऐसा पाठ लिया है। अनन्त-अनन्त शान्ति की शोभा से अन्तर में प्रवेश करने से गिरिगुफा में प्रवेश किया, महा परमार्थ परमात्मा की गुफा में प्रवेश किया। आहाहा! कठिन बात भाई! यह तो निश्चय यह है और व्यवहार झूठा है। है? ऐसा यहाँ सिद्ध किया।

और जो आत्मख्याति है, सो सम्यक्दर्शन ही है।.... है? तीन बातें ली हैं कि जो ज्ञायक ध्रुव चैतन्य एकरूप परमात्मस्वरूप, जिनस्वरूप.... घट-घट अन्तर जिन वसै — ऐसा जो भगवान जिनस्वरूपी त्रिकाल है, वस्तुस्वभाव त्रिकाल जिनस्वरूप ही है तो उसके समीप जाने से जो सम्यग्दर्शन होता है, अनुभूति होती है, वह अनुभूति धर्म पर्याय है, उस अनुभूति में आत्मा की प्रसिद्धि हुई, उस अनुभूति में आत्मा का ज्ञान हुआ, उस अनुभूति में आत्मा कैसा है, उसकी पहचान हुई। आहाहा! उसके बिना आत्मा की पहचान नहीं होती। शास्त्र से पढ़े, चाहे जो करे, लाख शास्त्र पढ़े, आहाहा! उससे कहीं आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती। आहाहा! युगलजी! आहाहा!

(जीव ने) ग्यारह अंग तो अनन्त बार पढ़ा है। एक आचारांग में अठारह हजार पद और एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक — ऐसे-ऐसे अठारह हजार पद, छत्तीस हजार पद, बहत्तर हजार पद — ऐसे ग्यारह अंग में दुगने करते-करते अन्त तक ले जाना। ऐसे ग्यारह अंग तो अनन्त बार पढ़े हैं। वह तो शास्त्रज्ञान है, शब्द ज्ञान है। बन्ध अधिकार में कहा है — यह शास्त्रज्ञान, वह शब्दज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं। आहाहा! वहाँ

बन्ध अधिकार में लिया है। आचारांग आदि शब्दज्ञान है — ऐसा लिया है, समयसार बन्ध अधिकार में (ऐसा कहा है)। आहाहा! और नव तत्त्व वह व्यवहारदर्शन है और छह काय की दया वह चारित्र है व्यवहार (चारित्र) राग, वह निश्चय नहीं है; वह सत्य नहीं है। आहाहा! सत्य तो भगवान आत्मा पूर्णानन्द स्वभाव की पूर्णता से भरा पड़ा है (वहाँ) एक अंश भी खण्ड नहीं है, एक अंश भी अपूर्णता नहीं है, उसके एक अंश में अशुद्धता नहीं है, जिसमें त्रिकाल निरावरण है। आहाहा! जो वस्तु है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। (समयसार की) ३२० गाथा में आया है, अन्त में ३२० गाथा में जयसेनाचार्य (की टीका में आया है) 'जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्धपारिणामिकपरमभाव लक्षण निज परमात्मतत्त्व / द्रव्य वह मैं हूँ'। समझ में आया? है न यह? यह तो सब व्याख्यान हो गये हैं, बहुत हो गये हैं।

यह है देखो! जयसेनाचार्य की टीका है 'जो सकल निरावरण' — द्रव्य / वस्तु जो है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। आहाहा! जो सम्यग्दर्शन का विषय है, जिसके आश्रय से अनुभूति होती है, वह सकल निरावरण है — एक। 'अखण्ड' है, उसमें पर्याय का खण्ड नहीं है। 'एक' एकरूप है। 'प्रत्यक्ष प्रतिभासमय' है। ज्ञान की पर्याय में सारा द्रव्य जैसा है, वैसा प्रतिभास में आता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की पर्याय में प्रतिभास-जैसा है वैसा भास आता है। आहाहा! 'अविनश्वर' है, त्रिकाल (है)। नाशवन्त कोई चीज उसमें (नहीं है), पर्याय नाशवान् है, केवलज्ञान भी नाशवान है। आहाहा! एक समय की पर्याय है न? नियमसार शुद्धभाव अधिकार में पहली गाथा में लिया है कि संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप, केवलज्ञान और ये सब पर्याय नाशवान है। आहाहा! क्योंकि एक समय रहती है। भगवान अन्दर त्रिकाल अविनश्वर है। आहाहा! अरे! और 'शुद्धपारिणामिक-परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य वही मैं हूँ परन्तु ऐसा नहीं भाता कि खण्ड ज्ञानरूप मैं हूँ।' धर्मी पर्याय की — खण्ड की ज्ञान की भावना नहीं करते। आहाहा! यह संस्कृत टीका है, उसका यह गुजराती है। समझ में आया?

यहाँ कहा कि यह त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव... भाई! यह बात अनुभव में लाना भी कोई अलौकिक बात है। आहाहा! इस ओर झुकने से — पर्याय को द्रव्यसन्मुख झुकने

से... पर्याय जो दूर है, राग की ओर जाती है, उस पर्याय को अन्तर में लाना, आहाहा! इसका नाम आत्मा के समीप गये। क्या कहा ? जो वर्तमान ज्ञान की पर्याय है, (वह) राग को जानती है और पर को जानने में रहती है, वह पर्याय तो वहाँ रही परन्तु वह पर्याय अन्दर में ला नहीं सके क्योंकि वह पर्याय तो राग की तरफ झुकी है। बाद की पर्याय द्रव्य में से उत्पन्न होती है और वह पर्याय अन्तर में झुकती है — ऐसी बात है। कठिन काम भाई! समझ में आया ? उस पर्याय का पति — ज्ञायकस्वभाव... आहाहा! अनुभव में आता है, तब वह वस्तु प्रसिद्ध हुई कि वस्तु ऐसी है — त्रिकाल शुद्ध है, त्रिकाल आनन्द है, त्रिकाल ज्ञायक है, त्रिकाल अखण्ड है, त्रिकाल एक है, त्रिकाल सामान्य है। आहाहा! यह अनुभूति, वह आत्मा की प्रसिद्धि है और आत्मा की प्रसिद्धि, वह आत्मख्याति है और वह सम्यग्दर्शन है। आहाहा! अभी तो धर्म की पहली (सीढ़ी...) आहाहा! ऐसा हुए बिना उसका ज्ञान भी निरर्थक और वह सब व्रत, और तप करे, (वे) सब बालव्रत और बालतप निरर्थक है। स्वभाव के लिये निरर्थक है, परिभ्रमण के लिये सार्थक है। आहाहा!

इस प्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है.... अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, यह सर्व कथन निर्दोष है। आहाहा! **बाधा रहित है।** यह टीका हो गयी।

अब भावार्थ (है)। यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका हुई। (वे) मुनि — दिगम्बर सन्त (थे) उन्होंने यह टीका बनायी है। आहाहा! तथापि वे कहेंगे कि यह टीका मैंने नहीं बनायी, हाँ! क्योंकि यह तो शब्द की पर्याय है, उसे मैं कहाँ रचूँ ? यह मेरी क्रिया नहीं है, मैं तो स्वरूप में गुप्त हूँ। आहाहा! मैं तो अपने स्वरूप में गुप्त हूँ, मैं राग में नहीं आता। टीका का विकल्प आया तो उस राग में मैं नहीं आता। आहाहा! टीका की पर्याय मैंने की — ऐसा हे जीवों! ऐसा मोह मत करो, यह कहते हैं। ऐसा मोह करके न नाचो कि मैंने टीका बनायी है और टीका से तुम्हें समझाया है — ऐसा मत समझो। प्रभु! आहाहा! वस्तु की स्थिति ऐसी है। आत्मा, रजकण की पर्याय का कर्ता नहीं हो सकता। आहाहा!

यह तो पूरे दिन मैंने किया... मैंने किया, यह किया... आहाहा! मैं समझाता हूँ मैं स्पष्ट वाणी निकाल सकता हूँ, धीरे से बोल सकता हूँ, जोर से बोल सकता हूँ... आहाहा!

श्रोता : यह तो सही बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब मिथ्याभाव है। हमारे वे कैलाशचन्दजी पहले नहीं बोलते थे, कैलाशचन्दजी बुलन्दशहर (वाले) — धीरे से बोलो, जोर से बोलो, जोर से — तुम्हारे कहाँ भाषा है ? जोर से बोलो। आत्मा जोर से बोल नहीं सकता और धीरे से बोल नहीं सकता। आहाहा! गजब बात है प्रभु! क्या हो ? तत्त्व का पता नहीं और उल्टे रास्ते चढ़ गया है और मान बैठे हैं कि हम कोई धर्म करते हैं धर्म। आहाहा! अब जो भ्रम में गया, वह भगवान के पास कैसे जा सकेगा ? आहाहा! समझ में आया ? भगवान अर्थात् आत्मा, हाँ!

भावार्थ - भावार्थ है ? **इन नव तत्त्वों में, शुद्धनय से देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य-चमत्कारमात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है,....** नव तत्त्व की भेद की पर्याय में से देखो तो सम्पूर्ण नव तत्त्व में सामान्यद्रव्य त्रिकाल चैतन्य चमत्कार भरा है। आहाहा! नव तत्त्व में पर्यायभेद, **शुद्धनय से देखा जाये तो,....** द्रव्यस्वभाव से देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य चमत्कारमात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है। आहाहा! **इसके अतिरिक्त....** इससे भिन्न... **भिन्न-भिन्न नवतत्त्व कुछ भी दिखाई नहीं देते।** आहाहा! स्वभाव पूर्णानन्द का देखने से, वहाँ नवतत्त्व का भिन्न-भिन्न है नहीं, दिखेंगे कहाँ से ? वहाँ तो अकेला भगवान आत्मा पूर्णानन्द है। आहाहा! **जब तक इस प्रकार जीवतत्त्व की जानकारी जीव को नहीं है,.....** आहाहा! जब तक इस प्रकार जीवतत्त्व एकाकार ज्ञायकभाव का अनुभव नहीं करते **जीव को नहीं है, तब तक वह व्यवहारदृष्टि है,....** पर्यायबुद्धि है। एक अंश को माननेवाला है, मूढ है। आहाहा! 'पर्यायमूढापरसमया' प्रवचनसार ९३ गाथा। आहाहा! एक समय की पर्याय में (अपनत्व) मानना वह भी मूढ है, सारा द्रव्य भगवान रह जाता है। आहाहा! ऐसी बात! है ? **व्यवहारदृष्टि.... ? भिन्न-भिन्न नवतत्त्वों को मानता है।**

जीव पुद्गल की बन्ध-पर्यायरूप दृष्टि से यह पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं; किन्तु जब शुद्धनय से जीव-पुद्गल का निज स्वरूप भिन्न-भिन्न देखा जाये.... आहाहा! राग का स्वरूप भिन्न है और चैतन्य का स्वरूप राग से भिन्न है — ऐसे देखा जाये.... **तब वे पुण्य, पापादि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं हैं;....** आहाहा! है ?

श्रोता : कोई वस्तु नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु कहाँ है ? वह ज्ञान का ज्ञेय हो गया, अपने में नौ भेद है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म विषय! अनन्त काल, अनन्त काल हुआ... साधु भी अनन्त बार हुआ परन्तु उसने आत्मज्ञान नहीं किया। यह नव तत्त्व, राग की क्रिया और पंच महाव्रत के परिणाम... उसमें (छहढाला में) यह कहा न

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो,
पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥'

यह पंच महाव्रत का परिणाम भी दुःखरूप है। उससे हटकर आत्मा आनन्दमूर्ति है, उस ओर कभी झुकाव नहीं किया। आहाहा! चार गति में भटकता है — ऐसा द्रव्यलिंग अनन्त बार धारण किया, जैनमुनि द्रव्यलिंग-नग्नपना — ऐसा अनन्त बार (धारण किया)। अट्ठाईस मूलगुण पालन किये और फिर अनन्त-अनन्त भव द्रव्यलिंग धारण करके भी (किये)।

अष्टपाहुड़ में-लिंगपाहुड़ में है, अनन्त बार द्रव्यलिंग धारण करके अनन्त-अनन्त चौरासी के अवतार में फिर परिभ्रमण किया। आहाहा! परन्तु उस मिथ्यात्व का नाश और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति क्या है ? यह ख्याल में लिया ही नहीं। आहाहा! बाकी पण्डिताई, ग्यारह अंग की हुई, लोगों को समझावे, पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार (लोगों को समझावे) — उसमें क्या हुआ ? आहाहा! भाषा की पर्याय जड़, विकल्प उत्पन्न होता है, वह भी अचेतन है। भगवान तो उस अचेतन से भिन्न चैतन्यस्वरूप भगवान जागृतस्वभाव का पिण्ड (है)। आहाहा! उस सन्मुख का झुकाव नहीं किया तो सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और व्रतादि सब अज्ञान है। आहाहा! है ?

किन्तु जब शुद्धनय से जीव-पुद्गल का निज स्वरूप भिन्न-भिन्न देखा जाये तब वे पुण्य, पापादि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं हैं; वे निमित्त-नैमित्तिकभाव से हुए थे.... नैमित्तिक अपनी अवस्था, कर्म निमित्त। निमित्त से हुआ नहीं परन्तु निमित्त है और नैमित्तिक अपनी अवस्था नौ। **इसलिए जब वह निमित्त-नैमित्तिकभाव मिट गया तब जीव, पुद्गल भिन्न-भिन्न होने से अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नहीं हो सकती।** भगवान, भगवानस्वरूप आत्मा है (और) कर्म पुद्गल, पुद्गलरूप है, उसमें

कोई दूसरी चीज भिन्न नहीं होती, **वस्तु तो द्रव्य है और द्रव्य का निजभाव तो द्रव्य के साथ ही रहता है....** ज्ञान-आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता... आहाहा! **निमित्त-नैमित्तिकभाव का अभाव ही होता है, इसलिए शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है।** आहाहा! **जब तक भिन्न-भिन्न नौ पदार्थों को जाने और शुद्धनय से एक आत्मा को न जाने, तब तक पर्यायबुद्धि है।** मिथ्याबुद्धि है। समझ में आया?

कलश - ८

यहाँ, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(मालिनी)

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम्॥८॥

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्थास्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः। प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च। तत्रोपात्तानुपात्त-परद्वारेण प्रवर्तमानं परोक्षं, केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं च। तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीव-स्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र द्रव्य-पर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतया-नुभावयतीति पर्यायार्थिकः। तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायाम-भूतार्थम्। निक्षेपस्तु नाम स्थापना द्रव्यं भावश्च। तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। सोऽयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यम्।

वर्तमानतत्पर्यायो भावः। तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते।

श्लोकार्थ : [इति] इस प्रकार [चिरम्-नव-तत्त्व-च्छन्नम् इदम् आत्मज्योतिः] नव तत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति [उन्नीयमानं] शुद्धनय से बाहर निकालकर प्रगट की गई है, [वर्णमाला-कलापे निमग्नं कनकम् इव] जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं। [अथ] इसलिए अब हे भव्य जीवों! [सततविविक्तं] इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावों से भिन्न, [एकरूपं] एकरूप [दृश्यताम्] देखो। [प्रतिपदम् उद्योतमानम्] यह (ज्योति), पद-पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

भावार्थ : यह आत्मा सर्व अवस्थाओं में विविधरूप से दिखाई देता था, उसे शुद्धनय से एक चैतन्य-चमत्कारमात्र दिखाया है; इसलिए अब उसे सदा एकाकार ही अनुभव करो, पर्यायबुद्धि का एकान्त मत रखो — ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है ॥८॥

टीका - अब, जैसे नवतत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है, उसी प्रकार एकरूप से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी यह आत्मा एक ही भूतार्थ है (क्योंकि ज्ञेय और वचन के भेदों से प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते हैं)। उनमें से पहले, प्रमाण दो प्रकार के हैं — परोक्ष और प्रत्यक्ष। उपात्त[१] और अनुपात्त[२] पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष है और केवल आत्मा से ही प्रतिनिश्चितरूप से प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है। (प्रमाण ज्ञान है। वह ज्ञान पाँच प्रकार का है - मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। उनमें से मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, अवधि और मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है। इसलिए यह दो प्रकार के प्रमाण हैं।) वे दोनों प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय के भेद का अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; और जिसमें सर्व भेद गौण हो गये हैं — ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

१. उपात्त = प्राप्त। (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं।)
२. अनुपात्त = अप्राप्त। (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं।)

नय दो प्रकार के हैं — द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहाँ द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु में द्रव्य का मुख्यता से अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय का मुख्यता से अनुभव कराये सो पर्यायार्थिक नय है। यह दोनों नय द्रव्य और पर्याय का पर्याय से (भेद से, क्रम से) अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; और द्रव्य तथा पर्याय दोनों से अनालिंगित (आलिंगन नहीं किया हुआ) शुद्धवस्तुमात्र जीव के (चैतन्यमात्र) स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

निक्षेप के चार भेद हैं — नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। वस्तु में जो गुण न हो उस गुण के नाम से (व्यवहार के लिए) वस्तु की संज्ञा करना सो नाम निक्षेप है। 'यह वह है' इस प्रकार अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना (-प्रतिमारूप स्थापन करना) सो स्थापना निक्षेप है। वर्तमान से अन्य अर्थात् अतीत अथवा अनागत पर्याय से वस्तु को वर्तमान में कहना, सो द्रव्य निक्षेप है। वर्तमान पर्याय से वस्तु को वर्तमान में कहना, सो भाव निक्षेप है। इन चारों निक्षेपों का अपने-अपने लक्षणभेद से (विलक्षणरूप से — भिन्न-भिन्नरूप से) अनुभव किये जाने पर वे भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षण से रहित एक अपने चैतन्यलक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव करने पर वे चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इस प्रकार इन प्रमाण-नय-निक्षेपों में भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान है।

भावार्थ - इन प्रमाण, नय, निक्षेपों का विस्तार से कथन तद्विषयक ग्रन्थों से जानना चाहिये; उनसे द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तु की सिद्धि होती है। वे साधक अवस्था में तो सत्यार्थ ही हैं क्योंकि वे ज्ञान के ही विशेष हैं। उनके बिना वस्तु को चाहे जैसे साधा जाये तो विपर्यय हो जाता है। अवस्थानुसार व्यवहार के अभाव की तीन रीतियाँ हैं : प्रथम अवस्था में प्रमाणादि से यथार्थ वस्तु को जानकर ज्ञान -श्रद्धान की सिद्धि करना; ज्ञान-श्रद्धान के सिद्ध होने पर श्रद्धान के लिये प्रमाणादि की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु अब यह दूसरी अवस्था में प्रमाणादि के आलम्बन से विशेष ज्ञान होता है और राग-द्वेष-मोहकर्म के सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है; उससे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान होने के पश्चात् प्रमाणादि का आलम्बन नहीं रहता। तत्पश्चात् तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, वहाँ भी कोई

आलम्बन नहीं है। इस प्रकार सिद्ध अवस्था में प्रमाण-नय-निक्षेप का अभाव ही है ॥१३॥

कलश - ८ पर प्रवचन

इस अर्थ का कलश कहते हैं। लो, आठवाँ कलश है न

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम्॥ ८॥

इति अर्थात् **इस प्रकार चिरम्-नव-तत्त्व-च्छन्नम् इदम् आत्मज्योतिः** आहाहा! **नव तत्त्व के भेद में बहुत समय से छिपी हुई....** नव तत्त्व के भेद में, यह वस्तु है यह छिप-ढँक गयी। आहा...हा...! भेद की-नव तत्त्व की पर्यायबुद्धि में यह द्रव्यस्वभाव ढँक गया। आहाहा! है? **शुद्धनय से बाहर निकालकर प्रगट की गई है,....** ऐसी आत्मज्योति जो छिपी थी; पर्याय के पीछे अन्दर द्रव्यस्वभाव ढँका दिखता था, उस शुद्धनय से स्वभाव पर दृष्टि करने से वह भाव प्रकाशित हुआ। नव की पर्याय में रुकने से द्रव्यस्वभाव ढँक गया था, छिप गया था, उसे अन्तर में शुद्धनय से देखने पर आत्मा प्रकाशित होता है। है? आहाहा!

शुद्धनय से बाहर निकालकर प्रगट की गई है,.... जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को.... सोना होता है न सोना, सोना। अग्नि में ताव देते हैं न, तो भिन्न-भिन्न रंग होते हैं, सोने के रंग में (भिन्न-भिन्न रंग होते हैं) परन्तु उसमें सोना तो एकरूप भिन्न है। समझ में आया? वैसे आत्मा में नौ प्रकार की पर्याय भिन्न-भिन्न है परन्तु उससे आत्मा तो उससे भिन्न है। आहाहा! संवर-निर्जरा और मोक्ष की पर्याय से भी भिन्न है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! है? **इसलिए अब, हे भव्य जीवों!....** आचार्य महाराज सम्बोधन करते हैं 'अथ' अब, हे लायक जीवों! **सततविविक्तं इसे सदा अन्य द्रव्यों से....** अन्य पदार्थों से **उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावों....** विकार से **भिन्न...** अन्य द्रव्य

से भिन्न और अन्य द्रव्य के निमित्त से अपने में हुआ विकार, उससे भी भगवान भिन्न है। आहाहा! **एकरूप देखो....** एकरूप देखो।

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर;
समल विमल न विचारिये, यही सिद्धि नहीं और॥

हमारे वीरजीभाई वकील थे। इस काठियावाड़ में दिगम्बर के अभ्यासी वीरजीभाई वकील जामनगर थे। जो पहला अभ्यास था, उनका। वह पुराना... ९१-९२ वर्ष में स्वर्गस्थ हो गये, तो वे यह बारम्बार कहते थे, समयसार नाटक की बात है 'एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर; समल विमल न विचारिये, यही सिद्धि नहीं और॥' समयसार नाटक के शब्द हैं। एकरूप देखिये... वस्तु को एकरूप है — ऐसा देखो! देखिये, जानिये रमि रहिये इक ठौर.... और उसमें रमना, ज्ञायकभाव में देखना, ज्ञायक की श्रद्धा करना, और ज्ञायक में रमना। 'समल विमल न विचारिये' अर्थात् वह द्रव्यरूप निर्मल है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से, व्यवहार से मलिन, दोनों का विचार छोड़ देना। 'समल विमल न विचारिये'। सोलहवीं गाथा का है। समझ में आया? दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भेद है, वह व्यवहार है। राग आदि की बात तो एक ओर रखो; और वहाँ तो ऐसा लिया है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो पर्याय में भेद हैं, वह व्यवहार है, उसे मलिन कहने की पद्धति है — ऐसा लिया है। आहाहा! राग तो मलिन है ही, परन्तु एक में तीन पर्याय का भेद करके देखना वह भी व्यवहार है और विकल्प उत्पन्न होता है; अतः मलिन है। आहाहा! तो यहाँ यह कहते हैं। देखो, है न?

एकरूप देखो.... आहाहा! आहा! **यह (ज्योति), पद-पद पर....** पद-पद पर **अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।....** आहा! प्रत्येक पर्याय में भगवान तो भिन्न चैतन्य-चमत्कार ज्योति प्रकाशमान है। वह पर्याय में कभी आयी नहीं। आहाहा! ऐसा चैतन्य पाताल, चैतन्य का पाताल ध्रुव, उसे एकरूप देखो। आहाहा! अरे..! कठिन काम है ऐसा। एक तो इस दुनिया के व्यवसाय के कारण फुरसत नहीं। उस जापानी ने — इतिहासवाले ने कहा था। जापानी व्यक्ति ने (कहा था कि) बनियों को जैनधर्म मिला और बनिये व्यवसायी से फुरसत में नहीं होते, पाप के कारण

(फुरसत नहीं है) पूरे दिन यह धन्धा... धन्धा... धन्धा। यहाँ तो पहले से बहुत कहते हैं — दुकान का धन्धा बाईस घण्टे और तेईस घण्टे तथा स्त्री-पुत्र... अर...र...! अकेले पाप के व्यवसाय में पड़े हैं, गहरे कुएँ में अब उसे आत्मा के सन्मुख की झुकाव की बात करना। है ? यह फँस गया है, यह फँस गया है। ग्राहक में और अपने में यह मेरा पुत्र और यह मेरा ग्राहक और यह मेरी आमदनी, पचास हजार की एक लाख की आमदनी, मेरे दस लाख की आमदनी.... है ?

श्रोता : मेरा लड़का बड़ा सरकारी अधिकारी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा अधिकारी... ऐसा मिथ्या अभिमान (करता है) किसका लड़का ? वह तो परद्रव्य है। परद्रव्य कभी आत्मा का होता है ? आहाहा! (लड़के का) शरीर परद्रव्य है, उसका आत्मा परद्रव्य है तो मेरा लड़का आया कहाँ से तेरे। समझ में आया ? शास्त्र (में) तो यह कहा नहीं सोलहवीं गाथा में ? (मोक्षपाहुड़ गाथा १६ में कहा है) परदव्वाओ दुग्गई.... स्त्री, कुटुम्ब, परिवार सब परद्रव्य है, उसकी ओर लक्ष्य करेगा तो दुर्गति अर्थात् राग उत्पन्न होगा। आहाहा! (मोक्षपाहुड़) सोलहवीं गाथा में आया है। परदव्वाओ दुग्गई — परद्रव्यरूपी यह शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, धन्धा, परिवार सब परद्रव्य है। परद्रव्य का लक्ष्य करने से तो तेरी दुर्गति ही होगी। तुझे राग उत्पन्न होगा, सिद्ध गति नहीं होगी। आहाहा! और यहाँ तक कहते हैं कि देव-शास्त्र-गुरु हम हैं, हमारी ओर तेरा लक्ष्य होगा तो भी तेरी दुर्गति / राग होगा। आहाहा! कठिन बात है भाई!

श्रोता : तो हमें करना क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं न! उसे छोड़कर अन्तर्दृष्टि करना। लाख बात हो या चाहे जितनी... अरबोंपति बड़ा इन्द्र हो, तो क्या है ? वह तो परचीज है। आहाहा! अन्दर में पर से हटकर... अरे...! इस पुण्य और पाप के विकल्प से हटकर.... अरे...! एक समय की पर्याय के प्रेम से हटकर, आहाहा! अपना ज्ञायकभाव एकरूप है। है न ? प्रत्येक पर्याय में एकरूप, चाहे तो निगोद की पर्याय हो और चाहे तो केवली की पर्याय हो... आहाहा! प्रत्येक पर्याय में एकरूप चित्त्चमत्कारमात्र उद्योतमान है। आहाहा! चैतन्य चमत्कार! आहाहा! अपने क्षेत्र में रहने पर भी, परक्षेत्र — लोक-अलोक का जाननेवाला-देखनेवाला

चैतन्य-चमत्कार है। आहाहा! अपने क्षेत्र में रहते हुए, परक्षेत्र — लोक और अलोक, उसे अपने में रहते हुए पर को जानता है — ऐसा चैतन्य-चमत्कार भगवान का अनुभव करो, उसकी दृष्टि करो, उसका आश्रय लो, उसका अवलम्बन करो तो सम्यग्दर्शन होगा। आहाहा! चारित्र तो कहाँ रहा? वह तो दूसरी चीज है। ऐसा सम्यग्दर्शन होने के बाद, आत्मा में — आनन्द में लीन होना, आनन्द में लीन होकर अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव का भोजन करने का नाम चारित्र है।

श्रोता : वह तो चौथे काल में (है परन्तु) पंचम काल में.... ?

समाधान : पंचम काल में? इस पंचम काल के गृहस्थ को तो कहते हैं, पंचम काल के साधु। ये तो पंचम काल के साधु हैं — कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य (पंचम काल के साधु हैं) और पंचम काल के जीव को तो कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य कब हुए हैं? दो हजार वर्ष पहले। अभी तो पंचम काल में हुए हैं। अमृतचन्द्राचार्य भी हजार वर्ष पहले हुए हैं। हजार वर्ष पहले तो वे यहाँ जीते थे, भरतक्षेत्र में जीवित थे, अमृतचन्द्राचार्य! तो वे कहते हैं, अतः पंचम काल के सन्त, पंचम काल के जीव को कहते हैं। चौथे काल के सन्त, पंचम काल के (जीवों को) ऐसा नहीं कहते। आहा...! अन्दर में काल-वाल कुछ नहीं रोकता। आहा...! यहाँ **एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।** आहाहा!

भावार्थ - यह आत्मा सर्व अवस्थाओं में विविधरूप से दिखाई देता था,.... क्या कहते हैं? भगवान आत्मा, पर्याय-पर्याय में भिन्न-भिन्न प्रकार से पर्याय दिखती थी। कोई अल्प पर्याय, कोई विशेष पर्याय, कोई राग, कोई अराग — ऐसे भिन्न-भिन्न पर्याय दिखती थी। **उसे शुद्धनय से एक चैतन्य-चमत्कारमात्र दिखाया है;....** आहाहा! **इसलिए अब उसे सदा एकाकार ही अनुभव करो,....**! हे भव्य जीवों! जिन्हें संसार का नाश करना हो, आहाहा! तो एकाकार अनुभव करो। अन्दर प्रभु एकरूप है, उसका अनुभव करो। आहाहा! कुछ पता नहीं लगता, ऐसा मार्ग है।

पर्यायबुद्धि का एकान्त मत रखो.... पर्याय है अवश्य, नौ भेद है अवश्य परन्तु एकान्त मत रखो कि उससे मेरा कल्याण होगा और वही आत्मा है — ऐसा मत रखो।

पर्याय है; पर्याय नहीं है — ऐसा नहीं है। पर्यायबुद्धि का एकान्त मत रखो, अन्दर द्रव्यबुद्धि में आत्मा को ले जाओ। आहाहा! ऐसा। **ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है।** लो, यह सन्तों-दिगम्बर सन्तों, पंचम काल के अनुभवियों, केवलज्ञान के पथानुगामियों सन्तों का यह उपदेश है। समझ में आया? ऐसा टीकाकार-अर्थकार ने (कहा है)। भाई! यह तो सन्त-दिगम्बर मुनि ऐसा कहते हैं। आहाहा! पंचम काल में भी कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य आदि साधु-सन्त बहुत हुए, उन सब गुरुओं का यह उपदेश है। नौ के भेद की पर्यायबुद्धि छोड़कर एकरूप त्रिकालस्वभाव पर दृष्टि करो तो तुम्हारा जन्म-मरण का अन्त आयेगा। वरना चौरासी के अवतार तुझे करने पड़ेंगे प्रभु! आहाहा!

टीका - अब, जैसे नवतत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा.... एकरूप जीव को जानना यह सत्य बात है। **उसी प्रकार एकरूप से प्रकाशमान आत्मा के....** भगवान तो एकरूप चिदानन्दवस्तु है। उसके **अधिगम के उपाय.....** उसे जानने के जो उपाय, आहाहा! **प्रमाण, नय, निक्षेप हैं....** आहाहा! नव तत्त्व को तो छुड़ाया परन्तु अब कहते हैं कि यह आत्मा जो त्रिकालवस्तु है, उसको जानने के जो उपाय प्रमाण, नय, और निक्षेप (हैं) आहाहा! **वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं,....** प्रमाण, नय और निक्षेप ज्ञान (आत्मा को) पहचानने के (उपाय) हैं, वे भी अभूतार्थ, झूठे हैं। आहाहा!

श्रोता : कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कभी किया नहीं तो इसे कठिन लगता है। आहाहा! वरना सत् है, सरल है, सर्वत्र है। कहाँ नहीं परमात्मा? स्वयं नहीं है? किस पर्याय में विद्यमान भगवान नहीं है? समझ में आया? और किस पर्याय में, चाहे जो पर्याय हो, भगवान विद्यमान परमात्माद्रव्य विराजमान है परन्तु उस पर नजर नहीं करते तो कठिन लगता है। आहाहा! **उनमें भी यह आत्मा एक ही भूतार्थ है....** नय, निक्षेप, प्रमाण से जानना, वह भी परलक्ष्य से ज्ञान है, वह भी अभूतार्थ / झूठा है। यह विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६३ कलश-८ के बाद की टीका दिनाङ्क २०-०८-१९७८ रविवार
श्रावण कृष्ण २, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्रीसमयसार की १३ वीं गाथा के कलश का भावार्थ है। नीचे टीका है न टीका, संस्कृत टीका है। अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि उत्कृष्ट आत्मा का प्रभाव-अनुभवी, उनकी टीका है। सूक्ष्म बात है।

क्या कहते हैं, यह देखो! सूक्ष्म विषय है। **अब, जैसे नवतत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है,.....** क्या कहा? जीव की-आत्मा की वर्तमान पर्याय अर्थात् अवस्था में नवतत्त्व का भाव पर्याय में-भेद में होता है परन्तु वह कोई सम्यग्दर्शन उनसे होता है — ऐसा नहीं है। आहाहा! जीव की एक समय की वर्तमान पर्याय-अवस्था और पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष — ये पर्यायें हैं। इन नव तत्त्वों में तो पर्यायबुद्धि से, व्यवहारनय से ये हैं, परन्तु जिसको अपना कल्याण / सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, धर्म की पहली सीढ़ी (प्रगट करना हो) तो इन नव तत्त्वों में से भिन्न होकर.... आहाहा! ऐसी बात है प्रभु!

यह बाहर की धमाल और बाहर की क्रिया तो जड़ से होती है, अन्दर में राग-शुभराग आता है, वह भी बन्ध का कारण है। वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। आहाहा! यह यहाँ नव तत्त्व में नौ प्रकार की वर्तमान पर्याय के भेदों में एक जीव को ही जानना। आहा...! सामान्यरूप, जो पर्याय में कभी नहीं आता, आहा...! ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... आनन्द का पिण्ड एकरूप स्वरूप को जानना, वह भूतार्थ है। आहाहा! उस त्रिकाली चीज को अन्तर्मुख होकर जानना, वही भूतार्थ चीज है, सत्य चीज है। आहाहा! है? **एक जीव को ही जानना....** चाहे तो संवर हो, निर्जरा हो, मोक्ष की पर्याय (हो) परन्तु उसमें जो सामान्य जीवद्रव्य — एकरूप है, उस पर नजर करने से — अभेद चीज की नजर करने से वह अभेद चीज ही भूतार्थ है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

श्रोता : एक भी अक्षर समझ में आये ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है! क्या कहा? प्रभु! तीन चार दिन से तो (स्पष्टीकरण) चलता है। नव तत्त्व में जीव की एक समय की पर्याय को यहाँ नव तत्त्व में जीव गिना गया

है। पण्डितजी! यह हमारे पण्डितजी आये, ये तो, भाई! नहीं आये, फूलचन्दजी! बुखार आया है, हैं वह तो आये न? भाई फूलचन्दजी आते हैं, बुखार आया है।

यह आत्मा जो त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप ध्रुवस्वरूप है, उसकी वर्तमान पर्याय अर्थात् अवस्था, अर्थात् हालत में जो पर्याय है, उसे यहाँ जीव कहा गया है और उसमें दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव होता है, वह शुभ की अपनी योग्यता से अपने काल में अपने कारण से उत्पन्न होता है और हिंसा, चोरी, विषय, झूठ, भोग-वासना, ये पापपरिणाम भी अपने काल में अपने कारण से विकृत अवस्था उत्पन्न होती है और दोनों मिलकर आस्रव भी अपने कारण से अपनी पर्याय का वह काल है तो उस कारण से आस्रव उत्पन्न होता है और राग में रुकना, वह भावबन्ध भी अपने कारण से वहाँ भावबन्ध उत्पन्न होता है और संवर वह अपनी पर्याय में जो शुद्धता प्रगट होती है, वह भी अपने काल में... पवित्र सम्यग्दर्शन ज्ञान की पर्याय, वह संवर है, वह अपने काल में उत्पन्न होती है। निर्जरा, वह भी अपने काल में, वह शुद्धि से वृद्धि होती है, वह भी पर्याय में अपने काल में निर्जरा अर्थात् शुद्धि की वृद्धि अथवा अशुद्धता का नाश, वह निर्जरा अपने काल में होती है और मोक्ष भी अपने काल में पर्याय में केवलज्ञान होकर उत्पन्न हो परन्तु यह जो नौ प्रकार हैं, उनमें त्रिकाली आत्मा नहीं आया। आहाहा! आहाहा!

इन नौ प्रकारों को भी छोड़कर... है? उन **नव तत्त्वों में....** यह पर्याय के नौ प्रकार के तत्त्व अर्थात् भेद में **एक जीव को ही....** आहाहा! इस संवर के काल में भी एक जीव ही अन्दर त्रिकाल है, वह उपादेय है। आहाहा! निर्जरा के काल में भी भगवान एकरूप चिदानन्द की ध्रुव शीतल शिला पड़ी है, वह एक ही उपादेय है और मोक्ष की पर्याय तो अभी नहीं है परन्तु मोक्ष की जो केवलज्ञान पर्याय उत्पन्न होती है, वह भी सद्भूत व्यवहारनय का विषय है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता है। आहाहा!

नवतत्त्वों में एक जीव को ही.... अन्तर्मुख शुद्ध चैतन्यघन भगवान एकरूप ध्रुव सामान्य सदृश नित्यानन्द प्रभु जो एकरूप वस्तु है, आहा...! उसे ही **जानना भूतार्थ कहा है,...** उसे जाना हुआ, उस वस्तु को भूतार्थ कहा। आहाहा! ऐसी चीज है भाई! धर्म की शुरुआत भी ऐसे होती है। कोई यह क्रिया और व्रत करना, तप करना, भक्ति करना, वह

तो पर्याय में विकार का भेद है। आहाहा! **इन नव तत्त्वों में एक...** वे नौ अनेक हुए, पर्याय की अवस्था में अनेक भेद हुए, उसमें से **एक जीव को ही...** एकान्त लिया है। आहाहा! त्रिकाल अस्खलित, पर्याय में भी जिसका आना नहीं होता। आहाहा! ऐसी जो चीज नित्यानन्द प्रभु उसे ही एक जानना यथार्थ, भूतार्थ, सत्य कहा जाता है। समझ में आया? एक बात हुई। अब दूसरी... तीन बातें हैं।

उसी प्रकार.... जैसे नव तत्त्व के भेद में से अकेले त्रिकाल जीव का अवलम्बन लेना, उसका आश्रय करना ही भूतार्थ है, वही सम्यग्दर्शन का विषय है। तथापि सम्यग्दर्शन का विषय एकरूप चैतन्य है, तथापि सम्यग्दर्शन की पर्याय वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय जो त्रिकाली ज्ञायकभाव है; उस पर्याय का विषय, पर्याय नहीं है। आहाहा! बापू! जन्म-मरणरहित सम्यग्दर्शन की क्रिया कोई अलौकिक है। आहाहा! और उस सम्यग्दर्शन की पर्याय में ज्ञायक त्रिकाली की श्रद्धा-ज्ञान होते हैं परन्तु वह त्रिकाली चीज उस पर्याय में नहीं आती। आहाहा! अब ऐसा सूक्ष्म!

उसी प्रकार एकरूप से प्रकाशमान आत्मा.... आहाहा! भगवान तो एकरूप चैतन्यप्रकाश ज्योति-प्रकाशमान ज्योति आत्मा है, इतनी बात। **अब, एकरूप से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपाय....** उसको जानने के उपाय। **प्रमाण, नय, निक्षेप हैं....** प्रमाण की व्याख्या करेंगे। द्रव्य-वस्तु और पर्याय दो का ज्ञान करे, वह प्रमाण है और नय — दो में से एक का अंश का विषय करे, वह नय है। चाहे तो सामान्य का विषय करे, चाहे तो विशेष का विषय, परन्तु एक अंश आया, नय में एक अंश आया, प्रमाण में दोनों अंश साथ में आये — ऐसा जानने का उपाय है, वह भी विकल्पात्मक है। आहाहा! वह भी, आहाहा! **प्रमाण, नय, निक्षेप....** निक्षेप अर्थात् नाम से ज्ञेय पदार्थ जानना; स्थापना से जानना; योग्यता से-द्रव्य की योग्यता से जानना; और भाव की पर्याय से जानना। ये ज्ञेय के जो चार भेद, वे निक्षेप के भेद हैं। उस निक्षेप से भी अपने को जानना, वह भी एक विकल्प है। आहाहा!

जहाँ नव तत्त्व का भेद भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं, वहाँ नय-निक्षेप और प्रमाण भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! वीतरागमार्ग, अनन्त

काल हुआ... आहाहा! कभी इसने ध्यान दिया ही नहीं। आहा...! पाटनीजी! बाहर ही बाहर में भटक-भटककर... आहाहा! अन्तर पाताल कुँआ पड़ा है, एक समय की पर्याय के समीप में, समीप में सारा ध्रुवतत्त्व नित्यानन्द प्रभु है, उसे अधिगम का-जानने का उपाय है, **वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं....** क्या कहा? प्रमाण, नय,... प्रमाण अर्थात् दो — द्रव्य और पर्याय का ज्ञान साथ करे वह प्रमाण परन्तु वह विकल्पात्मक प्रमाण यहाँ लिया है। नय त्रिकाल का एक अंश करनेवाला नय, वह निश्चय; इस वर्तमान पर्याय का विषय करनेवाला व्यवहार परन्तु दोनों विकल्पात्मक, रागात्मक लिये हैं। आहाहा! और निक्षेप, वह तो ज्ञेय का भेद है, वह भी विकल्पात्मक निक्षेप.... यहाँ तो भावनिक्षेप भी विकल्पात्मक है। आहाहा! समझ में आया? अर्थात् मेरी पर्याय पूर्ण शुद्ध है — ऐसा भावनिक्षेप भी भेदवाली दशा है तो वह भी विकल्प है। आहाहा! वह निश्चय से तो झूठा है। आहाहा! अपना अनुभव करने में यह प्रमाण — नय-निक्षेप बिल्कुल सहायता नहीं करते। आहाहा!

व्यवहाररत्नत्रय का राग भी अपने अनुभव में बिल्कुल सहायता नहीं करता, उसकी मदद नहीं है और उसे छोड़कर अपने स्वभाव में दृष्टि करे, तब सम्यग्दर्शन होता है। ऐसे इन प्रमाण नय-निक्षेप का ज्ञान हो परन्तु वे त्रिकाल की दृष्टि करने में अभूतार्थ हैं। भेद प्रमाण — सविकल्प प्रमाण, यह सविकल्प लेना। सविकल्पनय, रागवाला नय, रागवाला प्रमाण, और रागवाला निक्षेप, वह भी, आहाहा! ज्ञायक चिदानन्द की दृष्टि - अनुभव करने पर — सम्यग्दर्शन के ध्येय ध्रुव पर दृष्टि करने से वे नय-निक्षेप प्रमाण भी झूठे हैं। आहाहा! ऐसी बात है।

अभी तो धर्म की पहली (सीढ़ी) सम्यग्दर्शन (की बात है)। यद्यपि निश्चय से तो चारित्रधर्म है परन्तु उस चारित्रधर्म का कारण जो सम्यग्दर्शन है। ऐसा लेते हैं न? चारित्रं खलु धम्मो, आहाहा! आत्मा में वीतराग पर्याय का जमना, आहाहा! जम जाना — आनन्द -आनन्द की दशा, वह वीतरागी पर्याय है। आहाहा! वह भी एक समय की दशा है, उसके आश्रय से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा! सूक्ष्म बात भाई! अभी तो बहुत गड़बड़ कर दी है, प्रभु! और दरकार कुछ कितनों को तो अन्दर पड़ी नहीं है, जिसमें जन्में बस वह भक्ति और मन्दिर और सबेरे स्तुति करना.... सेठ! बस हो गया धर्म।

श्रोता : वह सरल पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सरल पड़ता है? ज़हर है वह सरल पड़ता है। यह राग तो ज़हर है। यहाँ तो नय-निक्षेप-प्रमाण का ज्ञान भी अभूतार्थ है। स्वरूप की दृष्टि करने में अभूतार्थ है, ऐसा है, प्रभु!

श्रोता : भक्ति ज़हर कहलाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान की भक्ति का भाव विषकुम्भ-ज़हर का घड़ा है।

श्रोता : यह तो नयी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : (समयसार का) मोक्ष अधिकार (है) वह मोक्ष अधिकार, उसमें — मोक्ष अधिकार में विषकुम्भ कहा है प्रभु! तुझे पता नहीं है। अमृत का सागर अन्दर डोलता है, नाथ! अमृतस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का अमृतस्वरूप ध्रुव अन्दर विराजमान है, प्रभु! उसकी अपेक्षा से शुभभाव भी ज़हर है। आहाहा! अरे! उसको तो असत्यार्थ कहा, परन्तु नय, निक्षेप और प्रमाण से ज्ञान करना भी असत्यार्थ और अभूतार्थ है। आहाहा! भाई! यह मार्ग तो अन्तर का है। आहाहा! राग से, पर से उदास होकर, अन्तर ज्ञायकभाव को पकड़ना — त्रिकाली आनन्द के नाथ को पर्याय में पकड़ना, वह कोई अपूर्व बात है। वह अनन्त काल में कभी नहीं किया। आहाहा! कहो, पण्डितजी! बाकी पण्डिताई भी अनन्त बार हुई, मूर्खता भी अनन्त बार हुई, रंक भी अनन्त बार हुआ और राजा भी अनन्त बार हुआ, नारकी भी अनन्त बार हुआ और नौवें ग्रैवेयक का देव, इकतीस सागर की स्थिति (वाला देव भी) अनन्त बार हुआ। आहाहा!

इन सबका-भेद का लक्ष्य छोड़कर अपना चैतन्य भगवान... आहाहा! ध्रुव एकरूप रहनेवाली चीज है, उसका आश्रय करने से-उस भूतार्थ चीज का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। वह सम्यग्दर्शनधर्म, स्वरूप की दशा की शुरुआत है और उसमें बाद में आत्मा जो सम्यग्दर्शन में जानने में आया और अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान अनन्त... अनन्त शक्ति में एक-एक शक्ति अनन्त प्रभुता से भरी पड़ी है। आत्मा एक है, अन्दर शक्तियाँ अनन्त है। गुण, गुण कहो या शक्ति कहो; और एक-एक शक्ति में अनन्त सामर्थ्यता पड़ी है और एक-एक शक्ति की अनन्त पर्याय है — इन सबको - भेद को

छोड़कर.... आहाहा! उसका (भेद का) ज्ञान पहले आता है, जवाहरात की दुकान में प्रवेश करने से पहले, आँगन में खड़े रहते हैं, वैसे नय, निक्षेप, प्रमाण से आत्मा को जानना, वह आँगन में आया है। अन्दर प्रवेश करने में वह काम नहीं करता। अपने कल आया था, बहिन के वचनों में कि गुफा में जाना हो, गुफा में - वहाँ तक वाहन जाने का काम करता है परन्तु अन्दर जाने में वह वाहन काम नहीं करता, छोड़ देना पड़ता है। आहाहा! वैसे ही आत्मा को जानने में विकल्प पहले आता है — प्रमाण, नय, निक्षेप का (विकल्प आता है) परन्तु अन्तर अनुभव की गुफा में जाने में वह कुछ काम नहीं करता।

वह कहा था — (समयसार की) ४९ गाथा है (उसकी) संस्कृत टीका आचार्य जयसेन की है, उसमें यह लिया है — अन्तर शान्ति समाधिरूपी गिरि की गुफा में प्रवेश करते हैं — ऐसा पाठ है। यहाँ पुस्तक है? नहीं। श्रीमद् जैसी बड़ी (पुस्तक) होना चाहिए। नहीं? कल यहाँ आया थी। ४९ गाथा है समयसार की, उसकी टीका है। जयेसनाचार्य की (टीका है) उसमें ऐसा लिया है कि भगवान आत्मा अपने आनन्द के पर्वत-अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर, उसमें प्रवेश करने में... आहाहा! वह गिरिरूपी गुफा, वह समाधि शान्ति वीतरागता वहाँ काम करती है। आहाहा! वहाँ रागादि, निमित्त आदि कुछ काम नहीं कर सकते। आहाहा! ऐसी बात है भाई! कठिन पड़ती है न, इसलिए सोनगढ़ को ऐसा कहते हैं कि एकान्त है... एकान्त है... कहो प्रभु! तुम भी भगवान हो सब। दूसरे प्रकार से कहते हैं और यह सब दूसरी पद्धति से कहते हैं। यह कहें उसमें कोई विरोध करने की जरूरत नहीं है, उसकी बुद्धि में वह आया वह कहेगा परन्तु सत्य तो कोई भिन्न चीज है। आहाहा! 'जिसमें जितनी बुद्धि है इतनो दिये बताय, वाकौ बुरो न मानिये और कहाँ से लाय।' आहाहा! यहाँ कहते हैं कि निश्चय से तो प्रमाण.... सम्पूर्ण द्रव्य-पर्याय का ज्ञान करनेवाला प्रमाण-सविकल्प (प्रमाण), नय.... प्रमाण दो प्रकार का है एक सविकल्प (प्रमाण) निर्विकल्प (प्रमाण)। यहाँ इस सविकल्प की बात है। नय दो प्रकार के हैं — सविकल्प — रागसहित और एक रागरहित। यहाँ रागसहित नय की व्याख्या है। निक्षेप वह भी विकल्प है, जरा चार भेद डालना.... आहाहा! भगवान स्थापना निक्षेप है, यहाँ उन पर लक्ष्य जाना, वह शुभभाव है। समझ में आया?

वह कहा था — एक बार वहाँ बहुत प्रश्न हुए न? वहाँ हमारे सम्प्रदाय में बहुत

प्रश्न होते थे न? ८३ की साल है, ८३ की — कितने वर्ष हुए? ५१। तो एक सेठ था (वह) ऐसा कहता था — स्थानकवासी था, हम भी उसमें थे न? पैसेवाला था। ७० वर्ष पहले की बात है, उसके पास दस लाख रुपये, ४० हजार की आमदनी थी, उस समय, हाँ! अभी तो पच्चीस-तीस गुना हो गया, कीमत घट गयी, उस समय का एक लाख, अभी का पच्चीस लाख.... तो एक बार उसने ऐसा कहा कि जब तक मिथ्यादृष्टि है, तब तक मूर्ति की पूजा, मूर्ति की सेवा आदि आती है, सम्यग्दृष्टि होने के बाद मूर्ति की सेवा नहीं — यह उसने कहा। मैंने कहा — ऐसा नहीं है। सुनो, कि जब आत्मा का-जो भूतार्थ त्रिकाल चीज है, उसका जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ तो उसके साथ भावश्रुतज्ञान हुआ... गांगुलीजी! थोड़ा सूक्ष्म विषय है, थोड़ा अभ्यास करना पड़ेगा... उस होम्योपैथी (दवाई) का बहुत अभ्यास किया है न? नरम व्यक्ति है। आहाहा!

तो (हमने) कहा कि जब आत्मा में सम्यग्दर्शन होता है — एकरूप चिदानन्द की दृष्टि और अनुभव (होता है) तब उसको भावश्रुतज्ञान होता है। भावश्रुतज्ञान के दो भेद पड़ते हैं — निश्चय और व्यवहारनय। उस भावश्रुतज्ञान का एक भेद व्यवहार और निक्षेप का एक भेद स्थापना, वह व्यवहारनय का विषय समकिती को ही होता है। है भले ही शुभराग.... समझ में आया? बड़ी चर्चा होती थी। परन्तु मैंने कहा भाई! हम ऐसा, मैं इसमें (स्थानकवासी में) आ गया हूँ; इसलिए ऐसा मानना यह हमारे नहीं है। यह तो अन्दर में कसौटी से सत्य हो, हम तो वह मानेंगे। हम सम्प्रदाय में रहे, इसलिए सम्प्रदाय की दृष्टि हमें मानना, यह हमारे नहीं है। हमें तो सत्य कसौटी पर आता है, वह मानना पड़ेगा। अतः वास्तव में तो भावश्रुतज्ञानी को निश्चय और व्यवहार श्रुतज्ञान के दो अवयव हैं। श्रुतज्ञान अवयवी और नय अवयव है, तो श्रुतज्ञानी को ही व्यवहारनय होता है। है भले विकल्प। समझ में आया? और उस श्रुतज्ञानी को ही निक्षेप पर दृष्टि जाती है विकल्प से, तो यथार्थ में समकिती को ही व्यवहार से स्थापनानिक्षेप पूज्य है। लालचन्दभाई! आहाहा! भाई! मार्ग यह है। कोई उल्टी-सुल्टी गड़बड़ करे तो वह नहीं चलता। आता है — श्रुतज्ञान का भेद-व्यवहारनय एक आता है और वह शुभरागरूप भी है और उसका विषय भगवान की प्रतिमा भी है परन्तु आता है वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं। आहाहा! ऐसी बात है सेठ!

सेठ तो वहाँ कारंजा में बहुत पढ़ा है, नहीं पढ़ा है ? आहाहा ! परन्तु यह नहीं पढ़ा। सेठ ! ऐसी बात है। आहा... !

कहते हैं कि अन्दर में प्रमाण, नय, निक्षेप, जो पहले क्या कहते हैं ? एकरूप से प्रकाशमान आत्मा... भगवान तो अन्दर एकरूप प्रकाशमान चैतन्य है। उसमें उसके जानने का उपाय अनेक — प्रमाण, नय, निक्षेप। आहाहा ! एकरूप त्रिकाली परमात्मा भगवान प्रकाशमान परमात्मा है, उसको जानने के उपाय अनेक हैं परन्तु वे अनेक उपाय भी अभूतार्थ हैं। आहाहा ! यह कहना... है या नहीं ? आहाहा ! वह उपाय, वह व्यवहार से जानने का उपाय, एकरूप को जानने में अनेक से उपाय, वे एकरूप को जानने की अपेक्षा में अनेकरूप से जानने का भाव अभूतार्थ है। अरे प्रभु ! ऐसी बात है भाई ! आहाहा ! पण्डितजी !

अब प्रमाण की व्याख्या करते हैं। **उनमें भी यह आत्मा एक ही भूतार्थ है....** देखो ! प्रमाण, नय, निक्षेप का — जानने का भाव आता है, विकल्पात्मक रागस्वरूप.... **उसमें भी यह आत्मा एक ही भूतार्थ है।** आहाहा ! यह नय, निक्षेप, प्रमाण का विकल्प है, उससे भिन्न भगवान... जानने का उपाय है, उससे भी भिन्न है — ऐसी बात है, भाई ! क्या हो ? सम्यग्दर्शन का जगत् को मूल्य नहीं है, शुभभाव का मूल्य और बाहर की इस धूल का-पैसे का-इज्जत का — सुन्दर शरीर और मकान बड़ा महल हो, पचास-पचास लाख का मन्दिर और मकान अपने रहने का (हो उसका मूल्य है)। है न गोवा में, है न ? गोवा में एक था बेचारा, अभी गुजर गया। दो लड़के हैं, दो अरब चालीस करोड़ बहुत रुपये थे, बहुत पैसे परन्तु अन्त में एक सेकेण्ड में दो-चार-पाँच मिनिट में ऐसा दर्द हुआ, कुछ दर्द है ऐसा कहा और डॉक्टर को बुलाओ, बस डॉक्टर को बुला के आते थे, उससे पहले (तो) चले जाओ परलोक में भटकने को। शान्तिलाल खुशाल !

श्रोता : पैसा था तो क्यों गुजर गया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा था पड़ा रहा पैसा; सामने चालीस लाख का मकान रहने का था, चालीस लाख का गोवा में है, दस-दस लाख के दो हैं और चालीस लाख का एक — साठ लाख के मकान गोवा में हैं, उसका लड़का आया न।

श्रोता : सत्तर लाख का मकान मुम्बई में रमणीकभाई का।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह रमणीकभाई का लो न, हमारे। हम ऐसे उतरे थें न मुम्बई, कौन सी तिथि, ८७ शरीर में जन्म की थी न ८७ वर्ष की; तो आमोदवाले हैं न आमोद! हमारे पालेज के पास आमोद है, गुजराती-तो वहाँ के रहनेवाले रमणीकभाई हैं, दो भाई हैं तो एक रहने का मकान सत्तर लाख का है, पाँच-छह करोड़ रुपये हैं, नरम व्यक्ति है, गुजराती है। हमारे पालेज में हमारी दुकान थी न तो साथ में आमोद था तो हम तो आमोद को जानते थे। कहा तब हम आमोद के रईस हैं, बड़ी दुकान है, कुछ नाम है, कुछ पैढ़ी का (श्रोता : रौनक इण्डस्ट्रीज) अपने को याद नहीं रहता.... तो उस मकान में हम उतरे थे। सत्तर लाख का एक मकान, उसमें क्या है? धूल में। मकान-मकान में — जड़ में रहा, वह तेरी चीज में कहाँ आया? तुम वहाँ कहाँ रहते हो? तुम तो अपने आत्मा के स्वभाव में रहनेवाली चीज हो। आहाहा!

विभाव में आना, वह भी तेरी चीज नहीं, वह तो परदेश है, कल आया था - भजन में भी आया था। आहाहा! शुभ और अशुभराग होता है, वह परदेश है, प्रभु! तेरा देश नहीं। आहाहा! स्वदेश तो आनन्द का नाथ प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय प्रभुता, पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण। **इदमं** ऐसी पूर्ण शक्ति का भण्डार भगवान वह परमात्मा, वह तेरा स्वदेश है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं यह प्रमाण, नय और निक्षेप भी निश्चय से तो झूठे हैं। आहाहा! तो क्यों आते हैं? कि आते हैं। सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरनाथ जो आत्मा कहते हैं, और दूसरे — अज्ञानी आत्मा कहते हैं, उससे भिन्न होने को, यथार्थ आत्मा परमेश्वर ने क्या कहा, उसके लिये नय, निक्षेप, प्रमाण आता है। समझ में आया? परन्तु आता है परन्तु है अभूतार्थ।

श्रोता : शुद्धता, अशुद्धता को बताते नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : बताते नहीं, कहा न, आता है। यह क्या चीज है? — ऐसा जानने को आता है। परन्तु अन्दर जानने की-वहाँ जाना है, उसमें वह नय, निक्षेप, प्रमाण कुछ काम नहीं करता। आहाहा!

श्रोता : रास्ता बताकर छूट जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने रास्ता नहीं बताया है। देखा तो अपनी पर्याय से अभेद में जाकर देखा है, उसने दिखाया है, भेद से दिखाया नहीं। ऐसा कहा जाता है। आठवीं गाथा में आया न ? सन्त, आचार्य भी आत्मा एकरूप है, उसे समझाने के लिए दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा — ऐसा सन्त भी व्यवहार में आकर कहते हैं, विकल्प में आकर सन्त (ऐसा कहते हैं) यहाँ केवली की बात नहीं है, क्योंकि केवली तो उस समय थे नहीं, सन्त थे समयसार के समय। अतः उसकी बात करते हैं कि सन्त भी अपने स्वरूप में से बाहर निकलकर, जरा विकल्प-व्यवहार आता है तो व्यवहार में समझाने को दुनिया को कहते हैं कि 'आत्मा' तो वह आत्मा नहीं समझते, तो उन्हें ऐसा बतलाते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय को प्राप्त हो वह 'आत्मा'। यह भी व्यवहार हुआ। ऐसा व्यवहार से समझाते हैं। परन्तु व्यवहार का अनुसरण समझनेवाले को नहीं करना और कहनेवाले को भी व्यवहार का अनुसरण नहीं करना। आहाहा! ऐसी बात है। कहो, भाई! तुम प्रभु हो, हाँ! तेरी प्रभुता वाणी में नहीं आती, नाथ! आहाहा! यह तेरी प्रभुता नय, निक्षेप या प्रमाण में, सविकल्प में भी नहीं आती, नाथ! अरे! तुम पामर नहीं हो, प्रभु! तू अल्पज्ञ नहीं, यह राग तेरा नहीं, राग तुझमें नहीं। आहाहा! प्रभु! तुम तो सर्वज्ञस्वभावी हो न अन्दर! अकेले ज्ञानस्वभावी कहो 'ज्ञ' स्वभावी कहो या सर्वज्ञस्वभावी, आहा...! स्वभाव, हाँ! पर्याय में भले अल्पज्ञता हो परन्तु स्वभाव तो उसका सर्वज्ञस्वभावी प्रभु है। आहाहा! इसकी प्रभुता में कभी कमी-न्यूनाधिकता नहीं हुई — ऐसा त्रिकाली भगवान आत्मा का अनुभव करने पर यह प्रमाण, नय, निक्षेप झूठा होता है, उनमें से यह एक आत्मा ही भूतार्थ है। आहाहा! एक ज्ञायकभाव यह सत्य वस्तु है। यह दृष्टि में लेना। आहाहा!

प्रमाण, नय, निक्षेप का ज्ञान भी विकल्पात्मक है, वह दृष्टि में नहीं लेना। आहाहा! ऐसी बात है। अब **(क्योंकि ज्ञेय और वचन के भेदों से प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते हैं)।....** अब उसमें से सूक्ष्म विषय है। भाई! यह गाथा... **उनमें से पहले, प्रमाण दो प्रकार के हैं - परोक्ष और प्रत्यक्ष....** प्रमाण के दो भेद हैं एक परोक्ष और एक प्रत्यक्ष। **उपात्त और अनुपात्त पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष है....** इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तित और प्रकाश तथा उपदेश द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष है। आहाहा! इन्द्रिय और मन के द्वारा ज्ञान का प्रवर्तन हो, वह परोक्ष है और प्रकाश तथा उपदेश के द्वारा प्रवर्तन हो, वह भी

परोक्ष है। आहाहा! क्या कहा? कि सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि आयी — ख्याल में-लक्ष्य में आयी, परन्तु वह भी परोक्ष ज्ञान है। इन्द्रिय से ख्याल में आया न? निमित्त से ख्याल में आया न? परोक्ष है और वह सविकल्प परोक्षज्ञान है। आहाहा! **और केवल आत्मा से ही....** एक भगवान आत्मा से ही **प्रतिनिश्चितरूप से....** प्रति अर्थात् वास्तविकरूप से **प्रवृत्ति करे, सो प्रत्यक्ष है।...** अपने आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान काम करे, वह प्रत्यक्ष है।

(प्रमाण ज्ञान है। वह ज्ञान पाँच प्रकार का है...) पहले दो भेद किये — परोक्ष और प्रत्यक्ष। इतने भेद किये परन्तु अब उसके भेद — **(ज्ञान पाँच प्रकार का है....)** वह प्रमाण का भेद है — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। उसमें **(उसमें से मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं,....)** क्योंकि इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रवर्तता है। **(अवधि और मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं....)** थोड़ा प्रत्यक्ष है। आहाहा! समझ में आया? **(और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है....)** पूर्ण केवलज्ञान तो सम्पूर्ण (प्रत्यक्ष है) **(इसलिए यह दो प्रकार के प्रमाण हैं।)**

इनमें, दो का **दोनों में प्रमाता,....** जाननेवाला **प्रमाण** ज्ञान और **प्रमेय** — ज्ञान का विषय प्रमेय **के भेद का अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं,....** ये पर्याय में हैं। प्रमाण, नय, प्रमाण का विषय परोक्ष-प्रत्यक्ष का पर्याय में आता है, **सत्यार्थ है।** पर्याय की अपेक्षा से सत्यार्थ है। केवलज्ञान, केवलज्ञान की अपेक्षा से है, वह सत्यार्थ है। परोक्ष ज्ञान भी है, वह वर्तमान है, वह भी सत्यार्थ है **और जिसमें सर्व भेद गौण हो गये हैं....** इन परोक्ष और प्रत्यक्ष का-प्रमाण का भी भेद-लक्ष्य जिसने छोड़ दिया है, उसका नाम गौण करके.... आहाहा!

हलुवा होता है हलुवा तो उसकी विधि क्या है, हलुवा बनाने की? कि पहले तो आटा घी में सेंकते हैं बाद में शक्कर और गुड़ का पानी डालते हैं परन्तु कोई ऐसा माने कि यह आटा तो घी पी जाता है तो हमें घी का बचाव करना है तो तुझे क्या करना है? तो बाद में गुड़ का पानी डालना है तो पहले गुड़ के पानी में आटा सेंको, बाद में घी डालो... हलवा नहीं होगा, वह लेई (भी) नहीं होगी। तुझे पता नहीं। फोड़े पर (लगाने की) पोटिश होती

है न! क्या कहते हैं? पोटिश, पोटिश नहीं होगी, क्योंकि पोटिश में तो बहुत थोड़ा घी, विशेष नहीं पड़ता और थोड़ा पड़े बिना नहीं रहता। यह हमारी काठियावाड़ी भाषा में जातु-बल्तु घी — ऐसा सुना है। हमने कुछ किया नहीं है, बहिनें कहती हैं कि जातु-बल्तु घी डालना, इस पोटिश पर। जातु-बल्तु अर्थात् घी थोड़ा डले और बिल्कुल न डले ऐसा नहीं। उसमें तो घी तो बाद में डालना है, पहले आटा महंगा पड़ता है, महंगी चीज है। घी में आटा सेंकना तो घी पी जाता है, महंगा पड़ता है। इसकी अपेक्षा पहले आटे को गुड़ के पानी में सेंकों, बाद में घी डालो, पोटिश नहीं होगी, तीनों जायेंगे। कौन से तीनों? आटा, शक्कर, और घी (सब) तेरे व्यर्थ जायेंगे। वैसे ही भगवान आत्मा को अन्तर जानने में बाहर का साधन तुझे सरल पड़े, परन्तु उससे भाव नहीं होगा; भव-भ्रमण का भाव होगा, भाई! आहाहा! और यह अन्दर से महंगा पड़े, आहाहा! अन्दर में जाना, विकल्प भी काम नहीं करे, वहाँ प्रमाण का ज्ञान भी वहाँ काम नहीं करे। आहाहा! ऐसी महंगी चीज में पहले से कोई व्रत, नियम कर लो और बाद में सम्यग्दर्शन होगा.... धूल में नहीं होगा। धूल में का अर्थ क्या? पुण्य, पुण्यानुबन्धी पुण्य भी नहीं होगा; तेरे पापानुबन्धी पुण्य होगा। आहाहा! बात ऐसी है! अरेरे! यह चीज ही दुनिया को नहीं मिली। आहाहा! सत्य बात सुनने को नहीं मिलती। आहा!

यहाँ तो कहते हैं कि वे सर्व — जिसमें सर्व भेद गौण हैं। प्रत्यक्ष और प्रमाण, वह इन्द्रिय से और प्रकाश से जानने में आवे, वह परोक्ष और सीधा आत्मा से जानने में आवे — ऐसा प्रत्यक्ष। यह विकल प्रत्यक्ष, थोड़ा प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष, परन्तु यह सब भेद, पर्याय के भेद हैं। अत: सबको गौण करके.... अभाव करके नहीं कहा है। है, परन्तु उसका लक्ष्य छोड़ करके, **सर्व भेद गौण हो गये हैं — ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर....** आहाहा! यह परोक्ष और प्रमाण का भेद का ज्ञान विकल्प से होता है, परन्तु उसको गौण करके, उसका लक्ष्य छोड़ करके भगवान आनन्द का नाथ प्रभु अन्दर है, अभेद चीज है, उसका अनुभव करने पर यह सब गौण हो जाते हैं, उसकी मुख्यता नहीं रहती। आहाहा! समझ में आया? अरे भाई! परमात्मा का मार्ग बहुत सूक्ष्म है और यह सम्यग्दर्शन क्या चीज है तथा कैसे प्राप्त हो? बड़ी सूक्ष्मता है, भाई! यह कोई ऐसी

धूमधाम, हा-हो, हो-हा, गजरथ चलाया, और रथ बनाया और पचास-पचास लाख का मन्दिर बनाया; इसलिए धर्म हो गया (— ऐसा नहीं है।)

श्रोता : वह भी एक रास्ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं; भटकने का रास्ता है। कहा नहीं? मुनि को जो आत्मा का अनुभव है, शान्ति है, तीन कषाय का अभाव है, तीन कषाय का — उसको भी जो शुभराग आता है, वह जगपन्थ है। समझ में आया? ऐसा बताया था। कहा है न? जगपन्थ! मोक्षद्वार, मोक्षद्वार, (समयसार नाटक!) लो, यही पृष्ठ आया, चालीसवाँ श्लोक 'ता कारण जगपंथ यह...' आहाहा! आत्मा के आनन्द का अनुभव है, सम्यग्दर्शनसहित चारित्र भी है परन्तु जो पंच महाव्रत का विकल्प आता है.... आहाहा! वह 'ता कारण जगपंथ यह...' वह राग का विकल्प जगपंथ अर्थात् संसार का पंथ है। आहाहा! 'ता कारण जगपंथ यह उत्त शिवमारग जोग' अन्तर में-आनन्द में विकल्परहित का रमण, वह शिवमार्ग है। यह (विकल्प) संसार है। मुनि — सच्चे सन्त की बात है; अकेले द्रव्यलिंगी नहीं। जिसको आत्मा का ज्ञान हुआ है, अनुभव है और स्वरूप में रमणता का चारित्र भी है (परन्तु) पूर्ण नहीं; इस कारण पंच महाव्रत का विकल्प, अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प, भक्ति आदि-भगवान की विनय आदि का विकल्प आता है, परन्तु वह जगपंथ (है)।

श्रोता : पण्डित बनारसीदास ने लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कलश में है (समयसार) कलश में से निकाला है।

सेठ ऐसा कहते हैं कि यह पण्डित का कथन है न! परन्तु यह कलश में से निकाला है। आहाहा! सेठ स्पष्ट कराते हैं। आहाहा! बनारसीदासजी (ने यह) उसमें से — राजमलजी की टीका में से यह समयसार नाटक बनाया है। राजमलजी की टीका है न, कलश की (टीका है न) उसमें से यह बनाया है। अक्षर-अक्षर उसमें से लिया है। राजमल! जैनधर्म का मर्मी! उन्होंने यह बनाया है, उसमें से यह समयसार नाटक बनाया है। आहाहा! अरे...रे! उन्हें महंगा पड़ता है। महंगा कहते हैं या क्या कहते हैं? महंगा पड़ता है, इसलिए पण्डित का है — ऐसा करके निकाल देते हैं। अरे भगवान! यह तो बहिन का

वचन (बहिनश्री के वचनामृत) है न, दोपहर को पढ़ते हैं, उसकी भी आलोचना हो गयी। आहाहा! परन्तु बहिन ने वह अन्तर में से-अनुभव में से वाणी आयी, वह वाणी की है। टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग (प्रकाशक) बनाया तो मोक्षमार्ग (प्रकाशक) क्यों नहीं पढ़ते ? समझ में आया ? तो वाणी बहिन की आयी है, वह सार, सार, सार तत्त्व से भरी आयी है। विस्तार था वह तो छोड़ दिया तो उस तत्त्व की बात वह यथार्थ दृष्टि अनुभवपूर्वक आयी है। अरे प्रभु! उसकी आलोचना करे कि चम्पाबेन को चढ़ा दिया और पैर पड़ेंगे और ऐसा करेंगे.... अरे प्रभु! क्या करता है ? भाई! पण्डिताई काम नहीं करेगी। प्रभु! समझ में आया ? कैलाशचन्दजी ने लिखा है, लिखा है ? पता है! प्रभु! यह अनुभूति क्या चीज है नाथ तेरे। आनन्द के अनुभव में जो बात आती है, उसमें जो बात आती है, वह यथार्थ बात है। चाहे तो सिद्ध का सम्यक्त्व हो, और चाहे तो तिर्यंच का सम्यक्त्व हो। है ? यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आता है। दोनों ही समान हैं, स्थिरता — चारित्र में अन्तर है परन्तु दृष्टि का विषय और जो दृष्टि का ज्ञान यथार्थ हुआ, उसमें जो कथन आता है, वह यथार्थ कथन आता है। आहाहा! क्या हो ? लोगों को कुछ पण्डिताई का बहुत पढ़े हों और गुने न हों, बोलना आया बहुत.... तो वह ज्ञान है (ऐसा मानते हैं)। आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा.... कहा न प्रमाण के भेद को गौण करके, आहा....! **एक जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर....** एक जीव की अनुभूति, त्रिकाली स्वभाव की अनुभूति होने पर वे भेद, **वे अभूतार्थ हैं....** प्रमाण का भेद झूठा है तो राग और दया, दान के विकल्प की क्या बात करना ? आहाहा! भाई! मार्ग कठिन है। भावदीपिका में... पण्डितजी! भावदीपिका में दीपचन्दजी लिख गये हैं दीपचन्दजी! भावदीपिका — अध्यात्म पंच संग्रह है, यहाँ नहीं आया ? और एक भावदीपिका है, उसमें लिखा है कि अरे...रे! मैं देखता हूँ तो लोगों को आगम अनुसार श्रद्धा मुझे नहीं दिखती, लोग हैं नाम धरानेवाले श्रावक और साधु परन्तु आगम अनुसार जो श्रद्धा, वह हमें उनके पास नहीं दिखती और मैं सत्य कहता हूँ तो सुनते नहीं, यह क्या ? यह क्या ? तो मैं लिख जाता हूँ कि मार्ग यह है। भावदीपिका में है। पण्डितजी! भावदीपिका में है, सब देखा है न ? हजारों शास्त्र देखें हैं। हजारों, हजारों क्या लाखों शास्त्र देखें हैं यहाँ तो। (संवत्) ६५ की साल से सारा अभ्यास तो है। ६५ हैं ? (संवत्) ३५ और ४, ३९ और ३०, ६९.... ७० में एक कम।

इसमें तो हम दुकान पर हम शास्त्र अभ्यास करते थे, घर की-पिताजी की दुकान थी, पहले निवृत्ति बहुत थी परन्तु स्थानकवासी थे, श्वेताम्बर थे, स्थानकवासी। आहाहा!

उसमें जहाँ यह समयसार (संवत्) ७८ में मिला आहा... ! वाह ! 'सिद्ध होने की चीज यह है' कहा, मैंने तो सम्प्रदाय में कह दिया था। दामोदर सेठ विरुद्ध था। तत्त्व से अनजान, उसे भी कह दिया — शरीररहित होने की यह चीज है परन्तु उस समय तो उसमें (सम्प्रदाय में) थे तो आपत्ति नहीं न! अपने महाराज हैं न? परन्तु (सम्प्रदाय) छोड़ देंगे इसका उन्हें कुछ पता नहीं था। वह बड़ा सेठ था, बड़े अधिकारी उसके पास आते थे, उस समय दस लाख... २५-३० गुना गिनो अभी इतने पैसे इतने.... घर पूरा, अपने में एक अच्छा गाँव दस हजार की आमदनीवाला, उस समय दस हजार अर्थात् पच्चीस गुना गिनो, ऐसे गाँव-घर में थे। ग्रामस्वामी था। चालीस हजार की आमदनी थी, स्थानकवासी है दामनगर। वह हमारे सम्प्रदाय का गाँव था, तो वह ऐसा कहता था। आहाहा! भगवान का दर्शन करे तो वह तो मिथ्यादृष्टि हो तो मूर्ति का दर्शन करे। (हमने) कहा नहीं; सम्यग्दर्शन होने के बाद भावश्रुत आता है, वह भगवान का दर्शन करता है। समझ में आया? आहाहा!

शास्त्र तो वहाँ भी बहुत थे, उसके पास दिगम्बर शास्त्र थे तो वहाँ पहले पढ़े (संवत्) ७८ में, तो उसको कहा — सेठ! यह शास्त्र सिद्ध होने की चीज है। यह अशरीरी होने की चीज है। यह तुम्हारे ३२ शास्त्र और पैंतालीस (शास्त्र) है, हमने तो सब देखे थे। करोड़ों श्लोक देखे थे परन्तु उस समय तो उसमें (सम्प्रदाय में) थे। तब हमारे महाराज हैं कोई आपत्ति नहीं, कुछ भी बात करेंगे जो यदि विशेष हमको विरोध तो हम सम्प्रदाय छोड़ देंगे, उसको — सेठ को-सबको मेरा डर लगता था, मैं कोई आ गया इसलिए मैं सम्प्रदाय को मानता हूँ — ऐसी चीज नहीं है। मुझे तो अन्दर में यथार्थ आना हो, तो मैं मानता हूँ तो वे ऐसा कहते थे कि नहीं, यही मार्ग सच्चा है। समयसार, बाद में सच्चा कहते थे। हम कहते थे। (उसने) बाद में भूल निकाली, समयसार में भी भूल है... छोड़ दिया न, बस! यह तो उसमें भी इस जीवतत्त्व में भूल है और अजीव में है और आस्रव में है.... तुमने देखा नहीं दामोदर सेठ? उसके लड़के की बहू नहीं, तुम्हारे यहाँ राजकोट? क्या नाम? यहाँ, वहाँ अपने मकान था न? उसके पीछे था। इन भाई

का मकान नहीं? उतरते थे, अपने स्थानकवासी, लाभूबेन और उस मकान में हम उतरते थे। पारेख का मकान, पारेख का मकान नहीं? वहाँ उतरते थे। उसके पीछे उसके पिता का मकान है। आहाहा!

यह वस्तु अलग, बापू! कहा। यहाँ कहते हैं कि दो प्रकार — परोक्ष और प्रत्यक्ष — ऐसा ज्ञान करने में आता है परन्तु वह बात अपने स्वरूप में जाने में उसकी कोई मदद नहीं। आहा! उसको भी गौण करके, है? **एक जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं....** झूठे हैं। आहाहा! यह प्रमाण की व्याख्या की। नय की व्याख्या करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६४ कलश-८ की टीका दिनाङ्क २१-०८-१९७८ सोमवार
श्रावण कृष्ण ३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, १३ वीं गाथा, उसका नौ तत्त्व का अधिकार तो आ गया। पर्याय में नौ तत्त्व का भेद है, उसे जानना परन्तु वह आदरणीय नहीं है। आहाहा! एकरूप ज्ञायक चैतन्य.... आ गया है ऊपर! एकरूप से प्रकाशमान आत्मा, अन्तर में ध्रुव ज्ञायक... प्रमाण का विषय तो द्रव्य और पर्याय है परन्तु यहाँ तो निश्चय का विषय जो त्रिकाल.... प्रमाण पूज्य नहीं है — ऐसा कहा है, क्योंकि उसमें पर्याय का निषेध नहीं आता। आहाहा! नयचक्र में है। आहाहा! पर्याय का निषेध होकर, अन्दर चैतन्य चमत्कार प्रभु पूर्णानन्द प्रभु का आश्रय लेना, एकरूप की दृष्टि करना, तब आत्मा जैसा है, वैसा प्रकाशमान श्रद्धा और ज्ञान में होता है। एकरूप त्रिकाली जो स्वरूप है, उसकी दृष्टि देने से एकरूप प्रकाशमान होता है, उसका नाम अनुभूति और सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

पीछे कहा कि प्रमाणज्ञान, पर्याय और द्रव्य को सिद्ध करने को, सिद्ध करने को दो का अस्तित्व सिद्ध करने को प्रमाण का विषय बताया परन्तु वह प्रमाण विकल्प है। आहाहा! मैं जाननेवाला प्रमाता और ज्ञान प्रमाण और प्रमेय — ऐसा भेद है, वह भी विकल्प है — राग है; उसे छोड़कर अकेले जाननेवाला ज्ञायक दृष्टि में प्रकाशमान हो, तब एकरूप की प्रतीति हो, तब (उस) प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा! यह प्रमाण का विषय चल गया है।

नय.... आज नय चलेगा। सूक्ष्म विषय है भाई! आहा... ! **नय दो प्रकार के हैं....** प्रमाण दो प्रकार का कहा था, वह प्रत्यक्ष और परोक्ष। यहाँ नय दो प्रकार के (हैं)। नय का अर्थ क्या? जो ज्ञानपर्याय में श्रुतज्ञानरूपी भावप्रमाण है, वह अवयवी है और उसका-नय का एक भाग अवयव है। आहाहा! स्वरूपसन्मुख का लक्ष्य करके जो निश्चयनय है, वह यहाँ विकल्पात्मक लेना है, यहाँ रागसहित का नय है। नय का लक्ष्य विकल्पसहित और व्यवहारनय है, वह वर्तमान पर्याय और राग को जाननेवाला वह भी रागसहित-विकल्पसहित है। आहाहा!

नय दो प्रकार के हैं — द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक.... जो ज्ञान का अंश त्रिकाली द्रव्य के प्रयोजन से द्रव्य की दृष्टि करता है, उस ज्ञान के अंश को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। द्रव्य जिसका प्रयोजन-ऐसा जो ज्ञान, (वह) द्रव्यार्थिकनय है। जिस ज्ञान का प्रयोजन द्रव्य, जो त्रिकाली है, उसे जानना है, उस नय को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। अब यह पहलू सुना ही न हो... आहाहा! अभी तो...

श्रोता : शुद्धनय किसे कहते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वही कहते हैं, अभी तो शुद्धनय, यह तो द्रव्यार्थिकनय को शुद्ध, परन्तु यहाँ विकल्पात्मक बात है, क्योंकि एक त्रिकाली ज्ञायक मैं हूँ — ऐसा द्रव्य का प्रयोजन जिस नय का है, उस नय को द्रव्यार्थिक कहते हैं। यह शुद्धनय का विषय उसे कहते हैं परन्तु यहाँ विकल्पात्मक, अभी विचार में सिद्ध करने को यह द्रव्यार्थिकनय आया है। वस्तु त्रिकाल है, उसकी सिद्धि करने में अन्यमती कहते हैं, उससे (भिन्न) सर्वज्ञ जो कहते हैं, उस चीज का निर्णय करने में द्रव्यार्थिकनय का विकल्पात्मकभाव पहले आता है। आहाहा! समझ में आया?

सूक्ष्म विषय है भाई! अनन्त काल में कभी अनुभूति क्या चीज है और सम्यग्दर्शन क्या चीज है और उसका विषय क्या है, यह ख्याल में कभी लिया ही नहीं। ऐसे तो क्रियाकाण्ड बहुत किये — व्रत, तप, भक्ति, पूजा, और शास्त्र का ज्ञान भी बहुत किया। आहाहा! परन्तु यह वस्तु जो त्रिकाल है, उसको जो ज्ञान जानता है, उसको यहाँ द्रव्यार्थिक-द्रव्य जिसका, त्रिकाली चीज जिसका जानने का प्रयोजन है, उस नय के अंश को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। पण्डितजी! गुप्त बात है भाई! अरे! इसने कभी ध्यान नहीं दिया। आहाहा!

द्रव्यश्रावकपना भी अनन्त बार हुआ। जैसे द्रव्यलिंगी साधु अनन्त बार हुआ, वैसे आत्मज्ञान बिना द्रव्यश्रावक-बारह व्रत, और भक्ति, पूजा और श्रावक के जो छह प्रकार के आचार कहते हैं न, देव पूजा, गुरु सेवा, वह भी अनन्त बार किये परन्तु वह वस्तु-अन्दर त्रिकाल आनन्द का नाथ प्रभु — उसकी महिमा लाकर अन्तर में नहीं गया, बाहर का बाहर भटक गया। आहाहा! समझ में आया? वस्तु ऐसी है भाई!

यह द्रव्यार्थिकनय; और पर्यायार्थिक (नय) — जो ज्ञान का भाग, वर्तमान अवस्था का जानने का प्रयोजन उस नय को पर्यायार्थिकनय कहते हैं। है? **यहाँ द्रव्य पर्यायस्वरूप वस्तु में....** वस्तु जो आत्मा है, वह तो त्रिकाल द्रव्य भी है और वर्तमान पर्याय भी है, दो है। **द्रव्य पर्यायस्वरूप वस्तु में....** आहाहा! भगवान आत्मा, द्रव्य और पर्यायस्वरूप वस्तु है। वह अकेला द्रव्य ही है, और पर्याय नहीं — ऐसा नहीं तथा पर्याय अकेली है और द्रव्य नहीं — वस्तु ऐसी नहीं है। **द्रव्य और पर्यायस्वरूप वस्तु में....** वस्तु ऐसी है। आहाहा! **द्रव्य का मुख्यता से अनुभव कराये....** ज्ञान करावे.... यहाँ अनुभव कराने का अर्थ ज्ञान कराये ऐसा लेना। अनुभव करावे यह अभी इसे कहना क्या? यह तो अभी विकल्पात्मक है। क्या कहा? कि जो ज्ञान का अंश, श्रुतज्ञान प्रमाण है, उसका अंश नय जो मुख्यरूप से द्रव्य का ज्ञान कराता है, उसका नाम द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है। अब ऐसी बातें।

श्रोता : यह तो पण्डित हो वह समझे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पण्डित नहीं, यह तो आत्मार्थी हो वह समझे। पण्डित भी नहीं समझे। यह तो कहा नहीं? कल कहा था — श्रीमद् का (वाक्य है)।

सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मण्डन-खण्डन भेद लिये,
यह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजू न पड्यौ॥

आहाहा! शास्त्रज्ञान-वाद करके खण्डन-मण्डन किया, ऐसा है और ऐसा नहीं है और.... ऐसे विकल्प से ऐसा ज्ञान किया। आहाहा! समझ में आया? 'सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मण्डन-खण्डन भेद लिये; यह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजू न पड्यौ॥' कुछ हाथ नहीं पड़ा परन्तु वस्तु क्या है, यह दृष्टि में नहीं लिया। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि द्रव्य, वस्तु-द्रव्य अर्थात् वस्तु, हाँ! यहाँ तुम्हारे पैसे की बात नहीं है। वह वस्तु है, वह अनन्त परमाणु की बात है। यहाँ तो एक-एक द्रव्य भिन्न है, उसकी बात है। पैसा है, वह तो अनन्त परमाणु-अनन्त द्रव्य से इकट्ठा (स्कन्ध) हुआ उसका नोट या रुपया वह तो अनन्त परमाणु-अनन्त द्रव्य इकट्ठा हुआ देखने में आता है, एक द्रव्य नहीं। नोट — दस हजार के नोट होते हैं न अभी तो, बहुत होते हैं, नोट आते हैं दस-दस हजार के परन्तु वे उस कागज में तो अनन्त रजकण हैं। एक ही द्रव्य नहीं है, उसमें तो अनन्त द्रव्य है, जड़ का-अजीव का-परमाणु का-अजीव का अनन्त द्रव्य है।

यहाँ तो आत्मा-द्रव्य किसे कहते हैं? कि शरीर से, राग से भिन्न और एक समय की पर्याय से भी भिन्न — ऐसी जो त्रिकाली चीज है, उसे यहाँ द्रव्य कहते हैं। अरे! दो प्रकार के द्रव्य हैं — एक प्रमाण का द्रव्य है, एक निश्चयनय का द्रव्य है। प्रमाण का द्रव्य उसे कहते हैं कि जो त्रिकाली द्रव्य और वर्तमान पर्याय दो को जाने, वह प्रमाण का द्रव्य और निश्चयनय का द्रव्य, पर्याय से रहित त्रिकाली अकेला ज्ञायकभाव वह पर्याय से रहित नय का द्रव्य है। ए...ई... भाई! मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई! अरेरे! यह मार्ग लिये बिना यह चौरासी की घानी अवतार (कर-करके) पिलकर मर गया। आहा! समझ में आया? जैसे घानी में तिल पिलते हैं तिल, वैसे अनादि से राग-द्वेष की अग्नि में पिलते-पिलते कहीं इसे शान्ति नहीं, कहीं शान्ति नहीं मिलती। शान्ति का सागर तो भगवान आत्मा (है)। उसका द्रव्य की मुख्यता से विकल्प से ज्ञान करना, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा जाता है। अभी विकल्प-राग है। आहाहा! प्रथम भूमिका में भगवान द्वारा कथित द्रव्य और भगवान द्वारा कथित पर्याय को साबित करने के लिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक विकल्पात्मक नय पहले आते हैं। ध्यान रखे तो समझ में आये — ऐसा है, बापू! यह कोई वार्ता नहीं। आहाहा! यह तो भगवान की भागवत् कथा है। आहाहा!

कहते हैं कि द्रव्य की जिसे मुख्यता है — मुख्यरूप से.... पर्याय है, परन्तु पर्याय वहाँ गौण है। जो त्रिकाली वस्तु का लक्ष्य करावे, अनुभव करावे.... अनुभव शब्द (से यहाँ) ज्ञान (समझना)। इस द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से अनुभव करावे

अर्थात् वेदन करावे यह बात यहाँ नहीं है। समझ में आया? अनुभव अर्थात् द्रव्य का जो नय है, वह त्रिकाली की मुख्यता से द्रव्य का ज्ञान करावे, उसे द्रव्यार्थिक कहते हैं। पाटनीजी! ऐसी बातें हैं। बापू! आहाहा! **और पर्याय का मुख्यता से अनुभव कराये....** अनुभव शब्द से यहाँ जानना। वेदन-अनुभूति वह नहीं। समझ में आया? आहाहा! पर्याय अर्थात् वर्तमान अवस्था, उसकी मुख्यता से ज्ञान कराये **सो पर्यायार्थिकनय है। यह दोनों नय द्रव्य और पर्याय का.....** द्रव्य त्रिकाली और पर्याय वर्तमान अवस्था, दोनों का। **पर्याय से** (अर्थात्) **(भेद से)** भेद से **(क्रम से)....** जानने पर **अनुभव करने पर तो भूतार्थ है,....** यह विकल्पात्मक ज्ञान यथार्थ है, है इतना। सत्य है या सम्यग्ज्ञान है, यह कोई बात यहाँ नहीं है।

गाथा ठीक ऐसी आ गयी है (अलौकिक!) है? आहाहा! परमानन्द प्रभु ध्रुवद्रव्य की मुख्यता से ज्ञान करावे, वह ज्ञान द्रव्यार्थिक और जो पर्याय की मुख्यता से ज्ञान करावे, वह पर्यायार्थिकनय (है)। आहाहा! इन दो के भेद से, भेद हुआ न? प्रकार हुआ न? क्रम हुआ न? द्रव्यार्थिक को जानना, फिर पर्यायार्थिक को जानना — ऐसा क्रम हुआ और द्रव्यार्थिक से जानना, पर्यायार्थिक से जानना — ऐसा भेद हुआ। आहाहा! **भेद से अनुभव करने पर तो भूतार्थ है....** है अवश्य। ये विकल्पात्मक ज्ञान द्रव्यार्थिक का और पर्यायार्थिक का है अवश्य। भूतार्थ अर्थात् त्रिकाली चीज है, यह बात यहाँ नहीं कहना है। यह द्रव्य का ज्ञान और पर्याय का ज्ञान विकल्पात्मक है, है, आहाहा! है? **सत्यार्थ हैं;....** यह द्रव्य का ज्ञान और पर्याय का ज्ञान है, सच्चा ज्ञान है — ऐसी बात यहाँ नहीं करना है परन्तु यह है। (ऐसी बात है)। समझ में आया? यहाँ सच्चा ज्ञान है, वह सम्यक् (ज्ञान है), यह बात नहीं कहना है। यहाँ तो द्रव्यार्थिक का लक्ष्य करके जो ज्ञान हुआ और पर्यायार्थिक (का लक्ष्य करके जो ज्ञान हुआ), वह है! बस इतना! इस भूतार्थ का अर्थ इतना है। आहाहा!

श्रोता : सविकल्प सम्यग्दर्शन।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यक् नहीं; सविकल्प सम्यक् नहीं; सविकल्प ज्ञान की पर्याय है।

श्रोता : निर्णय तो यथार्थ है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यथार्थ निर्णय.... परन्तु अभी विकल्पात्मक है। सम्यक्ज्ञान नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं। आहाहा!

श्रोता : व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं। यह तो आँगन में खड़े होकर जैसे जवेरी की दुकान में क्या-क्या जवाहरात है। यह जानते हैं, वह आँगन में खड़ा है, अन्दर नहीं गया है। वैसे भगवान आत्मा त्रिकाली द्रव्य और वर्तमान पर्याय दो का विकल्प से ज्ञान करते हैं। वस्तु की सिद्धि / साबित करने को... अनुभव करने को नहीं... वह बाद में। आहाहा! ऐसी बातें अब! और यह समझे बिना इसे धर्म हो जाये... और प्रतिमा ले लो, व्रत ले लो... क्या व्रत और क्या प्रतिमा? आहाहा!

अभी तो द्रव्य और पर्याय की मुख्यता से ज्ञान करावे वह भी विकल्पात्मक ज्ञान है, बस इतना! सम्यग्दर्शन है और सम्यक्ज्ञान है यह बात यहाँ नहीं है। ज्ञानचन्दजी! आहाहा!

श्रोता : यह ज्ञान, मिथ्यादृष्टि हो तब हो जाता है?

समाधान : हाँ, यह मिथ्यादृष्टिपने में द्रव्य और पर्याय कैसे हैं? ऐसा ज्ञान करते हैं, इतना! सम्यक्ज्ञान नहीं। आहाहा!

पीछे **और द्रव्य और पर्याय दोनों से अनालिंगित....** आहाहा! द्रव्य और पर्याय के भेद को जो स्पर्शता नहीं, **(आलिंगन नहीं किया हुआ) शुद्ध वस्तुमात्र जीव के....** आहाहा! इस भेद को आलिंगन नहीं करता। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य का ज्ञान और पर्यायार्थिकनय से पर्याय का ज्ञान, यह भेदरूप ज्ञान कहो, वह आलिंगन नहीं करता, ऐसा। पण्डितजी! विषय तो यहाँ बहुत अच्छा है! आहाहा! है? **द्रव्य तथा पर्याय दोनों से....** भेद से **अनालिंगित (आलिंगन नहीं किया हुआ) शुद्धवस्तुमात्र जीव....** अकेला शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान **(चैतन्यमात्र) स्वभाव का अनुभव करने पर....** यह अनुभव वेदन है। पहले अनुभव था, वह ज्ञान था। समझ में आया? पाटनीजी! पुस्तक है या नहीं? है, ठीक। यह सब पण्डित हैं न सामने।

पहले जो द्रव्यार्थिक का अनुभव कहा था, वह तो ज्ञान करना — इतनी बात है। अनुभव अर्थात् आनन्द का वेदन है, वह नहीं। पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से ज्ञान कराया

था, वह ज्ञान उस प्रकार का विकल्पात्मक ज्ञान अस्ति है, बस इतना! परन्तु जब आत्मा का अनुभव करते हैं। आहाहा! यह है, देखो! **आलिंगन** — भेद को द्रव्य और पर्याय का ज्ञान का भेद को विकल्पात्मक को आलिंगन, स्पर्श-छुए बिना.... आहाहा! **शुद्ध वस्तुमात्र जीव....** वह तो अशुद्ध का विकल्प नयात्मक ज्ञान अशुद्ध था। आहाहा! **शुद्ध जीव वस्तुमात्र का....** जीव के स्वभाव का अनुभव, देखो! **शुद्ध वस्तुमात्र के, जीव के स्वभाव का अनुभव....** त्रिकाली ज्ञायकभाव, आनन्दभाव, शान्तभाव, वीतरागभाव का अनुभव करने पर — उसका वेदन करने पर **वे अभूतार्थ हैं,....** द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का जो ज्ञान किया था, वह झूठा है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। वीतरागमार्ग, परमेश्वर जिनेश्वरदेव का पंथ समझना, (उसके लिए) बहुत पुरुषार्थ चाहिए, बहुत अन्दर में से निवृत्ति चाहिए। अन्दर में से कहा (है), बाहर की (बात नहीं है)। आहाहा!

भगवान अमृतचन्द्राचार्य सन्त.... नव तत्त्व की बात तो कुन्दकुन्दाचार्य ने पाठ में कही कि उससे भिन्न भगवान एकाकार है, तो अमृतचन्द्राचार्य ने प्रमाण, नय, निक्षेप उसमें से निकाला। समझ में आया? प्रमाण और नय के भेद से ज्ञान करना, वह एक प्रकार से है। है, माया है — ऐसा जो अन्य कहते हैं न — अन्यमति कहते हैं वह, माया है सब, पर्याय और राग वह सब माया है। मा... या अर्थात् माया, या.... मा, या... मा.... या — वह मा — नहीं — ऐसा कहते हैं। हमें तो वेदान्त का पता है न? हमारी दुकान में जब हम थे, तब हमारा एक ग्राहक था, उस समय एक ब्राह्मण था बहुत वेदान्ती था, हमारा ग्राहक था। ग्राहक समझते हैं? धारधीर करते थे तो ये हमारी दुकान है तो माल लेने को आते थे। हम उगाही (करने) उसके घर जाते थे तो — सेठ पधारो, सेठ पधारो! उस समय तो हमारी उम्र छोटी थी न, १७-१८ वर्ष की। (वह) कहता बैठो। बहुत वेदान्ती था, एक व्यापक है न, तो साथ में एक दर्जी का मकान था, तो वहाँ आवे तो सब पैर पड़ते। हम तो समझते थे कि यह, क्या वेदान्त और क्या पर्याय नहीं और अकेला वेदान्त, एक व्यापक, सर्व व्यापक एक ही चीज है परन्तु सर्व व्यापक एक है — ऐसा माना किसने? माने किसे (कौन)? पर्याय माने या ध्रुव माने? (पर्याय)। तो ध्रुव और पर्याय दो हो गये, द्वैत हुआ, अद्वैत नहीं रहा। बड़ी चर्चा होती थी।

हमारे भाई हैं न मोतीलालजी ब्रह्मचारी। राजकोट में परमहंस था। हमारे व्याख्यान में सब आते थे परन्तु फिर वह परमहंस हो गया, रेलवे का अधिकारी था, वेतन बहुत था तो फिर बाद में यहाँ आया था और फिर वहाँ राजकोट में आया था। राजकोट में चर्चा भी बहुत हुई परमहंस हो गया। बस एक ही व्यापक (ऐसा कहता था)। (हमने कहा) अरे! परन्तु एक व्यापक कहा तो सुनो! एक व्यापक नहीं माना — ऐसी कोई दशा है या नहीं? तो तुम एक मानने का प्रयत्न कराते हो न? है? और एक अनेक मानने की जो पर्याय है, वह मान्यता है, वह अस्ति है या नहीं? माया है? या.... मा है ही नहीं, यह यहाँ बताते हैं। समझ में आया?

द्रव्यार्थिक का लक्ष्य करके ज्ञान, पर्यायार्थिक का लक्ष्य करके ज्ञान, विकल्पात्मक भी है, वह सम्यग्ज्ञान है — ऐसी यहाँ अभी बात नहीं है। है, अस्ति है न अस्ति? इतना! तो फिर बहुत चर्चा होती थी। ऐसा स्वीकार तो किया। मैंने कहा भाई! एक (बात सुनो) कि वेदान्त तो ऐसा कहते हैं कि आत्यन्तिक दुःख से मुक्त हो तो दुःख है, है तो आत्मा आनन्द है और दुःख है — वस्तु ही हो गयीं, द्वैत (हो गया)। तुम्हारा अद्वैत नहीं रहा; और दूसरी, दुःख से मुक्त होओ, तो इसके स्थान में यह आनन्ददशा आती है तो आनन्ददशा और वस्तु त्रिकाली दो हो गये। युगलजी! भाई! ऐसी बात नहीं चलती।

यहाँ तो सत्य क्या है, कसौटी पर चढ़ाकर निर्णय लेना, वह चीज है। आहाहा! सोने को भी कस-कसौटी में चढ़ाते हैं या नहीं कि यह पन्द्रहवान है, सोलहवान है, तेरहवान है — ऐसा; वैसे भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा ने जैसा कहा, वैसा नय से निर्णय करके कसौटी से जैसे स्वर्ण का निर्णय करते हैं, वैसे नय से आत्मा का-द्रव्य और पर्याय का निर्णय करके — विकल्पात्मक निर्णय... आहाहा! प्रियंकरजी! इसमें तो सब पण्डिताई उड़ जाती है। द्रव्य और पर्यायार्थिकनय से जो ज्ञान हुआ, उसे अभूतार्थ कहते हैं। आहाहा!

श्रोता : क्यों?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्योंकि वह तो विकल्पात्मक भाव है। उसमें शुद्ध वस्तु का अनुभव नहीं आया। आहाहा! गाथा तो आयी है बराबर इसमें — शिक्षण-शिबिर में! मार्ग तो ऐसा है भाई! आहाहा!

शुद्ध वस्तु का, वस्तुमात्र जीव, शुद्ध वस्तुमात्र जीव! राग नहीं, पर्यायमात्र का लक्ष्य नहीं, **शुद्धवस्तुमात्र जीव के (चैतन्यमात्र) स्वभाव का अनुभव करने पर....** आहाहा! त्रिकाली आनन्दस्वरूप भगवान, त्रिकाली ज्ञानस्वरूप भगवान.... यह भगवान आत्मा की बात है, हाँ! भगवान, भगवान के पास रहे। त्रिकाली ज्ञानस्वरूप भगवान, त्रिकाली आनन्दस्वरूप भगवान का अनुभव करने पर उस तरफ लगकर पर्याय को वहाँ जोड़कर, और वेदन में-अनुभव करने पर वह द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक का जो ज्ञान विकल्पात्मक था, वह झूठा है। अनुभव करने पर झूठा है। पाटनीजी! आहाहा!

श्रोता : गुरुगम के बिना सब व्यर्थ है, गुरुगम के बिना पता नहीं लगता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी है, भाई! वस्तु ऐसी है। आहाहा! दूसरा ज्ञान तो एक ओर रहो, परन्तु द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के भेद से ज्ञान करते हैं, वह भी है अवश्य परन्तु अनुभव करने पर वह झूठा है। आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दर्शन होने में.... त्रिकाली का अनुभव करने से सम्यग्दर्शन होता है। यह द्रव्यार्थिक का और पर्यायार्थिक का जो ज्ञान हुआ, उसे वह सम्यग्दर्शन है, यह नहीं। आहाहा! ऐसी बात है भाई! स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, झूठे हैं, कौन? वह द्रव्यार्थिकनय से विकल्पात्मक ज्ञान किया और पर्यायार्थिक से पर्यायार्थिक को साबित किया, वह सब अनुभव करने पर भेद सब झूठा है। आहाहा! कहो बंडीजी! यह ऐसी बात है। आहा! यह नय की व्याख्या हुई। पहले प्रमाण की, उससे पहले नव तत्त्व की (बात हुई) अब एक निक्षेप की (बात) रही।

निक्षेप, ज्ञेय का भेद है; नय, ज्ञान का भेद-भाग है। निक्षेप, ज्ञेय का भेद है। समझ में आया? आहाहा! निक्षेप, वह विषय है और नय विषय करनेवाला है। नय विषयी है और निक्षेप विषय है। इस नय-निक्षेप विषय के चार भेद हैं। आहाहा! कहा था न, नहीं? कल कहा था। वह एक सेठ था न, उसने ऐसा कहा था कि मिथ्यादृष्टि हो, तब तक भगवान की प्रतिमा के ऊपर लक्ष्य जाता है और तब तक माने — ऐसा कहा था। सेठ था गृहस्थ। तब तो सारे काठियावाड़ में उसके पास पैसा था, वैसा पैसा (किसी के पास नहीं था)। ६०-७० वर्ष पहले दस लाख रुपये और चालीस हजार की आमदनी तथा दस हजार का

एक गाँव, ग्राहक पूरा गाँव ग्राहक, वह बड़ा अमलदार अधिकारी और अमरेली का जज उसके पास जाते थे। ऐसी उसकी बाहर में बड़ी छाप थी। तो वह कहता था — स्थानकवासी था — तो वह कहता था कि मूर्ति तो जब तक मिथ्यात्व है, तब तक मानी। मैंने कहा सुनो! कहा — जो निक्षेप है, वह नय का विषय है और जब नय उत्पन्न होता है, वह प्रमाणज्ञान हुआ। जिसको सम्यग्ज्ञान हुआ, उसे नय के भेद पड़ते हैं और नय के भेद पड़ते हैं, वह निक्षेप के भेद को विषय करते हैं। न्याय समझ में आया? बात तो बहुत सूक्ष्म, बापू! भाई! आहाहा! समझ में आया?

निक्षेप.... परमात्मा की प्रतिमा वह तो निक्षेप है, फिर कहने में ऐसा आता है 'जिनप्रतिमा जिन सारखी।' जिन सारखी न? जिन नहीं न? निक्षेप है न? तो निक्षेप ज्ञेय का भेद है परन्तु निक्षेप ज्ञेय का भेद है, वह नय का विषय है। जिसे यथार्थ नय ज्ञान हुआ, उसे यथार्थ निक्षेप का विषय लागू पड़ता है परन्तु यहाँ भेद से चार का विचार करना, वह अभूतार्थ है — ऐसा बताते हैं। आहाहा! है? **नाम** (निक्षेप) **स्थापना, द्रव्य और भाव। वस्तु में जो गुण न हो उस गुण के नाम से (व्यवहार के लिए) वस्तु की संज्ञा करना....** भगवान (— ऐसा) शरीर को नाम देना। **सो नाम निक्षेप है।** भगवान तो है नहीं। समझ में आया? पार्श्व, आते हैं न? वर्धमान पार्श्व नाम आता है न? वर्धमान पार्श्व। वर्धमान चौबीसवें तीर्थंकर का नाम है, पार्श्व तेईसवें का नाम है तो यह वर्धमान पार्श्व बन गया। है अन्दर में गुण? यह तो नाम निक्षेप से है, गुण न हो परन्तु नाम निक्षेप से कहा जाता है। उसका नाम 'नाम निक्षेप' (है) नहीं आता है या नहीं? हमारे बांकानेर में एक था पार्श्ववीर। हमारे बांकानेर में पार्श्ववीर नाम का एक लड़का था, वे दो नाम उसके — पार्श्व और वीर दो। वैसे यह वर्धमान शास्त्री हैं न? यह तो नाम निक्षेप है।

श्रोता : पण्डितजी के पुत्र का नाम परमात्मप्रकाश है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसका नाम है न! उसके पुत्र का नाम है। पण्डितजी का बड़ा पुत्र है न यहाँ? उसका नाम परमात्मप्रकाश है, छोटे का नाम अध्यात्मप्रकाश है, होशियार है, दिमागवाला, परन्तु परमात्मप्रकाश तो नाम है। ठीक है! तो जिसे गुण न हो परन्तु उसके नाम से वस्तु की संज्ञा करना, वस्तु का नाम लेना, वह नामनिक्षेप है। आहाहा!

अब **स्थापना — 'यह वह है'** — यह भगवान है — ऐसा जो प्रतिमा में निक्षेप करना, यह स्थापना है। यह भगवान है, यह सरस्वती की वाणी है.... है तो पुस्तक ऐसा, सरस्वती की वाणी है — ऐसा कहना यह स्थापनानिक्षेप से है। समझ में आया ? आहाहा! **इस प्रकार अन्य वस्तु में.....** अन्य वस्तु में **अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना....** वस्तु तो अन्य है और भगवान अन्य है, तथापि भगवान का उसमें निक्षेप करना।

क्या है ? फोड़ा है, किसका ? आज रात हुआ है। भाई नहीं आये ? गये ? है ? गये ? रात्रि में गये ? ठीक! यह गांगुली! होम्योपैथी का बड़ा, वह कलकत्ता में बड़ा डॉक्टर है, बाल ब्रह्मचारी है, विवाह नहीं किया है, फिर आया है। महाराज, आशीर्वाद दो कि अब आजीवन ब्रह्मचारी रहना है। विवाह करना ही नहीं। नहीं तो इतनी उम्र में भी कन्या तो बहुत देते हैं, लाखों की आमदनी है, होम्योपैथी का बड़ा (डॉक्टर है) परन्तु यहाँ आशीर्वाद दो महाराज कि हमें आजीवन विवाह नहीं करना है। कल नहीं आया भगवान की भक्ति में ? दो सौ पचास, दो सौ इकयावन मण घी दिया, मण का ढाई रुपया, हों! अकबर के समय में मण का ढाई रुपया था, अकबर था न जब, अकबर बादशाह था, तब घी का (मूल्य) ढाई रुपया मण था। यह क्यों चला ? यह बात सिद्ध की। अभी तो कितना ही कुछ है, सौ रुपये का मण, कितना कहा ? ओहोहो! यह ढाई तो अकबर के समय में था। चार पैसे का शेर, घी, तो वह चलेगा।

श्रोता : उस समय चार पैसे महंगे थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस समय चार पैसे महंगे थे, बात सत्य है, उस समय चार पैसे थे तो अभी एक रुपये के दो पैसे गिनने में आते हैं। एक रुपया के दो पैसे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि निक्षेप में 'यह भगवान है' ऐसा कहना। यह प्रतिमा निक्षेप है, यह स्थापनानिक्षेप कहा।

द्रव्यनिक्षेप — वर्तमान से अन्य अर्थात् अतीत अथवा अनागत पर्याय से वस्तु को वर्तमान में कहना, सो द्रव्यनिक्षेप है। क्या ? तीर्थंकर वर्तमान में नहीं हैं। श्रेणिक राजा (का) जन्म होता है तो तीर्थंकर कहना, वह भूतकाल की अपेक्षा से निक्षेप कहते हैं, तीर्थंकर तो तेरहवें गुणस्थान में होंगे, तब होगा। भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं,

उन्हें वर्तमान तीर्थंकर कहना, यह अतीत काल की, भूतकाल की अपेक्षा से कहना, वह द्रव्य-निक्षेप है। उसमें भविष्य की योग्यता है, इस अपेक्षा से गिनकर द्रव्यनिक्षेप से भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले को वर्तमान तीर्थंकर कहना। समझ में आया ? है ? वर्तमान में कहना वह द्रव्य-निक्षेप है और **वर्तमान पर्याय से वस्तु को वर्तमान में कहना, सो भाव निक्षेप है।** यह केवलज्ञानी परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं उनको भावनिक्षेप से कहना कि ये केवलज्ञानी हैं। हैं ऐसा कह देना, वह 'भावनिक्षेप' है। द्रव्य-निक्षेप में वर्तमान में है नहीं परन्तु भविष्य में होगा, अथवा भूतकाल में हो गया; मानो बड़ा सेठ था और फिर दीक्षित हुआ तो उसे सेठ कहना, यह भूतकाल की अपेक्षा से है। समझ में आया ? और मुनि है, वह पहले सेठ था तो मुनि हुआ, उसे सेठ कहना, वह भूतकाल की अपेक्षा से है और केवलज्ञानी हुआ तो उसे मुनि कहना, आहाहा ! भूतकाल की अपेक्षा से (है) और वर्तमान पर्याय में, भविष्य में होनेवाले को, भूतकाल में हो गये उनको वर्तमान में कहना, वह द्रव्यनिक्षेप है। ऐसी बात है। अब, इसमें कहीं फुर्सत नहीं। फुर्सत समझे ? फुर्सत, आहाहा ! भाई ! जन्म-मरण से पिल रहा है तो ऐसा ज्ञान यथार्थ पहले व्यवहार ज्ञान भी करना पड़ेगा। यह अभी व्यवहार है। आहाहा ! समझ में आया ?

वर्तमान की पर्याय में वर्तमान कहना, वह भाव निक्षेप है। **ये चारों निक्षेपों का अपने-अपने लक्षण भेद से प्रत्येक का लक्षण भेद हुआ।** एक का नाम गुण नहीं और नाम कहना। एक को गुण है नहीं परन्तु सामने स्थापना करना। भगवान है, उसकी एक वर्तमान योग्यता को गिनकर भविष्य की पर्याय को उसकी कहकर भूतकाल की कहना और एक वर्तमान पर्याय को वर्तमान पर्यायरूप कहना। आहाहा !

भगवान का मार्ग, बापू ! यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। भगवान ने कहीं किया है ? कहा है, किया नहीं है। भगवान ने आत्मा को बनाया है ? आहाहा ! सर्वज्ञ भगवान ने तो जैसा है वैसा जाना और वाणी में ऐसा आया। आहाहा ! यहाँ कहते हैं कि ये **चार निक्षेप हैं, वह लक्षण भेद से और उससे भिन्न-भिन्नरूप से अनुभव किया,** अनुभव अर्थात् ज्ञान किये जाने पर भूतार्थ है। अनुभव शब्द से यहाँ जानना लेना, चार के लक्षण भेद से, भेद करके जानना उसका नाम चार निक्षेप का ज्ञान है। **इसे जानने पर भूतार्थ है,** समझ

में आया ? वर्तमान, वर्तमान और भूत नाम, नाम आदि से कहना, वह सत्य है। है इतना, है इतना नाम भी सत्य है। नाम कहना है तो इस प्रकार से सत्य है या नहीं ? स्थापना भी सत्य है। इस प्रकार से कहना सत्य है, द्रव्य निक्षेप भूतकाल में भविष्य का कहना, वह भी सत्य है। इतना अपेक्षा से सत्य है। आहाहा !

और भिन्न लक्षण से रहित..... यह नाम स्थापना द्रव्य, भाव के भेद का लक्ष्य छोड़कर, आहाहा ! **एक अपने चैतन्यलक्षणरूप....** एक अपने चैतन्यलक्षण — जानना –देखना उसका–भगवान का लक्षण, इस आत्मा का, **चैतन्यलक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव करने पर....** इस जीव का स्वभाव चैतन्यलक्षण है। जानना–देखना यह उसका लक्षण है। कोई राग, पुण्य और दया–दान हो, वह उसका कोई लक्षण नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? **एक चैतन्यलक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव करने पर....** अनुभव अर्थात् वेदन, यहाँ अनुभव करने पर अर्थात् अनुभूति करने पर.... आहाहा ! **वे चारों ही अभूतार्थ हैं,....** झूठे हैं, चार निक्षेप झूठे हैं। यह आता है न कलश में ? **उदयति न नयश्री रस्तमेति प्रमाणं** नय अस्त हो जाता है, प्रमाण अस्त हो जाता है, नय उदय नहीं होता, प्रमाण अस्त हो जाता है। निक्षेप कहाँ चला जाता है ? उसका हमें पता नहीं। आता है ? कलश में है। है न ? आहाहा ! (कलश ९)

भगवान आत्मा अपने स्वरूपसन्मुख होकर अनुभव करे तब वह निक्षेप का भेद कहाँ चला जाता है हमें पता नहीं, कहते हैं। नय का उदय नहीं होता। आहाहा ! प्रमाण तो अस्त हो जाता है। विकल्पात्मक प्रमाण (अस्त हो जाता है), निक्षेप कहाँ जाता है ? हमें पता नहीं, हमें तो अद्वैत का अकेला अनुभव है। अद्वैत अर्थात् वह अज्ञानी अद्वैत कहता है, वेदांती ऐसे नहीं, अद्वैत का अनुभव है, वह तो पर्याय है परन्तु अद्वैत / एकरूप चीज का अनुभव तो एकरूप तो चीज आयी और अनुभव की पर्याय भी आयी, दोनों आये। आहाहा ! त्रिकाल चैतन्यस्वभाव का अनुभव, जो त्रिकाल चैतन्यस्वभाव भी आया, वह तो वस्तु और उसका अनुभव, वह पर्याय हुई। निर्विकल्प ज्ञान और निर्विकल्प दर्शन हुआ, वह पर्याय है। आहाहा ! ऐसी बात है।

इस प्रकार..... है ? **जीवस्वभाव का अनुभव करने पर वे चारों ही अभूतार्थ**

हैं,... आहाहा! पहले कहे कि सच्चे हैं; फिर कहते हैं कि झूठे हैं। जो सच्चा है, कहने का (तात्पर्य यह) कि अस्तित्व है इतना, सच्चा ज्ञान है और सम्यग्ज्ञान है — ऐसा यहाँ नहीं। उसका अस्तित्व है परन्तु स्वभाव का अनुभव करने पर उनका अस्तित्व ही नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है भाई! यह वाद-विवाद से तो पार पड़े ऐसी बात है नहीं। अन्तर अनुभव करने पर वह भान में आता है। आहाहा! वाद-विवाद करे तो कोई उससे (पार नहीं पड़ता) 'वाद-विवाद करे सो अन्धा' — समयसार नाटक में आया है। समझ में आया? आहाहा! और नियमसार में आया — भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, प्रभु! तेरी चैतन्यनिधि का अनुभव हो — भेद से रहित (अनुभव हो) तो उस निधि को पाकर अकेला भोगना। जैसे परदेश गया प्राणी कोई करोड़ों रुपये लेकर अपने देश में आया तो वह गुप्त रीति से करोड़ों रुपये भोगेगा। बाहर बहुत प्रसिद्ध नहीं करेगा, ढिंढोरा पिटेगा कि हम करोड़ों रुपये लाये हैं तो कुटुम्ब के लोग, जाति-पातिवाले, भिखारी सब लाओ... लाओ... कहेंगे। नियमसार (गाथा १५७) में है। इसलिए परदेश में से कोई लाया हो करोड़-दो करोड़-पाँच करोड़.... ऐ हंसमुखभाई! है? इनके पिता के पास ५०-६० लाख.... रुपये हैं, बाईस लाख तो भरना पड़ा सरकार को, छह लड़के (सबके पास) पैसे अलग हैं। छह भाई हैं, तो इनके पास तो बहुत पैसा है। सबके — एक-एक के पास और इनके पिताजी अलग थे, उनके पास पैसा था, ५०-६० लाख, कहीं होगा पता नहीं, सरकार को २२ लाख भरना पड़ा था, उत्तराधिकार में अभी सरकार को। उसके पिता की लक्ष्मी, यह उत्तराधिकार रूप से आयी न? २२ लाख तो उसे सरकार को भरना पड़ा। अकेले उसके पिताजी की लक्ष्मी में से (भरना पड़ा)। अपने में से छह-छह लड़के हैं, उनके पास लक्ष्मी अलग-अलग — ऐसा सुना है। यह बैठा है, बड़ा है, उसका बड़ा भाई है छह में हंसमुख! यह तुम्हारे पास बैठा है। उन छह में कर्ता-हर्ता है, पाँच भाई इसे मानते हैं, बड़ा जो है, बड़े के रूप में। उसमें क्या आया धूल में? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा कहते हैं — एक बार सुन तो सही प्रभु! यह नय, निक्षेप, प्रमाण और नव तत्त्व का भेद, आहाहा! पहले ज्ञान करने में ज्ञान आता है परन्तु तुझे अनुभव करने में वह ज्ञान काम नहीं करता। आहाहा! क्या कहा? नव तत्त्व का ज्ञान, नय-निक्षेप का

ज्ञान, प्रमाण का ज्ञान, अन्तरदृष्टि में अनुभव करने पर वह बिल्कुल काम नहीं करता। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु के सन्मुख झुकने से जो आनन्द का अनुभव आता है, उसमें इस भेद की अपेक्षा है नहीं। इस अपेक्षा से भेद को झूठा कह दिया। आहाहा! एक बात।

अपना जो द्रव्य है न वस्तु! अपनी चीज है न द्रव्य, इस अपेक्षा से दूसरे द्रव्य को अद्रव्य कहते हैं। समझ में आया? यह क्या कहा?

श्रोता : बिल्कुल समझ में नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं समझ में आया तो स्पष्टीकरण करते हैं। भगवान के शास्त्र में ऐसी चौभंगी ली है कि अपना द्रव्य जो वस्तु है, वह अपना द्रव्य अपने से है परन्तु अपने द्रव्य की अपेक्षा से भगवान का द्रव्य और दूसरे अन्य द्रव्य वे अद्रव्य हैं। इस द्रव्य की अपेक्षा से दूसरे द्रव्य अद्रव्य हैं, उसकी अपेक्षा द्रव्य हैं। युगलजी! आहाहा! अपने असंख्य प्रदेशी क्षेत्र से, स्वक्षेत्ररूप आत्मा है — इस अपेक्षा से दूसरा जो क्षेत्र असंख्य प्रदेशी जीव का है, वह अक्षेत्र है और अपना जो त्रिकाली आत्मा है और वर्तमान पर्याय है, इस अपेक्षा से स्वकाल में अपनी अस्ति है, और अपने स्वकाल की अपेक्षा से परद्रव्य की पर्याय का काल है, वह अकाल है। आहाहा! ऐसा कहाँ लोगों को (सुनने मिले) और अपना भाव त्रिकाली-अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि भाव से अपना भाव है, अपने भाव की अपेक्षा से सब दूसरे द्रव्यों को जो भाव है, वह अभाव है। समझ में आया? ऐसे यहाँ नव तत्त्व की पर्याय, भेद निक्षेप, नय, प्रमाण का भेद, अपने त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से झूठा है। पर तो अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल और अभाव है। आहाहा! भाई! प्रभु का मार्ग बहुत सूक्ष्म है! आहाहा! सप्तभंगी चलती है न! तो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अपनी अस्ति है और अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से परवस्तु की नास्ति है — अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल, अभाव है। आहाहा!

इस प्रकार यहाँ पर्याय में नव तत्त्व का भेद, नय-निक्षेप का भेद, प्रमाण का भेद, वह है उसकी अपेक्षा से; जैसे अपनी अपेक्षा से दूसरा अद्रव्य है और उसकी अपेक्षा से द्रव्य है; वैसे पर्याय में यहाँ यह चार बोल आये हैं तो उसकी अपेक्षा से वे हैं परन्तु अन्तर अनुभव करने से स्वद्रव्य का अनुभव करने से वे नहीं हैं। आहाहा! ऐसी बातें अब!

श्रोता : इसमें धर्म कहाँ हो गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धर्म हुआ। अन्तर आनन्द के नाथ का अनुभव करने पर जो आनन्द-वेदन आया और ज्ञान सम्यक् हुआ तथा वीर्य ने जो अपनी अनन्त शक्ति की पर्याय की रचना की, वह धर्म है। आहाहा! ऐसी बातें! फिर लोग कहते हैं न सोनगढ़वाले निश्चय एकान्ती हैं.... ! कहो भाई! तुम्हें रुचे वैसा कहो।

श्रोता : सब लोग प्रसन्न रहें ऐसा कहना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब लोग प्रसन्न रहें या आत्मा प्रसन्न रहे?

श्रोता : दुनिया में कोई वस्तु ऐसी नहीं कि सब प्रसन्न रहें।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें — मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखा है कि कोई ऐसी चीज नहीं है कि सबको पसन्द हो। सत्य बात कहने पर वह असत्यवाले को तो दुःख होगा तो उसमें क्या है। आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में तो बहुत स्पष्ट किया है। टोडरमल (जी) हैं।

यह तुम्हारे ऊपर आक्षेप है, पता है? कि तुम टोडरमलजी का सब मानते हो, तुमने उनके लिए चलाया तो मैं कहता हूँ वह तुम नहीं मानते? आया है समाचार पत्र में। आया है? है? ऐसा आया है, यह कि टोडरमल स्मारक में टोडरमल के अनुसार हम मानते हैं, हम ऐसा कहते हैं हुकमचन्दजी, हमारे साथ चर्चा करें, उस अनुसार मानते नहीं — ऐसा आया है। इसमें आया है। आहाहा! पता है न, हम तो मोक्षमार्गप्रकाशक को ८२ की साल से पढ़ते थे, ८२ - ५२ वर्ष हुए। समयसार ७८ से — ५६ वर्ष हुए। एक-एक अक्षर और एक-एक शब्द को भिन्न-भिन्न करके, उसका क्या न्याय है-शोध कर लिया है। आहाहा! उसमें लेख आया था, वह तुम्हारे प्रति कि तुम स्मारक, टोडरमल स्मारक करके टोडरमल को मानते हो तो टोडरमल ने लिखा है तद्नुसार तुम नहीं मानते, तुम्हारी श्रद्धा में फर्क है ऐसा। कहाँ गये रतनचन्दजी? तुम्हारे भाई के ऊपर ऐसा आक्षेप आया है। न समझे, न जँचे उसे तो क्या काम का? आहाहा! टोडरमलजी ने तो यथार्थ कहा है परन्तु समझे उसको न? परन्तु किसी समय ऐसा लिखा, उसमें कि भाई! जो यहाँ राग की मन्दता करते-करते करे और भविष्य में कोई निमित्त ऐसा मिल जाये तो कदाचित् पाये — ऐसा भी लिखा है परन्तु वह तो व्यवहार का कथन है, पता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा कि उन लोगों ने

यह भूल निकाली है.... हमको तो सारे मोक्षमार्ग (प्रकाशक) की खबर है। आहाहा! अरे प्रभु! यहाँ तो जहाँ नय, निक्षेप, प्रमाण और नौ तत्त्व के भेद को भी स्वभाव का अन्तर-अनुभव करने पर झूठा कहते हैं तो तुम्हें किस बात को सच्चा स्थापित करना। दया, दान, व्रत, और राग वह तो झूठा है। स्वभाव के अनुभव की अपेक्षा से (झूठा है) और नहीं तो वह झूठा है। अन्तर आनन्द को प्राप्त कराने के लिये झूठी चीज है। जैसे यह भेद नव तत्त्व, नय, निक्षेप की पर्याय अनुभव करनेवाले को झूठा है, तदुपरान्त व्यवहार रत्नत्रय है, वह निश्चय पाने के लिए झूठा है। आहाहा! बाबूभाई! ऐसी बात है भाई! यह मानो अथवा रुचे वह मानो, वस्तु तो यह है। समझ में आया?

यह यहाँ कहते हैं — **एक जीव ही प्रकाशमान है।** आहाहा! है? नव तत्त्व में, प्रमाण के भेद में, नय के भेद में और निक्षेप के भेद में एकरूप चैतन्य प्रकाशमान नहीं होता। वे तो अनेकरूप से भिन्न-भिन्न भासित होते हैं परन्तु भगवान आत्मा एकरूप चैतन्यप्रकाश का पुंज प्रभु है, उस सन्मुख का अनुभव करने पर वह पर्याय में था — ऐसा कहा था परन्तु अनुभव करने पर वे झूठे हैं। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६५ कलश-८ की टीका तथा कलश-९ दिनाङ्क २२-०८-१९७८ मंगलवार
श्रावण कृष्ण ४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, १३ वीं गाथा में नय, निक्षेप, प्रमाण आ गया न, उसका भावार्थ है। सूक्ष्म है परन्तु वह आ गया है। **इन प्रमाण, नय, निक्षेपों का विस्तार से कथन तद्विषयक ग्रन्थों से जानना चाहिये; उनसे द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तु की सिद्धि होती है।**.... क्या कहते हैं? प्रमाण से-द्रव्य त्रिकाली (उसकी) और पर्याय की सिद्धि होती है। प्रमाण परोक्ष हो या प्रत्यक्ष हो परन्तु उन द्रव्य और पर्याय दो की प्रमाण से सिद्धि होती है। है? और उनके बिना वस्तु के नय से एक त्रिकाली को विषय करनेवाला नय-एक भाग; पर्याय को विषय करनेवाला एक भाग व्यवहार, दो नय से वस्तु के एक अंग की यथार्थ सिद्धि होती है, और निक्षेपों में ज्ञेय का भेद है — नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव — इस भेद का ज्ञान

निक्षेप से यथार्थ होता है परन्तु यह सब निक्षेप, नय, प्रमाण, यहाँ विकल्पात्मक लिए हैं। विकल्प जो राग है, उससे उस प्रमाण का ज्ञान, रागमिश्रित विचार में नय का ज्ञान और रागमिश्रित विचार से निक्षेप का ज्ञान तो उस समय में वे हैं, भूतार्थ हैं। भूतार्थ का अर्थ ? वह ज्ञान साधने के लिए जो चीज आती है, वह है इतना, परन्तु अपना अनुभव करने पर.... आहाहा! अपना चैतन्य भगवान पूर्णानन्दस्वरूप का अनुभव करने पर यह नय, निक्षेप, प्रमाण सब झूठ है। समझ में आया ? जैसे कल कहा था न ? जैसे अपने द्रव्य की अपेक्षा से दूसरे द्रव्य, अद्रव्य हैं। आहाहा! यह द्रव्य जो वस्तु है — भगवान आत्मा अपना निज चिदघन, इस स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य अद्रव्य है। उसकी अपेक्षा से (वह) द्रव्य है, परन्तु इस द्रव्य की अपेक्षा से अद्रव्य है। आहाहा!

उसी प्रकार अपने ज्ञायक की अनुभूति की अपेक्षा से नय, निक्षेप, प्रमाण का ज्ञान झूठा है। आहाहा! समझ में आया ? और नय, निक्षेप, ज्ञान का प्रमाण की दृष्टि से देखो, तो वे हैं, है। जैसे स्व द्रव्य की अपेक्षा से पर को, पर को देखो तो अद्रव्य है परन्तु पर की-द्रव्य की अपेक्षा से देखो तो वे द्रव्य हैं। आहाहा! समझ में आया ? ऐसे भगवान आत्मा नय, निक्षेप, प्रमाण से भले विकल्पात्मक ज्ञान करे, साधक अवस्था में पहले होता है तो उस अपेक्षा से है। जैसे परद्रव्य, परद्रव्य की अपेक्षा से है; वैसे नय, निक्षेप, प्रमाण का विकल्प से ज्ञान करने पर उस रूप है परन्तु आत्मा का अनुभव करने पर, स्वद्रव्य का अनुभव करने पर; जैसे स्वद्रव्य की अपेक्षा से दूसरा अद्रव्य है; वैसे द्रव्य का अनुभव करने पर प्रमाण, निक्षेप का ज्ञान असत्यार्थ-अभूतार्थ है। आहाहा! ऐसी बात अब, है ?

क्योंकि वे ज्ञान के ही विशेष हैं। उनके बिना वस्तु को चाहे जैसा साधा जाये तो विपर्यय हो जाता है।.... प्रमाण से, निक्षेप से, नय से यथार्थ साधना, इसके बिना इस वस्तु का यथार्थ स्वरूप सिद्ध नहीं होता, वस्तु को जानकर ज्ञान-श्रद्धान की सिद्धि करना **प्रथम अवस्था में....** ज्ञान श्रद्धान के सिद्ध होने पर अन्तरंग में सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ; पीछे प्रमाण आदि की कोई आवश्यकता नहीं, कोई अन्तर सम्यग्दर्शन के लिये फिर प्रमाण आदि, नय-निक्षेप आदि की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! पहले निर्णय करना, नय है एक अंश को प्रगट जानता है, चाहे तो निश्चयनय हो तो भी एक अंश को जानता

है, एक अंश को अर्थात् द्रव्य जो सामान्य है, वह एक अंश है और पर्याय वह भी एक अंश है। अत: नय का विषय एक अंश है, प्रमाण का विषय दोनों ही है, निक्षेप का विषय ज्ञेय का भेद है। यह प्रथम श्रद्धा करने से पहले ऐसा वस्तु को सर्वज्ञ ने कहा, अन्य ने कहा उससे विपरीत क्या है ? अन्य ने कहा उससे दूसरी चीज भगवान ने क्या कही है ? — उससे प्रमाण निक्षेप का ज्ञान आता है परन्तु अनुभव करने पर उस श्रद्धान और अनुभव की अपेक्षा से यह प्रमाण, नय, निक्षेप झूठा है। आहाहा! ऐसी बात है। है ?

तत्पश्चात् श्रद्धान की अपेक्षा से वह वस्तुत्व नहीं है। **किन्तु जब दूसरी अवस्था में प्रमाण आदि के अवलम्बन से विशेष ज्ञान होता है और राग-द्वेष-मोहकर्म का सर्वथा अभावरूप यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है;....** तब उस प्रमाण नय की चारित्र की अपेक्षा से जो सिद्धि थी, उसकी आवश्यकता नहीं है। समझ में आया ?

....केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, केवलज्ञान होने के पश्चात् प्रमाणादिक का अवलम्बन नहीं रहता.... पूर्ण ज्ञान होने के बाद प्रमाण, नय, निक्षेप का विकल्पात्मक ज्ञान वहाँ है नहीं। आहाहा! समझने की चीज है, सेठ! ऐसे नहीं मिले — ऐसी चीज है। बाहर से नहीं मिले, यह चीज अन्दर से मिलती है। आहाहा!

श्रोता : आप समझाते हो तब मिलती है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समझे तब मिलेगा, समझाने से क्या होता है ? हमारे सब पण्डित है न सामने, हमारे यह भी कृषि पण्डित हैं न। आहाहा! भगवान सुनो तो सही, कहते हैं। आहाहा! अन्तर चीज जो अनन्त गुण का चैतन्य रत्नाकर प्रभु, अनन्त रत्नाकर (अभेद आत्मा है)। एक बार पहले कहा था स्वयंभूरमण समुद्र असंख्य योजन लम्बा है, समस्त द्वीप और समुद्र इस ओर हैं उससे वह स्वयंभू समुद्र तीन योजन लम्बा विशेष है। क्या कहा ? असंख्य द्वीप समुद्र इस ओर है, उसकी लम्बाई गिनो, बाद में स्वयंभू की लम्बाई इससे भी तीन योजन अधिक है (उसमें) नीचे अकेले रत्न भरे हैं, रेत नहीं है। स्वयंभू! वैसे भगवान स्वयंभू आत्मा! आहाहा! है ? आहाहा! उसमें ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... जिसकी मर्यादा / हद नहीं। आहाहा! क्या है ? उस वस्तु में इतने धर्म-गुण हैं कि गुण की संख्या अनन्त... अनन्त... अनन्त...

अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... जितना ले जाओ तो भी उसका अन्त नहीं आता, इतनी संख्या है। इन सब चैतन्यरत्नाकर से भरा भगवान (आत्मा है)। आहाहा! उसका अन्तर में अनुभव करने पर सम्यग्दर्शन होता है। प्रथम धर्म की दशा (प्रगट होती है), वह कहीं क्रियाकाण्ड से और निमित्त से और पर से कोई होता है — ऐसा नहीं है। आहाहा! यह कहते हैं। केवलज्ञान होने के बाद कोई आवश्यकता नहीं है। **तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है,....** वहाँ भी किसी आलम्बन की आवश्यकता नहीं है। **इस प्रकार सिद्ध अवस्था में प्रमाण-नय-निक्षेप का अभाव ही है।**

कलश - ९

इस अर्थ का कलशरूप श्लोक कहते हैं :—

(मालिनी)

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥ ९॥

श्लोकार्थ : आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि — [अस्मिन् सर्वङ्कषे धाम्नि अनुभवम् उपयाते] इन समस्त भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य-चमत्कारमात्र तेज पुंज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर [नयश्रीः न उदयति] नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, [प्रमाणं अस्तम् एति] प्रमाण अस्त हो जाता है [अपि च] और [निक्षेपचक्रम् क्वचित् याति, न विद्मः] निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, सो हम नहीं जानते। [किम अपरम् अभिदध्मः] इससे अधिक क्या कहें ? [द्वैतम् एव न भाति] द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थ : भेद को अत्यन्त गौण करके कहा है कि प्रमाण, नयादि भेद की तो बात ही क्या ? शुद्ध अनुभव के होने पर द्वैत ही भासित नहीं होता, एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि अन्त में परमार्थरूप तो अद्वैत का ही अनुभव हुआ। यही हमारा मत है; इसमें आपने विशेष क्या कहा ? इसका उत्तर — तुम्हारे मत में सर्वथा अद्वैत माना जाता है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्य वस्तु का अभाव ही हो जाये, और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे मत में नयविवक्षा है जो कि बाह्यवस्तु का लोप नहीं करती। जब शुद्ध अनुभव से विकल्प मिट जाता है तब आत्मा परमानन्द को प्राप्त होता है इसलिए अनुभव कराने के लिए यह कहा है कि 'शुद्ध अनुभव में द्वैत भासित नहीं होता।' यदि बाह्य वस्तु का लोप किया जाये तो आत्मा का भी लोप हो जायेगा और शून्यवाद का प्रसङ्ग आयेगा। इसलिए जैसा तुम कहते हो उस प्रकार से वस्तुस्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा के बिना जो शुद्ध अनुभव किया जाता है, वह भी मिथ्यारूप है; शून्य का प्रसङ्ग होने से तुम्हारा अनुभव भी आकाश-कुसुम के अनुभव के समान है॥९॥

कलश-९ पर प्रवचन

अब, श्लोक ९ वाँ

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥९॥

आहाहा! **आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं....** क्या? शुद्धनय जो ज्ञान का एक निश्चय / सत्य अंश है, उसका विषय जो द्रव्य त्रिकाल है, उसका अनुभव करने पर.... आहाहा! **अनुभव करके कहते हैं कि अस्मिन् सर्वङ्कषे धाम्नि अनुभवम् उपयाते.... इन समस्त भेदों को....** प्रमाण, नय और निक्षेप के भेदों को **गौण करनेवाला....** लक्ष्य में नहीं लेनेवाला। आहाहा! गौण करने का अर्थ यह कि लक्ष्य में नहीं लेनेवाला, **शुद्धनय का विषयभूत....** जो शुद्ध सम्यक् ज्ञान निर्मल, निश्चय उसका विषयभूत भगवान पूर्णानन्द... आहाहा! **चैतन्यचमत्कारमात्र....** चैतन्य चमत्कार वस्तु (निजात्मा है)। आहाहा! जिसमें अनन्त गुण की संख्या की मर्यादा नहीं और जिसमें से केवलज्ञान

आदि उत्पन्न हो तो भी चैतन्य चमत्कार की जितनी शक्ति है, वह पूर्णरूप रहती है। आहाहा! केवलज्ञान आदि उत्पन्न हो तो भी वह ज्ञानगुण चैतन्य चमत्काररूप पूर्ण रहता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे अनन्त गुण की चैतन्य चमत्कार वस्तु **तेज-पुंज आत्मा है....** चैतन्य के तेज का पुंज प्रभु अनन्त.... अनन्त.... अनन्त.... अनन्त.... ऐसी बेहद / अपरिमित शक्ति का सागर प्रभु तेजपुंज प्रभु है। आहाहा!

उसका अनुभव होने पर... उस वस्तु के सन्मुख दृष्टि करके, वस्तु की ओर सन्मुख होकर; निमित्त, राग और पर्याय से विमुख होकर.... आहाहा! **नयश्री न उदयति नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती।....** आहाहा! अपनी चैतन्य चमत्कारिक जो चीज है, उसके सन्मुख होकर अनुभव करने पर नय की लक्ष्मी अर्थात् नय के भेद उत्पन्न नहीं होते। **न उदयति नयश्री....** नय उदय नहीं होता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है। है? नयों की लक्ष्मी अर्थात् नयों का प्रकार कोई निश्चय और व्यवहार तथा सद्भूत और असद्भूत यह सब कोई नयों की लक्ष्मी वहाँ उदय नहीं होती; वहाँ तो स्वरूप-चैतन्यमूर्ति की ओर का अनुभव है, चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन है, सम्यग्दर्शन के काल में, जो त्रिकाली चैतन्य भगवान का अवलम्बन लेकर पर्याय में जो अतीन्द्रिय आनन्दादि शक्तियों की जो व्यक्ति की दशा हुई, अनन्त गुण की व्यक्त दशा आंशिक हुई, उस अनुभव में.... आहाहा! नयों की उत्पत्ति नहीं होती। यहाँ विकल्पात्मक नय लिये हैं। आहाहा! **प्रमाण अस्त हो जाता है।** आहाहा! यह विकल्पात्मक प्रमाण की बात है, हाँ!

अन्तर आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु चैतन्य चमत्कार (को) जिसने अपनी दृष्टि में लिया, (दृष्टि में) लेकर उसका अनुभव-जैसा स्वरूप है, उसे अनुकूल, अनुकरण करके जो भवन पर्याय में हुआ। आहाहा! .....

अनुभव चिन्तामणि रतन अनुभव है रसकूप,
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप। *(समयसार नाटक)*

— यह आत्मा का अनुभव, पूर्णानन्द प्रभु की अन्तर्मुख दृष्टि करके जहाँ अनुभव होता है, वहाँ नय उत्पन्न नहीं होता, प्रमाण तो अस्त हो जाता है, प्रमाण अस्त हो जाता है। आहाहा! (यह) विकल्पात्मक प्रमाण की बात है प्रभु!

'निश्चयनयाश्रित मुनिवरों प्राप्ति करे निर्वाण की' — यह शब्द शास्त्र में आया है। यह विकल्परहित (निर्विकल्प) नय की बात है और यहाँ जो चलता है, वह विकल्पात्मक नय, प्रमाण, निक्षेप की बात चलती है। आहा! अन्यत्र तो ऐसा लिया है कि निश्चयनयाश्रित मुनिवरों अथवा ऐसा भी कहा 'विद्वान लोग अन्तर निश्चय के आश्रय को छोड़कर व्यवहार में वर्तन करते हैं परन्तु उनको मुक्ति नहीं होती। आता है न? हाँ! ये विद्वत् जन भूतार्थ को तजकर, त्रिकाली आनन्द के नाथ के अनुभव को छोड़कर व्यवहार में वर्तन करते हैं परन्तु उनको मुक्ति नहीं होती। यदि निश्चयनयाश्रित आत्मा अनुभव में आये तो उसे मुक्ति होती है।

श्रोता : अनादि से ऐसा ही है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु का स्वरूप अनादि से ऐसा है। आहाहा! तीर्थंकर के समवसरण में जाये तो भी यह चीज है। सन्तों की सभा में जाये तो भी यह चीज है। सच्चे सन्त के, हाँ! बाकी तो बाहर से बातें करे कि दया पालो, और व्रत करो, उससे कल्याण होगा, वह तो मिथ्याश्रद्धा, मिथ्या प्ररूपणा है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि पहले वस्तु को सिद्धि करने के लिये.... द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु है। निश्चयनय का विषय द्रव्य जो सामान्य; प्रमाण का विषय जो द्रव्य और पर्याय दो होकर द्रव्य (है)। समझ में आया? ऐसे प्रमाण, नय और निक्षेप से प्रथम तो वस्तु की साबिती, सिद्धि, अस्तित्व सिद्ध करने में ज्ञान का विशेष आता है परन्तु जब अन्तर में अनुभव करने पर... आहाहा! सम्यग्दर्शन के काल में जो अनुभूति साथ में होती है, उस अनुभूति के काल में वह नय उदय / प्रगट नहीं होता। अनुभव प्रगट हुआ वहाँ, नय -विकल्प प्रगट होता ही नहीं। आहाहा!

जहाँ अपना भगवान आत्मा अनुभव में आया, सम्यग्दर्शन-ज्ञान के प्रगट के काल में (अनुभव में आया)। आहाहा! तब वहाँ प्रमाण अस्त हो जाता है। दो बातें की हैं — नय उत्पन्न नहीं होता, प्रमाण अस्त हो जाता है। आहाहा! **और निक्षेप चक्र....** आहाहा! **निक्षेपचक्रम् क्वचित् याति, न विद्मः निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, सो हम नहीं जानते।.... निक्षेपचक्रम् क्वचित् याति, न विद्मः....** निक्षेप का भेद कहाँ चला जाता है, हम नहीं जानते — ऐसा कहते हैं।

श्रोता : आचार्य महाराज नहीं जानते?

समाधान : अनुभव में है नहीं। अन्तर आत्मा का अनुभव, जो सम्यग्दर्शन होता है, आहाहा! और सम्यक् भावश्रुतज्ञान होता है, उस काल में उस स्व-तरफ की सन्मुखता का वेदन है। आहाहा! वहाँ निक्षेप का चक्र कहाँ चला जाता है, कहते हैं... उसका अर्थ यह कि निक्षेप का चक्र वहाँ नहीं होता। हम नहीं जानते अर्थात् हम अनुभव में (अभेद) जानते हैं। उसमें यह निक्षेप के भेद कहाँ आये? आहाहा! यह मार्ग ऐसा है भाई! **निक्षेपचक्रम् क्वचित् याति, न विद्मः कहाँ चला जाता है, सो हम नहीं जानते।** आहाहा! **किम अपरम् अभिदध्मः इससे अधिक क्या कहें?....** आचार्य महाराज कहते हैं कि अब तुम्हें विशेष क्या कहें? आहाहा!

अन्तर भगवान आत्मा चैतन्य चमत्कार से भरा प्रभु (है)। उसके स्वसन्मुख होकर अनुभव करने पर नय, निक्षेप, और प्रमाण उत्पन्न नहीं होता। निक्षेप चक्र कहाँ चला जाता है? जो भाव-निक्षेप है... आहाहा! भावनिक्षेप तो पर्याय है। समझ में आया? परन्तु पर्याय की दृष्टि भी कहाँ चली जाती है? — ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहा? नय, निक्षेप तो विकल्प से.... यह निश्चय है और यह व्यवहार है, प्रमाण दो का विषय है परन्तु निक्षेप में जो भावनिक्षेप है वह तो पर्याय, अनुभूति, वह भावनिक्षेप है परन्तु वह भावनिक्षेप है वहाँ दृष्टि पर्याय पर नहीं है — ऐसा कहते हैं। हमारी दृष्टि तो-अनुभव (अभेद) पर है। अतः भाव निक्षेप भी कहाँ चला जाता है, हमें पता नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है।

जब अन्तर में सम्यग्दर्शन के काल में जब अनुभूति होती है, ज्ञान की प्रधानता से अनुभूति कहने में आता है, श्रद्धा की प्रधानता से दर्शन / सम्यक् (दर्शन) कहने में आता है, स्वरूप की प्रधानता से स्वरूप आचरण कहने में आता है। आहाहा! (तीनों) एक ही समय में (है)। कहो! एक यह द्रव्यस्वभाव भगवान पूर्ण... आहाहा! साक्षात् परमेश्वर परमात्मा (है) आहाहा! (समयसार) ३८ गाथा में कहा है — अपने परमेश्वर को भूल गया था — ऐसा पाठ ३८ गाथा में है। जैसे स्वर्ण अपने हाथ में रखा हो, वह दातुन करते हैं न तो (सोने का दाँत हो तो उसे) निकालते हैं (निकालकर) भूल गया, कहाँ है कहाँ है? ढूँढ़ता है। यहाँ अन्दर ही है। वैसे हाथ में रखा था परन्तु भूल गया। वैसे ही वस्तु

(आत्मा) तो अन्दर में आनन्द का नाथ प्रभु था परन्तु मैं राग और पर्याय के प्रेम में उसे भूल गया था। आहाहा!

श्रोता : याद था कि वह भूल जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भूल का अर्थ ? उसे ख्याल में नहीं लिया, उसका अर्थ यह है। भूल जाने का अर्थ — पहले याद था और बाद में भूल गया — ऐसा नहीं है। अनादि से भूल गया है, वर्तमान एक समय की पर्याय के प्रेम में (परमेश्वर को भूल गया है)। 'पर्याय मूढ़ा परसमया' ऐसा कहा है, प्रवचनसार ज्ञेय अधिकार ९३ वीं गाथा, पहली (गाथा में कहा है) समझ में आया ? तो राग में मूर्च्छित हुआ, वह तो बहुत स्थूल परन्तु एक समय की पर्याय में, मैं इतना हूँ, वह भी 'पर्यायमूढ़ा परसमया' मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि हमारा भगवान इन नय-निक्षेप और प्रमाण के विकल्प से छूटकर वस्तु का अनुभव करने के काल में.... वे पर्याय के भेद कहाँ चले जाते हैं, यह भी हमारे लक्ष्य में नहीं आता।

यहाँ हमारी भाषा वेदान्त जैसी है, परन्तु वेदान्त में तो, अनुभूति है वह पर्याय है — ऐसा वे — वेदान्त (वाले) नहीं मानते हैं — ऐसी चर्चा हमारे वेदान्ती के साथ बहुत हुई थी। वह कहता था कि आत्मा अनुभव करता है तो दो बात कहाँ से आयी ? ऐसा कि आत्मा और अनुभूति — दो, द्वैत हो गया; द्रव्य और पर्याय-द्वैत हो गया (ऐसा नहीं है) समझ में आया ? परन्तु यह वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। वस्तु जो त्रिकाली है, उसके सन्मुख होकर अनुभूति है, वह पर्याय है, वह गुण-द्रव्य नहीं है। आहाहा! अतः पर्याय में द्रव्य का अनुभव होने से पर्याय का लक्ष्य भी छूट जाता है। अतः भावनिक्षेप कहाँ चला जाता है ? — (हम नहीं जानते)। आहाहा! ऐसा है भाई!

श्रोता : वेदान्त में पर्याय की बात नहीं है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय है ही कहाँ वेदान्त में! पर्याय माने तो पर्याय, तो द्वैत हो जाता है, वह तो कहा न! द्रव्य और पर्याय दो हो वहाँ द्वैत हो जाता है। यहाँ चर्चा हुई थी। हमारे एक हैं न, मोतीचन्दजी थे रेलवे अधिकारी (थे)। हमारे व्याख्यान में नियमित आते

थे, वहाँ राजकोट में; फिर हो गये परमहंस। बाद में हमारे पास चर्चा करने आये। चर्चा में, झूठा है ऐसा नहीं (क्योंकि) हमारे प्रति तो उनको बहुत मान था तो बहुत चर्चा हुई (हमने) कहा, तुम एकान्त सर्वव्यापक मानते हो तो मैं ऐसा कहता हूँ कि वेदान्त यह कहता है कि सर्व दु:ख से आत्यान्तिक मुक्ति होना चाहिए तो यह सर्व दु:ख से आत्यन्तिक मुक्ति तो पहले दु:खदशा थी, बाद में मुक्त होता है तो आनन्ददशा आयी, यह तो पर्याय हुई; द्रव्य तो कायम रहता है पर्याय हुई, यह तो द्वैत हो गया, स्वीकार करता था। आया था, परमहंस आया था, मोतीलालजी करके वह दशाश्रीमाली वहाँ राजकोट में थे तो आते थे सदा ९५ में, ९९ वें में, बाद में अन्यमत का साधु हो गया। तेरी बात ऐसी है नहीं प्रभु! अनुभूति है, वह पर्याय है; आत्मा का साक्षात्कार होना, वह पर्याय में होता है, द्रव्य में नहीं। द्रव्य तो ध्रुव है। समझ में आया? कार्य होता है, वह तो पर्याय में कार्य होता है; वस्तु तो त्रिकाली कारणरूप ध्रुव पड़ी है। पर्याय, वह कार्य है और वस्तु वह कारण है, दो वस्तु हो गयी — ऐसा नहीं चलता कहा।

ऐसे यह यहाँ बात कहते हैं। देखो, कि इससे अधिक क्या कहें कि **द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।** देखो, है? यह द्रव्य है और यह पर्याय है, ऐसा द्वैत भी प्रतिभासित नहीं होता — ऐसा कहते हैं। उसका अर्थ तो वे-वेदान्त अद्वैत कहते हैं, वह यहाँ नहीं लिया है। आहाहा! यही कहते हैं, यह अर्थ में कहेंगे कि **द्वैत भासित नहीं होता।** — उसका अर्थ अद्वैत है — ऐसी चीज नहीं। मैं द्रव्य का अनुभव करता हूँ — ऐसा विकल्प भी जहाँ नहीं और वहाँ पर्याय पर भी लक्ष्य नहीं क्योंकि पर्याय, द्रव्यसन्मुख झुक गयी है। पर्याय, द्रव्यसन्मुख झुक गयी है तो पर्याय का लक्ष्य नहीं है, तथापि पर्याय में कार्य हुआ, वह पर्याय है। अरे! ऐसी बातें। समझ में आया?

यह जैन परमेश्वर सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं ऐसी बात नहीं है। समझ में आया? श्वेताम्बर और स्थानकवासी में भी ऐसी यथार्थ बात नहीं है। बात तो ऐसी है। उसमें भी केवलज्ञान में एक समय में ज्ञान और दूसरे समय में दर्शन (मानते हैं)। अरे! यह पूर्ण हो जाने के बाद फिर पहले यह ज्ञान और बाद में दर्शन? समझ में आया? यहाँ तो अनुभव में क्रम नहीं है — ऐसा कहते हैं। अपने स्वरूप-सन्मुख झुक गया... आहाहा! विकल्प

का लक्ष्य छोड़कर, पर्याय का लक्ष्य छोड़कर (स्वरूपसन्मुख झुक गया) नय-निक्षेप और प्रमाण का, वर्तमान वस्तु की सिद्धि की, ज्ञान-विशेष, ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान की बात नहीं है, सामान्य ज्ञान की बात है। वह जो ज्ञान का अंग है, इस प्रकार से उसमें नय, निक्षेप, प्रमाण का ज्ञान आता है परन्तु वह ज्ञान कहीं सम्यक् नहीं। आहाहा! सम्यक्ज्ञान-भावश्रुतज्ञान तो ज्ञायक त्रिकाली चैतन्य का कन्द प्रभु चैतन्यरस स्वभाव, अस्तित्व-अकेला चैतन्यप्रकाश का पुंज प्रभु, जिसमें यह द्रव्य है और पर्याय है — ऐसा भी अनुभव में नहीं, तथापि द्रव्य का अनुभव होता है, वह अनुभव पर्याय है।

रात्रि को प्रश्न हुआ था। अलिंगग्रहण (बोल) १८, १९, २०.... रात्रि में किसी ने प्रश्न किया था १८, १९, २० अलिंगग्रहण में २० बोल हैं तो १८ वें बोल में ऐसा आया कि अर्थावबोधरूप गुणविशेष का आलिंगन नहीं करनेवाला द्रव्य है; २० बोल है उसमें १८ वें बोल की बात चलती है। यह तो हमारे नित्य स्वाध्याय का विषय है। सबेरे शाम, सब कण्ठस्थ है सब। समझ में आया? उस १८ वें बोल में ऐसा कहा — (प्रवचनसार) १७२ गाथा, अलिंगग्रहण.... ऐसा कहा कि आत्मा गुणी है और यह गुण है। ऐसा गुणगुणी के भेद का — विशेष (का) जहाँ आलिंगन नहीं करता, भेद का आलिंगन नहीं करता — ऐसा द्रव्यस्वभाव है। आहाहा! १९ और अर्थावबोधरूप पर्याय विशेष, उसे आलिंगन नहीं करनेवाला भगवान आत्मा द्रव्यस्वरूप है। आहाहा! समझ में आया?

जो द्रव्य है, वह पर्याय को स्पर्श नहीं करता — ऐसा कहते हैं। आहाहा! और फिर बीसवें बोल में सूक्ष्म लिया — प्रत्यभिज्ञान का-प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा सामान्य द्रव्य, उसे आलिंगन नहीं करता — ऐसा आत्मा शुद्ध पर्यायस्वरूप है। अरे यह? यह क्या कहा? बीसवें बोल में — प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो द्रव्य-ध्रुव, उसे नहीं स्पर्श करनेवाला आत्मा, अपनी शुद्ध पर्यायस्वरूप है। जो अनुभव में आया वह मैं हूँ। ध्रुव अनुभव में नहीं आता। समझ में आया? बीसवाँ बोल है। देखना है? है यहाँ? आया नहीं कुछ? यह लो, ओहोहो! यहाँ कहाँ है? है नहीं, प्रवचनसार यहाँ नहीं है? ऐसा क्यों करते हो? एक भी नहीं लाये। प्रवचनसार दो हैं, रखे हैं, यह बीसवाँ बोल है। प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो द्रव्य सामान्य, उसे आत्मा आलिंगन नहीं करता। आहाहा! आत्मा शुद्ध पर्याय स्वरूप है — ऐसा

वहाँ कहा है, क्योंकि जो पर्याय वेदन में आयी वह मैं हूँ — ऐसा वहाँ ले लिया है, वह है। पर्यायदृष्टि नहीं, दृष्टि तो द्रव्य पर है परन्तु द्रव्य की दृष्टि होने से जो पर्याय में वेदन / अनुभव आया वह मैं हूँ — ऐसा अनुभव में आयी थी, वह चीज मैं हूँ। यहाँ पुस्तक नहीं ? एक भी नहीं लगता, दो पुस्तक हैं, किसी के पास यहाँ नहीं है ? वह लेने जाता है। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है भाई ! सर्वज्ञ के पन्थ को समझना बहुत सूक्ष्म बात है।

यहाँ तो कहा — १८, १९ (बोल) में ऐसा कहा कि गुणी, गुण के भेद का स्पर्श नहीं करता — ऐसा द्रव्यस्वभाव है। आहाहा ! बाद में कहा कि पर्याय को द्रव्य स्पर्श नहीं करता। आहाहा ! ऐसा द्रव्य है। तीसरे में (२० वें बोल में) ऐसा कहा कि द्रव्य को आत्मा नहीं छूता, पर्याय को छूता है, वह पर्याय अनुभव में आयी, इतना आत्मा है — ऐसा वहाँ कहा है। सूक्ष्म है भाई ! यह तो अन्तर सन्तों की वाणी है। आहाहा ! (पुस्तक) लेने गया है। क्या कहा ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा जो यहाँ भावनिक्षेप की पर्याय से रहित कहा है। वहाँ तो यह भावनिक्षेप शुद्धपरिणति जो हुई, वह आत्मा अपने द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और पर्यायरूप शुद्ध है, वह मैं आत्मा हूँ — ऐसा २० वें बोल में लिया है। आहाहा ! समझ में आया ? सूक्ष्म है भाई ! रात्रि में चर्चा हुई थी, किसी ने प्रश्न किया था। १८, १९, २०।

अब यहाँ कहते हैं हम जब अपने अनुभव में आते हैं, तो द्वैतपना भासित नहीं होता। मैं अनुभव करता हूँ और इस द्रव्य का कर्ता हूँ — ऐसा द्वैत वहाँ नहीं है। निक्षेप, नय, और प्रमाण तो वहाँ है नहीं परन्तु मैं आत्मा का अनुभव करता हूँ — ऐसा द्वैत भी वहाँ नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ?

श्रोता : तब करता क्या है ?

समाधान : करता है, वेदन करता है, उसमें मैं वेदन करता हूँ और उसका — द्रव्य का वेदन करता हूँ — ऐसा द्वैत नहीं है। आहाहा !

अरे... ! लाये ? यह पुस्तक कोई रखे न तो ठीक, साक्षी दी जाती है न साक्षी। लाओ, लाओ, लाओ भाई ! लो यह आया (बोल) १८ — लिंग-अलिंगग्रहण-अलिंगग्रहण, लिंग से ग्रहण नहीं होता तो उसका अर्थ १७ तो हो गये हैं। लिंग अर्थात् गुण, ऐसा जो

ग्रहण अर्थावबोध-पदार्थ का ज्ञान, वह जिसको नहीं। आहाहा! इसमें भी जरा सूक्ष्म बात है। अर्थावबोध शब्द पड़ा है, उसमें एक गुण अर्थ अवबोध ज्ञान को लिया है परन्तु वहाँ ज्ञान की प्रधानता से बात की है, वरना है सब गुण। पाठ ऐसा है। लिंग अर्थात् गुण — ऐसा अर्थावबोध लिया है। अर्थ अर्थात् पदार्थ का ज्ञान अथवा पदार्थ का गुण ऐसा लेना। अर्थावबोध ऐसा कहा है परन्तु लेना पदार्थ के गुण, अकेला ज्ञान नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई!

अर्थावबोध जिसको नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इस प्रकार आत्मा गुण-विशेष से नहीं आलिंगित... सामान्य चीज है; वह गुण के भेद को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! धन्नालालजी! यह तो प्रवचनसार, भगवान की दिव्यध्वनि का सार (है)। प्र-वचन कहो या दिव्यध्वनि कहो। प्र-वचन — प्र अर्थात् विशेष। आहाहा! सन्त कहते हैं। सुनो तो सही, कहते हैं। भगवान अलिंगग्रहण है। लिंग से ग्रहण में नहीं आता। यह तो १७ का अर्थ तो कह दिया है।

१८ वें में लिंग से ग्रहण में नहीं आता, उसका अर्थ? गुण-विशेष से स्पर्श नहीं करता तो यह लिंग ग्रहण नहीं; गुण विशेष से जानने में आता है — ऐसा नहीं। आहाहा! गुणी, गुण के विशेष से जानने में आता है — ऐसा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। वह जिसे नहीं — ऐसा शुद्ध द्रव्य है।

तत्पश्चात् १९(वाँ बोल) लिंग अर्थात् पर्याय... उसमें (१८ वें बोल में) लिंग अर्थात् गुण था। अतः द्रव्य जो वस्तु है, वह गुण विशेष का स्पर्श नहीं करती। इस कारण अलिंगग्रहण कहा गया है। गुण के भेद का स्पर्श नहीं करती तो लिंग जो गुण, उसको स्पर्श नहीं करती; इसलिए अलिंगग्रहण कहा गया है। आहाहा!

अब पर्याय, वह भी पर्याय के विशेष को द्रव्य स्पर्श नहीं करता। इस कारण उसे अलिंगग्रहण कहा गया है। पर्यायरूपी लिंग को द्रव्य स्पर्श नहीं करता; इसलिए अलिंगग्रहण कहा गया है।

अब, २० (वाँ बोल) लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण — ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य अर्थात् द्रव्य, वह जिसे नहीं है, द्रव्य जिसे नहीं है... आहाहा! क्या कहा?

श्रोता : पर्याय की मस्ती चढ़ गयी गुरुदेव!

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभव में पर्याय आयी है, द्रव्य नहीं आया। द्रव्य का अनुभव नहीं होता; अतः आत्मा-द्रव्य को स्पर्शे बिना, है? प्रत्यभिज्ञान के कारण ऐसा ग्रहण सामान्य वस्तु, वह जिसको नहीं है, द्रव्य जिसको है ही नहीं... भाई! यह तो परमात्मा का अलौकिक मार्ग है, भाई! यह कोई विद्वतता का विषय नहीं है। आहाहा!

वह अलिंगग्रहण... इस प्रकार आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित, द्रव्य को नहीं स्पर्शनेवाला, आत्मा द्रव्य को नहीं छूनेवाला... आहाहा! ऐसी शुद्धपर्याय है। वह शुद्धपर्याय जो वेदन में आयी, वह द्रव्य जो आत्मा है-द्रव्य को आलिंगन नहीं करता, द्रव्य जो वेदन में आया, वह उसकी पर्याय है, पर्याय में वेदन, द्रव्य का वेदन नहीं। ऐसी बातें हैं बापू! मार्ग ऐसा है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है। वेदन में पर्याय आती है; अतः कहते हैं कि आत्मा अपने द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, नहीं छूता और शुद्धपर्यायमात्र आत्मा है। वेदन में आनन्द आया, वह पर्यायमात्र आत्मा है — ऐसा कहा जाता है।

(अलिंगग्रहण पर) यह सब व्याख्यान हो गये हैं, बहुत विस्तार से हो गये हैं। अभी यहाँ, यहाँ आये न? पहले यहाँ तो सवा दो महीने हुए, उससे पहले यहाँ साढ़े चार महीने में सबके व्याख्यान/स्पष्टीकरण बहुत हो गये हैं। सैंतालीस शक्ति का, सैंतालीस नय का, यह जो छह अव्यक्त के बोल हैं (समयसार) ४९ गाथा में उसका, यह २० अलिंगग्रहण के बोल एक साथ में सबका व्याख्यान थोड़ा हुआ है साढ़े चार महीने में। ए...ई...! परन्तु अब बाहर प्रकाशित हो तब पता पड़े। यह तो क्या पता पड़े? उसमें (टेप में) सब उतर गया है। छह बोल में आया है — अव्यक्त ४९ गाथा में अव्यक्त के छह बोल हैं। वहाँ भी ऐसा लिया है कि छह द्रव्यस्वरूप लोक, वह ज्ञेय है, व्यक्त है, उससे भिन्न भगवान-द्रव्य अव्यक्त है।

सूक्ष्म बात है। यह तो २० वें बोल में अन्दर आ गया है। यहाँ पर्याय आ गयी न! भावनिक्षेप भी वहाँ-अनुभव में पर्याय है नहीं, पर्याय का लक्ष्य है नहीं। आहाहा! आहाहा! अलिंगग्रहण में कहा कि आत्मा शुद्धपर्याय उसरूप ही है। यह वहाँ वेदन की अपेक्षा से कहा है। वेदन में ध्रुव और द्रव्य नहीं आता, तो हमको तो जितना आनन्द और अनन्त गुण की पर्याय का वेदन हुआ, वह मैं हूँ। आहाहा!

अव्यक्त में भी ऐसा कहा है — व्यक्त और अव्यक्त एक साथ जानने में आते होने पर भी, व्यक्त अर्थात् पर्याय, अव्यक्त अर्थात् द्रव्य... एटले कहते हैं न ? अर्थात् व्यक्त पर्याय, द्रव्य अव्यक्त दोनों का एक साथ ज्ञान होने पर भी अव्यक्त द्रव्य, व्यक्त को (पर्याय को) स्पर्श नहीं करता। आहाहा ! समझ में आया ? यह तो समयसार है। अपने चलता है या नहीं ? यह समयसार चलता है न ? देखो, उसमें देखो न ! ४९.... ४९ गाथा.... ४९ में अव्यक्त के बोल हैं, अव्यक्त ! है ? आहाहा ! ४९ गाथा। **अब अव्यक्त विशेषण को सिद्ध करते हैं....** आया ? आता है पण्डितजी, आया ? भाई, है ? आया ? क्या कहा देखो ! छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, वह अव्यक्त है। आहाहा ! यह तो थोड़ा अभ्यास होना चाहिए। सेठ ! जहाँ तुमने कारंजा में अभ्यास किया है न ? यह तो अध्यात्म का विषय है। आहाहा ! एक बात !

कषायों का समूह जो भावकभाव व्यक्त है, अव्यक्त जीव उससे अन्य है, अव्यक्त है। चितसामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियों निमग्न है। सामान्य में विशेष व्यक्तियाँ, पर्याय अन्दर निमग्न है, वर्तमान (पर्याय) के अतिरिक्त.... इसलिए अव्यक्त है। वर्तमान के अतिरिक्त, हों ! वर्तमान पर्याय तो व्यक्त, अव्यक्त को जानती है परन्तु भूत, भविष्य की पर्याय सामान्य में अन्तरलीन है — ऐसे अव्यक्त को नहीं स्पर्श करनेवाला व्यक्त द्रव्य, पर्याय को नहीं स्पर्शता परन्तु पर्याय द्रव्य को नहीं स्पर्श करती। आहाहा ! सूक्ष्म है भाई क्या करें यह चीज ही ऐसी है।

क्षणिक व्यक्ति मात्र नहीं इसलिए अव्यक्त है, यह तो ठीक। व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेकपने मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी.... यहाँ यह बात है। व्यक्त अर्थात् प्रगट पर्याय अव्यक्त अर्थात् द्रव्य एकरूप से मिश्रितरूप से ज्ञात होने पर भी, दोनों का ज्ञान एकसाथ होने पर भी, वह केवल व्यक्तता को स्पर्श नहीं करता। आहाहा ! व्यक्त अर्थात् पर्याय, अकेले द्रव्य को स्पर्श नहीं करती, इसलिए अव्यक्त है। आहाहा ! केवल व्यक्तता को स्पर्श नहीं करता। है ? इसलिए अव्यक्त है, केवल व्यक्तता को स्पर्श नहीं करता, अकेले द्रव्य को वह स्पर्श नहीं करता — पर्याय को स्पर्श करता है। आहाहा ! थोड़ा सूक्ष्म है भाई !

पाँचवाँ बोल भी थोड़ा सूक्ष्म है। व्यक्त-अव्यक्त का ज्ञान एक साथ होने पर भी, केवल व्यक्त को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! और व्यक्त है वह अव्यक्त को स्पर्श नहीं करता। द्रव्य है, वह पर्याय को स्पर्श नहीं करता और पर्याय है, वह द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। दूसरी चीज के साथ तो वह स्पर्श तीन काल में है ही नहीं। आत्मा, शरीर को स्पर्श नहीं करता, कर्म को स्पर्श नहीं करता, अग्नि को ऐसा हाथ लगाता है तो अग्नि को कभी नहीं स्पर्श करता। इस अंगुली को आत्मा ने कभी स्पर्श नहीं किया। परद्रव्य को तो कभी पर्याय में भी स्पर्श नहीं किया, परन्तु यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि पर्याय उसकी और द्रव्य उसका, उसमें जो व्यक्त और अव्यक्त का ज्ञान एक साथ होता है परन्तु व्यक्त अव्यक्त को अकेला स्पर्श करे ऐसा नहीं है। अव्यक्त को स्पर्श नहीं करता, व्यक्त को स्पर्श करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! आहाहा! यह तो आ गया न? अब यहाँ (तक) आये हैं।

द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता। आहाहा! आचार्य अन्तर के अनुभव के काल की अपेक्षा से कहते हैं कि जब हम आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा के सम्यग्दर्शन काल में-उत्पत्ति काल में हम अन्दर गये तो उस समय में.... आहाहा! मैं अनुभव करता हूँ और अनुभव आत्मा, पर्याय का है — ऐसा द्वैत भी वहाँ नहीं है। समझ में आये उतना समझना प्रभु! यह तो गहन विषय है, यह कहीं कथा-वार्ता नहीं है। आहाहा! यह तो भागवत कथा.... तीन लोक के नाथ प्रभु... आहाहा! कहते हैं कि हम अपने स्वरूप, जो ध्रुव को-शुद्ध (को) अनुभव करने पर... अनुभव पर्याय है। आहाहा! द्रव्य का अनुभव करने पर.... यह द्रव्य का अनुभव और अनुभव द्रव्य की पर्याय है — ऐसा भेद भी ज्ञात नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? पाटनीजी!

पहले इसका ख्याल तो ले कि यह किस अपेक्षा से कहा है? आहाहा! यह यहाँ आया न — **किम अपरम् अभिदध्मः** इससे **द्वैतम् एव न भाति** उसका अर्थ ऐसा नहीं कि अद्वैत ही आत्मा है — ऐसा नहीं। एक ही आत्मा और अद्वैत है — ऐसा भी नहीं। यहाँ तो द्रव्य और पर्याय द्वैत अन्तर में है, परन्तु अनुभव के काल में यह दो हैं — ऐसा भास नहीं रहता। अरे! ऐसी बात है। यह स्पष्टीकरण करेंगे।

भावार्थ : भेद को अत्यन्त गौण करके कहा है कि प्रमाण, नयादि भेद की

तो बात ही क्या ? शुद्ध अनुभव के होने पर द्वैत ही भासित नहीं होता,..... आहाहा! है ? यह श्लोक ९ का भावार्थ है। नौवाँ कलश।

भावार्थ : भेद को अत्यन्त गौण करके कहा है कि प्रमाण, नयादि भेद की तो बात ही क्या ? शुद्ध अनुभव के होने पर..... आहाहा! भगवान आत्मा... सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रथम उत्पन्न काल में और बाद में भी अनुभव के काल में... आहाहा! वह वहाँ कहा है न ४७ गाथा, द्रव्यसंग्रह — **दुविहं पि भोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणि णियमा।** यह श्लोक है, द्रव्यसंग्रह का (श्लोक/गाथा) ४७, ४ और ७ आहाहा! **दुविहं पि भोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणि णियमा।** निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग ध्यान में प्राप्त होता है, उसका क्या अर्थ ?

द्रव्यसंग्रह-नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती (की गाथा है) कि अपना स्वरूप... पर्याय जब द्रव्य के सन्मुख झुक गयी तब जो अनुभव होता है... आहा! तब निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान उसमें प्राप्त होता है, ध्यान में प्राप्त होता है। बाहर से कोई विकल्पात्मक का लक्ष्य करके होता है — ऐसा नहीं है। आहाहा! निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र का अंश वो ध्यान में प्राप्त होता है। किस ध्यान में ? अन्तरस्वरूप जो पूर्ण आनन्द की ओर झुकते हैं — ध्येय — ध्यान में द्रव्य को ध्येय बनाकर.... टीका में ऐसा शब्द है। कलश टीका (परम) अध्यात्म तरंगिणी, ध्यान में द्रव्य को विषय कुरू — ऐसा पाठ संस्कृत में है। ध्यान में द्रव्य का विषय कुरू.... पर्याय में द्रव्य का विषय कर, पर्याय का ध्येय द्रव्य बना दे। ध्येय द्रव्य है और पर्याय उसका ध्यान करती है। आहा! समझ में आया ? ऐसी बातें, बापू! अभी तो बहुत गड़बड़ हो गयी है।

श्रोता : बहुत गड़बड़ हो गयी है अर्थात् क्या ?

समाधान : कोई कुछ मानते हैं, कोई कुछ मानते हैं... व्यवहार-यह दया, दान करो, व्रत करो, तप करो, आहाहा! और वहाँ ऐसा शुभराग आता है, गुण-गुणी का भेद (आता है), उससे भी लाभ होता है — ऐसा यह सब गड़बड़ है।

श्रोता : वस्तु में थोड़े ही गड़बड़ है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु गड़बड़ नहीं है परन्तु गड़बड़ मानते हैं न.... वही तो यहाँ

कहते हैं। आहाहा! कोई कहता है कि निमित्त से होता है और कोई कहता है व्यवहार से निश्चय होता है, सब गड़बड़ है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि **शुद्ध अनुभव के होने पर द्वैत ही भासित नहीं होता,....** मैं अनुभव करता हूँ और द्रव्य का अनुभव करता हूँ — ऐसा द्वैत भी वहाँ नहीं है।

श्रोता : प्रमाण उत्पन्न होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो विकल्प है। दो लक्ष्य में आ जाते हैं तो 'एकडे एक और बिगड़े दो' दो होते हैं तो बिगड़ जाता है। एकरूप प्रकाशमान चैतन्य में देखने से द्वैत भासित नहीं होता, यदि द्वैत भासित हो तो राग आता है। उसमें तो आत्मा का नुकसान होता है-बिगाड़ होता है। यह एकड़े एक आता है या नहीं? एकड़े एक और बिगड़े दो। दो और बिगड़ते हैं दो, बिगड़ते दो, द्वैत लक्ष्य में लेते हैं तो आत्मा को विकल्प उत्पन्न होता है और बिगाड़ होता है। आहाहा! यह कहा है न? **शुद्ध अनुभव के होने पर द्वैत ही भासित नहीं होता, एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।**

अब स्पष्ट करते हैं — **यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं** देखो! **कि अन्त में परमार्थरूप तो अद्वैत का ही अनुभव हुआ।....** तुमने बातें बहुत कीं परन्तु अन्त में तो हमारा अद्वैत आया। विज्ञान अद्वैतवादी है बौद्ध और यह वेदान्ती। **अन्त में परमार्थरूप जो अद्वैत का ही अनुभव आया यही हमारा मत है;...** वेदान्त कहते हैं। अरे! सुन तो सही।

इसमें आपने विशेष क्या कहा?.... इसका उत्तर — **तुम्हारे मत में सर्वथा अद्वैत माना जाता है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्य वस्तु का अभाव ही हो जाये,....** बाह्य वस्तु का अभाव हो जाता है और पर्याय का भी अभाव हो जाता है, अकेला अद्वैत मानने से। आहाहा! समझ में आया? **बाह्य वस्तु का अभाव....** लोप हो जाता है। क्योंकि एक ही आत्मा है, एक ही है तो दूसरी चीज है उसका लोप हो जाता है। और ऐसा अभाव तो **प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे मत में नयविवक्षा है....** नय की अपेक्षा से कथन है, किस अपेक्षा से यह कहा, क्या? **जो कि बाह्यवस्तु का लोप नहीं करती।....** पर्याय नहीं है, बाह्यवस्तु नहीं है — ऐसा नहीं है। अद्वैत भासित होता है

तो उसके अर्थ में पर्याय नहीं है, परवस्तु नहीं है — ऐसा नहीं है। पर्याय है, बाह्य अनन्त वस्तुएँ हैं, अनन्त भगवान हैं, अनन्त सिद्ध हैं, अनन्त निगोद हैं, अनन्त पुद्‌गल परमाणु हैं। आहाहा!

जब शुद्ध अनुभव से विकल्प मिट जाता है.... ऐसा है। है? **तब आत्मा परमानन्द को प्राप्त होता है.....** आहाहा! **इसलिए अनुभव कराने के लिए....** अनुभव कराने के लिए **यह कहा है कि 'शुद्ध अनुभव में द्वैत भासित नहीं होता।'....** समझ में आया? **यदि बाह्य वस्तु का लोप किया जाये तो आत्मा का भी लोप हो जायेगा....** क्योंकि बाह्य वस्तु है, उसका पर्याय में ज्ञान तो होता है। यदि बाह्य वस्तु नहीं हो तो जो पर्याय में ज्ञान हुआ, वह पर्याय भी नहीं है — ऐसा हुआ। अपनी पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञान तो होता है, इतनी ताकत है। अतः पर्याय माने तो छह द्रव्य माने यह उसमें आया। पर्याय आयी, छह द्रव्य आये। आहाहा!

आत्मा का भी लोप हो जायेगा और शून्यवाद का प्रसङ्ग आयेगा। इसलिए जैसा तुम कहते हो उस प्रकार से वस्तुस्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा के बिना जो शुद्ध अनुभव किया जाता है,.... यथार्थ द्रव्य, पर्याय अनन्त गुण आदि की श्रद्धा के बिना अकेला शुद्ध अनुभव या शुद्ध अनुभव तो होता नहीं परन्तु मानते हैं कि हम शुद्ध अनुभव करते हैं। **वह भी मिथ्यारूप है; शून्य का प्रसङ्ग होने से तुम्हारा अनुभव भी आकाश-कुसुम के अनुभव के समान है।**

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १०

आगे शुद्धनय का उदय होता है, उसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं :—

(उपजाति)

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥१०॥

श्लोकार्थ : [शुद्धनयः आत्मस्वभावंप्रकाशयन् अभ्युदेति] शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। वह आत्मस्वभाव को [परभावभिन्नम्] परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव — ऐसे परभावों से भिन्न प्रगट करता है और वह [आपूर्णम्] आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूप से पूर्ण है - समस्त लोकालोक का ज्ञाता है — ऐसा प्रगट करता है; (क्योंकि ज्ञान में भेद कर्म संयोग से हैं, शुद्धनय में कर्म गौण हैं) और वह, [आदि-अन्त-विमुक्तम्] आत्मस्वभाव को आदि अन्त से रहित प्रगट करता है (अर्थात् किसी आदि से लेकर जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया, और कभी भी किसी से जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिक भाव को प्रगट करता है।) और वह, [एकम्] आत्मस्वभाव को एक-सर्व भेदभावों से (द्वैतभावों से) रहित एकाकार-प्रगट करता है, और [विलीनसंकल्प-विकल्प-जालं] जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलीन हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है।(द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करना सो संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना सो विकल्प है।) ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है॥ १०॥

प्रवचन नं. ६६ कलश-१० दिनाङ्क २३-०८-१९७८ बुधवार
श्रावण कृष्ण ५, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, कलश १० वाँ। **आगे शुद्धनय का उदय होता है,....** क्या कहते हैं? कलश में लिया है।

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥१०॥

शुद्धनयः आत्मस्वभावंप्रकाशयन् अभ्युदेति.. शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। क्या कहते हैं? यह जो त्रिकाली वस्तु आनन्दस्वरूप भगवान, उसकी दृष्टि करने से, शुद्धनय का विषय जो पूर्ण है, उसका अवलम्बन लेने से, पर्याय में शुद्धनय प्रगट होता है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! जैसा उसका ध्रुवस्वरूप है, अतीन्द्रिय अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु! सूक्ष्म विषय है! यह विशेष कहेंगे, १४ और १५ (गाथाओं में) कहेंगे। जो (आत्मा में) असंख्य प्रदेश हैं, उसमें प्रत्येक प्रदेश पर पर्याय है। रात्रि को थोड़ा कहा था। असंख्य प्रदेश हैं तो ऊपर-ऊपर प्रदेश और पर्याय है — ऐसा नहीं। जो असंख्य प्रदेश अन्दर हैं, उसमें भी पर्याय ऊपर है, उस पर्याय को प्रत्येक प्रदेश में जो पर्याय ऊपर है, वह प्रत्येक प्रदेश में जो पर्याय की समीप ध्रुवता पड़ी है, असंख्य प्रदेश पर ऊपर-ऊपर यह पर्याय है ऐसा नहीं। प्रत्येक प्रदेश में पर्याय ऊपर है। सूक्ष्म बात है भाई! आहाहा! यह प्रदेश की-असंख्य प्रदेश में प्रत्येक के प्रदेश ऊपर पर्याय है, उसको अन्दर ध्रुव जो चीज है, पर्याय के समीप में असंख्य प्रदेश में ध्रुव चीज है। आहाहा! उसको यहाँ शुद्धनय कहा गया है। उस शुद्धनय के विषय की दृष्टि जो अन्दर पर्याय, सारी पर्याय, अन्दर मध्य में असंख्य प्रदेश हैं अन्दर, उसके भी ऊपर पर्याय है, उस अन्तरध्रुव में (पर्याय को) झुकाना। सूक्ष्म बात है भाई! समझ में आया? तो वहाँ शुद्धनय प्रगट होता है। ऐसा कहते हैं। आहाहा!

पर्यायदृष्टि का अवलम्बन छोड़कर त्रिकाली — पर्याय के समीप में ध्रुव अनादि अनन्त नित्यानन्द प्रभु पड़ा है, उसके सन्मुख पर्याय को ले जाना... आहाहा! सूक्ष्म विषय

है भाई! तब वह शुद्धनय प्रगट होता है। यह विषय, जो आनन्दकन्द प्रभु है, वह पर्याय में प्रगट होता है। समझ में आया? आहाहा! जिस पर्याय में-एक समय का पर्यायांश जो परलक्ष्यी है, उसे छोड़कर प्रत्येक प्रदेश में जो पर्याय है, उस पर्याय को अन्तर में झुकने से... आहाहा! यह बाह्य... ऊपर का प्रदेश, अन्दर का प्रदेश सब प्रदेश, सब प्रदेश के ऊपर पर्याय है। तो उस पर्याय को अन्तर ध्रुव में झुकने से शुद्धनय प्रगट होता है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म है!

अब (गाथा) १४ और १५ का उपोद्घात है। चौदहवीं गाथा का उपोद्घात है। चौदह में अबद्धस्पृष्ट बतायेंगे। अन्दर वस्तु जो ध्रुव वस्तु, जो चीज है, वह तो राग के सम्बन्ध में बन्धरूप भी नहीं। समझ में आया? ऐसी जो चीज अन्दर है, उसकी दृष्टि लगाने से जो शक्तिरूप जो है, वह पर्याय में शुद्धनय का स्वभाव, पर्याय में प्रकाशमान होता है। आहाहा! है? **शुद्धनय**.... यह तो गम्भीर गाथा है भाई! **आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ.....** प्रकाशमान लाता हुआ... आहाहा! जो स्वरूप है, वह पर्याय में प्रकाशमान होता हुआ... समझ में आया? प्रकाश! **आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ....** जो शक्तिरूप से ध्रुवरूप से था, आहाहा! उसकी दृष्टि करने से उस शक्ति में से व्यक्तता का अंश — सब पवित्र परमात्म स्वभाव की व्यक्तता पर्याय में आती है। आहाहा! पण्डितजी! है? एक शब्द में तो बहुत लिया है। आहाहा!

प्रत्येक प्रदेश में पर्याय भी है और ध्रुव भी है। तो वह अन्तर्मुखी दृष्टि करने से, पर्याय को ध्रुव तरफ झुकने से जो शुद्ध वस्तु है, वह पर्याय में प्रकाशमान प्रगट होती है। समझ में आया? वस्तु बहुत....! १४ और १५, यह तो जैन शासन है। आहाहा! १५ में उसे तो (जैन शासन) कहेंगे। यह (गाथा) १४ का उपोद्घात है। आहाहा!

जिसे अपना द्रव्यस्वभाव, जो पर्याय से भिन्न अन्दर तल... तल... तल में पाताल अन्दर पड़ा है। आहाहा! उस ओर का नय अर्थात् दृष्टि अन्दर लगाने से आत्मस्वभाव प्रगट होता है। पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान में वह सम्पूर्ण चीज है, उसका ज्ञान होता है और उसकी प्रतीति होती है। आहाहा! तथापि उस प्रतीति और ज्ञान की पर्याय में पूर्ण स्वरूप नहीं आता, परन्तु पूर्ण स्वरूप की प्रतीति और जो पर्याय हुई, उसमें पूर्ण चीज

जितनी है, उतना प्रगटरूप से ख्याल में-श्रद्धा में आ जाता है। आहाहा! ऐसा विषय! समझ में आया?

शुद्धनय, आत्मस्वभाव अर्थात् त्रिकाली स्वभाव को, आहाहा! **प्रगट करता हुआ....** शक्ति में से व्यक्तता करता हुआ....।

श्रोता : अच्छा नया धर्म निकाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धर्म....

श्रोता : पर्याय धर्म तो नया ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ ऐसा कहता है कि यह नया धर्म निकाला है (परन्तु) नया नहीं प्रभु! यह आदि-अन्तरहित भगवान अन्दर में विराजमान है, आहाहा! यह अभी आयेगा... उस सन्मुख का झुकाव करके जो शक्ति में से अनन्त गुण की व्यक्तता वेदन में आती है, वह शुद्धनय प्रगट हुआ — ऐसा कहा जाता है।

भाई! यह तो शब्द-शब्द की तुलना में एक शब्द भी कम-ज्यादा हो तो (भाव में) बदलाव हो जाये ऐसी चीज है। आहाहा! समझ में आया? **शुद्धनय आत्मस्वभाव को....** अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को, ध्रुवस्वभाव को **प्रगट करता हुआ....** इस पर्याय में शक्ति की व्यक्तता प्रगट करता हुआ, **उदयरूप होता है....** बाहर प्रसिद्धि में आता है। आहाहा! जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान में शुद्ध अनुभव हुआ तो उसमें सारा आत्मा प्रसिद्धि (में) आया कि यह आत्मा ऐसा है — ऐसी पर्याय में प्रसिद्धि आयी। इस टीका का नाम आत्मख्याति है न? इस टीका का नाम आत्मख्याति है। आहाहा! तो वह आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ पर्याय में निर्मलता अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता हुआ... आहाहा!

परभावभिन्नम्.... पहले अस्ति से कहा (कि) ऐसा प्रगट हुआ। आहाहा! परन्तु कैसा (अब) कहते हैं कि **परभावभिन्नम्.... परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव.....** शुभ-अशुभ विकल्प। तीनों बोल, इन परभावों में तीनों बोल आये। परभाव में तीन बोल आये — परद्रव्य कर्मादि, परद्रव्य का भाव उदयादि, उसका उदय, हों! कर्म में उदय आना, वह परद्रव्य का भाव और उस

निमित्त से अपने में जो विभाव होता है, वह तीसरा बोल हुआ। आहाहा! इन तीनों से भगवान भिन्न है। आहाहा! है? यह तो अल्प शब्द है, सन्तों की वाणी है! आहाहा! सर्वज्ञ अनुसारणी वाणी है तो उसमें तो बहुत मर्म भरा है।

कहते हैं कि **परभावभिन्नम्....** पहले आत्मस्वभाव प्रगट हुआ — शुद्धता का, आनन्द का अनुभव आया और जो अनन्त शक्तियाँ हैं, उसकी एक अंश व्यक्तता-प्रगटता शुद्धनय से हुई परन्तु वह कैसे हुआ? कि परद्रव्य से भिन्न हुआ। किसी राग से, कर्म से, कर्म के भाव से, और कर्म के निमित्त से अपने में हुआ विकार से — तीनों से परभाव से भिन्न हुआ। आहाहा! ऐसा कहने में यह कहते हैं कि कोई ऐसा कहे कि व्यवहाररत्नत्रय, जो राग है, उससे निश्चय पर्याय उत्पन्न होगी तो यहाँ कहते हैं कि परभाव से भिन्न प्रगट होता है। समझ में आया? आहाहा!

अनन्त काल में कभी एक सेकेण्ड भी अपना द्रव्यस्वभाव क्या है, उसे स्पर्श नहीं किया। आहाहा! समझ में आया? वह परभाव से भिन्न... आहाहा! और भिन्न है और प्रगट पर्याय में हुआ परन्तु वह वस्तु कैसी है? **आपूर्णम्,** आपूर्णम् — आ... पूर्णम् आत्मस्वभाव 'आ' **सम्पूर्णरूप से पूर्ण है।** 'आ' का अर्थ यह किया। 'आ' अतिशय से अतिशय स्वरूप सम्पूर्णरूप से पूर्ण है। भगवान तो पूर्णरूप अन्दर समस्त लोकालोक को जाननेवाली शक्तिरूप आत्मा है। कार्य में यहाँ अभी वह बात नहीं ली है। आहाहा!

उसका — उस भगवान का स्वभाव... भगवान ही आत्मा को ऐसा कहते हैं। उसको समस्त लोकालोक का ज्ञाता (कहा) है। सारा लोकालोक का ज्ञायकस्वभाव ज्ञाता है, किसी चीज का कर्ता नहीं और किसी चीज से अपने में मोक्षपर्याय-धर्म की पर्याय नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : कोई चीज अर्थात् क्या?

उत्तर : कोई चीज अर्थात् राग, कहा न? राग, परद्रव्य, परद्रव्य का परद्रव्य में रहा भाव और परद्रव्य के निमित्त से अपने में हुआ विभाव, उससे भिन्न अपने आत्मस्वभाव की शक्ति की व्यक्तता हुई, वह स्वभाव कैसा है? **आपूर्णम्।**

सम्पूर्णरूप से पूर्ण ज्ञानघन, आनन्दघन, दर्शनघन है। आहाहा! यह आपूर्णम्! 'आ'

अर्थात् समस्त प्रकार से; 'आ' अर्थात् अतिशय से; 'आ' अर्थात् विशेष प्रकार से — सम्पूर्णरूप से पूर्ण है। आहाहा! भगवान का स्वभाव-आत्मा का (स्वभाव) पूर्ण... पूर्ण... पूर्णरूप है। (उसमें) आवरण तो नहीं, अशुद्धता तो नहीं परन्तु अपूर्णता (भी) नहीं। आहाहा! ऐसी चीज को, आहाहा! **समस्त लोकालोक को प्रगट करता है,** शक्ति ऐसी है कि लोकालोक को जाने — ऐसी सम्यग्दर्शन में प्रतीति हुई है। आहाहा! समझ में आया? तथापि सम्यग्दर्शन की पर्याय में वह सम्पूर्ण लोकालोक को जानने की शक्ति है, वह चीज सम्यग्दर्शन की पर्याय में नहीं आती, परन्तु पर्याय में उस लोकालोक को जानने की शक्ति है, उसका सामर्थ्य है — ऐसा ज्ञान आ जाता है, श्रद्धा में ऐसी प्रतीति आती है। समझ में आया? आहाहा!

(क्योंकि ज्ञान में भेद कर्म संयोग से हैं,....) वस्तुस्वभाव में तो कुछ सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! **(शुद्धनय में कर्म गौण हैं....)** यह अल्पता है, यह निमित्त के आश्रित हुई है। अल्पता अपने कारण से परन्तु निमित्त के आश्रय से अल्पता है, यह बात यहाँ गौण करके, गर्भितरूप से रखकर, लक्ष्य छोड़कर, उस त्रिकाली ज्ञायकभाव की दृष्टि है, उसमें अपूर्णता-अशुद्धता है ही नहीं। परभाव से भिन्न कहने में अशुद्धता है नहीं और अपना पूर्ण स्वभाव कहने में अपूर्णता है नहीं। समझ में आया? आहाहा!

और वह, आदि-अन्त-विमुक्तम्.... आहाहा! भगवान आत्मा का आत्मस्वभाव आदि अन्त-पूर्व और पश्चिम के काल से तो भिन्न है, उसमें कोई पहले काल था और बाद में यह था — ऐसा नहीं है। आहाहा! **आदि-अन्त-विमुक्तम्.....** पूर्व के काल में यहाँ था और बाद के काल में नाश होगा — ऐसा नहीं है। **आदि-अन्त-विमुक्तम्.....** जिसके काल में आदि नहीं और जिसके काल में अन्त नहीं — ऐसा आदि-अन्त से विमुक्त है। आहाहा! यह पर्याय की बात नहीं, वस्तु की (बात है)। यह आदि-अन्त विमुक्तम् — अकेला मुक्त नहीं, विमुक्तम्, आहाहा! है, भगवान पूर्णानन्द परमात्मस्वरूप, वह आदि और अन्तरहित है; अनादि-अनन्त है। उसकी शुरुआत हुई है और बाद में अन्त होगा — ऐसा नहीं है। आहाहा!

(अर्थात् किसी आदि से लेकर जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया, और

कभी भी किसी से जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिकभाव को प्रगट करता है।....) आहाहा! पारिणामिक अर्थात् सहजस्वभाव। पाठ में तो ऐसा आता है न! पंचास्तिकाय में ५६ गाथा (में आता है)। पारिणामिकभव, परिणामीभव ऐसा पाठ संस्कृत में पंचास्तिकाय ५६ गाथा (में है)। परिणामीभव — भाव वह भी परिणामीभाव, वह परिणाम अर्थात् पर्याय, यहाँ नहीं लेना। पारिणामिकभाव सहजभाव रहा है। पारिणामिकभाव त्रिकालीभाव है। पंचास्तिकाय में ५६ गाथा में पाँच भावों की व्याख्या आती है। व्याख्या तो सब हो गयी है। सहज स्वभाव वह पारिणामिक अर्थात् सहज स्वभाव से... सहज स्वभाव से जो त्रिकाल है, उसको यहाँ पारिणामिकभाव कहते हैं। उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक तो पर्याय के भेद हैं, ये चार (भाव) उसमें (पारिणामिक में) नहीं हैं। आहाहा! क्षायिकभाव की पर्याय से भी आत्मा भिन्न है। आहाहा! समझ में आया?

— ऐसा पारिणामिकभाव, जिसमें क्षायिक, क्षयोपशम, उपशम, और उदय... उदय तो पहले कह दिया, परभाव से भिन्न (कह दिया) परन्तु यहाँ तो अब उपशम, क्षयोपशम, और क्षायिक आदि जो पर्याय है, उससे भी भिन्न परम पारिणामिक सहजभाव - भाव त्रिकाल.... क्षायिकभाव की तो उत्पत्ति होती है। समझ में आया? तो वह नहीं। यहाँ तो त्रिकाल — उत्पन्न और विनाशरहित जो त्रिकाल स्वभाव है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है प्रभु! वह ज्ञान का दल पड़ा है, अन्दर ज्ञान का सागर है, ध्रुव (है)। जो पानी का प्रवाह है, वह ऐसे चलता है और यह प्रवाह ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ऊर्ध्व... ऊर्ध्व... ऐसे चलता है। यह आदि-अन्तरहित चीज है। आहाहा! ऊर्ध्वप्रचय में आता है न, वह प्रवचनसार ९३ गाथा (में आता है) आयतसमुदाय, सामान्यसमुदाय — वह आता है। गुण का समुदाय एक और आयत अर्थात् पर्याय का समुदाय सामान्य। आहाहा! तो कहते हैं इनसे पारिणामिक ज्ञायकभाव.... पारिणामिक क्यों लिया? उसको सहज भाव बताना है, वरना तो पारिणामिक भाव तो परमाणु में भी है परन्तु यह पारिणामिकभाव ज्ञायकभाव है। यहाँ त्रिकाली ज्ञायकभाव को पारिणामिकभाव कहा गया है। आहाहा! भाव को प्रगट करते हैं....

और **और वह, आत्मस्वभाव को एक-सर्व भेदभावों से (द्वैतभावों से) रहित....** आहाहा! क्षायिक की पर्याय और क्षयोपशम की पर्याय और समस्त भेदभावों से

रहित... आहाहा! **एकाकार-प्रगट करता है,.....** एकरूप ध्रुव है, (वह) उसको ज्ञान में-श्रद्धा में आता है। समझ में आया? अध्यात्म की बातें बहुत सूक्ष्म हैं भाई! यह कोई शब्दों में भले हो, परन्तु उसका भाव बहुत गम्भीर है। आहा! अन्दर में स्वभाव-पारिणामिकभाव सर्व भेदों से रहित (अर्थात्) क्षायिक, उपशम, और क्षयोपशम से भी रहित एकाकार प्रगट करता है। एक स्वरूप — त्रिकाली है, वह प्रगट करता है। समझ में आया? ऐसी बातें हैं, कठिन पड़ती हैं इसलिए लोगों को.... (परन्तु) है परम सत्य बात। भाई! अरे! उसका आश्रय कभी नहीं लिया, उसकी शरण में नहीं गया। मंगलस्वरूप भगवान त्रिकाल है, वह मंगलस्वरूप ही त्रिकाल है, उसकी शरण में नहीं गया तो वह वस्तु-उसकी शरण में जाने से पर्याय में एकरूप है — ऐसा जानने में आता है। पर्याय में, वह वस्तु एकरूप त्रिकाल है — ऐसा जानने में आता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा है। सेठ कहता है न कि नया निकाला? नया नहीं, यह तो (सनातन मार्ग है)। आहाहा!

परमात्मस्वरूप से विराजमान, आदि-अन्तरहित, और लोकालोक को जानने की शक्ति.... लोकालोक को अपना मानने का भाव नहीं, परन्तु लोकालोक को जानने की शक्तिवाला वह तत्त्व है। आहाहा! ऐसे एकाकार प्रगट करता है।

और [विलीनसंकल्प-विकल्प-जालं] जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलीन हो गये हैं..... आहाहा! पहले संकल्प था, यह कहते हैं। संकल्प की व्याख्या दो-तीन प्रकार की है। एक प्रकार यहाँ लिया है। **(द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करना, सो संकल्प है,....)** आहाहा! रागादि भाव में अपनी कल्पना करना, वह संकल्प मिथ्यात्व का है। समझ में आया? है? इन्होंने स्पष्टीकरण किया है। द्रव्यकर्म जड़, भावकर्म विकल्प, नोकर्म — शरीर, मन, वाणी आदि पुद्गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करना, वह संकल्प मिथ्यात्व है। यहाँ मिथ्यात्व को संकल्प कहा है। आहाहा! **और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना....** यह अनन्तानुबन्धी का विकल्प बताते हैं। संकल्प में मिथ्यात्व है और विकल्प में अनन्तानुबन्धी का भाव है, वह दोनों से रहित है। है? ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में जो भेद ज्ञात होते हैं, वह अनन्तानुबन्धी का — लोभकषाय के कारण, आहाहा! **ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात**

होना,.... मेरा ज्ञान भेदरूप है ऐसा, वह विकल्प है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय अनेक हैं, वे जानने में आते हैं परन्तु अनेक ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद मालूम हो गया, ज्ञान में भेद पड़ा, उस विकल्प में अनन्तानुबन्धी का विकल्प है। समझ में आया?

ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है। द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नोकर्म मेरा है — ऐसी दृष्टि छूट जाती है और ज्ञेयों के जानने में मानो ज्ञान में अनेकपना आ गया — वह भी छूट जाता है। आहाहा! ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है, प्रगट होता है। आहाहा! अथवा शुद्धनय का कथन अब शुरु होता है — ऐसा कहा है। समझ में आया? कलश-टीका है न, उसमें ऐसा शब्द लिया है — यहाँ से शुद्धनय... अब कथन में — उपदेश में आता है। भाव से ले तो शुद्धनय जो त्रिकाली चीज है, वह पर्याय में प्रगट होती है। आहाहा! समझ में आया? **इस अर्थ का गाथासूत्र कहते हैं।** लो, यह तो उपोद्घात हुआ।

गाथा १४

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ १४॥
यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि॥

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः, सा त्वनुभूतिरात्मैव; इत्यात्मैक एव प्रद्योतते। कथं यथोदितस्यात्मनोऽनु-भूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्। तथा हि – यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्ये-कान्ततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्, तथात्मनोऽ-नादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूय-मानतायामभूतार्थम्। यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्य-स्खलन्तमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्, तथात्मनो नारकादिपर्याये-णानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलन्तमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूय-मानतायामभूतार्थम्। यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्, तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभाव-मुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानु-भूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं कांचनस्वभावमुपेत्या-नुभूयमानतायामभूतार्थम्, तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं

भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा चापां सप्तार्चि:प्रत्ययौष्ण्यसमाहितत्व–पर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थ–मप्येकान्तत: शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्, तथात्मन: कर्मप्रत्यय –मोहसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकान्तत: स्वयं बोधं जीवस्वभावमुपेत्यानुभूय–मानतायामभूतार्थम्।

उस शुद्धनय को गाथासूत्र से कहते हैं —

अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्म को।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जान जो॥

गाथार्थ : [यः] जो नय [आत्मानं] आत्मा को [अबद्धस्पृष्टम्] बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित, [अनन्यकं] अन्यत्व रहित, [नियतम्] चलाचलता रहित, [अविशेषम्] विशेष रहित, [असंयुक्तं] अन्य के संयोग से रहित — ऐसे पाँच भावरूप से [पश्यति] देखता है [तं] उसे, हे शिष्य! तू [शुद्धनयं] शुद्धनय [विजानीहि] जान।

टीका : निश्चय से अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त — ऐसे आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है; इस प्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है। (शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा सब एक ही हैं, अलग-अलग नहीं)। यहाँ शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है, वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ? उसका समाधान यह है — बद्धस्पृष्ट आदि भाव अभूतार्थ हैं इसलिए यह अनुभूति हो सकती है। इस बात को दृष्टान्त से प्रगट करते हैं —

जैसे कमलिनी-पत्र जल में डूबा हुआ हो तो उसका जल से स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जल से किंचित्मात्र भी न स्पर्शित होने योग्य कमलिनी-पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसी प्रकार अनादि काल से बँधे हुए आत्मा का, पुद्‌गलकर्मों से बँधने-स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि पुद्‌गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।

तथा जैसे मिट्टी का, ढक्कन, घड़ा, झारी इत्यादि पर्यायों से अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (— सर्व पर्यायभेदों से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले ऐसे) एक मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है-असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, नारक आदि पर्यायों से अनुभव करने पर (पर्यायों के अन्य-अन्यरूप से) अन्यत्व भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्यायभेदों से किंचित्मात्र भेदरूप न होनेवाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।

जैसे समुद्र का, वृद्धिहानिरूप अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर समुद्रस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, वृद्धिहानिरूप पर्यायभेदों से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर (निश्चल) आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।

जैसे सोने का, चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं - ऐसे सुवर्णस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।

जैसे जल का, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णता के साथ संयुक्ततारूप-तप्ततारूप-अवस्था से अनुभव करने पर (जल का) उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि एकान्त शीतलतारूप जलस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर (उष्णता के साथ) संयुक्तता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, कर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोह के साथ संयुक्ततारूप अवस्था से अनुभव करने पर संयुक्तता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जो स्वयं एकान्त बोधरूप (ज्ञानरूप) है ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।

भावार्थ : आत्मा पाँच प्रकार से अनेकरूप दिखाई देता है — (१) अनादिकाल से कर्मपुद्गल के सम्बन्ध से बँधा हुआ कर्मपुद्गल के स्पर्शवाला दिखाई देता है, (२) कर्म के निमित्त से होनेवाली नर, नारक आदि पर्यायों में भिन्न-भिन्न स्वरूप से दिखाई देता है — (३) शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं, और बढ़ते भी हैं-यह वस्तु का स्वभाव है इसलिए वह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नहीं देता, (४) वह दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेषरूप दिखाई देता है और (५) कर्म के निमित्त से होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामों कर सहित होने से वह सुखदुःखरूप दिखाई देता है। यह सब अशुद्ध-द्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनय का विषय है। इस दृष्टि (अपेक्षा) से देखा जाये तो यह सब सत्यार्थ है। परन्तु आत्मा का एक स्वभाव इस नय से ग्रहण नहीं होता और एक स्वभाव को जाने बिना यथार्थ आत्मा को कैसे जाना जा सकता है? इसलिए दूसरे नय को — उसके प्रतिपक्षी शुद्ध द्रव्यार्थिकनय को ग्रहण करके, एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर, उसे शुद्धनय की दृष्टि से सर्व परद्रव्यों से भिन्न, सर्व पर्यायों में एकाकार, हानिवृद्धि से रहित, विशेषों से रहित और नैमित्तिक भावों से रहित देखा जाये तो सर्व (पाँच) भावों से जो अनेक प्रकारता है, वह अभूतार्थ है — असत्यार्थ है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि वस्तु का स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है, वह स्याद्वाद से यथार्थ सिद्ध होता है। आत्मा भी अनन्त धर्मवाला है। उसके कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं और कुछ पुद्गल के संयोग से होते हैं। जो कर्म के संयोग से होते हैं, उनसे आत्मा की सांसारिक प्रवृत्ति होती है और तत्सम्बन्धी जो सुखदुःखादि होते हैं, उन्हें भोगता है। यह, इस आत्मा की अनादिकालीन अज्ञान से पर्यायबुद्धि है; उस अनादि-अनन्त एक आत्मा का ज्ञान नहीं है। इसे बतानेवाला सर्वज्ञ का आगम है। उसमें शुद्धद्रव्यार्थिकनय से यह बताया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव है जो कि अखण्ड नित्य और अनादिनिधन है। उसे जानने से पर्यायबुद्धि का पक्षपात मिट जाता है। परद्रव्यों से, उनके भावों से और उनके निमित्त से होनेवाले अपने विभावों से अपने आत्मा को भिन्न जानकर जब जीव उसका अनुभव करता है तब परद्रव्य के भावोंस्वरूप परिणमित नहीं होता; इसलिए कर्मबन्ध नहीं होता और संसार से निवृत्ति हो जाती है। इसलिए पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय को गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है और शुद्धनिश्चयनय को सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन दिया है। वस्तुस्वरूप की प्राप्ति

होने के बाद उसका भी आलम्बन नहीं रहता। इस कथन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शुद्धनय को सत्यार्थ कहा है इसलिए अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा मानने से वेदान्तमतवाले जो कि संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आ जायेगा और उससे मिथ्यात्व आ जायेगा, इस प्रकार यह शुद्धनय का आलम्बन भी वेदान्तियों की भाँति मिथ्यादृष्टिपना लायेगा। इसलिए सर्वनयों की कथंचित् सत्यार्थ का श्रद्धान करने से सम्यक्दृष्टि हुआ जा सकता है। इस प्रकार स्याद्वाद को समझकर जिनमत का सेवन करना चाहिए, मुख्य-गौण कथन को सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना चाहिए। इस गाथासूत्र का विवेचन करते हुए टीकाकार आचार्य ने भी कहा है कि आत्मा व्यवहारनय की दृष्टि में जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखाई देता है वह इस दृष्टि से तो सत्यार्थ ही है परन्तु शुद्धनय की दृष्टि से बद्धस्पृष्टादिता असत्यार्थ है। इस कथन में टीकाकार आचार्य ने स्याद्वाद बताया है — ऐसा जानना।

यहाँ यह समझना चाहिए कि वह नय है यह श्रुतज्ञान-प्रमाण का अंश है; श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष बतलाता है; इसलिए यह नय भी परोक्ष ही बतलाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र है। वह शक्ति तो आत्मा में परोक्ष है ही; और उसकी व्यक्ति कर्मसंयोग से मतिश्रुतादि ज्ञानरूप है, वह कथंचित् अनुभवगोचर होने से प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है, और सम्पूर्णज्ञान-केवलज्ञान यद्यपि छद्मस्थ के प्रत्यक्ष नहीं है तथापि यह शुद्धनय आत्मा के केवलज्ञानरूप को परोक्ष बतलाता है। जब तक जीव इस नय को नहीं जानता तब तक आत्मा के पूर्णरूप का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता। इसलिए श्रीगुरु ने इस शुद्धनय को प्रगट करके उपदेश किया है कि बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित पूर्णज्ञानघन-स्वभाव आत्मा को जानकर श्रद्धान करना चाहिए, पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिए।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देता और बिना देखे श्रद्धान करना असत् श्रद्धान है। उसका उत्तर यह है — देखे हुए का ही श्रद्धान करना तो नास्तिकमत है। जैनमत में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण माने गये हैं, उनमें से आगम प्रमाण परोक्ष है; उसका भेद शुद्धनय है। इस शुद्धनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए, मात्र व्यवहार-प्रत्यक्ष का ही एकान्त नहीं करना चाहिए।

गाथा - १४ पर प्रवचन

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ १४॥

अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्म को।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जान जो॥

टीका - निश्चय से.... भगवान आत्मा द्रव्यस्वरूप को शुद्धनय भी कहते हैं और द्रव्य स्वरूप भी कहते हैं। ग्यारहवीं गाथा में 'भूदत्थ देसी दोदू शुद्धनयो' — भूतार्थ जो ध्रुव है, उसे शुद्धनय कहते हैं। नय और नय के विषय को अध्यात्मदृष्टि में छोड़ देता है। समझ में आया? जो त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप भगवान पूर्णानन्द प्रभु (है), उसे ही शुद्धनय कहा है, वरना तो शुद्धनय का तो वह विषय है परन्तु विषय और विषयी का भेद छोड़कर, वह त्रिकाली ज्ञायकभाव ध्रुव जो सम्यग्दर्शन का विषय है, उसे ही शुद्धनय कहा गया है। आहाहा! अब ऐसा पाठ याद कहाँ रखे इसमें, धन्धे के कारण फुरसत नहीं मिलती, सेठ!

श्रोता : सेठ आज जानेवाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जानेवाला है? समझ में आया। आहाहा!

जो कोई आत्मा को अबद्ध-राग आदि, कर्म आदि से बद्ध नहीं — ऐसा **पस्सदि** अर्थात् अन्तरंग में देखते हैं —

(१) **अस्पृष्ट —** कर्म का विसस्रा परमाणु पुद्गल का है, कर्म होने की योग्यतावाला (है) उससे भी अस्पृष्ट है। भगवान तो राग से अस्पृष्ट है और विसस्रा परमाणु साथ में हैं कर्मरूप परिणमित नहीं हुए, उनके स्पर्श से भी रहित है। आहाहा!

(२) **अनन्य —** प्रत्येक का अर्थ करेंगे, हों! अनन्य है, अन्य-अन्य गति उसमें है नहीं, यह तो अनन्य है, वह तो अन्य-अन्य से अनन्य है, भिन्न है। आहाहा!

(३) **नियत —** पर्याय में अनेकता दिखती है, उससे भी वह भिन्न है।

(४) **अविशेष —** जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद दिखते हैं, वह विशेष, उससे रहित है; अविशेष है, सामान्य है, आहाहा!

(५) **असंयुक्त —** शुभ-अशुभभाव में जो आकुलता होती है, उस आकुलता से संयुक्त नहीं। आहा! भगवान अन्दर उस आकुलता से सहित नहीं है। आहाहा!

ऐसे आत्मा की अनुभूति.... ऐसे आत्मा का अनुभव.... यहाँ शुद्धनय कहना है न? ज्ञानप्रधान कथन यह है, दर्शनप्रधान कथन यह है और १५ वीं में ज्ञानप्रधान कथन आयेगा, १४ वीं में दर्शनप्रधान कथन है, १५ वीं में ज्ञानप्रधान कथन आयेगा। अभी तो सम्यग्दर्शन की प्रतीति क्या है, यह इसका कथन है और साथ में अनुभूति का कथन है नय का, वह १५ वीं में आयेगा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **ऐसे आत्मा....** ऐसे आत्मा, पर्याय में राग का सम्बन्ध है, वह द्रव्य में सम्बन्ध नहीं है — **ऐसे आत्मा की अनुभूति....** पर्याय में ऐसे आत्मा का अनुभव होना। आहाहा! यह आत्मा जो कहा, वह तो अबद्धस्पृष्ट है, वह पर्याय से रहित चीज है परन्तु उसका अनुभव करना वह पर्याय है। आहाहा! समझ में आया? **उसकी अनुभूति शुद्धनय है....** देखो, अनुभूति को शुद्धनय कहा। एक ओर शुद्धनय त्रिकाल को कहते हैं और (यहाँ) तो अनुभूति को ही शुद्धनय कहा क्योंकि शुद्धनय के विषय में दृष्टि जहाँ गयी तो पर्याय में अनुभूति हुई; अतः उसको भी यह शुद्धनय कहा जाता है। आहाहा!

और वह अनुभूति आत्मा ही है.... फिर वह जो अनुभूति हुई, आनन्द का वेदन आया, वह आत्मा है, यह कह दिया। यह पर्याय है वह आत्मा है; रागादिक थे, वह अनात्मा था और वस्तु का जो अनुभव हुआ, वह शुद्धनय हुआ और उस पर्याय को आत्मा कहते हैं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें हैं, बापू! भाई!

श्रोता : अलिंगग्रहण के बीसवें बोल में अनुभव की पर्याय को आत्मा कहा है। वह एक ही बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अनुभूति पर्याय की बात है। बीसवें बोल की बात वह। बीसवें बोल की बात मुझे कहना थी परन्तु कल कह गये हैं। अलिंगग्रहण के बीसवें बोल में यह आया है कि आत्मा अलिंगग्रहण अर्थात् आहाहा! वह द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। बीसवें बोल में ऐसा आया है क्योंकि द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, तो द्रव्य का अनुभव नहीं होता, यह अनुभव तो पर्याय में होता है। आहाहा! तो आत्मा अलिंगग्रहण, अ-लिंग ग्रहण।

लिंग अर्थात् सामान्य, उसको नहीं छूता है और निर्मल पर्याय में आत्मा वेदन में आया, वह निर्मल पर्याय आत्मा कहा गया है। आहाहा! वह कल कहा था, परन्तु यह तो भाई आये हैं... समझ में आया? आहाहा!

वस्तु जो पूर्ण शुद्ध है, लोकालोक को जानने की ताकतवाली और पूर्णम्... सम्पूर्णम् अतिशयवाली, उस चीज को नय कहा परन्तु उसका अनुभव हुआ उसको भी यहाँ शुद्धनय कहा। आहा! क्योंकि राग आदि की पर्यायदृष्टि है, वह अशुद्धनय है। आहाहा! और त्रिकाल ज्ञायकभाव की दृष्टि हुई, अनुभूति हुई तो त्रिकाली को भी शुद्धनय कहा, अनुभूति को भी शुद्धनय कहा — ऐसी बात है। अर्थ में आयेगा, (स्पष्टीकरण) करेंगे **और वह अनुभूति आत्मा ही है....** वापिस देखो, अनुभूति हुई वह क्षयोपशमभाव है, क्षायिकभाव है। समझ में आया?

वहाँ तो पहले निकाल दिया था कि जिसे क्षयोपशम, क्षायिकभाव अन्दर में नहीं है। बात तो ऐसी है बापू! जैनधर्म कोई अलौकिक चीज है! जैनधर्म कोई पक्ष नहीं, वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहाहा! यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है, उसका नाम जैनधर्म! आहाहा! और उस जापानवाले ने तो ऐसा कहा न? कि जैनधर्म किसे कहते हैं? जापानी व्यक्ति, ६३ वर्ष की उम्र और (उसका) लड़का, १७ वर्ष की उम्र परन्तु ऐतिहासिक खोज करके उसने निकाला — जैनधर्म क्या? अनुभूति वह जैनधर्म है अर्थात् वीतराग पर्याय का अनुभव होना, वह जैनधर्म है। राग का अनुभव होना। वह जैनधर्म नहीं है। आहाहा!

उसने पढ़ा तो होगा न, ऐतिहासिक व्यक्ति है और शोधक व्यक्ति है तो पढ़कर तो.... भले वह बात उसे जँचे या न जँचे, वह अलग बात है। यहाँ तो जैन में जन्म लेनेवाले बनियों को धन्धे में ५०-६०-७० (वर्ष) गये तो भी.... उस बेचारे ने लिखा है। यहाँ तो बनियों को जो धन्धा है, उसमें रुककर, यह (जैनधर्म) क्या चीज है और उसका अनुभव क्या है और क्या पर्याय है, क्या द्रव्य है, इसका निर्णय नहीं करते। यह उसने लिखा है। बनियों के हाथ में जैनधर्म आया तो बनिये, बनिये हैं, सब व्यापार में रूक गये हैं; पूरे दिन (व्यापार में फँसे हैं)।

श्रोता : बनिये द्रव्य को मानते तो हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे कब इस द्रव्य को मानते हैं? द्रव्य है ऐसा धारणा में माना है।

श्रोता : द्रव्य अर्थात् पैसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कमाते हैं, वह तो — द्रव्य तो (पैसा तो) धूल है। आहाहा! क्यों हसमुखभाई!

श्रोता : धूल कैसे कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल और मिट्टी पुद्गल की पर्याय है।

श्रोता : इसके बिना सब्जी नहीं मिलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब्जी मिलती किसे है? इससे सब्जी मिलती है? वह चीज तो जो आनेवाली है (वह आती है)। यह तो कहावत में नहीं आता? 'दाने-दाने पर खानेवाले का नाम है' उसका अर्थ क्या? अन्दर नाम लिखा है? परन्तु जो रजकण उसके पास आनेवाला है, वह आयेगा। उसके राग से आयेगा और राग न करे तो नहीं आयेगा — ऐसा है नहीं। जो रजकण उसके पास आनेवाले हैं, वे आयेंगे ही नहीं आनेवाले हैं, वे नहीं आयेंगे। समझ में आया? आहाहा! गोदिकाजी! यह तो कितने, पैसे के लिए कहाँ जाते हैं, भटकते हैं, अमेरिका-फमेरिका में.... आहाहा! तथापि वे रजकण आनेवाले होंगे तो आयेंगे। इसके राग के प्रयत्न से आते हैं, यह बिल्कुल झूठ है। आहाहा!

श्रोता : एक बार कहते हो कि पैसे के लिये जाते हैं और फिर कहते हो कि पैसे मिलते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने कहा नहीं आते? वे तो यहाँ उसके पास आते हैं ऐसा कहा। उसके पास आते नहीं हैं, समीप में आते हैं।

श्रोता : उसको नहीं मिलते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, उसका — परमाणु का भी आत्मा में अभाव है। स्वभाव का भाव है और परमाणु का अभाव है। अतः उसके पास अन्दर (पर द्रव्य) नहीं आता। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **यह अनुभूति आत्मा ही है....** देखो **इस प्रकार आत्मा एक ही**

प्रकाशमान है.... आहाहा! इसका अर्थ किया, देखो! उसमें, पण्डितजी! जयचन्द पण्डित! शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति, आत्मा सब एक ही है। है? यह अपेक्षा से समझाते हैं। शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति और आत्मा तीनों एक ही हैं।

श्रोता : पर्याय और द्रव्य दोनों एक हैं?

समाधान : पर्याय और द्रव्य दोनों को शुद्धनय कहा। आत्मा को शुद्धनय कहा, अनुभूति को शुद्धनय कहा। आहाहा! शुद्धनय को शुद्धनय कहा, त्रिकाली विषय को, अपेक्षा से ऐसा समझना चाहिए न, आहाहा!

देखो! शुद्धनय कहो, आत्मा की अनुभूति कहो... वरना शुद्धनय का विषय तो ध्रुव त्रिकाल है परन्तु त्रिकाल को विषय किया तो पर्याय में अनुभूति हुई। अनुभूति में शुद्ध वस्तु प्रसिद्धि में आयी तो पर्याय को भी अनुभूति-शुद्धनय कहा गया है। आहाहा! अब ऐसा सीखना, रटना...

श्रोता : पर्याय को भी द्रव्य कह दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय को द्रव्य नहीं कहा, शुद्धनय कहा। उस शुद्धनय का अर्थ? उस शुद्धनय के आश्रय से जो पवित्रता प्रगट हुई तो उसको भी शुद्धनय कहा और बाद में उसे आत्मा कहा। पवित्रता प्रगट हुई, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान, वह पर्याय है, उसे आत्मा कहा। राग मैं नहीं, राग अनात्मा है — इतना बतलाने के लिये अनुभूति, जो सम्यग्दर्शन आदि है, उसे आत्मा कहा गया है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

श्रोता : एक बार और कह दें।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु जो है वस्तु, त्रिकाली चीज जो भगवान आदि-अन्तरहित (है)। पर्याय में आदि होती है और अन्त-नाश होता है। पर्याय उत्पन्न हुई तो आदि है, दूसरे समय में व्यय होता है — आदि-अन्त हो गया। वस्तु आदि-अन्त रहित है। आहाहा! अत: उसमें पर्याय भी नहीं — ऐसा आदि-अन्त रहित सम्पूर्णम्-आपूर्णम्-परिपूर्णम् पर से विमुक्त, उस चीज को यहाँ शुद्धनय कहा और उसका अनुभव किया उसे भी शुद्धनय कहा और उसका अनुभव हुआ उसे आत्मा कहा। आहाहा! क्योंकि निर्मल पर्याय हुई तो वह आत्मा है। राग की पर्याय आत्मा नहीं है, इतना बतलाने को अनुभूति — जो निर्मल

सम्यग्दर्शन -ज्ञान हुआ, वह आत्मा की पर्याय निर्मल में से निर्मल आयी तो निर्मल पर्याय को आत्मा कहा गया है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी चीज है।

१४ वीं गाथा, (में) सम्यग्दर्शन की मुख्यता से यह कथन है। सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन में त्रिकाली — आदि-अन्तरहित आत्मा दृष्टि में आता है। समझ में आया? आहाहा!

श्रोता : इसलिए यह शिक्षण-शिविर लगाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैंने तो लगाया नहीं, मैंने तो कभी कहा ही नहीं। मैंने तो कभी कहा ही नहीं, यह होता है। यह तीर्थ का फण्ड बनाओ, यह भी मैंने तो कभी नहीं कहा। यहाँ तो उपदेश देते हैं, तत्त्व की बात है। हमारे पास यहाँ दूसरी बात नहीं है। ऐसा मकान (मन्दिर) बनाओ या ऐसा पुस्तक बनाओ, हमने कभी नहीं कहा। एक यह बहिन का पुस्तक (बहिनश्री के वचनामृत) आया, तब मैंने कहा था, वरना इतने बीस लाख (ग्रन्थ) छप गये हैं, हमने कभी नहीं कहा (कि) पुस्तक बनाओ। यह यहाँ तो उपदेश में आवे वह समझो.... वह समझो। हम कहीं इस प्रपंच में नहीं पड़ते। समझ में आया?

यह मकान (स्वाध्याय मन्दिर) बनने से पहले कहा न? स्वाध्याय मन्दिर (संवत् ९४) में (बना था) तो हमने तो कभी कहा नहीं कि बनाओ (हमने तो) ऐसा कहा था कि तुम बनाते हो, हमें रहना या न रहना, यह हम प्रतिबन्ध में नहीं हैं। रामजीभाई तो थे न ९४ में, यह मकान तुम बनाते हो तो हमें यहाँ रहना ही है — ऐसा कोई प्रतिबन्ध हमारे नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह बनानेवाला आत्मा नहीं है बापू! यह कौन करे, भाई! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि इस वस्तु को — त्रिकाली को भी शुद्धनय कहने में आया और त्रिकाली का अनुभव हुआ, उस अनुभव को भी शुद्धनय कहा और त्रिकाली को भी आत्मा कहा तथा अनुभूति को भी आत्मा कहा। समझ में आया?

यहाँ शिष्य पूछता है.... शिष्य ने सुना। यह बात सुनी और उसे ऐसा ख्याल में आया कि यह क्या कहते हैं? तो प्रभु! तुम कहते हो तो इसमें तो अनुभव कैसे हो? **जैसे ऊपर कहा है, वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है?....** ऐसा शिष्य ने प्रश्न

किया। आप कहते हो कि भगवान आत्मा राग से भिन्न, बद्ध-राग से भिन्न, सामान्य, विशेष से भिन्न; सामान्य पर्याय से भिन्न, नियत एकरूप ऐसी चीज की अनुभूति कैसे होती है? उसका अनुभव — सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान — अनुभूति कैसे? यह प्रश्न आया, परन्तु यहाँ दर्शन का विषय है। समझ में आया? आहाहा! गाथा दर्शन की है। अनुभूति कैसे हो सकती है? आहाहा!

श्रोता : अनुभूति कैसे हो यह आज तो बाहर प्रसिद्ध करना ही पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अनुभूति, उसमें जरा मर्म है। क्या? देखो, **ऊपर कहा वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है?**

उसका समाधान — देखो अब, **बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ हैं...** आहाहा! शिष्य का प्रश्न हुआ कि ऐसे भगवान आत्मा की अनुभूति कैसे होती है? सुन प्रभु! यह **बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ हैं....** कायम रहनेवाली चीज नहीं है। ठीक! राग आदि का सम्बन्ध या पर्याय का विशेष भाव, वह कायम रहनेवाली चीज नहीं है। आहाहा! बद्धस्पष्ट आदि भाव अभूतार्थ हैं... आहाहा! वह कायम रहने की चीज नहीं हैं। कायम रहनेवाली चीज तो भगवान आत्मा पूर्णानन्द वह कायम रहनेवाली चीज है। आहाहा! समझ में आये, उतना समझना, प्रभु! यह तो परमात्मा की गम्भीर बातें हैं। यह कोई कथा वार्ता नहीं है, यह तो तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान के मुख से आयी हुई बात, इन कुन्दकुन्दाचार्य ने झेली और ले लिया है। है? आहाहा! और अमृतचन्द्राचार्य तो एक हजार वर्ष बाद हुए परन्तु उन्होंने उसका रहस्य खोल दिया है कि कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं, कहना चाहते हैं और भगवान भी ऐसा कहते थे। आहाहा!

क्या उत्तर दिया? शिष्य ने प्रश्न किया कि ऐसा आत्मा अबद्धस्पृष्ट आदि है, उसका अनुभव कैसे हो?

श्रोता : प्रश्न बहुत अच्छा....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रश्न था, अर्थात् कि यह बद्धस्पृष्ट आदि है न? यहाँ ऐसा कहते हैं। यह बद्धस्पृष्ट-राग आदि का सम्बन्ध है, पर्याय में भेद है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विशेष है। है ने और अनुभूति कैसे होती है? है? उसमें से पर से भिन्न कैसे होता है?

ऐसा कहते हैं (अर्थात्) शिष्य के प्रश्न में यह प्रश्न है कि राग का सम्बन्ध है, पर्याय में विशेषता है, गुण का विशेष भेद है — ऐसी चीज में उससे रहित अनुभूति कैसे होती है ? समझ में आया ? आहाहा ! यह आचार्य ने शिष्य के मुख में ऐसा प्रश्न (रख) दिया है।

सुन प्रभु ! एक बार सुन, कहते हैं। **यह बद्धस्पृष्ट आदि भाव अभूतार्थ हैं....** कायम रहनेवाली चीज नहीं है; इसलिए उससे भिन्न अनुभूति हो सकती है — ऐसा कहते हैं। राग आदि का सम्बन्ध और विशेष आदि पर्याय तथा गुणभेद — दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह कायम रहनेवाली चीज नहीं है। अभूतार्थ होने से, उससे भिन्न **अनुभूति हो सकती है।** आहाहा ! गाथा तो बहुत अच्छी आ गयी है। १३-१४ आहाहा ! यह तो तुम्हारे नवाँ दिन है न ! नहीं ? नवाँ दिन है, ग्यारह दिन बाकी हैं। आहाहा ! क्या कहा ? शिष्य का प्रश्न ऐसा है कि प्रभु ! आप आत्मा को अबद्धस्पृष्ट आदि कहते हैं, पाँच बोल.... तो हमें तो (आत्मा) पाँच बोल सहित दिखता है — राग का सम्बन्ध है, पर्याय का विशेष है, गुणभेद (है ऐसा) हमें दिखता है तो उसमें से अनुभूति कैसे होती है ?

प्रभु, सुन ! यह सब भेदभाव कायम रहनेवाली चीज नहीं है, अभूतार्थ है। आहाहा ! समझ में आया ? यह तो बापू ! भगवान तीन लोक के नाथ, जिनेश्वरदेव के कथन हैं और यह सन्त तो उनके आडतिया हैं। आडतिया समझते हो ? एजेन्ट ! आहाहा !

श्रोता : उनकी आदत सोनगढ़ में होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ में नहीं, आत्मा में। आहाहा ! शिष्य का प्रश्न यह था कि आप आत्मा को अबद्धस्पृष्ट आदि कहते हो परन्तु यहाँ तो प्रत्यक्ष दिखता है (कि) राग का सम्बन्ध है, पर्याय का भेद है, गुणभेद (है ऐसा) दिखता है तो यह उसमें अनुभूति कैसे हो ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। इतना तो शिष्य को ख्याल में आ गया है कि यह सब भेदभाव है, इनसे रहित अनुभूति करने को कहते हैं। अतः ऐसा कैसे हो ? वह ऐसा कहता है। आहाहा !

क्या कहा ? शिष्य का प्रश्न था कि ऐसा ऊपर कहा... ऊपर कहा ऐसा उसने ख्याल में लिया है। है ? आहाहा ! अन्दर शब्द-शब्द में भाव भरा है ! यह शिष्य प्रश्न करता है — ऊपर कहा है, वह मेरे ख्याल में आया है (कि) आप ऐसा कहते हैं। ऊपर कहा हुआ ऐसा शब्द आया न ? ऐसा सुनकर निकाल दिया — ऐसा नहीं, उसके ख्याल में आया है। प्रभु !

आप ऐसा कहते हो, आहाहा! गजब बात है। बापू! श्रोता भी ऐसा लिया है। है? कि अबद्धस्पृष्ट कहा, वह उसे ख्याल में आ गया है (कि) आप कहते हैं ऐसा (ख्याल आ गया है)। हमने हमारे ख्याल में से निकाल दिया सुनकर, ऐसी बात नहीं है। हमको ख्याल में आया कि आप ऐसा कहते हैं परन्तु मेरा प्रश्न है, प्रभु! यह राग और विशेष का सम्बन्ध तो है, अब उसमें से उससे रहित अनुभूति कैसे होगी? आहाहा! समझ में आया?

शब्द क्या है? शिष्य पूछता है कि **जैसा ऊपर कहा है,** जैसा ऊपर कहा है, जो आपने कहा वह हमारे ख्याल में आया है। आहाहा! जैसा ऊपर कहा है, वहाँ वजन है। पण्डितजी! **वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है?....** आप कहते हैं, वैसी अनुभूति कैसे होती है? तो उसे कहा है — **समाधान - बद्धस्पृष्ट आदि भाव अभूतार्थ हैं....** कायम रहनेवाली चीज नहीं है। इसलिए कायम रहनेवाली चीज की अनुभूति होती है। आहाहा! क्या कहा? आहाहा! कितनी टीका!

श्रोता : कितनी टीका की टीका!

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! प्रभु आप कहते हो कि आत्मा बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भाव से रहित कहा तो ऊपर कहा हुआ ख्याल में है, आपने कहा वह भी यहाँ बद्धस्पृष्ट तो है, भेद है, विशेष है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विशेष भी है और आप उसकी-अभेद की अनुभूति करने को कहते हैं, यह कैसे हो सकता है?

प्रभु, सुन! यह पाँच बोल जो कहे, वे अभूतार्थ हैं। एक समय की स्थितिवाले हैं। आहाहा! समझ में आया? एक समय की स्थितिवाले हैं, इसलिए अभूतार्थ हैं। आहाहा! राग का सम्बन्ध, गुण का विशेष भेद, एक समय का भेद है — एक समय की स्थिति है। आहाहा! तो एक समय की स्थिति का सम्बन्ध त्रिकाली के सम्बन्ध से रहित है। आहाहा! नियमसार में तो यहाँ तक कहा कि केवलज्ञान भी नाशवान है; अविनाशी तो त्रिकाली ज्ञायकभाव अविनाशी है। नियमसार ३८ गाथा (में कहा है कि) सात तत्त्व नाशवान हैं। आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष ये नाशवान हैं तो उसमें केवलज्ञान भी नाशवान है — ऐसा कहा है। एक समय की स्थिति है। केवलज्ञान की स्थिति एक समय है, गुण की

स्थिति त्रिकाल है परन्तु केवलज्ञान की पर्याय की स्थिति एक समय की है। अत: यह तुम अभूतार्थ कहते हो, उसकी स्थिति एक समय की है तो (वह) अभूतार्थ है तो उससे भिन्न अनुभूति हो सकती है। विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६७ गाथा-१४ दिनाङ्क २४-०८-१९७८ गुरुवार
श्रावण कृष्ण ६, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्रीसमयसार गाथा १४। पहले पाँच बोल लिये हैं। विस्तार अभी आयेगा कि यह आत्मा बद्धस्पृष्ट — एक समय की पर्याय में राग का सम्बन्ध दिखता है और पर्याय में अनेकता — षट्गुण हानि-वृद्धि आदि पर्याय में दिखती है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भेद भी पर्यायदृष्टि से दिखता है परन्तु यह सर्व अभूतार्थ है, यह कायम रहने की चीज नहीं है। समझ में आया? शिष्य ने प्रश्न किया है कि जैसा ऊपर कहा... आपने आत्मा को अबद्धस्पृष्ट अनन्य, सामान्यस्वरूप कहा, जिसमें गुण-भेद की विशेषता भी नहीं, जिसमें पर्याय नहीं और अकेला चैतन्यद्रव्य जो ज्ञायकस्वरूप भगवान पूर्णानन्द प्रभु, उसे आपने आत्मा कहा तो यह बद्धस्पृष्ट आदि भाव है न? पर्याय में राग आदि का और पर्याय का भेद है न? तो जैसा ऊपर कहा वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है। आहाहा! ऐसी चीज है और पर्याय में राग आदि है, भेद है, एक समय की बात है, हों! तो ऐसा होने पर आत्मा की अनुभूति कैसे होती है? आहाहा!

भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप का अनुभव, आनन्द का वेदन.... आहाहा! सम्यग्दर्शन में अनुभूति होती है। सम्यग्दर्शन में त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप को अनुसरण करके अनुभूति होती है, उसमें सम्यग्दर्शन की प्रतीति भी उसी में होती है और उसमें — अनुभूति में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी आता है। आहाहा! सम्यग्दर्शन होने पर पूर्णानन्दस्वरूप सन्मुख के झुकाव से पर्याय में अनुभव-सम्यग्दर्शन और आनन्द का स्वाद आता है, वह कैसे? बद्ध आदि है न? एक समय की रागादि पर्याय के सम्बन्ध में है न? और गुणभेद है न? सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा!

तो आचार्य कहते हैं कि **बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ है....** आहाहा! एक

समय की अवस्था में राग और राग का सम्बन्ध तथा भेद — एक समय की अवस्था, वह तो अभूतार्थ है, कायम रहनेवाली चीज नहीं है। समझ में आया? आहाहा! वह कायम रहने की चीज नहीं है, वह अभूतार्थ है; अतः उससे रहित आत्मा का अनुभव हो सकता है। सूक्ष्म बात है भाई! प्रथम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने की बात है। यह १४ वीं गाथा सम्यग्दर्शन की है। १५ वीं गाथा सम्यग्ज्ञान की है। आहाहा! और १६ वीं (गाथा) दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की है। यहाँ दर्शन की — सम्यग्दर्शन की बात है, तो शिष्य ने प्रश्न किया कि आपने कहा, वह मेरे लक्ष्य में आया। ऊपर कहा हुआ, ऐसा शब्द आया न? कि आत्मा अबद्धस्पृष्ट है, अनन्य है, अभेद है, पर्याय की अनेकता से भिन्न है... आहाहा! ऐसा आप कहते हैं, वह ख्याल में आया, परन्तु वे बद्धस्पृष्ट आदि भाव तो है; अतः वैसे आत्मा का अनुभव — सम्यग्दर्शन-अनुभूति कैसे होती है? आहाहा! तो कहते हैं कि यह बद्धस्पृष्ट आदि भाव अभूतार्थ हैं। कायम रहने की चीज नहीं है। आहाहा! एक समय की पर्याय का-राग का सम्बन्ध है, वह कायम रहने की चीज नहीं है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र का जो भेद करते हैं, वह भी पर्यायदृष्टि से भेद करते हैं, वह कायम रहने की चीज नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **इसलिए वह अनुभूति हो सकती है।** है न, है?

इसलिए वह अनुभूति हो सकती है। आहाहा! तो क्या कहा? कि पर्याय में जो दया, दान, व्रत आदि का विकल्प-व्यवहार है, उसका सम्बन्ध एक समय का सम्बन्ध है; वह कोई कायम रहने की चीज नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इस कारण अभूतार्थ अर्थात् कायम रहने की चीज नहीं है; इस कारण उससे दृष्टि छोड़कर त्रिकाली भगवान सच्चिदानन्द प्रभु निर्विकल्प आनन्दकन्द प्रभु का अनुभव-सम्यग्दर्शन हो सकता है। आहाहा! ऐसी बात है। यह लोग कहते हैं न कि व्यवहार, व्यवहार से निश्चय की प्राप्ति होती है... सब मिथ्यादृष्टि हैं। सूक्ष्म बात है प्रभु!

व्यवहार तो राग है, राग अभूतार्थ है; इस भूतार्थ की प्राप्ति में वह अभूतार्थ कारण कैसे होता है? पण्डितजी! तुम्हें तो पता है न तुम्हें तो... उसने तो टीका की है। आहाहा! जैनतत्त्व मीमांसा बहुत बढ़िया बनाया है। आहाहा! यह कोई पण्डिताई की चीज नहीं है। पण्डिताई — क्षयोपशम बहुत है। ग्यारह अंग का ऐसा और वैसा.... यह कोई

पण्डिताई की चीज नहीं है। यह तो अन्तर पण्डिताई की चीज है। सम्यग्दृष्टि को पण्डित कहते हैं। क्या?

श्रोता : अन्दर की पण्डिताई या बाहर की पण्डिताई.... रही तो पण्डिताई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाहर की पण्डिताई भी पण्डित में रह गयी, आत्मा में नहीं आयी। ठीक पूछते हैं, पूछते तो हैं न। वैसे तो प्रभु ग्यारह अंग अनन्त बार (पढ़ा है) समझ में आया?

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग ल्यौ,
वनवास ल्यौ मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लाग्य दियौ।
मन पौन निरोध स्वबोध कियो, हठ जोग प्रयोग सुतार भयो,
(जप भेद जपे तप त्यौं ही तपे, उर से ही उदासी लहि सब पे)
सब शास्त्रन के नय धारिये मत मण्डन खण्डन भेद लिये
यह साधन बार अनन्त कियौ, तदपि कछु हाथ हजू न पर्‌यो।

श्रीमद् राजचन्द्र थे तो गुजराती, सम्यग्दृष्टि थे, आत्मज्ञानी हुए थे। बाद में यह उन्होंने हिन्दी में बनाया। थे तो गुजराती वणिक। समझ में आया? प्रभु! यम-नियम — यम अर्थात् पंच महाव्रत, नियम अर्थात् अनेक प्रकार के अभिग्रह। यम, नियम, संयम, इन्द्रिय का दमन किया। आजीवन बाल ब्रह्मचारी रहा। आहाहा! ऐसी क्रिया, प्रभु! अनन्त बार की है। यम, नियम, संयम आप कियौ, पुनि त्याग वैराग्य अथाग लियौ.... जिसे एक टुकड़ा भी वस्त्र का न रहे ऐसा त्याग किया.... त्याग, वैराग्य उदास हो गया पर से परन्तु वह चीज-अपनी चीज क्या है, उस ओर की दृष्टि नहीं की। आहाहा! यह त्याग वैराग्य अथाग लिया, मन पौन निरोध — श्वाच्छोस्वास का निरोध करके, मानो मैं आत्मध्यान करता हूँ — ऐसा भी अनन्त बार किया। वह कोई चीज नहीं है। वह साधन बार अनन्त कियो, अब (क्यों न) विचारत है। (मन से कछु और रहा उन साधन से) मन से, कि उन साधन से भिन्न कोई बात है, वह साधन-फाधन है नहीं। आहाहा। यह यहाँ कहते हैं कि पर्याय में जो पाँच भाव दिखते हैं, वे कायम टिकने की चीज नहीं है। इसलिए उनसे दृष्टि उठाकर, पर्यायदृष्टि छोड़कर, व्यवहारदृष्टि उठाकर, त्रिकाली ज्ञायक आनन्दकन्द प्रभु

अतीन्द्रिय आनन्द का दल सामान्य जो ध्रुव है, उस पर दृष्टि लगा दे, आहाहा! तो तुझे अनुभूति होगी, आनन्द का स्वाद आयेगा। आहाहा!

सम्यग्दर्शन होते ही, जितनी संख्या में आत्मा में गुण हैं... तीन काल के समय से ही अनन्त गुने आकाश के प्रदेश हैं... आकाश के प्रदेश अपार... अपार... अपार... अपार... अपार... हैं। उनसे अनन्तगुने एक आत्मा में गुण हैं, आकाश के प्रदेश की संख्या की अपेक्षा जिसका कहीं पार नहीं है, अन्त नहीं, अन्त नहीं, अन्त नहीं, अन्त नहीं... इसका — आकाश का जो प्रदेश है, उससे अनन्तगुने तो एक जीव में गुण हैं। आहाहा! ऐसे गुण होने पर भी, गुण और गुणी का भेद भी नाशवान है, आहाहा! अभूतार्थ है। सूक्ष्म बात है प्रभु! अभी तो बात बहुत गड़बड़ चढ़ गयी है। अभी तो पण्डित लोग और सब ऐसा व्यवहार करते — (करते) निश्चय प्राप्त होता है (ऐसा मानते हैं परन्तु) भाई! ऐसा नहीं है प्रभु! अन्तर में शुद्ध चैतन्यघन प्रभु, अनन्त गुण का पिण्ड (है), उसका अनुभव करने में पर की कोई अपेक्षा नहीं है, व्यवहार और राग की अपेक्षा नहीं है — ऐसा सम्यग्दर्शन पर की अपेक्षा बिना स्व के आश्रय से उत्पन्न होता है। समझ में आया? यह बात है भगवान! क्या कहें? आहाहा!

यह कहते हैं **अनुभूति हो सकती है...** आहाहा! एक समय की पर्याय है, अभूतार्थ है, कायम टिकने की चीज नहीं। व्यवहाररत्नत्रय है, वह भी एक समय की विकृत चीज है, वह कायम टिकने की-रहने की चीज नहीं है। आहाहा! तो कायम टिकने की चीज है भूतार्थ! उस अभूतार्थ से दृष्टि उठाकर भूतार्थ त्रिकाली ज्ञायक में दृष्टि लगा दे, तुझे आनन्द का स्वाद आयेगा, तुझे सम्यग्दर्शन होगा और जितनी संख्या में गुण है, उन सब गुणों की आंशिक व्यक्तता वेदन में आयेगी। जितनी संख्या में गुण हैं — अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त.... अनन्त.... (हैं) जिसमें अनन्त के गुण की संख्या में यह अन्तिम-आखिर का है — ऐसा कोई अन्त नहीं है। आहाहा! ये सब गुण की तरफ दृष्टि देने से-पर्यायदृष्टि को छोड़कर.... आहाहा! अन्तर्मुख दृष्टि करने से उसमें कोई पर की अपेक्षा है ही नहीं। व्यवहार से भिन्न पड़ना है तो पर-व्यवहार की अपेक्षा रखकर अन्दर जा सके — ऐसी चीज है नहीं, वस्तु ऐसी है नहीं। समझ में आया? आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

अनुभूति हो सकती है.... (बद्धस्पृष्ट आदि) वह चीज अभूतार्थ है। एक समय की पर्याय, भेद है। आहा...हा...! अरे! राग आदि भी एक समय की विकृत अवस्था है, वह कायम टिकने की चीज नहीं है; इसलिए उससे दृष्टि उठा दे। आहाहा! और भूतार्थ, एक समय में त्रिकाली ज्ञायकभाव अनन्त गुण का एकरूप (है), उसकी दृष्टि करने से ज्ञान की-आनन्द की-स्वभाव की अनुभूति होगी। उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! यह सत्य दर्शन है। सम्यक् अर्थात् सत्यदर्शन — सत्य अर्थात् पूर्णानन्द सत्यार्थ, भूतार्थ, भूतार्थ भगवान, सत्यार्थ साहेब प्रभु स्वयं अनन्त गुण का साहेब, उसकी दृष्टि-अनुभव करने से... आहाहा! जितनी संख्या में गुण है, उन सबका पर्याय में एक अंश व्यक्त का अनुभव हुआ। आहाहा! ऐसी बात है!

यह तो निवृत्ति लेकर यह काम करे तब हो, बाकी तो प्रवृत्ति कर-करके अनन्त काल से मर गया है।

श्रोता : मर कहाँ गया है, जीवित तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है, क्या? अरे! जीवित तो उसे कहते हैं प्रभु! ज्ञायक-जीवत्वशक्ति है न उसमें? जीवत्वशक्ति में जीवन है। वह समयसार की दूसरी गाथा में लिया है कि **जीवो चरित्तंदंसणणाणट्ठिदो** तो इन 'जीवो' में से जीवत्वशक्ति निकाली है। अमृतचन्द्राचार्य ने सैंतालीस शक्तियाँ / गुण निकाले हैं। हैं तो अनन्त परन्तु कितने कह सकते हैं? अत: सैंतालीस लिये हैं। उनमें जीवत्वशक्ति में अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द और सत्ता, इन भावप्राण से आत्मा त्रिकाल में जीता है। ऐसे जीवत्व से जीनेवाला प्रभु (है)। उसे मैं राग से जीता हूँ और पुण्य से मुझे लाभ होगा, यह उसने चैतन्य के जीवन का नाश कर दिया है। उसने चैतन्य के-पूर्णानन्द के नाथ का अनादर करके हिंसा की है। युगलजी! सूक्ष्म बात है। आहाहा!

हिंसा का अर्थ? जैसा अस्तित्व है, इतना अस्तित्व न मानना और दूसरे प्रकार से मानना, वह स्वभाव नहीं है — ऐसा (मानना), वह हिंसा है। आहाहा! यह क्या कहा? भगवान पूर्णानन्द अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द शुद्ध चैतन्यघन से जो टिक रहा है, जीवित है, टिक रहा है, उसे राग से लाभ होगा, पुण्य से लाभ होगा, व्यवहार से होगा (— ऐसा

माननेवाले ने) उस वस्तु की हिंसा कर दी है। जो स्वतन्त्र वस्तु है, उसे पर से लाभ होगा, यह वस्तु का जीवत्व का जीवन टिकता है, टिक रहा है, उसको नहीं है — ऐसा कह दिया। दूसरी भाषा में कहें तो जो रागादि-विकल्प आता है, उसका जिसे प्रेम है, उसे त्रिकाली ज्ञायक के प्रति द्वेष है, क्रोध है। समझ में आया? जिसे व्यवहार, पर्याय के प्रति प्रेम है (उसे आत्मा के प्रति द्वेष है)। आहाहा! गजब बात है बापू! यह प्रभु का मार्ग अलौकिक है। आहाहा!

एक समय की पर्याय और दया, दान, व्रत आदि के विकल्प का जिसे प्रेम है, उसे भगवान आत्मा के प्रति क्रोध है और द्वेष है, क्योंकि द्वेष के दो भाग — क्रोध और मान; राग के दो भाग — माया और लोभ; अतः जिसे आत्मा के प्रति अभाव है और राग के प्रति का भाव है, उसका स्वभाव के प्रति द्वेष और क्रोध है। आहाहा!

जिसने राग के प्रति मित्रता बाँधी है, उसने स्वभाव के प्रति की मैत्री को छोड़ दिया है। आहाहा! यह छोटी उम्र के लड़के हम खेलते थे तब कहते थे, कट्टी — ऐसा कहते कुछ ऐसा, पता है न? सब मित्र हों और मित्रों के साथ मनमुटाव करना हो (तो कहते हैं) कट्टी, तेरे साथ कट्टी जा! ऐसा करते थे, छोटी उम्र की बात है। तुम्हारे कुछ होगा अवश्य हिन्दी में। कट्टी करते थे न कट्टी और यह तो हमारे ऐसे-ऐसे कट्टी करते थे। इसी प्रकार जिसने पर्याय में राग के प्रति प्रेम किया, उसने स्वभाव के प्रति क्या किया है तुम्हारा? (कट्टी कर दी है)। आहाहा! और जिसने स्वभाव के प्रति प्रेम किया, उसका प्रेम पर्याय और राग के प्रति कट्टी कर दिया कि जाओ तुम नहीं। समझ में आया? यह तो बालपने में हम करते थे न, उसका समाधान यह आया।

इसी बात को दृष्टान्त से प्रगट करते हैं। जैसे.... पहले दृष्टान्त देते हैं। **जैसे कमलिनी पत्र....** कमलिनी की बेल होती है न, उसमें पत्र होता है। रूखा-रूखा पत्र.... **कमलिनी पत्र जल में डूबा हुआ हो....** पानी में अन्दर डूबा हुआ हो, **उसका जल से स्पर्शित होनेरूप....** स्पर्शित का अर्थ तो ऐसा है (कि) इतना निमित्त-निमित्त सम्बन्ध हो गया है, बाकी तो जल... जो वह कमल फूल है, एक पर्याय दूसरी पर्याय को कभी भी स्पर्श नहीं करती। आत्मा अपने गुण और पर्याय को स्पर्श करता है (समयसार की) तीसरी

गाथा में है। (प्रत्येक वस्तु) अपना धर्म जो गुण और पर्याय (है), उसे स्पर्श करते हैं परन्तु परद्रव्य की पर्याय को कभी स्पर्श नहीं करता, चुम्बन नहीं करता, छूता नहीं — तीसरी गाथा। **एयत्तणिच्छयगदो समझो सव्वत्थ सुन्दरो लोए।** समझ में आया? परन्तु यहाँ तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध कहकर... समझ में आया? **उसका जल से स्पर्शित होनेरूप....** अर्थात् अन्दर डूबा है न, इस अपेक्षा से, अन्दर ऐसा पानी में दिखता है न, बीच में ऐसे पानी में अन्दर है — ऐसा दिखता है; पानी में है नहीं वह है तो अपने में परन्तु पानी के संयोग में कमल दिखता है तो स्पर्शित होनेरूप **अवस्था से अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना....** निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से वह **भूतार्थ है...** वह डूबा हुआ है, यह वर्तमान पर्यायदृष्टि से देखने में आता है, इतनी बात। है?

तथापि.... तो भी ऐसा होने पर भी, उसी समय में.... आहाहा! यह तो मन्त्र हैं। सन्तों की वाणी-दिगम्बर सन्तों की वाणी अर्थात् गजब बात है भाई! यह कोई पढ़ जाये और पढ़ जाये, इसलिए समझ में आ जाये यह बात नहीं है, अलौकिक बात है। आहाहा! कहते हैं जल में कमल डूबा हुआ देखने पर भी, उसका — कमल का स्वभाव देखने से... आहाहा! है? **जल से किंचितमात्र भी न स्पर्शित होने योग्य....** उसके रोम ऐसे होते हैं, रोम समझे? पत्र रूखे-रूखे, बारीक-बारीक रूखे, उसे पानी स्पर्श ही नहीं करता, ऊँचा करने से पानी का बिन्दु उसको स्पर्श ही नहीं किया है। उसके रोम, समझ में आते हैं? रोम कहते हैं, बारीक-बारीक बहुत कोरी, बहुत रूखी होती है। पानी से ऊँचा ऐसा करो तो पानी का एक अंश भी अन्दर नहीं आता। आहाहा! यह तो अभी दृष्टान्त है, हाँ! **तथापि जल से किंचित्मात्र भी न स्पर्शित कमलिनी पत्र के स्वभाव....** देखा? कमलिनी पत्र का स्वभाव, बेल के पत्र का स्वभाव, रूखा-रूखा, अत्यन्त कोरा — ऐसा। **स्वभाव के समीप जाने पर....** स्वभाव पर दृष्टि देने से, आहाहा। **अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना (अभूतार्थ है....)** झूठा है, जल से स्पर्शित हुआ, निमित्त-निमित्त सम्बन्ध वह झूठा है। आहाहा!

इसी प्रकार.... यह तो दृष्टान्त हुआ। अब सिद्धान्त.... **अनादि काल से बँधे हुए आत्मा का....** राग का और कर्म का निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से देखो तो... पर्याय में

अनादि काल से बँधा हुआ, आहाहा! **आत्मा का पुद्गल कर्मों से बँधने स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर....** पर्याय के निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से देखने पर, मानो निमित्त है वह नैमित्तिक के साथ जुड़ा हुआ है — ऐसा दिखाई देता है। समझ में आया? अथवा वह निमित्त है, वह यहाँ नैमित्तिक पर्याय के साथ जुड़ा हुआ है — ऐसा व्यवहारनय से दिखाई देता है, निश्चय से है नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। अभी तो सम्यग्दर्शन के काल में कैसी चीज होती है, वह बात कहते हैं। आहाहा!

अनादिकाल से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्ट है तो भी पुद्गल से.... **तथापि....** ऐसा होने पर भी **पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होनेयोग्य....** राग के साथ द्रव्यस्वभाव किंचित् स्पर्शित नहीं है। आहाहा! जो द्रव्य का स्वभाव है, वह तो त्रिकाल निरावरण है और अशुद्धतारहित है और उसमें कमी नहीं है, हीनता नहीं है, कमी-हीनता (नहीं)। वह तो परिपूर्ण ज्ञायक आनन्दकन्द ध्रुव पूर्ण पड़ा है। आहाहा! यह तो थोड़ा अभ्यास चाहिए। यह तो कॉलेज है, थोड़ा अभ्यास हो तो बाद में यह समझ में आता है — ऐसी चीज है। आहाहा! पुद्गल के साथ किंचित् भी स्पर्श न होने योग्य.... राग के साथ जरा भी उसका द्रव्यस्वभाव स्पर्शित नहीं है। आहाहा! भगवान द्रव्यस्वभाव को राग के साथ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है। है?

श्रोता : यह तो त्रिकाली स्वभाव की बात है, पर्याय में तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, पर्याय में था परन्तु पर्याय में है, यह दृष्टि छोड़ दे क्योंकि वह अभूतार्थ है, कायम रहने की चीज नहीं है। उसकी दृष्टि से द्रव्यस्वभाव का अनुभव नहीं होता, पर्यायदृष्टि से आत्मा का सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है भाई! क्या हो? अभी तो गड़बड़-गड़बड़ चलती है। वे पण्डित और बड़े-बड़े साधु कहते हैं — बस, व्यवहार करो, व्यवहार से निश्चय हो जायेगा; राग की क्रिया करो, निश्चय हो जायेगा.... बिल्कुल झूठ मिथ्यात्व है। उसी प्रकार यह सब कृषि पण्डित, यह संसार के सेठ, वहीं के वहीं घुस गये हैं, निवृत्ति नहीं लेते हैं। आहाहा!

श्रोता : आप इनको द्रव्य का पण्डित बना दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कृषि पण्डित हैं न? आहाहा! यहाँ तो अन्दर खेती करे, कर्म

कृषे सो कृष्ण कहिये। जो राग का नाश कर दे और अपनी चीज को-खेत को सम्यग्दर्शन को खलिहान करके ***खेड़े*** उसे कृष्ण और उसको कृषि कहते हैं। आहाहा! राग के पुण्य के विकल्प की कृषि छोड़कर... ऋषभकुमारजी! अन्दर ज्ञायक चिदानन्द परमात्मा आनन्द का नाथ प्रभु पूर्ण आनन्द का दल, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड.... जैसे पचास मण की बर्फ की शिला होती है, पचास मण की बर्फ की शिला मुम्बई में बहुत होती है। वैसे भगवान आनन्द और शीतलता की पूर्ण शिला अन्दर है। उसका अनुभव करने पर यह सब व्यवहार आदि पर्याय सब अभूतार्थ है। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! इसने कभी किया नहीं। अनन्त काल से नौवें ग्रैवेयक में द्रव्यलिंग धारण (करके गया)—

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥

यह पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण दुःख है, राग है, आस्रव है, दुःख है, जहर है।

श्रोता : पाप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह यहाँ-यहाँ वह बात तो यहाँ चलती है। ऐसा जहर का प्याला तो अनन्त बार पिया। आहाहा! महाव्रत लिये, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, नग्न दिगम्बर, जंगल में बसे। आहाहा! उससे क्या हुआ?

अभी तो ठीक, अभी तो बेचारे! व्यक्तिगत की कोई बात नहीं। यहाँ तो तत्त्व की बात है। यह तो वस्तुस्थिति ऐसी है। आहाहा! भगवान आत्मा अपने पर का किंचित् सम्बन्ध नहीं है, निमित्त-निमित्त सम्बन्ध भी नहीं। वह तो पर्याय के साथ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। राग का-कर्म का निमित्त का सम्बन्ध एक समय की पर्याय के साथ वह निमित्त और नैमित्तिक सम्बन्ध है। वस्तु में कोई निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह किंचितमात्र भी स्पर्शित न होते हुए... ओहो! भगवान द्रव्यस्वभाव! अनावरण स्वभाव! आहाहा! आवरणरहित, अशुद्धतारहित, पर्यायरहित... आहाहा! ऐसा आत्मा का स्वभाव, वह अपने, पर से न होने योग्य **आत्मस्वभाव के समीप जाकर....** यह क्या कहते हैं? राग के प्रेम में आत्मस्वभाव से दूर होता है। चाहे तो व्यवहाररत्नत्रय का

— देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा का वह भी राग और उस राग में जब प्रेम है, तब आत्मा से दूर वर्तता है। अब उस राग का प्रेम छोड़कर स्वभाव के समीप जाकर... जा अन्दर, आहाहा! ऐसी बात है भाई! है?

बँधनेयोग्य पुद्गल **किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य....** किंचित् भी स्पर्शित न होने योग्य। आहाहा! राग आदि का — दया, दान, देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा, देव-गुरु का ज्ञान अथवा ग्यारह अंग का ज्ञान और पंच महाव्रत का परिणाम, इन सब भेद को किंचित् नहीं स्पर्श करता हुआ, द्रव्य... आहाहा! ऐसा मार्ग वीतरागमय, तीन लोक के नाथ, जिन्हें इन्द्र सुनने आवें — एक भवावतारी इन्द्र, शक्रेन्द्र एक भवावतारी है। बत्तीस लाख विमान का स्वामी है। शास्त्र में पाठ है एक भवावतारी। एक भवावतारी, मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है, उसकी इन्द्राणी, करोड़ों में एक इन्द्राणी ऐसी है कि वह भी एक भव करके मोक्ष जानेवाली है, वे एक भवावतारी इन्द्र-इन्द्राणियाँ और मति-श्रुत -अवधिज्ञानवाले (भी) भगवान (तीर्थंकरदेव) के समीप सुनने जाते हैं, वह बात कैसी होगी?

श्रोता : भगवान के पास जाने की महिमा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प आया है, ऐसा आता है न सुनने को, सुनने को आता है या नहीं। भगवान के पास जाते हैं, अभी इन्द्र-इन्द्राणी। भगवान महाविदेह में विराजते हैं, मनुष्यक्षेत्र में, पाँच सौ धनुष की देह दो हजार हाथ ऊँची, करोड़ पूर्व की आयु, विराजते हैं (सीमन्धर भगवान) विराजते हैं वहाँ जाते हैं। आहाहा! भाई! तो वह धर्म कथा कैसी होगी? आहाहा! वे अवधिज्ञानी इन्द्र उसे सुनते हैं, चार ज्ञान के धारक गणधर, उस वाणी को सुनते हैं। आहाहा! भाई! यह कोई अलौकिक बात है। आहाहा! क्या?

श्रोता : भगवान यही बात कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे भगवान यह कहते हैं। ये सन्त आडतिया होकर सर्वज्ञ का माल जगत को बतलाते हैं। आहाहा!

बद्धस्पृष्टता असत्यार्थ है.... है? आहा! आत्मस्वभाव के... आत्मस्वभाव, आहाहा! आत्म स्व-भाव, वे बद्धस्पृष्ट आदि पर्याय आत्मस्वभाव नहीं है। आत्म स्व-भाव... आहाहा! जो ज्ञायक आत्मा उसका ज्ञायकस्वभाव, आहाहा! आनन्दस्वभाव, शान्तस्वभाव,

अकषायस्वभाव, वीतरागस्वभाव, निर्विकल्पस्वभाव, सामान्यस्वभाव, सदृशस्वभाव एकरूप रहनेवाला स्वभाव... आहाहा! ऐसे आत्मस्वभाव के... जो आत्मा जैसा नित्य है — ऐसा उसका स्वभाव भी नित्य कायम है। आहाहा! जैसे, द्रव्य नित्य है तो उसका स्वभाव भी नित्य है। आहाहा!

आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर.... आहाहा! पूर्ण आनन्द प्रभु के समीप जाकर, राग से हटकर, पर्यायबुद्धि छोड़कर, द्रव्यबुद्धि में समीप जाकर... आहाहा! भगवान को साक्षात् करने को साथ — समीप जाकर अनुभव करने पर वह बन्ध और राग आदि सम्बन्ध वह सब झूठा है, अभूतार्थ है। है अवश्य, हाँ! यह तो अपेक्षा से झूठा कहा। पर्याय नहीं — ऐसा नहीं परन्तु पर्याय त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से अभूतार्थ कही गयी है। पर्याय नहीं है — ऐसा माने तब तो वेदान्त हो जाता है। समझ में आया?

परन्तु यहाँ पर्याय का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली को (लक्ष्य में) लेकर पर्याय को अभूतार्थ कहा गया है। है तो पर्याय है और राग का सम्बन्ध भी पर्यायदृष्टि से है परन्तु अनुभव — स्वभाव के समीप जाना है, तब उसको छोड़कर.... आहाहा! ज्ञायक भगवान पूर्णानन्द का दल, शुद्धचैतन्यघन द्रव्यस्वभाव (है)। पर्यायबुद्धि छोड़कर द्रव्यबुद्धि में समीप जाकर... आहाहा! देखो, यह सम्यग्दर्शन! आहाहा! उस आत्मस्वभाव के समीप जाकर... राग के प्रेम में और पर्याय के प्रेम में तो पर्यायमूढ़ जीव, आत्मस्वभाव से दूर था। आहाहा! और उस पर्याय का अंश है, वह भी बुद्धि छोड़कर... 'पर्यायमूढा परसमया' कहा है। प्रवचनसार, ज्ञेय अधिकार ९३ गाथा पहली — 'पर्यायमूढा परसमया' — तो एक समय की पर्याय में भी जिसको रुचि है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वह बुद्धि छोड़कर सम्यग्दर्शन पाना हो तो... सम्यक् अर्थात् सत्य दर्शन, तो सत्य जो पूर्णानन्द प्रभु सत्य है, उसकी प्रतीति और अनुभव करने पर सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! काम बहुत कठिन है, बापू! भाई! जन्म-मरणरहित होने की चीज कोई अलौकिक है। आहाहा! गोदिकाजी!

श्रोता : सम्यग्दर्शन की क्या रीति है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विधि है। पैसा-वैसा इकट्ठा करके अमुक के लिये दान में

देना (उससे) कुछ धर्म होता है — ऐसा कुछ नहीं है। महीने में पाँच लाख कमाये और कहे दो लाख दो। इतने अधिक तो न दे परन्तु लाख-दो लाख दे तो यह तो ऐरण की चोरी और सुई का दान (जैसी बात है)।

श्रोता : नहीं देने की अपेक्षा तो ठीक है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह, नहीं, ठीक-बिक बिल्कुल नहीं।

श्रोता : चोरी कहाँ है, कमाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने कमाया? यह राग चोरी है। राग को अपना मानना, वह चोर है। मोक्ष अधिकार में आता है — चोर है, गुनहगार है। राग-शुभराग वह मेरा, वह तो चोर है। अपनी चीज नहीं, उसे अपनी मानना वह चोर है। आहाहा! मोक्ष अधिकार में लिया है... अपराधी है। आहाहा! शुभराग वह जहर है, विषकुम्भ है — ऐसा लिया है। मोक्ष अधिकार.... शुभराग — देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग, पंच महाव्रत का राग विषकुम्भ है, जहर का घड़ा है। क्यों? यह भगवान अमृत के सागर से विरुद्धभाव है। आहाहा!

अरे! परम सत्य बात सुनने को मिले नहीं, वह कहाँ सत्य की ओर जायेगा? समझ में आया? देह का नाश तो एक समय में होगा। आहाहा! लो, वे शोभालाल है न, उनकी तबियत बहुत नरम है, अब वे तो कितने करोड़ाधिपति हैं। शोभालाल भगवानदास! सीरियस हैं — ऐसा कल कहते थे भाई! हमारे ऋषभकुमारजी (कहते थे)। ऐसी स्थिति तो देह की है। बापू! वह राग जहाँ नाशवान है तो फिर शरीर की बात तो क्या करना? आहाहा! अरे! परमात्मा तो ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञान की पर्याय भी नाशवान है, क्योंकि एक समय रहती है। आहाहा! केवलज्ञान भी व्यवहारनय का विषय है। केवलज्ञानी को (नय) नहीं, नीचे साधक जीव को... अंश है न? वह सद्‌भूतव्यवहारनय का विषय है तो व्यवहार है, वह अभूतार्थ है। आहाहा! मार्ग बहुत (अलौकिक) बापू! परन्तु अभूतार्थ का अर्थ ऐसा नहीं कि वह पर्याय नहीं है — ऐसा नहीं है। परन्तु त्रिकाल का आश्रय लेने की अपेक्षा से एक समय की चीज को अभूतार्थ नाशवान कहा है परन्तु नाशवान कहा है, इसलिए वह पर्याय है ही नहीं — ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

यह कहते हैं, देखो! **आत्मस्वभाव के समीप....** समीप, समीप... आहाहा! जो पर्याय का प्रेम है, राग का प्रेम है, वह अभूतार्थ है। उसे लक्ष्य में से छोड़ दे और भगवान त्रिकाली स्वभाव पड़ा है, उसके समीप जा; जो दूर था उसके समीप जा। आहाहा!

श्रोता : कितना मील चलना पड़ेगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक समय में गति बदलना पड़ेगी। कितना मील ऐसा कि चलना पड़े? एक समय में गति बदलना पड़ेगा, कहा। वह आता है न? प्रज्ञाछैनी 'रभसात्' प्रज्ञाछैनी में ऐसा कि... एक समय में आता है। प्रज्ञाछैनी! १८१ कलश, है? यह है ही न? समयसार है। यह तो १८१ है, देखो! कितने कलश में है? १८१ कलश है।

यह तो हिन्दी, हिन्दी है, हाँ! ४१४ पृष्ठ आया, यहाँ आया ४१४ देखो, क्या कहते हैं? '**रभसात्**' है, देखो '**रभसात्**' शीघ्र — कलश टीका में एक समय लिया है, '**रभसात्**', है? **आत्म-कर्म-उभयस्य सूक्ष्मे अन्तःसन्धिबन्धे** 'रभसात्' पड़ती है, एक समय में पड़ती है, एक समय! यहाँ तो अभी शीघ्र लिया, कलश टीका में एक समय लिया है। समझ में आया? यह कलश टीका है न? यह 'रभसात्' देखो।

'**रभसात्**' अति सूक्ष्मकाल में — एक समय में पड़ती है। क्या कहा यह? कि राग और पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभाव सन्मुख में जाना, उसमें एक समय लगता है। आहाहा! फिर ख्याल में भले असंख्य समय में आता है इसे, परन्तु भेद पड़ जाता है और स्वभाव की दृष्टि होती है तो एक समय में समयान्तर हो जाता है। आहाहा। 'रभसात्' लिया है, एक समय, बस! आहाहा! जैसे एक समय में भेद आदि और पर्याय आदि है तो उसे छोड़कर द्रव्य के समीप जाना, एक समय में जाना है। आहाहा! क्या कहा? एक समय की पर्याय की रुचि छोड़कर, एक समय में द्रव्य के समीप जाना पड़ता है। आहाहा! सूक्ष्म है भाई! सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का विषय कोई अलौकिक चीज है।

अभी तो सारी बात (ऐसी चलती है कि) दया करो और यह करो, प्रतिमा ले लो... धूल में है नहीं तेरी प्रतिमा, ग्यारह ले लो... अब रामजीभाई तो कहते हैं उन्नीस प्रतिमा हैं तो उन्नीस ले लेना, उसमें क्या वस्तु है।

श्रोता : जितनी सत्य लगे उतनी ले ले।

पूज्य गुरुदेवश्री : ग्यारह ले ली न, दो ले ली न... धूल भी नहीं! अभी एक व्यक्ति कहता था। वह नहीं वह कहता था? गुणधरलाल, गुणधरलाल कहता है कि मुझको प्रतिमा तो दी परन्तु मेरे पास तो आयी नहीं, कहते हैं। लो, प्रतिमा कहे — ऐसा चला था। व्रत, सबको व्रत देने लगे, सभा में आवे इसलिए तो (व्रत देने लगे) ओहोहो! सो, वह तो यहाँ आनेवाला था और गुजर गया। वह कहता है प्रतिमा मुझे दी थी परन्तु मेरे पास आयी नहीं, क्योंकि प्रतिमा तो किसे कहते हैं प्रभु? आहाहा! इस राग से भिन्न होकर आत्मा का एक समय में अनुभव हो और बाद में स्वरूप की स्थिरता का अंश बढ़ जाये — स्वरूप के आश्रय की स्थिरता का अंश बढ़ जाये, उसे प्रतिमा का विकल्प आता है, उसे व्यवहार कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

और जिसे स्थिरता इससे भी बढ़ जाये उसे महाव्रत का विकल्प आता है, वह भी दु:खरूप और राग है। आहाहा! अरे! यहाँ तो अभी एकदम प्रतिमा ली है। ऐसा लिया और ऐसा लिया और ऐसे पाँच में से सात ली और सात में से ग्यारह ली.... कहता था न? यहाँ कहता था एक व्यक्ति यहाँ, यहाँ कहता था एक व्यक्ति के आठ प्रतिमा तो है मेरे पास भी कोई भाव नहीं पूछते तो ग्यारह प्रतिमा लेना पड़ेगा कि लोग पूछे तो सही कि महाराज पधारो! पधारो! पधारो! आहार लो। यहाँ आया था एक व्यक्ति आठ प्रतिमावाला, परन्तु आठ प्रतिमा... हम क्षुल्लक नहीं, लंगोटी नहीं — ऐसा नहीं देखे न तो आहार लेने-देने को नहीं आते। अत: प्रतिमा लेते हैं तो आते हैं (कि) पधारो, पधारो गुरुजी पधारो! इसलिए ग्यारह प्रतिमा लेनी पड़ेगी (— ऐसा) कहता था। अर...र! अरे...रे! प्रभु! क्या करता है भाई! बापू! प्रतिमा कहीं ऐसे आती है, वह तो जब स्वरूप की स्थिरता जमती है... सम्यग्दर्शन होने के बाद शान्ति की स्थिरता आंशिक बढ़ती है, उसको प्रतिमा का विकल्प आता है। आहाहा! ऐसा का ऐसा ले ले... ?

यहाँ तो जवाब यह आया (कि) राग को और पर्याय को भी स्पर्श नहीं करता — ऐसा आत्मस्वभाव, आहाहा! भगवान, अमृतसागर से भरा प्रभु, ध्रुव आत्मस्वभाव अणीन्द्रिय ज्ञान, अणीन्द्रिय आनन्द, अणीन्द्रिय प्रभुता, अणीन्द्रिय स्वच्छता — ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाने पर, पर्याय की बुद्धि छोड़कर त्रिकाल भगवान के स्वभाव के समीप जाकर...

आहाहा! **अनुभव करने पर....** उस आत्मा का अनुभव करने पर बद्धस्पृष्ट झूठा है, पर्याय, पर्याय वह त्रिकाली में नहीं है। समझ में आया?

अनुभव है वह पर्याय है; सम्यग्दर्शन है वह पर्याय है परन्तु वह पर्याय, द्रव्य में नहीं है। आहाहा! परन्तु उस द्रव्य के समीप जाकर अनुभव करने पर (वैसी) पर्याय उत्पन्न होती है, वह पर्याय भी है परन्तु वह राग का सम्बन्ध आदि है, इसलिए उसको अभूतार्थ कह दिया और यहाँ तो अपने पहले आ गया है। चौदह के अर्थ में कि आत्मा वस्तु जो शुद्धचैतन्यघन.... भाई! यह बात नहीं बापू! यह शब्द सरल है। आहाहा! यह पूर्णानन्द का नाथ प्रभु परमात्मस्वरूप विराजमान आत्मा है, उस पर दृष्टि लगाना। आहाहा! वह दृष्टि है तो पर्याय, सम्यग्दर्शन भी है तो पर्याय, परन्तु पर्याय की दृष्टि ध्रुव पर लगाने से सम्यग्दर्शन होता है — ऐसा बोध है, भाई! आहाहा! है?

श्रोता : ध्रुव पर (दृष्टि) किस प्रकार लगाना?

समाधान : लगाना, कहते हैं मुँह फिराना ऐसा। वह किस प्रकार? मुँह फिराना, ऐसा मुँह और कर दे ऐसा। कैसे बदलना? परन्तु बदल दे। चन्दूभाई! इस पर्याय का लक्ष्य राग और पर्याय पर है तो पर्याय का आश्रय ऐसा बना दे। उस समय की पर्याय तो परसन्मुख है परन्तु द्रव्य में से लक्ष्य होकर नयी पर्याय सम्यग्दर्शन की हुई, यह पर्याय उस तरफ, (द्रव्यसन्मुख) झुकने से हुई — ऐसा कहा जाता है। आहाहा! उस समय द्रव्य में से सम्यग्दर्शन होता है, द्रव्य के आश्रय से (सम्यग्दर्शन होता है), तब वही पर्याय द्रव्यसन्मुख हुई — ऐसा कहा जाता है। आहाहा! बहुत कठिन बात भाई! यह सम्यग्दर्शन का अधिकार है, यह १४ वीं गाथा!

वह सम्यग्ज्ञान का बाद में आयेगा, चारित्र का तो पीछे कहीं.... सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान भी सच्चा नहीं; सम्यग्दर्शन बिना चारित्र-फारित्र वह सब बालव्रत और बालतप है। आहाहा!

श्रोता : गुरुदेव, पर्याय को बदलना, परसन्मुख है, उसे स्वसन्मुख करना, पर्याय को, वह किस प्रकार?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय को स्वसन्मुख करने का अर्थ? स्वसन्मुख, वह तो कहा न? जो पर्याय परसन्मुख है, वह तो हो गयी वहाँ....

श्रोता : लक्ष्य को स्वसन्मुख करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : करना, वह नयी पर्याय उत्पन्न करके स्वसन्मुख करना — ऐसा कहा जाता है।

श्रोता : करना वह तो मरना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। राग को करना वह मरना है; स्वसन्मुख करना, वह तो जीना (जीवन) है।

श्रोता : सम्यग्दर्शन की पर्याय को करना अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : करना, इस करना का अर्थ वह होता है। त्रिकाल (द्रव्य के) समीप जाने पर सम्यग्दर्शन की पर्याय होती है, तथापि उसका लक्ष्य पर्याय के ऊपर नहीं है — ऐसा है प्रभु! क्या हो? अरे! मार्ग की विधि का ही पता न हो, वह मार्ग में किस प्रकार जा सकेगा? आहाहा!

यहाँ वह कहा — बद्धस्पृष्ट की तरफ देखो तो व्यवहार पर्याय है, राग है, निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, परन्तु स्वभाव की दृष्टि से देखो तो वह बात अभूतार्थ — झूठ है। झूठ अर्थात्? पर्याय नहीं है — ऐसा नहीं है, परन्तु उसे गौण करके झूठ कहा है। आहाहा! और मुख्य करके भूतार्थ को सत्य कहा है। आहाहा! यह तो ग्यारहवीं गाथा में आया न? त्रिकाली को मुख्य करके निश्चय कहा और पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा।

इसमें कितनी बातें पहुँचना? नहीं तो पर्याय तो इसकी है, वह निश्चय है; गुण इसका है, वह निश्चय है; द्रव्य इसका है, वह निश्चय है; स्व, वह निश्चय; पर व्यवहार परन्तु यहाँ त्रिकाली ज्ञायक को भूतार्थ कहकर, मुख्य कहकर निश्चय कहा और पर्याय उसमें है, तथापि उसे गौण करके, व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा। आहाहा! अब ऐसा ज्ञान मिलता नहीं न! ऐसी बात है बापू!

श्रोता : हमने तो प्रवचन में यह सुना था महाराज! कि पर्याय का करना भी नहीं है, पर्याय का होना भी नहीं है — ऐसा सुना था।

पूज्य गुरुदेवश्री : करना-बरना नहीं है, यहाँ तो पर्याय होती है — ऐसा कहा न? द्रव्य के लक्ष्य से होती है — ऐसा कहा। आहाहा!

श्रोता : करना नहीं, होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव सन्मुख होते हैं तो पर्याय / सम्यग्दर्शन होता है, बस! सम्यग्दर्शन की पर्याय के प्रति सम्यग्दर्शन का लक्ष्य नहीं है। क्या कहा? सम्यग्दर्शन की पर्याय के ऊपर सम्यग्दर्शन का लक्ष्य नहीं है; सम्यग्दर्शन की पर्याय का लक्ष्य ध्रुव के ऊपर है। अरे...रे! ऐसी बात है मूल... अभी बहुत गड़बड़ हो गयी है।

श्रोता : बहुत गड़बड़ निकल गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वह कहा लो, एक बोल हुआ यह। पाँच में से... पाँच बोल हैं न, अबद्धस्पृष्ट.... अबद्धस्पृष्ट की एक की व्याख्या की, समझ में आया? **दूसरा,**

जैसे मिट्टी का ढक्कन, घड़ा, झारी इत्यादि पर्यायों से अनुभव करने पर अन्यत्व (भूतार्थ है-सत्यार्थ है।....) पर्याय में अन्य-अन्यपना सत्य है... मिट्टी में से जो घड़ा होता है, झारी होती है, अन्य-अन्य, अन्य है। **तथापि सर्वथा अस्खलित....** मिट्टी स्खलित होकर पर्याय में नहीं आती। आहाहा! सामानय मिट्टी है वह **सर्व पर्याय भेदों से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले....** सामान्य मिट्टी है, वह पर्याय में स्खलित होकर आती है? आती ही नहीं कभी। आहाहा! यह झारी और घड़ा आदि होता है, उसमें मिट्टी नहीं आती, वह तो पर्याय है, पर्याय में सामान्य नहीं आता। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! परन्तु **एक मिट्टी के स्वभाव के किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाला....** सर्व पर्याय भेदों से भिन्न और एक मिट्टी के स्वभाव, देखो! मिट्टी का स्वभाव एकरूप-सामान्यरूप रहना है, (उसके) समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व झूठा है। अन्य-अन्य मिट्टी की अवस्थाएँ वे झूठी हैं।

इसी प्रकार आत्मा में उतारेंगे....! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६८ गाथा-१४ दिनाङ्क २५-०८-१९७८ शुक्रवार
श्रावण कृष्ण ७, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, १४ वीं गाथा। पहले यह कहा है कि जो आत्मा है, अबद्ध है, राग के साथ जो बंध दिखता है, वह पर्यायनय का — व्यवहारनय का विषय है परन्तु यह अन्दर स्वरूप है, वह तो अबद्ध है। निरावरण, अखण्ड, एक, अविनाशी, परम पारिणामिक परमभाव लक्षण, निज परमात्मद्रव्य, वह एकरूप वस्तु है, वह अबद्ध है। आहाहा! उस पर दृष्टि लगाना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! पाँच बोल तो क्रम से समझायेंगे। वहाँ पाँच बोल क्रम नहीं पड़ता। क्या कहा? पाँच बोल — अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियतं, अविशेषं, असंयुक्तम् — ये पाँच बोल तो क्रम से समझाते हैं, परन्तु जब अन्दर सम्यग्दर्शन होता है, तब एक साथ ही पाँच का अभाव अन्दर बद्ध आदि का अभाव होता है।

कर्म का सम्बन्ध बन्ध; अन्य-अन्य गति जो नारकी आदि दिखती है, वह भी अन्तर में अबद्ध दृष्टि, दृष्टि होने पर सब अनेकपने का अभूतार्थ होता है और एक स्वरूप पर दृष्टि देने से वह निश्चय भूतार्थ है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। इससे पहले अबद्ध का दृष्टान्त दिया — कमलिनी का (दृष्टान्त दिया)।

दूसरा मिट्टी का दृष्टान्त — मिट्टी में जो घड़ा, झारी आदि पर्याय होती हैं, वह है, परन्तु मिट्टी का स्वभाव एकरूप देखने से वह सब पर्याय अभूतार्थ है। यह तो दृष्टान्त हुआ। सिद्धान्त, है? **इसी प्रकार आत्मा का....** भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप ध्रुव का, **नारक आदि पर्यायों से अनुभव करने पर....** गति नरक है, मनुष्य है, देव है, तिर्यंच है — ऐसी गति की पर्याय से देखो तो अनेकपना दिखता है, यह पर्यायनय का विषय है, परन्तु उसे देखने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा! नारक आदि पर्यायों से 'अनुभव' शब्द से ज्ञान करने से, अनुभव अर्थात् ज्ञान / जानना; ज्ञान करने पर **पर्यायों से अन्य-अन्य रूप से....** नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देव गति, अन्य-अन्य है। इस अपेक्षा से सत्य है।

तथापि.... तो भी आहाहा! सर्वतः **अस्खलित....** भगवान ज्ञायकदेव स्वरूप अपने स्वभाव से गति में स्खलित नहीं हुआ है। आहाहा! त्रिकाल सदा निरावरण भगवान

आत्मा अपने स्वभाव से कभी स्खलित (नहीं हुआ है), गति आदि में नहीं आया है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म है भाई! यह बात करना.... बोलना वह कोई दूसरी चीज है। आहा!

नरकगति, मनुष्यगति, देवगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, पर्यायनय से देखो तो यह अनेकपना है परन्तु वह तो वर्तमान एक अंश की दृष्टि से देखने से व्यवहार है। वह भी व्यवहारनय, परन्तु वह बात त्रिकाल सत्य नहीं है, वह चीज आत्मा में त्रिकाल टिक सके — ऐसी चीज नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा अपना सर्वतः अस्खलित चिद्घन ध्रुव ज्ञायकभाव, वह अपने स्वभाव से कहीं स्खलित (होकर) किसी गति में नहीं आया। आहाहा! समझ में आया?

सर्व पर्यायभेदों से किंचित्मात्र भेदरूप न होनेवाले.... वस्तु जो द्रव्यस्वभाव है, वह नरकगति आदि में किंचित् भी अन्यत्व नहीं हुआ है। अर..र...! यह तो पर्याय में अन्यत्व है। आहाहा! सूक्ष्म विषय है! सम्यग्दर्शन और उसका विषय (बहुत सूक्ष्म है)। सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प दृष्टि है और उसका विषय सर्वतः अस्खलित चिद्घन ध्रुवस्वभाव जो कभी अपने स्वभाव में से गति की पर्याय में नहीं आया, जो ऐसी चीज है। आहाहा!

सर्व पर्यायभेदों से किंचित्मात्र भेदरूप न होनेवाले.... आहाहा! नरकगति या मनुष्यगति आदि हुई, परन्तु अपना त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव से किंचित् भी गति में भेदरूप नहीं हुआ। आहाहा! अब यह चीज अभी समझना कठिन पड़े, उसकी प्राप्ति करना... (वह तो) अपूर्व पुरुषार्थ है, भाई! आहाहा! और प्रथम कर्तव्य तो वही है। आहाहा!

सर्वतः अस्खलित.... सर्व पर्यायों में,... अस्खलित का अर्थ किया किंचित्मात्र भी अन्यरूप से नहीं हुआ। आहाहा! है? **अन्यत्व अभूतार्थ है...** किंचित्मात्र भेदरूप नहीं होना। आहाहा! गति अर्थात् यह मनुष्य शरीर नहीं, अन्दर मनुष्य की गति का उदय जो गतिपना है, नामकर्म का निमित्त है और जो गतिपना है, उस पर्याय में ज्ञायकभाव त्रिकाली शुद्ध चैतन्य, जो सम्यग्दर्शन का विषय है, वह अपने स्वभाव में से अस्खलितपना — कभी गति की पर्याय में आया नहीं है। आहाहा!

कितने ही कहते हैं न कि मनुष्य की गति हो तो केवलज्ञान होता है। मनुष्यगति में

केवलज्ञान होता है परन्तु वह बात झूठ है। आहाहा! अपना अकेला ज्ञायक ध्रुव अस्खलित, जो गति की — किसी भी गति की पर्याय में ध्रुव ज्ञायकस्वभाव नहीं आया। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है और उसके आश्रय से चारित्र होता है और उसके आश्रय से केवलज्ञान होता है। किसी संहनन से, मनुष्यपने से केवलज्ञान होता है — ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

बापू! सत्य वस्तु बहुत दुर्लभ है। आहाहा! **सर्वतः अस्खलित....** चार गति में से — एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, मनुष्य, देव, नारकी आदि पर्याय में आया, परन्तु वह वस्तुस्वभाव पर्याय में कभी नहीं आया। आहाहा! एक ध्रुवस्वरूप, एकरूप सदृशस्वरूप, नित्यानन्द प्रभु अपने स्वभाव में से किंचित्मात्र गति में स्खलित नहीं हुआ है। आहाहा! समझ में आया?

वह **एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर....** क्या कहते हैं? गति की पर्याय के समीप जाकर उस पर्याय का ज्ञान होता है और वह मैं हूँ — (ऐसा मानना) वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वह पर्याय – गति की पर्याय है, उसकी समीपता से दूर होकर (अर्थात्) पर्यायबुद्धि में से निकलकर, आहाहा! आत्मा जो ज्ञायक चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु है, उसके समीप जाकर **अनुभव करने पर....** त्रिकाली ज्ञायकभाव के समीप अर्थात् दृष्टि करने से, उसका स्वीकार और सत्कार करने से, उसका अनुभव करने से... आहाहा! ऐसा है प्रभु! **अन्यत्व अभूतार्थ है....** यह अन्य-अन्य गति जो पर्याय है, वह झूठ है। पर्याय, पर्यायरूप से है परन्तु स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से पर्याय झूठ है। झूठ है अर्थात् पर्याय नहीं थी — ऐसा नहीं है। (पर्याय) है तो सही, परन्तु वह व्यवहारनय का — खण्ड-खण्ड का ज्ञान करने का विषय है। आहाहा! और भगवान आत्मा ज्ञायक अस्खलित चैतन्यस्वरूप अनादि-अनन्त एकरूप रहनेवाली चीज, उस अभेद पर दृष्टि करने से वह पर्याय के भेद भी झूठे हैं। आहाहा!

श्रोता : पर्याय के भेद झूठे हैं अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद, वह दृष्टि का विषय नहीं है। अतः पर्याय गौण करके उसे झूठा कह दिया है। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! धर्म चीज कोई अलौकिक है। आहाहा!

इस पर्याय की दृष्टि से द्रव्यदृष्टि नहीं होती, पर्याय के लक्ष्य से द्रव्यदृष्टि नहीं होती। इसी अपेक्षा से द्रव्य अर्थात् ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप के समीप जाकर अर्थात् उसका सत्कार, स्वीकार करने से और त्रिकाली ज्ञायकभाव के सन्मुख होने से अनुभव करने पर वह पर्याय का भेद गौण हो गया है; अतः वह अभूतार्थ है। आहाहा! उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

श्रोता : पर्याय के भेद तो ज्ञान में आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बाद में भेदज्ञान में दर्शन हुआ, उसके साथ जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान स्व को भी जानता है और पर्याय के भेद को भी जानता है। बाद में जानने में दो हैं परन्तु सम्यग्दर्शन में दो, दृष्टि के विषय में (दो) नहीं हैं। अरे! ऐसी बात है भाई! आहाहा! समझ में आया?

यह चैतन्याकार, एक चैतन्याकार, एक चैतन्यस्वरूप स्वभाव, एक चैतन्यस्वभावरूप आत्मस्वभाव, अथवा चैतन्यस्वरूपरूप आत्मस्वभाव.... आहाहा! उसके समीप जाने पर — अनुभव करने पर यह अन्यत्व झूठा है। अन्य — अन्यपना झूठा है; भगवान तो अनन्य है; अन्यत्व, अन्यत्व में नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? गति आदि की पर्याय अन्य-अन्य है, उसमें अनन्य प्रभु अन्यत्व में नहीं आता। अरे! यह क्या है, यह बात! कहते हैं।

अभी मूल चीज और मूल चीज का विषय, पूरी बात में मानो फेरफार हो गया है। यह करो और वह करो, यह करो और शास्त्र पढ़ो, शास्त्र पढ़ो और भक्ति करो, पूजा करो, व्रत करो, तप करो, और.... आहाहा! भाई! तुझे पता नहीं, प्रभु! यह सब क्रिया का विकल्प है, वह तो राग है और राग से प्रभु तो अबन्ध है, राग से सम्बन्ध अर्थात् बन्ध नहीं है। स्वभाव में राग का सम्बन्ध, सम्बन्ध (नहीं है)। समझ में आया? क्या कहा? कि भगवान ज्ञायकस्वभाव एकरूप चैतन्यस्वरूप आत्मस्वभाव की दृष्टि करने से गति जो अन्य-अन्य है, वह उसमें नहीं। उसमें नहीं, इस अपेक्षा से उसे असत्यार्थ कहा गया है। समझ में आया?

पहले एक बार कहा था कि स्वद्रव्य की अपेक्षा से अन्य द्रव्य अद्रव्य है। क्या कहा? स्व आत्मा है, स्वद्रव्य; स्वद्रव्य अपनेरूप है, परद्रव्य से नहीं है और परद्रव्य,

परद्रव्य से है, अपने द्रव्य से नहीं है — तो इसका अर्थ क्या हुआ ? पहली चौभंगी.... सप्तभंगी में... अपने द्रव्य की अपेक्षा से अपने में है परन्तु अपने द्रव्य की अपेक्षा से दूसरा द्रव्य अद्रव्य है। आहाहा ! उसकी अपेक्षा से द्रव्य है परन्तु इस द्रव्य की अपेक्षा से अद्रव्य है। आहाहा ! और इस क्षेत्र से असंख्यप्रदेशी भगवान आत्मा, वह स्वक्षेत्र की अपेक्षा से अपना है और अपनी अपेक्षा से दूसरे का असंख्यप्रदेशी क्षेत्र जीव का और परमाणु का एक प्रदेशी क्षेत्र, वह अक्षेत्र है। अरे ऐसी बातें अब ! आकाश भी इस स्वक्षेत्र की अपेक्षा से अक्षेत्र है। चन्दुभाई ! ऐसी बातें हैं बापू ! क्या हो ? वस्तु की स्थिति (ऐसी है)।

श्रोता : आकाश तो बहुत बड़ा क्षेत्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत बड़ा क्षेत्र है (वह) उसमें है, इस क्षेत्र की अपेक्षा से तो अक्षेत्र है। उसके क्षेत्र की अपेक्षा से क्षेत्र हो। समझ में आया ? ऐसी बात ! बापू ! भगवन्त ! तेरी चीज ऐसी कोई है, वह उसकी लीला पर्याय में अनेकता दिखती है परन्तु वह वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। आहाहा !

इसी प्रकार काल की अपेक्षा से अपनी पर्याय के स्वकाल की अपेक्षा से अपना अपने में है और अपने पर्याय के स्वकाल की अपेक्षा से दूसरी पर्याय का काल परकाल है। आहाहा ! और इससे सूक्ष्म ले जाये तो त्रिकाली ज्ञायकभाव वह स्वकाल की अपेक्षा से अपना है और अपनी पर्याय की अपेक्षा से परकाल है, वह अपने में नहीं। समझ में आया ? यह यहाँ कहते हैं कि परकाल जो गति आदि है, हो; अपने द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से वह नहीं है। उसकी अपेक्षा से वह है। आहाहा ! यह जैनदर्शन बापू ! बहुत सूक्ष्म भाई ! आहाहा ! यह कोई पण्डिताई का — विद्वतता का विषय नहीं है, यह तो अन्तर्दृष्टि का विषय है। आहाहा !

हजार योजन का मच्छ-तिर्यंच भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, क्या जानपना था ? अस्खलित चैतन्यद्रव्य ज्ञायक ध्रुवस्वभाव की दृष्टि करने से वह सत्य है और पर्याय है, इस अपेक्षा से वह असत्य है। उसकी अपेक्षा से सत्य है; अपने द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से असत्य है। आहाहा !

जैसे 'भाव' अपना भाव जो अनन्त गुणरूप भाव है, वह अपनी अपेक्षा से सत्य है

और दूसरे जो अनन्त सिद्ध और उनका भाव केवलज्ञान आदि अन्दर गुणभाव, अपने भाव की अपेक्षा से वह अभाव है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे यहाँ, ज्ञायकभाव की दृष्टि अन्दर करने से वह सत्यार्थ, वही है और पर्यायभेद जितना गति आदि का है, वह असत्यार्थ है — ऐसा है प्रभु! क्या हो बापू! मार्ग बहुत बदल गया है, प्रभु! क्या करें? आहाहा! भगवान का विरह पड़ा है, केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं, लोगों ने स्वच्छन्दता से मार्ग चलाया है। आहाहा!

श्रोता : भगवान की वाणी तो रह गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है? यह मार्ग रह गया है। अन्दर वस्तु... आहाहा! परन्तु उसको एकान्त मानते हैं।

श्रोता : मानने दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वह एकान्त ही है। यह आयेगा, सम्यक् एकान्त ही है, पाँचवें बोल में आयेगा। यह तो अभी दूसरा बोल चलता है। आहाहा! ये दो बोल हुए।

अब तीसरा बोल। **जैसे समुद्र का हानि-वृद्धिरूप अवस्था से....** ज्वारभाटा... तुम्हारी भाषा में क्या? बाढ़... बाढ़ कहलाती है न? वह वृद्धि अपेक्षा से और हानि अपेक्षा से। **अनुभव करने पर....** अर्थात् ज्ञान करने पर। **अनियतता (अनिश्चितता भूतार्थ है)...** वह है। ज्वारभाटा होता है, वह बाढ़ आती है, घट जाती है। वह पर्याय की अपेक्षा समुद्र में वह है। आहाहा! **तथापि नित्य-स्थिर समुद्रस्वभाव....** ध्रुवस्वभाव समुद्र एकरूप रहनेवाला। जिसमें ज्वार-बाढ़ और हानि नहीं है — ऐसे समुद्र की एकरूप चीज को देखने से... आहाहा! **अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है- झूठ है।** उस समुद्र में जो बाढ़ आती है और घट जाती है, वह सब झूठ है। त्रिकाल की अपेक्षा-समुद्र के सामान्य स्वभाव की अपेक्षा वह बाढ़ आदि है वह सब झूठ बात है। समझ में आया? अरे ऐसी बातें हैं।

इसी प्रकार.... यह तो दृष्टान्त हुआ, अब आत्मा में.... आहाहा! **आत्मा का हानिवृद्धिरूप पर्यायभेदों से अनुभव करने पर....** आहाहा! पर्याय में अनन्त गुण-पर्याय विशेष होती है और वह घट जाती है — ऐसा अक्षर के अनन्तवें भाग पर्याय निगोद

में हो जाती है; केवलज्ञान पर्याय सर्वज्ञ को होती है — ऐसे पर्यायभेदों से देखो, आहाहा! तो अनियतता है अवश्य, अनियत अर्थात् अनिश्चय वस्तु है अवश्य, पर्यायदृष्टि से (है अवश्य)। आहाहा!

अब **तथापि नित्य-स्थिर....** नित्य का अर्थ स्थिर; स्थिरबिम्ब, ध्रुवबिम्ब अनन्त गुणराशि का पिण्ड प्रभु आहाहा! उसके **स्थिर-निश्चल आत्मस्वभाव के समीप जाने पर....** निश्चल आत्मस्वभाव जो एकरूप (है), पर्याय में नहीं आता। हानिवृद्धिरूप जो पर्याय होती है, उसमें वह एकरूप द्रव्य नहीं आता। आहाहा! अक्षर के अनन्तवें भाग पर्याय हो तो भी द्रव्य तो पूर्ण ही पूर्ण ही पड़ा है और केवलज्ञान की पर्याय हो तो भी द्रव्य तो परिपूर्ण ही है। अतः इतनी पर्याय बाहर आयी तो वहाँ न्यूनाधिकता हो गयी है — ऐसा नहीं है। आहाहा! केवलज्ञान की पर्याय एक समय की, वह भी एक समय की पर्याय है। पर्याय की अवधि ही एक समय है। द्रव्य और गुण की अवधि त्रिकाल है। आहाहा!

तो कहते हैं कि केवलज्ञान (में) तीन काल-तीन लोक को अपनी पर्याय में जानने में, वह जानने में आ जाता है। ऐसी वह पर्याय होने पर भी, द्रव्यस्वभाव में कुछ कमी हुई है — ऐसा नहीं है। इतनी पर्याय बाहर आयी और अन्दर कमी नहीं? बापू! यह कोई अलौकिक चीज है। आहाहा! वह पर्याय इतनी ताकतवाली बाहर आयी तो अन्दर में से कुछ हीनाधिकता होगी या नहीं? भगवान! मार्ग तो बहुत अलौकिक है, भाई! आहाहा!

वह द्रव्यस्वभाव एकरूप त्रिकाल है। एक है न? **नित्य स्थिर आत्मस्वभाव के समीप जाकर,....** नित्य स्थिर एकरूप है, चाहे तो केवलज्ञान हुआ हो और चाहे तो अक्षर के अनन्तवें भाग हो और चाहे तो चार ज्ञान और अवधिज्ञान आदि हो, परन्तु वह वस्तु तो उसमें आती नहीं। आहाहा! उस पर्याय में, जो त्रिकाली वस्तु है, वह नहीं आती। आहाहा! और त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करना, उसकी दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन की गाथा है।

अभी तो कोई (ऐसा कहते हैं कि) देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करो, नव तत्त्व के भेद की श्रद्धा करो (वह) समकित! अर...र...! बापू! तुझे पता नहीं, भाई! आहाहा! नव तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा का अनुभव तो मिथ्यात्व है। भेदवाली, हाँ! ऐसे नव तत्त्व तत्वार्थसूत्र

में कहे हैं, वहाँ तो एकवचन है, वहाँ बहुवचन नहीं हैं। तत्वार्थसूत्र में जीव-अजीव, आस्रव-बन्ध (संवर-निर्जरा) मोक्ष एक वचन है। यह नौ का एक वचन, यह अभेद होकर जानता है। समझ में आया ? आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि पर्याय में हीनाधिक दशा... आहाहा ! अगुरुलघुत्व के कारण और पर्याय के धर्म के कारण (हीनाधिक दशा है)। पर्याय अधिक हो, सामान्य हो, थोड़ी हो, विशेष हो — ऐसे प्रकार हो पर्यायदृष्टि से (हों) परन्तु वस्तु की दृष्टि से देखो (तो) भगवान एकरूप चैतन्यसूर्य भगवान चैतन्यसमुद्र अन्दर पड़ा है। आहाहा ! जैसे, उस समुद्र में पर्याय की ज्वार-बाढ़-वृद्धि है नहीं, वैसे ही भगवान में यह पर्याय-हीनाधिक की पर्याय अन्दर में है नहीं और हीनाधिक पर्याय में आत्मा आता नहीं — ऐसी बात है भाई ! आहाहा !

अरे ! ऐसा मनुष्यभव मिला और उसमें यदि यह नहीं किया तो प्रभु तेरा क्या होगा ? भाई ! आहाहा ! चौरासी लाख योनियों के अवतार... नाथ ! आहाहा ! यह दृष्टि का विषय -सम्यग्दर्शन के बिना यह (अवतार) हुआ, आहाहा ! यह सम्यग्दर्शन पर्याय को स्वीकार नहीं करता। सम्यग्दर्शन त्रिकाली ज्ञायकभाव को ही स्वीकार करता है। आहाहा ! समझ में आये ऐसा है प्रभु ! भाषा तो सादी है, भाव तो जो है, वह है। आहाहा !

कहते हैं कि पर्याय चाहे तो केवलज्ञान हो और चाहे तो मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के अक्षर के अनन्तवें भाग हो... भेद की अपेक्षा से पर्याय की दृष्टि से पर्याय है, आहाहा ! वह तो जाननेयोग्य है इतना। अब आदर करनेयोग्य चीज क्या है ? आहाहा ! त्रिकाली एकरूप... केवलज्ञान की पर्याय भी आदरणीय नहीं है, वह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। आहाहा ! अरे ! अरे ! केवलज्ञान निश्चयनय का विषय नहीं; निश्चयनय का विषय तो ध्रुव त्रिकाली ज्ञायकभाव, वह उसका विषय है। पण्डितजी ! आहाहा !

और आहाहा ! उस पर्याय में द्रव्य कभी आया ही नहीं है। आहाहा ! ऐसा द्रव्यस्वभाव अस्खलित (स्वभाव है)। उस पर दृष्टि देने से, वह वस्तु सत्यार्थ हो गयी और उसकी अपेक्षा से पर्याय का भेद असत्यार्थ हो गया। आहाहा ! समझ में आया ? सूक्ष्म है भगवान ! क्या हो प्रभु ? तेरी लीला तो देख ! आहाहा ! पर्याय में अनेकपना होने पर भी, भगवान ! तेरी एकरूप चीज है, वह कभी अनेक में नहीं आयी। आहाहा ! समझ में आया ? केवलज्ञान

की पर्याय में भी द्रव्य नहीं आता। सम्यग्दर्शन की पर्याय में, पूर्ण ज्ञायकभाव की प्रतीति और उसकी जितनी सामर्थ्य है, वह सब उस ज्ञानपर्याय में आता है परन्तु वह चीज पर्याय में नहीं आती। आहाहा!

जैसे अग्नि को देखने से अग्नि की उष्णता का ज्ञान यहाँ होता है परन्तु वह उष्णता यहाँ नहीं आती। समझ में आया? आहाहा! वैसे ही अपनी पर्याय में लोकालोक जानने पर भी पर्याय में लोकालोक नहीं आता — एक बात... और पर्याय में पूर्ण जानने की ताकत विकसित हुई तो उसमें द्रव्य नहीं आता। पर्याय में लोकालोक नहीं आता और पर्याय में द्रव्य नहीं आता। आहाहा!

श्रोता : पर्याय अकेली लटकेगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही समय की पर्याय... एक बार तो कहा था कि इस जगत् में एक समय की पर्याय, वही पूर्ण है बस! सम्पूर्ण द्रव्य-गुण को जानती है, अनन्त पर्याय को जानती है, लोकालोक-षट्द्रव्य की अस्ति है; इसलिए नहीं जानती (अपितु) उसका स्व पर-प्रकाशक (स्वभाव) होने से जानती है, एक समय की पर्याय में सारा सब आ गया। तथापि उसमें द्रव्य नहीं आया। द्रव्य का ज्ञान आया। आहाहा! ऐसी बात है भाई!

भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं, सन्त उसी प्रकार जगत के समीप बात रखते हैं, प्रभु! आहाहा! भाई! तुझे कार्य बहुत करना पड़ता, अन्तर्मुख जहाँ सारी — पूर्ण चीज है, वहाँ तुझे दृष्टि करना पड़ेगी, प्रभु! आहाहा! तब तुझे तेरी प्रभुता की प्रतीति होगी। समझ में आया? पर्याय तो पामर है! आहाहा!

श्रोता : पामर होने पर (भी) जानने की शक्ति तो है न?

समाधान : जानने की शक्ति भले हो परन्तु वह (पर्याय) पामर है। स्वामी कार्तिकेय में तो ऐसा कहा है कि समकितदृष्टि को ज्ञान-दर्शन-चारित्र की पर्याय हुई, तथापि वह कहता है कि प्रभु! मेरी पर्याय तो केवलज्ञान की अपेक्षा से पामर है। स्वामी कार्तिकेय में मूल श्लोक है। समझ में आया?

श्रोता : वह पर्याय पूर्ण सामर्थ्यवान् तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी द्रव्य के समक्ष पामर है। आहाहा! क्योंकि एक-एक

गुण में ऐसी केवलज्ञान की पर्याय तो अनन्त... अनन्त... अनन्त पर्याय एक गुण में शक्तिरूप पड़ी है। आहाहा! और ऐसे जो अनन्त गुण हैं, अनन्त गुण का एकरूप प्रभु भगवान द्रव्यस्वभाव (है), उसकी दृष्टि करने से वह सत्य है और पर्याय, वह दृष्टि का विषय नहीं; इसलिए वह असत्य है। आहाहा!

अब ऐसी बातें! इसमें क्या करना, क्या करना? — कुछ सूझ नहीं पड़ती — ऐसा कहते हैं। ऐसा कि ऐसा करना और वैसा करना... आहाहा! भाई! स्वसन्मुख होना, वह (कुछ) करना नहीं है? स्व अर्थात् परिपूर्ण भगवान आत्मा... आहाहा! उसकी दृष्टि करने से — आत्मस्वभाव त्रिकाली के समीप जाकर... आहाहा! **समीप जाकर....** भाषा तो देखो!

टीका तो टीका है। आहाहा! भरतक्षेत्र में ऐसी टीका कोई है नहीं। आहाहा! गजब बात है! सर्वज्ञ अनुसारिणी... ऐसे शास्त्र की रचना हो गयी है। आहाहा! यह आत्मा.... इस टीका का नाम आत्मख्याति है न? इस टीका का नाम आत्मख्याति है, यह समयसार.... अतः आत्मख्याति अर्थात् प्रसिद्धि हुई।

स्वभाव त्रिकाल है, उसकी दृष्टि करने से आत्मा कैसा और कितना है? उसकी प्रसिद्धि श्रद्धा में आ गयी और ज्ञान की पर्याय में उसका ज्ञेय कितना है? — वह आ गया। आहाहा! इस राग की पर्याय में उसकी प्रसिद्धि नहीं आती। समझ में आया? राग स्वयं जड़ है, अचेतन है। उसमें ज्ञान के — चैतन्य के अंश का अभाव है। व्यवहाररत्नत्रय — चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा हो, चाहे तो पंच महाव्रत का परिणाम हो या शास्त्रज्ञान हो, विकल्पात्मक पर से पढ़ा (परलक्ष्यी ज्ञान) परन्तु राग, वह तो अचेतन है। बन्ध अधिकार में तो यहाँ तक कहा है कि जितना शास्त्रज्ञान है, पर का... वह शब्दज्ञान है। वह आत्मज्ञान नहीं — ऐसा लिया है। बन्ध अधिकार! वह ज्ञान शब्द का ज्ञान है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह शब्द है न? उसमें शब्द निमित्त थे न? और ज्ञान तो भले अपनी पर्याय में हुआ परन्तु वह शब्दज्ञान है, वह आत्मज्ञान नहीं। आहाहा!

बन्ध अधिकार में है। नव तत्त्व की श्रद्धा, वह नव तत्त्व की भेदरूप श्रद्धा है, अपनी नहीं। आहाहा! है उसमें? और छहकाय की रक्षा का भाव वह छहकाय जीव है, वह पर है, तेरी चीज नहीं। आहाहा! ऐसा वहाँ — बन्ध अधिकार में लिया है। आहाहा!

यहाँ तो इससे आगे बढ़कर... आहाहा! पर्याय में जो गति आदि है, अनियतता है, पर्याय में हीनाधिक दशा होती है, वह सब... पर्याय की दृष्टि से पर्याय है परन्तु वस्तु की दृष्टि करने से, अनुभव करने पर, सम्यग्दर्शन के विषय का अनुभव करने पर वह सब उसके विषय में नहीं आता, इस अपेक्षा से अभूतार्थ है। समझ में आया? अब ऐसा उपदेश, अब इसमें किस प्रकार (समझना)? आहाहा! दूसरी तो ऐसी बातें होती हैं कि ऐसा करो — व्रत करो, दया पालो, भक्ति करो, राग करो...

श्रोता : राग करने का उपदेश....

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्दिर बनाओ, गजरथ चलाओ.... ऐ...ई...! गोदिकाजी! यह पैसेवालों को तो ठीक दिखता है, कुछ पैसे से होता हो तो... बापू! कहीं नहीं भाई! यह पर की चीज कर नहीं सकता। मन्दिर बना नहीं सकता, गजरथ आत्मा चला नहीं सकता। रथ की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। उसमें भाव होता है वह शुभ हो, वह शुभराग बन्धन का कारण है। आहाहा!

श्रोता : आप प्रतिष्ठा तो कराते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कराता है? होती है। हमने तो कभी किसी से नहीं कहा कि यह करो; मन्दिर बनाओ, यह भी हमने तो कभी नहीं कहा। यह मकान भी बनाओ, हमने तो कभी नहीं कहा। स्वाध्याय मन्दिर बनता था तो कभी कहा नहीं कि यह बनाओ। मैंने तो ऐसा कहा था कि तुम बनाते हो परन्तु हमारी कोई विशेषता या वीतरागता बढ़ जाये तो हमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि हमें यहाँ रहना ही पड़ेगा। पहले से कहा था। हमने कभी कोई मकान बनाओ या ऐसा कुछ (नहीं कहा)। यहाँ करोड़ों रुपये का मकान हो गये हैं, अभी यहाँ.... कभी कहा नहीं। बनते हैं तो हम जानते हैं। है?

श्रोता : आपको इस मकान में रोक दिया, वीतरागता नहीं बढ़ने दी।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी ने नहीं रोका है।

श्रोता : पर पदार्थ रोकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया? अपने राग में.... वीतरागता न हो उस

कारण से राग में रुक गया है, मकान के कारण नहीं — ऐसी बात है प्रभु! क्या हो? आहाहा! यहाँ अब यह कहा।

भगवान निश्चल स्थिर प्रभु पड़ा है एकरूप! आदि-अन्तरहित, अकृत्रिम-नहीं किया हुआ — चीज (है)। पर्याय तो कर्ता होती है और भोक्ता होती है, वह चीज नहीं। त्रिकाली ज्ञायकभाव ध्रुवभाव, अविचलभाव, अविनाशीभाव, नित्यभाव, ध्रुवभाव, एकरूप भाव, सदृशभाव, सामान्यभाव को देखने से, उसके समीप जाने से तुझे सम्यग्दर्शन होगा और समीप जाने से यह सब पर्याय अभूतार्थ दिखेगी, उसमें नहीं आती। आहाहा! समझ में आया? तीन बोल हुए —अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत — तीन (बोल) हुए।

अब चौथा 'अविशेष', चौथा। **जैसे सोने का,....** सोना... सोना... स्वर्ण, **चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदों से....** इत्यादि गुणरूप भेदों से **(अनुभव करने पर)...** जानना करने पर, अनुभव अर्थात् ज्ञान करने पर। **विशेषता भूतार्थ है (सत्यार्थ है)....** उस सोने के जो अनेक चिकनापन आदि गुण हैं, वे विशेष से देखने से वे हैं, यह विशेष हुआ। गुणी के गुण का भेद विशेष हुआ। आहाहा! विशेष देखने से है परन्तु उसकी दृष्टि से सम्यग्दर्शन नहीं होता। यहाँ तो सोने की बात है। उसकी दृष्टि से सोना ख्याल में नहीं आता। समझ में आया? सोने के गुणभेद देखने से सोना ख्याल में नहीं आता। आहाहा!

तथापि.... तो भी **जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं....** आहाहा! चिकना, पीलापन, और सब विलय हो गये हैं, अकेला सामान्य सोना (को देखने से) विशेष को न देखने से विशेष विलय हो गये हैं। जिसमें — सामान्य है नहीं। **ऐसे सुवर्णस्वभाव के समीप जाकर अनुभव — ज्ञान करने पर विशेषता अभूतार्थ है (असत्यार्थ है).....** वह सोने की विशेषता-चिकनापन आदि झूठ है। एकरूप सोने में वह भेद नहीं है। समझ में आया? आहाहा! यह चौथा बोल जरा कठिन है।

इसी प्रकार आत्मा का, ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता है.... गुणभेद है, वह पर्यायनय का विषय है। व्यवहारनय का वह विषय है। आहाहा! **तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं....** सर्व जो अव्यक्त में कहा है

कि चैतन्य सामान्य में, चैतन्य की विशेष व्यक्तियाँ सब अन्तर्गत हो गयीं, पूर्व की पर्याय अन्तर्गत हो गयी, वर्तमान पर्याय भिन्न बाहर रही तो उस वर्तमान पर्याय से देखने में भूत और भविष्य की पर्याय चैतन्यसामान्य में अन्दर में घुस गयी। जैसे जल की तरंग जल में डूबत है.... आता है न? यह तो पूर्णरूप है — ऐसे चैतन्य सामान्य में जितनी पर्याय हुई... एक समय की बाहर-व्यक्त रही, बाकी सब पूर्व-भविष्य और भूत की तो अन्तर प्रविष्ट हो गयी। वे गुण में अभेदरूप हो गयी। आहाहा!

जैसे, जो ज्ञान का क्षयोपशम है, वह पर्याय है। एक समय की अवस्था (है)। दूसरे समय में वह अवस्था अन्दर में चली गयी तो बाहर में तो वह क्षयोपशम दशा थी। अन्दर गयी वहाँ क्षयोपशम नहीं रही, पारिणामिकभाव हो गयी। आहाहा! यह क्या है यह? समझ में आया?

श्रोता : नष्ट हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : नष्ट हो गयी परन्तु गयी कहाँ? नष्ट हुई किन्तु सत् थी न? वह कहीं असत् नहीं थी, परन्तु गयी कहाँ? वर्तमान में से गयी है परन्तु सामान्य में ऐसे गयी है।

श्रोता : बाहर नहीं रही।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पर्याय में नहीं है, अन्दर में है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

वह वर्तमान दशा — चाहे तो उदय की — राग-आदि हो, वह एक समय रहती है, दूसरे समय तो व्यय होता है। व्यय होकर कहाँ गयी? अस्ति है न, अस्ति थी न? उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् — अस्ति है। तीनों सत् है तो पर्याय भी उदय की थी, (वह) सत् थी। आहाहा! तत्वार्थसूत्र में तो उसे जीवतत्व कहा गया है। दूसरे अध्याय में (कहा है) राग आदि — दया, दान का विकल्प वह जीवतत्व है — ऐसा कहा है।

श्रोता : स्वतत्वं....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, स्वतत्व कहा है परन्तु एक समय में रहकर दूसरे समय में

चली जाती है। कहाँ? अन्दर में... परन्तु अन्दर में वह विकार नहीं चला जाता, किन्तु उसकी योग्यता अन्दर में चली जाती है — पारिणामिकभावरूप हो जाती है। आहाहा! गजब बात है भाई! समझ में आया?

इस प्रकार क्षयोपशमभाव की पर्याय एक समय की स्थिति है, दूसरे समय चली जाती है तो कहाँ जाती है? अन्दर में। तो अन्दर में क्षयोपशमभाव की पर्याय नहीं रही। अन्दर में गयी तो पारिणामिकभाव की दशा हो गयी। आहाहा! समझ में आया? इसी प्रकार क्षायिक-केवलज्ञान की पर्याय एक समय रहती है, दूसरे समय व्यय होती है तो गयी कहाँ? अन्दर। यहाँ तो क्षायिकभाव की थी, अन्दर गयी वहाँ पारिणामिकभाव हो गया।

श्रोता : अन्दर में पर्यायरूप कहाँ रही, द्रव्यरूप हो गयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्यायरूप नहीं, गुणरूप हो गयी।

श्रोता : पारिणामिकभाव में फेरफार हो जाये तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ फेरफार नहीं, निश्चय में तो फेरफार नहीं, व्यवहार से ऐसा कहने में आता है। पर्याय अन्दर से निकली और पर्याय अन्दर गयी, यह सब भेदनय से है। गजब है भाई! यह द्रव्य का स्वभाव अचिन्त्य है। आहाहा!

जैसे कहीं क्षेत्र का अन्त है? यह लोक तो असंख्य योजन में है, पीछे अलोक... आकाश कहाँ पूरा हुआ? पूरा हुआ तो पीछे क्या? भाई! कोई अलौकिक स्वभाव है, भाई! आहाहा!

श्रोता : कहीं तो अन्त होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं न कहीं अन्त है ही नहीं; इसलिए तो यह कहना है। आहाहा! अन्त है तो पीछे क्या? पीछे है या नहीं कुछ अन्त? भाई! यह तो अलौकिक बातें हैं बापू! आहा! एक नास्तिक व्यक्ति था, ठीक नहीं था, दीवान का लड़का था। मेरे पास आया तो पूछता था। मैंने कहा भाई! कहो, भले तुम्हें कोई बात न जँचे तो एक बात मैं ऐसी कहता हूँ कि यह क्षेत्र है क्षेत्र.... कहाँ पूरा हुआ? विचार में तो लो, यह क्षेत्र कहाँ पूरा हुआ? आहाहा! चौदह ब्रह्माण्ड तो असंख्य योजन में पूरा हो गया, पीछे?

आकाश... आकाश... आकाश... आकाश... आकाश... अनन्त को अनन्त गुणाकार करो तो भी उसका अन्त नहीं है। वह क्या चीज है? कोई क्षेत्र स्वभाव भी कोई अलौकिक है! ऐ...ई...! दीवान का लड़का...

श्रोता : केवलज्ञान अनन्त को जानता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त को अनन्तरूप से जानता है (अनन्त को) जाना इसलिए अन्त हो गया — ऐसा नहीं है। अनन्त को अनन्तरूप से जाना... जाना इसलिए वहाँ अन्त हो गया — ऐसा नहीं है। आहाहा! यह जैनदर्शन में (तात्कालिन साप्ताहिक समाचार पत्र) में कल बहुत गड़बड़ आयी है। सर्वज्ञ ने देखा वैसा होगा, तब तो नियत हो गया (— ऐसा उसमें लेख आया है)। अरे! सुन तो सही प्रभु! आहाहा! यह तो सर्वज्ञ की पर्याय का निश्चय करना (उसमें) स्वभावसन्मुख होकर अनन्त पुरुषार्थ है। आहाहा! पीछे देखा वैसा होगा... आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! यहाँ क्षेत्र का स्वभाव ऐसा ख्याल में.... आहाहा!

काल का स्वभाव? कहाँ से शुरु हुआ? द्रव्य की पर्याय कहाँ से शुरु — पहली पर्याय है? आहाहा! द्रव्य कहाँ से और पर्याय भी पहली पर्याय कौन सी? पहली नहीं है। अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... भाई! वस्तु का स्वरूप कोई अलौकिक है। वह तो जैनदर्शन ही जानता है, अन्य को तो पता नहीं है। आहाहा! तो उस काल की आदि नहीं है, क्षेत्र का अन्त नहीं है, काल का अन्त नहीं है, उससे भी अनन्त गुणा क्षेत्र का प्रदेश है। अनन्तगुणा धर्म आत्मा का, अनन्तगुणा का गुण तो उस गुण का अन्त नहीं की एक, दो, तीन, अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., अनन्त..., यह अन्तिम आया — ऐसा है नहीं।

श्रोता : गुरुदेव! कोई कहता हो कि केवली भगवान का केवलज्ञान परिपूर्ण है तो पहली पर्याय कौन सी? वह तो जाने न?

समाधान : परन्तु पहली पर्याय है नहीं, यह तो कहा न? यह तो है ख्याल है, सब तर्क तो हमारे पास सब आये हैं। पहली पर्याय है नहीं तो पहली पर्याय को भगवान कहाँ

से देखेंगे ? अनादि की है, ऐसी अनादि की देखते हैं। कठिन बात है भाई!

श्रोता : अनुमान से देखते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्यक्ष देखते हैं, अनुमान कैसा ? भविष्य की पर्याय, भूत की पर्याय वर्तमान में नहीं है, तथापि भगवान तो प्रत्यक्ष देखते हैं। आहाहा! बापू! यह कोई अलौकिक बातें हैं! सर्वज्ञ की पर्याय भविष्य में अनन्त काल बाद होगी, अभी है नहीं परन्तु वहाँ ज्ञान में है — ऐसी प्रत्यक्ष दिखती है।

श्रोता : है नहीं तो क्या देखे ?

समाधान : वह है नहीं, यह दिखता है। यह वहाँ — भविष्य में होनेवाली प्रत्यक्ष यहाँ दिखती है, बापू! यह अलौकिक बातें! भाई! आहाहा!

यह क्षेत्र का स्वभाव, काल का स्वभाव, गुण का-अनन्त का स्वभाव कि कहीं तो अन्त होगा ? उसका — क्षेत्र का अन्त आया... अनन्त गुण है तो इतने क्षेत्र में है परन्तु उसकी-भाव की संख्या की कोई हद (मर्यादा) नहीं, आहाहा! भाई! वस्तु का स्वभाव ऐसा है। आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ यह कहते हैं कि इतने गुण हैं, भेद — अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... वह तो भेद की दृष्टि से गुण भले हो, है ? आत्मा का ज्ञान-दर्शन आदि अर्थात् अनन्त, गुणरूप भेद, गुणी में गुणरूप भेद... आहाहा! अनुभव अर्थात् ज्ञान करने पर विशेषता तो है, भेद है, पर्यायनय का विषय गुणभेद है, गुणी का गुणभेद है। आहाहा! गजब बात है भाई!

तथापि.... ऐसा होने पर भी **जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं....** द्रव्यस्वभाव में गुणभेद विलय हो गया है। अन्दर में भेद रहता ही नहीं। आहाहा! गुणभेद की दृष्टि भी पर्यायनय का विषय है। आहाहा! और इतना मानना, वह मिथ्यादृष्टि है। ऐसा होने पर भी, अनन्त गुणरूप भाव सत्यार्थ — पर्यायदृष्टि से सत्यार्थ होने पर भी, आहाहा! अरे! उसकी पर्याय लो... एक समय की अनन्त गुण की यह पर्याय अनन्त है। उसमें यह पर्याय अनन्त की अन्तिम है, यह कहाँ आया? क्या कहा? आत्मा में जो अनन्त गुण हैं — अपार... अपार... अपार... पार नहीं — जैसे क्षेत्र का पार नहीं, काल का पार नहीं, भाव

की संख्या का पार नहीं, इतनी सब पर्याय है; जितने गुण हैं, उतनी पर्याय है तो उन अनन्त पर्यायों में यह अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... और यह अन्तिम / आखिर की पर्याय है — कहाँ आया उसमें? एक समय की पर्याय अनन्त है, उसमें यह पर्याय आखिर की, आखिर की, आखिर की है और यह सब अनन्त... अनन्त है, कहाँ आया उसमें? आहाहा! पाटनीजी! ऐसा मार्ग है प्रभु का, भाई! आहाहा! ऐसे गुणभेद....

श्रोता : स्पष्टीकरण तो बहुत हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है! वस्तु तो ऐसी है भाई! वह किसी ने की नहीं है, कोई कर्ता नहीं है, इस चौदह ब्रह्माण्ड का। सत् है, उसको कर्ता कैसे? है उसका कर्ता कैसे? न हो उसका कर्ता कैसे? आहाहा! समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि गुणभेद से देखने पर है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं — ऐसे आत्मस्वभाव के समीप-एकरूप गुण, द्रव्यस्वभाव! जिसमें गुण-भेद भी नहीं। आहाहा! गुणभेद भी पर्यायदृष्टि का विषय है, द्रव्यदृष्टि का विषय गुणभेद है ही नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय, एकरूप द्रव्यस्वभाव (है); उसका विषय गुणभेद नहीं है। आहाहा! भाई! सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य कितनी? वह क्या कहें? आहाहा!

अनन्त-अनन्त गुणभेद होने पर भी, वस्तु के स्वभाव को देखो तो वह गुणभेद नाश हो गया, भेद है नहीं। ऐसी दृष्टि... उसकी दृष्टि करना। आहाहा! उस दृष्टि में सामर्थ्य कितना, प्रभु? आहाहा! अकेला अभेद अनन्त गुण का एकरूप उसका (स्वभाव का) ज्ञान हुआ पर्याय में और श्रद्धा में उसकी प्रतीति हुई। समझ में आया? बापू! उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! यहाँ तो अभी यह माना, यह माना सम्यग्दर्शन। अरे प्रभु! सुन तो सही बापू! सम्यग्दर्शन हुआ तो उसके भव का अन्त हो गया। आहाहा!

यह प्रभु तो मुक्तस्वरूप... अबद्ध में आया न? अबद्ध अर्थात् मुक्त; बद्ध नहीं कहो या मुक्त कहो, वह तो मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा है। आहाहा! ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि करने से वे गुणभेद अभूतार्थ हैं। आहाहा!

अरे! चैतन्य चमत्कार वस्तु है। भाई! एक क्षेत्र का चमत्कार देखो, कहीं अन्त नहीं!

क्या है ? यह ख्याल में लेना इसे मुश्किल है। काल का अन्त नहीं, पर्याय का अन्त नहीं की यह पहली पर्याय! क्या है प्रभु ? गुण का अन्त नहीं — अनन्त... अनन्त... भाव कि यह अनन्त में अनन्त में अनन्त में अनन्त में अन्तिम का यह भाव — ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसा द्रव्यस्वभाव जो है, उसके समीप जाने पर, आहाहा! भेददृष्टि को छोड़कर, भगवान पूर्णानन्द के नाथ के समीप जाने पर, यह समीप जाने पर जो सम्यग्दर्शन हुआ, प्रभु! उसमें कितनी ताकत है ? आहाहा! कि सम्पूर्ण आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का एक पिण्ड उसे जिसने प्रतीति में लिया। प्रतीति में लिया, वस्तु आयी नहीं उसमें। आहाहा!

श्रोता : सुनने को मिलता है, वही अहोभाग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तु ऐसी है, बापू! क्या कहे ? अरे! भगवान के श्रीमुख से तो निकली हुई यह बात है। आहाहा! समझ में आया ? इसके लिए निवृत्ति लेकर वाँचन आदि विचार (आदि) करके निर्णय करना पड़ेगा प्रभु! यह ऐसे नहीं मिल सकता। आहाहा! इस पैसे के लिये भी देश छोड़कर परदेश में भटकता है, वहाँ स्त्री नहीं, पुत्र नहीं, कुटुम्ब नहीं, कोई न हो... वह तो फिर मुम्बई में घर हो जाये तो वहाँ सब हो, यह अब इंग्लैण्ड जाता हो तो वहाँ साथ कौन होगा ? इसके साथ कौन होगा ? पूनमचन्दजी के साथ वहाँ भटकने में कोई है ? दूसरा कोई साथ भटकेगा ? यहाँ तो दूसरा कहना है कि पैसे के लिए देश और कुटुम्ब को छोड़कर भी वहाँ जाता है तो आत्मा को पर्याय छोड़कर द्रव्य में जाना है। आहाहा! विशेष कहेंगे। समय हो गया, लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६९ गाथा-१४ दिनाङ्क २६-०८-१९७८ शनिवार
श्रावण कृष्ण ८, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्रीसमयसार, गाथा १४ टीका चलती है। क्या चला ? यह आत्मा वस्तु है, उसमें अनन्त गुण हैं, उस गुणी के गुण का भेद करना, वह तो विकल्प है। सम्यग्दर्शन होता है, प्रथम में प्रथम (सम्यग्दर्शन होता है) तो वह गुणी, गुण (गुणी के) भेद का विकल्प भी छोड़कर, एक स्वभाव त्रिकाली ज्ञायकभाव द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन

होता है। आहाहा! विशेष गुण के भेद का लक्ष्य भी छोड़ना — ऐसा कहते हैं। आहाहा! सामान्य जो ज्ञायक एकरूप स्वभाव है, विशेष सर्व विलय हो गये हैं। आहाहा! पर्याय की विशेषता तो लक्ष्य में (से) छोड़ना; राग का-विकल्प का पक्ष तो छोड़ना, वह तो स्थूल बात (है) परन्तु यहाँ गुण-गुणी का भेदरूप विशेष का लक्ष्य भी छोड़ना। अलिंगग्रहण में ऐसा आया है — अर्थावबोधरूप गुण विशेष से नहीं आलिंगित — ऐसा एक द्रव्यस्वभाव है। आहाहा! अर्थावबोधरूप गुण-विशेष को आलिंगन नहीं करता, उसे स्पर्श नहीं करता, उसे नहीं छूता। आहाहा! ऐसा एक द्रव्यस्वभाव है, वह आत्मा है। आहाहा!

अन्तर एकस्वभावरूप जो आत्मद्रव्य है, गुण-गुणी के भेद से भी भिन्न (आत्मद्रव्य है)। आहाहा! अभी तो ऐसा (कहते) हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय होता है। अरे प्रभु! यह व्यवहार तो अनन्त बार किया नौवें ग्रैवेयक गया तो, ऐसा व्यवहार तो (अभी) है ही नहीं। यहाँ तो गुण-गुणी के भेद को भी निकाल दे। आहाहा! तब सम्यग्दर्शन होगा — ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह चार बोल हुए। आज पाँचवाँ है।

पाँचवें बोल में दृष्टान्त है। **जैसे जल का, अग्नि जिसका निमित्त है...** निमित्त है। उष्णता तो स्वयं से होती है, अग्नि निमित्त है। **ऐसी उष्णता के साथ संयुक्ततारूप....** उष्णता के साथ संयुक्तरूप जल **तप्ततारूप-अवस्था से अनुभव करने पर (उष्णतारूप संयुक्तता....)** है। पर्याय में अग्नि का निमित्त और उष्णता है, वह पर्याय है। आहाहा! **तथापि एकान्त शीतलतारूप....** एकान्त शीतलता... क्या कहते हैं? एक स्वभाव जो शीतलता त्रिकाली, एकान्त एक स्वभाव **शीतलतारूप....** आहाहा! जल का एकरूप शीतलता स्वभाव। आहाहा! ऐसा देखने से **जलस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तपना उष्णता झूठा है।** आहाहा! यह तो दृष्टान्त है।

सिद्धान्त **इसी प्रकार आत्मा का,....** भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप त्रिकाली एक ज्ञानस्वभाव स्वरूप, एक ज्ञानस्वभावरूप ऐसे आत्मा का, आहाहा! **कर्म जिसका निमित्त है....** निमित्त है, हाँ! **ऐसे मोह के साथ संयुक्ततारूप अवस्था से अनुभव करने पर (संयुक्तता भूतार्थ है-सत्यार्थ है,....)** कर्म के निमित्त से... जैसे अग्नि का निमित्त और जल में उष्णता है। वैसे कर्म का निमित्त और मोह-राग-द्वेष मिथ्यात्वभाव पर्याय में है।

आहाहा! वह है व्यवहारनय का विषय है।

तथापि.... तो भी **जो स्वयं एकान्त....** क्या कहते हैं? उसमें आया था कि कर्म के निमित्त से मोह-राग-द्वेष हुआ, अब यहाँ तो निमित्त से दूर... आहाहा! स्वयं, स्वयं स्वभाव उसका है। वह तो कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में राग-द्वेष-मोह था, वह व्यवहार की पर्याय का विषय है। अब सम्यग्दर्शन पाने में विषय क्या? आहाहा! समझ में आया? **स्वयं एकान्त....** स्वयं स्वरूप, उसमें तो निमित्त की अपेक्षा होकर विकार था, पर्याय में कर्म के निमित्त की अपेक्षा से विकार था। उपादान अपने में था। अब यहाँ तो निमित्त नहीं, स्वयं; उस निमित्त के सामने स्वयं आया। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है प्रभु! आहा! जैसे एक कर्म के निमित्त से उपादान तो अपने में से हुआ, परन्तु उस पर्याय में जो मोह और राग-द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध आदि के भाव, उस पर्याय की अपेक्षा से — कर्म के निमित्त की अपेक्षा होकर अपने में है परन्तु वह वस्तु का स्वरूप नहीं है। आहाहा!

अत: स्वयं... उसमें निमित्त से विकार था — ऐसा कहा था। यहाँ स्वयं निमित्त के अतिरिक्त स्वयं सहज पारिणामिक ज्ञायकभाव... आहाहा! **स्वयं, एकान्त** — एक धर्म, जिसका सदा एक धर्म है। यह मोह और राग, द्वेष अनेक, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं हैं। आहाहा! **एकान्त स्वयं एक धर्म,** धर्म क्या? कि **बोधरूप (ज्ञानरूप) है ऐसे जीवस्वभाव....** आहाहा! स्वयं एक ज्ञानरूप जिसका स्वभाव है। त्रिकाली स्वयं ज्ञानरूप एक स्वभाव ऐसा भगवान। आहाहा! है? स्वयं एकान्त एक धर्म ऐसा ज्ञानरूप... है! भगवान तो स्वयं एक ज्ञानरूप आत्मा है। आहाहा!

ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर.... एकरूप ज्ञानस्वभाव... ज्ञान की प्रधानता से कथन है। बाकी आनन्दस्वभाव, दर्शनस्वभाव, शान्तस्वभाव, स्वच्छतास्वभाव, प्रभुतास्वभाव.... उस एक ज्ञानस्वभाव में सर्व स्वभाव की एकता ज्ञान में (जानने में आती है)। समझ में आया? आहाहा! यह जीव का जो अनन्त स्वभाव है, उसमें ज्ञान प्रधानता से कथन है कि एकरूप जिसका ज्ञानस्वभाव, कायम ही एकरूप है, स्वयं है, वह किसी निमित्त से स्वयं पारिणामिक स्वभावभाव है — ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वयं एकान्त

एक धर्मरूपी ज्ञान, ज्ञानरूपी आत्मा है। ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर। आहाहा! अर्थात् एकरूप ज्ञानस्वभाव के समीप अर्थात् सन्मुख जाकर **अनुभव करने पर....** आहाहा! यह सम्यग्दर्शन। ऐसी चीज है। आहाहा!

आचार्य महाराज ने तो बहुत सरल करके टीका की है तो उसे (भी) कितने ही दुरूह / कठिन (कहते हैं)। रात्रि को कहा था न, दुरूह — ऐसा कहते हैं? ऐसा कि समयसार है तो सरल परन्तु विद्वानों ने उसकी टीका करके दुरूह कर दिया है (— ऐसा कहते हैं)। अरे प्रभु! तुम क्या कहते हो!

श्रोता : विद्वानों ने या आचार्यों ने?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विद्वान अर्थात् आचार्य का मूल कहने का अर्थ यह है, है आया है समयसार में आया है। विद्यानन्दजी के (समयसार में ऐसा आया है) आहाहा! यहाँ दुरूह कर दिया है अमृतचन्द्राचार्य का। अरे भगवान! ऐसा नहीं कहते प्रभु! ऐसा, आहाहा! क्योंकि उसमें वह आया है न? '**सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं। ववहारदेसिदा**' यह इन्हें सरल लगता है। व्यवहार का उपदेश देना यह सरल लगा, परन्तु टीकाकार ने कहा कि व्यवहार अर्थात् क्या? '**देसिदा**' अर्थात् क्या? कि उस समय भी राग की अशुद्धता है और शुद्धता की कमी है, वह व्यवहार है, उसे जाना हुआ प्रयोजनवान है — ऐसा टीकाकार ने दुरूह कर दिया है। टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है, दुरूह नहीं किया प्रभु! अरे! ऐसा नहीं है। बात उन्हें यह शब्द बाधक हैं और व्यवहारदेसिदा अर्थात् पहले तो व्यवहार का उपदेश देना (यह सरल पड़ते हैं) परन्तु यह उपदेश की व्याख्या यहाँ है ही नहीं। समझ में आया? है!

श्रोता : आचार्य का अर्थ ऐसा होता है ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आचार्य को अर्थ नहीं आया — ऐसा कहते हैं। टीकाकार को.... अरे प्रभु! अरे! १५ वीं गाथा **अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं।** अब **अपदेस** का अर्थ तो जयसेनाचार्य ने द्रव्यश्रुत किया है, उसे झूठा बतलाकर कहते हैं कि अपदेस अर्थात् ऐसा नहीं, अखण्ड प्रदेश ऐसा लेना। अरे प्रभु! यह क्या करता है भाई!

आहाहा! यह दुनिया तो चलेगी, दुनिया ऐसी है, परन्तु बापू! यह मार्ग (दुनिया से) विरुद्ध है। समझ में आया?

अपदेससंत आता है न? उसका अर्थ यह किया है। समयसार में आया, (यहाँ) अखण्ड, अखण्ड ऐसा लेना परन्तु यहाँ अपदेस का अर्थ जयसेनाचार्य ने द्रव्यश्रुत किया, उस अर्थात् द्रव्यश्रुत में भी ऐसा कहा है कि अबद्धस्पृष्ट देखना, वह जैन शासन है — ऐसा द्रव्यश्रुत में भी ऐसा कहा है और भावश्रुत तो वह है ही, आहाहा! भावश्रुत से जो अबद्धस्पृष्ट का अनुभव है, वह भावश्रुत तो जैन शासन है, वह शुद्ध उपयोग है, वह जैनधर्म है, वह जैन शासन है। आहाहा! १५ वीं गाथा में वह अर्थ बदल डाला। यहाँ कहते हैं कि ऐसा नहीं प्रभु! अपनी बात रखने को शास्त्र का अर्थ पलट देना, वह नहीं होता भाई! आचार्यों ने, सन्तों ने तो करुणा करके वह टीका बनायी है, तथापि वे तो कहते हैं कि प्रभु! यह टीका मैंने नहीं बनायी, हाँ! वह तो शब्दों से बन गयी है नाथ! आहाहा! परमाणु की पर्याय से टीका बन गयी है। अत: हमने टीका बनायी है — ऐसे मोह से मत नाचो। आहाहा!

श्रोता : अमृतचन्द्राचार्य को वह समझ में नहीं आया था?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं आया था (ऐसा नहीं है)। अरे भगवान! अमृतचन्द्राचार्य कौन हैं? पंच परमेष्ठी परमेश्वर हैं। आहाहा! बापू! साधु कौन है? आचार्य कौन है? आहाहा!

कितने ही तो 'णमो लोए' में से 'लोए' निकाल देते हैं। पण्डितजी! णमो लोए सव्व साहूणं है न? तो 'लोए' निकाल दो.... अभी वह तेरापंथी का तुलसी है न, वह कहता है 'लोए' निकाल दो। अरे प्रभु! यह तुम क्या करते हो? यह तुम 'णमो लोए सव्व साहूणं' ऐसा न रखकर 'णमो सव्व साहूणं' बस! लोए नहीं... अरे प्रभु... !

श्रोता : लोए अर्थात् सब साधु ले लेना।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब लेना, फिर वह तो दूसरा वह अर्थ करते हैं। सुशील (श्वेताम्बर साधु) लोए अर्थात् जितने साधु हैं वे सब ले लेना... अरे! यह अर्थ यहाँ है ही नहीं। यहाँ तो अनन्त आनन्द जिसका अनुभव हुआ, तीन कषाय का अभाव है, जिन्हें छठा

सातवाँ गुणस्थान क्षण में अनेक बार आता है — ऐसे ही साधु को लिया है। अन्यमती की तो बात ही कहाँ है ? जैन में जो द्रव्यलिंगी है, उसकी बात (भी) यहाँ नहीं है। समझ में आया ? वह अक्षर-अक्षर सत्य है। अरे! धवल (धवला टीका) तो ऐसा कहता है कि णमो लोए सव्व (पद) अन्त दीपक है। अत: चारों में ले लेना। इसे विशेष कहते हैं, इससे धवल तो भी विशेष कहते हैं। त्रिकालवर्ती शब्द साथ में लेना, यह पूरा पाठ है।

णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती सिद्धाणं
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती आईरियाणं
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती उव्वझायाणं
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साधुणं

धवल में ऐसा पाठ करके णमोकार पूरा ऐसा बनाया। आहाहा! समझ में आया ? परन्तु त्रिकालवर्ती निकाल दिया, पश्चात् णमो लोए सव्व साहुणं रखा और अन्त दीपकरूप से चारों में ले लेना — णमो लोए सव्व अरिहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं..... ऐसे लेना। वस्तु का स्वरूप अनादि से ऐसी चीज है, उसमें गड़बड़ करे, वह नहीं चलता। आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं, आहाहा! कि जैसे वह कर्म का निमित्त है और उपादान तो अपना है, राग-द्वेष-मोह आदि; तो उस पर्याय में है परन्तु अब दृष्टि का विषय — जब सम्यग्दर्शन प्रगट करना है तो एक, एकान्त, एक अन्त, एक धर्म, एक स्वभाव बोध बीज, ज्ञानस्वरूप.... बीज का अर्थ यहाँ स्वरूप लेना। एक ज्ञानस्वरूप एक धर्म सामान्य, एक स्वरूप ऐसे जीव का स्वभाव, उसकी दृष्टि करने से, यह मोहादि का भाव अभूतार्थ है, झूठा है। आहाहा! समझ में आया ? कहो, ज्ञानचन्दजी! है ? तो भी स्वयं एकान्त अपने से अपना स्वभाव त्रिकाल, आहाहा! उसमें था कि कर्म के निमित्त से विकृत अवस्था — इतना निमित्त-निमित्त सम्बन्ध व्यवहारनय में बताया था। निश्चय में तो स्वयं ज्ञायक एकरूप स्वभाव, ज्ञान एकरूप स्वभाव, आनन्द एकरूप स्वभाव, शान्त एकरूप स्वभाव... शान्त अर्थात् स्थिरता चारित्र की (स्थिरता), वीतराग एकरूप स्वभाव

— ऐसे सर्व गुणों का एकरूप स्वभाव, ऐसे ज्ञान के एकरूप स्वभाव में सब साथ में ले लेना। आहाहा!

भगवान एक धर्म, एक स्वभाव....। ज्ञानरूप ऐसे जीव के स्वभाव की दृष्टि करने से, जो पर्यायबुद्धि है उसे छोड़कर, द्रव्यस्वभाव के समीप जाकर। आहाहा! इस प्रकार वहाँ जाकर अनुभव करने पर सम्यग्दर्शन होता है। यह तो अभी धर्म की पहली सीढ़ी है। आहाहा! और उस सम्यग्दर्शन के बिना... छहढाला में आता है... ज्ञान और चारित्र सब मिथ्या है। आहाहा! पहले से थोड़ा सुधार किया है। इसमें है? स्वयं एकान्त जो ज्ञानस्वरूप है — ऐसा जीवस्वभाव.... ज्ञानस्वभाव स्वयं है। आहाहा! उसमें तो कर्म के निमित्त से मोह-विकार, विकार कर्म से... निमित्त का अर्थ यह कि निमित्त से हुआ वह नहीं परन्तु उसके — निमित्त के लक्ष्य से हुआ तो निमित्त से हुआ — ऐसा कहा जाता है। वरना तो उस समय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष की उत्पत्ति का जन्मक्षण है। प्रवचनसार गाथा १०२ (में यह बात आती है) उस क्षण में, उस काल में मिथ्यात्व और राग-द्वेष की उत्पत्ति का-उत्पन्न होने का जन्मक्षण, उत्पत्ति का काल था, निमित्त भले हो, समझ में आया?

अत: पर्यायदृष्टि से देखने से मोह और राग-द्वेष पर्याय में है - ऐसा ज्ञान कराने को कहा परन्तु वह आदरणीय नहीं। आहाहा! एकरूप भगवान आत्मा स्वयं अपने से एक स्वभावरूप जीवस्वभाव के समीप जाने पर, उस पर्याय का लक्ष्य छोड़कर ज्ञायकभाव के — एक जीवस्वभाव के समीप (जाकर).... जो दूर था, पर्यायबुद्धि में एकरूप स्वभाव से दूर था। आहाहा! ऐसा कठिन काम है। वह दूरी हटाकर, पर्यायबुद्धि छोड़कर... आहाहा! एक अन्त अर्थात् धर्म, ज्ञानस्वभावरूप जीव के स्वभाव की दृष्टि करने से, उसके समीप जाकर अनुभव करने से मोह आदि का भाव अभूतार्थ है। भूतार्थस्वभाव का अनुभव करने पर वह चीज अभूतार्थ है। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा सम्यग्दर्शन इसने कुछ का कुछ कर डाला है। आहाहा! समझ में आया? एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ — भगवान ने जो कहा, परमार्थ का पंथ एक ही प्रकार है, यह है। आहाहा!

स्वयं ज्ञानस्वरूपी प्रभु, जीव का स्वभाव, उसमें कोई निमित्तपना है नहीं और वह क्षणिक है नहीं। आहाहा! त्रिकाली ज्ञानस्वभाव स्वरूप प्रभु की दृष्टि करने से, उसके समीप

जाकर अनुभव करने पर सम्यग्दर्शन होता है, अनुभूति होती है। तब रागादि को अभूतार्थ कहने में आया है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। ये पाँच बोल हो गये हैं।

भावार्थ : आत्मा पाँच प्रकार से अनेकरूप दिखाई देता है.... अनेकरूप दिखाई देता था, अब उसमें एकरूप दिखाना है। आहाहा! देखो टीकाकार कितनी स्पष्टता करते हैं। जयचन्द पण्डित! आहाहा! आत्मा....

श्रोता : टीका का अधिक स्पष्ट किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्होंने स्पष्ट किया है। लोगों को सादी भाषा में समझ में आवे — ऐसी बात कहते हैं। आहाहा! आत्मा एक वस्तु, पाँच प्रकार से अनेकरूप दिखाई देता था — बद्धस्पृष्ट, अन्य-अन्य, नियत नहीं परन्तु अनियत, विशेष और रागसहित, मोहसहित — ऐसे अनेकरूप दिखता था। आहाहा!

(१) अनादि काल से कर्म पुद्‌गल के सम्बन्ध से बँधा हुआ.... यह पहला बोल लेते हैं। **कर्मपुद्‌गल के स्पर्शवाला दिखाई देता है,...** आहाहा! **(२) कर्म के निमित्त से होनेवाली नर, नारक आदि पर्यायों में भिन्न-भिन्न स्वरूप से दिखाई देता है....** भगवान एकरूप स्वभाव होने पर भी कर्म के निमित्त से उसको नारकी आदि गति अनेकरूप दिखते थे।

(३) शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद.... प्रतिच्छेद घटते भी हैं और बढ़ते हैं। पर्याय में अगुरुलघु आदि एक समय की पर्याय में षट्‌गुण हानिवृद्धि आदि होती है, बढ़ती भी है **यह वस्तु का स्वभाव है...** पर्यायस्वभाव, हाँ! (वह) यह वस्तु-स्वभाव का अर्थ पर्यायस्वभाव **वह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नहीं देता,....** क्या कहा? पर्याय में हीनाधिक दशा होती है, वह वस्तु का स्वभाव है। स्वभाव अर्थात् पर्याय का ऐसा एक धर्म है। वस्तु का स्वभाव अर्थात् त्रिकाली की यहाँ बात नहीं है। आहाहा!

यह घटती-बढ़ती पर्याय अनन्त गुणी बढ़ जाये और अनन्त गुणी हीन हो जाये... आहाहा! अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान हो जाये, केवलज्ञान हो जाये, मति-श्रुत की पूर्णता हो जाये, अपूर्ण रहे इतने भेद, वह भी उसमें **यह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नहीं देता।** आहाहा! नित्य-नियत स्वभाव एकरूप दिखाई नहीं देता, एक बात।

(४) वह दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेषरूप दिखाई देता है और.... (५) कर्म के निमित्त से होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामों से सहित वह सुखदुःखरूप दिखाई देता है।..... सुख-दुःख की कल्पना से.... यह सुख आनन्द का नहीं लेना, यह सुख-दुःख कल्पना का लेना। स्वभाव का सुख, उस आनन्द की तो एकरूप दशा है। इस कल्पना के सुख-दुःख की अनेक दशा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **सुखदुःखरूप दिखाई देता है....**

यह सब अशुद्ध-द्रव्यार्थिकरूप.... ऐसा क्यों कहा? है तो पर्याय परन्तु वह द्रव्य की पर्याय है — ऐसा गिनकर अशुद्ध-द्रव्यार्थिक कहा है। है? **अशुद्ध-द्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनय का विषय है।....** अशुद्ध-द्रव्यार्थिक कहो या पर्यायार्थिक कहो या व्यवहार कहो (सब एकार्थ है)। आहाहा! अशुद्ध पहले क्यों लिया? कि द्रव्य त्रिकाली होकर, पर्याय में अशुद्धता होती है, इसलिए अशुद्ध द्रव्यार्थिक कहा। वह कोई दूसरे में हुई है और दूसरे से हुई है — ऐसा नहीं है। आहाहा! पहले के पण्डितों के कथन तो देखो! वस्तु की जैसी स्पष्टता है, उस स्पष्टता को खोलकर रखते हैं। आहा!

श्रोता : अगुरुलघु माने क्या?

समाधान : अगुरुलघु हो परन्तु पर्याय में हीनाधिक दशा है, वह भी है, अगुरुलघु है परन्तु पर्याय में हीनाधिकदशा होती है, वह भी लेना। आहाहा! सब अशुद्ध द्रव्यार्थिक व्यवहारनय का विषय है।

इस दृष्टि (अपेक्षा) से देखा जाये तो यह सब सत्यार्थ है।.... पर्याय में वह भेद है। बद्धपना, निमित्तपना है, विकार है, अनेक पर्याय हीनाधिकरूप है, विशेषता है, व्यवहारनय से देखो तो वह है। **परन्तु आत्मा का एक स्वभाव इस नय से ग्रहण नहीं होता,....** आहाहा! यह सिद्धान्त है। भगवान आत्मा स्वयं एकरूप त्रिकाली स्वभाव, जिसमें निमित्त की अस्ति की तो अपेक्षा नहीं परन्तु निमित्त के अभाव की अपेक्षा नहीं। क्षायिक समकित, क्षायिक केवलज्ञान में निमित्त के अभाव की अपेक्षा है। राग में निमित्त के सद्भाव की अपेक्षा है। इसमें (स्वभाव में) तो निमित्त के सद्भाव और निमित्त के अभाव की कोई अपेक्षा नहीं है — ऐसा स्वयं आत्मस्वभाव (है)। आहा! आहाहा! थोड़ा सूक्ष्म है परन्तु बापू मार्ग यह है। आहाहा!

अरे! जन्म-मरण कर-करके चौरासी के अवतार किये, भाई! इसके दुःख की व्याख्या करते हुए परमात्मा ऐसा कहते हैं कि तेरे नरक के क्षणमात्र के दुःख कहने में करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से नहीं कहे जा सकते, भाई! तूने इतने दुःख भोगे हैं, इस मिथ्यात्व के कारण (भोगे हैं)। आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दर्शन होने के बाद आर्तध्यान-रौद्रध्यान होता है परन्तु भविष्य की आयु का बन्ध अशुभभाव के काल में नहीं होता। आहाहा! क्या कहा? आत्मा का अनुभव— सम्यग्दर्शन होने के बाद आर्त-रौद्रध्यान आदि अशुद्धभाव आदि होता है परन्तु भविष्य की आयु जब बँधती हो, तब तो शुभभाव में ही आयु बँधेगी, अशुभभाव में आयु नहीं बँधेगी; अशुभभाव में दूसरे कर्म की प्रकृति बँधेगी। समझ में आया? समकित का इतना जोर है। आहाहा! समकिती को रौद्रध्यान होता है, पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान (होता है), छठवें गुणस्थान में आर्तध्यान, तथापि उस रौद्रध्यान के काल में भविष्य की आयु नहीं बँधेगी। आर्तध्यान के काल में भी भविष्य की आयु नहीं बँधेगी — ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

श्रोता : आर्तध्यान-रौद्रध्यान करे और बँधे नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आयु नहीं बँधती है — ऐसा कहा है। प्रकृति बँधती है, दूसरा बँधता है कहा न, यह तो कहा न, साथ में कहा न, आयु नहीं बँधती, भव नहीं बँधता, भविष्य का भव तो जब शुभभाव आयेगा तब बँधेगा। आहाहा! पण्डितजी! ऐसा है न? क्योंकि (कोई) समकिती नारकी में है तो यहाँ आना है तो मनुष्यपने की ही आयु बँधेगी और मनुष्य है, उसकी आयु तो वैमानिक की ही आयु समकिती को बँधेगी। आहाहा! समझ में आया? और जो वैमानिक समकिती है, उसको मनुष्य की आयु बँधेगी, उसको — समकिती को तिर्यंच की आयु नहीं बँधेगी। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है।

श्रोता : उन्होंने शास्त्र लिखा है, अपने लिए सोच कर लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं; सब झूठ है, उन्होंने तो लिखा नहीं, वे तो वीतरागभाव में स्थित थे, सन्त तो वीतरागभाव में गुप्त थे। कहा नहीं? हम तो हमारे ज्ञानस्वरूप में गुप्त हैं। हमने टीका बनायी है — ऐसा नहीं है। यह तो भाषा की वर्गणा से (बन गयी है)। भाषा में स्व-परप्रकाशक शक्ति है, स्व-परप्रकाशक शक्ति.... स्व-पर

जानन शक्ति जीव में और शब्दों में स्व-पर कहने की शक्ति है। समझ में आया ? अत: भाई ! उस वाणी से बन गया है, नाथ ! मैंने बनाया — ऐसा मत मानो। आहाहा ! यह वाणी मैं करता हूँ — ऐसा मत मानो, प्रभु ! वाणी जड़ की है। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, ऐसे ये पाँच प्रकार के अनेक प्रकार दिखते हैं, इससे सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा ! क्योंकि एकरूप जीव का स्वभाव जब दृष्टि में नहीं आता, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा ! गाथा तो बहुत सरस आयी है ! १३, १४ (गाथा) ! समझ में आया ? **इस दृष्टि से देखा जाये तो यह सब सत्यार्थ है।....** पर्याय से है। परन्तु भगवान **आत्मा का एक स्वभाव इस नय से ग्रहण नहीं होता,....** वह त्रिकाली ज्ञायक एक स्वभाव इस पर्यायनय से ग्रहण नहीं होता। आहाहा ! समझ में आया ? अनेकपने को जानने की जो दृष्टि है, वह व्यवहार है और अनेकपने की दृष्टि से एक स्वभाव पकड़ में नहीं आता। आहाहा ! क्या कहते हैं ? (**श्रोता :** जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक संसार में भटकेगा) **पूज्य गुरुदेवश्री :** करे, बाँधे भटकता है संसार में, क्या ? नरक और निगोद में जायेगा परन्तु संस्कार डाला होगा तो सम्यग्दर्शन भले न हो, परन्तु संस्कार डाला होगा कि मैं तो राग से भिन्न हूँ, भिन्न हूँ, भिन्न हूँ, भिन्न हूँ — ऐसे संस्कार (डाले होंगे) तो वह भी नरक-निगोद में नहीं जायेगा। समझ में आया ? जिसे सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि कहा गया है... मोक्षमार्गप्रकाशक ! सातवाँ अध्याय है। अन्दर में दृढ़तर संस्कार डाले हैं कि मैं इस राग से भिन्न हूँ, पुण्य से भिन्न हूँ, पर्याय जितना भी मैं नहीं; मैं तो पूर्ण ज्ञायकस्वभाव हूँ — ऐसा दृढ़ संस्कार डाला है, भले सम्यग्दर्शन नहीं है। आहाहा !

जैसे, कोरा सकोरा (मिट्टी का बर्तन) होता है न सकोरा ? आप क्या कहते हैं ? सकोरा, पानी डालते-डालते पी जाता है। बाद में विशेष पानी पड़ता है, (तब) बाहर दिखता है। ऐसे पहले अन्दर ऐसे दृढ़ संस्कार डालना कि राग से और विकल्प से मेरी चीज जानने में नहीं आती, मैं तो मेरे स्वभाव से जानूँ — ऐसा संस्कार डालते... डालते... डालते जब विशेष हो गया, तब अनुभव हो जायेगा। समझ में आया ? आहाहा ! यह चीज है भैया ! दुनिया माने न माने, मार्ग तो यह है। आहाहा ! समझ में आया ?

एक स्वभाव इस नय से.... इस नय से क्या ? अनेकपने के पाँच बोल कहे, उस

नय से एक स्वभाव दृष्टि में नहीं आ सकता। आहाहा! **और एक स्वभाव को जाने बिना....** एकरूप कायमी स्वयं शुद्ध परमस्वभावभाव पारिणामिकस्वभावभाव — ऐसे एक स्वभाव को जाने बिना **यथार्थ आत्मा को कैसे जाना जा सकता है ?...** वास्तविक एकरूप त्रिकालस्वभाव को जाने बिना वास्तविक आत्मा को कैसे जाना जाता है? आहाहा! भाषा जरा सरल है। वस्तु कठिन है परन्तु भाषा सरल और समझ में आये ऐसी चीज है। समझ में आया?

इसलिए दूसरे नय को.... क्यों कहा? कि पाँच भेद — बद्ध, अन्य-अन्य, अनियत, विशेष, रागादि सम्बन्धवाला देखने से एकरूप स्वभाव देखने में नहीं आता। आहाहा! व्यवहार में राग आता है, उसको देखने से एकरूप स्वभाव देखने में नहीं आता। आहाहा! व्यवहार है न? दया, दान, व्रत, भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि का विकल्प (है न?) उसके लक्ष्य से एकरूप स्वभाव जानने में नहीं आता। आहाहा! उससे एकरूप स्वभाव जानने में नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? समझ में आवे ऐसा है प्रभु! तेरे घर की बात, नाथ! तुझे न समझ में आये ऐसा कैसे? आहाहा! है? प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं नाथ! अरे प्रभु! तुझे पता नहीं है। तेरी प्रभुता ऐसी है कि अन्दर में संस्कार डालने से अनुभव में आयेगा ही आयेगा। समझ में आया? आहाहा! यह पामरता टूट जायेगी, आहा! एकरूप स्वभाव... एकरूप स्वभाव... एकरूप स्वभाव.... आहाहा! ऐसा अनुभव करने पर सम्यक्‌स्वभाव जाना जाता है। टीका का अर्थ गम्भीर लगे, इसलिए सादी भाषा में अर्थ किया है।

इसलिए दूसरे नय को — उसके प्रतिपक्षी शुद्ध द्रव्यार्थिकनय को.... वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक था। अशुद्ध द्रव्यार्थिक कहो, व्यवहार कहो या पर्यायनय कहो, तीनों एक हैं। अब यहाँ शुद्ध द्रव्यार्थिक लेना है। आहाहा! भाई! यह तो हित की बात है, प्रभु! यह तो धर्म-सम्यक् कैसे प्राप्त हो? इसकी बात है। आहाहा! यह कोई साधारण बात नहीं। आहाहा! अनन्त काल का जन्म-मरण, उसके भाव का नाश करने का यह उपाय है। आहाहा!

शुद्ध द्रव्यार्थिक शुद्ध द्रव्यस्वरूप, त्रिकाली शुद्ध द्रव्य, अर्थी अर्थात् प्रयोजन। जिस नय का शुद्ध त्रिकाली द्रव्य प्रयोजन (है); शुद्ध द्रव्यार्थिक — शुद्ध द्रव्य अर्थी, जिसका

प्रयोजन — त्रिकाल का — ऐसे नय से। आहा! **ग्रहण करके, एक असाधारण....** एक असाधारण, दूसरी चीज में ऐसा भाव एकरूप है ही नहीं पर्याय में, ऐसा। **ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर,....** एक ज्ञायकमात्र भाव... आहाहा! मुद्दे की रकम है, मुद्दे की क्यों कहा? वह पाँच लाख दिये हों और आठ आने की ब्याज से, पहले तो आठ आना सैकड़ा ब्याज था न? आठ आना... अब तो टका हो गया है। तो पाँच लाख दिये हों तो आठ आना ब्याज पच्चीस वर्ष तक लिया। बाद में कहे भाई! ब्याज तो लिया परन्तु अब (मूल) पैसा लाओ, मुद्दे की रकम लाओ, ब्याज नहीं अब। (वह कहे कि) रकम नहीं है... आहाहा! ऐसे यहाँ कहते हैं, पुण्य-पाप से स्वर्ग-नरक आदि मिला है, वह सब तो बाहर का ब्याज है, मूल रकम लाओ।

यह त्रिकाली स्वभाव जो मूल रकम है... आहाहा! जिसकी उत्पत्ति नहीं, जिसका नाश नहीं, जिसमें अपूर्णता नहीं, जिसमें आवरण नहीं, जिसमें अशुद्धता नहीं... आहाहा! ऐसा **ग्रहण करके, एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर,....** आहाहा! **उसे शुद्धनय की दृष्टि से....** जो ज्ञान का अंश त्रिकाल को पकड़ता है, वह शुद्धनय, उससे **सर्व परद्रव्यों से भिन्न,....** अबद्धस्पृष्ट है और इसी से लिया है परद्रव्यों से भिन्न, **सर्व पर्यायों में एकाकार,....** नारकी आदि यह अन्य-अन्य नहीं... **हानिवृद्धि से रहित,....** अनियत नहीं नियत। **विशेषों से रहित...** गुणभेद से-विशेष से रहित **और नैमित्तिक भावों से रहित....** निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न हुए राग-द्वेष आदि इन नैमित्तिक भावों से रहित.... कर्म तो निमित्त है, पर्याय में विकृत अवस्था नैमित्तिक अपने कारण से हुई है। आहाहा! समझ में आया?

अभी यह कर्म की पुकार बहुत है सबको, बस कर्म से होता है, कर्म से होता है, कर्म से होता है, किन्तु पर की — राग की पर्याय कर्म — परद्रव्य से कैसे हुई? परद्रव्य तो उसे स्पर्श नहीं करता न? और राग है, वह कर्म द्रव्य के उदय को स्पर्श ही नहीं करता न और दो द्रव्य भिन्न हैं... 'अपने को आप भूलके हैरान हो गया....' कर्म से नहीं; 'अपने को आप भूलके हैरान हो गया...' आहाहा! अपनी चीज क्या है? उसमें भी नहीं आया? 'अब हम निज घर कबहुँ न आये, पर घर भ्रमत....' अपने उल्टे पुरुषार्थ से परघर भ्रमत — राग और पुण्य व अनेकता को अपना मानकर मैं चार गति में भटका। आहाहा!

बहिन के वचन में (बहिनश्री के वचनामृत) तो ऐसा आया है कि सम्यग्दर्शन हुआ है, स्वदेश का भान हुआ है। चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु शुद्ध चैतन्य में... अरे...रे! राग में आया (तो) हम परदेश में आ गये। आहाहा! बहिन के वचनामृत में है। अरे...! दया, दान, व्रत आदि विकल्प में आये, हम परदेश में आ गये, उसमें हमारा देश नहीं है। आहाहा! हमारे स्वदेश में तो आनन्द, ज्ञान और शान्ति पड़ी है, वह हमारा परिवार है। आहाहा! बातें बहुत कठिन, भाई! आहाहा! है न वह, उसमें है या नहीं? कितने में है? ४०१, ४०१ है — ज्ञानी का परिणमन विभाव से विमुख होकर स्वरूप की ओर ढल रहा है, ज्ञानी निजस्वरूप में परिपूर्णरूप से स्थिर हो जाने को तरसते हैं। आहाहा! मैं मेरे घर में परिपूर्ण कैसे बैठ जाऊँ! आहाहा! समकिती को तो अपने स्वरूप में पूर्ण प्रेम करके बैठ जाऊँ — ऐसी भावना है। आहाहा! यह विभावभाव हमारा देश नहीं, यह व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी समकिती को उठता है परन्तु वह हमारा देश नहीं। आहाहा!

कहो, जयपुर छोड़कर विलायत.... क्या कहते हैं? अमेरिका-अमेरिका, विलायत है। यह तो दृष्टान्त है। आहाहा! यहाँ तो प्रभु! आनन्द का नाथ प्रभु, उसकी जहाँ दृष्टि हुई और उसका - स्वभाव का भान और अनुभव हुआ, तत्पश्चात् विकल्प आया तो कहता है कि अरे...रे! हम तो परदेश में आ गये, उसमें हमारा कोई परिवार नहीं, वहाँ आ गये। आहाहा! युगलजी! यहाँ तो व्यवहार आवे तो प्रसन्न होता है। आहाहा! इस परदेश में आकर हम कहाँ पहुँचे! आहाहा! हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। शुद्ध चैतन्य हमारा पवित्र देश है, उसमें हम रहते हैं और यह आ गया राग.... हम परदेश में कहाँ आ गये? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता, शुभभाव अच्छा नहीं लगता। ए... रंगुलालजी! आहाहा! उसके बदले अभी तो स्त्री-पुत्र और पैसा-प्रतिष्ठा ठीक लगती है। आहाहा! मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

भाई! तीन लोक के नाथ केवली परमात्मा की यह वाणी है। उसका यह स्वरूप है। प्रभु! आहाहा! यहाँ हमारा कोई नहीं। अरे...रे! विकल्प उठा, वह भी हमारा नहीं। जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्य आदि अनन्त गुणोंरूप हमारा परिवार बसता है, वह हमारा स्वदेश है। आहाहा! रतनचन्दजी! अब हम उस स्वरूप-स्वदेश की ओर जा रहे हैं। आहाहा! स्वरूप जो ज्ञायक और आनन्दस्वरूप एकरूप है, वहाँ हम जा रहे हैं।

हमें शीघ्रता से अपने मूल वतन में जाकर, शीघ्रता से अपना मूल वतन जो स्वदेश-आनन्द ज्ञान आदि.... आहाहा! वहाँ आराम से बसना है, जहाँ सब हमारे हैं। आहाहा! पुस्तक (बहिनश्री के वचनामृत) प्रकाशित हो गया तो बहुत महिमा आती है, लोग कहते हैं... ओहोहो! आया तुम्हारे आया न हिन्दी में, आया है न पत्र आया है। ऐसे एक संग्रह हो गया है। आहा! यहाँ कहते हैं।

श्रोता : आत्मधर्म में दिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : थोड़ा दिया है।

ऐसा **देखा जाये तो सर्व (पाँच) भावों से जो अनेक प्रकारता है, वह अभूतार्थ है — असत्यार्थ है।....** स्वभाव की एकता में दृष्टि करने से, स्वभाव की एकरूप स्वभावसमीप की दृष्टि करने से, अनुभव करने से, ये पाँच प्रकार हैं — अनेक प्रकार हैं, ये झूठे दिखते हैं, उसमें है नहीं। सामान्य में विशेष है नहीं, सामान्य में अनेकता है नहीं, सामान्य में अनियतता है नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। है ? ऐसा प्रभु है भाई! भाई! तेरे घर की बात है न प्रभु! आहा! कठिन लगे, इसलिए दूसरा रास्ता लेना — ऐसा कुछ है ? है ? आहा! मार्ग तो यह है। आहाहा!

यहाँ यह समझना चाहिए कि वस्तु का स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है,... वस्तु का स्वरूप तो अनन्त धर्मस्वरूप, अनन्त गुणस्वरूप है, **वह स्याद्वाद से यथार्थ सिद्ध होता है।.....** देखा जाता है। अपेक्षा से ऐसा सब निर्णय होता है। **आत्मा भी अनन्त धर्मवाला है। उसके कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं....** ज्ञान-दर्शन आदि। **कुछ पुद्‌गल के संयोग से होते हैं।....** कुछ पुद्‌गल की अपेक्षा से-संयोग से हुए हैं राग-द्वेष आदि। ज्ञानदर्शन, आनन्द स्वाभाविक हैं और राग आदि पुद्‌गल के निमित्त से हुए विभाविक हैं। कुछ पुद्‌गल के **संयोग से होते हैं।** आहाहा! **जो कर्म के संयोग से होते हैं, उनसे आत्मा की सांसारिक प्रवृत्ति होती है.....** कर्म के निमित्त से जो राग आदि आता है, वह तो संसार की प्रवृत्ति है। (राग) चाहे तो शुभ हो या चाहे तो अशुभ हो। आहाहा!

समयसार नाटक में तो मोक्ष अधिकार में ४० वाँ बोल लिया है... समझ में आया ? कि मुनि है सच्चे भावलिंगी (मुनि हैं) जिनको पूर्णानन्द के नाथ का पता लगकर ऐसी

स्थिरता जम गयी है, वीतरागता... वीतरागता... वीतरागता... वीतरागता जम गयी है। उनको महाव्रत का विकल्प उत्पन्न होता है.... समयसार नाटक में कहा है कि वह जगपंथ है। है यहाँ समयसार नाटक ? है, मोक्ष अधिकार है न ? उसमें ४० वाँ बोल है, मोक्ष (द्वार) है न ? मोक्ष (द्वार) है ? यह आया देखो '**ता कारण जगपंथ ऐ...**' आहाहा ! मुनिराज आत्मा के आनन्द के वेदनवाले, शुद्धचैतन्यघन में रमणता करनेवाले, उसको भी जो विकल्प आता है, पंच महाव्रत का अट्ठाईस मूलगुण का (विकल्प आता है) **ता कारण जगपंथ....** वह जगपंथ है, इतना ! आहाहा ! '**उत् शिवमारग जोय**' राग से भिन्न होकर अन्दर स्वरूप में स्थिरता, वह **शिवमारग जोय।** '**प्रमादी जग को ढूके**' अरे...रे... ! मुनि भी प्रमाद में आये तो जग की दशा हुई – राग की–संसार... आहाहा ! ऐसी बात है प्रभु ! ' और **अप्रमादी शिव ओर**' स्वरूप में अप्रमाद होकर रहते हैं, वे तो शिवलोक में–मोक्ष के पंथ में चलते हैं। आहाहा ! सच्चे भावलिंगी मुनि, जिसका भावलिंग जिनकी मोहर–छाप है, ज्ञायक प्रचुर स्वसंवेदन ! ज्ञायक का प्रचुर स्वसंवेदन जिसकी मोहर–छाप है — ऐसे भावलिंगी सन्त। आहाहा ! उनको भी विकल्प आता है तो कहते हैं, वह तो संसार है, इतना संसार — जगपंथ है। आहाहा ! अज्ञानी की तो क्या बात करना ? आहाहा ! क्योंकि राग उदयभाव है, उदयभाव संसार है। आहाहा ! समझ में आया ? **उससे आत्मा की सांसारिक प्रवृत्ति होती है।** राग आदि से तो संसार की प्रवृत्ति होती है, देखो ! **और तत्सम्बन्धी जो सुखदुःखादि होते हैं, उन्हें भोगता है।....** अज्ञानी... आहाहा ! **यह, इस आत्मा की अनादिकालीन अज्ञान से पर्यायबुद्धि है;.....** अनेकपने की, रागादि की पर्याय और भेद को देखना अनादि की पर्यायबुद्धि है। आहाहा ! भगवान एक समय की पर्याय के समीप प्रभु विराजमान है। आहाहा ! अनेक पर्याय, जो पर्याय एक समय की है, उस पर्याय के समीप अन्तर में प्रभु विराजमान है, पूर्णानन्द का नाथ। समझ में आया ? आहा !

यह आत्मा अनादिकाल से पर्यायबुद्धि है। **उसे अनादि–अनन्त एक आत्मा का ज्ञान नहीं है।....** साथ में जो भिन्न ध्रुव पड़ा है, अनादि–अनन्त (पड़ा है), उसका ज्ञान नहीं है, पर्याय का ज्ञान है। आहाहा ! समझ में आया ? एक क्षण की

पर्याय उत्पन्न हुई, दूसरे क्षण में नाश होती है, परन्तु उसमें भगवान एक अनादि-अनन्त ध्रुव पड़ा है। आहाहा! उसका तो ज्ञान है नहीं उस तरफ तो झुके नहीं... आहाहा! वह आत्मा का ज्ञान नहीं है।

इसे बतानेवाला सर्वज्ञ का आगम है।.... इस सर्वज्ञ के आगम के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं तीन काल में नहीं है। समझ में आया?

श्रोता : सभी धर्मवाले अपने गुरु को सर्वज्ञ मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : माने कुछ भी, सर्वज्ञ है ही नहीं। अज्ञानी स्वयं अपने को चाहे जो माने। सर्वज्ञ तो एक जैनदर्शन में क्योंकि आत्मा सर्वज्ञस्वभावी त्रिकाल है। भगवान आत्मा त्रिकाल सर्वज्ञस्वभावी है — ऐसा कहनेवाले तो सर्वज्ञ परमात्मा हैं और वह सर्वज्ञ स्वभाव है, त्रिकाली भगवान। उसके अवलम्बन से पर्याय में सर्वज्ञपना होता है। जिसका सर्वज्ञस्वभाव आत्मा में है — ऐसा मानता नहीं, उसे सर्वज्ञ पर्याय कभी नहीं होती। आहाहा!

श्रोता : आत्मा को तो मानता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, आत्मा को क्या माने? सब बातें करते हैं। आत्मा अर्थात् क्या, प्रभु? सर्वज्ञ... दूसरी सादी भाषा में कहें तो 'ज्ञ' स्वभावी और 'ज्ञ' स्वभावी में सर्व लगा दिया तो सर्वज्ञस्वभावी क्योंकि वह सर्वज्ञस्वभाव उसका गुण है, उसकी शक्ति है। आहाहा! और वह सर्वज्ञस्वभावी एकरूप प्रभु की दृष्टि करने से और उसमें स्थिर होने से सर्वज्ञ की पर्याय प्रगट पर्याय में होती है। सर्वज्ञ में से प्रवाह आता है। आहाहा! पूर्व की पर्याय में से मोक्ष हो — ऐसा कहना भी व्यवहार है। बाकी तो सर्वज्ञस्वभाव है, उसमें से सर्वज्ञ पर्याय आती है। आहाहा! समझ में आया?

उसमें शुद्धद्रव्यार्थिकनय से यह बताया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव है.... त्रिकाली एक असाधारण, दूसरा गुण भी ऐसा नहीं... ज्ञानस्वभाव जैसा। दूसरे गुण भी अपने को नहीं जानते; ज्ञान अपने को जानता है और दूसरे गुण को जानता है और पर को जाननेवाला असाधारण एक ज्ञायकस्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश! है? आहाहा! ज्ञान है, **असाधारण चैतन्यमात्र जो कि अखण्ड....** है, प्रभु तो — द्रव्यस्वभाव तो अखण्ड है, जिसमें पर्याय का भेद भी नहीं

है। **नित्य....** है, अनित्य नहीं। **और अनादिनिधन है....** अनादिनिधन.... 'अ' आदि — अनिधन (अर्थात्) आदि नहीं और अन्त नहीं — ऐसी चीज ध्रुव नित्यानन्द प्रभु! आहाहा! **उसे जानने से पर्यायबुद्धि का पक्षपात मिट जाता है।** ऐसे भगवान त्रिकाली ज्ञायक को जानने से और अनुभव करने से पर्यायबुद्धि का पक्षपात छूट जाता है, तभी सम्यग्दृष्टि होता है। आहाहा!

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७० गाथा-१४ दिनाङ्क २७-०८-१९७८ रविवार
श्रावण कृष्ण ९, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्रीसमयसार.... यह तो १५ वीं गाथा में आता है न? **अपदेससंतमज्झं** पण्डितजी! **अपदेससंतमज्झं** उसका अर्थ उन विद्यानन्दजी ने अखण्ड किया है। यह बात झूठी है। सुनो, तो अब यह कहते हैं कि अपदेस का अर्थ अमृतचन्द्राचार्य के जानने में नहीं आया, तो नहीं किया — ऐसा कहते हैं। अमृतचन्द्राचार्य को **अपदेससंतमज्झं** शब्द का अर्थ ज्ञान में-ख्याल में नहीं आया तो नहीं लिखा, एक बात। अपदेस का अर्थ जयसेनाचार्य (कृत) टीका में द्रव्यश्रुत किया है, एक बात और **अपदेससंतमज्झं** का अर्थ इस सूत्र में, १५ वीं गाथा आयी उसमें आ गया। पण्डितजी! द्रव्यश्रुत, यह शब्द ही द्रव्यश्रुत है। १५ वीं गाथा है, वही द्रव्यश्रुत है, तो द्रव्यश्रुत में वह आ गया। अपदेस का अर्थ अमृतचन्द्राचार्य को ख्याल नहीं रहा तो नहीं आया — ऐसा नहीं है।

श्रोता : उसमें गर्भित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है? वह उसमें गाथा, वही द्रव्यश्रुत है। **अपदेससंतमज्झं** आहाहा! द्रव्यश्रुत में भी यह कहा है और भावश्रुत में भी, वीतरागता भाव शुद्धोपयोग, वह जैन शासन — ऐसा कहा परन्तु द्रव्यश्रुत में भी वह गाथा है, वह द्रव्यश्रुत है। पण्डितजी! आहाहा! **अपदेससंतमज्झं** इस गाथा में — द्रव्य श्रुत में यह आया अर्थात् द्रव्यश्रुत का अर्थ। अपदेस का अर्थ अमृतचन्द्राचार्य ने नहीं किया है (— ऐसा नहीं है)।

श्रोता : यह भाव का अर्थ किया, उसमें द्रव्य आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, द्रव्य — ऐसा नहीं, ऐसा भी नहीं। यह गाथा वह द्रव्यश्रुत है — ऐसा कहना है। पण्डितजी! यह गाथा, वही द्रव्यश्रुत है, तो द्रव्यश्रुत आ गया, भाई! और उसका भावश्रुत तो **पस्सिदीअप्पाणं** शुद्ध उपयोग में आत्मा को देखता है, वह जैन शासन भावश्रुत हुआ। पण्डितजी! ठीक है, समझ में आया? जरा गड़बड़ हो गयी है बहुत.... अपदेस का अर्थ अखण्ड किया है, यह बात ऐसे-ऐसे है नहीं। समझ में आया?

और दूसरी बात यह कहे, रात्रि को प्रश्न हुआ था, चन्दूभाई के उस प्रश्न का उत्तर अबकी रात्रि को बहुत चला था कि जैसे क्षेत्र का अन्त नहीं है, यह वस्तुस्थिति है, वैसे काल का अन्त नहीं है। शुरुआत कहाँ से? उसका, उस वस्तु का स्वरूप ऐसा है — ऐसी द्रव्य की पर्याय पहली क्या, उसका अन्त नहीं, पहली क्या? आहाहा! ऐसे आत्मा में जो अनन्त गुण हैं, उनमें अन्तिम गुण कौन सा? वह है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? तो इतना द्रव्य का स्वभाव — गुण अमाप है और पर्याय एक समय की भी अनन्त है, वह भी अमाप है। वह अनन्त पर्याय एक समय की है तो यह अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त में अन्तिम यह एक पर्याय, उसमें एक समय में, वह भी नहीं है। आहाहा! तब कोई कहे कि इतने सब द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अमाप और उसका माप पर्याय ले ले, तब तो विकल्प है, उसमें आया? समझ में आया? ऐसा है नहीं। समझ में आया?

यह रात्रि को कहना था, वो तो चिद्विलास में है, चिद्विलास है न? उसमें चौतीस पृष्ठ पर है, देखो! सामान्यत: से निर्विकल्प वस्तु है, विशेषता-विशेषपना एक द्रव्य में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण, आहाहा! जिसका अन्त नहीं — ऐसा जब गुरु विशेष समझाते हैं... आहाहा! और पर्याय एक समय में अनन्त, अवधि एक समय की परन्तु अनन्त पर्याय में यह पर्याय अन्तिम है — ऐसा नहीं है। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... एक समय में, हाँ! ऐसे शिष्य को प्रतिबोध कीजिए। चिद्विलास में है, चिद्विलास! दीपचन्दजी!

तब ज्यों-ज्यों शिष्य, गुरु के प्रतिबोध को गुण का स्वरूप... नियमसार में ऐसा कहा कि द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों का विचार करना, वह विकल्प और अनावश्यक है। यहाँ यह कहा कि द्रव्य-गुण और अनन्त... अनन्त गुण और अनन्त... अनन्त पर्याय को गुरु जिस शिष्य को समझाते हैं... आहाहा! तब गुरु के प्रतिबोध को गुण का स्वरूप जानकर,

जानकर विशेष भेदी होता जाता है, विशेष उसका भेदज्ञान निर्मल बहुत हो जाता है और तब उस शिष्य के आनन्द की तरंग उठती है। समझ में आया?

भगवान आत्मा एक और अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त..., क्षेत्र से अन्त यह आ गया इतने में, परन्तु भाव की संख्या की अनन्तता का अन्त नहीं है। आहाहा! और एक समय की पर्याय, अनन्त में यह अन्तिम.... है तो एक समय परन्तु अनन्त में यह पर्याय अन्तिम ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा कोई गम्भीर, गूढ़ धर्म, गुण का और पर्याय का, क्षेत्र का और काल का (है)। इस प्रकार जैसे गुरु व्याख्या करते हैं तो शिष्य को सुनने में विशेष भेदज्ञान हो जाता है और जान-जानकर आनन्द की तरंग उठती है, वह (उसी) समय वस्तु का निर्विकल्प आस्वाद करता है। पण्डितजी! बात है भाई! यह तो गम्भीर, अलौकिक बात है, यह कोई शास्त्र के अकेले शब्द की बात नहीं है। आहाहा!

अनन्त... अनन्त... अनन्त आत्मा में जैसे यह एक विचार की कसौटी में न ले, तब तक अनन्त है अनन्त है भले माने, परन्तु अन्दर कसौटी में चढ़ाये जब आहाहा! तो एक वस्तु में अनन्त गुण और एक परमाणु में अनन्त गुण... जितनी संख्या में एक आत्मा में गुण है, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... का अन्त नहीं, ऐसे एक परमाणु में अस्तित्व-वस्तुत्व आदि इतने अनन्त गुण हैं कि उसका अन्त नहीं। परमाणु इतना आहाहा! और एक आकाश, एक आकाश में भी अनन्त गुण हैं। जितने परमाणु में हैं, इतने आकाश में हैं और इतने एक आत्मा में हैं। आहाहा! असंख्य प्रदेशी में भी अनन्त, अनन्त अनन्त अनन्त एक परमाणु में भी अनन्त... अनन्त एक प्रदेश में.... अनन्त प्रदेशी आकाश में अनन्त... अनन्त... आहाहा! समझ में आया? नींद आती है नींद, अभी यहाँ नींद चढ़ गयी है, बहुत बार, रात्रि में चाहे जो करते हो परन्तु व्याख्यान में इसे नींद ही आती है, आँखें भारी हो जाती हैं — ऐसी बात में, भारी आँखें हो! समझ में आया? इसमें जरा समझने की चीज है। आहाहा!

श्रोता : अनन्त तो कई प्रकार के होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अनन्त तो अन्त न आवे, वह अनन्त है। अर्द्धपुद्गल (परावर्तनकाल) के अनन्त का तो अन्त आता है। क्या? अर्द्धपुद्गल है, उस अनन्त का अनन्त काल है परन्तु उसका अन्त आता है, परन्तु अनन्त पुद्गलपरावर्तन का कभी अन्त

नहीं। आहाहा! ऐसे एक द्रव्य में अनन्त गुण का कोई अन्त नहीं। इसी प्रकार आकाश के क्षेत्र का कोई अन्त नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई!

श्रोता : एक समय की पर्याय का अन्त नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक समय में अनन्त पर्याय का अन्त नहीं कि यह पर्याय अन्तिम की एक समय में अनन्त तो यह अनन्त, अनन्त, अनन्त, अनन्त, अनन्त, अनन्त, अनन्त में अन्तिम की है — ऐसा अन्त नहीं है। भाई! कोई (अचिन्त्य) वस्तु है।

श्रोता : गुण का अन्त नहीं, इसलिए पर्याय का अन्त नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण का अन्त नहीं, पर्याय तो एक समय की है, उस त्रिकाली का अन्त नहीं, इस एक समय का अन्त नहीं। आहाहा!

श्रोता : एक समय की अन्तिम पर्याय कौन सी?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तिम पर्याय क्या? पर्याय अनन्त है, उसमें अन्तिम क्या? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अनन्त अनन्त चौबीसी हो जाये तो भी उसका अनन्त चौबीसी में अन्त आ गया, आखिरी, परन्तु यह तो अनन्त, अनन्त काल कभी आदि नहीं है, अन्त नहीं है, उसका कभी अन्त नहीं और शुरुआत नहीं। आहाहा!

श्रोता : अनन्त कहना और अन्त आ जाये, यह क्या?

समाधान : अन्त कहाँ? किसने कहा अन्त आ जाये? वह यह तो अन्त आ गया न यहाँ! अर्द्धपुद्गल परावर्तन के अनन्त काल का अन्त आ गया, यह अन्त है न? अन्त, इस प्रकार का अन्त है — ऐसा धवल में पाठ है, ऐसा। धवल में ऐसा पाठ लिया है कि अनन्त के दो प्रकार — अर्द्धपुद्गल, वह अनन्त है परन्तु उसका अन्त आ जाता है। भाई! यह शास्त्र में आधार पड़ा है। शास्त्र में तो दिगम्बर सन्तों ने गजब काम किया है! आहाहा! अर्द्धपुद्गल का अन्त आ गया। अर्द्धपुद्गल (का) अन्त है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु अनन्त... अनन्त... अनन्त गुण जो स्वभाव का अन्त नहीं, भाई! अलौकिक बातें हैं बापू! प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं पड़ता। आहाहा! वह अनन्त अमाप, उसका ज्ञानपर्याय माप ले लेती है। यह क्या कहा? ज्ञान की वर्तमान पर्याय अनन्त, अनन्त, अनन्त जिसका अन्त नहीं, उसका माप ले लेती है। आहाहा!

श्रोता : माप ले लिया तो अन्त आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका अन्त कहाँ आया ? अनन्त का, अनन्त का, अनन्त का यहाँ ज्ञान आया; अनन्त का अनन्त ज्ञान आया। बहुत सूक्ष्म बात भाई ! समझ में आया ?

द्रव्यानुयोग बहुत सूक्ष्म है — ऐसे कोई साधारण अभ्यास से समझ में आये — ऐसी चीज नहीं है, भाई ! आहाहा ! उसकी एक समय की पर्याय में भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद, आहाहा ! एक समय की पर्याय में अनन्त में की एक पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। उनका अन्त नहीं इतने अविभाग प्रतिच्छेद हैं, क्योंकि एक समय में अन्त नहीं ऐसे क्षेत्र का ज्ञान आ गया। अन्त नहीं ऐसे काल का ज्ञान आ गया। जो अनन्त धर्म हैं, उनका अन्त नहीं, उसका पर्याय में ज्ञान-ख्याल आ गया। आहाहा ! समझ में आया ? तो उस पर्याय में अनन्त, अनन्त, अनन्त, अनन्त सामर्थ्य है। आहाहा ! वह सब द्रव्यश्रुत में कहा है। समझ में आया ? यह १५ वीं गाथा में जो यह आयेगा।

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥१५॥

इसका अर्थ की अमृतचन्द्राचार्य ने अन्दर अपदेस का अर्थ किया ही नहीं ऐसा नहीं है। इस **अपदेससंमज्झं** जो सूत्र कहा उसमें यह द्रव्यश्रुत आ गया। समझ में आया ? जरा ! आहाहा !

श्रोता : पूरे जिनशासन का द्रव्यश्रुत आ गया १५ वीं गाथा में।

समाधान : वह द्रव्यश्रुत ही यह है कि जिसमें अपदेस अर्थात् द्रव्यश्रुत, उसमें आया। क्या आया ? कि अबद्धस्पृष्ट आत्मा है, वह उसमें आया है और भावश्रुत में भी यह आया शुद्धोपयोग में कि अबद्धस्पृष्ट आत्मा वह शुद्धोपयोग में आया, वही जिनशासन है। द्रव्यश्रुत में यह कहा और भावश्रुतरूप परिणमन हुआ... आहाहा ! समझ में आया ?

श्रोता : १५ वीं गाथा की अपदेस है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यहाँ **अपदेससंमज्झं** ऐसी बात है भाई ! आहाहा !

अभी तो कल्पना से अर्थ करते हैं — ऐसा नहीं चलता। भाई ! आचार्य कहते हैं वह तो सन्त कहते हैं, उनकी वाणी का सार है। आहाहा ! वह वाणी, वाणी में जो भाव कहने

में आया है। अपार है। वाणी का वाणी में भाव, हाँ! आहाहा! द्रव्य-गुण का भाव, वाणी का अपना भाव, वह वाणी कहती है। आहाहा! वाणी में द्रव्य-गुण जो भाववस्तु है, वह भाव उसमें नहीं आता परन्तु वाणी, जितना द्रव्य-गुण भाव है, उसके कथन की शक्ति भाषा की पर्याय में है, भाषा की पर्याय में है, भाषा की पर्याय में वह अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय नहीं आये हैं। आहाहा! अलौकिक बातें हैं, बापू! यह तो... आहाहा! समझ में आया?

इसलिए द्रव्यश्रुत में भी... गाथा ही द्रव्यश्रुत है तो उसमें भी आ गया है और अमृतचन्द्राचार्य ने उसका अर्थ नहीं किया — ऐसा नहीं है। यह गाथा **अपदेससंज्मझं** कहा, वही उसमें द्रव्यश्रुत आ गया और जयसेनाचार्य ने उसकी टीका में स्पष्ट लिया — अपदेस अर्थात् द्रव्यश्रुतं मज्झं — द्रव्यश्रुत में यह कहा है। आहाहा! शान्त अर्थात् भावश्रुत और अपदेस, वह द्रव्यश्रुत। द्रव्यश्रुत में भी आत्मा अबद्धस्पृष्ट कहा गया है और भावश्रुत में भी अबद्धस्पृष्ट का अनुभव होता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है भाई! है? यह तो उसका अर्थ आया है समयसार में देखा तो, और यह कल कहना था न तो उसमें यह आया है कि समयसार व्यवहार को लेकर चलता है और उसका अन्तिम लक्ष्य निश्चय तक पहुँचना है — ऐसा नहीं है। उसमें लिखा है यह तो वीर पत्र (एक जैन समाचार-पत्र) आया न, वीर में यह पत्र कल बताना था और कोई ले गया था। यह मैंने नहीं, मेरा तो चिह्न किया है, दूसरा कोई ले गया। यह तो मगनलालजी लाये थे।

क्या कहा? यहाँ अपने चलता है देखो! **पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय को गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है.....** यहाँ आया है, बीच में। है? **जीव उसका अनुभव करता है तब परद्रव्य के भावों स्वरूप परिणमित नहीं होता; इसलिए कर्मबन्ध नहीं होता और संसार से निवृत्ति हो जाती है।** वहाँ आया है, है? पण्डितजी! है? यह क्या कहा? कि यह आत्मा तो **अखण्ड, नित्य, अनादि निधन है, उसे जानने से पर्यायबुद्धि का पक्षपात मिट जाता है...** है? **परद्रव्यों से उनके भावों से और उनके निमित्त से होनेवाले अपने विभावों से अपने आत्मा को भिन्न जानकर....** आहाहा! परद्रव्य से, परद्रव्य के भाव से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाला अपना विकार.... आहाहा! तीन बोल आये हैं। **भिन्न जानकर जीव उसका अनुभव करता है तब परद्रव्य के भावों स्वरूप परिणमित नहीं होता;....** तब रागरूप परिणमन नहीं होता। आहाहा!

सूक्ष्म बात भाई! यह तो जैन शासन! उसमें समयसार और उसकी टीका और उसका मर्म पण्डित जयचन्दजी ने खोल दिया है। आहाहा! **इसलिए कर्मबन्ध नहीं होता....**

पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय को गौण करके.... पर्याय है, नहीं है — ऐसा नहीं है परन्तु पर्यायार्थिकनय को गौण करके, अभाव करके नहीं.... पर्याय का अभाव करके हो तो वेदान्त हो जाता है। वस्तु ऐसी नहीं है। आहाहा! पर्यायार्थिकनय को गौण करके, लक्ष्य छोड़ाने को उसे गौण करके **अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है....** आहाहा! पर्याय न हो और गुण-भेद न हो तो वस्तु ही नहीं है — ऐसा हो जाता है। आहाहा!

शुद्ध निश्चयनय को सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन दिया है.... शुद्धनय का विषय जो ध्रुव त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव, उसका आश्रय लेने को — आलम्बन लेने को कहा है। भेद का अवलम्बन छोड़ाने को, आहाहा! पर्याय का आलम्बन छोड़ाने को... पर्याय नहीं है — ऐसा नहीं है, पर्याय है। है? **वस्तुस्वरूप की प्राप्ति होने के बाद....** जब अन्दर में आत्मा प्राप्त हो गया फिर **उसका भी आलम्बन नहीं रहता।....** तत्पश्चात् आश्रय करना नहीं रहता। पर्याय में पूर्णानन्द की प्राप्ति हुई तो आलम्बन नहीं रहा — द्रव्य का आश्रय करना नहीं रहा। क्या कहते हैं? आहा! जब तक आत्मा पूर्ण पर्याय को प्राप्त न हो, तब तक द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन लेने को कहा, परन्तु उस अवलम्बन से जब पर्याय में पूर्णता हो गयी, तत्पश्चात् द्रव्य का अवलम्बन नहीं रहा। अवलम्बन तो, वह आश्रय अपूर्ण था, तब तक अवलम्बन रहता था। पूर्ण होने के बाद द्रव्य का आश्रय तो रहा नहीं, वह तो पर्याय पूर्ण हो गयी।

ऐसी बात यह पण्डित जयचन्दजी ने लिखी, उसे समझना कठिन पड़ता है। समझ में आया? दिगम्बर के पण्डित भी यथार्थ कहते हैं और हमारे पण्डितजी ने, ऐसी चर्चा हुई थी न खानियां में, तब वे लोग कहते थे मुनि और आचार्यों के वचन वही हमें प्रमाण हैं। यह कहें कि भाई, कि सबको इन पण्डितों के वचन भी प्रमाण हैं। पण्डितजी! कहा था, खानियां चर्चा में, एक ही कहने (वाला) निकले थे। आहाहा! जो सम्यग्दृष्टि जीव है, उसका कथन बराबर मान्य है। आचार्यों के ही मान्य है तो फिर यह पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं, वे आचार्य नहीं हैं तो उनका मान्य नहीं है? ऐसा कहे माने वह उसकी स्वच्छन्दता है। आहाहा! दिगम्बर गृहस्थ भी सम्यग्दृष्टि-बनारसीदास, टोडरमलजी आदि सब आधार,

सब आधार लेने का है, उनके शब्द भी सिद्धान्त के अनुसार बराबर सत्य है। समझ में आया? गृहस्थ समकिती (ने) बनाया है, इसलिए यहाँ उनका आश्रय (आधार) नहीं लेना और वह आधार नहीं — ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टि तो जैसा तिर्यंच है, वैसे ही सिद्ध सम्यग्दृष्टि हैं। आहाहा!

भगवान तीन लोक का नाथ जहाँ अन्दर दृष्टि में आया, आहाहा! वर्तमान पर्याय में पूर्णानन्द का नाथ लक्ष्य में, पर्याय में द्रव्य की सामर्थ्य आया... सामर्थ्य आया, द्रव्य नहीं, आहाहा! उसकी दृष्टिवान चाहे जो कहे, वह यथार्थ सिद्धान्त अनुसार कहते हैं।

श्रोता : चाहे जो कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : है? चाहे जो कहे! चाहे जो कहे अर्थात् वह यथार्थ ही कहता है, वही कहता है, चाहे जो कहे, उसको जो यथार्थ रुचता है, वह कहता है। आहाहा! वह यहाँ कहा, देखो!

शुद्ध निश्चयनय को सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन दिया है। वस्तुस्वरूप की प्राप्ति होने के बाद... द्रव्यस्वरूप का आश्रय — अवलम्बन लिया, जब तक पूर्ण नहीं है, तब तक (अवलम्बन लिया) और पूर्ण हो गया, तत्पश्चात् आलम्बन नहीं रहता, बाद में आश्रय लेना नहीं रहता। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! वीतराग का मार्ग, यह दर्शनशुद्धि का मार्ग समझना बहुत अलौकिक है भाई! आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अरे! इसमें अभिमान करे, थोड़ा बहुत जाना... हमने जाना... बापू! इन बातों की बातें कोई अलौकिक है। जिसके ज्ञान का माप न आवे गुणों का, उसका माप पर्याय कर ले, बापू! वह सम्यग्दर्शन कैसी चीज है! आहाहा! द्रव्य में गुण का माप नहीं — अन्त नहीं कि यह अन्तिम है, उसका सम्यग्ज्ञान पर्याय अन्त ले ले। आहाहा! उस सम्यग्ज्ञान की पर्याय की कितनी महिमा है, पर्याय की हाँ! आहाहा! इसका नाम भावश्रुतज्ञान कहा जाता है।

श्रोता : पर्याय की महिमा चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय की महिमा इस प्रकार। किस प्रकार? पर्याय की महिमा द्रव्य से कहीं बढ़ नहीं जाती परन्तु पर्याय में द्रव्य का माहात्म्य ख्याल आ गया तो उस सारे

द्रव्य का, सारे गुण का, सारे लोकालोक का अपनी पर्याय में उसका ज्ञान अर्थात् माप आ गया। आहाहा! एक ही पर्याय में सारा लोकालोक का और उस पर्याय में अनन्त पर्याय का, उस पर्याय में अनन्त गुण का, उस पर्याय में अनन्त द्रव्य का (माप आ गया है)।

जीव द्रव्य कितना? कि आदि-अन्तरहित काल है, अनादि सान्त अभी तक का काल, उससे अनन्त गुणा जीव है। त्रिकाल से अनन्तवें भाग है। जीवद्रव्य की संख्या त्रिकाल समय से अनन्तवें भाग है, परन्तु भूतकाल अनादि से अन्त तक के काल से जीवद्रव्य अनन्त गुणे हैं। आहाहा! क्या है यह? आहाहा! अरे! जिसकी-काल की आदि नहीं, इसका अनादि-अनन्त काल, उससे अनन्त गुणे जीव की संख्या, प्रभु द्रव्य कितना? आहाहा! और उससे अनन्त गुणे परमाणु, और उससे अनन्त गुणे त्रिकाल के समय और उससे अनन्त गुणे एक आकाश के प्रदेश और उससे अनन्त गुणे एक द्रव्य के धर्म/गुण। भाई! यह साधारण बात नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ज्ञानचन्दजी! यह तो धारणा का थोड़ा बहुत ज्ञान हो जाये, वहाँ तो मानो कि ओहोहो! हमारे तो बहुत हो गया। अब जगत को बताओ, जगत जाने। अरे भैया! तुम क्या? आहाहा!

यह कहा देखो! **इस कथन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शुद्धनय को सत्यार्थ कहा है, इसलिए अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है।....** पर्याय अशुद्ध द्रव्यार्थिक पर्याय, अशुद्ध द्रव्यार्थिक व्यवहारनय बिल्कुल झूठा है, है ही नहीं — ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! **ऐसा मानने से वेदान्तमतवाले जो कि संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं....** यह माया कहते हैं कि यामा, वह पर्याय और भेद उसमें नहीं ऐसा हो जायेगा। यह माया कहते हैं न, माया है, सब माया है परन्तु माया है या नहीं? समझ में आया? (राजकोट में एक) वेदान्ती के साथ बहुत चर्चा होती थी। मोतीलालजी, परमहंस आया था। पहले व्याख्यान में आता था, बाद में परमहंस हो गया, बाद में आया, तुम वेदान्त... वेदान्त करते हो, यह सब लोग... तो दुःख है या नहीं अन्दर पर्याय में? दुःख है या नहीं, दुःख से मुक्त होना है तो दुःख है या नहीं? दुःख है तो दुःख और आत्मा दो चीज हो गयी। है? द्वैत हो गया और दुःख का अभाव होकर सुख आता है, वह भी पर्याय में आया। तो द्रव्य और पर्याय दो हो गये। ऐसा नहीं चलता कहा यहाँ। यहाँ

तो वस्तु है, जैसी चीज है, ऐसी समझना चाहिए। कम, अधिक और विपरीत सब मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया ? आहाहा !

संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं, उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आ जायेगा और उससे मिथ्यात्व आ जायेगा,.... पर्याय है ही नहीं... पर्यायनय को असत्यार्थ कहा, अशुद्धता को असत्यार्थ कहा, भेद को असत्यार्थ कहा तो भेद और पर्याय है ही नहीं — ऐसा है नहीं। भेद भी है और पर्याय भी है। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसी सूक्ष्म बातें परन्तु अब....

इस प्रकार यह शुद्धनय का आलम्बन भी वेदान्तियों की भाँति मिथ्यादृष्टिपना लायेगा।.... अत: पर्याय को माने ही नहीं, अशुद्धता पर्याय में है, वह नहीं माने तो वेदान्तियों की तरह मिथ्यादृष्टि हो जायेगा। आहाहा ! देखो, अब विशिष्टता।

इसलिए सर्वनयों की कथंचित् सत्यार्थता श्रद्धान करने से.... भाषा देखो, क्या कहते हैं ? **इसलिए सर्वनयों की कथंचित् सत्यार्थता....** पर्यायनय की भी सत्यार्थता द्रव्यनय की भी सत्यार्थता.... आहाहा। है ? पर्याय में अशुद्धता, वह सत्यार्थ है; पर्याय, वह सत्यार्थ है; त्रिकाल भी सत्यार्थ है। है ?

श्रोता : यह तो प्रमाण का विषय हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह प्रमाण के विषय की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो पर्याय में असत्यार्थता कही तो यह पर्याय असत्यार्थ नहीं — इतना कहना है। पर्याय है, वह तो त्रिकाल की अपेक्षा से एक समय की पर्याय को लक्ष्य छोड़ाने के लिए असत्यार्थ, गौण करके असत्यार्थ कहा; पर्याय का अभाव करके असत्यार्थ कहा — ऐसा है नहीं। आहाहा !

(समयसार की) ११ वीं गाथा में कहा न ? **व्यवहारोऽभूयत्थो** — ११ वीं गाथा मूल, जैनदर्शन का प्राण **व्यवहारोऽभूयत्थो...** व्यवहार शब्द से (आशय) पर्याय। पर्याय अभूतार्थ, किस प्रकार अभूतार्थ ? उसका लक्ष्य छोड़ाने को गौण करके अभूतार्थ कहा है। पर्याय नहीं है और ऐसा कहकर असत्यार्थ कहा है — ऐसा नहीं है। अरे ऐसा सब ! है ? भाई ! तेरी लीला तो देख ! आहाहा ! तेरे गुण की शिला पड़ी है अन्दर में महाप्रभु, तथापि पर्याय में विकृत अवस्था और दु:ख है। वह नहीं है — ऐसा मानो (तो) एकान्त हो जायेगा।

कथंचित्.... देखा ! **सर्वनयों की....** पर्यायनय, द्रव्यार्थिकनय, व्यवहारनय,

अशुद्धनय, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय — ये कथंचित् सत्यार्थ, सबको कथंचित् सत्यार्थ मानना चाहिए। आहाहा! **कथंचित् सत्यार्थ का श्रद्धान करने से....** देखो! पहले तो ऐसा कहा था कि द्रव्य का — त्रिकाली का श्रद्धान करना, वह सम्यग्दर्शन है और यहाँ तो यह कहा कि पर्याय में अशुद्धता है, पर्याय है, उसका भी ज्ञान रखकर, त्रिकाली का आश्रय लेना। उसका ज्ञान छोड़ देना कि वह है ही नहीं और त्रिकाली का आश्रय लेना — ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया? थोड़ा सूक्ष्म है देवचन्दजी! क्या कहते हैं?

श्रोता : संस्कृत व्याकरणवालों का तो काम नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : संस्कृत व्याकरण का यहाँ क्या काम है? यहाँ तो अन्तर की बात है बापू! यहाँ अन्तर के संस्कार की बात है, संस्कृत की बात यहाँ नहीं। आहाहा! है?

सर्वनयों की कथंचित् सत्यार्थ.... व्यवहारनय, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, पर्यायनय भी है। कथंचित् पर्याय की अपेक्षा से पर्याय है, द्रव्य की अपेक्षा से द्रव्य है। आहाहा! देखो न, कितना स्पष्टीकरण किया! आहाहा! पहले ऐसा कहा कि व्यवहार अभूतार्थ है तो यहाँ कहते हैं कि व्यवहार भी है, वह कथंचित् है, पर्याय अपेक्षा से है — ऐसा ज्ञान करके, त्रिकाली का आश्रय लेना। उसका ज्ञान छोड़ दे कि पर्याय है ही नहीं, तो त्रिकाली का आश्रय नहीं होगा, उसकी दृष्टि झूठी होगी, आहाहा! समझ में आया? गोदिकाजी! यह सब जानपना करना पड़ेगा, वहाँ मील में, धूल में कहीं नहीं.... अभी शरीर को ठीक नहीं हो तो भी बाहर भटकते हैं, ऐसा लोग कहते हैं। है न? क्या कहते हैं? हार्ट पर कुछ असर है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु! तू क्या है? मैं तो त्रिकाली हूँ परन्तु त्रिकाली का अवलम्बन लेने में पर्याय बिल्कुल ही नहीं है — ऐसा लक्ष्य करके अवलम्बन लेने जायेगा (तो) सम्यग्दर्शन नहीं होगा। आहाहा! समझ में आया? आत्मा में विकार है, वह सत्यार्थ है; कर्म से नहीं। आहाहा!

श्रोता : आपको तो आनन्द आ रहा होगा, हंसी आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चीज बापू! आहाहा! यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं। आहाहा! यहाँ सन्तों की वाणी में व्यवहार अभूतार्थ कहा तो उसका स्पष्टीकरण पण्डितजी करते हैं कि अभूतार्थ तो इस अपेक्षा से कहा कि कायम रहने की चीज नहीं है और कायम रहने

की चीज का अवलम्बन लेने के लिए पर्याय का लक्ष्य छुड़ाने को गौण करके असत्यार्थ कहा, परन्तु पर्याय नहीं है और अशुद्धता है ही नहीं — ऐसा लक्ष्य करने को द्रव्य का अवलम्बन करेगा (तो) नहीं होगा, क्योंकि पर्याय तो इसकी है (और) इसने मानी ही नहीं। समझ में आया? पर्याय में अशुद्धता, संसार है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! पण्डित जयचन्दजी भी इतना स्पष्टीकरण करते हैं। पहले के पण्डित भी कोई....

इसलिए सर्वनयों.... सर्वनयों में क्या आया? अशुद्ध द्रव्यार्थिक, विकारी पर्याय, मिथ्यात्व पर्याय आदि है — ऐसा लक्ष्य/जानना चाहिए। पर्याय में मिथ्यात्व है ही नहीं और पर्याय है ही नहीं, आहाहा! तो उसने सब नय को सत्यार्थ नहीं माना। आहाहा! ऐसी बात है। कहो, बाबूभाई! यह ऐसी बातें हैं।

इस प्रकार स्याद्वाद को समझकर.... देखो! **इस प्रकार स्याद्वाद को समझकर जिनमत का सेवन करना चाहिए,.....** पर्याय अशुद्ध है, विकार है, यह नय में लक्ष्य रखकर, त्रिकाली का आश्रय लेना, वह स्याद्वाद की शरण है, एकान्त मानना कि द्रव्य ही है और पर्याय नहीं, अशुद्धता नहीं, संसार नहीं, आत्मा में विकार नहीं.... समझ में आया? तो यह एकान्त है। आहाहा! है? **एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना चाहिए।....** आहाहा! है? **मुख्य-गौण कथन को सुनकर....** द्रव्य त्रिकाली को मुख्य कहकर निश्चय कहा और पर्याय अशुद्ध आदि के भेद को गौण करके असत्यार्थ कहा। गौण करके असत्यार्थ कहा तो सर्वथा एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना चाहिए। पर्याय है ही नहीं, अशुद्धता जीव में-पर्याय में है ही नहीं; संसार विकारी पर्याय जीव की पर्याय में है ही नहीं ऐसा एकान्त नहीं लेना। अज्ञानी माया कहता है और वेदान्ती..... ऐसे नहीं यामा यह है नहीं परन्तु या कहते ही इसका अस्तित्व सिद्ध हो गया। समझ में आया? या-मा यह नहीं, तो यह नहीं तो यह है उसमें आ गया। विकार है, राग है, संसार है, पण्डितजी! 'यह' है नहीं तो उसमें 'यह' तो आ गया, 'है' आ गया। समझ में आया? मैं आत्मा हूँ नहीं तो उसमें 'मैं' ऐसा आ गया, जिसने निर्णय किया वह आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? भगवान का लॉजिक-न्याय बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

इस गाथासूत्र का विवेचन करते हुए टीकाकार आचार्य ने भी कहा है कि आत्मा व्यवहारनय की दृष्टि में जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखाई देता है.... है, कर्म

का सम्बन्ध है अनियतता है, विशेषता है, राग-द्वेषता है। इसको भूतार्थ पहले कहते आये हैं, पर्यायनय से भूतार्थ है — ऐसा लिखा है। **वह इस दृष्टि से तो सत्यार्थ ही है....** पर्यायदृष्टि से तो यह बद्धस्पृष्ट व्यवहार आदि, राग आदि है तो है ही इस दृष्टि से तो सत्य है। आहाहा! ऐसा अब, फुरसत नहीं मिलती, धन्धा कब करना! ए... हसमुखभाई! धन्धे के कारण फुरसत कहाँ? पर के पाप आदि करने के काल में, आत्मा को बिगाड़ने के रास्ते के काल में यह सुधरने का रास्ता कब सूझे? आहाहा!

परन्तु शुद्धनय की दृष्टि से बद्धस्पृष्टादिता असत्यार्थ है।.... पर्यायदृष्टि से तो सत्यार्थ है। **इस कथन में टीकाकार आचार्य ने स्याद्वाद बताया है — ऐसा जानना।** अपेक्षा से कहना यह बताया है। त्रिकाल को सत्यार्थ और पर्याय को असत्यार्थ, यह अपेक्षा से कहा है। एकान्त मान ले कि पर्याय और अशुद्धता है ही नहीं — ऐसा नहीं है और वह अशुद्धता कर्म के कारण है — ऐसा है ही नहीं। समझ में आया? अपनी पर्याय की उस क्षण की योग्यता के कारण से वह अशुद्धता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप! अब इसे समाज में, यह समझ में नहीं आये इसलिए फिर व्रत और तप करो, भक्ति और यह पूजा और.... आहाहा! भगवान! यह सब तो राग की क्रिया है न नाथ! परन्तु यह कहीं आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं, आहाहा! यह कोई धर्म नहीं, अधर्म है, अधर्म है। ये भी हैं अवश्य, रागभाव वह अधर्म है, वह है अवश्य पर्याय में। आहाहा! उसका लक्ष्य छोड़ाकर त्रिकाली का अवलम्बन ले, प्रभु! जहाँ भगवान पूर्ण परमात्मा पड़ा है, आहाहा! उसका आश्रय दिया है, पर्याय को गौण करके, अभाव करके (त्रिकाली का आश्रय) नहीं दिया है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि वह नय है, यह श्रुतज्ञान-प्रमाण का अंश है;.... नय तो प्रमाण का अंश है। श्रुतज्ञान, वह प्रमाण है। है तो श्रुतज्ञान पर्याय... भावश्रुतज्ञान है तो पर्याय परन्तु वह पर्याय प्रमाण है। क्योंकि द्रव्य और पर्याय इन दोनों को जानती है तो वह प्रमाण है। आहाहा! उस प्रमाण का अंश नय, वह तो प्रमाण का अंश है।

श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष बतलाता है;.... श्रुतज्ञान की (पर्याय) प्रत्यक्ष अन्दर नहीं है, आनन्द का भले प्रत्यक्ष हो परन्तु श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष में, वह नहीं है परोक्ष है; **इसलिए यह नय भी परोक्ष ही बतलाता है।....** देखो, शुद्धनय, श्रुतज्ञान का अंश, श्रुतज्ञान परोक्ष है और उसका भेद नय श्रुत वह भी परोक्ष है।

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र है.... भगवान चैतन्यशक्ति, चैतन्य सामर्थ्य स्वभावरूप। अब क्या कहा देखो ? **वह शक्ति तो आत्मा में परोक्ष है ही;....** वस्तु की शक्ति है, वह तो परोक्ष ही है, द्रव्यस्वभाव तो परोक्ष ही है, वह वस्तुस्वभाव जो है, वह पर्याय में प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता; अत: परोक्ष ही है। आहाहा!

श्रोता : वह तो अन्तर अनन्त अखण्ड प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह प्रत्यक्ष हुई कब ? वह तो एक अपेक्षा से प्रत्यक्ष हुई, यह कहेंगे। आनन्द की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान में पर की अपेक्षा नहीं, इस अपेक्षा से प्रत्यक्ष है। वरना तो है तो परोक्ष ही है।

श्रोता : प्रत्यक्ष प्रमाण किस प्रकार ?

समाधान : प्रत्यक्ष तो अन्दर स्वसंवेदन नामक गुण है — ऐसी उसकी दृष्टि करने से पर्याय में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आता है परन्तु वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष राग की अपेक्षा नहीं इस अपेक्षा से कहा है। बाकी तो वह तो परोक्ष है। ज्ञान प्रत्यक्ष — ऐसा देखता है ? केवलज्ञान देखता है ऐसे श्रुतज्ञान देखता है ? आहाहा! यह तो आया है न वहाँ 'अनुभवो पच्चक्खो' — मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में आया है कि तुम जो प्रत्यक्ष कहते है तो अनुभव में प्रत्यक्ष का वहाँ श्लोक में, वहाँ श्लोक अष्ट सहस्री का है। 'अनुभवो पच्चक्खो' — अनुभव प्रत्यक्ष कहा और तुम तो श्रुतज्ञान को परोक्ष कहते हो ? मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में आया है, कि भाई सुन तो सही किस अपेक्षा से हम परोक्ष कहते है ? यह नय का ज्ञान, जो पूर्णस्वरूप असंख्य प्रदेशी है — ऐसा नहीं देखता है। यह श्रुतज्ञान का अंश, असंख्य प्रदेश है, वह नहीं देखता है परन्तु वेदन में आनन्द आता है, इस अपेक्षा से उसको प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। आनन्द कोई दूसरा वेदन करता है और अपने वेदन में नहीं है — ऐसा नहीं है। इस अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा है। यहाँ परोक्ष ही है। श्रुतज्ञान परोक्ष ही है और दूसरी बात कही थी शक्ति अर्थात् द्रव्यस्वरूप, ऐसा द्रव्य पर्याय में नहीं आया। इसलिए शक्ति परोक्ष हो गयी — ऐसी बात तो अभी चलती है। यह कहा था, पहले कहा था कि शक्ति जो द्रव्यशक्तिरूप त्रिकाली है वह तो परोक्ष ही है क्योंकि प्रत्यक्ष पर्याय में वह नहीं आया — एक बात। दूसरी

बात — **वह शक्ति तो आत्मा में परोक्ष है ही;...** क्या कहते हैं? चैतन्यशक्ति, चैतन्य सामर्थ्य, चैतन्यस्वरूप ध्रुव तो पर्याय में परोक्ष है, पर्याय में आया नहीं। इन पण्डितों के कथन भी अलौकिक हैं! आहाहा! आहाहा! नहीं तो यह गाथा लेना था परन्तु इस कथन में भी समझने की चीज है।

शक्ति तो आत्मा में परोक्ष है ही और उसकी व्यक्ति.... अब देखो! **कर्मसंयोग से मतिश्रुतादि ज्ञानरूप है,....** अन्दर पर्याय में मति-श्रुतज्ञान पर्याय में है। वह शक्ति तो भिन्न-दूर रह गयी परन्तु पर्याय में मति-श्रुतज्ञान प्रगट पर्याय में है। **वह कथंचित् अनुभवगोचर होने से.....** देखो! **प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है,....** मति-श्रुतज्ञान को, मति-श्रुत प्रत्यक्ष जो प्रगट है, उसको प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। त्रिकाल वस्तु तो परोक्ष ही है। आहाहा! अरे... अरे...! ऐसी बातें हैं।

परन्तु वह शक्ति जो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप, भगवान सत् प्रभु की व्यक्ति जो पर्याय में प्रगट होती है, वह मति और श्रुतज्ञान, तो उस मति-श्रुतज्ञान को कथंचित् किसी पर की अपेक्षा रखे बिना स्व को जानते हैं तो वहाँ प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। इस अपेक्षा से (प्रत्यक्ष भी कहा जाता है)। आहाहा! पाटनीजी! बातें तो ऐसी है, भगवान! क्या करे प्रभु! आहाहा! भगवान! तूं इतना बड़ा है कि तेरा पार पाना... आहाहा!

और सम्पूर्णज्ञान-केवलज्ञान.... वह तो **छद्मस्थ के प्रत्यक्ष नहीं है....** इसलिए वह भी परोक्ष है। **तथापि यह शुद्धनय आत्मा के केवलज्ञानरूप को परोक्ष बतलाता है....** अकेला केवल स्वरूप अकेला... **जब तक जीव इस नय को नहीं जानता तब तक आत्मा के पूर्णरूप का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता।....** केवलज्ञान शब्द से यहाँ वह पर्याय नहीं (समझना)। एक ज्ञान, एक ज्ञान, सर्वज्ञ ज्ञान केवल ज्ञान ऐसा पूर्ण स्वरूप, उसको जब तक न जाने, आहाहा! है? **जब तक जीव इस नय को नहीं जानता तब तक आत्मा के पूर्णरूप का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता।....** वह पूर्ण स्वरूप जो ज्ञानशक्ति ध्रुव है, उसको जब तक न जाने, तब तक ज्ञान और श्रद्धान सच्चा नहीं है। आहाहा! है? **इसलिए श्रीगुरु ने इस शुद्धनय को प्रगट करके उपदेश किया है....** इस शुद्धनय को प्रगट करके, स्व का आश्रय दिया है। आहाहा! प्रगट

करके, हाँ! अपने (में) भी पर्याय में शुद्धनय प्रगट करके, पर को प्रगट करने का बतलाया है। आहाहा! अरे...रे! भगवान की पर्याय भी गम्भीर, गुण भी गम्भीर, द्रव्य भी गम्भीर! आहाहा! अलौकिक बातें हैं भाई!

यह बनिये तो अकेले व्यापार में घुस गये और पाप के धन्धे के कारण पूरे दिन फुरसत नहीं मिलती, वहाँ तो पुण्य भी नहीं, धूल में पैसा, वहाँ कहाँ था? वह तो पुण्य होवे तो आता है परन्तु राग में घुस गया, यह करूँ और यह करूँ और यह तो जापानी ने ऐसा कहा था कि जैनधर्म अनुभूति है परन्तु बनियों को हाथ में आया, बनिये व्यवसाय में घुस गये। बनिये अर्थात् व्यापारी, चाहे तो खोजा हो, वह भी व्यापारी कहने में आता है और कोई बनिया जाति है वह बनिया ऐसा अर्थ कहा नहीं। व्यापार करे वह बनिया, तो दूसरे मुसलमान भी व्यापार करे तो वे बनिया कहे जाते हैं, व्यापार करते हैं। उसमें घुस गये। आहाहा! अर...र! सबेरे से रात्रि ये...ये...! ऐसी कल्पना करके सो जाये तो कल्पना तो स्वप्न में भी वही बात आ जाती है।

अरेरे! ऐसा आत्मा को समझना, उसके लिये तो बहुत निवृत्ति चाहिए प्रभु! आहाहा! क्योंकि वह तो विकल्प से भी निवृत्त स्वरूप है। है? तो पर की निवृत्तिस्वरूप तो है ही, परन्तु पर की निवृत्ति से हटता नहीं, छूटता नहीं, प्रवृत्ति में पड़ा-पड़ा पड़ा... आहाहा! तो कहते हैं — **शुद्धनय को प्रगट करके उपदेश किया है कि बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित पूर्णज्ञानघनस्वभाव आत्मा को जानकर श्रद्धान करना चाहिए, पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिए।** पर्याय नहीं है — ऐसा नहीं है परन्तु पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिए। आहाहा!

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखायी नहीं देता और बिना देखे श्रद्धान करना असत् श्रद्धान है। उसका उत्तर यह है — देखे हुए का ही श्रद्धान करना तो नास्तिकमत है। जैनमत में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण माने गये हैं,..... परोक्ष भी प्रमाण है, परोक्ष भी प्रमाण है, प्रत्यक्ष भी प्रमाण है, परोक्ष भी प्रमाण है। प्र + माण - माप करनेवाला, परोक्ष भी यथार्थ प्रमाण है। आहाहा! समझ में आया? यह तो अभी भावार्थ चलता है, उसमें सूक्ष्मता लगती है। आहाहा! है? **देखे हुए का ही श्रद्धान करना तो नास्तिकमत है। जैनमत में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण**

माने गये हैं,.... दोनों प्रमाण हैं। **उनमें से आगम प्रमाण परोक्ष है;...** आगम अर्थात् यह ज्ञान, हाँ! भावश्रुतज्ञान वह आगम प्रमाण, वह ज्ञान, उसका अर्थ शुद्धनय है।

भावश्रुतज्ञान आगम प्रमाण, यह आगम, हाँ! आगम अर्थात् शास्त्र नहीं, भावश्रुतज्ञान जो है, वह परोक्ष है और **उसका भेद शुद्धनय है। इस शुद्धनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए,....** आहाहा! पर्याय है, इसका लक्ष्य तो रखना चाहिए परन्तु वह बुद्धि छोड़कर, द्रव्य की लक्ष्य बुद्धि करना चाहिए। आहाहा! अरे! ऐसी बातें अब! **मात्र व्यवहार-प्रत्यक्ष का ही एकान्त नहीं करना चाहिए।** बस इतना, व्यवहार पर्याय है, गुण-गुणी भेद है परन्तु मात्र व्यवहार का ही पक्ष नहीं करना चाहिए। है उसका ज्ञान करके त्रिकाली का आश्रय करना, वह सम्यग्दर्शन है। आहाहा! है ? अब, इस शुद्धनय को मुख्य करके कलश कहते हैं, उसका कलश है। यह तो टीका का भावार्थ आया, समझ में आया ? अब उसका कलश कहेंगे, विशेष....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - ११

यहाँ, इस शुद्धनय को मुख्य करके कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥ ११॥

श्लोकार्थ : [जगत् तम् एव सम्यक्स्वभावम् अनुभवतु] जगत के प्राणियों! इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो कि [यत्र] जहाँ [अमी बद्धस्पृष्टभावादयः] यह बद्धस्पृष्टादिभाव [एत्य स्फुटम् उपरि तरन्तः अपि] स्पष्टतया उस स्वभाव के ऊपर तरते हैं, तथापि वे [प्रतिष्ठाम् न हि विदधति] (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते,

क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है एकरूप है और यह भाव अनित्य हैं अनेकरूप हैं; पर्यायें द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती हैं। [समन्तात द्योतमानं] यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान हैं। [अपगतमोहीभूय] ऐसे शुद्ध स्वभाव का, मोहरहित होकर जगत अनुभव करे; क्योंकि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।

भावार्थ - यहाँ यह उपदेश है कि शुद्धनय के विषयरूप आत्मा का अनुभव करो।

प्रवचन नं. ७१ कलश-११-१२ दिनाङ्क २८-०८-१९७८ सोमवार
श्रावण कृष्ण १०, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्रीसमयसार — अब कलश है, ११

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥ ११ ॥

'जगत् तम् एव सम्यक्स्वभावम् अनुभवतु' जगत के.... अर्थात् **जगत् के प्राणियों!** आहाहा! **जगत के प्राणियों! इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो....** आहाहा! जो आत्मा त्रिकाल ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, एक समय की पर्याय से भिन्न है... सूक्ष्म बात है भाई! धर्म कोई अलौकिक चीज है। जो एक समय की पर्याय है... यह आयेगा... उससे अन्तर में चीज — ज्ञायक आनन्द शान्त वीतरागस्वरूप से पूर्ण भरा पड़ा पदार्थ है, उसको यहाँ सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो — ऐसा कहा है। आहाहा! सम्यक् अर्थात् त्रिकाली सत्य वस्तु, तत्त्व, वस्तु त्रिकाली ज्ञायक आनन्दकन्द प्रभु का अनुभव करो तो कल्याण होगा, नहीं तो परिभ्रमण नहीं मिटेगा। चौरासी के अवतार करते-करते दुःखी है।

यह पैसेवाले, अरबोंपति और राजा, यह सब दुःखी-भिखारी है, रंक है, रंक — वरांका (भिखारी) कहते हैं। आहाहा! क्योंकि अपनी लक्ष्मी क्या है ? — उसका पता नहीं और बाहर की धूल की लक्ष्मी जड़, मिट्टी, धूल... ऐ...ई! हसमुखभाई!... उसे अपना

मानते हैं, वे भिखारी हैं, शास्त्र तो ऐसा कहते हैं — रंक है रंक। आहा! ऐ...ई महेन्द्रभाई! यहाँ तो कहते हैं कि तेरी लक्ष्मी अन्दर चैतन्यस्वभाव में अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रभुता, अनन्त स्वच्छता आदि अनन्त लक्ष्मी अन्दर पड़ी है। भाई! तुझे पता नहीं है। तेरी एक समय की वर्तमान पर्याय जो व्यक्त-प्रगट है, उसके पीछे — सन्मुख, समीप में सारा तत्त्व पड़ा है। आहाहा! समझ में आया? यह सम्यक् स्वभाव की व्याख्या! त्रिकाली सत्य स्वभाव, ज्ञायक अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय प्रभुता — ऐसा जो स्थायी असली त्रिकाली स्वभाव (है); तुझे जन्म-मरण का अन्त लाना हो तो प्रभु! आहाहा! **इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो....** आहाहा!

वह त्रिकाली आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा, सद्चिदानन्दस्वरूप वह आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ आत्मा अन्दर है, उसके सन्मुख होकर, पर से विमुख होकर... यह बाद में कहेंगे... अपना स्वभाव... भाई! कठिन बात है। अभी तो यह बात गुम हो गयी, ऐसी हो गयी है। धर्म अर्थात् यह दया पालना, व्रत करना, और उपवास करना, और भक्ति (करना) यह धर्म (ऐसा हो गया है परन्तु इनमें) धूल भी धर्म नहीं है। सुन तो सही! समझ में आया? अपना जो असली नित्य स्वभाव, ध्रुव स्वभाव, वर्तमान उत्पाद-व्यय की पर्याय से भी भिन्न स्वरूप (है) आहाहा! अभी कहेंगे कि उत्पाद-व्यय की पर्याय में जो पाँच बोल (गाथा) १४ में कहे, उसका स्पष्टीकरण करेंगे। सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो। प्रभु! यदि तुझे कल्याण करना हो तो (सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो)। आहाहा! महाप्रभु चैतन्यस्वरूप अन्दर पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान आदि स्वभाव से भरा पड़ा भगवान अन्दर है न प्रभु! आहाहा! तुम अन्दर भगवानस्वरूप ही हो। यह तेरा स्वभाव परमात्मस्वरूप ही है और तेरा स्वभाव... आहाहा! पूर्ण वीतरागस्वभाव से भरपूर वस्तु अन्दर है, भाई! तुझे पता नहीं है। समझ में आया?

दुनिया की चतुराई के कारण चैतन्य की चीज को भूल गया है। दुनिया की सब पागलपन की चतुराई है। क्या कहा? हसमुखभाई! यह तुम्हारे करोड़ों रुपये के पत्थर और धूल और उनमें चतुराई — यह किया और यह किया — सब मूर्खता है। आहाहा! जो वस्तु अन्दर चिदानन्द आनन्दकन्द प्रभु है... सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव ने भी ऐसा कहा, वह यहाँ कहा

जाता है। प्रभु! तुझे पता नहीं है। तेरी परमात्मशक्ति और वीतरागस्वभावस्वरूप तेरी चीज... आहाहा! यह तुझे तेरा पता नहीं है। आहाहा! तो कहते हैं, एक बार.... यह तो सार, एकदम (सार) ले लिया है। आहाहा! **इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो....**

जहाँ.... अब यहाँ आया, उस गाथा में आया था न? चौदहवीं (गाथा में आया था) **यह बद्धस्पृष्टादिभाव....** क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात है भगवान! यह राग का सम्बन्ध जो पर्याय में दिखता है, वह सम्बन्ध ऊपर (—ऊपर) है; अन्तर चीज में नहीं। बद्धस्पृष्ट जो राग और विस्रसा परमाणु, वे कर्म होने योग्य जो परमाणु अन्दर है, उससे बद्धस्पृष्ट दिखता है, एक वर्तमान समय की पर्याय देखने से, परन्तु वह चीज अन्तर में नहीं जाती, वह ऊपर-ऊपर रहती है। आहाहा! अरे! अब ऐसा उपदेश! अरे...रे! पर्याय ऊपर रहती है, जैसे पानी के दल में तेल की बूँद गिरती है, तेल की (बूँद), वह ऊपर रहती है (पानी में) अन्दर प्रवेश नहीं करती।

श्रोता : चमड़ी के ऊपर ऊपर रहती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चमड़ी नहीं, अन्दर में पर्याय सारे असंख्य प्रदेश के ऊपर पर्याय रहती है।

यह तो पहले कहा था (आत्मा में) असंख्य प्रदेश हैं। प्रभु! सूक्ष्म बात है भाई!

श्रोता : ऊपर-ऊपर कैसे रहती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो कहते हैं न! असंख्य प्रदेश जो अन्दर ध्रुव हैं और असंख्य प्रदेशों के ऊपर एक समय की पर्याय है। राग के सम्बन्धवाली, अनियत, अनेक-अनेक — भिन्न-भिन्न पर्याय होती है वह। (आत्मा) अबद्धस्पृष्ट, नियत, अनन्य (है)। नारकी गति आदि, नरक गति आदि जो अन्य-अन्य वह पर्याय में ऊपर-ऊपर है और (आत्मा) असंयुक्त है, राग से संयुक्त नहीं परन्तु पर्याय में आकुलता के सहित दिखाई देता है और उसमें विशेष-गुणभेद भी नहीं, आहाहा! और विशेष-गुण की विशेषता, वह भी ऊपर-ऊपर तैरती है, अन्दर नहीं जाती है। आहाहा! सूक्ष्म बात भाई!

धर्म-वीतराग जिनेश्वर का मार्ग कोई अलौकिक है! वर्तमान में तो बाह्य में पूरी बात खो गयी, मानो कि.... ! आहाहा! आहाहा!

श्रोता : आपने शोधकर निकाली।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ कहते हैं, यह खुली वस्तु है प्रभु! तुझे पता नहीं न, भाई! यह साधु नाम धराते हैं, उन्हें भी पता नहीं क्या चीज है? नाम धराते हैं और लोग मानते हैं परन्तु अन्तर (में स्वरूप का) साधन करना, जो अन्तर (में) राग से भिन्न, इन पाँच बोल से — अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, असंयुक्त, अविशेष और नियत — इन पाँच प्रकार से (द्रव्यस्वभाव) पर्यायों के भेद से भिन्न है। ये (पर्यायें) ऊपर-ऊपर हैं, अन्दर द्रव्यस्वभाव में ये चीज नहीं जाती। आहाहा!

यह क्या कहते हैं? पहला तो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, इच्छामि पडिक्कमा, मिच्छामी दुक्खणं — जाओ! यह धूल में भी नहीं। सुन तो सही अब! आहाहा! यहाँ कहते हैं **यह बद्धस्पृष्टादिभाव**.... यह क्या कहा? राग का पर्याय में जो सम्बन्ध है और पर्याय में अनियतता अर्थात् अनेक प्रकार की — विविध पर्याय उत्पन्न होती है और विशेषता जो गुण की, गुणी तो त्रिकाली है, उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र विशेषता भी ऊपर-ऊपर है, पर्याय में है। आहाहा! और राग तथा द्वेष की आकुलता — यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम — यह सब आकुलता है। आहाहा! यह आकुलता ऊपर-ऊपर रहती है; आनन्द के नाथ में अन्दर प्रवेश नहीं करती। आहाहा!

श्रोता : अखण्ड पदार्थ में ऊपर क्या और नीचे क्या?

समाधान : यह तो कहा न? जैसे पानी के दल में तेल की बूँद पड़ी है, वह ऊपर रहती है, अन्दर नहीं जाती, वैसे...

श्रोता : पदार्थ तो अखण्ड है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अखण्ड है, वह द्रव्यरूप से अखण्ड है; पर्यायरूप से खण्ड — भेद है। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई!

परम सत्य! कोई सर्वज्ञ जिनेश्वर परमेश्वर ने कहा जो सूक्ष्म परम तत्त्व, (वह) कोई अलौकिक बात है। लोगों को बेचारों को अभी नहीं मिलती। बेचारे अर्थात्? भले वह अरबोंपति हो और राजा हो परन्तु वह सब बेचारे भिखारी हैं। अपनी चीज का पता नहीं, वह चलता मुर्दा है। अष्टपाहुड़ में कहा है, अपनी चीज अन्दर चिदानन्द अखण्ड

आनन्द का कन्द ध्रुव क्या चीज है — उसका पता नहीं वह चलता मुर्दा है। अष्टपाहुड़ में आया है। अष्टपाहुड़ शास्त्र है, उसमें आया है। आहाहा! बाहर में सब शरीर, पैसा, मकान, बड़ा पचास-पचास लाख का बंगला हो और सत्तर लाख का (बंगला हो)। हम वहाँ मुम्बई उतरे थे न, आमोद के हैं न? आमोद के, आमोद के रमणीकभाई, उस कम्पनी का नाम क्या है, वह भूल गये। क्या है? रौनक कम्पनी। अपने को कुछ नाम नहीं आता, वह आमोद के — हमारे पालेज के पास... पालेज (में) हमारी दुकान थी न, हैं न, अभी भी है न, पालेज के पास आमोद है। वे आमोद के वहाँ हैं। पाँच-छह करोड़ रुपये (है)। सत्तर लाख का तो एक बंगला, जिसमें हम उतरे थे, जयन्ती थी, न किस वर्ष की? - ८७, ८७, ८७ वीं जयन्ती शरीर की थी न, अभी तो ८९ हुआ। तब उनके मकान में उतरे थे, पन्द्रह दिन रहे थे।

श्रोता : बड़ी आनन्द की जगह होगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं, वहाँ मैंने तो उसको उस समय ऐसा कहा था कि यह एक समुद्र नजदीक है, अत्यन्त नजदीक है, समुद्र के किनारे सत्तर लाख का बंगला है। एक बंगला सत्तर लाख का, देखा है या नहीं गोदिकाजी! वहाँ आये थे न सब वहाँ आये थे। नजदीक में समुद्र है, वहाँ बगुला उड़ता था, बगुला, यह बगुला नहीं? कबूतर (जैसा), तो इतने उड़ते थे, उड़ते थे, मछली खाने को। मैंने उनसे पूछा भाई! यह बगुले कहाँ तक जाते हैं? कि समुद्र में बीस मील तक जाते हैं। बीस मील तक मछली लेने को (जाते हैं)। आहाहा! अद्धर, वृक्ष नहीं, कुछ नहीं, आहाहा! वे अद्धर से बीस मील तक जाते हैं, जहाँ तक मछली पूरी नहीं मिले (जाते हैं) और फिर नरक में जाना है। प्रभु! अर...र...! आहाहा! वे तो नरक में जानेवाले हैं। और उस नरक की पीड़ा... प्रभु! तू अनन्त बार गया है। भाई! तुझे पता नहीं है। उस नरक की एक-एक क्षण की पीड़ा, दु:ख-भगवान कहते हैं कि करोड़ों जीभ और करोड़ों भव से नहीं (कहे जा सकते) प्रभु! ऐसे दु:ख की वेदना तूने सहन की है परन्तु तेरी चीज क्या है, कभी उसकी पहिचान नहीं की है। आहाहा! दुनिया के होशियार हो गये और दस-दस हजार — बीस-बीस हजार का मासिक वेतन और पाँच-पाँच लाख की मासिक आमदनी और उसमें — धूल में आया क्या? आहाहा! ए... रंगुलालजी! आहाहा!

यहाँ कहते हैं ये भाव तेरे विकल्प हों — शुभ-अशुभराग; और पर्याय में अनियतता अर्थात् एकरूप दशा न हो, वह और पर्याय में राग और आकुलता हो, वह सब ऊपर-ऊपर है, पर्याय में है, अवस्था में है; वस्तु जो ध्रुव है, उसमें वे नहीं हैं। आहाहा! ऐसी बातें भाई! पहले तो सुनने को ही नहीं मिलती बापू! क्या करें? सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर का यह हुक्म है। परमेश्वर (सीमन्धरनाथ) भगवान तो वहाँ — महाविदेह में विराजमान हैं, यह उनकी आज्ञा का मार्ग है। आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर परमात्मा!

श्रोता : हमें तो आप बता रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य गये थे (संवत्) ४९ (में वहाँ गये थे) आठ दिन रहे थे, साक्षात् समवसरण में इन्द्र सुनने को आते हैं, जंगल में से अभी बाघ और सिंह आते हैं, वहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव गये थे। सवंत् ४९ (में) २००० वर्ष पहले (गये थे)। समझ में आया? आहाहा! वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये हैं। यह भगवान का सन्देश है। आहाहा!

श्रोता : आप भी वहीं थे, स्वामी जी! आप भी वहीं थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब हमारी उपस्थिति तो समवसरण में थी परन्तु यह सूक्ष्म व्यक्तिगत बात है। यह तो तात्विक बात कहना है। समझ में आया? वहाँ समवसरण में हमारी उपस्थिति थी, वहाँ से हम यहाँ आये हैं। समझ में आया? यह जरा व्यक्तिगत बात है, व्यक्तिगत बात का विश्वास आना यह जरा सूक्ष्म है। यह तो अपने तात्विक बात की चर्चा है। समझ में आया? यहाँ तो तात्विक बात कहते हैं। उस व्यक्तिगत बात का कुछ उसका.... क्योंकि वह चीज दूसरी है भैया! वह तो अन्तर की चीज है।

यहाँ कहते हैं कि बद्धस्पृष्ट जो पाँच बोल कहे.... अपने बहुत चले, बहुत दिन से चलते हैं — ये पाँच बोल। **'एत्य स्फुटम् उपरि तरन्तः'** आहाहा! **स्पष्टतया उस स्वभाव के ऊपर तरते हैं,....** क्या कहते हैं? आहा! जैसे वह जल का दल है — पच्चीस मण, पचास मण, पानी का दल और उसके ऊपर तेल की बूँद डाले तो वह दल में प्रवेश नहीं करती, ऊपर-ऊपर रहती है, चिकनाहट पानी के दल के पिण्ड में प्रवेश नहीं करती। आहाहा! वैसे ही भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द और शान्तरस का पिण्ड प्रभु आत्मा,

उसके ऊपर यह राग-द्वेष आदि पाँच बोल हैं, वे ऊपर तिरते हैं, अन्दर में नहीं जा सकते हैं। आहाहा! क्या कहते हैं? ऐसा यह उपदेश किस प्रकार का, हसमुखभाई? वहाँ तुम्हारे खान के वे पत्थर, थाने में क्या कहलाता है तुम्हारे वह तख्ती पत्थर की, वहाँ उतरे थे न, हम तुम्हारे मकान में! भाई थे न पोपटभाई, धूल में भी वह कुछ नहीं हुआ वहाँ। १५-१५ लाख के २०-२० लाख के मकान और यह बड़ी आमदनी और सब धूल है, सब चार गति में भटकने के रास्ते हैं। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा... शरीर, वाणी, कर्म, पैसा यह चीज तो बाहर दूर रह गयी, यह तो इसकी पर्याय में भी नहीं। क्या कहा? यह शरीर तो मिट्टी, धूल की धूल है, यह तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं है। पैसा-वैसा (तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं है) गोदिकाजी! यह तुम्हारे करोड़ों रुपये-बुपये यह आत्मा की पर्याय में नहीं है। स्त्री, पुत्र, परिवार, धूल और मकान — यह सब तेरी पर्याय में भी नहीं। पर्याय समझे? अवस्था, वर्तमान अवस्था में भी नहीं है। आहाहा!

यह जो अवस्था — जो बद्धस्पृष्ट आदि पाँच बोल की दशा है, वह पर्याय में है; नहीं है — ऐसा नहीं परन्तु वह ऊपर-ऊपर रहती है। त्रिकाली द्रव्य आनन्द का नाथ भगवान सद्चिदानन्द प्रभु, सर्वज्ञ परमेश्वर — जिनेश्वर ने देखा वह, हाँ! अन्य लोग कहते हैं वह वस्तु नहीं, यह वस्तु उन्हें कहीं हाथ भी नहीं आयी। यह तो जिनेश्वर, त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतराग ने जो अन्दर आत्मा (देखा) कहा.... आहाहा! ऐसी चीज हो ध्रुव आत्मा, ध्रुव आत्मा, ज्ञायक आत्मा, भाव स्वभाव शुद्धस्वभावरूप आत्मा (है), उसमें यह पाँच प्रकार की पर्याय कही, (वह) ऊपर-ऊपर तैरती है। देखो! **स्पष्टतया....** प्रत्यक्ष यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! **उस स्वभाव के ऊपर तरते हैं....** यह क्या कहते हैं? आहाहा! नित्यानन्द प्रभु अन्दर स्थायी परम सत्य त्रिकाल टिकनेवाली चीज में वर्तमान पर्याय की यह दशा ऊपर रहती है, अन्दर नहीं जा सकती। आहाहा! समझ में आया? पर्याय है —

यह शरीर, वाणी, मन तो धूल और पर (है)। इसकी तो यहाँ बात नहीं है, यह तो इसकी पर्याय में भी नहीं है परन्तु इसकी पर्याय — हालत वर्तमान हालत में पाँच बोल हैं।

राग का सम्बन्ध, अनियत, अनेक-अनेक प्रकार का भिन्न-भिन्नपना, विशेषपना, अन्य-अन्य गतिपना और संयुक्त अर्थात् विकार की दशा की आकुलता का संयुक्तपना, यह पर्याय में है, वर्तमान दशा की अवस्था में है। समझ में आया? जैसे स्वर्ण / सोना है, वह जो सोना है वह तो पीलापन और चिकनेपन से भरा पदार्थ, वह कायम है और उसका कुण्डल, कडा, अंगूठी होती है, वह अवस्था है, वह अवस्था सोने के त्रिकाली स्वभाव में प्रवेश नहीं करती, अवस्था! अरे... अरे...! ऐसा है, समझ में आया? भाई! धर्म समझना कोई अपूर्व बात है, बाकी यह पैसा मिलना, अरबोंपति और राजा (होना) भी अनन्त बार मिला, यह कोई नयी चीज नहीं है। यह तो भटकने का भाव — चार गति में रुलने का भाव और वह चीज तो अनन्त बार मिली। आहाहा! परन्तु यहाँ परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ कहते हैं, वह (बात) सन्त आडतिया होकर जगत के सामने माल रखते हैं। आहाहा!

श्रोता : भगवान में यह गड़बड़ भरी किस प्रकार?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? भरी नहीं न? किसने भरी है? पर्याय में है, उसकी दशा में है, अन्दर में नहीं भरा है। यह बात तो चलती है। गड़बड़ पर्याय में खड़ी की है, वह है इसकी दशा में, वस्तु में नहीं। आहाहा! वस्तु शब्द से त्रिकाली चीज... आहाहा! त्रिकाली तो अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु ध्रुव (है), उस पर ऊपर-ऊपर पर्याय है, ध्रुव में कैसे जा सकती है? आहाहा! समझ में आया? कठिन बात है, प्रभु! क्या हो?

अभी तो यहाँ बहुत लोग आयेंगे तो सबको यह समझना पड़ेगा, प्रभु! बाहर में धूल में कुछ नहीं, हाँ! मर जाएगा। यह बनिया बड़ा व्यापारी होता है न, यह माँस और शराब नहीं खाता (-पीता) परन्तु व्यापार के आर्तध्यान और रौद्रध्यान के परिणाम में यह मरकर पशु होनेवाले हैं — ढोर, मछली के पेट में और बकरी के पेट में या कुतिया के पेट में जानेवाले हैं। आहाहा! ए...धन्नालालजी! व्यापार के धन्धे के पाप (में) इतने तो लीन, लीन और आर्तध्यान — रौद्रध्यान... अभी धर्मश्रवण करने का दो चार घण्टे का भी (समय) नहीं है और धर्म तो है नहीं परन्तु धर्मश्रवण - सत्श्रवण क्या है — उसके लिए चार घण्टे दिन में निकालना तो नहीं, एक आधा घण्टा-एक घण्टा मिला वह भी उसे कुगुरु मिला — ऐसी बात। ऐसे तुम व्रत करो और तप करो (ऐसा कहकर) कुगुरु उसमें एक घण्टा लूट लेता है। समझ में आया? ए...!

श्रोता : क्या करें साहब ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं, क्या करें ? उसकी दृष्टि छोड़कर अन्दर द्रव्य में जाना वह करना है। आहाहा !

श्रोता : आप जाने की विधि बता दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहते हैं न यह...

हमारा तो भागीदार था, भाई (था), बुआ का लड़का, उससे भी मैंने कहा था — ६६ की साल (में) कहा न, ६६ की साल, ६६ कितने वर्ष हुए ? (संवत्) १९६६ है ? ६८ वर्ष पहले कहा था, मेरी उम्र २० वर्ष की थी, अभी ८९ चलता है। इस जन्म के, हाँ ! गर्भ के तो ८९ पूरे हो गये। सवा नौ महीने, वहाँ से गिनने में आते हैं न ? वह ९० चलता है। उस समय हमारा भाई था और बड़ी दुकान थी, दो दुकानें हैं। अभी बड़ी दुकान है, ३५-४० लाख रुपये हैं, दुकान है। हमारे पिताजी की दुकान थी और दूसरी हमारे बुआ के लड़के की थी। ३५-४० लाख रुपये अभी हैं, ३-४ लाख की आमदनी है। अभी पालेज में (है), भरूच और बड़ोदरा के बीच (पालेज है)। मैंने भी वहाँ पाँच वर्ष दुकान चलायी थी, १७ से २२ वर्ष की उम्र में संवत् १९६३ से १९६८ (तक) चलायी थी, परन्तु यह कहा मैंने तो कहा था। उसमें उसको — भाई को (कहा था), मैं तो पहले से — छोटी उम्र से भगत कहलाता था। मैंने तो उसे कहा था, मैं दुकान की गद्दी पर बैठा था, कुँवरजी मुझसे चार वर्ष बड़े थे, मुझे ९० वर्ष (हुए) उनको ९४.... (कहा था..) मरकर तिर्यंच होने जायेगा, यह ध्यान रखना तुम। हम बनिये हैं - इसलिए माँस और शराब और अण्डे तो खाते नहीं, इसलिए नरक में तो नहीं जायेंगे। यह याद रखो कहा। ए...गोदिकाजी ! यह ६६, संवत् १९६६ (की बात है)।

श्रोता : आपका अनुयायी तो कहीं नहीं जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अनुयायी कहाँ है ? यह आत्मा का अनुयायी हो, यह तो जिसे दो चार घण्टे सुनने में मिला है, संस्कार है, वह प्राणी तो स्वर्ग में ही जायेगा, परन्तु यहाँ जिसे संस्कार भी नहीं, कुछ सुनने में सत् आया नहीं और बाहर में ऐसी सिरपच्ची — घाणी में पिले ऐसे आत्मा को पेल दिया है, राग और द्वेष में, आहाहा ! वह प्राणी तो.... कहा

मैंने उससे कहा था — याद रखो, कहा.... बोले नहीं मेरे सामने, मैं तो भगत कहलाता था छोटी उम्र से हमारी दुकान तो चलती थी, मैं तो शास्त्र पढ़ता था, पढ़ता था। (मैंने कहा) तिर्यंच में जाएगा, तुझे देव होना मुझे तो लगता नहीं और मनुष्य होना मुझे नहीं लगता, तू मनुष्य हो, बोले नहीं, आहाहा! एक तिर्यंचगति और हुआ ऐसा, मरते समय ऐसे बहुत पैसा कमाने में दो-दो लाख की आमदनी, दस-दस लाख रुपया छोड़कर गया। अब तो अभी बढ़ गया था। मैंने किया, मैंने किया — ऐसी दुकान चलायी, व्यवस्था की.... धूल भी नहीं है सुन न! तूने क्या किया? तूने किया अज्ञान, राग, द्वेष। ए... महेन्द्रभाई!

श्रोता : आपको कैसे पता चला कि वह पशु में गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, यहाँ गति नहीं, ऐसा। तेरा लक्षण नहीं दिखता, कहा। हम उस समय भी शास्त्र पढ़ते थे न, हम दुकान चलाते थे, जब भागीदार वहाँ गद्दी पर बैठा हो, तब हम अन्दर पढ़ते थे, भागीदार न हो तो हमें दुकान पर बैठना पड़े यह तो ६३ से ६८ की बात है। संवत् ६३ से ६८। कितनों का तो उस (समय) जन्म भी नहीं हुआ होगा अभी। आहाहा! हमको तो पूर्व के संस्कार थे न तो ऐसा कहा — हम मनुष्य हैं, बनिये हैं, और माँस-दारू नहीं और देव में जाने के लक्षण मुझे लगते नहीं क्योंकि तेरा पुण्य का परिणाम ऐसा नहीं है। और मनुष्य होने की योग्यता मुझे नहीं दिखती या ऐसा भी तेरा विनयपना, कषाय की मन्दता भी नहीं दिखती। (कुछ) बोले नहीं।

श्रोता : सामने कहा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : सामने कहा था, और बैठै थे न, गद्दी पर बैठे थे न, कहा न हमारी दो दुकानें थीं। दो दुकान, तीस लोग थे, एक रसोई में भोजन करते थे, तो एक दुकान में भोजन करने को गये तो वहाँ मुझसे ऐसा बोलना हो गया। वहाँ मेरा बड़ा भाई भी बैठा था, वह तो सरल था। मेरा बड़ा भाई और वे, उनके बड़े भाई और मैं, दो दुकानें थी। कहा — पूरे दिन यह आर्तध्यान, सुना है कोई धर्म क्या चीज है या किस गाँव में साधु आये तो रात्रि में आठ बजे के बाद जाये, दिन में सामने देखे नहीं , गाँव में साधु आये हों तो.... वह माने हुए साधु उनके सम्पद्राय के, जो कि साधु हैं नहीं। समझ में आया? परन्तु उनकी स्थिति बाहर में ऐसी (थी कि) साधु आवे तो भी न जाये, रात्रि को आठ बजे जाये।

कहा, यह क्या लगा रखी है पूरे दिन तूने ? दुनिया भले ही चतुर (कहे) और दुनिया के सब महिमा करे पागल व्यक्ति, पागल महिमा करे इससे तेरी रिपोर्ट — परिणाम आ गया ? उसका क्या कहलाता है वह रिपोर्ट, क्या कहलाती है ? सर्टीफिकेट, यह सब पागल तुझे सर्टीफिकेट दे कि ओ...हो... ! बहुत तुमने बहुत किया। आहाहा ! पैसा कमाया और उसमें से तुमने पाँच हजार दिये और दस हजार दिये और उसमें भी वापस मान हो, वहाँ मेरा नाम सामने रखना, तख्ती में..... इतनी अधिक तख्ती लगाते हैं। यह तो तेरा पुण्य का भी ठिकाना नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि वह चीज तो कहीं दूसरी रही परन्तु यहाँ तो पर्याय में जो पाँच बोल हैं, प्रभु ! तेरी चीज वह अन्दर आनन्द का नाथ भगवान पूर्णानन्द प्रभु है, उसमें ये हैं ही नहीं। आाहाहा ! उसकी दृष्टि कर, उसका अनुभव कर ! तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा और तब जन्म-मरण का अन्त आयेगा, नहीं तो अन्त नहीं आयेगा। आहाहा ! समझ में आया ?

यह कहते हैं। क्या यह देखो, आहाहा ! **ऊपर तरते हैं....** तिरते हैं। है या नहीं अन्दर ? '**स्फुटम् उपरि तरन्तः**' आहाहा ! यह क्या कहते हैं ? शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, पुत्र ऊपर तरते हैं, यह तो बात है ही नहीं, वे तो दूर रहते हैं। पर्याय में रहे, आहाहा ! गोदिकाजी ! आहाहा ! यह अमेरिका में जाते हैं न कमाने... कमाने.... कमाने; आर्तध्यान और पैसा आवे दो-चार लाख आवे, जाकर आवे वहाँ.... अब धूल में यह कहाँ तेरे लाख क्या, करोड़ आये तो भी क्या चीज है। यहाँ तो कहते हैं वह चीज तो दूर रह गयी, वह आत्मा की पर्याय में भी लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब परिवार तो है नहीं, परन्तु तेरी पर्याय में वह वस्तु नहीं, परन्तु उस पर्याय में रागादि है, आकुलता का भाव है, वह त्रिकाली आनन्दकन्द में उसके ऊपर-ऊपर है, अन्दर में नहीं। आहाहा ! समझ में आया ? है ? क्या कहते हैं ?

तथापि... क्या कहते हैं ? अभी तो पर्याय का नाम सुना नहीं होगा। सारी जिन्दगी मजदूर की तरह निकाली, बड़ा मजदूर ! अन्य मजदूर तो अभी सबेरे आठ से बारह — चार घण्टे काम करते हैं और दोपहर दो से छह (काम करते हैं) । यह मजदूर सबेरे से छह बजे उठता है और रात्रि के आठ बजे तक.... अरे ! वह तो चार घण्टे में तो आधा घण्टा दूसरा निकाल डालता है, बीड़ी पीता है और पेशाब करने जाना है और यह तो भाईसाहब बैठे

दुकान में और रात के आठ.... आहाहा! बड़ा मजदूर! ए... हसमुखभाई! यहाँ तो यह बात है बड़ा मजदूर अर्थात् यह मजदूरी नहीं। समझते हैं, बड़ा मजदूर, लो बड़ा मजदूर, यह सब व्यापारी आदि हैं, वे बड़े मजदूर हैं। सबेरे से शाम तक काम करते हैं, अकेला पाप... पाप... पाप... पाप... यहाँ तो कहते हैं कि यह पर की क्रिया कर नहीं सकता, परन्तु अपनी पर्याय में जो राग-द्वेष आदि आया, आहाहा! वह पर्याय भी ऊपर रहती है, द्रव्यस्वभाव में नहीं जाती। आहाहा! समझ में आया?

तथापि वे (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते,.... आहाहा! यह राग, द्वेष, पुण्य और पाप पर्याय में अनेकता की विविधता और गुण की विशेषता यह अन्दर में शोभा नहीं पाते, अन्दर में प्रविष्ट नहीं हो सकते, इनको अन्दर में आधार नहीं मिलता। आहाहा! ऐसी चीज है।

श्रोता : महाराज! ध्रुव स्वभाव का क्या बिगड़ा?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव तो ऐसा का ऐसा है, पर्याय में बिगाड़ है और पर्याय में दुःख है, पर्याय में संसार है। समझ में आया? वस्तुस्वभाव तो ऐसा का ऐसा ही है — ऐसा बिगाड़ हो तो वह पर्याय में है, संसार पर्याय में है, राग-द्वेष पर्याय में है, संसार परिभ्रमण पर्याय में है, दुःख पर्याय में है, वस्तु उससे भिन्न स्थायी है, चाहे जितना पर्याय में दुःख आया, वस्तु तो आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्यघन रही है। आहाहा! ऐसी बात है न? आहाहा!

भाई! तुझे तेरी चीज का पता नहीं और कहाँ-कहाँ तू.... वह मृग होता है न — हिरन, उसकी नाभि में कस्तूरी होती है, नाभि में, परन्तु गन्ध आती है तो वह जानता है कि बाहर से आती है, बाहर भ्रमता है, ऐसे आनन्द तो अन्दर में है, परन्तु मानो बाहर से आनन्द मिलता है, पैसे में से, स्त्री में से, लड़के में से, परिवार में से (आनन्द मिलता है...) धूल में भी नहीं है। सुन तो सही, आहाहा! रंगूलालजी! आहाहा! यहाँ तो भगवान तीन लोक का नाथ, (ने) जाना ऐसा कहा, वैसा सन्त अनुभव करके कहते हैं। आहाहा! प्रभु! भगवानरूप से ही बुलाते हैं, आचार्य तो, आत्मा भगवानस्वरूप अन्दर है। आहाहा! तेरा भगवानस्वरूप जो अन्दर है, उसमें यह पर्याय की पामरता अन्दर प्रवेश नहीं करती, यह पर्याय की शोभा अन्दर में नहीं जा सकती; आत्मा उसको शोभा नहीं देता, आहाहा! है? **प्रतिष्ठा नहीं पाते,....** अर्थात् शोभा नहीं होती।

क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है.... जो वस्तु-द्रव्यस्वभाव पदार्थ है, वह तो नित्य कायम है। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु वस्तु तो अलौकिक है बापू! अरे! बेचारे को (सुनने को) नहीं मिलती अभी तो.... आहाहा! पूरे दिन मजदूरी कर-करके मरकर चले जानेवाले हैं। आहाहा! यह छिपकली यहाँ घूमती है न, और बहुत घूमती है इसलिए एकदम विचार आ जाता है, छिपकली, खिसकोली क्या कहते है? गिलहरी है? स्वाध्याय मन्दिर में बहुत घूमती है, बहुत चारों ओर फिर यह तो कहा कौन? बहुत घूमता है वहाँ कायम बहुत महीने हुए, कौन जाने कहाँ का जीव होगा, कहा यह। छिपकली बहुत फिरती है। आहाहा! अरे...रे! इसका आत्मा कहाँ, कहाँ की हुई दशा, कहाँ यह मनुष्यपना पावे, आहाहा! और कब यह विचार सुनने में आवे और सुनने में आने के बाद अन्दर अमल में कब आये? अर...र...! है?

भगवान आत्मा का त्रिकाली तो नित्य स्वभाव है। है? एकरूप — दो, एक तो त्रिकाली नित्य है और एकरूप है। पर्याय अनित्य है और अनेकरूप है। आहाहा! समझ में आया? भाई! यह तो भगवान जिनेश्वरदेव की धर्म कथा की बात है। बापू! यह कोई 'चीड़िया लाई चावल का दाना, चिड़ा लाया मूँग का दाना, बनायी खिचड़ी और....' यह ऐसी कथाएँ चलती हैं अभी तो - व्रत करो, अपवास करो, और यह करो... धूल भी नहीं सब, सुन न....!

यहाँ तो परमात्मा जिनेश्वरदेव इन्द्रों के समक्ष ऐसा कहते थे। इन्द्र, जो एकावतारी जिनकी सभा में (समवसरण में) भगवान के पास जाते हैं, अभी महाविदेह में विराजमान हैं, उनके समक्ष यह कहते थे, उसमें कहीं कोई इन्द्र हो और रंक हो यह उसमें अन्तर है? सब एक है, वह तो बाहर की पर्याय है। आहाहा!

यह द्रव्य स्वभाव तो नित्य है। क्या कहते हैं? पर्याय में-अवस्था में पर्याय की अनेकता और राग का सम्बन्ध वह अनित्य है और अनेक है। जबकि वस्तुस्वभाव नित्य है और एक है। अरेरे! ऐसी बातें हैं। नित्य एकरूप है **और वे भाव अनित्य हैं।** देखो, दोनों आये, देखो! पर्यायें अनेक हैं और अनित्य है, देखा? वस्तुस्वभाव जो त्रिकाली नित्य है और एकरूप है — सदृश स्वभाव एकरूप है, जबकि पर्याय अनेक है

और अनित्य है, यह (द्रव्यस्वभाव) नित्य और एक है, आहाहा! **पर्यायें द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती,.....** आहाहा!

शरीर, वाणी, कर्म और स्त्री, पुत्र, परिवार तो कहीं (दूर) रह गये। कहीं आत्मा में वे हैं नहीं। पर को अपना मानता है, वह महामूर्ख है। आहाहा! जगत् की चीज है, वह तो जगत् की चीज है। यह मेरी स्त्री और मेरा पुत्र हुआ — यह तेरा कहाँ से हुआ? इसे सन्निपात लगा है। आहाहा! ऐसी बात है बापू यहाँ तो! आहाहा! है? सन्निपातवाला दाँत निकालता है तो क्या वह सुखी है? दुःखी है। हमारे यह मजा है। किसका मजा धूल में? सन्निपाती दाँत निकालकर प्रसन्नता मानता है, है दुःखी। इसी प्रकार यह पैसा, स्त्री, पुत्र के सम्बन्ध में बैठा हो मानो, आहाहा....! सात-आठ लड़के हों और स्त्री बैठी हो और लड़कियाँ बैठी हों और दामाद बैठे हों.... मानो बड़ी बातें करता हो होंश... होंश... हो...हो... सब हमने तो देखा है न सब। आहाहा! प्रभु! तेरी अनित्यता, वह ऊपर-ऊपर रहती है। आहाहा!

यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान हैं।.... यह क्या कहते हैं? प्रत्येक अवस्था, भले रागवाली हो, आकुलतावाली हो, विशेषता हो — प्रत्येक अवस्था में यह शुद्धस्वभाव तो अन्दर प्रकाशमान पड़ा ही है। आहाहा! वहाँ दृष्टि देने से अनुभव होता है, यह बात है... सम्यग्दर्शन होता है — सत्यदर्शन! बाकी सब व्यर्थ हैं। समझ में आया? यह सम्यक्स्वभाव जो त्रिकाल है, शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओं में एकरूप त्रिकाल प्रकाशमान है। आहाहा! सर्व, है?

श्रोता : इस ध्रुव को सम्यक् स्वभाव कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव का त्रिकाल सम्यक्स्वभाव, नित्य... नित्य... अन्दर नित्य स्वभाव... उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् है न? तो जो ध्रुव है, वह उत्पाद-व्यय में नहीं आता और उत्पाद-व्यय वहाँ नहीं जाते। आहाहा! ध्रुव है, वह नित्य है और एकरूप है; पर्याय अनित्य है और अनेकरूप है। यह अनेक और अनित्यता, नित्य और एकरूप में प्रवेश नहीं करते। आहाहा!

क्या गाथा! आहाहा! मक्खन है! मक्खन निकालते हैं न! ऐसे रखते हैं मक्खन छाछ

में से तो ऐसे छाछ नितर जाती है मक्खन ऊपर रहेगा। वह अड़कर नहीं होता, हाँ! बहुत मक्खन होता है न, दही में से मण दो मण, बाद में निकाले ऐसा करते हैं न, नीचे छाछ निकल जाती है मक्खन रह जाता है। इसी प्रकार पर्यायबुद्धि निकल जाती है और द्रव्यबुद्धि अकेली रह जाती है। आहाहा! ऐसी बात है। भाई! मार्ग कठिन पड़े परन्तु मार्ग तो यह है। आहाहा! अभी ख्याल में आना मुश्किल पड़ता है कि यह क्या कहते हैं और किस प्रकार! यह पर्याय और पर्याय ऊपर तिरती है और अन्दर में नहीं, अन्दर नित्य एक और अनित्य अनेक.... यह क्या कहते हैं? ऐसा कभी सुना नहीं होगा। आहाहा!

अरे, यह तो वस्तु के एक के शून्य अभी तो यहाँ.... एक के शून्य, अकेला शून्य अलग प्रकार का होता है परन्तु एक होवे और एक के पहला तो शून्य करे और ऐसे शून्य बाद में एक होवे और एक में शून्य होवे वह दूसरे प्रकार का होता है। वह (एक के पहले) गोल चक्कर होता है अकेला शून्य, और यह ऐसे लम्बा-गोल होता है। वैसे यह तो द्रव्य और पर्याय, यह तो एक के शून्य की बात है। समझ में आया? आहाहा! बाद में पर्याय... भाई अलौकिक बातें! नाथ! तेरी प्रभुता का पार नहीं, परन्तु तुझे तेरा पता नहीं। आहाहा! तेरी यह प्रभुता इतनी है कि वाणी में पूरी नहीं आ सके इतनी तेरी प्रभुता अन्दर पड़ी है। भगवान परमात्मा अनन्त गुण का धाम, आहाहा! स्वयं ज्योति सुखधाम। स्वयं अपने से है, कोई उसका कर्ता नहीं है। आहाहा! सुखधाम, वह अतीन्द्रिय आनन्द का स्थल है, विश्राम करने का वह एक विश्रामघर है। आहाहा! समझ में आया? **पर्यायें द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती हैं।**

शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान हैं। ऐसे शुद्ध स्वभाव का,.... आहाहा! **मोहरहित होकर....** मिथ्याभ्रम छोड़कर, आहाहा! पर्यायबुद्धि रखकर है वह मोह है, वह पर्यायबुद्धि मिथ्यात्व है। आहाहा! पर्याय में वह चीज है अवश्य परन्तु उसकी बुद्धि मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्वबुद्धि, पर्यायबुद्धि छोड़कर **मोहरहित होकर जगत....** जगत अर्थात् जगत के जीवों। बाहर से तो ऐसा कहा जाता है न कि यह काठियावाड़ आया। काठियावाड़ आता है? काठियावाड़ के लोग आते हैं। दक्षिण के लोग आते हैं तो कहा जाता है कि यह दक्षिण आया। इसी प्रकार यह जगत कहा परन्तु जगत के लोग कहा

जाता है। आहाहा! हे जगत के प्राणी! अनुभव करो, आहाहा! जहाँ भगवान पूर्णानन्द नित्य ध्रुव अन्दर विराजमान है, उसका अनुभव करो। अनुभव पर्याय है परन्तु द्रव्य का अनुभव करो। जो पर्याय का अनुभव है, वह तो अज्ञान अनादि का है। आहाहा! वस्तु जो त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु है, जिसमें पर्याय का प्रवेश नहीं है। अरे! त्रिकाली द्रव्य ज्ञायकभाव, पर्याय को स्पर्श ही नहीं करता। समझ में आया?

श्रोता : छूता नहीं, स्पर्श नहीं करता तो क्या करता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, स्पर्श नहीं करता भिन्न है।

श्रोता : ध्यान किसका करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ध्यान करे पर्याय, तो त्रिकाली का। तो वह पर्याय स्पर्श नहीं करती परन्तु ध्यान उसका (द्रव्य का) करती है। अनुभव की पर्याय द्रव्य को छूती नहीं, तथापि द्रव्य के लक्ष्य से जो अनुभव हुआ, वह आनन्द का अनुभव है। आहाहा! पर्याय का अनुभव वह दुःख का अनुभव था, वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का अनुभव था तथा आत्मा का अनुभव वह ज्ञानचेतना का अनुभव हुआ। आहाहा! समझ में आया? **जगत...** अर्थात् जगत के प्राणियों। **अनुभव करे; क्योंकि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी....** मिथ्याश्रद्धारूपी **अज्ञान जहाँ तक रहता है,....** पर्यायबुद्धि — राग मैं हूँ, पर्याय जितना मैं हूँ — ऐसा अज्ञान रहता है, **तब तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।** आहाहा!

शरीर, स्त्री, कर्म, परिवार मेरा है, यह तो महाभ्रम अज्ञान है परन्तु पर्यायबुद्धि है, यह अज्ञान है (— ऐसा कहते हैं)। आहाहा!

श्रोता : पर्यायबुद्धि समझ में नहीं आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक समय की अवस्था की बुद्धि अर्थात् पर्यायबुद्धि। यह तो अनादि की चीज है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। 'ऐसा मार्ग वीतराग का कहा, सभा की माँय,...' सीमन्धर परमात्मा, आहाहा! मोहकर्म के उदय से, अनुभव यथार्थ नहीं होता। क्या कहते हैं? जब तक राग, पुण्य, दया, दान, और अनेक प्रकार की जो पर्याय है, उसकी

रुचि रहती है, तब तक अन्तर का यथार्थ अनुभव नहीं होता। जिसकी रुचि है, वहाँ वीर्य काम करता है। राग और पर्याय की रुचि है तो वीर्य वहाँ काम करता है और ऐसी रुचि से अन्तर का अनुभव नहीं हो सकता है। आहाहा!

भावार्थ – यहाँ यह उपदेश है कि शुद्धनय के विषयरूप आत्मा का अनुभव करो। बहुत संक्षिप्त कर दिया। सम्यग्ज्ञान, जो शुद्धनय है, जिसका विषय ज्ञायक त्रिकाल है, उसका अनुभव करो। यह सार दिया। समझ में आया? कठिन बात है परन्तु इसका निर्णय तो करे, पहले ज्ञान में निर्णय तो करे कि मार्ग यह है। आहाहा!

कलश - १२

अब, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य पुनः कहते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है —

(शार्दूलविक्रीड़ित)

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः॥ १२॥

श्लोकार्थ : [यदि] यदि [कः अपि सुधीः] कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) जीव [भूतं भान्तम् अभूतम् एव बन्धं] भूत, वर्तमान और भविष्य — तीनों काल में कर्मों के बन्ध को अपने आत्मा से [रभसात्] तत्काल — शीघ्र [निर्भिद्य] भिन्न करके तथा [मोहं] उस कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को [हठात्] अपने बल से (पुरुषार्थ से) [व्याहत्य] रोककर अथवा नाश करके [अन्तः] अन्तरंग में [किल अहो कलयति] अभ्यास करे — देखे तो [अयम् आत्मा] यह आत्मा [आत्म-अनुभव-एक-गम्य-महिमा] अपने अनुभव से ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा [व्यक्तः] व्यक्त (अनुभवगोचर), [ध्रुवं] निश्चल [शाश्वतः]

शाश्वत, [नित्यं कर्म-कलंक-पंक-विकलः] नित्य कर्मकलंक-कर्दम से रहित [स्वयं देवः] स्वयं ऐसा स्तुति करने योग्य देव [आस्ते] विराजमान है।

भावार्थ : शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो सर्व कर्मों से रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अन्तरंग में स्वयं विराजमान है। यह प्राणी — पर्यायबुद्धि बहिरात्मा —उसे बाहर ढूँढता है, यह महा अज्ञान है।

कलश-१२ पर प्रवचन

अब, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य पुनः कहते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है। आहाहा!

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः॥ १२॥

रभसात्... देखा? **रभसात्...** आया यहाँ। उस प्रज्ञाछैनी में **रभसात्....** (शब्द) आता है। वहाँ एक समय लिया था। जैसे इसने यह **रभसात् — शीघ्र...** आहाहा! तू भगवान देव, शाश्वत् अन्दर है प्रभु! तेरी दिव्य शक्ति का पार नहीं है। पता कैसे पड़े? आहाहा! दो बीड़ी-सिगरेट ठीक से पीवे तो भाईसाहब को दस्त उतरे — ऐसे तो अपलक्षण। अब इसे ऐसा कहना कि यह देव है। है? साठ वर्ष में पुत्र हो, सन्तानहीनता मिटे, तब इसके लड़के को ऐसे प्रेम करे, आहाहा! ओहोहो! क्या है परन्तु यह, तेरा पागलपन क्या है? और उसमें पाँच-दस लाख की आमदनी हुई हो तो आज लापसी बनाओ। बड़ी आमदनी हो गयी है... धूल में भी नहीं। अब पाप की आमदनी है, सुन न अब। आहाहा!

यदि कोई सुबुद्धि.... आहाहा! है? सुबुद्धि, ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, आहाहा! **'भूतं भान्तम् अभूतम् एव बन्धं' जीव....** भगवान आत्मा **भूतकाल....** विगत काल **वर्तमान और भविष्य — तीनों काल के कर्म के बन्ध को अपने आत्मा से...** तीनों काल के राग के सम्बन्ध को अपने आत्मा से **तत्काल — शीघ्र भिन्न करके....** आहाहा! यह राग

और पुण्य, दया, दान आदि विकल्प और आकुलता यह सब है उससे, आहाहा! **रभसात्....** तीनों काल की विकारी पर्यायों से, आहाहा! अपने को शीघ्र भिन्न करके... जैसे गेहूँ में से कंकर निकाल देते हैं, गेहूँ कहते हैं न गेहूँ? कंकर निकालते हैं, उसी प्रकार पुण्य और पाप की पर्याय, मैल कंकर है, उससे भिन्न गेहूँ है। ऐसे आनन्दकन्द प्रभु है, आहाहा! उसकी दृष्टि करो तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा, धर्म की पहली सीढ़ी — शुरुआत वहाँ से होगी। आहाहा!

श्रोता : महाराज! आप पुण्य परिणाम को मैल क्यों कहते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : मैल है या नहीं, क्या है? मलिन है न, अशुचि है न, जड़ है न, दु:ख है न (समयसार, ७२ गाथा)।

श्रोता : जड़ कहो परन्तु मैल नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस जड़ का अर्थ क्या? चैतन्य प्रकाश के नूर का उसमें अभाव है। राग, दया, दान आदि भाव हैं, उनमें चैतन्य के अंश का अभाव है; इसलिए जड़ है। आहाहा!

श्रोता : मैल नहीं कहना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैल है, अशुचि कहा न? अशुचि कहो या मैल कहो या विभाव कहो, अधर्म कहो। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! त्रिकाली ज्ञायकमूर्ति प्रभु, उसे यह त्रिकाली जो विकार है, उससे भिन्न-दूर कर दे। आहाहा! त्रिकाली चीज की दृष्टि करके त्रिकाल में रहनेवाली विकृत अवस्था को दूर कर दे। आहाहा! भाषा तो कैसी? आहाहा! भूतकाल, वर्तमान और भविष्य में रहनेवाली विकृत अवस्था को त्रिकाली ज्ञायकभाव का आश्रय करके छोड़ दे, भिन्न कर दे। आहाहा! यह पुरुषार्थ से होता है। समझ में आया?

कोई कहता है कि तुम तो क्रमबद्ध मानते हो तो उसमें यह (पुरुषार्थ) कहाँ आया? आहाहा! अरे सुन तो सही प्रभु! क्रमबद्ध मानने में ही अकर्तापना इस प्रकार आ गया। समझ में आया? जिस समय में होगा, वह होगा, क्रमबद्ध! परन्तु वह होगा, वह होगा किसे? जिसने ज्ञायकभाव का निर्णय किया और राग का अकर्तापना हुआ, उसको क्रमबद्ध का निर्णय यथार्थ है। राग का कर्ता हूँ और क्रमबद्ध मानना दो चीज नहीं रहती। यह क्या कहा? आहाहा! विकल्प का कर्ता हो और क्रमबद्ध माने — ऐसी दो चीज नहीं रह सकती। यह क्रमबद्ध माननेवाला राग का अकर्ता होकर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अनजान व्यक्ति को तो नया लगता है। यह किस प्रकार की

(बात)! जैन परमेश्वर का मार्ग यह होगा? अब हम तो इच्छामि ईर्यावीर्या तस्य मिच्छामि दुक्खणं... लोगस्स में एवमये अभिथुआ (ऐसा आता है)। कुछ नहीं होता बापू! आहाहा! यह तो शब्द जड़, भाषा जड़, विकल्प उठे वह भी जड़, उनसे तो भगवान आत्मा भिन्न, नित्य एकरूप है। आहाहा! है?

आहा! **अपने आत्मा से तत्काल — शीघ्र भिन्न करके तथा उस कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले....** निमित्त से होनेवाले, हाँ! है तो अपने से होता है मोह; कर्म तो निमित्त है। **होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को....** जो भ्रमणा है-राग मैं हूँ, पुण्य मैं हूँ, पर्याय जितना मैं हूँ — ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, उसको **अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोककर....** देखो! अपने बल से। स्वभावसन्मुख होने के अपने बल से रोककर **पुरुषार्थ से रोककर अथवा नाश करके अन्तरंग में अभ्यास करे — देखे....** अन्तर में राग से भिन्न अभ्यास करके देखे **तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही जाननेयोग्य जिसकी प्रगट महिमा है....** प्रगट महिमा है। अन्दर पड़ी है। आहाहा! अमृत का सागर उछलता है अन्दर! अतीन्द्रिय अमृत का सागर भगवान आत्मा.... आहाहा! **जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर), निश्चल....** यह शाश्वत्-शाश्वत् वस्तु प्रभु अन्दर है, वह **नित्य कर्मकलंक-कर्दम से रहित स्वयं ऐसा स्तुति करने योग्य देव....** आहाहा! स्तुति करने योग्य यह भगवान आत्मा है। आहाहा! उसको स्वीकार करना —सत्कार करना, वह स्तुति है। वह स्तुति करना, देव की स्तुति है, द्रव्य की स्तुति है। आहाहा!

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७२ कलश-१२-१३, गाथा-१५ दिनाङ्क २९-०८-१९७८ मंगलवार
श्रावण कृष्ण ११, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्री समयसार, बारहवें कलश का भावार्थ।

बारहवाँ कलश हुआ न? **भावार्थ — शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये....** बारहवाँ कलश है, उसका भावार्थ है। आत्मा को शुद्धनय अर्थात् निश्चयदृष्टि से- त्रिकाली ज्ञायकभाव को देखने से **सर्व कर्मों से रहित....** भगवान आत्मा तो है। दर्शन की

व्याख्या है, सम्यग्दर्शन (की व्याख्या है)। **सर्व कर्मों से रहित....** राग आदि से भी रहित **चैतन्यमात्र देव....** यह तो देव शक्ति / दिव्य का धारक देव भगवान आत्मा चैतन्यदेव **अविनाशी....** वह कभी नाश नहीं होता। पर्याय पलटती है, उसमें वह नहीं आता। आहा!

आत्मा अन्तरंग में स्वयं विराजमान है।.... अन्तर में — ध्रुव में सारे असंख्य प्रदेश हैं, प्रत्येक प्रदेश पर पर्याय है। क्या कहते हैं? यह असंख्य प्रदेश है तो ऊपर-ऊपर पर्याय है — ऐसा नहीं। सब प्रदेश अन्दर में प्रदेश पर पर्याय है। इस पेट में-अन्दर में असंख्य प्रदेश हैं तो प्रत्येक प्रदेश ऊपर पर्याय है। आहाहा! इस पर्याय को तल में-ध्रुव में लगाकर, आहाहा... पाताल में भगवान ध्रुव अन्दर पड़ा है। स्वयं विराजमान भगवान है, उसको (यह) **प्राणी — पर्यायबुद्धि बहिरात्मा.... उसे बाहर ढूँढ़ता है,....** पर्याय की अंशबुद्धि राग (बुद्धि) बाहर ढूँढ़ता है, बाहर से कुछ मिलेगा, कुछ क्रियाकाण्ड से, ऐसे-वैसे... आहाहा! परन्तु वह भगवान तो अन्तर में विराजमान है। आहाहा!

सच्चिदानन्द स्वरूप सत् शाश्वत्, चिदानन्द, ज्ञानानन्दस्वभाव — ऐसी परिपूर्ण चीज अन्तर में विराजमान है उसको पर्यायबुद्धि बाहर ढूँढ़ता है। आहाहा! समझ में आया? मानो कोई भगवान की भक्ति करने से भगवान आत्मा मिल जायेगा, कोई दया, दान, राग की ममता करने से भगवान आत्मा मिल जायेगा — ऐसे वर्तमान अंश को ही माननेवाला और अंश के पीछे अन्दर समीप में भगवान विराजमान है, उसको यह पर्यायबुद्धि नहीं ढूँढ़ता, पर्यायबुद्धि (वाला) बाहर ढूँढ़ता है। आहाहा! है? मानो सम्मेदशिखर की यात्रा करें तो भगवान मिल जायेगा, नहीं? ऐसा आया न? एक बार वन्दे जो कोई... आता है या नहीं? एक बार वन्दे जो कोई ताकै नरक पशु (गति) नहीं होय.... परन्तु नरक पशु नहीं होवे न? परन्तु चार गति नहीं हो — ऐसा तो आया नहीं। आहाहा! यह तो शुभभाव है, उसमें कोई आत्मा मिलता है — ऐसा है नहीं। आहाहा!

यह प्राणी पर्यायबुद्धि... भाषा बहुत संक्षिप्त है परन्तु मर्म बहुत है। भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी सुखधाम अनन्त-अनन्त दिव्यशक्ति का देव (है), वह उसे अन्तर में है वहाँ नहीं ढूँढ़ता; यह पर्यायबुद्धि बाहर में ढूँढ़ता है। ऐसा करूँ तो ऐसा होगा, ऐसा करूँ तो ऐसा होगा, देव-गुरु-शास्त्र की बहुत भक्ति, बहुत विनय करूँ तो वह प्राप्त होगा — ऐसी

पर्यायबुद्धि बाहर रहता है। आहाहा! छह प्रकार का तप है न? वह अभ्यन्तर, बारह प्रकार के तप में छह अभ्यन्तर तप है न? प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, संज्झाय, ध्यान, व्युत्सर्ग, वह भी सब विकल्पात्मक बाह्य की क्रिया की अपेक्षा है। आहाहा! उससे रहित भगवान जहाँ है, वहाँ नजर नहीं करते और पर्याय में है नहीं, वहाँ नजर अनादि से पड़ी है। पर्याय में द्रव्य आया नहीं, द्रव्य रहता नहीं, द्रव्य है नहीं। आहाहा!

अरे! ऐसा समय कहाँ मिले? कठिनता से मनुष्यपने में इस जाति का क्षयोपशम ज्ञान और उसे सुनने को मिला परन्तु अन्तर में जाना.... आहाहा!

श्रोता : पर्याय में द्रव्य रहता नहीं, या पर्याय में द्रव्य आया नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में द्रव्य आया नहीं, पर्याय द्रव्य में गयी नहीं।

श्रोता : वाह रे वाह!

आहाहा! और वहाँ पर्याय में वर्तमान अंश में ढूँढ़ते हैं, वहाँ से मिल जायेगा? ज्ञान का क्षयोपशम बहुत हुआ तो उससे मिल जायेगा? वह तो पर्याय-क्षयोपशम पर्याय है, उसमें वह कोई अखण्ड तत्त्व नहीं है। आहाहा! मन्दराग की क्रिया करते-करते अन्तर में ऐसा कि आत्मद्रव्य मिल जायेगा.... वह तो पर्यायबुद्धि है, बहिरात्मा है। कहा न?

पर्यायबुद्धि, बहिरात्मा, बहिर आत्मा, बाहर ढूँढ़नेवाला; बहिर अर्थात् स्वरूप में नहीं — ऐसी चीज को शोधकर, उससे मिलेगा, वह बहिरात्मा है। आहाहा! बापू, मार्ग बहुत सूक्ष्म है! **उसे बाहर ढूँढ़ता है, वह महा अज्ञान है।** आहाहा! अन्तर में दिव्यशक्ति देव विराजमान (है) अन्तर में जाता नहीं। आहाहा! तल में.... जैसे पाताल में पानी भरा है, वैसे तल में पूर्णानन्द भगवान भरा है। पर्याय से भिन्न जो है, उसका अनुभव करती है पर्याय। आहाहा!

जो त्रिकाली ज्ञायकभाव का अनुभव पर्याय में होता है परन्तु पर्याय के आश्रय से द्रव्य का अनुभव नहीं होता। आहाहा! और बाद में भी अनुभव की पर्याय के आश्रय से चारित्र और केवलज्ञान नहीं होगा। आहाहा! यह तो ज्ञायक चिदानन्द प्रभु अनन्त गुण की खान के आश्रय से चारित्र और केवलज्ञान होगा। आहाहा! लोग बाहर ढूँढ़ते हैं परन्तु वह अज्ञान है। यह चौदहवीं गाथा की बात की, अब पन्द्रहवीं।

कलश - १३

अब, 'शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है' इस प्रकार आगे की गाथा की सूचना के अर्थरूप काव्य कहते हैं —

(वसन्ततिलका)

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः संमतात्॥ १३॥

श्लोकार्थ : [इति] इस प्रकार [या शुद्धनयात्मिका आत्म-अनुभूतिः] जो पूर्व कथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है [इयम् एव किल ज्ञान-अनुभूतिः] वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, [इति बुद्ध्वा] यह जानकर तथा [आत्मनि आत्मानम् सुनिष्प्रकम्पम् निवेश्य] आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके, [नित्यम् समन्तात् एकःअवबोध-घनः अस्ति] 'सदा सर्व ओर से एक ज्ञानघन आत्मा है', इस प्रकार देखना चाहिए।

भावार्थ : पहले सम्यग्दर्शन को प्रधान करके कहा था; अब ज्ञान को मुख्य करके कहते हैं कि शुद्धनय के विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति ही सम्यक्ज्ञान है॥ १३॥

कलश-१३ पर प्रवचन

अब '**शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की अनुभूति....** इस चौदहवीं (गाथा) में दर्शन प्रधान करके त्रिकाली ज्ञायक की अनुभूति वह सम्यग्दर्शन है — ऐसा कहा। समझ में आया? यहाँ ज्ञान की अनुभूति है, वह ज्ञान की अनुभूति है। क्या कहते हैं? जो ज्ञायकस्वभाव शुद्ध चैतन्य, उसका अनुभव वही ज्ञान का अनुभव है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को ज्ञान की प्रधानता से ज्ञान की अनुभूति है, जो आत्मा की अनुभूति है, वही ज्ञान की अनुभूति है। पन्द्रहवीं गाथा में ज्ञान की अनुभूति की प्रधानता से कथन है। आहाहा!

ज्ञान की अनुभूति का अर्थ क्या? जो त्रिकाली ज्ञायक ज्ञानस्वरूप है, उसको ग्रहण करके असाधारण ज्ञानस्वभाव जो त्रिकाल है, उसको ग्रहण करके अनुभव करना। प्रवचनसार में आया है, ज्ञान अधिकार में। असाधारण ज्ञानस्वभाव को ग्रहण करके पर्याय में अनुभव करना... आहाहा! प्रवचनसार ज्ञान अधिकार में आया है। ज्ञान अधिकार है न पहले, दूसरा दर्शन अधिकार है, ज्ञेय अधिकार कहो या दर्शन अधिकार; तीसरा चरणानुयोग अधिकार है तीन। आहाहा! तो वहाँ ऐसा लिया है कि असाधारण ज्ञानस्वभाव, एक गुण दूसरे गुण में, ऐसी चीज है नहीं। वह गुण दूसरे में है नहीं, यह गुण दूसरे में है नहीं — ऐसे असाधारण गुण तो कारणरूप से ग्रहण करके.... ऐसा पाठ संस्कृत टीका में है। समझ में आया?

यह ज्ञायक है, वह ज्ञानस्वभाव वस्तु है। शक्कर का अनुभव कहो या मीठेपन का, मीठापन कहते हैं न? (मिठास) मिठास का अनुभव कहो। ऐसे आत्मा का त्रिकाल का अनुभव कहो, या उसके ज्ञान का अनुभव कहो। आहाहा! यह ज्ञान क्या? शास्त्रज्ञान नहीं, क्षयोपशमज्ञान की पर्याय वह भी यह नहीं, क्षायिकज्ञान की पर्याय तो अभी है नहीं, वह तो बात नहीं। यह ज्ञान अर्थात् त्रिकाली ज्ञानस्वरूप जो पिण्ड प्रभु का अनुभव है। ज्ञान का — क्षयोपशमज्ञान की पर्याय का अनुभव, वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो जैसा आत्मा त्रिकाली है, उसका ज्ञानस्वभाव त्रिकाली है, उस ज्ञान का अनुभव यहाँ लेना है। आहाहा! पर्याय का अनुभव-ज्ञान की पर्याय का अनुभव वह नहीं। त्रिकाली ज्ञान का अनुभव, आहाहा! समझ में आया?

इस चौदहवीं गाथा में दर्शन प्रधान कथन था। अब यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है; तो यह कहते हैं कि **शुद्धनय के विषय...** ध्येय-धर्मी का ध्येय, सम्यग्दृष्टि का ध्येय ध्रुव.... सम्यग्दृष्टि का ध्येय ध्रुव, ध्यान का विषय ध्रुव, आहाहा! ऐसी बात है! उसको विषयभूत बनाकर, **आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है।** यह तो वही आत्मा का अनुभव कहो या ज्ञान की अनुभूति कहो, दोनों एक ही बात है। गुणी का अनुभव कहो या ज्ञान-गुण का अनुभव कहो। आहाहा!

श्रोता : महाराज! हमको तो मोक्षमार्ग सुनाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसकी गाथा चलती है। यह मोक्षमार्ग यह है। जो मुक्तस्वरूप

भगवान आत्मा का अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन की बात चलती है, सम्यग्ज्ञान की, चारित्र तो पीछे सोलह (गाथा में) लेंगे।

चौदह में दर्शन अधिकार, पन्द्रह में ज्ञान मुख्य अधिकार, सोलह में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का अधिकार। चौदह, पन्द्रह और सोलह (गाथा)। समझ में आया? सोलह में वह — चारित्र लेंगे। यहाँ तो अभी ज्ञानदर्शन का अधिकार कहा। ऐसे इस आत्मा का अनुभव वह सम्यग्दर्शन, तो ऐसे ज्ञान का अनुभव भी सम्यग्ज्ञान और वह सम्यग्दर्शन। आहाहा! ऐसी बहुत कठिन बातें हैं। धीरज बिना यह वस्तु अन्तर में पकड़ में आवे ऐसी नहीं है बापू! आहाहा! बहुत धीरज चाहिए। अपनी पर्याय को द्रव्यसन्मुख झुकाना, वह कोई साधारण बात नहीं है। समझ में आया? वर्तमान पर्याय को.... आहाहा! उसका तल जो ध्रुव, उस ओर झुकाना वह अलौकिक बात है। है?

श्रोता : वही विधि बताओ महाराज।

पूज्य गुरुदेवश्री : वही वस्तु है, यह कहेंगे।

इस प्रकार आगे की गाथा की सूचना के अर्थरूप काव्य कहते हैं। १५ वीं गाथा की सूचना के उपोद्घातरूप श्लोक कहा जाता है। १३,

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः संमतात्॥ १३॥

आहाहा! कलश है कलश यह तो.... मन्दिर में कलश चढ़ावे ऐसा कलश है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य! उसमें नाम आता है न, भाई! जगमोहनलालजी ने अभी टीका का नाम दिया न? 'अमृत कलश'। यह अमृत कलश। यह फूलचन्दजी पण्डितजी का उसमें लेख है। अभी इस कलश-टीका का अर्थ जगमोहनलालजी ने किया है न, तो उसका नाम दिया है, 'अमृत'.....

श्रोता : सब अपना अभिप्राय लिखते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ख्याल में है, वह तो ख्याल में है और तुमने ऐसा लिखा है अन्दर थोड़ा, कि ऐसी दृष्टि रखकर समझना। पता है, यह पता है। आपका लेख देखा है, ठीक लिखा है और कोई पूछते थे इससे यह फूलचन्दजी ने ऐसा उसमें क्यों लिखा? आहाहा! मुझसे पूछते थे। कहा — भाई! उसने जैनतत्त्व मीमांसा में जगमोहनलालजी ने लिखा था तो उन्होंने लिखा परन्तु फिर भी अन्तिम अक्षर ऐसा है उसमें पण्डितजी का है, पता है कि ऐसे त्रिकाल के ज्ञायक की दृष्टि में लेकर समझो। आहाहा! उसको पढ़ो यह दृष्टि करके ऐसे पढ़ना। व्यवहार से होगा और ऐसे होगा, ऐसी दृष्टि से नहीं पढ़ना, पण्डितजी ने लिखा है। आहाहा! यहाँ तो अमृतचन्द्राचार्य के अमृत कलश! आहाहा! क्या कहते हैं देखो!

इस प्रकार 'या शुद्धनयात्मिका आत्म-अनुभूतिः' जो पूर्व कथित शुद्धनय -स्वरूप आत्मा की अनुभूति है.... द्रव्य की। आत्मा ज्ञायक त्रिकाली का अनुभव। है? **वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है,....** क्या कहा? त्रिकाली ज्ञायक जो ध्रुव स्वभावभाव, उसका अनुभव, वही उसका — ज्ञानस्वरूप भगवान — उसका वह अनुभूति है। गुण से लो तो ज्ञान की अनुभूति है, द्रव्य से लो तो आत्मा की अनुभूति है। वस्तु तो एक की एक है। आहाहा! अरे भाई! ऐसा कहाँ मिले, बापू! अरे! यह मनुष्यपना बिखर जाता है, समय चला जाता है। आहाहा! करने की चीज तो यह है, बाकी सब.... आहाहा! **शुद्धनयस्वरूप....** देखा? भगवान कायम त्रिकाली शुद्धनय परन्तु उसकी अनुभूति भी शुद्धनयस्वरूप, आहाहा! **वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, यह जानकर....** क्या कहा? समझ में आया? वस्तु जो स्वयं देव दिव्य, ध्रुववस्तु ज्ञायक आत्मा का अनुभव कहो या उसके ज्ञान-गुण को कारण बनाकर अनुभव कहो, दोनों एक बात है। आहाहा! **अनुभूति है, यह जानकर 'सुनिष्प्रकम्पम् निवेश्य' आत्मा में....** क्या कहते हैं देखो अब! भगवान ज्ञायकस्वरूप में **आत्मा को निश्चल स्थापित करके,....** परद्रव्य का बिल्कुल सहारा नहीं है — ऐसा कहते हैं। जिसमें विकल्प आदि परद्रव्य का, निमित्त का या देव-गुरु का भी सहारा नहीं है। आहाहा! अपने **आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके,....** समझ में आया? है? **'आत्मनि आत्मानम् सुनिष्प्रकम्पम्**

निवेश्य', निवेश्य.... आहाहा! **आत्मा में आत्मा को....** आत्मा को कहा अर्थात् अपनी निर्मल परिणति के द्वारा अन्दर स्थापना करो, उसको कोई राग और निमित्त का सहारा जिसमें नहीं है। आहाहा! बहुत बात....

यह शुरुआत की वस्तु ही यह है। यहाँ से धर्म की शुरुआत होती है। चारित्र तो बाद में, यहाँ तो दर्शन का अधिकार कहा, यह ज्ञान का अधिकार; चारित्र तो बाद में परन्तु जहाँ दर्शन और ज्ञान ही सच्चे नहीं वहाँ चारित्र कहाँ से आया? आहाहा! समझ में आया?

आत्मा में.... आत्मनि... है न? **आत्मानम्... आत्मा को....** अपने आत्मा में अपने आत्मा को निर्मल स्वभाव द्वारा स्थापित करके, आहाहा! वह राग और पर से स्थापित नहीं होता है — ऐसा बताते हैं। अपने स्वरूप को अपने स्वरूप से अन्दर स्थिरता कर। आहाहा! **आत्मा को आत्मा में....** आहाहा! भगवान चिदानन्द प्रभु ऐसे आत्मा को **आत्मानम्** अर्थात् अपनी शक्ति में स्थापन कर, निवेश कर, निवेश कर, स्थापित कर, वहाँ वास ले। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं।

यह कोई पाँच-पच्चीस लाख खर्च कर दे और यहाँ धर्म हो जाये — ऐसा नहीं है। दो-पाँच-दस मन्दिर-बन्दिर बनवा दिये, गजरथ चला दे तो धर्म हो जाये (ऐसा) तीन काल में है नहीं। पर के सहारे बिना आत्मा में आत्मा को (स्थापित करके) आहाहा!

श्रोता : आत्मा को खुद अभेद जाने, निर्मलपना स्वभाव है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! अरे! प्रभु का मार्ग तो यह है, भाई!

श्रोता : महाराज! ऐसा कहेंगे फिर कोई मन्दिर नहीं बनायेगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बने, बना सकते ही नहीं। वह होना है तो होगा, होगा, उससे बनता ही नहीं। वह परमाणु पुद्गल की पर्याय जिस समय जहाँ उत्पन्न होने की है, वह उत्पन्न होगी ही, पर से नहीं। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : आत्मा में का अर्थ द्रव्य है या पर्याय?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा में आत्मा की पर्याय स्वभाव द्वारा स्थापन करना — ऐसा कहते हैं, राग द्वारा नहीं, पर द्वारा नहीं। अपनी निर्मलपर्याय द्वारा आत्मा में स्थिर होना, आहाहा!

आत्मा में आत्मा को.... पहले आत्मा में, आत्मा को अर्थात् निर्मल पर्याय द्वारा स्थिरता करके, वह निर्मल पर्याय / अनुभूति, वह आत्मा है। यह पहले चौदहवीं (गाथा) में आ गया है। आत्मा कहो, शुद्धनय कहो, अनुभूति कहो — तीन बोल चौदहवीं (गाथा) में आ गये हैं। संस्कृत टीका का पाठ है। समझ में आया? आहाहा! यह भगवान पूर्णानन्द और पूर्णज्ञानस्वरूप प्रभु, उसकी निर्मल परिणति द्वारा वहाँ आगे स्थापना कर, आत्मा में स्थापना वहाँ कर। राग और पुण्य और व्यवहार से अन्तर में स्थापना कर, यह चीज है ही नहीं। समझ में आया? लो, यह बात! शोर यह है न कि व्यवहार करते-करते निश्चय होगा.... बिल्कुल झूठ बात है। समझ में आया? आहाहा!

प्रभु! तेरी चीज, तेरी चीज की शुद्धपरिणति द्वारा वहाँ जा; उसका सहारा राग का और परद्रव्य का बिल्कुल नहीं है — ऐसी चीज है। पहले उसका ज्ञान में निर्धार-नक्की तो करे कि राग से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती; अपनी निर्मल परिणति द्वारा प्राप्ति होती है। आहाहा! अरे! उसकी कायम रहनेवाली चीज कौन, क्या है? वह तो ज्ञान आनन्दादि कायम रहने की चीज है। राग आदि कोई चीज उसकी नहीं और एक समय की पर्याय भी कायम रहने की चीज नहीं तो यह निर्मलपर्याय प्रगट करके आत्मा में वहाँ स्थाप। आहाहा! दृष्टि की दौरे वहाँ रखकर निर्मलपरिणति प्रगट कर, वहाँ आत्मा में जा। आहाहा! ऐसी बात है।

दूसरे प्रकार से कहें तो जो निर्मलपरिणति है, वह षट्कारक से परिणति उत्पन्न होती है। क्या कहा? जो द्रव्य है, उसमें षट्कारक शक्तिरूप से तो पड़े हैं परन्तु जो परिणति होती है — सम्यग्ज्ञान की, सम्यग्दर्शन की, अनुभूति की — वह भी षट्कारक के परिणमन से उत्पन्न होती है। क्या कहा? समझ में आया? सम्यग्दर्शन की पर्याय और सम्यग्ज्ञान की, अनुभूति की पर्याय, वह पर्याय, पर्याय की कर्ता; पर्याय उसका कार्य; पर्याय उसका साधन-पर्याय साधन; पर्याय उसका सम्प्रदान; पर्याय से पर्याय हुई; पर्याय के आधार से पर्याय हुई। आहाहा!

श्रोता : साधक तो कारणसमयसार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ पर्याय साधक है। राग से भिन्न पड़कर आत्मा का साधन किया, वह पर्याय साधक है। आहाहा! राग-बाग साधक है नहीं।

श्रोता : समयसार साधक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समयसार, वह आत्मा; यह समयसार की भाषा भी वहाँ आधार नहीं। यह समयसार पढ़कर जो ज्ञान हुआ, वह उसका कारण नहीं। आहाहा! क्यों? अरे! भगवान के पास सुना, समयसार अर्थात् आत्मा, उसके लक्ष्य में आया कि भगवान ऐसा कहते हैं परन्तु उस ज्ञान के आधार से अन्दर में जा सकते हैं — ऐसा नहीं है। आहाहा! क्यों? वह पर्याय परलक्ष्यी है और स्वलक्षी पर्याय द्वारा अन्तर में जाना। आहाहा! बंडीजी! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! अरे! मनुष्यपना जाता है भाई! यह आँखें बन्द करके कहाँ जायेगा? यदि यह (स्वभाव का) पता नहीं लिया, आहाहा! तो कहीं कोई शरण नहीं है। आहाहा!

इस भगवान आत्मा को, आत्मा की निर्मलपरिणति द्वारा वहाँ निवेश, स्थाप। अत्यन्त निरालम्बन-पर का अवलम्बन बिल्कुल नहीं। समझ में आया? आहाहा! अपने ज्ञायकभाव का अवलम्बन लेकर जो परिणति उत्पन्न हुई, वह आत्मा है — ऐसा उसको कहा। आत्मा को आत्मा से अर्थात् निर्मल परिणति द्वारा अन्दर स्थिर हो, आहाहा! ऐसी बात है, भाई!

स्थापित करके, 'नित्यम् समन्तात् एकःअवबोध-घनः अस्ति'.... जो प्रभु आत्मा **'सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है',....** आहाहा! **इस प्रकार देखना चाहिए।** इस प्रकार अनुभव करना चाहिए। आहाहा! ऐसा मार्ग! लोगों को एकान्त लगता है न? कि यह भी, उसके लिये कोई साधन है या नहीं? ऐसा कहते थे। श्रीमद् में गये थे न, अगास आश्रम, व्याख्यान सुना एक घण्टा, बाद में आये, एक मारवाड़ी कि आप कहते हैं, वह ठीक परन्तु उसका कोई साधन? साधन यह बाह्य; क्योंकि आत्मसिद्धि में भी ऐसा आता है। 'निश्चय राखि लक्ष्य मा साधन करना सोहि' यह साधन है ही नहीं भाई! आहाहा! यह प्रज्ञाछैनी-राग से भिन्न करके जो हुआ वही साधन है। प्रज्ञाछैनी द्वारा आत्मा में भेद करके-पर से भेद करके अन्तर में जा। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह कथन है प्रभु! यह कोई कल्पित अज्ञानी का यह कथन नहीं है। सन्त कहते हैं, वह सर्वज्ञ ने कहा, वे उनके आडतिया होकर कहते हैं, मार्ग तो भगवान ऐसा कहते हैं, हम तुम्हें कहते हैं। हमने भी ऐसा कहा है ऐसा न कहकर.... आहाहा! जिनवर ऐसा कहते हैं। आता है न? बहुत सी गाथाओं में (आता है) जिनवर

ऐसा कहते हैं, ऐसा कहते हैं। परमात्मा का आश्रय लेकर बोलते हैं। आहाहा! यहाँ कहते हैं **सदा सर्व ओर....** क्या कहते हैं? सदा अर्थात् त्रिकाल, सर्व ओर चारों तरफ से एक ज्ञानघन भगवान.... ज्ञान की अनुभूति लेना है न? आत्मा की अनुभूति में द्रव्य की अनुभूति लेना, एक ज्ञानघन ज्ञानपुंज ज्ञानपिण्ड आत्मा है, **इस प्रकार देखना चाहिए।** आहाहा!

श्रोता : घन क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : है! पिण्ड, ज्ञान का पिण्ड.... जैसे रुई का पिण्ड है न गाँठें, क्या ढोकड़ा, ढोकड़ा क्या कहते हैं? गठरी, रुई की बड़ी गठरी नहीं आती? रुई की; ऐसे यह ज्ञान की गठरी है अन्दर। स्वभाव-स्वभाव, ज्ञानस्वभाव की गठरी है। आहाहा! भगवान! मार्ग बहुत ऐसा है। अरे! इसको करना पड़ेगा, प्रभु! कोई दूसरा शरण नहीं है। आहाहा! वीतराग त्रिलोकनाथ इन्द्रों के समक्ष ऐसा कहते थे, एक भवतारी इन्द्र जब सुनने को आते थे, वहाँ भी आते हैं अभी। भगवान महावीर प्रभु थे, वहाँ भी आते थे। इन्द्र और इन्द्राणी दोनों एक भवतारी हैं। अभी सौधर्म देवलोक में एक भवतारी-अन्तिम मनुष्य देह होकर मोक्ष जानेवाले हैं। उनके समक्ष भगवान यह कहते थे। आहाहा! उनको तो पता है, सम्यग्दृष्टि हैं। समझ में आया? आहाहा!

प्रभु! तुम आत्मा की अनुभूति.... हमने कहा, अब तो हम कहते हैं कि ज्ञान की अनुभूति, वह गुणी की अनुभूति कहा था, अब गुण का अनुभव, परन्तु गुण वह ज्ञानघन अखण्ड पूर्ण है, गुण भिन्न गुण ऐसा नहीं। उस गुण का पिण्ड प्रभु आत्मा ज्ञानघन है — ऐसा कहा न? एक ज्ञानगुण भिन्न ऐसा नहीं। आहाहा! यह ज्ञानघन है, सदा सर्व त्रिकाल, चारों ओर से एक ज्ञानघन आत्मा है। प्रभु! आहाहा!

इस प्रकार देखना चाहिए। इस प्रकार अन्दर में देखना-अनुभव करना। आहाहा!

भावार्थ : पहले सम्यग्दर्शन को प्रधान करके कहा था; अब ज्ञान को मुख्य करके कहते हैं कि शुद्धनय के विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति ही सम्यग्ज्ञान है।

गाथा १५

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥१५॥

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम्॥

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः, श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्; ततो ज्ञानानुभूति-रेवात्मानुभूतिः। किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते। तथा हि – यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्य-विशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्; अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। तथा विचित्रज्ञेयाकारकरम्बितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भाव-तिरोभावाभ्याम्; अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्या-विर्भावेनापि। लुब्धबुद्धानां तु यथा सैन्धवखिल्योऽन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते, तथात्मापि परद्रव्यसंयोग-व्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते।

अब, इस अर्थरूप गाथा कहते हैं —

अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्म को,
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो॥१५॥

गाथार्थ : [यः] जो पुरुष [आत्मानम्] आत्मा को [अबद्धस्पृष्टम्] अबद्धस्पृष्ट, [अनन्यम्] अनन्य, [अविशेषम्] अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त) [पश्यति] देखता है वह [सर्वम् जिनशासनं] सर्व जिनशासन को [पश्यति] देखता है - जो जिनशासन [अपदेशसांतमध्यं][1] बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभयन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

टीका : जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है। परन्तु अब यहाँ, सामान्य ज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव (आच्छादन) से जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है, तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है, तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं, उन्हें वह स्वाद में नहीं आता। यह प्रगट दृष्टान्त से बतलाते हैं :— जैसे अनेक प्रकार के शाकादि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला जो (सामान्य के तिरोभावरूप और शाकादि के स्वाद भेद से भेदरूप-विशेषरूप) लवण है, उसका स्वाद अज्ञानी, शाक लोलुप मनुष्यों को आता है किन्तु अन्य की सम्बन्धरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है, उसका स्वाद नहीं आता और परमार्थ से देखा जाये तो, विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है।

इस प्रकार — अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवों के स्वाद में आता है किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता, और परमार्थ से विचार किया जाये तो, जो ज्ञान, विशेष के

(१. अपदेश : द्रव्यश्रुत; सान्त : ज्ञानरूपी भावश्रुत)

आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है ? अलुब्ध ज्ञानियों को तो, जैसे सैंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक क्षाररसत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है, उसी प्रकार आत्मा भी, परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।

भावार्थ : यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा गया है। अज्ञानीजन ज्ञेयों में ही — इन्द्रियज्ञान के विषयों में ही लुब्ध हो रहे हैं; वे इन्द्रियज्ञान के विषयों से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं परन्तु ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वादन नहीं करते। और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं, वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही आस्वाद लेते हैं — जैसे शाकों से भिन्न नमक की डली का क्षारमात्र स्वाद आता है, उसी प्रकार आस्वाद लेते हैं, क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो ज्ञान है। इस प्रकार गुण-गुणी की अभेद दृष्टि में आनेवाला सर्व परद्रव्यों से भिन्न, अपनी पर्यायों में एकरूप निश्चल, अपने गुणों में एकरूप, परनिमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव, ज्ञान का अनुभव है; और यह अनुभवन भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का अनुभवन है। शुद्धनय से इसमें कोई भेद नहीं है।

गाथा - १५ पर प्रवचन

अब, इस अर्थरूप गाथा कहते हैं —

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥१५॥

अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्म को,
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो॥१५॥

है ? अपदेस में द्रव्य लिया। मज्झं शान्तिसूत्र सम्यग्दर्शन भावश्रुत लिया। यह कहते

हैं या नहीं ? अपदेस में अखण्ड द्रव्य-अखण्ड प्रदेश लेना — ऐसी यहाँ बात है नहीं। समझ में आया ? अभी छपा है समयसार में, ऐसा है नहीं। ऐसा कि द्रव्यश्रुत में भी, यह द्रव्यश्रुत शब्द ही द्रव्यश्रुत है। द्रव्यश्रुत में ऐसा कि अमृतचन्द्राचार्य द्रव्यश्रुत का अर्थ, उसमें से अपदेस का अर्थ निकाला ही नहीं, परन्तु यह अपदेस कहा वही द्रव्यश्रुत है। आहाहा! और द्रव्यश्रुत में से भावश्रुत कहना था, द्रव्यश्रुत में भी, कि अन्तर आनन्द का अनुभव करना, भावश्रुत द्वारा यह (वह) भावश्रुत है, द्रव्यश्रुत में भी ऐसा कहा। आहाहा!

देखो, कलश-टीका है न, इसकी कलश-टीका। इस तेरहवें में इससे पहले तेरहवाँ श्लोक हो गया न अपने, उसकी कलश-टीका में ऐसा लिया है, कलश-टीका है न ? कितना ? १३ — देखो आत्मानुभव.... ऐसा कहते हैं। ज्ञानानुभव ऐसा कहा नामभेद है, वस्तुभेद नहीं। गुजराती है, आत्मानुभव मोक्षमार्ग है। इस प्रसंग में दूसरा भी संशय उत्पन्न होता है.... राजमल की टीका है — कि कोई जानेगा कि द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है, द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि कोई कहे तो ऐसा नहीं है, वह तो विकल्प है। पण्डितजी! यह तो द्वादशांग ज्ञान भी विकल्प है।

अब, अपने को तो अपदेस में से निकालना है। उसमें भी — द्वादशांग ज्ञान में भी ऐसा कहा है कि स्वानुभूति मोक्षमार्ग है। समझ में आया ? बारह अंग में भी यह कहा है, यह द्रव्यश्रुत है, विकल्पात्मक भाव है, परन्तु कहा है उसमें यह कि आत्मा की अनुभूति मोक्षमार्ग है — ऐसा कहा। तो द्रव्यश्रुत में भी यह आया। इसलिए अमृतचन्द्राचार्य ने अपदेस का अर्थ नहीं किया, क्योंकि अपना सूत्र ही यही है, यह सूत्र ही अपदेस है। इस सूत्र में भी ऐसा कहा, द्रव्यश्रुत में और भावश्रुत तो, भावश्रुत तो उसको तो है। अन्तर अनुभव हुआ तो भावश्रुत ज्ञान द्वारा तो भावश्रुत में तो आत्मा ही जानने में आया था। आहाहा! इस कलश की टीका की है, यह गुजराती है, हिन्दी नहीं होगी, यहाँ हिन्दी में भी ऐसा है, द्वादशांग ज्ञान... यह अपदेस आया उसमें द्रव्यश्रुत आ गया।

उसमें अमृतचन्द्राचार्य ने तीन बोल लिये परन्तु पाँचों लेना। (गाथा) पन्द्रह में तीन बोल लिये हैं न पाँच में से ? परन्तु यह तो गाथा में समेटना है, इस कारण से (तीन बोल लिये हैं) यह प्रश्न बहुत हुआ था। दस, दस की साल में, चौबीस वर्ष पहले। वह था न

मुख्तयार, दिल्ली वे कौन से मुख्तयार, हाँ! जुगलकिशोर (मुख्तयार) ये युगलजी गये? यह टीका की, और उसने की थी, पता है ऐसा कि यह तीन बोल है, तीन बोल लेना पाँच में से, परन्तु तीन में पाँच आते हैं। अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में लिया है न परन्तु वे टीका (आलोचना) करते थे, हमें पता है दस की साल, चौबीस वर्ष हुए। हम लाठी गये थे, वहाँ वह लेख आया था कि पन्द्रहवीं गाथा में तीन बोल कहे हैं, पाँच बोल में दो-दो बोल कहाँ से निकले? परन्तु अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं वह तो संक्षेप करके बनाया है, देखो, आहाहा!

टीका : टीका है न? **जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच....** पाँचों ही निकाले हैं, अमृतचन्द्राचार्य ने निकाले हैं। अरे! लोग अपनी कल्पना करे — ऐसा नहीं चलता भाई! सन्तों की वाणी-दिगम्बर सन्त अर्थात् कौन? आहाहा! केवलज्ञान के टुकड़े हैं यह। अरे! एक बार तो ऐसा कहा कि केवलज्ञानी और मुनि में कोई अन्तर मत देखना, नियमसार (कलश २५३) में ऐसा कहा है। मुनि अर्थात् कौन? परमेश्वर पद! आहाहा! वहाँ वीतरागी आनन्द उछल रहा है। प्रचुर स्वसंवेदन जिसकी मोहरछाप है, पाँचवीं गाथा में आया है, वह पड़ा है न? प्रचुर स्वसंवेदन जिसकी मोहर छाप है। मुनिपने की भावलिंगी की छाप क्या, प्रचुर.... थोड़ा आनन्द का संवेदन तो चौथे-पाँचवें (गुणस्थान में) भी आता है परन्तु मुनि को तो प्रचुर स्वसंवेदन मोहर-छाप मारी है। पोस्टमास्टर पत्र को (छाप) मारते हैं या नहीं।

इसी प्रकार यह भगवान कहते हैं कि आहाहा! सन्तों की बातें बापू! उन्हें पकड़ना कठिन है — ऐसा कहते हैं कुन्दकुन्दाचार्य और टीकाकार ने कहा कि मुनि अपने निज वैभव से कहेंगे। निज वैभव क्या? अपने आनन्द का जो अनुभव हुआ वह। इस निज वैभव की क्या चीज? यह स्व-संवेदन प्रचुर, बहुत अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन यह उसकी मोहर-छाप है, साधु के भावलिंग की मोहर-छाप (है), वहाँ से साधुपना चलता है। समझ में आया?

मार्ग ही ऐसा है। यह यहाँ कहते हैं। देखो! पाठ में तीन बोल लिये, अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष। असंयुक्त यह रह गया, वह उसमें आ गया। चौदहवीं (गाथा) में आ गया, उसमें ले लेना, तो वे मुख्तयार आलोचना करते थे। गये युगलजी गये नहीं। है? (श्रोता : राजकोट गये) राजकोट गये। जो अबद्धस्पृष्ट राग और कर्म के सम्बन्धरहित

आत्म चीज है। अनन्य — अन्य-अन्य गति आदि से भिन्न अनन्य है। नरक, मनुष्य आदि अन्य-अन्य गति से अनन्य और अन्य-अन्य नहीं, अन्य-अन्य नहीं, अनन्य है, अन्य-अन्य नहीं। आहाहा! नियत — पर्याय में अनेकता, पर्याय में आती है। अगुरुलघु आदि से (अनेकता आती है), उससे रहित नियत है। आहाहा! और अविशेष-गुणभेद से रहित सामान्य है। अविशेष कहो या सामान्य कहो (दोनों एकार्थ हैं) विशेष नहीं, आहाहा! **ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा की....** अमृतचन्द्राचार्य तो कहते हैं कि पाँच भावस्वरूप इस गाथा में से लेना। लोग / व्यक्ति अपनी टीका करते हैं। और अपदेस का अर्थ अमृतचन्द्राचार्य को समझ में नहीं आया, इसलिए नहीं किया — ऐसा कहते हैं — ऐसा समाचार-पत्र में आया था। अरे! प्रभु ऐसा नहीं कहना। अमृतचन्द्राचार्य! आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य सन्त कौन थे? आहाहा! वे चलते सिद्ध थे। भरतक्षेत्र में एक हजार वर्ष पहले थे। आहाहा!

श्रोता : काल का दोष आ गया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : काल का दोष-बोष है नहीं। भैया! यह कहते थे कितने ही, आहाहा! यह उसका स्वच्छन्द का अज्ञानी का दोष है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि ऐसे पाँच बोल स्वरूप अनुभूति, है? **पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति.....** आत्मा के पाँच भाव... यहाँ तो बद्धस्पृष्ट को निकालकर अबद्धस्पृष्ट लिया तो ऐसे पाँच भावस्वरूप अस्तिरूप लिया। बद्धस्पृष्ट नहीं — ऐसा न लेकर अबद्धस्पृष्ट है, नियत है, अविशेष है — ऐसे भावस्वरूप — ऐसे पाँच भाव के अस्तिस्वरूप **आत्मा की अनुभूति है।** आहाहा!

यह देखो, इसमें द्रव्यश्रुत आ गया। द्रव्यश्रुत का अर्थ किया ही नहीं — ऐसा नहीं है, वह द्रव्यश्रुत यह है। आहाहा! समझ में आया? बहुत कठिन काम भाई! आहा! और सन्तों की भूल निकालना, (वह तो) परमेश्वर की भूल निकालने जैसा है!

श्रोता : सन्तों ने तो सन्तों की भूल निकाली न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे सन्त कहाँ थे? अरे सूक्ष्म बात! किसी व्यक्ति का अपने को काम नहीं, अपने तात्त्विक बात की बात होती है, व्यक्तिगत बात तो समझनेवाला समझे। आहाहा! भाई! मुनि किसे कहते हैं? आहाहा! जिसको आत्मा के आनन्द की अनुभूति हो,

तदुपरान्त जिसको अनुभूति की ऊर्ध्वता बढ़ गयी हो, आहाहा! ऐसे आनन्द के झूले झूलता हो, प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में झूलता हो, आहाहा! सातवें में आते हैं तो अतीन्द्रिय आनन्द में, छठे में आवें तो जरा विकल्प आ जाता है, तथापि अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द की भूमिका प्रमाण तो है। समझ में आया? आहाहा! भाई! मुनिपना! भाई! बापू! अलौकिक चीज है। वह यहाँ कहते हैं।

यहाँ तो अभी सम्यग्ज्ञान की बात है। ऐसा आत्मा जो अबद्धस्पृष्ट है, मुक्तस्वरूप है, निश्चय है, सामान्य है, उसको अनुभव करना **ऐसे पाँच भावस्वरूप,** उसका नाम अनुभूति, आहाहा! **वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है,....** वह जैनशासन है, वीतरागी पर्याय-भावश्रुतज्ञान, वह जैनशासन है। द्रव्यश्रुत में तो यह कहा था। भावश्रुत में वह आत्मा अनुभव में आया, वह जैनशासन है। आहाहा! समझ में आया? है?

ऐसा जैनशासन! जैनशासन कोई पक्ष नहीं। वह तो वस्तु अबद्धस्पृष्ट है, उसका अनुभव, वह जैनशासन तो वस्तु का स्वरूप है, (वस्तु की) स्थिति है। समझ में आया? आहाहा!

श्रोता : जैनशासन तो द्वादशांग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैनशासन में बारह अंग में यह कहा है। यह कहा और बताया न अभी, बारह अंग में भी अनुभूति बताया है। बारह अंग का विशेष नहीं, विकल्प है, वह विशेष ज्ञान, विशेष नहीं। आहाहा! अन्तर की अनुभूति... आहाहा! इसमें कहा न नौवीं गाथा में — वह निश्चय श्रुतकेवली है (ऐसा कहा है)। अपना भगवान पूर्ण आनन्द आदि दिव्यशक्ति का भण्डार प्रभु का स्वरूप अबद्धस्पृष्टस्वरूप है, नियत स्वरूप है, सामान्य स्वरूप है, रागादि आकुलता से रहित स्वरूप है। आहाहा!

श्रोता : वह निश्चय श्रुतकेवली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वही निश्चय श्रुतकेवली है। अनुभव है, भावश्रुत है न वहाँ? आहाहा! नौवीं गाथा में कहा है, नौवीं गाथा में कहा है।

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा॥९॥

नौवीं गाथा है। **जो हि सुदेणहिगच्छदि** भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं। वे यह **जो हि सुदेणहिगच्छदि** भावश्रुत द्वारा अन्दर में अनुभव करते हैं। **सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं** आहाहा! **तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा** लोकालोक के देखनेवाले सर्व केवली अथवा श्रुतकेवली, उन्हें श्रुतकेवली कहते हैं। आहाहा! नौ, नौवीं गाथा है, आहाहा! दसवीं व्यवहार की है, ग्यारहवीं समकित की है।

यहाँ कहते हैं कि वह जिनशासन यह। भगवान को कहना है ऐसी यह वीतरागी पर्याय। चार अनुयोग का तात्पर्य वीतरागभाव है — ऐसा १७२ गाथा में (पंचास्तिकाय में) कहा है। ऐसे सूत्र तात्पर्य का अर्थ क्या, शास्त्र तात्पर्य? कि वीतरागता — ऐसा पाठ है। १७२ गाथा — चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। वीतरागता पर्याय में आना, वह तात्पर्य है। वह वीतरागता कब-कैसे आयेगी? कि जो त्रिकाली ज्ञायक अबद्धस्पृष्ट है, वह वीतरागस्वरूप है। उसके आश्रय से वीतरागी पर्याय आयेगी — ऐसे चारों अनुयोगों में आत्मा-वीतरागस्वरूप का आश्रय लेना यह कहा है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है भाई! आहाहा!

यह तो कुन्दकुन्दाचार्य, परमात्मा तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव के पास गये थे। अब उन्हें ही उड़ाते हैं कि महाविदेह में नहीं गये थे। अरे प्रभु! तू क्या करता है? जयसेनाचार्य की पंचास्तिकाय की टीका है, उसमें लिखा है — महाविदेह में जाकर आये और शिवराजकुमार के लिए (यह ग्रन्थ) बनाया — ऐसा पाठ है और देवसेनाचार्य का दर्शनसार है, उसमें तो ऐसा लिखा है — अरे! कुन्दकुन्दाचार्य महाविदेह में जाकर यदि यह नहीं लाये होते तो हमें मुनिपना कैसे प्राप्त होता? — ऐसा लिखा है। दर्शनसार! आहाहा! देवसेनाचार्य! यह तो महामुनि कहते हैं, बाकी तो अष्टपाहुड़ की टीका है न? वह श्रुतसागर भट्टारक जैसा है वह तो, उसकी प्रत्येक पाहुड़ के पीछे यह लिखा है — कुन्दकुन्दाचार्य महाविदेह से आये थे परन्तु यह तो दर्शनसार-देवसेनाचार्य, पंचास्तिकाय -जयसेनाचार्य.... ऐसा पाठ है। आहाहा!

श्रोता : उन्होंने कहा वह तो ठीक, सोनगढ़ में क्यों कहते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : बस सोनगढ़ में कहते हैं, उसका विरोध करना है। सोनगढ़वाले कहते हैं कि कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे तो (अपर पक्षवाले) कहते हैं कि नहीं।

श्रोता : उसमें भी प्रयोजन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रयोजन है।

यह बात तो ऐसी है। यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं — जिनशासन किसे कहें ? चार अनुयोग का सार किसे कहें ? कि अपने अबद्धस्पृष्ट की अनुभूति करे, वह भावश्रुतज्ञान, वह शुद्ध उपयोग भावश्रुतज्ञान वह जिनशासन है। द्रव्यश्रुत में भी यह कहा है और भावश्रुत यह है। आहाहा! यह कहा न, इस तेरहवें कलश की टीका में कि द्वादशांग विकल्प है परन्तु कहा है अनुभूति, बारह अंग में कहने का आशय तो यह प्रभु आत्मा, उसकी अनुभूति का आश्रय ले — द्रव्य का (आश्रय ले) तो अनुभूति होगी और वह अनुभूति वीतरागी पर्याय है। वीतरागी पर्याय कहो या जैनशासन कहो, आहाहा! कहो इसमें समझ में आये ऐसा है, इसमें न समझ में आये ऐसी बात नहीं है। बहुत सरस, सरल सीधी बात है। आहाहा! ऐसी बात है प्रभु!

श्रोता : बहुत स्पष्टीकरण किया महाराज! बहुत स्पष्ट!

पूज्य गुरुदेवश्री : अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावस्वरूप.... देखो, ऐसा भगवान, ऐसे पाँच भावस्वरूप है यों। आत्मा ऐसे पाँच भावस्वरूप है। समझ में आया ? ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा है। देखो! आहाहा! अबद्धस्पृष्ट, अनन्य-अन्यत्व अर्थात् अन्य-अन्य नहीं, नियत, निश्चय सामान्य और असंयुक्त राग से संयुक्त नहीं — ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा। आहाहा! ऐसे पाँच भावस्वरूप भगवान आत्मा, त्रिलोकनाथ परमेश्वर ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। ऐसे पाँच भावस्वरूप भगवान आत्मा अन्दर है। अबद्ध अर्थात् मुक्तस्वरूप है, निश्चय है, राग से रहित है, और सामान्यस्वरूप है। आहाहा! और पर्याय की अनेकता से भिन्न एकरूप है। आहाहा! ऐसी बातें हैं बापू!

ऐसे पाँच भावस्वरूप.... ऐसा है न ? **ऐसे पाँच भावस्वरूप....** ऐसे पाँच भावस्वरूप अर्थात् ? **जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावस्वरूप....** आहाहा! आत्मा की अनुभूति वह पर्याय (है) इन पाँच भावस्वरूप तो आत्मद्रव्य है। आहाहा!

समयसार तो वीतराग की साक्षात् वाणी....! आहाहा! जगत् का भाग्य कि यह शास्त्र रह गया है। आहाहा!

श्रोता : आप पधारे हमारा भाग्य!

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! हमें तो खेद होता है। अरे रे! हम कहाँ थे और कहाँ आ पड़े हैं? अरे...रे! कहाँ हम प्रभु के पास थे और यहाँ आ पड़े हैं, बापू! आहा!

श्रोता : हमको तो हर्ष होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात तो तीर्थंकर के घर की बात है प्रभु! आहाहा! सार गजब बात है, भाग्य है जगत् का कि ऐसी वाणी इसे कान में पड़ती है। आहाहा!

भगवान आत्मा कैसा है? कि अबद्धस्पृष्ट है, राग से और विसश्रा परमाणु से स्पर्श नहीं, सम्बन्ध नहीं और अनन्य है, अनन्य है — अन्य-अन्य गति वह नहीं। अनन्य है — वह का वही है — ऐसा का ऐसा (है)। आहाहा! नियत है। पर्याय में अनेकता हो — ऐसा नहीं। नियत है, निश्चय है। आहाहा! और गुण का विशेष भेद उसमें नहीं — ऐसा वह सामान्य है और असंयुक्त अर्थात् राग की आकुलता से रहित है, वह आनन्द प्रभु है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे पाँच भावस्वरूप.... आहाहा! **आत्मा की अनुभूति....** ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति, आहाहा! **वह निश्चय से समस्त जिनशासन....** सारे जैनशासन का यह सार है। आहाहा! समझ में आया? **निश्चय से समस्त जिनशासन,** समस्त जैनशासन, चारों अनुयोगों के सूत्र में और जैनशासन, भावश्रुत में यह है। आहाहा! समझ में आया? भावश्रुत अबद्धस्पृष्ट को अनुभवे, वह जैनशासन है। भावश्रुत अबद्धस्पृष्ट को अनुभवे, वह जैनशासन है। अर्थात् इस पाँच भावस्वरूप वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा की अनुभूति — वीतरागी पर्याय, वह जैनशासन है। आहाहा! **क्योंकि ?** यह विशेष आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७३ गाथा-१५ दिनाङ्क ३०-०८-१९७८ बुधवार
श्रावण कृष्ण १२, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, १५ वीं गाथा चलती है। फिर से टीका —

जो यह.... जो यह — ऐसा प्रत्यक्ष बताते हैं ऐसा। **जो यह अबद्धस्पृष्ट,....** यह आत्मा अन्तर्मुख चीज, वह **यह अबद्धस्पृष्ट...** राग और विसस्रा परमाणु से बद्ध और स्पृष्ट नहीं ऐसी यह चीज है। **अनन्य** है। अन्य, अन्य गति में होना यह नहीं; एकरूप अनन्यस्वरूप है। **नियत....** है। पर्याय में हीनाधिकता अनेक प्रकार से अगुरुलघुगुण के आश्रय से आदि विशेषता-दशा पर्याय का स्वभाव है तो हीनाधिकता होती है परन्तु उससे रहित आत्मा नियत है, एकरूप निश्चय है। **अविशेष....** गुण के विशेषों-भेदरहित त्रिकाली एकरूप सामान्य है। आहाहा... ! **असंयुक्त....** आकुलता से रहित (है।) आकुलता से सहित, वह पर्याय में है, द्रव्य में आकुलता से रहित ऐसा आनन्दस्वरूप भगवान **ऐसे पाँच भावस्वरूप....** आहाहा ! इन पाँच भावों स्वरूप **आत्मा की अनुभूति है....** मुक्तस्वरूप भगवान सामान्यस्वरूप आनन्दस्वरूप ऐसे पाँच भावस्वरूप ऐसे आत्मा की अनुभूति (अर्थात्) उसके अनुसार-स्वभाव के अनुसार आनन्द का अनुभव होना, **वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है,....** आहाहा ! गाथा बहुत सरस आयी है। रस, सरस, सरस अर्थात् आनन्द के रससहित की गाथा है। आहाहा !

क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है।.... क्या कहते हैं ? जो भावश्रुतज्ञान द्वारा अबद्धस्पृष्ट का अनुभव हुआ, वह भावश्रुतज्ञान... है ? **आत्मा ही है।....** है पर्याय-वीतरागी भावश्रुतज्ञान पर्याय (है) परन्तु उसको यहाँ आत्मा कहा। राग नहीं। राग है, वह अनात्मा है, आहाहा ! पाँच भावस्वरूप भगवान आत्मा अस्ति, सामान्य, अबद्ध-बद्ध और स्पृष्टरहित, मुक्त, नियत, एकरूप रहनेवाली चीज (है)। सामान्य अर्थात् विशेष-गुण के भेदरहित और आकुलता से रहित ऐसे भाव — पाँच भावस्वरूप भगवान आत्मा है। आहाहा ! ऐसे आत्मा की, उसके अनुसार करके अनुभूति होना, वीतरागी भावश्रुतज्ञान का परिणमन होना.... आहाहा ! वह जैनशासन की अनुभूति है। आहाहा !

श्रोता : आत्मा स्वयं जैनशासन है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा जैनशासन नहीं, आत्मा का अनुभव करना, वह जैन शासन है। आहाहा! क्या कहा? यहाँ तो अनुभूति — पर्याय को जैनशासन कहा है। भाव श्रुतज्ञान को जैन शासन कहा है। दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान (आत्मा) पाँच भावस्वरूप है, उसका अनुभव, वह शुद्ध उपयोग है परन्तु यहाँ भावश्रुतज्ञान कहकर शुद्ध उपयोग का स्पष्टीकरण किया है। आहाहा! जो शुभ-अशुभ उपयोग है, उससे रहित भगवान आनन्दस्वरूप पाँच भावस्वरूप है। आहाहा! उसके सन्मुख होकर जो अनुभव हुआ, वह भावश्रुतज्ञान है, वह शुद्ध उपयोग है, वह जैनशासन है। आहाहा! समझ में आया?

चारों अनुयोगों में वीतरागता तात्पर्य कहते हैं तो वीतरागता तात्पर्य कैसे होता है? कि पाँच भावस्वरूप भगवान आत्मा की अनुभूति करे तो वीतरागता प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन, प्रथम यह पहले १४ वीं गाथा में आया परन्तु यह सम्यग्दर्शन वीतरागी पर्याय है। सराग समकित और वीतराग समकित यह तो चारित्रमोह के दोष की अपेक्षा के भाव की अपेक्षा से कहा है। वस्तु-सम्यग्दर्शन तो वीतरागी पर्याय ही है। आहाहा! समझ में आया? वह यहाँ श्रुतज्ञान कहा, दर्शन की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन कहा, यह वीतरागी पर्याय कहा, यह जैनशासन का अनुभव है। आहाहा! समझ में आया?

अभी थोड़ा सूक्ष्म आयेगा प्रभु! आहाहा! **क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है।....** श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा, भावश्रुतज्ञान स्वयं आत्मा है — ऐसा कहा। आहाहा! जो वीतरागी भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ..... द्रव्यश्रुत में तो यह कहा है, यह तो गाथा कहती है। इसलिए कोई कहे कि इसमें द्रव्यश्रुत की व्याख्या तो आयी नहीं, (तो) यह द्रव्यश्रुत — यह शब्द ही द्रव्यश्रुत है। समझ में आया? और द्रव्यश्रुत में यह कहा है कि भावश्रुतज्ञान से अपने आत्मा का अनुभव करना, वह जैनशासन, वह जैनधर्म, वह आत्मधर्म (है)। आहाहा! यह श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा है। शास्त्र का ज्ञान वह चीज नहीं, वह तो आत्मा का अन्दर आनन्दकन्द भावस्वरूप पाँच भावस्वरूप है, उस पर दृष्टि लगाने से जो भावश्रुतज्ञान हुआ, वह वीतरागी पर्याय है, उसे जैनशासन कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

पाठ में (गाथा में) तीन बोल हैं परन्तु टीकाकार ने पाँच बोल जो (गाथा) १४ में थे, वे ले लिये हैं। वे तो विवाद-विरोध करते हैं, यह दस (संवत् २०१०) साल में विवाद

आया था, जुगलकिशोर की तरफ से, दिल्ली — जुगलकिशोर (मुख्तयार) थे न, उतरे थे न उनका मकान है, हम उनके मकान में उतरे थे (वे) सुनने को आते थे परन्तु यह चीज.... बाद में दस की साल में ऐसा आया कि यहाँ तीन ही बोल है। अनन्यं, अविशेषं, अबद्धस्पृष्टं — यहाँ तीन बोल हैं। पाँच बोल कहाँ से निकाले ? परन्तु भैया ! ये तीन बोल गाथा में सम्यग्ज्ञान की बात करना है, तो अपदेसश्रुतं यह द्रव्यश्रुत भी कहना है तो इस कारण तीन में पाँच समा जाते हैं। समझ में आया ? यहाँ कहते हैं, आहाहा ! यह **श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है।....**

इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही.... ज्ञान क्या ? भगवान ज्ञायकस्वभाव जो कायम, त्रिकाली ज्ञानस्वभाव, उसकी अनुभूति — वर्तमान भावश्रुत, वह आत्मा की अनुभूति है। आहाहा ! समझ में आया ? **परन्तु अब वहाँ,.....** अब वहाँ **सामान्यज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना)....** वह क्या कहते हैं ? जो आत्मा ज्ञानस्वभाव है, उसका अनुभव करना यह आविर्भाव ज्ञानस्वभाव सामान्य जो त्रिकाल है, उसका अनुभव इसमें करना, सामान्यज्ञान का अनुभव, वह पर्याय, सामान्यज्ञान है। क्या कहते हैं जरा ? सामान्यज्ञान के आविर्भाव, वह सामान्यज्ञान अर्थात् जो ज्ञायकस्वरूप है, उसकी यथार्थ में इन्द्रिय के ज्ञान के विषय का अनेकाकार ज्ञान होता है, उससे रहित... यह यहाँ पर्याय की बात है। यह पर्याय की बात है सामान्य ज्ञान-त्रिकाली की यहाँ बात नहीं है।

श्रोता : सामान्य किसे कहना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सामान्य अर्थात् इन्द्रिय के विषय का होने से अनेकाकार ज्ञान, उससे रहित अकेले आत्मा का ज्ञानस्वरूप भगवान... पर्याय में अकेले ज्ञान का अनुभव होना, वह... वह... ज्ञान पर्याय का, उसे सामान्य ज्ञान कहते हैं। यहाँ सामान्य-त्रिकाल की बात नहीं है। यह तो पहले कह दिया है कि पाँच भावस्वरूप है, वह तो त्रिकाल है। समझ में आया ? आहाहा !

सामान्य ज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना).... यह अर्थात् अकेले ज्ञान की आत्मा की शुद्धपर्याय का प्रगट होना, आहाहा ! उसे सामान्य ज्ञान का आविर्भाव कहा जाता है। सामान्य का अर्थ द्रव्य सामान्य का आविर्भाव — ऐसा नहीं है। सामान्य का अर्थ ?

विशेष प्रकार के जो राग आदि होता है या इन्द्रिय का विषयरूप अनेकाकार ज्ञान का भेद होता है, उससे रहित उसका नाम सामान्य ज्ञान का आविर्भाव कहा जाता है। यह पर्याय है, हाँ! आहाहा!

श्रोता : पर्याय को ही सामान्य कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सामान्य कहा न, कि विशेष जो ज्ञेयाकार से रहित, इसलिए अकेले ज्ञान का अनुभव वह सामान्य ज्ञान का अनुभव। सामान्य अर्थात् द्रव्य यहाँ नहीं लेना है। यह ज्ञान ही अपने स्वभाव से अनुभव करे, अपनी पर्याय में, उसका नाम सामान्य ज्ञान का आविर्भाव है। आहाहा!

सामान्य ज्ञान त्रिकाली का आविर्भाव यह प्रश्न यहाँ नहीं है। समझो प्रभु! यह तो बात अलौकिक बात है, नाथ! जैन शासन कोई अलौकिक वस्तु है। आहाहा! यह अबद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावस्वरूप प्रभु, वह त्रिकाली सामान्य कहा। अब उसका अनुभव पर्याय में, इन्द्रिय के विषय से अनेकाकार-ज्ञेयाकार जो पर्याय होती है, वह विशेष है, उससे रहित-उससे रहित अकेले ज्ञायकस्वभाव की पर्याय, अनेकाकार ज्ञानविशेष से रहित, अकेले ज्ञानस्वभाव का आकार पर्याय में पाना, वह सामान्यज्ञान का आविर्भाव है। आहाहा! समझ में आया? है अन्दर देखो!

हमारे पण्डितजी बैठे हैं यहाँ। ये कहें उसमें लिखा नहीं या उसमें लिखा है? आहाहा! ज्ञानचन्दजी! क्या कहते हैं सुनो! यहाँ सामान्य और विशेष दो प्रकार होते हैं तो यह सामान्य जो त्रिकाल है, उसकी बात यहाँ नहीं है। अकेला ज्ञायकस्वभाव पर्याय में अनुभव में आना, अनेकाकार विषय से जो अनेकाकार ज्ञान का भाव होता है, वह विशेष है। उससे रहित अकेले ज्ञान का पर्याय में अनुभव आना, वह सामान्यज्ञान का आविर्भाव है। आहाहा!

फिर, यह तो अलौकिक मार्ग है प्रभु! आहाहा! तो अब वहाँ सामान्यज्ञान, ज्ञान की — आत्मा की निर्मल पर्याय एकाकार होना, वह सामान्यज्ञान का आविर्भाव है। आत्मा का ज्ञायकभाव में एकाकार होकर जो ज्ञान की पर्याय, पर के आश्रय बिना, भेदरहित, अभेद से उत्पन्न हुई, वह सामान्यज्ञान (है)। समझ में आया? इस अकेले आत्मा का अनुभव

पर्याय में होना, वह सामान्यज्ञान है। इस पर्याय को सामान्य ज्ञान कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह जैनशासन! यह भावश्रुत!! आहाहा! समझ में आया? **सामान्यज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना).....** पर्याय में विशेषपने एकरूप स्वभाव का पर्याय में अकेले आत्मा के आश्रय से जो अनुभव हो, उसका नाम सामान्यज्ञान कहते हैं। आहाहा!

श्रोता : तब वह ज्ञान हुआ ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ज्ञानपर्याय प्रगट हुई स्व के आश्रय से, भेदरहित, उस पर्याय को सामान्य ज्ञान प्रगट हुआ — ऐसा कहा जाता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। कहो, गाथा बहुत अच्छी आयी है। ११, १२, १३, १४, १५ (गाथाएँ अलौकिक हैं)। प्रभु! ऐसा मार्ग है। आहाहा!

यहाँ जैनशासन, वह भावश्रुतज्ञान अथवा वीतरागी पर्याय, यह जैनशासन है। तो उस वीतरागी पर्याय को यहाँ सामान्यज्ञान कहा है, त्रिकाली को नहीं। त्रिकाली के अवलम्बन से एकरूप, पर का आश्रय लिये बिना जो सम्यग्ज्ञान की पर्याय हुई, उसका नाम सामान्यज्ञान प्रगट हुआ — ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? गाथा गम्भीर है। आहाहा! एक बात।

और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव (आच्छादन).... देखो! इन्द्रिय के विषय से जो अनेकाकार विशेषज्ञान पर्याय है उससे रहित.... है? **ज्ञान के तिरोभाव....** उसका ढंक जाना, आहाहा! इन्द्रियों के विषय से जो ज्ञान हुआ, उसका अनेकाकार विशेष है, उससे रहित, है? **(आच्छादन)....** — यह विशेष ज्ञान से ढँक दिया — विशेष ज्ञान को ढँक दिया और सामान्य पर्याय, वीतरागी (पर्याय) उत्पन्न हुई, उसका नाम सामान्यज्ञान कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? **विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव....** वर्तमान इन्द्रिय का विषय-इन्द्रिय ज्ञान के विशेष विषय से, इन्द्रिय ज्ञान में विषय के विशेष से जो ज्ञान होता है, वह विशेष है। विशेष का अर्थ मिथ्या है, वह सत्य नहीं; अपना सम्यग्ज्ञान जो जैनशासन की अनुभूति वह (यह) ज्ञान नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो धीरजवान का काम है, बापू! आहाहा!

भगवान पाँच भावस्वरूप, पहले कहा, वह तो त्रिकाली (की) बात ली, परन्तु

उसका जो अनुभव-उस द्रव्य सामान्य का अनुभव होना, वह सामान्यज्ञान है। वह अनुभव होना वो सामान्यज्ञान है, जिसमें विशेष ज्ञेयाकार का अभाव है। अपने ज्ञानस्वभाव का अकेला अनुभव हुआ... आहाहा! समझ में आया? पाटनीजी! जिसमें पाँच भावस्वरूप भगवान वह तो द्रव्य-वस्तु कहा, उसका अनुभव वह सामान्यज्ञान....

श्रोता : एकाकार ज्ञान?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अकेला, पर की अपेक्षा बिना हुआ न? एकाकार अर्थात् उसे सामान्य ज्ञान कहा। क्या कहा? यह तो विशेष स्पष्ट हुए बिना समझे नहीं। इसलिए इसमें कुछ पुनरुक्ति नहीं लगती। यह भगवान आत्मा जो मुक्तस्वरूप, सामान्यस्वरूप, नियत-निश्चयस्वरूप... आहाहा! आकुलता के भावरहित आनन्दस्वरूप प्रभु — ऐसे पाँच भावस्वरूप प्रभु स्वयं आत्मा है। उसको ज्ञेयाकार के विशेष से छूटकर अकेले ज्ञायकस्वभाव के ज्ञानाकार होना, भावश्रुतरूप होना, शुद्ध उपयोगरूप होना, वह सामान्यज्ञान कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : सामान्यज्ञान का नमूना आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : नमूना आया अन्दर। वह सामान्य, यह प्रश्न अभी नहीं है।

यहाँ सामान्य अर्थात् अकेले ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से, इन्द्रिय के विषय से रहित-इन्द्रिय के विषय से अनेकाकार ज्ञान होता था, वह विशेषज्ञान है। इस विशेषज्ञान का अर्थ? वह मिथ्याज्ञान। आहाहा! और भगवान आत्मा पाँच भावस्वरूप प्रभु तो द्रव्य, वह तो सामान्यद्रव्य (है)। अब उस सामान्यद्रव्य में उस द्रव्य के अवलम्बन से भावश्रुतज्ञान जो हुआ, वीतरागी पर्याय हुई, उस पर्याय को यहाँ सामान्यज्ञान कहते हैं। आहाहा! है? देखो अन्दर! अभी विशेष स्पष्टीकरण आयेगा।

श्रोता : ज्ञेयाकार ज्ञान मिथ्या होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय का अनेकाकार इन्द्रियज्ञान का विषय अनेकाकार ज्ञान, वह वास्तविक ज्ञान है ही नहीं अर्थात् विशेषज्ञान का ढँक जाना और अकेला आत्मा के अवलम्बन से जो भावश्रुतज्ञान हुआ — वीतरागी पर्याय हुई, इसे सामान्यज्ञान का आविर्भाव कहा जाता है। आहा! और विशेषज्ञान का ढँक जाना — इन्द्रिय का ज्ञान जो पर का विषय

करता है, उस अनेकाकार का ढँक जाना होता है, उस अनेकाकार का ढँक जाना और एक ज्ञायकस्वभाव की एकाकार की पर्याय उत्पन्न होना, उसका नाम सामान्यज्ञान है ! है या नहीं भाई ! अभी आयेगा विशेष स्पष्ट !

और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के.... देखो ! विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान, ज्ञेयाकार जो इन्द्रियों के विषय, ज्ञेयाकार ज्ञान उसका ढँक जाना, अनीन्द्रियज्ञान का अन्दर उत्पन्न होना, उस ज्ञान को सामान्य कहते हैं और इन्द्रियज्ञान से जो ज्ञान होता है, उसे विशेष कहते हैं, यह ज्ञान मिथ्या है। ढँक जाना। आहाहा ! ऐसी बात है, प्रभु ! क्या हो ? आहाहा ! समझ में आये ऐसा है ! भाषा जरा सादी है, भाषा ऐसी कठिन नहीं, कोई संस्कृत (आदि नहीं) और भाव तो है वह है, भगवान ! क्या हो ?

पर के — इन्द्रियज्ञान के विषय से हुआ अनेकाकार ज्ञान, उसका लक्ष्य छोड़कर... आहाहा ! अकेले आत्मस्वरूप भगवान पाँच भावस्वरूप में से जो ज्ञान हुआ, वह सामान्यज्ञान कहा जाता है। पर्याय को सामान्यज्ञान कहा जाता है, वीतरागी पर्याय को — भावश्रुतज्ञान को सामान्यज्ञान कहा जाता है। आहाहा ! है ?

श्रोता : क्यों ? क्यों कहा जाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्योंकि वह वस्तु पर के — इन्द्रिय के ज्ञान के आकार से रहित एकाकार ज्ञान का आकार है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप जो त्रिकाल पाँच भावस्वरूप कहा, उसका एकाकार हुआ, उसके एक द्रव्य के आकार एकाकार ज्ञान हुआ, एकाकार ज्ञान हुआ, वह सामान्यज्ञान कहा जाता है। आहाहा ! ऐसी बात है।

कहो, गोदिकाजी ? इसमें कहीं नीलम-फिलम में मिले ऐसा नहीं है, वहाँ कहीं, भटकाभटक करते हैं जहाँ-तहाँ, यहाँ अन्दर में जाना है — ऐसा कहते हैं। ऐ...ई... ! यह फिर अधिक करोड़पति है। धूल... धूल... आहाहा !

यहाँ तो भगवान पाँच (भाव) स्वरूप, प्रभु !... आहाहा ! आचार्य की शैली तो देखो। आहाहा ! भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप, सामान्यस्वरूप, नियतस्वरूप, राग-आकुलता से रहित आनन्दस्वरूप, इन पाँच भावस्वरूप भगवान आत्मा है। उसके आश्रय से जो एकाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे यहाँ सामान्यज्ञान कहा जाता है। सामान्य का ज्ञान हुआ

इसलिए सामान्यज्ञान — ऐसा नहीं है। उसे एकाकार स्वभाव का ज्ञान हुआ, इसलिए उस ज्ञान को सामान्यज्ञान कहा जाता है, उस ज्ञान को भावश्रुत कहा जाता है, उस ज्ञान को वीतरागी पर्याय कहा जाता है, उस ज्ञान को जैनशासन कहा जाता है। जैनशासन द्रव्य नहीं, भाव (अर्थात् पर्याय है)। आहाहा! समझ में आया? पुस्तक है न सामने? आहाहा!

सामान्यज्ञान के आविर्भाव.... आहाहा! ११ वीं गाथा में एक आया है, वहाँ ऐसा आया है कि जहाँ ज्ञायकभाव तो ज्ञायकभाव ही त्रिकाल है परन्तु उसका अनुभव हुआ, तब ज्ञायकभाव आविर्भाव हुआ, ऐसा पाठ ११वीं में है। यह ज्ञायकभाव आविर्भाव (नहीं होता।) ज्ञायकभाव तो ज्ञायक ही है परन्तु पर्याय में भान हुआ तो ज्ञायकभाव आविर्भाव हुआ — ऐसा ख्याल में आया कि यह ज्ञायकभाव, उसे आविर्भाव हुआ ऐसा कहा जाता है। ज्ञायक तो त्रिकाल ज्ञायक है, ज्ञायक में आविर्भाव तिरोभाव है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? ११वीं गाथा में है। ज्ञायकभाव आविर्भाव हुआ। ज्ञायकभाव तिरोभूत होता था? ज्ञायकभाव तो ज्ञायक है त्रिकाल है। उसमें आविर्भाव और तिरोभाव ज्ञायकभाव में है ही नहीं, परन्तु वह ज्ञायकभाव है — ऐसा अनुभव में आया, तब ज्ञायकभाव आविर्भाव हुआ — ऐसा कहा जाता है।

दृष्टि में उसका स्वीकार हुआ। पहले यह ज्ञायकभाव है — ऐसा (दृष्टि में) नहीं था। तो ज्ञायकभाव ध्रुव — ऐसा स्वीकार आया तो उस पर्याय में ज्ञायकभाव आविर्भाव हुआ, पर्याय में जानने में आया इसलिए (आविर्भाव हुआ) ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? ज्ञानचन्दजी! यह ११ वीं गाथा का.... आहाहा! और इन्द्रियज्ञान के विषय में जब पड़ा है, उसको ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, उसके ख्याल में नहीं आया, वह तिरोभाव हुआ। ज्ञायकभाव वस्तु तो वस्तु है। आविर्भाव और तिरोभाव ज्ञायकभाव में नहीं होता। वह तो त्रिकाल शुद्धज्ञायकभाव ही है परन्तु पर्याय में ख्याल में नहीं आया, तब वह ज्ञायकभाव उसे तिरोभूत हो गया, ढँक गया, उसकी दृष्टि में (ढँक गया)। समझ में आया? आहाहा! क्या मार्ग प्रभु का! यह (आत्मा) प्रभु स्वरूप, भगवान परमेश्वरस्वरूप ही है। परमेश्वरस्वरूप यह आत्मा, वीतरागस्वरूप कहो, परमेश्वरस्वरूप कहो, प्रभुस्वरूप कहो, यह तो वस्तु है। अब इस वस्तु के आश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ, उस ज्ञान को पर आश्रय का अभाव है,

इन्द्रिय के विषय का अनेकाकार ज्ञान–विशेष का अभाव है, तिरोभूत है और यह सम्यग्ज्ञान जो सामान्य एकरूप पर्यायभूत वह प्रगट है, वह आविर्भाव हुआ। तिरोभूत — ज्ञेयाकार से.... अनेक उसको तिरोभूत है, उसके ज्ञान है नहीं, उसमें ऐसा। सामान्यज्ञान में, इन्द्रिय से — इन्द्रियज्ञान के विशेष से अनेकाकार का ज्ञान, सामान्यज्ञान में है नहीं। सामान्यज्ञान क्या ? अनुभव की पर्याय हुई, वह सामान्यज्ञान है। आहाहा ! समझ में आया ?

गाथा बहुत ऊँची है, यह तो पूरा जैनशासन बतलाती है। आहाहा ! जैनशासन कोई सम्प्रदाय नहीं, कोई पक्ष नहीं। वह वस्तु जो वस्तु जो पाँच भावस्वरूप है, वस्तु, उसका अनुभव वह भावश्रुतज्ञान, वह जैनशासन, वह वस्तु का स्वरूप। आहाहा ! पर्याय में ख्याल में आया तब वस्तु है — ऐसी प्रतीति हुई, ख्याल में नहीं था तो वस्तु तो उसको है ही नहीं। समझ में आया ? यह प्रश्न हुआ था, अभी दो–तीन वर्ष पहले (यह प्रश्न हुआ था) एक वीरजी वकील थे, यहाँ काठियावाड़ में दिगम्बर का अभ्यास पहले वीरजीभाई को (था)। ९१, ९२ वर्ष में स्वर्गस्थ हो गये। पूरे काठियावाड़ में पहले दिगम्बर के अभ्यासी, उनका लड़का है, उसने प्रश्न किया कि महाराज ! यह आत्मा कारणपरमात्मा है तो कार्य क्यों नहीं आता है, कारण है तो कार्य आना ही चाहिए — ऐसा प्रश्न किया। भगवान आत्मा को इन पाँच भावस्वरूप है, वह कारणपरमात्मा है। समझ में आया ? अरे ! यह कारणपरमात्मा नियमसार में आता है, तो कारणपरमात्मा वस्तु है, तब तो कार्य तो आना चाहिए ? मैंने कहा — ठीक है परन्तु कारणपरमात्मा है — ऐसा जिसको स्वीकार है, स्वीकार है उसको कारणपरमात्मा है तो उसे कार्य–सम्यग्दर्शन आये बिना नहीं रहता परन्तु कारणपरमात्मा है। इसका स्वीकार ही नहीं तो उसे कारणपरमात्मा कहाँ आया ? समझ में आया ? वह तो — भगवान तो है ही परन्तु है, उसकी प्रतीति में और ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयरूप आवे तो उसको कारणपरमात्मा है; तो कारणपरमात्मा है — ऐसी प्रतीति आयी तो सम्यग्दर्शन कार्य हुए बिना रहे नहीं परन्तु कारणपरमात्मा है — ऐसा स्वीकार करे, और कारणपरमात्मा है — ऐसा उसको बैठे, तब कार्य होता है। आहाहा ! समझ में आया ?

बहुत प्रश्न चला था, यहाँ तो सूक्ष्म बात बहुत चलती है न, लोग अभ्यास तो बहुत करते हैं। कारणपरमात्मा है, वह ज्ञायकभाव त्रिकाल है परन्तु ज्ञायक भाव है, उसकी

जिसको अस्ति है — ऐसा श्रद्धाज्ञान में स्वीकार हुआ उसको कारणपरमात्मा है, जिसको यह श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार नहीं, उसको कारणपरमात्मा दृष्टि में कहाँ से आया? समझ में आया? आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई! बहुत सूक्ष्म, भाई!!

श्रोता : स्वीकार न करे तो कारणपरमात्मा कहीं चला जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे कहाँ है? उसे तो राग और पर्याय है तो उसको कारणपरमात्मा श्रद्धा में कहाँ है? समझ में आया? पर्यायदृष्टिवान् को द्रव्य ऐसा है — ऐसा आया कहाँ से? आहाहा! एक समय की पर्याय व्यक्त है और राग है, वही उसकी दृष्टि में है तो उसमें कारणपरमात्मा आया कहाँ से? ऐसे है तो, है उसको आया कहाँ से यहाँ?

श्रोता : लोहे का पारसमणि स्पर्श न करे तो पारस का पारसपना थोड़े ही खत्म हो जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पारसमणि! नहीं... नहीं... नहीं... उस कारण लोहा से पारसमणि का स्पर्श से लोहा सोना होता है ऐसा है नहीं, उसकी योग्यता से होता है। समझ में आया? यह तो बहुत अलौकिक बातें हैं बापू! यह तो भाषा तो ऐसी है न 'पारसमणि और सन्त को बड़ो आन्तरो जान, वोही लोहा को कंचन करे वोही अपने समान' — ऐसा श्लोक आता है। क्या कहा? यहाँ तो सब बहुत देखा है, सब करोड़ों श्लोक देखे हैं, श्वेताम्बर के, दिगम्बर के (करोड़ों श्लोक देखे हैं)। सारी जिन्दगी, ७२ वर्ष से उसमें हैं। इसमें कहा है न 'पारसमणि और सन्त को बड़ी आन्तरो जान, पारसमणि और सन्त को बड़ी आन्तरो जान; वह पारसमणि लोहे को कंचन करे और सन्त आप-आप समान' आहाहा! यह सन्त के समागम से समझे, उसे आप समान करते हैं — ऐसा कहा जाता है। यह श्लोक आता है न?

पता है न, हमारे बहुत वर्ष से हमारे सम्प्रदाय में चलता था — ऐसा कहते — पारसमणि लोहा को (सोना करती है) पारसमणि नहीं बना सकती है। निमित्तरूप से भी वह लोहा सोनेरूप हो जाता है, पारसमणि नहीं होता और सन्त जो वीतरागी मुनि महाभगवान, आहाहा! पंच परमेष्ठी, उसके अनुभव की बात वे कहते हैं और जो सुने तथा समझे तो अपनी दशा जैसी उसकी हो जाये। समझ में आया? 'पारसमणि से, पारसमणि लोहा नहीं

करती, वह सोना करती है बस इतना!' आहाहा! और तीन लोक का नाथ भगवान वीतराग और वीतराग के सन्त का समागम और सेवा करे.... सेवा अर्थात् वे आज्ञा कहते हैं, वीतरागता प्रगट करे। उनकी आज्ञा वीतरागता प्रगट करने की है, सन्तों की वीतरागी शासन की सारे की, वीतरागी पर्याय प्रगट करने की आज्ञा है। उस आज्ञा की सेवा करे तो सन्त की सेवा कब कहने में आती है तो उसने जो आज्ञा की, वीतरागी पर्याय-वीतरागी पर्याय प्रगट करे तो सन्त की सेवा उसने निमित्त से की — ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो इस शब्द में जरा सामान्यज्ञान का प्रगटपना, अर्थात् एकाकार ज्ञान का एकाकार का होना और विशेष ज्ञान — अनेकाकार का ढँक जाना, यह सब ज्ञानमात्र का अनुभव किया, यह जब अकेले आत्मा ज्ञानस्वभाव का अनुभव ज्ञान की पर्याय में किया। ज्ञानमात्र, राग नहीं, भेद नहीं; **ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है, तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है,** देखो! समझ में आया? आहाहा!

जब ज्ञानमात्र का अनुभव.... पर्याय में एकाकार ज्ञान का अनुभव किया जाता है, **तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है....** तब पर्याय में सामान्यज्ञान का अनुभव होता है। आहाहा! **तथापि जो अज्ञानी हैं,....** देखो! **ज्ञेयों में आसक्त हैं,....** इन्द्रियज्ञान के विषयों में अनेकाकार हुए ज्ञान में आसक्त हैं। आहाहा! इन्द्रियज्ञान के विषयों में अनेकाकार हुए ज्ञान में जो आसक्त हैं। आहाहा! **ज्ञेयों में आसक्त हैं, उन्हें वह स्वाद में नहीं आता।....** देखो, आहाहा!

इन्द्रियज्ञान के विषयों से हुए अनेकाकार ज्ञान में जो आसक्त है, उसको आत्मा ज्ञानस्वरूप है और उसका स्वाद ज्ञानाकार का है — ऐसा स्वाद उसको नहीं आता। उसको तो राग और द्वेष का-अज्ञान का स्वाद आता है। आहाहा! विशेष, विशेष यहाँ क्या कहते हैं? पहले तो कहा कि विशेष आत्मा में है ही नहीं, वह तो सामान्य वस्तु की बात कही। सामान्य-अविशेष कहते हैं और अविशेष-सामान्य वह वस्तु, अब यहाँ विशेष अर्थात् क्या? कि इन्द्रिय के विषय में अनेकाकार हुआ ज्ञान, उसे ढँक दिया और उसका ज्ञान अनेकाकार में रुक गया, वह विशेषज्ञान। सब्जी की दृष्टान्त देंगे।

शाक, शाक कहते हैं? क्या कहते हैं? शाक, शाक, शाक द्वारा लवण का स्वाद आना, वह विशेष हुआ और लवण का स्वाद लवण द्वारा आना, वह सामान्य हुआ। समझ में आया? यह दृष्टान्त देंगे, स्पष्ट समझाने को कि शाक, यह शाक खारा है — ऐसा कहते हैं न? शाक बहुत खारा है, शाक खारा है? शाक तो शाक है, खारा तो नमक है। उस नमक का स्वाद शाक द्वारा जिसको आया, वह विशेष हुआ और नमक का स्वाद नमक द्वारा आया, वह उसका सामान्य हुआ। आहाहा!

इसी प्रकार ज्ञान का स्वाद अपने अनुभव में सामान्य अर्थात् ज्ञान के एकाकारपने का स्वाद आया, वह ज्ञान का स्वाद और ज्ञेय का-अनेकाकार का स्वाद, वह राग और द्वेष का स्वाद, वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का स्वाद.... आहाहा! समझ में आया? और सामान्यज्ञान का वेदन आया, वह ज्ञानचेतना हुई। ज्ञानचेतना और विशेष जो प्रकार है, उसका वेदन वह कर्म और कर्मफलचेतना है। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : ज्ञेयों में आसक्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्रियों के ज्ञान के ज्ञेयों में आसक्त-लक्ष्य वहाँ ही है। वस्तु यहाँ है वह ख्याल भी नहीं है। बस, इन्द्रियज्ञान में लुब्ध-इन्द्रियज्ञान के विषय में अनेकाकार के हुए ज्ञान में लुब्ध... आहा! आहाहा! यह इन्द्रिय से जो ज्ञान... सुनने में आता है न, वह ज्ञान भी इन्द्रियज्ञान है, वह अनीन्द्रियज्ञान नहीं है। क्या कहा? भगवान की वाणी सुनी और ज्ञान की पर्याय हुई, वह अनीन्द्रियज्ञान नहीं है। (समयसार) ३१ गाथा में कहा है, समयसार ३१ (गाथा) **जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।** इन्द्रिय जिणित्ता का अर्थ तीन प्रकार से लिया है, सन्त आचार्य अमृतचन्द्र ने, (१) द्रव्य इन्द्रिय यह जड़, (२) भावेन्द्रिय — एक-एक विषय को जाननेवाली भाव इन्द्रिय और (३) इन्द्रिय का विषय-चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब परिवार, देश, सबको इन्द्रिय कहा गया है। जड़ इन्द्रिय, भाव इन्द्रिय और उसके विषय को भी इन्द्रिय कहा गया है। पाठ में — टीका में लिया है। अमृतचन्द्राचार्य ने (टीका में लिया है) तीनों को जीते, आहाहा! इन तीनों का लक्ष्य छोड़कर, उससे जो श्रुत हुआ इन्द्रियज्ञान हुआ वह तो। भगवान ने कहा और सुना तो वह ज्ञान इन्द्रियज्ञान हुआ, क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय है और उससे ज्ञान हुआ, वह इन्द्रियज्ञान है। आहाहा! यह क्या कहा?

श्रोता : वह इन्द्रियज्ञान ज्ञेय है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भावेन्द्रिय में द्रव्य इन्द्रिय के निमित्त से और भगवान की वाणी के निमित्त से जो ज्ञान हुआ, वह इन्द्रियज्ञान है, वह विशेष है, वह आत्मा का ज्ञान नहीं है।

सूक्ष्म बात है भाई! बहुत कठिन काम है, वर्तमान में तो इतनी गड़बड़ होती है, कोई तत्त्व की-पूरी बात बदल डाली, बापू! यह तो वीतरागमार्ग तीन लोक के नाथ.... आहाहा! उनका मार्ग कैसा होगा ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि भगवान और भगवान की वाणी को इन्द्रिय कहा है। (समयसार) ३१ वीं गाथा में (कहा है)। भगवान और उनकी वाणी को इन्द्रिय कहा है, पर है न ? तो द्रव्य इन्द्रिय, भाव इन्द्रिय और उसके विषय को तीनों को इन्द्रिय कहा है। उस इन्द्रियज्ञान जो ज्ञान होता है, वह विशेष अनेकाकार ज्ञान का-अनेकाकाररूप वह विशेष ज्ञान (है), वह सामान्यज्ञान नहीं है। वह आत्मा के अवलम्बन से विशेष जो ज्ञान होता है, वह सामान्यज्ञान, आत्मा के त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से विशेषज्ञान हुआ, उस विशेषज्ञान को यहाँ सामान्यज्ञान कहा है। आहाहा! अरे! समझ में आया ? और जो ज्ञेयों में आसक्त है। आहाहा! है ? वह वास्तव में तो श्रुत शब्द-भगवान की वाणी और भगवान का यहाँ ज्ञान हुआ, वह सब ज्ञेय है। वह अपना ज्ञान नहीं। आहाहा! इन ज्ञेयों में जो आसक्त है, इन्द्रिय से ज्ञान हुआ वह ज्ञेय, परज्ञेय है; वह स्वज्ञेय नहीं, (वह) अनीन्द्रिय स्वज्ञेय नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

भाई! यह तो वीतराग का मार्ग है, प्रभु! आहाहा! उसको समझने में बहुत प्रयत्न चाहिए। आहाहा! ऐसा कोई शास्त्र पढ़ लिया और वाँचन कर लिया, इसलिए ज्ञान हो गया — ऐसा नहीं है।

श्रोता : शास्त्र रचना हुई कैसे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं ? शास्त्र रचना जड़ से हुई है।

श्रोता : शास्त्र किसने बनाया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने बनाया ? किसी ने नहीं बनाया, जड़ से बना है। यह तो

अमृतचन्द्राचार्य अन्त में कहते हैं न, तीनों में — समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय में — कि हमने टीका बनायी — ऐसा मोह मत करो, हम तो ज्ञानस्वरूप में गुप्त हैं, वहाँ टीका की पर्याय में आये कहाँ से? आहाहा!

बापू! मार्ग अलग है, भाई! और टीका से तुम्हें ज्ञान होता है — ऐसे मोह से मत नाचो। टीका परवस्तु है और उससे ज्ञान होता है, वह तो परज्ञेय का ज्ञान हुआ। आहाहा! स्वज्ञेय का ज्ञान जो अन्तर के आश्रय से होता है, वह स्वज्ञान सामान्यज्ञान है, वह वीतरागी ज्ञान वह श्रुतज्ञान, भावश्रुत है। आहाहा!

श्रोता : सामान्य से विशेष बलवान होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यहाँ नहीं। यह विशेष का ज्ञान हो, सामान्यज्ञान होने के बाद जो अनेकाकार का ज्ञान हो तो ज्ञान हो परन्तु अपना है — ऐसी चीज नहीं है। आहाहा! ज्ञानी को अपने स्वभाव के एकाकार से जो ज्ञान हुआ, वह सामान्यज्ञान और उसके बाद विशेष जो इन्द्रिय के ज्ञान है — ऐसा ख्याल में आता है; ख्याल में आता है परन्तु वह मेरा ज्ञान नहीं है। जैसे परज्ञेय ख्याल में आता है, तथापि वह परज्ञेय मेरा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

इस प्रकार अनेकाकार इन्द्रियविषय का सामान्यज्ञान, जहाँ स्वरूप का भान हुआ तो उस ज्ञान में स्व-पर प्रकाशक ज्ञान हुआ, तो स्व का ज्ञान होने से सामान्यज्ञान प्रगट हुआ, उस ज्ञान को सामान्य कहा और वह ज्ञान, इन्द्रिय के विषय आदि को जाने, है परन्तु वह मेरी चीज नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। गजब बात, बापू! आहाहा! तीन लोक के नाथ की वाणी कान में सुने, वह इन्द्रिय का, यह इन्द्रिय, भावेन्द्रिय भी इन्द्रिय और यह तीनों इन्द्रिय है। यह सामान्यज्ञान नहीं है। एकाकार आत्मा का ज्ञान से ज्ञान हुआ, वह नहीं है। यह तो ज्ञेय से हुआ, यह ज्ञेयाकार ज्ञान वह नहीं है। आहाहा!

सूक्ष्म बात है प्रभु! यह तो गाथा आयी तब (स्पष्टीकरण होता है।) आहाहा! पर सत्तावलम्बी ज्ञान... परमार्थवचनिका में आया है, परमार्थ वचनिका है न, बनारसीदास (कृत है)। अपने मोक्षमार्गप्रकाशक में पीछे रखा है, पीछे तीन लिये हैं, तो उसमें ऐसा लिया है, जितना परसत्तावलम्बी ज्ञान है, वह मोक्षमार्ग है — ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। समझ

में आया ? आहाहा ! है उसमें, सब ख्याल है, यह तो एक बार पढ़ते हैं तो सब ख्याल में है न, मस्तिष्क में। परसत्तावलम्बी ज्ञान, निमित्त से ज्ञान हुआ; हुआ तो अपने में परन्तु उसमें निमित्त की सापेक्षता आयी तो वह परसत्तावलम्बी ज्ञान (है), उसे समकिती ज्ञानी मोक्षमार्ग नहीं मानते हैं। है ? यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक है या नहीं ? यह क्या है ? यह है, देखो, परमार्थवचनिका में है, यहाँ है ऊपर, इसे पता है, आहाहा ! देखो, किसी प्रकार का ज्ञान, किसी प्रकार का आत्मा का ज्ञान.... ज्ञान ऐसा नहीं होता कि परसत्तावलम्बी ज्ञान बनकर मोक्षमार्ग साक्षात् कहे, यह नहीं। जो परसत्तावलम्बी ज्ञान हुआ निमित्त से, हुआ उपादान अपने से परन्तु उसमें निमित्त की अपेक्षा थी — ऐसे परसत्तावलम्बी ज्ञान को ज्ञानी मोक्षमार्ग नहीं कहते। यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक में है, तीनों चिट्ठियाँ डाली (छापी) है। क्योंकि हमको पहले जो मिली थी, बनारसीदासजी की तो वह पहले कहीं नहीं मिला था, बनारसीदासजी की चिट्ठी देखी, पहले ९० की, ९१ की साल। अरे ! ऐसी बात गुप्त रह गयी। मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में इसे प्रकाशित करो। बनारसीविलास है, ग्रन्थ देखे हैं न सब, उसमें एक परमार्थवचनिका है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी टोडरमलजी की और उपादान निमित्त के दोहे भैया भगवतीदासजी के ! आहाहा !

भगवान पाँच भावस्वरूप... स्वरूप, यह प्रभु आत्मा उसका एक, एक का एकाकार ज्ञान जो हुआ, एक अवलम्बन से — स्व के अवलम्बन से जो एकाकार ज्ञान हुआ, वह जैन शासन है, वह सामान्यज्ञान है, वह श्रुतज्ञान है, वही वीतरागी पर्याय है। आहाहा !

और जितनी पर्याय पर के निमित्त से-अवलम्बन से... भले ज्ञान निमित्त से नहीं हुआ, अपने उपादान से हुआ परन्तु उस उपादान में निमित्त की सापेक्षता का भेद था। तो उस निमित्त से अपनी पर्याय में जो ज्ञान हुआ, वह परसत्तावलम्बी ज्ञान है, स्व-सत्तावलम्बी ज्ञान नहीं। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसा मार्ग न बैठे और इसे फिर ऐसा कहकर निकाल डालते हैं कि यह तो निश्चय की बातें और.... अरे प्रभु ! परन्तु निश्चय अर्थात् वह सत्य यह है। आहाहा !

यह कहा, देखो ! **ज्ञेयों में आसक्त हैं, उन्हें वह स्वाद में नहीं आता।.....** क्या कहते हैं ? इन्द्रियज्ञान के विषयों में अनेकाकार ज्ञान खण्ड-खण्ड होता है, (जो) उसमें

आसक्त है, उसको ज्ञानस्वरूपी भगवान त्रिकाल का पर्याय में स्वाद आना चाहिए (फिर भी) उसको स्वाद नहीं आता। क्या कहा? समझ में आया?

जो इन्द्रियज्ञान के विषयों में आसक्त है, उसको अतीन्द्रियज्ञान की पर्याय में स्वाद आना चाहिए, वह स्वाद उसको नहीं आता।

श्रोता : उसे अतीन्द्रिय ज्ञान होता ही नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो नहीं, इसलिए स्वाद नहीं आता। इसका अर्थ क्या हुआ, समझ में आया? यहाँ तो अनुभव के साथ की अपेक्षा से बात की है। सामान्यज्ञान में आत्मा के आनन्द का स्वाद आया, वह श्रुतज्ञान है, वीतरागी पर्याय है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, और इन्द्रिय के आसक्त में जो ज्ञान है, उसमें रहता है उसको आत्मा का स्वाद नहीं आता। आहाहा! ऐसी बात है। लोगों को एकदम कठिन लगता है। ज्ञानचन्दजी! भगवान! मार्ग तो यह है। आहाहा! पहले उसका सच्चा ज्ञान तो करना पड़ेगा न? और ज्ञान करने के बाद स्व का आश्रय लेना वह ज्ञान है। आहाहा! उसको यहाँ सामान्यज्ञान कहा है। आहाहा! सामान्य का ज्ञान, इसलिए सामान्य — ऐसा नहीं; उस ज्ञान में एकाकारपना है, इसलिए सामान्यज्ञान और ज्ञान में अनेकाकार विषय है, उसका नाम विशेषज्ञान है। समझ में आया? आहाहा! एक घण्टा तो इसमें चला जाता है।

लो, **वह स्वाद में नहीं आता। यह प्रगट दृष्टान्त से बतलाते हैं :.....** दृष्टान्त कहते हैं। लोगों को ख्याल में आवे, इसलिए दृष्टान्त कहते हैं। **जैसे - अनेक प्रकार के शाकादि....** शाक, खिचड़ी, चावल में भी लवण (डालते हैं)। खिचड़ी में तो नमक डालते थे, अभी तो चावल में डालते हैं। चावल में नमक, रोटी में डालते हैं, सबमें डालते हैं। अब रोटी में, रोटी में तो डालते थे बाजरे की रोटी होती है न परन्तु अब तो रोटी में भी नमक डालते हैं। शाक में भी नमक, रोटी में भी नमक, रोटी (बाजरे की) में तो नमक डालते हैं, यहाँ कहते हैं कि यह भाषा ली न — शाक आदि शब्द लिया न?

एक बार ऐसा (प्रसंग) बना था। श्रीमद् राजचन्द्र, राणपुर के पास एक गाँव है, हड़मताला है, वहाँ श्रीमद् राजचन्द्र आये थे। तो पाँच, पच्चीस, पचास लोग-मुमुक्षु आये थे तो ऐसा लौकी का शाक बाटके में आया। बाटका क्या कहते हैं? कटोरी-कटोरी में

(आया तो देखकर बोले) भैया ! इसमें नमक बहुत है, लवण बहुत है, साहब ! आपने चखा तो नहीं न ? देखो ! अकेला लौकी का शाक पानी से बाफते हैं तो उसका रेशा नहीं टूटता, यह नमक विशेष पड़ा है तो लौकी के टुकड़े का रेशा टूट गया है। खाये बिना, हाँ ! रेशा समझते हैं ? वह लौकी का टुकड़ा सलग्न (पूरा) हो, सलग्न में तो नमक विशेष पड़ने से रेशा टूट जाता है। अकेले (पानी) में बाफे तो रेशा नहीं टूटता परन्तु विशेष नमक / लवण पड़ जाये तो यह एक सरीखी चीज है, उसमें टूट पड़ती है, रेशे टूट जाते हैं — ऐसा क्यों जाना ? चखो, क्योंकि गृद्धि नहीं थी तो उनको ख्याल में आ गया कि नमक विशेष है और गृद्धिवाले को नमक के विशेष का ख्याल नहीं आता। वह शाक खारी है, शाक खारी है, शाक खारी है (ऐसा मानता है) । आहाहा ! यहाँ तो दृष्टान्त देकर विशेष समझायेंगे।

लो, समय हो गया।	(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ७४ गाथा १५ दिनाङ्क ३१-०८-१९७८ गुरुवार
श्रावण कृष्ण १३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

---

१५ वीं गाथा। **टीका** — फिर थोड़ा, कोई कहता था फिर से लेना, किसी ने कहा था। कहता था (श्रोता : दरबार ने कहा था) यह आत्मा वस्तु कैसी है ? कि यह 'यह' '**अबद्धस्पृष्ट**' है। जिसको यहाँ आत्मा कहते हैं, वह तो राग और कर्म के निमित्त के स्पर्श से-बन्ध से रहित है। अर्थात् यह मुक्तस्वरूप है, उसका त्रिकाली स्वभाव मुक्तस्वरूप है। आहाहा ! अबद्धस्पृष्ट। '**अनन्य**' अन्य-अन्य गति, यह उसमें नहीं है। वह तो अनन्य एकरूप त्रिकाल है। '**नियत**' निश्चय एकरूप, निश्चय त्रिकाल है। उसमें पर्याय का भेद है, वह वस्तु में नहीं है। '**अविशेष**' वह सामान्य है। गुण का भेद/विशेष उसमें नहीं है। आहाहा ! जो आत्मा है, वह सामान्य है। जिसमें गुण और गुणी का भेद भी नहीं है। आहाहा ! यह गुणमय कहा था न ? अनन्त गुणमय आत्मा.... यह विशेष/भेद नहीं और '**असंयुक्त**' आकुलता की संयुक्तता से रहित है अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है — ऐसे-ऐसे पाँच भावस्वरूप... है तो एक समय में परन्तु पाँच भावस्वरूप एक समय में है। आहाहा ! समझ में आया ?

यहाँ जिसको आत्मा कहते हैं, वह आत्मा पाँच भावस्वरूप, 'यह', यह अर्थात् पर्यायदृष्टि और रागदृष्टि छोड़कर, यह आत्मा पाँच भावस्वरूप है, उसकी अनुभूति, ऐसे आत्मा की अनुभूति, ऐसे पाँच भावस्वरूप, मुक्तस्वरूप, सामान्यस्वरूप, नियतस्वरूप, अन्य-अन्य नहीं/अन्य-अन्य नहीं। अनन्यस्वरूप ही है। ऐसे आत्मा की अनुभूति... आत्मा की अर्थात् ज्ञानचेतना में अनुभव करके जो निर्मलपर्याय होती है, वह आत्मा की अनुभूति आत्मा है, वह त्रिकाली द्रव्य पाँच भावस्वरूप और उसकी अनुभूति है, वह पर्याय है। आहाहा! समझ में आया? यह तो पूरे जैनशासन का मर्म है। आहाहा!

समयसार शासन करूँ.... भाई! आता है न, पण्डितजी! पहले, पण्डित जयचन्दजी! समयसार शासन करूँ.... पहले आता है न शुरुआत में, शुरुआत में है न वह, जयचन्द पण्डितजी, हाँ! है?

श्रोता : समयसार शासन करूँ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह — समयसार शासन करूँ, (देशवचनमय भाई) है। यह जैनशासन कहो, या समयसार कहो। आहाहा! यह पण्डित जयचन्दजी ने पहले लिया है। समयसार शासन करूँ (ऐसा लिया है)। समयसार का ज्ञान स्वभाव जो है, आनन्द का, उसे मैं बताऊँगा। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! यह तो अन्तर सम्यग्दर्शनसहित सम्यग्ज्ञान का क्या अनुभव है? उसकी बात है। सम्यग्दर्शन की बात तो चौदह में चली, अब उसके साथ सम्यग्ज्ञान.... तो सम्यग्दर्शन में तो आत्मा की अनुभूति, वह सम्यग्दर्शन (है)। अब यहाँ ज्ञानानुभूति, वह सम्यग्ज्ञान। ज्ञानानुभूति का अर्थ? है न पहले है। आहाहा!

भगवान आत्मा परमानन्द चैतन्य आत्मरस देव दिव्यशक्ति का भण्डार भगवान जो एकरूप है, वह मुक्तस्वरूप है। उसका स्वरूप राग और पुण्य-पाप की आकुलता से रहित ही है। एकरूप है और सामान्य है। उसका विशेषपने अनुभूति में विशेष लेना। वह गुणभेद विशेष अलग चीज है, यह उसमें यह तो सामान्य है परन्तु उस सामान्य ज्ञायकभाव का ज्ञायक के अवलम्बन से एकाकार ज्ञान की जो पर्याय उत्पन्न हो, उसे यहाँ अनुभूति कहा गया है। आहाहा!

बातें बहुत कठिन, लोगों को यह परिचय नहीं न, इसलिए (कठिन लगती है)।

वस्तुस्थिति यह है। जैनशासन अर्थात् भगवान (आत्मा) पाँच भावस्वरूप प्रभु की अनुभूति – द्रव्य के अनुसार अपनी पर्याय में अनुभव होना, वह अनुभूति, वह भावश्रुतज्ञान, वह ज्ञायकस्वभाव की एकाकार दशा, उसे जैनशासन कहा जाता है। आहाहा!

वह निश्चय से समस्त जिनशासन (की अनुभूति है,....) सारा जैनशासन! आहाहा! चारों ही अनुयोगों में जो वीतरागता उत्पन्न करना कहना है। वह वीतरागता, त्रिकाली वीतरागस्वभाव मुक्तस्वरूप आत्मा के आश्रय से (होती है)। अनुभूति कहो, वीतराग पर्याय कहो, शास्त्र का तात्पर्य वीतरागदशा कहो, उसे जैनशासन कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? वह निश्चय से समस्त जिनशासन.... सारा जैनशासन... आहाहा! चारों अनुयोगों में कहा वह वीतराग त्रिलोकनाथ ने तो यह कहा है। जिन की आज्ञा वीतरागता उत्पन्न करने की है, गुरु की आज्ञा और शास्त्र की — तीनों की आज्ञा भी वीतरागता उत्पन्न करने की है — तो वह वीतरागता कैसे उत्पन्न हो? कि पाँच भावस्वरूप वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा है, उसकी अनुभूति करने से वीतरागपर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा! वह समस्त जैन शासन की अनुभूति है।

क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है।.... यह भाव — जो ज्ञानस्वरूप भगवान त्रिकाल का अनुभव हुआ, वह भावश्रुतज्ञान है। द्रव्यश्रुतज्ञान में भी ऐसा कहा था, भावश्रुतज्ञान में ऐसा आया। सम्पूर्ण चीज दृष्टि में-अनुभव में आयी। अनुभव में द्रव्य नहीं आया परन्तु द्रव्य की अनुभूति आयी। आहाहा! अनुभूति की पर्याय में सम्पूर्ण पाँच भावस्वरूप आत्मा है, वह अनुभूति की पर्याय में नहीं आता, परन्तु पाँच भावस्वरूप जो आत्मा है, उसकी अनुभूति करना — उसके आश्रय से (अनुभूति करना), उस अनुभूति में आनन्द का स्वाद आना ज्ञान की चेतना प्रगट होना, उसका नाम यहाँ भावश्रुतज्ञान कहा जाता है। अरे...रे! ऐसी बातें हैं। वह **श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है।....** यह अनुभूति, जो सम्यग्ज्ञान हुआ; त्रिकाली ज्ञायकभाव के अवलम्बन से जो अनुभूति-भावश्रुतज्ञान हुआ, वह स्वयं आत्मा ही है। भावश्रुत अनुभूति है, वह आत्मा है। राग का, रागभाव आया, वह अनात्मा है। अनात्मा का जाननेवाला आत्मा है। अनात्मा में उत्पन्न होनेवाला आत्मा नहीं है। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय में उत्पन्न होनेवाला आत्मा नहीं है। आहाहा! यह तो निश्चय

आत्मा भगवान, यह ज्ञायकस्वरूप.... यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है न? तो ज्ञायक जो त्रिकाल सामान्य है, उसका अनुभव-सामान्य, अनुभव सामान्य; विशेष का-राग का अभाव करके अनुभव की पर्याय होना, उसे यहाँ सामान्यज्ञान कहते हैं। उस सामान्यज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं। भावश्रुतज्ञान को समस्त जैनशासन की आज्ञा है। उसमें समस्त जैनशासन भाव है। आहाहा! जिसने भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को जाना, उसने लोकालोक, बन्ध-मोक्ष क्या चीज है? — उसने सबको जान लिया। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है.... पहले जो दर्शन में आत्मा की अनुभूति कहा था; यहाँ ज्ञान की अनुभूति, यह ज्ञायक जो त्रिकाल है। यह ज्ञान प्रधान से कथन लेकर ज्ञान की अनुभूति वह आत्मा है। यह ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है। आहाहा! आत्मा में एक स्व-संवेदन नाम का गुण है। स्व-संवेदन बारहवाँ गुण है, सैंतालीस (शक्तियों) में प्रकाश नाम का-प्रकाश नाम का गुण है, उस गुण का कार्य क्या? कि स्वसंवेदन पर्याय में होना उस गुण का कार्य है। प्रत्यक्ष-राग के अवलम्बन बिना, निमित्त के आश्रय बिना, उस प्रकाश नामक गुण का कार्य-गुण की परिणति स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना, वह गुण का कार्य है। यह अनुभूति.... आहाहा! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना.... आहाहा! जिसमें ज्ञानचेतना प्रगट होना, ज्ञानस्वरूप भगवान में एकाकार होकर जो ज्ञानचेतना प्रगट होती है, उसे यहाँ अनुभूति कहा, भावश्रुत कहा, यह जैनशासन कहा। आहाहा! समझ में आया?

परन्तु अब वहाँ,.... वहाँ **सामान्यज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना)....** आहाहा! जो सामान्य त्रिकाली ज्ञायक कहा, उसमें इस ज्ञान का एकाकार होना, वह सामान्यज्ञान का आविर्भाव (है)। सामान्य (अर्थात्) यहाँ पर्याय में विशेष के भेदरहित, पर्याय में अकेले ज्ञायक का ज्ञान में ज्ञानाकार की पर्याय उत्पन्न होना, उसका नाम सामान्यज्ञान प्रगट हुआ — ऐसा कहा जाता है।

सामान्यज्ञान के आविर्भाव.... यह सामान्य अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव का आविर्भाव — ऐसा नहीं है; ज्ञायकभाव तो ज्ञायकभाव एकरूप त्रिकाली है परन्तु उसके अवलम्बन से, आश्रय से जो ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसको सामान्यज्ञान (कहते हैं)। ज्ञान में

एकाकार एकस्वरूप का एकाकार ज्ञान होना, उसका नाम सामान्यज्ञान कहते हैं। समझ में आया? **सामान्यज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के....** देखो! विशेष ज्ञेयाकार इन्द्रियज्ञान से जो ज्ञेयाकार ज्ञान होता था, उसका आच्छादन, उसको गुप्त हो गया। अकेला ज्ञान का आकार, एकाकार उत्पन्न हुआ, उसमें अनेकाकार इन्द्रियज्ञान से विषय का अनेकाकार था, वह ढँक गया। आहाहा! समझ में आया? यह तो चाहे जितनी बात करे यह चाहे जितनी.... परन्तु यह बात तो मक्खन है! आहाहा! यह करना है, यह धर्म है। कभी इसके बिना धर्म नहीं होता और कभी आत्मा के आनन्द का स्वाद इसके बिना नहीं आता। आहाहा!

जब तक पुण्य और पाप के राग की कर्मचेतना का स्वाद है, तब तक अनादि से मिथ्यादृष्टि है। क्या कहा? शुभ-अशुभभाव, राग-जिसे यहाँ असंयुक्त कहा था - वह राग आदि संयुक्त है, उससे रहित है परन्तु उस संयुक्तभाव का जब तक स्वाद है.... आहाहा! तब तक उसको यह जैनशासन नहीं मिला। तब तक आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आया। आहाहा! सामान्य के आविर्भाव, विशेष ज्ञेयाकार...... यह ज्ञानाकार, एकाकार, सामान्यज्ञान और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव-ढँक गया।

जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है.... अकेले भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु... ज्ञान त्रिकाली ज्ञायकभाव, ज्ञानभाव का अनुभव करने से **ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है....** आहाहा! तब आत्मा की पर्याय में वीतरागी ज्ञान-भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! ऐसी शर्तें हैं। **तथापि....** ऐसा होने पर भी, ऐसा स्वरूप-ज्ञानाकार ज्ञेय पर्याय में ज्ञानाकार का उत्पन्न होना और ज्ञेयाकार का उत्पन्न न होना — ऐसा वस्तु का स्वरूप होने पर भी, **जो अज्ञानी हैं,....** आहाहा! वस्तुस्वरूप भगवान ज्ञान और सामान्यस्वरूप है, उसका अज्ञानी है, उसका ज्ञान नहीं है। आहाहा! **ज्ञेयों में आसक्त हैं,....** यह जो इन्द्रियज्ञान है, इस इन्द्रियज्ञान में परविषय का ज्ञान होता है, उन ज्ञेयों में आसक्त है। वह परलक्ष्यी ज्ञान हुआ, उसमें जो आसक्त है। आहाहा! सूक्ष्म बात भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म! आहाहा!

ऐसा वस्तु का — पाँच भावस्वरूप प्रभु की अनुभूति भावश्रुतज्ञान, जैनशासन और

ज्ञान का एकाकार अनुभव होना, वह वस्तु की स्थिति है, परन्तु उस वस्तुस्वरूप का जिसको ज्ञान नहीं, चैतन्यस्वभावी भगवान सामान्य वीतरागीस्वरूपी प्रभु का ज्ञान नहीं, (वहाँ) अज्ञान है। आहाहा! **ज्ञेयों में आसक्त हैं,....** आहाहा! इन्द्रियज्ञान, ज्ञेय है; स्व-स्वरूप नहीं, परज्ञेय है। आहाहा! अनादि से इन्द्रियज्ञानरूप परिणमा है, परन्तु परज्ञेयपने परिणमा है। आहाहा! स्वज्ञेयपने आया नहीं। आहाहा!

भाई! वीतरागमार्ग बहुत गूढ़ और गम्भीर है प्रभु! आहाहा! इसे तो पहले समझने में भी अलौकिक बात है। यह बात ज्ञान में लेना, बाद में अनुभव में लेना, वह तो अलौकिक बात है। आहाहा! नन्दकिशोरजी! आहाहा! है?

श्रोता : हमारी बुद्धि तो कानून में चलती है, कानून में-कायदे में।

पूज्य गुरुदेवश्री : कानून में, तुम्हारे कानून में। वकील की बात करते हैं, नन्दकिशोरजी वकील हैं न? सरकार के कायदे तो अज्ञान के हैं, सब कायदे.... आहाहा! यह कायदा, भाई! ये रामजीभाई करते थे न वहाँ कोर्ट में, सब कायदे कुज्ञान के हैं, यह तुम तो वकील हो और याद किया रामजीभाई वकील को याद किया — ऐसा कि वकील जो कायदे निकालते हैं, वह तो कुज्ञान है। आहाहा!

श्रोता : कुज्ञान कहो परन्तु जितलाने का कायदा तो अवश्य है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कायदा यह है। ज्ञायकस्वभाव का-ज्ञेयाकार का-ज्ञानाकाररूप होना, यह ज्ञेयाकार तो जीतना है। जिन है न, जिन! तो जीतना न? उसको जिन कहते हैं। जीतना.... तो कहते हैं किसको जीतना? कि इन्द्रिय ज्ञानाकार जो ज्ञान होता है, उसको जीतना। आहाहा!

श्रोता : कोर्ट में केस हो, उसमें जीतना वह जैन नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ धूल में है, वहाँ तो पाप है अकेला। कोर्ट में अपने रामजीभाई इस कायदे को बराबर उसको पास करावे, क्या कहलाता है वह कोर्ट में? ऐसा कि उसे लाभ दिया और ऐसा किया और अमुक किया। (सब) धूल-धूल है, पाप का लाभ आया। गोदिकाजी! आहाहा!

श्रोता : पैसे का लाभ हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा, धूल में भी लाभ नहीं हुआ। ममता का लाभ हुआ, राग का लाभ हुआ। अनुभूति वीतरागी पर्याय का लाभ है, वह मिथ्यात्व में उस राग का लाभ है। ऐसी बात है भाई! आहाहा!

गाथा आयी है न ठीक शिक्षण-शिबिर में, यह सत्रहवाँ दिन है। आज सत्रहवाँ है न, सत्रहवाँ, बीस दिन, तीन बाकी है कल। आज सत्रह है, दस और सात, बीस दिन है न क्लास, आज सत्रहवाँ है, हमारे सत्तर कहते हैं। तुम्हारे क्या सत्रह, हमारे गुजराती में सत्तर कहते हैं।

यहाँ कहते हैं, आहाहा! **अज्ञानी है,....** अर्थात् ज्ञायकस्वरूप भगवान का भान नहीं है, वह ज्ञान में एकाकार नहीं है, वह ज्ञेयों में एकाकार है। आहाहा! इन्द्रियज्ञान में — इन्द्रिय के विषय इन्द्रियज्ञान में, इन्द्रिय के ज्ञान का विषय में अज्ञानी एकाकार है। आहाहा!

श्रोता : एकाकार का अर्थ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस तरफ की एकाग्रता है, जो इन्द्रियज्ञान हुआ.... अरे! भगवान को सुनने से जो ज्ञान हुआ अपनी पर्याय में, वह इन्द्रियज्ञान है, यह तो कल कहा था न? द्रव्य इन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उसका विषय — भगवान, भगवान की वाणी आदि को इन्द्रिय कहते हैं। ३१ गाथा में तीनों को इन्द्रिय कहा है टीका में — संस्कृत टीका में (कहा है) द्रव्येन्द्रिय यह जड़; भावेन्द्रिय जो क्षयोपशम की पर्याय एक विषय को एक-एक इन्द्रिय जाने वह, हो और इन्द्रिय के विषय चाहे तो स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश, भगवान, भगवान की वाणी, समवसरण, सम्पूर्ण जगत् इन्द्रिय है। आहाहा!

श्रोता : भगवान की वाणी को तो बचाना था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह वाणी तो जड़ है, जड़ का ख्याल आता है, इसमें ज्ञान आता है, वह परलक्ष्यी ज्ञान है, वह इन्द्रियज्ञान है, उसमें एकाकार होना, आसक्ति होना, वह मिथ्यात्व है। है या नहीं इसमें?

श्रोता : देव-शास्त्र-गुरु इन्द्रिय नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : देव-शास्त्र-गुरु पर है, परज्ञेय है और परज्ञेय का ज्ञान होना, वह

परज्ञान है, अनेकाकार ज्ञान है, भगवान! आहाहा! स्वद्रव्य ज्ञायकभाव का ज्ञान होना, वह एकाकार ज्ञान है। आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं कि **परदव्वाओ दुग्गइ।** आहाहा! एक ओर ऐसा कहे कि शास्त्र का अभ्यास करना; दूसरी ओर ऐसा कहे कि शास्त्र के अभ्यास में बुद्धि जाती है, वह व्यभिचारिणी है।

श्रोता : यही तो समझ में नहीं आता, क्या कहना चाहते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं समझ में आता है न? शास्त्र कहता है, वह इन्द्रिय के विषय है, परद्रव्य है न? तो परद्रव्य के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह अनेकाकार, ज्ञेय अर्थात् अनेकाकार ज्ञान है, वह आत्मा का ज्ञान नहीं है। आहाहा!

श्रोता : नहीं पढ़ना शास्त्र?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहते हैं न कि पढ़ना। कहते हैं, परन्तु वह स्वलक्ष्य से पढ़ो — ऐसा कहते हैं। प्रवचनसार! प्रवचनसार में ज्ञान अधिकार पूरा हुआ, बाद में अमृतचन्द्राचार्य ने श्लोक लिया है कि यह ज्ञेय का अभ्यास करो, दूसरा अधिकार ज्ञेय का है न? परन्तु वह स्वलक्ष्य रखकर करो; अकेले परलक्ष्य से अभ्यास है, वह ज्ञेयाकार का अनुभव — राग का है। आहाहा! ऐसी बात है प्रभु! यह बात ऐसी है, आहाहा!

बारह अंग का विकल्प.... यह (समयसार के) तेरहवें श्लोक में राजमलजी ने कहा है (कि) वह विकल्प है और बारह अंग में भी कहना यह है (कि) अनुभूति करना। हमारी ओर का लक्ष्य छोड़कर (अनुभूति करना)। आहाहा! समझ में आया? यह प्रश्न हमारे बहुत वर्ष पहले हो गया था। एक (बार) कहा था न, दसवें (संवत् २०१०) की साल में हमारे वे शिवलालभाई हैं न? उनके पिता थे, पिताजी, तो वे श्रीमद् को माननेवाले थे, वहाँ तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करना, भक्ति करना, यह वहाँ अगास में बहुत चलता है, फिर ऐसा प्रश्न चला, तब लोग तो हजारों थे, दस की साल, चौबीस वर्ष हुए, तो महाराज! देव-गुरु और शास्त्र पर, वे तो शुद्ध हैं! शुद्ध हैं या परमात्मा हैं, वे पर हैं, सिद्ध हैं या अरहन्त हैं, पंच परमेष्ठी पर हैं, स्वद्रव्य नहीं। परद्रव्य का ज्ञान लक्ष्य में लेना, वह राग है, वह अनेकाकार ज्ञान पर्यायबुद्धि का है। आहाहा! बहुत कठिन बात है भाई!

एक ओर कहे कि आगम का अभ्यास करना, तेरा कल्याण होगा। मोक्षमार्ग

प्रकाशक में पहले अध्याय में आता है, पहले अध्याय में है न? है यहाँ मोक्षमार्ग (प्रकाशक)? नहीं आया, आया नहीं है? पहले अध्याय में आया है कि आगम का अभ्यास करना, तेरा कल्याण होगा। परन्तु वह किस अपेक्षा से? स्ववस्तु भगवान ज्ञान के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करो, अकेले पर के लक्ष्य से अभ्यास नहीं। आहाहा! ऐसी बात है भाई! और पद्मनन्दि (पंचविंशति) में तो ऐसा कहा है, पद्मनन्दि आचार्य ने कि जो बुद्धि शास्त्र में जाती है, वह बुद्धि व्यभिचारिणी है — ऐसा पाठ है। उसमें भी — मोक्षमार्गप्रकाशक में भी वह दृष्टान्त है, व्यभिचारिणी कहा है न? कि बात सच्ची है परन्तु वह स्त्री अपने स्वभाव घर में से निकलकर सज्जन के घर जाये तो उसको कोई विशेष दोष नहीं — ऐसा शास्त्र का अभ्यास करने में स्वलक्ष्य से जाये तो उसको कोई दोष नहीं है, परन्तु अकेले शास्त्र के अभ्यास में जाये वह बुद्धि-व्यभिचारिणी है। आहाहा! ऐसी बातें बहुत कठिन पड़ती है।

श्रोता : यही खटकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही खटकता है, पण्डितजी सत्य बात कहते हैं। आहाहा!

यहाँ यह कहा, देखो न! आहाहा! **अज्ञानी ज्ञेयों में आसक्त हैं,....** यह ज्ञेय अर्थात् द्रव्य गुण, अरहन्त देव उनके गुण और पर्याय यह सब पर, गुरु का द्रव्य, गुण और पर्याय पर तथा शास्त्र की पर्याय वह तो पर ही है। इन परज्ञेयों में आसक्त है। आहाहा! गजब बात है। **उन्हें वह स्वाद में नहीं आता।....** उन्हें उस आनन्द का स्वाद -अनुभूति नहीं होती। आहाहा! परलक्ष्य में ज्ञेयाकार के ज्ञान में रूक गया है, उसको राग का स्वाद आता है, जहर का स्वाद आता है; उसको भगवान अमृतस्वरूप प्रभु का स्वाद उसे नहीं आता। आहाहा! इन्द्रिय की ओर के ज्ञान के विषयों में जो आसक्त है, उसको अनुभूति का आनन्द नहीं आता। उसको तो राग का-दु:ख का वेदन-जहर का (वेदन) आता है। आहाहा! ऐसी बात है।

यह प्रगट दृष्टान्त से बतलाते हैं : जैसे - अनेक प्रकार के शाकादि.... शाक हो, खिचड़ी हो, रोटी हो.... अब तो सबमें नमक डालते हैं न? **भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव....** जो शाक आदि में नमक डालते हैं तो अकेले शाक का सामान्य स्वाद है, वह ढँक गया है, और शाक द्वारा नमक का स्वाद आया इस

विशेष लवण के आविर्भाव (द्वारा) विशेष लवण का अर्थ इस शाक द्वारा खारे नमक का स्वाद आना, विशेष लवण का स्वाद (आना) आहाहा! शाक खारा, रोटी खारी, खिचड़ी खारी... यह खिचड़ी होती है न, खिचड़ी होती है न? तो दो, चार महिलाएँ घर में हों तो वे खिचड़ी चढ़ती हों तो एक महिला ने नमक डाला हो तो दूसरी महिला को पता नहीं कि नमक डाला है, यह तो दूसरी घर में चार-पाँच बहुएँ होती हैं, दोबारा नमक डाल देती है। ऐसे देखो तो इतना खारा क्यों? दूसरी महिला समझ गयी की पहले डाला होगा और मुझसे नमक डल गया। घर में चार महिलाएँ हों और किसी को पता न हो कि इस खिचड़ी में नमक डाला है। फिर महिला यह खारा... खारा.. क्या कहते हैं? खारा बोलते हैं न? खारी खिचड़ी, खारा शाक, खारी रोटी, खारा रोटला, खारी पूड़ी, खारे मूँगफली के दाने — सींगदाने-नमक में करते हैं न! अरे! बादाम को भी नमक में डालकर खारा बनाते हैं, बादाम, बादाम है न बादाम, आहाहा! परन्तु उस अज्ञानी को शाक द्वारा लवण का स्वाद आता है। विशेष द्वारा लवण का स्वाद आता है। सामान्य द्वारा लवण का स्वाद नहीं आता, बस! गृद्धि है न शाक में? आहाहा! शाक बहुत खारा हुआ, खारा हुआ... अरे! शाक खारा है? खारा तो नमक है, लवण है, शाक तो भिन्न चीज है। भिन्न चीज में क्या लवण अन्दर घुस जाता है? आहाहा! समझ में आया?

भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव.... अकेले लवण का स्वाद का ढँक जाना **और विशेष लवण के आविर्भाव....** शाक द्वारा, रोटी द्वारा, खिचड़ी द्वारा लवण का स्वाद **से अनुभव में आनेवाला जो (सामान्य के तिरोभावरूप और शाकादि के स्वाद भेद से भेदरूप)....** अकेले लवण के स्वाद का न आना और शाकादि स्वाद भेद से **(भेदरूप-विशेषरूप) लवण है....** विशेषरूप लवण का अर्थ यह (कि) शाक द्वारा जो लवण का स्वाद, वह विशेष कहा जाता है और अकेले लवण का स्वाद लवण के द्वारा उसको सामान्य कहा जाता है। आहाहा! यह अब ऐसी बातें!

यह तो समझे बिना सीधे करो त्याग, प्रतिमा ले लो, और यह करो तथा वह करो... अर...र! मिथ्या अभिमान! फिर इसे मिथ्या अभिमान चढ़ जाये कि हम त्यागी हैं, यह लोग गृहस्थी सामने समकिती हो, समझ में आया? परन्तु गृहस्थाश्रम में हो और यह जरा वस्त्र बदले तो त्यागी हो गया? मिथ्यात्व का अभिमान है। आहाहा!

श्रोता : लोक में सत्कार होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया पागल सत्कार दे, उसमें इसे क्या लाभ हुआ ? समझ में आया ? पागल परिणाम दे — रिपोर्ट... क्या कहलाता है ? वह सर्टीफिकेट ! हैं ? प्रमाण पत्र, मान पत्र, पागल मान पत्र दे उसकी कीमत क्या ? इसी प्रकार इन्द्रिय विषय के जाननेवाले बाहर के त्यागी को त्याग मानकर मान दे, पागल हैं। आहाहा ! क्या कहा ?

श्रोता : पागल की सभा में तो पागल ही होते हैं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात बापू ! बहुत सूक्ष्म भाई ! आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं कि लवण का स्वाद शाक द्वारा अज्ञानी को आता है, वह **शाक लोलुप मनुष्य को आता है**.... शाक के लोलुपी को आता है। गृद्धि शाक में है। समझ में आया ? कल कहा था न, वह श्रीमद् का नहीं ? २५-५० मुमुक्षु थे और भोजन बनाया था। ग्रामीण ग्राम में-हडमताला ग्राम में राणपुर के पास (का प्रसङ्ग है) तो जहाँ शाक आया, शाक खाये बिना उस शाक को देखकर.... क्योंकि वे तो ज्ञानी थे, गृद्धिरहित थे, शाक में लवण बहुत डल गया है (ऐसा कहा)। क्यों साहेब ? आपने तो चखा नहीं न ? देखो, इस पानी से लौकी का टुकड़ा उबालो, उबालने में उसका रेशा नहीं टूटता, ऊपर का रेशा ऐसा नहीं फटता। रेशा टूट गया है, नमक बहुत है। आहाहा ! तो चखा वहाँ खारा... आहाहा ! कि अरे ! श्रीमद् को तो चखे बिना पता पड़ गया था। परन्तु देखते थे या नहीं ? समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि **लवण है उसका स्वाद अज्ञानी, शाक लोलुप मनुष्यों को आता है किन्तु अन्य की सम्बन्धरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव....** परन्तु शाक से उत्पन्न नहीं और अकेले लवण से खारे से खारा उत्पन्न होना, उसका प्रगटपना। लवण से लवण का सीधा स्वाद आना, यह सामान्य का आविर्भाव (है) और **विशेष के तिरोभाव से....** आहाहा ! **अनुभव में आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है....** आहाहा ! अकेला खारा, खारा-खारा लवण है - ऐसा अनुभव में आनेवाले को, आहाहा ! **अभेदरूप लवण है, उसका स्वाद नहीं आता....** अज्ञानी को अभेदरूप स्वाद नहीं आता। शाक के लोलुपी को जो लवण अभेदरूप सामान्य है, उसका स्वाद

नहीं आता। आहाहा! **और परमार्थ से देखा जाये तो,....** अब क्या कहते हैं? — वास्तव में यथार्थदृष्टि से देखो तो **विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला क्षाररसरूप.....** जो शाक द्वारा लवण ख्याल में आता था, वही परमार्थ लवण खारा अपने से आता है, वह तो शाक द्वारा भी लवण का स्वाद आता था, वहाँ शाक का स्वाद नहीं था। आहाहा! है?

परमार्थ से.... आहाहा! **परमार्थ से देखा जाये तो, विशेष के आविर्भाव से....** शाक द्वारा, रोटी द्वारा **अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्य के आविर्भाव से....** इस शाक द्वारा जो खारापन दिखता है, उस लवण के द्वारा भी लवण का स्वाद वह उसका आता है। शाक द्वारा जो लवण का स्वाद आता है, वह सामान्य लवण, लवण के लक्ष्य से लवण का स्वाद आता है। समझ में आया? परमार्थ से शाक में भी लवण का स्वाद आता है, लवण का स्वाद आता है तो यह जैसे परमार्थ से देखा जाये तो वह लवण का स्वाद है, वह शाक का स्वाद नहीं। वैसे ही अकेले लवण का स्वाद देखे तो लवण का स्वाद है। आहाहा! अरे! अब ऐसी बातें, लोगों को फुर्सत नहीं मिलती निर्णय करने की, वास्तविक तत्त्व के (निर्णय करने की)। जो प्रथम भूमिका की चीज है वह तो, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की यह चीज है। सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति की यह चीज है। आहाहा!

शास्त्रज्ञान और व्याकरण और यह न्यायशास्त्र और बड़े पण्डित सब घूमते हैं। आहाहा! वह तो कल आया था न वहाँ — मोक्षमार्गप्रकाशक में, यह तो पण्डिताई प्रगट करने की चीज है — ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक में आया था।

श्रोता : उसमें आत्मा के हित का कारण नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें आत्मा के हित की बात है ही नहीं। यहाँ मोक्षमार्ग (प्रकाशक) नहीं है? समझ में आया? कल आया था। कोई नहीं, यह उसमें है, ख्याल है। कल दोपहर को आया था, ख्याल है या नहीं? आहाहा! क्या कहते हैं? कि व्याकरण, न्याय और ऐसे-ऐसे में जिन्दगी गवाँ दे, उसमें कोई हित का पन्थ नहीं है, तब उसने प्रश्न किया तो क्या हमारे इन न्याय आदि के ग्रन्थ का अभ्यास नहीं करना? कि भाई! जो महान

बड़े ग्रन्थ हैं, उनको न्याय-व्याकरण आदि पढ़े बिना बड़े ग्रन्थों का अभिप्राय समझ में नहीं आता, ऐसा है। ऐसा है न? है, पता है। क्योंकि न्यायशास्त्र में बड़ा शास्त्र व्याकरण सहित कथन आया है तो बड़े शास्त्र हैं, इस थोड़े अभ्यास के बिना उसका ख्याल में अभ्यास नहीं आता। यह आया देखो तथा शास्त्राभ्यास में कितने ही तो व्याकरण, न्याय कर्म आदि शास्त्रों का बहुत अभ्यास करते हैं, परन्तु वह तो लोक में पण्डिताई प्रगट करने का कारण है। मोक्षमार्गप्रकाशक में है न? उनमें आत्महित का निरूपण तो है ही नहीं। आहाहा! तब उनका प्रयोजन इतना ही है कि अपनी बुद्धि बहुत हो तो थोड़ा बहुत इनका अभ्यास करके पश्चात् आत्महित के साधक शास्त्र का अभ्यास करना।

मोक्षमार्गप्रकाशक में (यह बात) बहुत ली है। हजारों बोल का स्पष्टीकरण / खुलासा करते हैं। समझ में आया? पहले जब (संवत् ८२ की साल में) हमारे हाथ में आया ८२ की साल, ५२ वर्ष हुआ। वह तो हमें पढ़ते-पढ़ते कुछ खाना-पीना भोजन लेने जाना कुछ नहीं रुचता। ओहोहो! परम सत्य बात है, कहा। ८२ की साल — संवत् १९८२। ५२ वर्ष हुए (उस समय हम) राजकोट में थे, वहाँ राजकोट में तो सभा, बड़ी सभा थी, वहाँ हम तो सम्प्रदाय में ७४ से यह व्याख्यान करते हैं — ६० वर्ष हुए। तो पहले से हमारी प्रसिद्धि बहुत है तो लोग-हजारों लोग तो उसमें यह हाथ में आया तो न रुचे व्याख्यान करना, न आहार-भोजन लेने जाने का — ऐसी धुन चढ़ जाती थी।

श्रोता : हाथ का लिखा हुआ मिला था?

पूज्य गुरुदेवश्री : छपा हुआ था। ऐसा है कि जो पुस्तक है न, वह पहले मुझे नहीं मिला था, ऐसा-ऐसा यह मिला था। पहले ऐसा उसमें, उसमें और बाद में कहा था न? जो जब अभ्यास किया तो बाद में एक बार हम 'ढसा' गये, ढसा आये, यहाँ से ढसा स्टेशन है। यहाँ ढसा जंक्शन है, वहाँ हम गये। हम तो स्थानकवासी थे न। सम्प्रदाय में-उपाश्रय में उतरे तो उपाश्रय में ऐसे चौकी पर बैठे थे। लोग बहुत आते थे न, उस समय तो, ऐसे नजर की तो अलमारी थी, अलमारी, अलमारी खोली कहीं कोई पुस्तक नहीं, एक मोक्षमार्गप्रकाशक पुस्तक हमारे पास है एक रखी थी। यह क्या? इस स्थानकवासी में यह क्या? स्थानकवासी यह माने नहीं। वह पुस्तक हमारे पास है, तब से रखा। नहीं तो हम

किसी का पुस्तक नहीं रखते थे। चौकी थी वहाँ अलमारी थी, समझे न? ऐसा खोला तो कोई पन्ना-पुस्तक एक भी नहीं। एक ही यह मोक्षमार्गप्रकाशक रखा था। यह कोई साधु-बाधु लाया होगा, फिर उसे ठीक नहीं लगा, स्थानकवासी है न, (इसलिए) छोड़ दिया होगा। मैंने पूछा कि यह पुस्तक कहाँ से आया भाई? यह उन लोगों को-स्थानकवासी को (हमने पूछा)। अरे महाराज! हमें कुछ पता नहीं, आप ले जाओ। सारी अलमारी में एक ही पुस्तक मोक्षमार्गप्रकाशक ऐसा खुला पड़ा था। कहा, ओहोहो! यहाँ पुस्तक स्थानकवासी उपाश्रय में यह मोक्षमार्गप्रकाशक कहाँ से आया? लोगों को पूछा। यह ८६ की साल की बात है। संवत १९८६ — तो कितने वर्ष हुए हैं? ४८ — यह पडा है पुस्तक, बतलाया था एक बार, पड़ा है तब से हम रखते हैं, नहीं तो हम पुस्तक नहीं रखते थे। सब हमें कहते थे तो एक बार ८६ में, इससे पहले ८४ में, यह ८२ में हाथ आया था।

(संवत्) ८४ में हम बगसरे गये थे तो वहाँ एक कल्याणजीभाई करके श्रीमद् के भगत थे, उनके पास मोक्षमार्गप्रकाशक था तो वह कहे महाराज! ले जाओ न! मैंने कहा भाई! ऐसे पुस्तक-वुस्तक हम रखते ही नहीं तो सातवाँ अध्याय लिख लिया। सातवाँ अध्याय है न? लिख लिया, हमारे साथ जीवणलालजी थे, तब से, हम तो कुछ करते नहीं। साथ थे उन्होंने लिख लिया, वह मेरे पास रखा है, ८४ से सातवाँ अध्याय रखा है। निश्चयाभास और व्यवहाराभास, सबका सब सातवाँ अध्याय लिख लिया, हम कोई पुस्तक-वुस्तक रखते नहीं। यहाँ कौन रखे? यह सातवाँ अध्याय लिख लिया था, वह रखा है।

उन्होंने तो कहा — हमें तो बहुत लोग कहते हैं न महाराज! ले जाओ न! अरे श्वेताम्बर गृहस्थ आते थे। गृहस्थ लोग, (आते थे) महाराज! कुछ आज्ञा करो न! आज्ञा अर्थात् कोई पाँच-पच्चीस हजार या दो-पाँच हजार खर्च करने का कहो न! भाई! हम किसी से नहीं कहते, हम किसी को नहीं कहते कि यह ले आओ, यह ले आओ। राणपुर में एक बड़ा श्वेताम्बर सेठ था। तो हमारी बात सुनता था। महाराज! हमें कुछ आज्ञा करो। हम किसी को कहते नहीं कि पाई दो या पैसा दो, यह हमारा काम नहीं है। भाई थे, भाई — उजमसीभाई थे। नागर पुरुषोत्तम के भाई, गृहस्थ थे, करोड़पति नागरभाई के भाई थे। हम तो हमारे पास शास्त्र है वे रखते हैं, बाकी कोई पैसा दो या बँटते हुए दो हम किसी को

नहीं कहते और हम किसी का नहीं रखते, ऐसा। यह उसमें से लिखा, देखो यह! शास्त्र अभ्यास नहीं करना? ऐसा है तो व्याकरण आदि का अभ्यास नहीं करना चाहिए? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। कहते हैं कि उनके अभ्यास के बिना महान ग्रन्थों का अर्थ खुलता नहीं। बड़े महाग्रन्थ संस्कृत में हैं, इसलिए उनका भी अभ्यास तो करना योग्य है, थोड़ा अभ्यास करना और फिर आत्महित का अभ्यास करना। यह बात कहते हैं। आहाहा!

यहाँ यह आया — देखो कि **विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है। इस प्रकार — अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ...** क्या कहते हैं अब? जो शाक द्वारा जिस लवण का स्वाद आता था, विशेष द्वारा, वही परमार्थ से तो लवण का ही स्वाद है, वहाँ शाक का स्वाद है नहीं। इसी प्रकार अब आत्मा में उतारते हैं। **अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ....** इन्द्रियज्ञान के विषयों में जो ज्ञान का ज्ञेयाकार ज्ञान होता है, वह ज्ञान की पर्याय है, वह कहीं परज्ञेय की है नहीं, परन्तु उसे लक्ष्य-ज्ञान की पर्याय, यह ज्ञायक है — ऐसा लक्ष्य नहीं है। समझ में आया? आहाहा! जैसे १७ वीं (गाथा में) कहा न? १७ वीं गाथा है — अज्ञानी की ज्ञान की पर्याय में भी द्रव्य ही ज्ञान में आता है। आहाहा! क्या कहा यह? १७-१८ गाथा, समयसार (में कहा है) अज्ञानी की पर्याय में.... क्योंकि ज्ञान की पर्याय प्रगट है, उस पर्याय का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है, उस कारण से ज्ञान की पर्याय में द्रव्य का ही ज्ञान होता है परन्तु अज्ञानी को उसके ऊपर लक्ष्य नहीं है, उसका लक्ष्य पर्याय और राग पर है, अत: ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय (स्वज्ञेय) जानने में आता है, वह उसे जानने में नहीं आता। आहाहा! ऐसी बात है।

कहो, ज्ञान की पर्याय का स्वभाव-ज्ञान का (स्वभाव) स्व-पर प्रकाशक है। चाहे तो अज्ञानी का ज्ञान हो परन्तु ज्ञान की पर्याय का स्वभाव तो स्व-पर प्रकाशक है या नहीं? तो इस ज्ञान की पर्याय में, द्रव्य जो ज्ञायक त्रिकाली सामान्य है, उसका ज्ञान होता है, स्व-प्रकाशक है, पर-प्रकाशक भी है और स्व-प्रकाशक भी है परन्तु अज्ञानी की ज्ञानपर्याय में स्व-प्रकाशक ज्ञान होने पर भी, उसका लक्ष्य ज्ञेय पर-परज्ञेय पर है, स्वज्ञेय पर नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार यहाँ शाक द्वारा लवण आता है — ऐसे ज्ञेय द्वारा ज्ञान होता है, है तो ज्ञान की पर्याय अपनी, आहाहा! समझ में आया? वास्तव में तो जो ज्ञेयाकार ज्ञान है, उसमें भी ज्ञान की पर्याय है तो अपनी; वह पर्याय पर को जानती है, वह जानने की पर्याय, पर्याय है तो अपनी। समझ में आया? पर के ज्ञायकपने से ज्ञान होता है, वह भी पर्याय को परप्रकाशक की ज्ञानपर्याय है तो अपनी.... आहाहा! सूक्ष्म बहुत भाई! तथापि वह परप्रकाशक की पर्याय है तो अपनी, परन्तु इस स्व-तरफ का लक्ष्य नहीं है तो उस ज्ञान के ज्ञेयाकारपने स्वाद उसको आता है। अकेले ज्ञान का स्वाद नहीं आता। आहाहा! आहाहा!!

अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव.... अज्ञानी को, सामान्य-अकेले ज्ञान का, आनन्द का आना ढँक गया। **और विशेष के आविर्भाव से....** और ज्ञेयाकार से ज्ञान का **अनुभव में आनेवाला (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध....** आहाहा! उसमें (उदाहरण में) शाक लोलुप था, यह ज्ञेय-लुब्ध (है।) अपने ज्ञायकभाव का लक्ष्य छोड़कर ज्ञेयलुब्ध, आहाहा! पर के लक्ष्य से हुआ अपनी पर्याय में ज्ञान वह भी परज्ञेय है, क्योंकि अपना ज्ञान उसमें नहीं आया। यहाँ परज्ञेय में लुब्ध प्राणी... आहाहा! पहले तो यह बात... शाक का तो दृष्टान्त दिया है। **अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवों के स्वाद में आता है....** क्या? विशेष के आविर्भाव, वह अनुभव में आता है। विशेष के आविर्भाव में अनुभव में आता है। सामान्य का तिरोभाव हो गया।

श्रोता : इसमें समझ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं समझ में आता तो फिर से कहते हैं, विशेष कहते हैं। देखो! **मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव....** अज्ञानी को-अज्ञानी ज्ञेय में लुब्ध है तो एकाकार ज्ञान का तिरोभाव-ढँक गया है। एकाकार ज्ञान, ज्ञान के लक्ष्य से जो होना है, वह उसको होता नहीं है **और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला....** ज्ञेय द्वारा ज्ञान, वह अज्ञानी को ज्ञेयलुब्ध जीवों को स्वाद में आता है। राग स्वाद में आता है। आहाहा! परज्ञेयों के आकारे ज्ञान हुआ, वह राग का ज्ञान वहाँ तो है तो राग स्वरूप ज्ञान

है। आहाहा! तो उसको... है? आहाहा! स्वाद में आता है, ज्ञेयलुब्ध जीवों को वह राग का स्वाद आता है। आत्मा का-ज्ञायकभाव का स्वाद नहीं आता। आहाहा!

क्या कहते हैं, बहुत गजब! आहाहा! टीका तो टीका है। सन्त-दिगम्बर सन्त केवली के पथानुगामी, ओहो... इन्होंने तो केवलज्ञान का विरह भुला दिया है। आहाहा! समझ में आया?

क्या कहते हैं देखो! आहाहा! अन्य ज्ञेयाकार का भेदरूप, है? **विशेष के आविर्भाव अनुभव में आनेवाला ज्ञान अज्ञानी ज्ञेयलुब्ध जीवों के स्वाद में आता है।** पर ज्ञेयाकार का ज्ञान जो हुआ उसका ख्याल-राग का स्वाद आता है। आहाहा! पर ज्ञेयाकार का ज्ञान हुआ, अज्ञानी उसमें लुब्ध है तो उसको उसका-राग का स्वाद आता है। आहाहा! पर शास्त्र का ज्ञान हुआ परन्तु वह इन्द्रियज्ञान के अन्दर लक्ष्य से हुआ वह परज्ञेयाकार ज्ञान हुआ, उसमें जो लुब्ध है, उसको राग का स्वाद आता है। आहाहा!

श्रोता : दृष्टि की भूल है।

समाधान : दृष्टि की भूल है। आहाहा! इसके लिए तो बताते हैं। आहाहा!

भाई! तुम तो सामान्य ज्ञानस्वरूप त्रिकाल हो न! तो सामान्य जो त्रिकाल है, उसके स्वाद में तेरा सामान्य आना चाहिए। उसमें अनेक ज्ञेयाकार का ज्ञान नहीं होना चाहिए परन्तु तेरा लक्ष्य वहाँ नहीं और ज्ञेयों में लुब्ध है। आहाहा! ज्ञायकस्वभावभाव भगवान आत्मा का अनादर करके परज्ञेयाकार का ज्ञान हुआ, उसमें लुब्ध होकर इस रागी को राग का स्वाद आता है। आहाहा!

अकेले पर के शास्त्रज्ञान में भी राग का स्वाद आता है, कहते हैं। आहाहा! अब यह वाद-विवाद से कहीं पता नहीं चलता, प्रभु! क्या करें? आहाहा! जो ज्ञान की पर्याय, इन्द्रिय द्वारा विषय का ज्ञान हुआ, चाहे तो वह शास्त्रज्ञान हो तो भी परज्ञेयाकार जो ज्ञान हुआ, उसमें लुब्ध रहकर, पर्यायबुद्धिवाले, ज्ञेय में लुब्धवाले को आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आता। राग का स्वाद आता है। आहाहा! आकुलता उत्पन्न होती है। भाई! तेरे स्वद्रव्य का आश्रय वहाँ नहीं हुआ, परद्रव्य के आश्रय से जो ज्ञान हुआ तो पर ज्ञेयाकार ज्ञान में राग का स्वाद आता है। आहाहा! विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७५ गाथा १५ श्लोक १४ दिनाङ्क ०१-०९-१९७८ शुक्रवार
श्रावण कृष्ण १४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

(समयसार) १५ वीं गाथा। अन्तिम चार लाईन-पंक्ति है। **अलुब्ध ज्ञानियों को....** वहाँ से है, भावार्थ के ऊपर चार लाईनें। सूक्ष्म बात है भगवान! आहाहा! **अलुब्ध ज्ञानियों को तो.....** अर्थात् इन्द्रिय के ज्ञान से जो ज्ञान अनेक प्रकार होता है — परज्ञेयाकार ज्ञान, आहाहा! उसकी भी रुचि छोड़कर, उसका भी आश्रय / अवलम्बन छोड़कर जो अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में दृष्टि लगाते हैं, वे अलुब्ध ज्ञानी हैं। आहाहा! पर्याय में इन्द्रियज्ञान के विषय से अनेकाकार ज्ञान की पर्याय होती है, उसमें गृद्धिपना छोड़कर, आहाहा! चाहे तो शास्त्र का ज्ञान हो, परतरफ के लक्ष्यवाला (शास्त्रज्ञान हो), वह इन्द्रियज्ञान का विषय हुआ। उसमें भी जिसको लुब्धता नहीं कि मैं ज्ञानी हूँ मुझे ज्ञान हुआ — ऐसे लुब्ध नहीं। आहाहा!

अलुब्ध ज्ञानियों को तो, जैसे सैंधव की डली,..... लवण की डली **अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके.....** शाक आदि अन्य द्रव्य का व्यवच्छेद-अभाव करके **केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर,....** अकेले सैंधव का अनुभव-क्षारपने का अनुभव करने पर, आहा! **सर्वतः एक क्षाररसत्व के कारण....** एक क्षाररस के सत्व के कारण — क्षाररसत्व, क्षार रस-सत्व के कारण अकेला क्षाररस का अनुभव होता है। वह शाक आदि में है, उसको व्यवच्छेद कर अर्थात् उसका लक्ष्य छोड़कर, अकेले क्षार का रस स्वाद में आता है।

उसी प्रकार.... यह तो दृष्टान्त हुआ। **(उसी प्रकार) आत्मा भी, परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके....** आहाहा! ज्ञान की पर्याय में इन्द्रियज्ञान के विषय से जो ज्ञान अनेकाकार हैं, उसे यहाँ परद्रव्य कहा। आहाहा! समझ में आया? इन्द्रियज्ञान से जानने में आया, शास्त्र आदि जानने में आया, तो कहते हैं कि वह भी परद्रव्य है, परद्रव्य का, है? परद्रव्य के संयोग का वह संयोगी (भाव है) आहाहा! गजब बात है! राग आदि तो संयोगी द्रव्य-परद्रव्य है ही परन्तु पर के लक्ष्य से इन्द्रिय से शास्त्र का ज्ञान हुआ, आहाहा! वह भी अपना स्वरूप नहीं। आहाहा! यह तो बहुत धीरज का

काम है प्रभु! इस ज्ञान की पर्याय में शास्त्रज्ञान-सुनकर जो ज्ञान हुआ, वह भी इन्द्रियज्ञान है। उस पर्याय को यहाँ परद्रव्य कहा, क्योंकि अपना स्वद्रव्य ज्ञायकभाव उसमें आया नहीं। आहाहा! ऐसी बात है भाई!

भगवान आत्मा का ज्ञायक एकरूप स्वभाव (है), उसे छोड़कर इन्द्रियज्ञान के विषय से अनेक प्रकार से ज्ञेयाकार ज्ञान हुआ, उसको भी यहाँ परद्रव्य कहा गया है। आहाहा! शरीर आदि तो परद्रव्य है ही; दया, दान, भक्ति आदि का भाव तो परद्रव्य है ही; आहाहा! परन्तु ज्ञान की पर्याय में पर के लक्ष्य से ज्ञेयाकार — स्वज्ञेय को छोड़कर परज्ञेय के आकार में अनेकाकार ज्ञान हुआ, आहाहा! उसको भी परद्रव्य का संयोग का व्यवच्छेद कर... यह संयोगीज्ञान वह परद्रव्य का संयोग है। आहाहा! गजब बात करते हैं न! यह अन्तर स्वभाव जो ज्ञायकस्वरूप (है), उसका ज्ञान नहीं। आहाहा! यह संयोग, इन्द्रिय संयोग और भावेन्द्रिय संयोग और शब्द आदि पर यह संयोग (है), उससे उत्पन्न हुई जो ज्ञान की पर्याय, उसे यहाँ परद्रव्य का संयोग कहा गया है। आहाहा! समझ में आया?

यह तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पाने के काल में क्या होता है? वह बात है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन के काल में सम्यग्ज्ञान होता है, और सम्यग्ज्ञान के काल में कैसा होता है? यह बात चलती है। आहाहा! निमित्त तो पर है ही परन्तु पर के निमित्त से जो ज्ञान हुआ, उसे यहाँ परद्रव्य का संयोग कहा। आहाहा! समझ में आया?

परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके..... आहाहा! **केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर,....** स्वद्रव्य वह यह। आहाहा! चिदानन्द भगवान सहजात्मस्वरूप प्रभु, ऐसा जो आत्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान से भरा — ऐसे केवल आत्मा का ही, आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, अपूर्व बात है, भाई! पर्याय में अनेकाकार ज्ञान को यहाँ परद्रव्य कहा गया है। आहाहा! संयोगी, संयोग से उत्पन्न हुआ तो संयोगी (ज्ञान) है। जैसे — पुण्य-पाप संयोगी भाव हैं, पुण्य-पाप संयोग से उत्पन्न हुआ संयोगी भाव है, वैसे ज्ञान की पर्याय में संयोग के कारण पर से उत्पन्न हुआ, वह संयोगी ज्ञान है। आहाहा! जैन शासन क्या है? यह बतलाते हैं।

श्रोता : संयोगीभाव या संयोगीज्ञान?

पूज्य गुरुदेवश्री : हैं? आहाहा! प्रभु अन्दर ज्ञान की डली... जैसे नमक की डली है, वैसे ज्ञान की डली आत्मा का पिण्ड है, उस तरफ का लक्ष्य करने के कारण... आहाहा! अकेले ज्ञायकभाव का आश्रय और लक्ष्य करने के कारण पर्याय में परद्रव्य के संयोग से जो ज्ञान हुआ, उसे भी छोड़कर, आहाहा! परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके, आहाहा! परलक्ष्यी ज्ञान भी परद्रव्य का संयोग कहा जाता है। गजब बात है। आहाहा!

भाई! अनन्त काल हुआ, चौरासी में (भटकते हुए) उसमें शास्त्रज्ञान भी अनन्त बार किया है। आहा! परन्तु वह तो परलक्ष्य से शास्त्रज्ञान हुआ, वह कहीं स्वज्ञान नहीं हुआ। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु का ज्ञान नहीं हुआ। आहाहा! अलुब्ध ज्ञानी को, जिसकी संयोग में लुब्धता नहीं है और असंयोगी भगवान आत्मा का-**केवल आत्मा का ही अनुभव किया जाने पर....** आहाहा!

क्या बात? **सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण....** भगवान तो सर्वतः एक, एक विज्ञानघनता के कारण, पर से तो अनेक ज्ञेयाकार ज्ञान, वह एकपना वहाँ नहीं हुआ। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई! वाणी में जड़ की पर्याय है, वाणी जो होती है, वह तो जड़ की पर्याय है। मैं कहता हूँ — यह बात तो झूठ है। आहाहा! और जो परलक्ष्यी राग आया, वह भी अपना नहीं। वह राग भी परद्रव्य / संयोगी चीज है। आहाहा! ऐसे स्वाभाविक चैतन्य के ज्ञान बिना पर के निमित्त और संयोग से जो ज्ञान हुआ... आहाहा! निमित्त से हुआ नहीं है, हुआ तो अपनी पर्याय में, निमित्त से नहीं, परन्तु निमित्त के लक्ष्य से अपने में ज्ञेयाकार ज्ञान जो अनेक प्रकार से होता है, उसे भी यहाँ परद्रव्य संयोग व्यवच्छेद करके कहा गया है। आहाहा!

परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके.... आहाहा! यद्यपि नियमसार में तो निर्मल सम्यग्दर्शन और ज्ञान की पर्याय को भी परद्रव्य कहा है, क्योंकि जैसे परद्रव्य से अपनी निर्मल पर्याय नयी उत्पन्न नहीं होती, वैसे निर्मल पर्याय में से नयी निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती। इस कारण से निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहा परन्तु उसकी बात यहाँ नहीं है।

यहाँ तो.... आहाहा! वह संकल्प-विकल्प का अर्थ पहले (कलश १० में) आया था। आहाहा! द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नोकर्म को अपना मानना, वह संकल्प / मिथ्यात्व है। पहले आ गया है। समझ में आया? जड़कर्म, नोकर्म, विकल्प आदि-शुभ आदि और नोकर्म, द्रव्यकर्म — नोकर्म संयोगी चीज, भावकर्म, उसे अपना मानना, वह संकल्प मिथ्यात्वभाव है और ज्ञेयभेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना, वह अनन्तानुबन्धी का लोभ है। (विकल्प है) आहाहा! ऐसी बात भाई! बहुत कठिन, समझ में आया?

यहाँ तो परद्रव्य अर्थात् अकेले स्वज्ञेयस्वरूप से ज्ञान हो और एकाकार जो ज्ञान होना चाहिए, उसे छोड़कर अकेले परलक्ष्य में से इन्द्रिय के विषय के-चाहे तो भगवान को सुने, भगवान की वाणी सुने... आहाहा! उससे जो परज्ञेयरूपी ज्ञान की अनेकाकार पर्याय हुई, आहाहा! उसका धर्मी जीव, उसमें लुब्ध नहीं। वह मेरी चीज है और मुझे ज्ञान हुआ — ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

आत्मा, परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके... आहाहा!

श्रोता : व्यवच्छेद करने की विधि नहीं लिखी गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? आहाहा! अरे! गेहूँ में से कंकर निकालने की विधि नहीं लिखी कहीं। गेहूँ है न गेहूँ, है न गेहूँ? कंकर है न? उस गेहूँ में से कंकर निकाल देना, वह विधि है, अथवा उसके ऊपर से लक्ष्य छोड़ना, वही विधि है। आहाहा! समझ में आया?

भाई! मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! यह गजब काम किया है न! आचार्यों ने भी संक्षिप्त भाषा में कितना गम्भीर भाव भरा है। आहाहा! यह दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त ऐसी प्रसिद्धि कौन करे? आहाहा!

श्रोता : समयसार में तो आपने गजब किया है!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मख्याति है न! इस टीका का नाम आत्मख्याति, आत्मप्रसिद्धि (है) आहाहा!

भाई! यह तो धीरजवान का काम है। आहाहा! उतावल से आम नहीं पकता — ऐसा कहते हैं न? उतावल से आम तो नहीं पकते हैं, आपके यहाँ नहीं कहते हैं? यह अम्ब

नहीं, अम्ब, यह बोते हैं तो तुरन्त पक जाते हैं। है? (श्रोता : भिण्डी तुरन्त होती है।) भिण्डी तुरन्त होती है परन्तु छह महीने में वापस सूख जाती है। भिण्डी का पौधा होता है न? आता है अपने, यह श्लोक भी आया है। 'भिण्डा, भादू मास का वटकू कहे जरूर हम आये तुम हट जाओ', हम छह महीने में इतने हुए तो बारह महीने में कितने हो जायेंगे? वट को कहे दूर हो जाओ तुम — इतने बहुत वर्षों में हुए हो, हम छह महीने में इतने बढ़ गये हैं। वट कहता है कि अब छह महीने में आया है, अब सूख जायेगा, अब बढ़ नहीं जाएगा। एक श्लोक आता है। बराबर सब शब्द याद नहीं रहते। यह आता है 'भिण्डा भादू मास का वटकू कहे जरूर हम आये' — ऐसी कोई भाषा है। हम आये अर्थात् कि हम बढ़ गये तो तुम दूर रह जाओ। वट को कहता है दूर हो जाओ, छह महीने में इतने बढ़े और तुम तो इतने वर्ष में इतने बढ़े हो, तो बाद में बारह महीने में कितना बढ़ जायेगा... धूल भी नहीं बढ़ा, सुन तो सही!

ऐसे ज्ञान की ज्ञेय पर्याय में अनेकाकार ज्ञान हुआ तो उसे मानो कि मुझे बहुत ज्ञान हुआ। ओहोहो! अरे, सुन तो सही प्रभु! आहाहा! यह भाद्र महीने की भिण्डी जैसा है। यह भाद्र महीना समझते हो भाद्रपद? भाद्रपद में भिण्डी एकदम होती है, वृक्ष इतना-इतना परन्तु तुरन्त सूख जाता है, फिर आसोज महीने में.... आहाहा! परज्ञेयाकार ज्ञान हुआ, वह इसमें लुब्ध है तो वह अनादि मिथ्यादृष्टि है, निगोद में चला जाएगा, वहाँ तो यह परज्ञेयाकार ज्ञान भी नहीं रहेगा। आहाहा! क्योंकि स्वभाव से उत्पन्न नहीं हुआ और परद्रव्य के अवलम्बन तथा इन्द्रिय से उत्पन्न हुआ, वह नाशवन्त हो जाएगा। आहाहा!

भाई! मार्ग अलग, बापू! आहाहा! यह किसी को कहकर समझाना है कि ऐसी बात! अन्दर में है यह वस्तु। आहाहा! यह कहते हैं इतना तीन लाइन में तो कितना भर दिया है। आहाहा! जैसे लवण की डली का स्वाद लेने के कारण, अनेक शाक आदि में जो लवण दिखता है, उस परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर अकेले लवण का स्वाद लेनेवाला लवण का स्वाद लेता है, वैसे अपनी पर्याय में इन्द्रिय-द्रव्य और भावेन्द्रिय तथा बाह्य वस्तु के निमित्त से जो ज्ञेयाकार अनेक प्रकार ज्ञान हुआ, उसका लक्ष्य छोड़कर आहाहा! उसका रस और प्रेम छोड़कर.... उसमें मेरी अस्ति है — ऐसी बात छोड़कर, आहाहा! समझ में

आया? गजब काम, टीका ऐसी! आहाहा! स्वद्रव्य जो भगवान आत्मा, आहाहा! वह परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके अर्थात् उस ओर का लक्ष्य छोड़कर, आहाहा! **केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर,....** आहाहा! गजब बात है! १५ वीं गाथा, यह जैन शासन! अकेले भगवान आत्मा... **आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर,....** ज्ञायकस्वभाव से प्रभु भरा पड़ा है, उस ओर का अनुभव करने पर, आहाहा! **सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण....** आहाहा! एक विज्ञानघन हुआ। आहाहा! जिस ज्ञान की पर्याय में अनेकता की धारा बहती थी, वहाँ घन नहीं था। समझ में आया? शास्त्रज्ञान – 'सब शास्त्रन के नय धारि हिये मत मंडन खंडन भेद लिये; यह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजू न परयो। अब क्यों न विचारत है मन से, कछु और रहा उन साधन से; बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे, मुख आगल है कह बात कहें।' आहाहा! (यह कवित्त) श्रीमद्जी का है। श्रीमद् थे गुजराती परन्तु उन्होंने हिन्दी में बनाया है। आत्मज्ञान होने के बाद यह थोड़ा हिन्दी बनाया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं.... गजब, दो लाइन में तो कितना भरा! आहाहा! यह सन्तों की अन्दर दशा तो देखो! हैं? कहते हैं कि हमको गुरुगम से वाणी मिली और ज्ञान हुआ, उसका भी मैं उसमें लुब्ध नहीं। आहाहा! परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा — अकेले भगवान आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर... जैसे शाक आदि का लक्ष्य छोड़कर अकेले लवण का स्वाद लेते हैं, वैसे ज्ञेयाकार अनेक प्रकार की पर्यायों का लक्ष्य छोड़कर, केवल अकेले आत्मा–भगवान पूर्णानन्द प्रभु.... आहाहा! वस्तु ऐसी है, ऐसी बात है प्रभु! क्या हो? लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो सब व्यवहार उड़ा देते हैं। व्यवहार उड़े तो निश्चय पाये। राग की रुचि छोड़े, तब निश्चय पाते हैं। इसी प्रकार परलक्ष्य के ज्ञान का लक्ष्य छोड़े तो स्वज्ञान होता है। आहाहा!

केवल आत्मा–अकेले भगवान आत्मा का अनुभव किये जाने पर सर्वतः (अर्थात्) चारों ओर से एक विज्ञानघन, बस! अनेक ज्ञेयाकार का ज्ञान था, उसका लक्ष्य छोड़कर इस एकरूप त्रिकाली भगवान का एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है। जैसे लवण का स्वाद लेने से, शाक की ओर का लक्ष्य छोड़कर

लवण का स्वाद लेने से लवण का स्वाद आता है। वैसे ज्ञेयाकार-अनेक प्रकार की पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, एक केवल आत्मा का अनुभव करने पर ज्ञान का स्वाद आता है। आहाहा!

ज्ञान की पर्याय में अनेकाकार ज्ञान है, उसका 'राग' स्वाद है। आहाहा! और यह सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण अन्तर में अनुभव करने पर ज्ञानरूप से स्वाद में आता है। भगवान तो ज्ञान में 'ज्ञान' स्वभाव स्वाद में आता है। ज्ञान के साथ 'आनन्द' है। आहाहा! सम्यग्ज्ञान के साथ आनन्द है, वह ज्ञान स्वाद में आया — ऐसा कहा गया है। आहाहा! सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हुआ-अकेले केवल आत्मा के अनुभव के कारण (सम्यग्ज्ञान हुआ), आहाहा! तो अकेले ज्ञानचेतना का आनन्द का स्वाद वहाँ आता है। आहाहा! उसका नाम सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! और वहाँ भव का अन्त होता है — भव का व्यवच्छेद हुआ। आहाहा! भव और भव के भाव से भिन्न अपने स्वभाव की एकता का अनुभव हुआ तो भव का अन्त हो गया। आहाहा! वह सुख के-मोक्ष के पन्थ में आया। सुख के पंथ में (आया) (पहले) दुःख के पंथ में था। आहाहा! ऐसी चीज है भाई! वाद-विवाद करे तो इसमें कहीं पार पड़े - ऐसा नहीं है। आहाहा!

सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण.... आहाहा! अकेले ज्ञानघनपिण्ड प्रभु आत्मा का अनुभव करने पर **ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।** अज्ञानी को ज्ञेयाकार अनेक प्रकार से ज्ञान में राग का स्वाद था, जहर का स्वाद था। आहाहा! अपने केवलज्ञान का अनुभव, केवल आत्मा का अनुभव करने पर अमृत का स्वाद आता है। समझ में आता है? डालचन्दजी! यह बात भोपाल में नहीं है कहीं वहाँ। आहाहा! आत्मा में है — ऐसा कहते हैं। यह तो भोपाल में नहीं — ऐसा कहा। आहाहा!

श्रोता : इसीलिए तो सोनगढ़ में आये हैं, महाराज!

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ में भी नहीं है, यहाँ आत्मा में है। आहाहा! गजब बात है प्रभु! यहाँ से सुनने में जो ज्ञान होता है, वह भी परज्ञेयाकार ज्ञान है, भगवान! अर..र! उसमें से भी लुब्धपना छोड़कर, आहाहा! पहले यह ज्ञान नहीं था और हम तो घर में थे न, यहाँ हुआ तो इतना तो नवीन हुआ न? नहीं प्रभु! यह नवीन नहीं है प्रभु! आहाहा! पर

इन्द्रियज्ञान से जो ज्ञान होता है,... भगवान को भगवान की वाणी को भी इन्द्रिय कहा गया है। (समयसार) ३१ गाथा में (कहा है)। आहाहा! क्या वीतराग मार्ग!

श्रोता : भगवान को इन्द्रिय नहीं कह सकते ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान को इन्द्रिय कहा है। अपनी अणिन्द्रिय के अतिरिक्त द्रव्य इन्द्रिय, भाव इन्द्रिय और पर – सबको इन्द्रिय कहा है, ३१ गाथा — **णाणसहावादिय –मुणदि आदं, मुणदि,** भिन्न। इन तीनों को संस्कृत टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने इन्द्रिय कहा है। जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय, और उसका विषय — स्त्री, कुटुम्ब परिवार, देश और भगवान और भगवान की वाणी सबको इन्द्रिय कहा गया है। आहाहा! गजब बात है। भाई! प्रभु का मार्ग अलग, भाई! आहाहा! अनन्त भव का अन्त लाना, वह कोई साधारण बात नहीं है, भाई!

ज्ञानरूप से स्वाद में.... जैसे उस शाक आदि का व्यवच्छेद करके, अर्थात् लक्ष्य छोड़ करके अकेले लवण का स्वाद आनेवाले को लवण का स्वाद आता है, वैसे परद्रव्य अर्थात् परज्ञेयाकार जो ज्ञान आदि है, उसका लक्ष्य छोड़कर अकेला भगवान विज्ञानघन स्वरूप यह आत्मा है, उसका अनुभव करने पर ज्ञान का स्वाद, आनन्द का स्वाद, शान्ति का स्वाद, स्वच्छता का स्वाद, प्रभुता का स्वाद (अभेद स्वाद) वहाँ आता है। आहा! आहाहा! ज्ञानचन्दजी! यह ज्ञान! यह भगवान तेरी बलिहारी है नाथ! तेरी चीज अन्दर क्या है... आहाहा! यह विज्ञानघन भगवान तो अन्दर है, जिसमें पर्याय का होना भी उसमें नहीं। आहाहा! परन्तु विज्ञानधन का अनुभव करने पर जो पर्याय होती है, उसमें ज्ञान का — आनन्द का स्वाद आता है। आहाहा! समझ में आया ? भाई! यह तो वीतरागमार्ग है प्रभु! यह वीतरागमार्ग अर्थात् ? इस पर्याय में वीतरागी ज्ञान उत्पन्न हुआ, इस पर्याय में वीतरागी दृष्टि उत्पन्न हुई, इस पर्याय में वीतरागी आनन्द आया.... वह इन्द्रिय का आनन्द था, वह राग था, दुःख था। आहाहा! अरे...रे! समझ में आया ? कल कहा था, परमार्थवचनिका में (आया है) — परसत्तावलम्बी ज्ञान भी मोक्ष का मार्ग नहीं — ऐसा कहा था। पहले के तो बनारसीदास, टोडरमल... ओहोहो!

वह चर्चा हुई न खानिया में, तो सामनेवाले कहें कि आचार्यों का कथन और हमारे

पण्डितजी (फूलचन्दजी शास्त्री) कहें पण्डितों का भी कथन लेना पड़ेगा। परन्तु वे पण्डित, वे ज्ञानी हैं तो यथार्थ बात की है। यह सम्यग्दृष्टि हो, चाहे जो हो तो वस्तु को तो यथार्थ ही कहता है। स्थिरता में अन्तर है। फूलचन्दजी ने लिया था — पण्डितजी कहें उसको भी लेना पड़ेगा। आहाहा! है?

श्रोता : आचार्यों का ही लेना पड़े तो नियमसार की टीका तो मिथ्या हो जायेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं, नहीं, यह कहाँ है पता है? उसमें भी वे झूठी सिद्ध करते हैं। यह आंवलिका का भाग किया है न, जरा उसमें एक शब्द है तो उसमें खोटी... वह तो एक सामान्य बात है। आंवलिका का भाग है, वह कुछ नियमसार में है, ख्याल है, ऐसी भूल निकालते हैं, रतनचन्दजी! बापू! भूल नहीं। सन्तों की भूल नहीं होती। आहाहा! स्थिरता में कोई भूल होवे परन्तु दृष्टि और ज्ञान के अनुभव में जरा भी भूल नहीं होती। पुलाक और बकुश आदि में जरा दोष स्थिरता में लगता है। वस्तु में — दृष्टि और ज्ञान में बिल्कुल दोष नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

अन्दर में भगवान ज्ञानसूर्य तपता है न, आहाहा! ज्ञान-जिनचन्द्र वह आत्मा है, शीतलता के वीतरागी शीतल स्वभाव से भरा प्रभु, आहाहा! विज्ञानघन आनन्दघन, शान्तघन, स्वच्छता का घन, प्रभुता का घन, वह आत्मा है। आहाहा! उस ओर का अनुभव करने पर संयोगी ज्ञान का भी व्यवच्छेद अर्थात् लक्ष्य छोड़कर.... आहाहा! ज्ञानरूप से स्वाद में आता है। आहाहा! भाषा तो सादी है, भाव गम्भीर है भाई!

एक व्यक्ति कहता है कि आप समयसार की इतनी महिमा करते हैं — एक-एक पद में माल भरा है तो मैंने तो पन्द्रह दिन में तो सारा समयसार पढ़ लिया। अच्छा? ऐसा कोई आया, पण्डितजी! ऐसा आया। मैंने कहा — भाई! इस समयसार में एक-एक पद में महागम्भीरता है, पूरी गाथा की तो क्या बात करना! परन्तु एक शब्द 'वंदित्तु सब सिद्धे.... जीवो चरित्त दंसण णाण ठियो' एक-एक पद में उसकी गम्भीरता का पार नहीं, प्रभु! आहाहा! तब कहे — हमने तो पन्द्रह दिन में पढ़ लिया। पढ़े, अक्षर लिखे हैं वे पढ़े, उसमें क्या है?

श्रोता : दो रात्रि जगे और पढ़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जग जाये और फिर पढ़ा करे उसमें क्या ? अक्षर... अ, आ, क, ख, उसमें क्या ? बापू ! यह समयसार जगत का — भरतक्षेत्र का चन्द्र-सूर्य है, अद्वैत चक्षु है। यह आया न! समयसार में अन्तिम कलश है — अद्वैत चक्षु, अद्वैत चक्षु, अजोड़ चक्षु.... अन्त में समयसार, समयसार अर्थात् शब्द और समयसार अर्थात् आत्मा। समझ में आया ? आहाहा !

ओम्कार है न ? बनारसीदास ने लिया है ' ओम्कार शब्द विशद याके उभयरूप' — बनारसी विलास में लिया है। ओमकार शब्दे विशदरूप एक आत्मिकभाव, एक पुद्गल को — ओम के दो शब्द लिये हैं। एक ओम् आत्मस्वरूप वह ओम् और एक विकल्प उठता है कि ' ओम् ' यह शब्द है। आहाहा ! समझ में आया ? यहाँ आया नहीं, बनारसीदास का ? हाँ, प्रमेय माहात्म्य में लिया है। बनारसी विलास बहुत वर्ष पहले देखा था और वह गुप्त बात थी तो मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में पीछे तीनों छपा दिये हैं। ' ओमकार शब्द विसद यांके उभयरूप, ओमकार शब्द विसद यांके उभयरूप एक आत्मिकभाव एक पुद्गल को.... ' आहा...हा... ! ' शुद्धता स्वभाव लिये उठ्यो रायचिदानन्द.... ' भाव ओम में उठ जाना है, अन्दर में, तो अन्दर से शुद्धता प्रगट हुई.... आहा...हा... ! ' शुद्धता स्वभाव लिये उठ्यो रायचिदानन्द, अशुद्ध विभाव लहि प्रभाव जड़ बल को.... ' आहा...हा... ! ' त्रिभुवन त्रिकाल जाके व्ययध्रुवउत्पाद ज्ञाता को स्वभावभाव नहीं लाभ थल को, बनारसीदास जो के ओमकार वास जैसो प्रकाश शशिपक्ष के शुक्ल का॥'

आहाहा ! फिर ज्ञान की बात ली है। है न यह तो बहुत वर्ष पहले, (संवत्) ९१ वें में जब देखा था तो बाद में छपाया, कहा ऐसी बातें गुप्त रह गयी हैं। आहाहा !

यहाँ कहते हैं आहाहा ! निमित्त का तो लक्ष्य छोड़ दे, राग का तो लक्ष्य छोड़ दे परन्तु ज्ञान की पर्याय में अनेकाकार जो पर के लक्ष्य से हुआ, उसका भी तू लक्ष्य छोड़ दे। आहाहा ! और अकेला विज्ञानघन भगवान आत्मा का अनुभव करने से ज्ञान का स्वाद आता है, अकेले स्वभाव का स्वाद आता है — ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। आहाहा ! उसका नाम भावश्रुतज्ञान है, उसका नाम जैनशासन है। आहाहा ! ऐसी बातें। अरे...रे !

भावार्थ : यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा गया है। है न? आत्मा का अनुभव, वह ज्ञान का अनुभव; द्रव्य का अनुभव, वह ज्ञान का अनुभव। चौदहवीं (गाथा में) द्रव्य का अनुभव कहा, यहाँ ज्ञान का अनुभव कहा। **अज्ञानीजन ज्ञेयों में ही....** ज्ञेयों में ही **इन्द्रियज्ञान के विषयों में ही....** (यह) ज्ञेयों का अर्थ किया। ज्ञेयों में ही अर्थात् क्या? अर्थात् — अर्थात् ज्ञेयों में ही अर्थात् ज्ञेय इन्द्रियज्ञान के विषयों में ही **लुब्ध हो रहे हैं;....** आहाहा! **वे इन्द्रियज्ञान के विषयों से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं....** आहाहा! टीकाकार — यह पण्डित भी कितना करते हैं। समझ में आया?

अब उस चर्चा में कहे (कि) पण्डितों का आधार नहीं लेना। हमारे पण्डितजी कहें पण्डितों का आधार लेना, है? यह बात किसकी है? यह पण्डितजी तो अर्थ करते हैं। आहाहा! भाई! ऐसे अनादर नहीं होता, प्रभु! सम्यग्दृष्टि का कथन मान्य है, अनादर नहीं होता। वह सर्वज्ञ जैसी सम्यग्दृष्टि में जो कथन आता है, ऐसे अनुभवी जीव की ऐसी वाणी दिव्यध्वनि जैसा ही भाव आता है। भाई! तुझे पता नहीं है। आहाहा! आहाहा! वह यहाँ कहा।

इन्द्रियज्ञान के विषयों से.... इन्द्रियज्ञान के विषयों से पर, **अनेकाकार हुए ज्ञान....** है? यह ज्ञान की पर्याय में अनेकाकार-परलक्ष्य से जो ज्ञान हुआ, आहाहा! **उसको ही ज्ञेयमात्र,....** वह मानो अपना ज्ञेय है — ऐसा मानते हैं परन्तु वह परज्ञेय है। उस **ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं....** आहाहा! अपने ज्ञान को, अकेले इस परज्ञेय का स्वाद लेते हैं (ऐसा) कहते हैं। अपना ज्ञान छोड़कर.... आहाहा! गाथा तो बहुत अच्छी आ गयी है। आहाहा!

श्रोता : भाव का स्पष्टीकरण बहुत अच्छा आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह अनुभव बिना समझे नहीं, समझे नहीं, कठिन बात। आहाहा! **इन्द्रियज्ञान के विषयों से....** यह इन्द्रियज्ञान हुआ — शास्त्र से सुना, भगवान को सुना, गुरु को सुना, शास्त्र पढ़ा और ज्ञान हुआ। यह सब **इन्द्रियज्ञान के विषयों से अनेकाकार हुए....** आहाहा! **ज्ञान को ही** — अनेकाकार हुए ज्ञान को ही

ज्ञेयमात्र आस्वादन–आस्वादन करते हैं, वह तो परज्ञेय है, उसको ये आस्वादन करते हैं, स्वज्ञेय को भूल गये हैं... आहाहा! सूक्ष्म है भाई! परन्तु ऐसी बात मिले कहाँ, भाई! आहाहा! समझ में आया?

यह दुर्लभ है, बापू! प्रभु! आहाहा! यह ज्ञेयमात्र करके, **परन्तु ज्ञेयों से भिन्न....** देखो, यह ज्ञान अनेकाकार ज्ञेय से — पर के लक्ष्य से हुआ उसको यहाँ ज्ञानमात्र का, यह ज्ञानमात्र का आस्वाद नहीं करते हैं, ज्ञेयमात्र करते हैं। **परन्तु ज्ञेयों से भिन्न....** यह ज्ञेयाकार अनेक ज्ञान, उससे भिन्न, आहाहा! **ज्ञानमात्र का आस्वादन नहीं करते।** पण्डितजी ने कितनी स्पष्टता की। देखो! पण्डित हैं।

और जो ज्ञानी है... आहाहा! **ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं,....** अनेकाकार ज्ञान की पर्याय हुई, वह परज्ञेय है, आहाहा! वह स्वज्ञेय नहीं है। आहाहा! क्या वाणी सन्तों की! रामबाण है! राम का बाण फिरता नहीं, मारा, डाला, वह तो मर जाये, सामने एकदम! ऐसे वीतरागी सन्तों की वाणी रामबाण है, वह फिरती नहीं। आहाहा! **ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं, वे ज्ञेयों से भिन्न....** इस पर्याय में इन्द्रियज्ञान से अनेकाकार हुआ, उसका लक्ष्य छोड़कर एकाकार ज्ञान का ही आस्वाद लेते हैं। आहाहा! अकेला भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी का स्वाद लेते हैं, स्वज्ञान का स्वाद लेते हैं। वह (अज्ञानी) परज्ञेय का स्वाद लेता है, वह राग.... आहाहा! ऐसी बात है भाई!

जैसे शाकों से भिन्न नमक की डली का क्षारमात्र स्वाद आता है,.... शाक आदि से भिन्न नमक की डली का स्वाद आता है। **उसी प्रकार आस्वाद लेते हैं,....** सम्यग्दृष्टि अर्थात् सम्यग्ज्ञानी। आहाहा! पर्याय में परज्ञेयाकार ज्ञान का स्वाद छोड़कर.... आहाहा! अपना भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु (है), उसका आस्वाद लेते हैं। **जैसे शाकों से** आया न? **क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है.....** आहाहा! ज्ञान, वह आत्मा है। **और जो आत्मा है सो ज्ञान है।** ज्ञान, वह आत्मा है; आत्मा, वह ज्ञान है।

इस प्रकार गुण-गुणी की अभेद दृष्टि में.... अभेददृष्टि में **आनेवाला....** गुणगुणी भेद नहीं और **गुण-गुणी की अभेद दृष्टि में आनेवाला सर्व परद्रव्यों से भिन्न,....** अबद्धस्पृष्ट आया न? अपनी पर्याय से एकरूप। अनन्य दूसरा बोल लिया,

अपने गुणों से एकरूप सामान्य-परनिमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न, आहाहा! अपने स्वरूप का अनुभव, ज्ञान का अनुभव है। आहाहा!

यह आया था अनियत में, पर्याय में जो अनेक प्रकार की अगुरुलघु के कारण पर्याय में अनेकता होती है, उसका भी लक्ष्य छोड़कर... समझ में आया? नियत को कहा था न? अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, और असंयुक्त ऐसे भावस्वरूप आत्मा, ऐसा भावस्वरूप भगवान आत्मा, आहाहा! उसका अनुभव करने पर.... आहाहा! ज्ञान का अनुभव है और वह अनुभवन भावश्रुतज्ञानस्वरूप यह अनुभव भावश्रुतज्ञानस्वरूपरूप जिनशासन का अनुभवन है। आहाहा!

गाथा अलौकिक है! इसका भाव, हाँ! भाषा तो भाषा है। यह भावश्रुतज्ञान वह पर के लक्ष्य से ज्ञान तो द्रव्यश्रुत शब्दज्ञान (है।) बन्ध अधिकार में कहा है कि जितना पर के लक्ष्य से ज्ञान होता है, उसे शब्दज्ञान कहते हैं, आत्मज्ञान नहीं। आहाहा! समयसार है न? आगे बन्ध (अधिकार) में है। सब है, यहाँ तो अठारह बार सभा में चल गया है। यह तो उन्नीसवीं बार चलता है, सभा में, हाँ! अठारह बार तो हो गया, अक्षर-अक्षर का अर्थ (हो गया है)। यह उन्नीसवीं बार चलता है। **जिनशासन का अनुभवन है। शुद्धनय से इसमें कोई भेद नहीं है।** यह जो शुद्धनय का विषय है और विषय में अनुभव होता है और निर्मल पर्याय वह भी शुद्धनय है। शुद्धनय का विषय परिपूर्ण है, इस पर्याय का भेद भी शुद्धनय का विषय नहीं, यह तो व्यवहारनय का विषय हुआ। तो वह छोड़कर शुद्धनय का विषय त्रिकाली ज्ञायकभाव के अनुभव को भी शुद्धनय कहा जाता है। अतः शुद्धनय से इसमें कोई भेद नहीं है। जैनशासन पर्याय श्रुतज्ञान जैन शुद्धनय का अनुभव सब एक ही पर्याय का वाचक है। आहाहा! समझ में आया? लो, यह हो गया।

कलश - १४

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

(पृथ्वी)

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्॥ १४॥

श्लोकार्थ : आचार्य कहते हैं कि [परमम् महः नः अस्तु] हमें वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश प्राप्त हो [यत् सकलकालम् चिद्-उच्छलनं-निर्भरं] कि जो तेज सदाकाल चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है, [उल्लसत्-लवण-खिल्य-लीलायितम्] जैसे नमक की डली एक क्षार रस की लीला का आलम्बन करती है, उसी प्रकार जो तेज [एक-रसम् आलंबते] एक ज्ञानरसस्वरूप का आलम्बन करता है; [अखण्डितम्] जो तेज अखण्डित है जो ज्ञेयों के आकाररूप खण्डित नहीं होता, [अनाकुलं] जो अनाकुल है-जिसमें कर्मों के निमित्त से होनेवाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है, [अनन्तम् अन्तः बहिः ज्वलत्] जो अविनाशीरूप से अन्तरङ्ग में और बाहर में प्रगट दैदीप्यमान है-जानने में आता है, [सहजम्] जो स्वभाव से हुआ है — जिसे किसी ने नहीं रचा और [सदा उद्विलासं] सदा जिसका विलास उदयरूप है, जो एकरूप प्रतिभासमान है।

भावार्थ : आचार्यदेव ने प्रार्थना की है कि यह ज्ञानानन्दमय एकाकार स्वरूप-ज्योति हमें सदा प्राप्त रहो।

कलश - १४ पर प्रवचन

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्॥ १४॥

आहाहा! अमृत का अमृत कलश है। **आचार्य कहते हैं कि परमम् महः नः अस्तु नः** अर्थात् हमें नः शब्द है न अर्थात् हमें। **हमें वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश प्राप्त हो.....** आहाहा! अमुक प्राप्त तो है ही परन्तु अब उत्कृष्ट प्राप्त हो। आहाहा! हमें तो केवलज्ञान प्राप्त हो, तेज का बिम्ब प्रभु... आहाहा! हमें वह **महः** है न तेज, **अस्तु** — वह उत्कृष्ट तेज प्रकाश प्राप्त हो। आहाहा! हमारा नाथ प्रभु! चैतन्य प्रकाश का पिण्ड वह हमें पर्याय में प्राप्त हो। आहाहा! हमें महाव्रत का विकल्प यह हो और वह हो, यह कोई बात है नहीं। आहाहा!

यत् सकलकालम् चिद्-उच्छलन-निर्भरं.... यत् अर्थात् **कि जो तेज....** भगवान आत्मा का तेज, चैतन्य तेज **सदाकाल चैतन्य के परिणमन से.....** चैतन्य के स्वभाव से **परिपूर्ण है,....** परिणमन का अर्थ चैतन्य के स्वभाव से परिपूर्ण है। परिणमन पर्याय अन्दर नहीं है। आहाहा! समझ में आया? है? **चिद्-उच्छलन....** है न उच्छलन? उच्छलन का अर्थ परिणमन किया। परिणमन स्वभाव ऐसा त्रिकाल एकरूप है — ऐसा। है न? **यत् सकलकालम् चिद्-उच्छलन-निर्भरं....** वह परिणमन से निर्भर, निर्भर अर्थात् परिपूर्ण। निर्भर, भगवान सकल काल से ज्ञान से परिपूर्ण भरा पड़ा है। परिणमन का अर्थ पारिणामिक स्वभाव। पारिणामिकस्वभाव सहज, ऐसे निर्भरं-परिपूर्ण है, भगवान! आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसी बातें हैं। व्यवहार के रसिया को तो ऐसा लगे कि यह सब व्यवहार का तो कुछ कहते ही नहीं। कहते हैं न? व्यवहार, व्यवहार का ज्ञान भी छोड़ने योग्य है, तेरे व्यवहार दया दान के विकल्प तो छोड़ने योग्य है ही, आहाहा! अरे...रे! अनन्त भव किये, प्रभु! जैन धर्म में भी अनन्त बार जन्मा है, जैन का साधु —

दिगम्बर (साधु) भी अनन्त बार हुआ है, प्रभु! आहाहा! हो, नौ पूर्व की लब्धि भी अनन्त बार हुई है, उसमें क्या है ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं जो सदाकाल चैतन्य के भाव से परिपूर्ण हैं। **उल्लसत्-लवण-खिल्य-लीलायितम्.... जैसे नमक की डली एक क्षाररस की लीला का आलम्बन करती है,.....** आहाहा! अकेला क्षाररस से भरा है, यह। आहाहा! **उसी प्रकार जो तेज.... एक-रसम् आलंबते एक ज्ञानरसस्वरूप का आलम्बन करता है;....** अर्थात् ज्ञानस्वरूप ही भगवान त्रिकाल है। **अखण्डितम् जो तेज अखण्डित है.....** आलम्बन का अर्थ यहाँ पर्याय नहीं, आलम्बन का अर्थ ज्ञानस्वरूप ही उसका आलम्बन त्रिकाल है — ऐसा। आहाहा! समझ में आया ? ज्ञानसागर भगवान, वह ज्ञान का आलम्बन अर्थात् ज्ञानस्वरूप ही है – ऐसा। **लीला का आलम्बन करती है,....** उसी प्रकार ज्ञानरसस्वरूप का आलम्बन करता है; तेज अखण्डित है। जो तेज चैतन्य के स्वभावभावरस अखण्ड है, पर्याय में भी खण्ड नहीं हुआ।

जो ज्ञेयों के आकाररूप खण्डित नहीं होता,.... देखो, आहाहा! पर्याय में भी जब ज्ञान होता है तो ज्ञेयों के आकार से भी ज्ञान की पर्याय, ज्ञान का स्वाद लेने में खण्डित नहीं होती। आहाहा! ऐसा मार्ग है। **जो अनाकुल है....** भगवान तो अनाकुल आनन्दस्वरूप प्रभु है, आहाहा! **जिसमें कर्मों के निमित्त से होनेवाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है। अनन्तम् अन्तः बहिः ज्वलत्.....** आहाहा! **जो अविनाशीरूप से अन्तरङ्ग में और बाहर में प्रगट दैदीप्यमान है-जानने में आता है,....** आहाहा! अन्तर में अकेला शान्तरस से भरा है और बाह्य में भी शान्तरस दिखने में आता है। शान्त... शान्त... शान्त... शान्त... आहाहा! भक्तामर में आता है या नहीं ? जितने शान्तरस के परमाणु हैं, प्रभु! वे तो शरीर में ऐसे हुए। यह तो अन्दर शान्ति की पर्याय में शान्ति इतनी है कि शान्तरस से तो भरा है, परन्तु पर्याय में शान्ति दिखती है। आहाहा! शरीर में तो शान्तरस के परमाणु परिणमित हुए हैं, वे तो जड़, परन्तु अन्तर में शान्तरस पूर्ण पड़ा है, तो उसकी पर्याय में भी शान्त.... आहाहा! 'उपशमरस बरसे रे प्रभु तेरे नयन में, उपशमरस बरसे रे प्रभु तेरे नयन में' ज्ञानरूपी नयन में। आहाहा! आहाहा!

ऐसा भगवान आत्मा अपनी पर्याय में उपशमरसपने आता है। आहाहा! बाहर से और अन्तर से तो दैदीप्यमान-जानने में आता है। **जो स्वभाव से हुआ है — जिसे किसी ने नहीं रचा....** वह तो अनादि-अनन्त है। ऐसा कि स्वभाव से हुआ है, स्वभाव ही ऐसा है — अनादि-अनन्त (है) कोई ईश्वर उसका कर्ता है या किसी ने बनाया है — ऐसी वह चीज नहीं है। वह तो प्रभु आनन्दकन्द, ज्ञानघन, अकृत्रिम अनकिया हुआ है। आहाहा! **जिसे किसी ने नहीं रचा.... सदा उद्विलासं.... सदा उद्विलासं सदा जिसका विलास उदयरूप है....** आहाहा! जिसका अर्थात् **जो एकरूप प्रतिभासमान है,.....** त्रिकाल एकरूप है, ऐसा पर्याय में भासन होता है। आहाहा! है तो सही, परन्तु है वह भासन किसको? है तो है ऐसा, परन्तु पर्याय में ऐसा प्रतिभास होता है कि आहाहा! यह वस्तु अखण्डानन्द परिपूर्ण है। आहाहा! उसको प्रतिभास आया, आहाहा! ऐसी बातें हैं।

मार्ग ही ऐसा भगवान! जिनशासन-यह ऐसा है। आहाहा! जिनस्वरूपी भगवान के आश्रय से जो अनुभव — आनन्द हुआ, वह जैनशासन है। जैनशासन द्रव्य को नहीं कहा पर्याय को कहा। आहाहा! रागशासन, वह विकारदशा है; जिनशासन, वह वीतरागी दशा है। यहाँ दशा को शासन कहा है। आहाहा! समझ में आया? **एकरूप प्रतिभासमान है।** आहाहा!

भावार्थ : आचार्यदेव ने प्रार्थना की है कि यह ज्ञानानन्दमय एकाकार स्वरूप-ज्योति हमें सदा प्राप्त रहो। आहाहा! कहो, पंचम काल के सन्त, जगत् को-पंचम काल के प्राणी के लिए भी यह बात करते हैं। हमें प्राप्त हो ऐसा तुम्हें भी प्राप्त हो — ऐसा कहते हैं। आहाहा! विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १५

अब, आगे की गाथा का सूचनारूप श्लोक कहते हैं —

(अनुष्टुभ्)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥१५॥

श्लोकार्थ : [एषः ज्ञानघनः आत्मा] यह (पूर्वकथित) ज्ञानस्वरूप आत्मा, [सिद्धिम् अभीप्सुभिः] स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को [साध्यसाधकभावेन] साध्यसाधकभाव के भेद से [द्विधा] दो प्रकार से, [एकः] एक ही [नित्यम् समुपास्यताम्] नित्य सेवन करने योग्य है; उसका सेवन करो।

भावार्थ : आत्मा तो ज्ञानस्वरूप एक ही है परन्तु उसका पूर्णरूप साध्यभाव है और अपूर्णरूप साधकभाव है; ऐसे भावभेद से दो प्रकार से एक का ही सेवन करना चाहिए॥१५॥

प्रवचन नं. ७६ गाथा-१६, कलश-१५, १६, १७ दिनाङ्क ०२-०९-१९७८ शनिवार
श्रावण कृष्ण अमावस्या, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, कलश १५ है। १५ कलश।

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥१५॥

क्या कहते हैं? **एषः ज्ञानघनः आत्मा....** यह भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी त्रिकाल, इस **स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को....** स्वरूप की प्राप्ति के अभिलाषी पुरुषों को **साध्यसाधकभाव के भेद से.....** आहाहा! यह आत्मा पूर्ण स्वरूप शुद्ध, वह साध्य और अपूर्ण स्वरूप, वह साधक (है)। आत्मा जो ज्ञायक त्रिकाल ज्ञानस्वरूप, वह जो दृष्टि का विषय, उस आत्मा को साध्य-साधक भाव से सेवना। इसका अर्थ? साध्य अर्थात् पूर्ण मोक्ष की पर्याय, केवलज्ञान की पर्याय, वह साध्य है। इस

आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा, वह साध्य और अपूर्ण निर्मलदशा वह साधक (है)। रागादि साधक और पूर्ण साध्य — ऐसा नहीं है। समझ में आया? आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु (है), वह वस्तुस्वभाव एकरूप त्रिकाल (है)। इसको दो प्रकार से सेवन करना — एक तो साध्य जो पूर्ण आनन्द और पूर्ण केवलज्ञान वह साध्य भी आत्मा की पूर्ण दशा और आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र जो निश्चय, वह साधकदशा, वह आत्मा की शुद्धता की अपूर्ण दशा, साधक और आत्मा की पूर्ण दशा, वह साध्य। समझ में आया?

स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को साध्यसाधकभाव के भेद से एक ही नित्य सेवन करने योग्य है।.... आहाहा! यह आत्मा जो पूर्ण स्वरूप शुद्ध, उसकी निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र, जो निर्विकल्प आनन्द-जो अपूर्ण साधकदशा, वह पूर्ण साध्य का कारण है। पूर्ण साध्य जो परमात्म दशा, इसकी वह साधक है। व्यवहाररत्नत्रय साधक है और निश्चय साध्य है — ऐसा नहीं है तथा वर्तमान में व्यवहार साधक है और निश्चय जो साधकभाव है, साध्य का कारण (है) उसका व्यवहार कारण और निश्चय साधक / कार्य — ऐसा है नहीं। अरे...रे... ! समझ में आया? पण्डितजी नहीं? गये? ठीक।

आत्मा अर्थात् पुण्य और पाप के विकल्प से रहित पूर्ण ज्ञानघन की अपेक्षा लेकर — आश्रय लेकर जो शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय स्व के आश्रय से प्रगट हुआ वह साधकदशा अपूर्ण है और पूर्ण केवलज्ञान की प्राप्ति वह साध्यदशा पूर्ण है, तो पूर्ण और अपूर्ण दोनों आत्मा द्वारा साधन करना। आत्मा अपूर्ण शुद्धता से परिणमन करना, वह साधक है और आत्मा पूर्ण निर्मलरूप से साध्य प्रगट करे, वह साध्य है। समझ में आया? व्यवहाररत्नत्रय साधक है और निश्चय साधक पर्याय, वह साध्य है — ऐसा नहीं। वैसे ही व्यवहाररत्नत्रय साधक है और साध्य केवलज्ञान है — ऐसा भी नहीं है। समझ में आया? आहाहा! बात ऐसी, भाई!

१४ गाथा में दर्शन का अधिकार चला; १५ में ज्ञान का अधिकार; अब १६ वीं में दर्शन, ज्ञान और चारित्र — तीन का अधिकार साथ में (चलता है)। आहाहा! अपना आनन्दस्वरूप भगवान पूर्ण सच्चिदानन्द, उसका वह आत्मा ही अपूर्ण साधक शुद्धतारूप परिणमन करे, वह उसकी साधकदशा (है) और वही आत्मा पूर्ण साध्य की दशा प्रगट

करे, वह उसका ध्येय। वह साधक भी आत्मा की शुद्धदशा, वह साधक है और आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा, वह ध्येय अर्थात् साध्य है। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : व्यवहारनय साधक तो कहलाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहारनय साधक तो निमित्त से कथन है, वह है नहीं; है नहीं उसको कहना, वह व्यवहार है। आहाहा!

श्रोता : दशा को ध्येय कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूर्ण दशा को ध्येय कहा, अपूर्ण दशा को साधक कहा। समझ में नहीं आया? पुण्य-पाप के विकल्प से रहित भगवान पूर्णानन्द प्रभु की पूर्ण दशा-शुद्धता की पूर्ण दशा, वह साध्य और शुद्धता की अपूर्ण दशा, वह साधक (है)। आहाहा! ऐसी बात है। इस व्यवहार के रसिया को यह कठिन पड़े ऐसा है। व्यवहार करते-करते साधकदशा प्रगट होगी और व्यवहार करते-करते साध्य केवलज्ञान प्रगट होगा — यह सब बात झूठ है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो **दो प्रकार से, एक ही आत्मा....** ऐसा है न? **दो प्रकार से, एक ही आत्मा....** तो आत्मा तो पुण्य-पाप से रहित वह आत्मा शुद्ध आनन्दघन, वह एक ही दो प्रकार से सेवन करना। आहाहा! इस आत्मा की अपूर्ण साधक निर्मल उपयोगदशा — शुद्ध उपयोगदशा, वह साधक और पूर्ण साध्य केवलज्ञानदशा, वह साध्य है; बीच में कोई व्यवहार कारण है या फारण है, वह इसमें है ही नहीं।

श्रोता : कथंचित् होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कथंचित् होता है साधक शुद्ध वह — द्रव्य नहीं, वह कथंचित्। क्या कहा यह? द्रव्य जो त्रिकाली है, वह कथंचित् साधक है — ऐसा नहीं है। वह निर्मल पर्याय साधक है। निर्मल पर्याय का ध्येय तो (त्रिकाली द्रव्य) यह है। परन्तु यहाँ वह नहीं लेना। यहाँ तो त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु के अवलम्बन से शुद्धता-शुद्ध उपयोग-दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुआ, उसको (दशा को) यहाँ साधक / कारण कहा जाता है, और उसकी पूर्ण साध्यदशा — शुद्ध कार्य साध्यदशा कही जाती है।

भाषा तो बहुत सादी परन्तु अब इसे.... समझ में आया? आहाहा! अनजान लोगों

को तो ऐसा लगे यह क्या है? क्योंकि कभी 'यह धर्म क्या चीज है?' — अभी तो सम्प्रदाय में भी यह कुछ नहीं चलता। यह व्रत करो और तपस्या करो, भक्ति करो और पूजा करो.... यह तो सब राग की क्रिया है भाई! यह कोई साधक नहीं है। आहाहा!

यहाँ साधक तो इसको कहा जाता है, गुणस्थान - चौथे से बारहवें तक साधक कहते हैं; तेरहवें में साध्य कहते हैं तो यह चौथे गुणस्थान की जो दशा वह पाँचवें की, छठें की दशा.... स्वात्मा के ध्येय से-आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान (हुआ) अशुद्धता को छोड़कर शुद्धदशा अपूर्ण प्रगट हुई, इसको यहाँ साधक कहा जाता है। साधक कहो या कारण कहो। समझ में आया? और इस आत्मा की पूर्ण निर्मल दशा साध्य कहो या कार्य कहो। पाटनीजी! स्वयं ही कारण और स्वयं ही कार्य। आहाहा! यहाँ यही सिद्ध करना है। भगवान आनन्द का नाथ प्रभु अपूर्ण शुद्धतापने परिणमे वह कारण और वह साधक; वह भगवान पूर्ण साध्य निर्मलपने परिणमे, वह कार्य तथा वह साध्य है। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : कार्य तो द्रव्य के आश्रय से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, अभी यहाँ ध्येय की बात यहाँ नहीं है। संस्कृत टीका में ध्येय लिया है, कलश टीकाकार ने (लिया है), परन्तु यहाँ यह लेना, यह। ध्येय बनाकर द्रव्य स्वभाव को ध्येय बनाकर जो पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, उसको यहाँ आत्मा साधकपने परिणमा — ऐसा कहा जाता है। भले ध्येय/दृष्टि वहाँ (त्रिकाली द्रव्य पर) है, यह बात यहाँ नहीं है। द्रव्य के — त्रिकाल ध्येय के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र हुआ परन्तु यहाँ सम्यग्दर्शन-चारित्र जो शुद्ध हुआ, उसको कारणरूप — साधकरूप कहकर पूर्णदशा को कार्यरूप कहकर साध्यदशा कहा गया है। एक ही आत्मा अपूर्णरूप, अशुद्धरूप से परिणमना, वही आत्मा पूर्णरूप से परिणमना, यह कारण और कार्य है। आहाहा! समझ में आया?

कठिन बात है भाई! लोगों को अन्तर-यह भगवान अन्दर.... आहाहा! यह पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण स्वभाव, जिसका स्वभाव है, वह अपूर्ण और विपरीत कैसे हो? आहाहा! भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द आदि, ज्ञानादि, शान्ति आदि, स्वच्छता आदि, प्रभुता आदि, पूर्ण स्वभाव का भर-भर — भरपूर.... 'भर' शब्द एक हमारे यहाँ काठियावाड़ में चलता

है। गाड़ी में आवे न गाड़ी में माल भरते हैं न भर भरा कहलाता है। पच्चीस मण-पचास मण भर, भरभरा कहलाता है। ऐसे शास्त्र में भर आता है, भगवान पूर्णानन्द का भर है। आहाहा!

पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शान्ति, पूर्ण प्रभुता को ध्येय बनाकर जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, उसको शुद्धता की अपूर्णता है; इस कारण उसको साधक कहा और कारण कहा। आहाहा! समझ में आया? और वह द्रव्य ही पूर्णरूप से — शुद्धरूप से परिणमे... आहाहा! द्रव्य ही अशुद्धरूप से-अपूर्णपने परिणमे, ऐसे द्रव्य ही शुद्धपने परिपूर्णपने परिणमे, वह साध्य-साधक वही है। आहाहा! यह साथ में चारित्र अधिकार लिया न? आहाहा! दर्शन, ज्ञान का अधिकार तो दोनों आ गये हैं (गाथा) १४ में सम्यग्दर्शन, १५ में सम्यग्ज्ञान.... आहाहा!

यह श्रोता की व्याख्या अलग, यह श्रोता की व्याख्या है। यह जैनधर्म की श्रद्धा, हाँ! वह अभी समकित नहीं वहाँ, समकित तो बाद के अनुभव कर वहाँ लेगा — ऐसा श्रोता होना चाहिए कि जिसे जैनधर्म की यथार्थ श्रद्धा हो, समकित ने अभी अनुभव नहीं। आता है न वह? और बाद में फिर श्रोता लिया है कि अनुभवी-आत्मा का अनुभवी श्रोता हो तो वह तो ठीक है। क्योंकि उसे क्या कहते हैं? उसका उसे बराबर ख्याल आता है। समझ में आया? आहाहा! है या नहीं इसमें? मोक्षमार्गप्रकाशक है न यह? ग्रन्थ की प्रमाणिकता के बाद श्रोता की (बात) आती है। 'श्रोता का स्वरूप' देखो! पुनश्च जो जैनधर्म का दृढ़ श्रद्धालु... यहाँ अभी अनुभव नहीं लेना, अनुभव की बात बाद में आयेगी, अनुभव आयेगा परन्तु बाद में, यहाँ तो अनुभव बिना प्राणी जैनधर्म की श्रद्धा बराबर है, अन्य की बिल्कुल नहीं — ऐसा श्रद्धालु जीव, नाना प्रकार के शास्त्र सुनने से जिसकी बुद्धि निर्मल हुई है और व्यवहार निश्चयनय का स्वरूप यथार्थरूप से जानकर सुने हुए अर्थ को यथार्थ रीति से निश्चय जानकर अवधारण करता है, यह श्रोता की व्याख्या है। समझ में आया? और बाद में श्रोता में आता है। आहाहा!

जिसको आत्मज्ञान न हो तो उपदेश का मर्म नहीं समझ सकता। आहाहा! है? इसलिए आत्मज्ञान द्वारा जो स्वरूप का आस्वादी हुआ है, आहाहा! आत्मज्ञान द्वारा आत्मा का आस्वादी हुआ है, वह जैनधर्म का रहस्य का श्रोता है, वह जैनधर्म के मर्म का श्रोता है। समझ में आया? आहाहा!

श्रोता : यह अनुभवी है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं ? यह वहाँ अनुभवी है। पहले अभी श्रोता है, इतना बस! जैनधर्म की श्रद्धा है, अन्य धर्म की नहीं। वह श्रद्धालु जीव श्रोता के योग्य है, इतना! परन्तु जो अनुभवी जीव हो वह तो रहस्य को जाननेवाला है। समझ में आया ? मार्ग बापू बहुत सूक्ष्म, भाई! अपूर्व और सूक्ष्म आहाहा! यह पहले अध्याय में है न।

यहाँ कहते हैं — आहाहा! जिस (को) पूर्ण प्राप्ति अभिलाषी है, सिद्धि (अर्थात्) पूर्ण प्राप्ति का अभिलाषी है, ऐसे जीव को, जो अपना पूर्णानन्द प्रभु अन्तर आत्मा (है), उसका अन्तर आत्मा के आश्रय से जो शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध सम्यग्ज्ञान और शुद्ध चारित्र की रमणता — ये तीनों हुए हैं, वह साधक कहा जाता है क्योंकि शुद्धि की परिपूर्णता नहीं, शुद्धि की अपूर्णता है; इस कारण उसे साधक कहा जाता है और शुद्धि की पूर्णता जिसे प्राप्त हुई, उसे यहाँ साध्य अर्थात् प्राप्ति करने के योग्य वह साध्य कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात है।

यह सब अटपटा जैसा लगे, अनजाने को तो। है यह पता है! कुछ पता नहीं धर्म क्या है, यह क्या चीज है ? आहाहा!

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ने जो धर्म कहा, वह साधकपने परिणमन को धर्म कहा। समझ में आया ? धर्मी ऐसा जो भगवान आत्मा, उसमें जो अनन्त ज्ञानादि धर्म पड़ा है... धर्मी ऐसे भगवान प्रभु में अनन्त आनन्द, ज्ञानादि धर्म पड़ा है, उसके लक्ष्य से, उसके आश्रय से पर्याय में जो शुद्धता प्रगट हुई, वह पर्याय का धर्म है। वह द्रव्यस्वभाव, उसका गुण, द्रव्य का धर्म और द्रव्य के आश्रय से जो प्रगट दशा हुई, वह पर्याय धर्म है — ऐसी बातें हैं। उस अपूर्ण पर्याय धर्म को यहाँ साधक कहा और पूर्ण साध्य शुद्धदशा को यहाँ साध्य कहा।

भावार्थ : आत्मा तो ज्ञानस्वरूप एक ही है.... देखो! लो! यह तो एक ही प्रकार से, भगवान शुद्ध चैतन्य है, **परन्तु उसका पूर्णरूप साध्यभाव....** देखो! **और अपूर्णरूप साधकभाव है; ऐसे भावभेद से दो प्रकार से एक का ही सेवन करना चाहिए।** दो प्रकार से भी एक ही आत्मा का सेवन करना चाहिए।

गाथा १६

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यम्।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानं चैव निश्चयतः॥

येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीतिप्रति-पाद्यते। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव, वस्त्वन्तराभावात्। यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव, न वस्त्वन्तरम्; तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव, न वस्त्वन्तरम्। तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते।

अब, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव है, यह इस गाथा में कहते हैं —

दर्शनसहित नित ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेवीये।
पर ये तीनों आत्मा हि केवल, जान निश्चयदृष्टि में॥१६॥

गाथार्थ : [साधुना] साधु पुरुष को [दर्शनज्ञानचारित्राणि] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [नित्यम्] सदा [सेवितव्यानि] सेवन करने योग्य हैं; [पुनः] और [तानि त्रीणि अपि] उन तीनों को भी [निश्चयतः] निश्चयनय से [आत्मानं च एव] एक आत्मा ही [जानीहि] जानो।

टीका : यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो, उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है, इस प्रकार स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से प्रतिपादन

करते हैं कि 'साधु पुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवन करने योग्य है।' किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो यह तीनों एक आत्मा ही हैं क्योंकि वे अन्य वस्तु नहीं किन्तु आत्मा की ही पर्यायें हैं। जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण, देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन न करने से (वे) देवदत्त ही हैं — अन्य वस्तु नहीं, इसी प्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन न करने से आत्मा ही हैं — अन्य वस्तु नहीं; इसलिए यह स्वयमेव सिद्ध होता है कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है।

भावार्थ : दर्शन, ज्ञान, चारित्र — तीनों आत्मा की ही पर्यायों हैं, कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं; इसलिए साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन करना यह निश्चय है और व्यवहार से दूसरों को भी यही उपदेश करना चाहिए॥१६॥

गाथा - १६ पर प्रवचन

अब, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव है, यह इस गाथा में कहते हैं — (गाथा लो) १६, १६ —

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥१६॥

नीचे हरिगीत —

दर्शनसहित नित ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेवीये।
पर ये तीनों आत्मा हि केवल, जान निश्चयदृष्टि में॥१६॥

टीका : यह आत्मा.... यह आत्मा, कैसा? **'येनैव हि भावेनात्मा साध्यः' यह आत्मा....** ऐसा पूर्ण आनन्दघन — ऐसा आत्मा **जिस भाव से साध्य तथा साधन हो जिस भाव से-पर्याय से साध्य-साधन हो उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है,....** आहाहा! जिस भाव से साधन अर्थात् साधकपना हो, जिस भाव से साध्य हो, उस प्रकार आत्मा को सेवन करना। आहाहा! अरे... सेवन करने का अर्थ? — ध्यान की पर्याय में ध्येय बनाकर आत्मा में एकाग्रता होना। आहाहा!

इस प्रकार स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं.... दूसरों को व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं। तीन बोल आये न? दर्शन, ज्ञान, चारित्र — (यह) व्यवहार हुआ। निर्मल पर्याय है, यह व्यवहार हुआ। आहाहा! निश्चय-ज्ञायकभाव त्रिकाली निश्चय हुआ और उसके आश्रय से जो पर्याय निर्मल-सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ; वह पर्याय हुई तो व्यवहार हुआ। आहाहा! यह '**साधु पुरुष को दर्शन ज्ञान चारित्र सदा सेवन करने योग्य है।'.....** यह व्यवहारनय से कथन है। लोग पर्याय से समझते हैं, इस कारण पर्याय से कथन किया जाता है कि आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सेवन करना। वह तो पर्याय हुई परन्तु पर्याय से समझते हैं तो इस अपेक्षा से समझाया। वरना सेवन तो आत्मा का करना है। आहाहा! ऐसी बातें बहुत सूक्ष्म पड़ती हैं। अरे! कभी अभ्यास नहीं, जहाँ भगवान पूर्णानन्द प्रभु है, वहाँ झुकाव नहीं, इस चमत्कारिक चीज का ख्याल नहीं, आहाहा! उसको यहाँ साधक-साध्य क्या है? — यह ख्याल में — रहस्य ख्याल में आना कठिन है। इसलिए श्रोता में कहा न कि यदि समकिती ज्ञानी श्रोता हो तो उसको सुनने में रहस्य समझ में आता है। आहाहा! आहाहा!!

साधन (हो) उस भाव से नित्य-नित्य सेवना करने योग्य है। नित्य यह आत्मा जिस भाव से साध्य-साधक हो उस भाव से ही आत्मा नित्य सेवन करने योग्य है। आहाहा! **इस प्रकार से स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं।** तीन आये न? '**साधु पुरुष को दर्शन ज्ञान चारित्र सदा सेवन करने योग्य है।'...** आहाहा!

यहाँ व्यवहाररत्नत्रय की तो बात ही नहीं, क्योंकि वह तो राग है और वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। **किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो यह तीनों एक आत्मा ही हैं....** क्या कहते हैं? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन हैं, वह तो भेदरूप हुआ तो व्यवहार हुआ। क्या? कि जो आत्मा पूर्णानन्द प्रभु (है), उसकी अन्तर निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — निश्चयदर्शन (ज्ञान) चारित्र — यह द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय का भेद व्यवहार हुआ। आहाहा! समझ में आया? साधु पुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र को... **किन्तु परमार्थ से,** व्यवहार से बात की, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन यह।

परमार्थ से.... आहाहा! पुण्य और दया, दान, व्रत व्यवहार से, यह यहाँ लिया ही नहीं और यह व्यवहार भी नहीं। यह तो असद्भूत व्यवहार है। आहाहा! झूठा व्यवहार (है) और यह आत्मा ज्ञायकस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र जो निर्मल है, ये तीन कहना वह व्यवहार है। आहाहा! तीन की सेवा करना, वह व्यवहार है।

परमार्थ से देखा जाये तो यह तीनों एक आत्मा ही हैं.... तीनों भेद है न, वह आत्मा ही है; आत्मा की पर्याय तो वह आत्मा ही है, तीन भेद है नहीं! आहाहा! अब ऐसी व्याख्या! ज्ञानचन्दजी! भगवान आत्मा को-दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सेवना, आहाहा! तो कहते हैं कि कार्य निश्चय — जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान, परन्तु पर्याय है और भेद है तो व्यवहार कहा; परमार्थ से तो एक ही आत्मा का सेवन करना। आहाहा! समझ में आया? यह तो.... आहाहा!

श्रोता : रहस्य का उद्घाटन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह वस्तु ऐसी है। आहाहा!

साधु पुरुष को.... साधु उसको कहते हैं, आहाहा! कि जो साधे 'साधे इति साधु' दर्शन-ज्ञान-चारित्र को साधे, व्यवहार से; वह व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प वह नहीं। यहाँ तो तीन भेद को साधे, वह व्यवहार से कहा जाता है। पर्याय है न? भेद हुआ न? आहाहा!

श्रोता : यही आत्म-व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्म-व्यवहार है। रागादि, मनुष्य व्यवहार। वहाँ — प्रवचनसार गाथा ९४ (में) कहा है। आत्म-व्यवहार, आहाहा! दया, दान, व्रतादि जो विकल्प हैं, वह मनुष्य व्यवहार-गति का व्यवहार-गति प्राप्त करने का भाव है और भगवान आत्मा पूर्ण स्वरूप की निश्चयदृष्टि, ज्ञान और रमणता, वह आत्मव्यवहार है। प्रवचनसार (गाथा ९४ में लिया है) आत्मव्यवहार!

श्रोता : अविचलित चेतनाविलास......

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अविचलित चेतनाविलास, वह आत्म-व्यवहार; अपनी शुद्ध परिणति-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह अविचलित विलास चेतना, वह आत्मव्यवहार है। आहाहा!

परमार्थवचनिका में ऐसा लिया है, वचनिका में कि — लोग अध्यात्म का व्यवहार भी नहीं जानते। जो आगम का व्यवहार है, वह साधते हैं और मानते हैं कि हम कुछ साधक हुए। व्यवहार जो आगम में कहा — ऐसा साधते हैं, परन्तु अध्यात्म का व्यवहार जानते भी नहीं, (— ऐसा) उसमें लिखा है। अध्यात्म का व्यवहार, शुद्ध भगवान के अवलम्बन से जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (प्रगट हुए) वह अध्यात्म का व्यवहार है। आहाहा! कठिन बात भाई! समझ में आया?

परमार्थ से देखा जाये तो यह तीनों..... तीन पर्याय हुई न? **एक आत्मा ही है क्योंकि वे अन्य वस्तु नहीं....** यह पर्याय कोई अन्य वस्तु नहीं, आत्मा की है **किन्तु आत्मा की ही पर्याय है।** आहाहा! निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह आत्मा की पर्याय है; इसलिए आत्मा है — ऐसा कहते हैं। आहाहा!

श्रोता : पर्याय को आत्मा क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा, व्यवहार है न, वह पर्याय व्यवहार से यह आत्मा ही है, व्यवहार वह पर्याय, निश्चय में एकरूप है।

यह कहा देखो, **जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के....** देवदत्त नामक पुरुष के **ज्ञान, श्रद्धान और आचरण, देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन न करने से....** देवदत्त के स्वभाव का, उसका ज्ञान श्रद्धान, आचरण उल्लंघन नहीं करता। **देवदत्त ही हैं....** देवदत्त की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र, वह देवदत्त ही है। आहाहा! **अन्य वस्तु नहीं, इसी प्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण.....** यहाँ ज्ञान पहले लिया है देखो! समझ में आया? उसमें कहा साधु-पुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवन करने योग्य है। यहाँ लिया **आत्मा में भी,** आहाहा! **आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन न करने से....** आहाहा! वे आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन नहीं करते। स्वभाव की परिणति है। आहाहा! वह विभाव परिणति नहीं; व्यवहार-राग की परिणति वह नहीं, आहाहा! ऐसा मार्ग है। यह आत्मा का ज्ञान, आत्मा का श्रद्धान, आत्मा का आचरण — अन्दर रमणता, हाँ! शुद्धता, वह आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन नहीं करने से आत्मा ही है — इस अपेक्षा से आत्मा त्रिकाली

स्वभाव है, उसका परिणमन स्वभाव में हुआ, वह आत्मा ही है। स्वभाव का उल्लंघन नहीं करके, विभाव में नहीं जाते। आहाहा!

आत्मा ही हैं — अन्य वस्तु नहीं।.... जैसे देवदत्त की अपेक्षा से.... **इसलिए यह स्वयमेव सिद्ध होता है.....** स्वयं एव — स्व से सिद्ध होता है **कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है।** देखो! वे तीन सेवन करने योग्य कहे थे। आहाहा! परमार्थ से तो एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है। आहाहा! पण्डितजी! जो तीनों का सेवन करने का कहा, वह व्यवहार पर्याय.... परन्तु पर्याय उसकी है तो व्यवहार कहा शुद्ध... निश्चय से तो एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है। एक आत्मा; तीन भेद भी नहीं। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द प्रभु की — एक की ही सेवना करना बस! उसमें से दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त होता है, भेद.... आहाहा! है या नहीं सामने? पाठ है।

भावार्थ : दर्शन, ज्ञान, चारित्र — तीनों आत्मा की ही पर्याय हैं,.... देखो! यहाँ सम्यक् निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है; व्यवहार समकित और वह तो कथनमात्र है, वह कोई वस्तु नहीं। आहाहा! व्यवहार तो एक कथनमात्र की चीज ज्ञान कराने को है। वह कोई चीज / वस्तु / मार्ग नहीं। आहाहा! देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम, शास्त्र की ओर का शास्त्रज्ञान, वह कोई साधक नहीं। आहाहा! वह तो कथनमात्र व्यवहार कहा गया है। आहाहा!

अब इसमें निवृत्त कब होना? ए...ई... महेन्द्रभाई! धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, वह पिता मर गया तो फिर स्वयं घुस गया अन्दर, लड़कों और भाईयों के साथ।

यह तो इनका दृष्टान्त है। सबकी बात है न! आहाहा! प्रभु तुझे करने का काम बहुत भिन्न है। आहाहा! यह प्रवृत्ति का परिणाम तो राग-द्वेष और अज्ञान है। आहाहा!

श्रोता : पण्डितजी कहते हैं आपने गुजराती में कह दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा? यह तो दृष्टान्त दिया, उस व्यापार में घुस जाते हैं न? ऐसा है भाई! यह हमारे भाई हैं न? घुस जाते हैं न, अमेरिका में भटकते हैं। हसमुखभाई आये हैं? नहीं आये, नहीं? भावनगर से, कल आये थे, दोपहर में आयेंगे, आज शनिवार है न? कल आये थे दोपहर, कोई कहता था निवृत्ति ले ली, पाँच लाख रुपये बस, समाप्त!

श्रोता : परन्तु हमारे पास भी पाँच लाख होने तो दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाँच लाख क्या, इसके पास करोड़ों पड़े हैं, धूल। आहाहा! गोदिकाजी! पाँच लाख होने दो, कहते हैं। पाँच लाख क्या? पाँच करोड़ होने दो ऐसा। आहाहा! परन्तु पाँच करोड़ हो तो भी कहाँ अब आत्मा में क्या? आहाहा! वह तो परचीज है, परचीज इसके पास आती है। पर को तो तीन काल में कभी स्पर्श नहीं करता, लक्ष्मी को तीन काल में स्पर्श ही नहीं करता। शरीर को तीन काल में स्पर्श ही नहीं करता, स्त्री के शरीर को तीन काल में स्पर्श ही नहीं करता। हाथ में यह पैसा है तो उसे आत्मा तीन काल में छूता ही नहीं। आहाहा!

तीसरी गाथा में आया है न, तीसरी? समयसार! कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने गुण और पर्यायरूपी धर्म को चुम्बन करते है (स्पर्श करते हैं) परन्तु अन्य द्रव्य की पर्याय को कभी तीन काल में चुम्बन नहीं करते। आहाहा! तीसरी गाथा है।

श्रोता : निश्चय से...

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार तो कथनमात्र; है नहीं। निश्चय से स्पर्श नहीं करते, व्यवहार से स्पर्श करते हैं, है? यह निश्चय से स्पर्श नहीं करते — ऐसे परमार्थ से भी स्पर्श नहीं करते, व्यवहार से भी स्पर्श नहीं करते। आहाहा! आहाहा!! कहने में आता है। आहाहा! भगवान ने भी ऐसा व्यवहार से कहा, शरीर और आत्मा एक है — ऐसा व्यवहारनय से कहने में आता है। अपने नहीं आया पहले समयसार में? परन्तु व्यवहार है और निमित्तरूप है तो बताते हैं इतना; परन्तु वह सच्चा नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो दर्शन-ज्ञान और चारित्र जो अपने भगवान के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाली पर्याय है, उसे व्यवहार कहा (क्योंकि) भेद है न? आहाहा! अभी तो आगे लेंगे। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो निश्चय का है, पर्याय है, इस भेद को मेचक कहा है। कलश में आयेगा — मेचक, वह मलिन है। आहाहा! मलिन का अर्थ? कि तीन भेद हैं तो भेद को मलिन कहा जाता है और अभेद को निर्मल कहा जाता है। आहाहा!

एक जानिये देखिये रमि रहिये इक ठौर,
समल विमल न विचारिये, यही सिद्धि नहीं और॥

एक जानिये देखिये... भगवान आत्मा को जानना-देखना और रमना, बस! यही सिद्धि नहीं और, 'समल' व्यवहार का भेद, वह समल कहा जाता है। निश्चय को-अभेद को निर्मल कहा जाता है। समल — निर्मल भेद न विचारिये, यही सिद्धि नहीं और, श्लोक है। गाथा का कलश आयेगा, उसका श्लोक (कवित्त) समयसार नाटक में (बनाया है)। हमारे वीरजीभाई बहुत कहते थे। वीरजी वकील, काठियावाड़ में दिगम्बर शास्त्र का अभ्यास पहले उनको, बहुत वर्ष हुए, ९०-९१ वर्ष में वे तो स्वर्गस्थ हो गये। यह बारम्बार कहते — एक देखिये जानिये.... एक भगवान त्रिलोक के नाथ को देखिये, जानिये, रमिये। बस! समल-विमल न विचारिये, भेद और अभेद का विचार नहीं करना। आहाहा! यही सिद्धि, यही मुक्ति का उपाय है। नहीं और — अन्य उपाय है ही नहीं। आहाहा! लोगों को बातें कठिन लगती हैं। सिद्धान्त ही ऐसा है, वस्तु की स्थिति ऐसी है। लोगों को सुनने को नहीं मिली, (वे) गड़बड़ करते हैं; इसलिए कहीं सत्य हो जाये? और बहुत लोग मानें, इसलिए सत्य हो जाये? सत्य तो सत्य ही है, माननेवाले थोड़े बहुत उसके कारण से वह सत्य नहीं है कि बहुत लोग मानते हैं, इस कारण से वह सत्य है और थोड़े मानते हैं, इसलिए असत्य है — ऐसी कोई चीज नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा.... आहाहा! कल एक हिन्दी (हिन्दी भाषी) दो व्यक्ति थे, गये या नहीं? हिन्दी कोई दो व्यक्ति आये थे, बहुत प्रसन्न होते थे। अपने को अनजान थे, आहाहा! यह बात, सफल जीवन।

श्रोता : मालामाल कर दिया — ऐसा कहते हैं!

पूज्य गुरुदेवश्री : है? कल दो कहते थे, आये थे — शाम को आये थे। वे कहाँ के हैं यह कुछ पता नहीं परन्तु... ओ..हो...! यह वस्तुस्थिति! जिन्दगी को सफल करने की चीज है! वे तो बेचारे प्रसन्न हुए कि हमारा यह अवतार सफल हुआ। आहाहा! अरे! यह प्रभु की बात, आहाहा! भगवान के समीप जाना और दूर से हटना, आहाहा! रागादि -विकल्प से हटना और त्रिकाली आनन्द के नाथ के समीप जाना, आहाहा! यह मार्ग है।

भावार्थ : आत्मा.... **दर्शन, ज्ञान, चारित्र - तीनों आत्मा की ही पर्याय हैं,**

कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं; इसलिए साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन करना यह निश्चय है.... देखो! तीन का (भेद का) सेवन छोड़कर एक का सेवन... आहाहा! **और व्यवहार से दूसरों को भी यही उपदेश करना चाहिए।** आहाहा!

कलश - १६

अब, इसी अर्थ का कलशरूप श्लोक कहते हैं —

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

श्लोकार्थ : [प्रमाणतः] प्रमाणदृष्टि से देखा जाये तो [आत्मा] यह आत्मा [समम् मेचकः अमेचकः च अपि] एक ही साथ अनेक अवस्थारूप ('मेचक') भी है और एक अवस्थारूप ('अमेचक') भी है, [दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रित्वात्] क्योंकि इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तो त्रित्व (तीनपना) है और [स्वयम् एकत्वतः] अपने से अपने को एकत्व है।

भावार्थ : प्रमाणदृष्टि में तीन काल स्वरूप वस्तु द्रव्यपर्यायरूप देखी जाती है, इसलिए आत्मा को भी एक ही साथ एक-अनेकस्वरूप देखना चाहिए ॥१६॥

कलश-१६ पर प्रवचन

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य.... १६ वाँ

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

आहाहा! देखो! **प्रमाणदृष्टि से देखा जाये....** अभेद को भेद को दो को देखने

से — प्रमाण से देखना। प्रमाण अर्थात् अभेद को देखना और भेद को देखना, यह प्रमाणदृष्टि है। प्रमाणदृष्टि से देखा जाये तो **यह आत्मा एक ही साथ अनेक अवस्थारूप ('मेचक') भी है....** आहाहा!

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो आत्मा के अवलम्बन से जो निश्चय हुआ, उसको यहाँ पर्याय है-भेद है, इसलिए मेचक कहा। व्यवहार है, मेल है, आहाहा! भेद पर लक्ष्य करेगा तो राग उत्पन्न होगा। मेचक है, व्यवहार है। आहाहा! क्या कहा? **एक ही साथ अनेक अवस्थारूप....** अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप **और एक अवस्थारूप ('अमेचक') भी है....** अभेद भी है। अनेक अवस्थारूप भी है और एकरूप भी है। एकरूप है वह निश्चय; अनेक अवस्थारूप है वह व्यवहार, दोनों को एक साथ जानना, वह प्रमाण। आहाहा! समझ में आया? ऐसा **क्योंकि इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तो त्रित्व (तीनपना) है और अपने से अपने को एकत्व है।** देखो! यह मेचक है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र से त्रित्व है, वह मेचक है, तीनपना है, व्यवहार है और अपने से एकपने का भाव निश्चय है। आहाहा! समझ में आता है? गाथा अलौकिक थी, सब - १३, १४, १५, १६। शिक्षण शिबिर में १३ से चली है न? आहाहा!

भगवान आत्मा अन्दर एकरूप है तो उसका सेवन, वह निश्चय है और उसकी पर्याय भेद से सेवन कहना, वह मेचक अर्थात् व्यवहार है। राग और व्यवहाररत्नत्रय के सेवन की बात यहाँ है नहीं। यहाँ तो निश्चयरत्नत्रय की सेवना, वह पर्याय है; इसलिए व्यवहार है, इसलिए मेचक है और एक का सेवन, वह अभेद और अमेचक है। एक को सेवन, वह अभेद है, निश्चय है, अमेचक है; पर्यायभेद को सेवन, वह मेचक है, व्यवहार है, अनेक है। आहाहा! इन अनेक अवस्थाओं को भी जानना और एकरूप चीज को भी जानना, वह प्रमाण ज्ञान कहा जाता है। ऐसी भाषा, किस प्रकार की यह? अनजान लोगों को तो अटपटी 'ग्रीक लेटिन' जैसी लगती है, (कि) क्या है यह? अन्य बातें ऐसी सरल होती हैं कि यह करो, यह करो और यह करो और वह करो, हो गया, जाओ। भगवान का ध्यान करो, भगवान का स्मरण करो... आहाहा! धूल में भी नहीं है, वह तो सब विकल्प / राग है। भगवान तो आत्मा है, उसका दर्शन-ज्ञान-चारित्र

में स्मरण करना यह भी भेद है। आहाहा! वह एकरूप से अन्दर में रमण करना, वह अभेद-एक है, यह निश्चय है। आहाहा!

भावार्थ : प्रमाणदृष्टि में तीन काल स्वरूप वस्तु द्रव्यपर्यायरूप देखी जाती है,..... देखो! **भावार्थ : प्रमाणदृष्टि से....** प्रमाण अर्थात् द्रव्य और पर्याय दो का ज्ञान करने से। प्रमाणदृष्टि से **तीन कालस्वरूप वस्तु,...** द्रव्य और पर्याय दोनों देखी जाती है। द्रव्य भी देखा जाता है और पर्याय भी देखी जाती है। **इसलिए आत्मा को भी एक ही साथ एक-अनेकस्वरूप देखना चाहिए।** वस्तुरूप से एक, पर्यायरूप से अनेक; दो को एकसाथ देखना, वह प्रमाणज्ञान है। प्र — माण अर्थात् द्रव्य और पर्याय का माप करनेवाला ज्ञान। आहाहा! प्र — माण = प्रकष्ट से माप करनेवाला। अनेक पर्याय को माप करे वह व्यवहार है, एकरूप का प्रमाण करे वह निश्चय, ये दोनों मिलकर प्रमाण है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें हैं, बापू! वह (एक भाई) कहे यह समयसार पन्द्रह दिन में पढ़ गया! ठीक बापू!

श्रोता : होशियार हो तो पढ़ ले।

पूज्य गुरुदेवश्री : होशियार धूल में है नहीं, आहाहा!

श्रोता : आत्मा में होशियार हो तो पढ़ लेना।

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़े तो भी क्या करे। कहा नहीं था भाई ने — रामजीभाई ने कहा नहीं था। रामजीभाई ने कल, दो रात में पढ़ ले, उसमें क्या? आहाहा! उसका भाव — 'वांचे पण नहीं करे विचार, वे समझे नहीं सघलो सार' — यह हमारे पुस्तक में आता था। ७५ वर्ष पहले पढ़ने में आता था 'वांचे पण नहीं करे विचार....' कवि दलपतराय था वह कहते थे 'वांचे पण नहीं करे विचार...' क्या है? यह क्या कहते हैं? भाव का पता नहीं, 'वे समझे नहीं सघलो सार' कुछ सार नहीं समझे, धूल धाणी... समझ में आया? आहाहा! इसलिए मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा न? समकिती अनुभवी श्रोता है परन्तु रहस्य को जाननेवाला है किस अपेक्षा से कहा? वह जाननेवाला है, निश्चय व्यवहार को जाननेवाला है, अनुभवी, हाँ! आहाहा!

कलश - १७

अब, नय विवक्षा कहते हैं —

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥

श्लोकार्थ : [एकः अपि] आत्मा एक है, तथापि [व्यवहारेण] व्यवहारदृष्टि से देखा जाये तो [त्रिस्वभावत्वात्] तीन स्वभावरूपता के कारण [मेचकः] अनेकाकाररूप (मेचक) है, [दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रिभिः परिणतत्वतः] क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र — इन तीन भावों में परिणमन करता है।

भावार्थ : शुद्धद्रव्यार्थिक नय से आत्मा एक है; जब इस नय को प्रधान करके कहा जाता है तब पर्यायार्थिक नय गौण हो जाता है, इसलिए एक को तीन रूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ। इस प्रकार व्यवहारनय से आत्मा को दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणामों के कारण 'मेचक' कहा है ॥१७॥

कलश - १७ पर प्रवचन

अब, नय विवक्षा कहते हैं.... पहले प्रमाण कहा। द्रव्य और पर्याय दो का ज्ञान एक साथ करना वह प्रमाण है। दो का एक साथ ज्ञान करना, वह प्रमाण है। अब एक का, एक का ज्ञान करना, वह निश्चय है।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥

आहाहा! **आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाए तो तीन स्वभावरूपता के कारण....** तीन स्वभाव, हाँ! यह ज्ञान-दर्शन-चारित्र निश्चयस्वभाव, आहाहा! **तीन स्वभावरूपता के कारण....** तीन अर्थात् तीन प्रकार के। समझ में

आया ? **अनेकाकार** आहाहा ! मेचक.... अर्थात् अनेकाकाररूप मेचक है। तीन दर्शन-ज्ञान और चारित्र यह मेचक है भेद है, व्यवहार है। आहाहा ! कलश-टीका में तो ऐसा कहा है कि मेचक अर्थात् मलिन कहने का व्यवहार है। समझ में आया ? कलश-टीका में है न ? १७ वाँ है न ? १७ वाँ कलश। कलश १७ में आया। देखो ! **व्यवहारएण** गुण-गुणीरूप भेददृष्टि से मलिन है। मेचक का अर्थ ही मलिन किया है, क्या कहा ? समझ में आया ? आहाहा ! पर्यायदृष्टि, पर्याय को देखो, भेद को (देखो) तो कहते हैं, मलिन है। मलिन का अर्थ ? भेद का लक्ष्य करने से विकल्प उत्पन्न होता है। पर्याय का लक्ष्य करने से विकल्प उत्पन्न होता है। मेचक का अर्थ यह किया, १७ वें कलश में। **एकोऽपि व्यवहारेण मेचकः** द्रव्यदृष्टि से यद्यपि जीवद्रव्य शुद्ध है, तथापि गुण-गुणी के भेद की दृष्टि से मलिन है, वह भी किसकी अपेक्षा से ? दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन हैं। सहज गुण जिसके। वह भी कैसा होने से ? जैसे कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन गुणरूप परिणमता है; इसलिए भेदबुद्धि भी घटित है। है, पर्याय है। परन्तु मलिन कहते हैं। आहाहा !

श्रोता : यह व्यवहार अध्यात्म का....

पूज्य गुरुदेवश्री : अध्यात्म का व्यवहार है। यह कलश टीका है, राजमलजी ! आहाहा !

आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो तीन स्वभावरूपता के कारण अनेकाकाररूप.... मेचक का अर्थ अनेकाकार। वहाँ (कलश टीका में) मेचक का अर्थ मलिन (किया है) आहाहा ! और **वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र — इन तीन भावों में परिणमन करता है।** आहाहा ! मेचक, है न ? **क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र — इन तीन भावों में परिणमन करता है।** और तीन रूप से सम्यक् (दर्शन) निश्चय, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, परन्तु तीनरूप परिणमन करता है तो मेचक अर्थात् व्यवहार कहा जाता है। आहाहा ! इस मलिन का यह अर्थ है। भेद कहो, मेचक कहो, व्यवहार कहो, मलिन कहो। भगवान त्रिकाली को अभेद कहो, निश्चय कहो, अमेचक कहो, निर्मल कहो, ऐसा है भाई ! कठिन बात है भाई ! यह अध्यात्म का व्यवहार ! आहाहा ! व्रत, दया, दान आदि का विकल्प तो असद्भूत व्यवहार, आगम का

व्यवहार (है)। आहाहा! यह अध्यात्म का व्यवहार! निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को व्यवहार कहो, अनेकाकार कहो, मलिन कहो, मेचक कहो। आहाहा! है?

भावार्थ : शुद्धद्रव्यार्थिक नय से आत्मा एक है; जब इस नय को प्रधान करके कहा जाता है, तब पर्यायार्थिक नय गौण हो जाता है,.... दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों हैं; गौण हो जाता है। **इसलिए एक को तीन रूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ।** आहाहा! निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपने -तीनपने कहना, व्यवहार हुआ, असत्यार्थ हुआ। आहाहा!

श्रोता : मेचक हुआ अर्थात् राग हुआ-मलिन हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, ऐसा नहीं है। इसे कहने का व्यवहार ऐसा है बस! आहाहा! समझ में आया? भेद है, उसको मलिन कहने का व्यवहार (है)। है तो तीनों निर्मल पर्याय परन्तु तीन प्रकार का भेद कहना, वह व्यवहार मलिन कहने में आया? आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : स्वच्छन्दता की तरह तो नहीं लगता — ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसके जैसा?

श्रोता : स्वच्छन्दता जैसा तो नहीं लगता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चलता है, उसमें ध्यान रखो तो सब आ जाएगा। यह पूछने का प्रसंग रहता ही नहीं — ऐसी बात स्पष्ट आती है। आहाहा! यहाँ तो द्रव्यार्थिक से स्वरूप जो एकरूप चैतन्य है, उसको पर्यायार्थिकनय से तीन भेदरूप कहना — निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पर्यायरूप से कहना वह व्यवहार है और उसे मलिन कहा जाता है। भेद की अपेक्षा से मलिन कहा जाता है। (विशेष कहेंगे!)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १८

अब, परमार्थनय से कहते हैं —

(अनुष्टुभ्)

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥

श्लोकार्थ : [परमार्थेन तु] शुद्ध निश्चयनय से देखा जाये तो [व्यक्त-ज्ञातृत्व-ज्योतिषा] प्रगट ज्ञायकत्वज्योतिमात्र से [एककः] आत्मा एकस्वरूप है [सर्व-भावान्तर-ध्वंसि-स्वभावत्वात्] क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिक नय से सर्व अन्यद्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से होनेवाले विभावों को दूर करनेरूप उसका स्वभाव है, इसलिए वह 'अमेचक' है — शुद्ध एकाकार है।

भावार्थ : भेददृष्टि को गौण करके अभेददृष्टि से देखा जाये तो आत्मा एकाकार ही है, वही अमेचक है ॥१८॥

प्रवचन नं. ७७ कलश १८-१९, गाथा-१६ दिनाङ्क ०३-०९-१९७८
भाद्र शुक्ल ९, वीर निर्वाण संवत् २५०४

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥

क्या कहते हैं? **शुद्ध निश्चयनय से देखा जाये तो प्रगट...** व्यक्त.... अर्थात् प्रगट ज्ञायकस्वभाव ज्योतिमात्र से आत्मा एक स्वरूप है। आहाहा...! अन्तर्दृष्टि से शुद्धनय से देखने पर ज्ञायक व्यक्त/प्रगट ज्ञायकस्वभाव एक नजर में-दृष्टि में आता है। आहाहा! शुद्ध निश्चयनय से देखा जाये तो **व्यक्त-ज्ञातृत्व-ज्योतिषा** व्यक्त अर्थात् **प्रगट ज्ञायकत्वज्योति.....** भाव, अकेला ज्ञायकमात्र आहाहा...! यह ज्ञान की प्रधानता से कथन है परन्तु है अनन्त... अनन्त... अनन्त गुण; उन अनन्त गुणों का अन्त नहीं, इतना ज्ञायकस्वभावमात्र आत्मा, अन्तर्मुख देखने से एकरूप ज्ञायकमात्र प्रगट देखने में

अर्थात् श्रद्धा में आता है। आहाहा! उसका नाम सम्यग्दर्शन है। एक आत्मा, एक स्वरूप है। आहाहा!

सर्व-भावान्तर-ध्वंसि-स्वभावत्वात् क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिक नय से.... अन्तर्मुखस्वभाव की दृष्टि से देखने से.... आहाहा! अमाप... अमाप गुण का भण्डार भगवान (है), उसकी-शुद्धद्रव्य की दृष्टि से... अन्तर में एकरूप... यद्यपि वहाँ गुण का अन्त नहीं है, उसमें इतने गुण हैं कि गुण का अन्त नहीं है कि यह अनन्त... अनन्त में की अन्तिम अनन्त का यह अन्त है — ऐसा नहीं है और अन्त के अनन्त में यह अन्त का अंश है — ऐसा भी नहीं है। आहाहा! प्रगट, व्यक्त अर्थात् प्रगट, अन्तर ज्ञायकज्योति अन्तर्मुख एकरूप देखने से **अन्य द्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से होनेवाले विभावों को दूर करनेरूप उसका स्वभाव है,....** आहाहा!

क्या कहते हैं **सर्व-भावान्तर-ध्वंसि-स्वभावत्वात्** भगवान पूर्णानन्द का नाथ स्वभाव के, आश्रय से दृष्टि होने से यह उसका स्वभाव, रागादि विभाव का नाश करने का स्वभाव है। रागादि को-व्यवहाररत्नत्रय को उत्पन्न करना, वह उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु वह व्यवहार रागादि है, वे भगवान ज्ञानस्वरूप... आहाहा! अगाध अगाध शक्ति का भण्डार प्रभु वह... आहाहा! व्यक्त प्रगट ज्ञातृ है। उसका स्वभाव, विभाव का नाश करने का स्वभाव है। व्यवहाररत्नत्रय का राग उत्पन्न करने का तो स्वभाव नहीं परन्तु उसका नाश करने का स्वभाव है। आहाहा!

बहुत बात.... अभी तो यह चलता है कि व्यवहार करो, व्रत, तप, भक्ति, पूजा (करो), वह निश्चय को प्राप्त करायेगा। अरे प्रभु! आहाहा! (जहाँ) निश्चय वस्तु है वहाँ राग का स्पर्श नहीं। आहाहा! अन्तरवस्तु एक समय में परिपूर्ण अनन्त धर्म अर्थात् गुण के समुदायरूप एकरूप है। आहाहा! तीन — दर्शन, ज्ञान, चारित्र — की पर्यायरूप परिणमना — ऐसे देखना, वह तो व्यवहार है, और उसको मलिन कहने का व्यवहार है। आहाहा! क्यों? कि नय के अधिकार में आया है न! नय में अन्त में नहीं शुद्ध-अशुद्ध? आहाहा! मिट्टी में उसके अनेक बर्तन की पर्याय से देखो तो वह अशुद्धनय से है, आहाहा! और मिट्टी का एकरूप देखो तो शुद्धनय से है। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा की दर्शन-ज्ञान-

चारित्र की निर्मलपर्याय... आहाहा! पर्याय से देखो तो वह अशुद्धनय है, आहाहा! वहाँ मेचक कहा था, न दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ? भाई! मार्ग बहुत अलग है। प्रभु! बाहर के उत्साह और हर्ष में जगत अनादि से चला जा रहा है। इस व्यवहाररत्नत्रय के उत्साह में भी... उसको निश्चय के बिना व्यवहार तो है नहीं परन्तु वह मानता है कि हमारे व्यवहार है। व्रत, तप, भक्ति, कषाय — शुभभाव जोरदार इतना चले... आहाहा! प्रभु! यह तो यहाँ कहते हैं कि वह तो राग है, अशुद्धता की उत्पत्ति है, उसकी तो यहाँ बात है ही नहीं परन्तु एकरूप भगवान आत्मा, यदि परमार्थ से देखा जाये तो उसका स्वभाव ऐसा है कि भेद का-अशुद्ध का नाश करने का स्वभाव है। आहाहा!

दूसरी दृष्टि से कहें तो इस पर्याय — दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय — से देखो तो वह अशुद्धनय है। आहाहा! यहाँ राग की बात नहीं है, मात्र भगवान एकरूप अनन्त गुण का व्यक्त/प्रगटरूप स्वरूप की दृष्टि से देखो तो वह एकरूप है और उस अपेक्षा से निर्मल है, अभेद है; आहाहा! वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है। जबकि यह दर्शन-ज्ञान और चारित्ररूप परिणमे, वह व्यवहारनय का विषय है, वह अशुद्धनय का विषय है, वह भेदरूप नय है। वह तो मलिनता कही गयी है। आहाहा! गजब बात है!

श्रोता : प्रयोजनभूत बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हैं ? आहाहा! और भगवान एकरूप त्रिकाल है, उस पर अन्तर की दृष्टि लगाने से द्रव्यार्थिकनय — द्रव्य अर्थात् अखण्ड पूर्ण वस्तु.... अभेद का अर्थ यहाँ अखण्ड एक वस्तु की दृष्टि से देखो तो एकरूप स्वरूप है, उसमें तीन भेद जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिणमन वह भेद, उसमें नहीं आते। आहाहा! वह भेद भी जहाँ गौण हो जाते हैं — अपनी निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय भी त्रिकाली को देखने से... वह निर्मलपर्याय भी व्यवहार-गौण हो जाती है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है भाई! इस प्रकार न जँचे... स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा! अशुद्धरूप से परिणमना, उसकी तो बात ही कहाँ रही ? आहाहा! व्रत, तप, भक्ति और पूजा — यह परिणाम तो अशुद्ध है। आहाहा! यहाँ तो शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा अपनी पर्याय में दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमे तो उसे भी अशुद्धनय का विषय कहा गया है। आहाहा! ऐसी बात है। उसे मेचक कहा है, उसे व्यवहार कहा है। आहाहा!

यह प्रवचनसार की ४६ और ४७ नय है, चार और छह तथा चार और सात.... पहला अशुद्ध (नय) है। आहाहा! आत्मा को एकरूप देखना, वह शुद्धनय अर्थात् यथार्थदृष्टि है तथा पर्यायभेद से (अर्थात्) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पर्यायभेद से देखना, वह अशुद्धनय है, उसे यहाँ मेचक कहा है। अरे, ऐसी बातें हैं बापू! आहाहा! लोगों का विवाद तो अभी बाहर का है। व्यवहार, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, इतना परीषह सहन करे और उससे यह सब प्राप्त करेगा। आहाहा!

श्रोता : सब बाहर की बातें हैं अन्दर का कुछ नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर की बातें... अन्तर का नाथ, स्वभाव का सागर एकरूप को देखने से यह सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! उस त्रिकाली शुद्ध को देखने से (सम्यग्दर्शन होता है) अभेद कहो या शुद्ध कहो; द्रव्य कहो, अभेद कहो, शुद्ध कहो, द्रव्यार्थिकनय का विषय कहो, (सब एकार्थ हैं)। आहाहा! उसकी दृष्टि से भगवान एकरूप है, वह वस्तुस्वभाव विभाव का नाश करने का स्वभाव है; विभाव की उत्पत्ति करने का उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! गजब बात है! समझ में आया? अखण्ड एक स्वभाव की दृष्टि में... एक स्वभाव, वह विभाव का नाश करने का उसका स्वभाव है। है, देखो?

सर्व-भावान्तर... भावान्तर अर्थात् अपने भाव के अतिरिक्त अन्य भाव, भेदभाव, अशुद्धभाव, रागभाव आदि। आहाहा! अरे! दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय भेदभाव (है)। आहाहा! है? **सर्व-भावान्तर...** अपने ज्ञायकभाव से अन्तर-अन्य, आहाहा! अपना ज्ञायक स्वभाव / स्वरूप एकरूप से अन्य... राग या भेदभाव... आहाहा! **भावान्तर-ध्वंसि-स्वभावत्वात्** उसका तो नाश करने का स्वभाव है। आहाहा! प्रभु! तब व्यवहार से निश्चय होता है, यह बात तो बड़ा मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? श्लोक बहुत अच्छा आया है। आहाहा! बहुत भरा है, ओहोहो!

अन्तर्मुखदृष्टि से देखने से एकरूप देखने में आता है और वह एकरूप दृष्टि हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन और वह स्वभाव एकरूप जो दिखता है, उसका स्वभाव ऐसा है कि भेद को और अशुद्धता को नाश करने का स्वभाव है। आहाहा! यह अखण्ड, अभेद और शुद्ध जो स्वभाव है, वह भेद को और राग को उत्पन्न करे — ऐसा तो उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! गजब बात करते हैं।

पुण्य और पुण्य का परिणाम, व्यवहाररत्नत्रय, व्रत, तप, भक्ति, पूजा और गजरथ... आहाहा! ऐसा शुभभाव... उसका स्वभाव भगवान का एकरूप है, वह भेद-अशुद्धता का नाश करने का स्वभाव है, वह तो ठीक, परन्तु उस एकरूप स्वभाव की दृष्टि से, एकरूप स्वभाव, दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो भेद है, उसका भी अभाव करने का स्वभाव है। आहाहा! भेद का भी नाश करने का स्वभाव है। आहाहा! ऐसी बात है। अरे...रे! गाथा बहुत अलौकिक है!!

परमार्थेन, परमार्थ से अर्थात् यह पर का परमार्थ करना वह? आहाहा!

श्रोता : त्रिकाल स्वभाव का स्वीकार करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : परमार्थ अर्थात् परमपदार्थ की दृष्टि से... ऐसा। परमपदार्थ भगवान पूर्णानन्द अनन्त आनन्द का कन्द वह, आहाहा! परमपदार्थ की दृष्टि से देखने पर, आहाहा! यह प्रगट ज्ञायक ज्योतिमात्र आत्मा एकस्वरूप है। आहाहा! शुद्ध को देखने से, अभेद को देखने से, आहाहा! वह एकरूप स्वभाव है। एकरूप कहो, शुद्ध कहो, अभेद कहो (सब एकार्थ हैं)। आहाहा! और वह शुद्ध स्वभाव, एकरूप स्वभाव का-अशुद्धता का पर्याय भेद का भी अभाव करने का स्वभाव है — ऐसा मार्ग लोगों को कठिन पड़ता है, क्या हो भाई? इसमें बड़ा विवाद खड़ा हुआ है न भाई! प्रभु का मार्ग! आहाहा!

वीतरागस्वभावरूप से शुद्ध अखण्ड प्रभु व्यक्त प्रगट पड़ा है न! आहाहा! उसको देखने से एकरूप ही है और एकरूप द्रव्य का स्वभाव, अनेकरूप अशुद्धता और भेद का नाश करने का स्वभाव है। आहाहा! क्योंकि अभेद की-एक की दृष्टि में भेद देखने में नहीं आता; इस कारण भेद का भी अभाव करने का स्वभाव है। आहाहा! ऐ...ई...! क्या भेद? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय, वह भेद। आहाहा! वह अशुद्धनय का विषय है। अशुद्धनय कहो, व्यवहार कहो, मेचक कहो; उसे मलिन कहने का व्यवहार कहो। आहाहा! भगवान एकरूप स्वभाव जो त्रिकाल (है), उसे शुद्ध कहो, निर्मल कहो, एक कहो, द्रव्यार्थिकनय का विषय कहो। आहाहा! यह शुद्धनयस्वरूप कहो — यह उसका स्वभाव... आहाहा! उसकी दृष्टि करने से, ऐसे पूर्ण स्वभाव का आश्रय लेने से, पूर्ण स्वभाव का अवलम्बन लेने से, पूर्ण स्वभाव का एकरूप का

स्वीकार करने से... आहाहा! ऐसी कठिन चीज है। यह भेद-सर्व भावान्तर है न? सर्व भावान्तर, अपने अभेद स्वभाव के अतिरिक्त... आहाहा! सर्व भावान्तर (अर्थात्) अपने ज्ञायक एकरूप भाव से अन्य भाव अशुद्ध और पर्यायभेद, सबका नाश करने का स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? अलौकिक बात है प्रभु! अन्दर इस चैतन्य की लीला अलौकिक है। आहा! आहा!

जिसकी पर्याय अन्तर्मुख होने से अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण का पिण्ड प्रभु, जिस गुण का अन्तिम-आखिर का यह — ऐसा नहीं। (असीम गुणस्वरूप है), उसका सम्यग्ज्ञान पता ले लेता है। क्या कहा यह? बापू! ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का पठन और वह कोई ज्ञान नहीं। आहाहा! अन्तर जो अखण्ड अभेदस्वरूप है, (उसका) ज्ञान हुआ, वह ज्ञान की पर्याय अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... ऐसे गुण का प्रकार, जिसका अन्त नहीं, गुण की संख्या का — ऐसा अनन्त का, ज्ञान की पर्याय अन्त ले लेती है। अन्त अर्थात् उसका ज्ञान कर लेती है। आहाहा! समझ में आया?

भाई! अभी तो मार्ग बहुत गड़बड़ हो गया है। अभी तो यह चोर कोतवाल को डण्डे — ऐसा हो गया है। आहाहा! प्रभु! सत्य तो यह है न नाथ! आहाहा! तेरा साहिब अन्दर अनन्त आनन्द के गुणादि से भरपूर प्रभु है न नाथ! आहाहा! इस तेरे साहिब की सम्पदा का क्या कहना, क्या कहना! प्रभु! तेरी सम्पदा और तेरे गुण की संख्या का क्या कहना!! आहाहा! ऐसे एकरूप अनन्त गुण होने पर भी, भेद की दृष्टि न करने से, आहाहा! एकरूप अभेद की दृष्टि करने से... यह शुद्ध कहो, उसको अभेद कहो, उसको एक कहो, उस अभेद एक और शुद्ध दृष्टि अथवा अभेद शुद्ध और एक स्वभाव, अशुद्धता और अनेक भाव का नाश करने का उसका स्वभाव है। आहाहा! भले पर्याय है परन्तु उसे गौण कर देने का उसका स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? शशीभाई! ऐसा है स्वरूप, भाई! आहाहा!

श्लोक बहुत अलौकिक है! इसमें विशेष क्या आया? **सर्व भावान्तरच्छिदे,** आहाहा! भगवान अन्दर गुण-गुणी के भेद से भी रहित अभेद, एक शुद्ध द्रव्य जिसका प्रयोजन है, ऐसे नय से देखो तो... आहाहा! वह स्वभाव एकरूप है — ऐसी दृष्टि हुई तो सम्यग्दर्शन हुआ। आहाहा! सम्यक् अर्थात् सत्यदर्शन हुआ, क्योंकि अभेद वस्तु है ही;

वह शुद्ध है, एक है — ऐसी दृष्टि हुई तो वह सम्यक्/सत्यदृष्टि हुई। आहाहा! और राग की दृष्टि है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, उससे लाभ माननेवाला तो... उसका — ज्ञान-दर्शन-चारित्र का निर्मल पर्याय का भेद का लक्ष्य है, वह अशुद्धता और व्यवहार कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात है भाई! भगवान पूर्णानन्द का नाथ एकरूप स्वरूप... आहाहा! चैतन्य रत्नाकर, चैतन्य के अनन्त रत्नों का 'आकर' अर्थात् समुद्र, वह व्यक्त अर्थात् प्रगट वस्तु है, उस पर दृष्टि देने से एक रूपता दृष्टि में आती है और वह एकरूप का स्वभाव, अभेद का स्वभाव, शुद्ध का स्वभाव, वह अपना अभेदभाव स्वभाव के अतिरिक्त — अन्य भाव के अभाव करने का स्वभाव है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

श्लोक बहुत (गम्भीर है) ! ओहो! सन्तों ने थोड़े शब्दों में सारा समुद्र भर दिया है, गागर में सागर भर दिया है!! आहाहा! सागर का चित्र बनाकर गागर में डाले, वह कोई सागर नहीं। आहाहा! थोड़े शब्दों में अन्दर सारा सागर भर दिया है। प्रभु! तेरा पार नहीं। प्रभु! तू ऐसा है न नाथ! तेरे गुण का पार नहीं, इतने गुण होने पर भी इसे व्यक्त एकरूप कहने में आता है। समझ में आया? आहाहा! दर्शन, चौदहवीं गाथा में दर्शन का अधिकार हुआ। पन्द्रह में ज्ञान का, (सोलह में) दर्शन-ज्ञानसहित यह स्थिरता का अधिकार है। आहाहा! यहाँ भगवान एकरूप है — ऐसी दृष्टि हुई, वहाँ स्थिरता करना है। उस एकरूप स्वभाव में स्थिरता और रमणता करना है। अत: अभी एकरूप स्वभाव दृष्टि में नहीं आया, उसे स्थिरता कहाँ करना? आहाहा! तो उसे चारित्र तो कहाँ से आता है? यहाँ ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अनन्त... अनन्त धर्मस्वरूप भगवान एकरूप, एकरूप दृष्टि में आया नहीं, वेदन में आया नहीं, अनुभव में आया नहीं तो उसमें रमना... वह चीज तो दृष्टि में आयी नहीं तो रमना कहाँ से होगा? आहाहा! तथापि..... उस स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता — तीन भेद का लक्ष्य करना, वह भी अशुद्धनय का विषय है। आहाहा! इस अशुद्धनय के विषय का अभाव करना, एकरूप स्वभाव का स्वभाव है। आहाहा! आहाहा!

अन्य द्रव्य के स्वभाव और अन्य द्रव्य के निमित्त से होनेवाले विभाव को दूर करने रूप उसका स्वभाव है, इसलिए वह अमेचक है। कौन? त्रिकाली ज्ञायकभाव

अमेचक है, एक है, शुद्ध है। आहाहा! और पर्याय के भेद अनेक हैं, अशुद्ध हैं, व्यवहार हैं, मलिन कहे जाते हैं। आहाहा! यह वाणी कहाँ है भाई! दिगम्बर सन्त तो केवलज्ञान के मार्गानुसारी (है, उन्होंने) केवलज्ञान को खड़ा रखा है। आहाहा! तीन बोल लिये — अमेचक है, शुद्ध है, एकाकार है — ऐसा। पर्यायभेद, वह अशुद्ध है, अनेक है, अनेकाकार है। आहाहा! क्या अनेक? दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्यायरूप से तीन रूप होना, वह अशुद्ध है, अनेकाकार है। आहाहा! एक नहीं अनेक है, व्यवहार है। गजब बात है प्रभु! आहाहा! राजमल्ल की टीका में तो मेचक, मलिन कहने का व्यवहार है। ऐसा कहा है। आहाहा! आहाहा! श्लोक बहुत ऊँचा है! भाग्यशाली को तो इसके अर्थ कान में पड़ें ऐसी बात है!! आहाहा! इसमें विवाद और वाद-विवाद से कहाँ पार पड़ेगा।

श्रोता : यह तो अन्तर में समा जाने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! जहाँ यहाँ अन्दर स्वरूप जो एकरूप है, उसको एकरूप, शुद्ध और अभेद कहा। यह ज्ञान, दर्शन, चारित्र की निर्मल पर्यायरूप परिणमे, उसे भी अशुद्ध, व्यवहार, मेचक, मलिन (कहा है)। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ : भेददृष्टि को गौण करके.... ऐसा कहा। नाश करने का अर्थ गौण करके (— ऐसा किया है)। समझ में आया? दर्शन, ज्ञान, और चारित्र की पर्याय का भेद है तो उसे गौण कर दिया। अखण्ड ज्ञायकभाव की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं। गौण कर दिया। आहाहा! नाशवान कहा न? स्वभाव ऐसा है कि भेद को और अन्य को नाश करने का... उसका अर्थ किया है कि नाश करने का अर्थ क्या? समझ में आया? कि **भेददृष्टि को गौण करके....** ऐसा। आहाहा! निर्मल पर्याय — ज्ञान, दर्शन, चारित्र की है परन्तु उसको गौण करके... आहाहा! उसको — त्रिकाली स्वभाव — नाश करने का स्वभाव — ऐसा कहा जाता है। गौण करने का अर्थ? उसकी कोई गिनती नहीं। आहाहा! गिनती में लेने की चीज तो यह अखण्ड आनन्द शुद्ध एक ही है। आहाहा! आहाहा!

ऐसा मार्ग! वस्तु का स्वरूप ऐसा है, पर्याय को गौण किये बिना द्रव्य की दृष्टि होगी ही नहीं और द्रव्य की दृष्टि हुई, वहाँ सम्यग्दर्शन आदि पर्याय भी गौण हो जाती है

क्योंकि अभेद में भेद नहीं दिखते। आहाहा! यह सातवीं गाथा (में विषय आया है)। **भेददृष्टि को गौण करके अभेददृष्टि से देखा जाये तो आत्मा एकाकार ही है,....** शुद्ध है, एक है, अभेद है, निश्चय है, वही अमेचक है, वह निर्मल है। आहाहा! कठिन काम भाई!

कलश - १९

आत्मा को प्रमाण-नय से मेचक, अमेचक कहा है, उस चिन्ता को मिटाकर जैसे साध्य की सिद्धि हो वैसा करना चाहिए, यह आगे के श्लोक में कहते हैं —

(अनुष्टुभ्)

आत्मनश्चित्यैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा॥१९॥

श्लोकार्थ : [आत्मनः] यह आत्मा [मेचक-अमेचकत्वयोः] मेचक है — भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है — अभेदरूप एकाकार है [चिन्तया एव अलं] ऐसी चिन्ता से तो बस हो। [साध्यसिद्धिः] साध्य आत्मा की सिद्धि तो [दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः] दर्शन, ज्ञान और चारित्र — इन तीन भावों से ही होती है, [न च अन्यथा] अन्य प्रकार से नहीं (यह नियम है)।

भावार्थ : आत्मा के शुद्ध स्वभाव की साक्षात् प्राप्ति अथवा सर्वथा मोक्ष वह साध्य है। आत्मा मेचक है या अमेचक, ऐसे विचार ही मात्र करते रहने से वह साध्य सिद्ध नहीं होता, परन्तु दर्शन अर्थात् शुद्ध स्वभाव का अवलोकन, ज्ञान अर्थात् शुद्ध स्वभाव का प्रत्यक्ष जानना और चारित्र अर्थात् शुद्ध स्वभाव में स्थिरता से ही साध्य की सिद्धि होती है। यही मोक्षमार्ग है, अन्य नहीं।

व्यवहारीजन पर्याय में-भेद में समझते हैं, इसलिए यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र के भेद से समझाया है॥ १९॥

कलश-१९ पर प्रवचन

आत्मा को प्रमाण-नय से मेचक, अमेचक कहा है,.... क्या कहते हैं? त्रिकाली की दृष्टि से अमेचक है, पर्यायदृष्टि से मेचक है, दोनों ही प्रमाण से मेचक अमेचक दोनों कहा, प्रमाण अर्थात् दोनों को जाननेवाले प्रमाण से मेचक-अमेचक कहा **उस चिन्ता को मिटाकर....** आहाहा! वह भी विकल्प है-पक्ष है। आहाहा! **जैसे साध्य की सिद्धि हो....** आहाहा! मोक्ष, साध्य की सिद्धि हो ऐसे स्वरूप की एकाग्रता करना। आहाहा! ऐसा करना चाहिए, यह आगे के श्लोक में कहते हैं।

आत्मनश्चित्यैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा॥१९॥

यह श्लोक पहले कहा था। 'एक जानिये देखिए रमि रहिये इक ठौर!' आहाहा! एक जानिये देखिए रमि रहिये इक ठौर। आहाहा! समल विमल न विचारिये यही सिद्धि नहीं और। इस श्लोक का अर्थ है। यह श्लोक है न, उसका अर्थ। देखो, यह आया, बीसवाँ है न? परन्तु इसमें बीसवाँ लिया है। फिर इसमें आता है न इसलिए...

'एक जानिये देखिए रमि रहिये इक ठौर!' समल विमल न विचारिये... समल अर्थात् भेद, निर्मल अर्थात् अभेद। आहाहा! समल विमल न विचारिये। आहाहा! यही सिद्धि नहीं और। इसके अतिरिक्त अन्यथा कोई सिद्धि/मुक्ति नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

यह आत्मा मेचक... अमेचक कहा है। मेचक अर्थात् भेदरूप। मेचक कहो, भेद कहो, पर्याय कहो, अशुद्धता कहो, अनेकाकार कहो और अमेचक कहो। अभेद कहो, एकाकार कहो, शुद्ध कहो, एकरूप कहो, **ऐसी चिन्ता से 'अलम्' — ऐसी चिन्ता से बस हो।** आहाहा! ऐसे विकल्प की भेद की, अभेद की चिन्ता से बस होओ। 'अलम्' प्रभु! उससे कुछ लाभ नहीं है। आहाहा! आहाहा! है? अभेदरूप एकाकार **चिन्तया — ऐसी चिन्ता से बस हो। साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र — इन तीन भावों से ही होती है,....** परिणमन से — ऐसा कहते हैं। व्यवहार बतलाया न फिर? दर्शन, ज्ञान, चारित्र का परिणमन... परिणमन का विचार, यह अभेद है और शुद्ध है, यह भेद है और अशुद्ध है — ऐसे विकल्प से बस होओ। आहाहा!

अब ऐसा उपदेश! लोगों को फुरसत नहीं मिलती, पूरे दिन काम। अब ऐसा उसे समझना, वह कब समझे? आहाहा! निवृत्ति, क्या कहते हैं? फुरसत, फुरसत नहीं, २०-२२ घण्टे धन्धा और व्यापार और पाप में पूरे दिन होंश और हर्ष, पैसे में, स्त्री में, पुत्र में, धन्धे में.... आहाहा! उत्साह... उत्साह... ऐसा मानो, आहाहा! कहीं आत्मा का घात (हिंसा) हो जाये पता नहीं। आहाहा! 'पर की हरखूं होंशिडा मत होंश न कीजे' एक सज्झाय आती है, वह चार सज्झायमाला है न? उसमें आता है। पर में होश मत कर, प्रभु! पर में प्रसन्न मत हो। आहाहा! तेरा आनन्द का नाथ पड़ा है, वहाँ जा न प्रभु! आहाहा! वहाँ तेरे आनन्द का उत्साह आयेगा, आनन्द का अनुभव होगा। आहाहा!

बाहर में भटका भटक करते हैं। यहाँ से यह प्रसन्न, यह प्रसन्न, पैसा मिला, इज्जत मिली, कीर्ति मिली, सुन्दर शरीर, और लड़के मिले - आठ-आठ, दस-दस, बारह-बारह लड़के... आहाहा! दो-दो वर्ष में एक होवे तो चौबीस वर्ष में बारह, बारह लड़के!

श्रोता : बारह भाया!

पूज्य गुरुदेवश्री : बारह भाया है न, हमारे बीछिया में है। बीछिया में है। बारह भाया! दो-दो वर्ष में लड़का होवे तो चौबीस वर्ष में बारह। बीस वर्ष में विवाह किया हो, वहाँ तो ४४-४५ वर्ष में तो बारह लड़के हो जायें... धूलधाणी और वापाणी है! आहाहा!

श्रोता : अनन्त भव से यह किया होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही किया है। ऐसे जरा से में पैसे होवें, और उत्साह और पुत्र कमावे होश और हर्ष....

श्रोता : लड़के कमावें और खेत में से उपज आवे....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में है नहीं, क्या कमाये? आहाहा! लड़का किसका? पैसा किसका? खेत किसका? आहाहा! इज्जत-गुडविल और नाक लम्बा है। काट डालनेवाले हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं,... भाषा कैसी प्रयोग की है? **मेचक है — भेदरूप और अनेकाकार...** पर्याय के भेद, वे भेदरूप अनेकाकार और मेचक / मलिन। **अमेचक...**

अर्थात् **अभेदरूप और एकाकार है....** निर्मल ऐसा, ऐसा लेना। यह **चिन्तया एव अलं — ऐसी चिन्ता से तो बस हो।** इस **साध्य आत्मा की सिद्धि तो....** आहाहा! स्वभाव के आश्रय से दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमना, वह मुक्ति का उपाय है। आहाहा! सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का ध्येय (लक्ष्य) बनाकर द्रव्य को.... आहाहा! अभेद को, अमेचक को ध्येय बनाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमना, निर्मल सम्यक्, हाँ! निश्चय; व्यवहार की यहाँ बात नहीं है। आहाहा! निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और चारित्र तीन भावों से वह होता है; अन्य प्रकार से नहीं। इस व्यवहार की क्रिया से और भेद से तथा रागादि से मुक्ति नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

किसी जगह व्यवहाररत्नत्रय का भिन्न साध्य साधन कहा हो परन्तु वह तो साधन का ज्ञान कराया है। आहाहा! वहाँ पकड़ते हैं देखो! भिन्न साध्य-साधन कहा है। अरे प्रभु! सुन तो सही भाई! वह तो राग की मन्दता की योग्यता थी तो ऐसा ज्ञान कराया। यह तो सैंतालीस नय में भी ऐसा आया है — व्यवहारनय से होता है, क्रियानय से मुक्ति होती है (तथा) ज्ञाननय से मुक्ति होती है। अरे प्रभु! आहाहा! यह तो एक ही समय में ऐसी योग्यता गिनने में आयी है। किसी को ज्ञान से (मुक्ति) होती है और किसी को क्रियानय से होती है - ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? वहाँ तो कालनय से भी मुक्ति होती है और अकालनय से भी होती है (ऐसा भी आया है) तो किसी को कालनय से और किसी को अकालनय से (मुक्ति होती है) ऐसा है वहाँ? यह तो एक व्यक्ति को... आहाहा! अपने स्वकाल से होती है और अकाल अर्थात् स्वभाव तथा पुरुषार्थ से होती है, वह अकाल। आहाहा! समझ में आया?

मार्ग बहुत सूक्ष्म है भाई! आहाहा! **अन्य प्रकार से नहीं (यह नियम है)।** अपने शुद्ध द्रव्य को ध्येय बनाकर, एक अमेचक शुद्ध को ध्येय बनाकर जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में परिणमना, वही मोक्ष का मार्ग है। यह पर्याय से समझता है तो पर्याय से समझाया है। समझ में आया? यह लिखेंगे... आहाहा! भावार्थ (में) यह आगे लिखेंगे। व्यवहारीजन पर्याय और भेदरूप से समझते हैं, इसलिए यहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र भेद से समझाया है। है न नीचे? हाँ, अन्त में यह क्या कहा? फिर ऐसा कहते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप

परिणमना, वह तो भेद कहा है कि लोग भेद से समझ सकते हैं, इस अपेक्षा से कहा है। आहाहा! वरना समझाना तो अभेद है। आहाहा! आहाहा!

एक बहिन... कहा था न एक बार? जवान सुन्दर बहिन थी, इसमें उसे शीतला निकली शीतला। शीतला समझते हैं? (श्रोता : चेचक) हाँ, वह। वह दाने-दाने कीड़े... लाठी में, उसके पति की दूसरी स्त्री थी। पहली मर गयी थी यह दूसरी विवाही थी, दो वर्ष का विवाह, उसमें यह कीड़े पड़े। आहाहा! वह तड़ाईने, तड़ाई क्या कहते हैं? गद्दी, गद्दी ऐसे फेरे तो हजारों कीड़े, ऐसे फिरे तो हजारों कीड़े और पीड़ा... पीड़ा...! अपनी माँ से कहे माँ, मैंने इस भव में ऐसे पाप नहीं किये, मुझसे सहन नहीं होता, सोया नहीं जाता, बैठा नहीं जाता। आहाहा! देह छूट गयी। अमुक समय रही, (उस) समय पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा...!

अरे प्रभु! तूने अनन्त बार ऐसा सहन किया है। सम्यग्दर्शन बिना (सहन किया है) आहाहा! ऐसे अनन्त भव, प्रभु! कल भाई ने नहीं गाया था? तेरे दुःख को देखकर ज्ञानियों को भी रूदन आया है। आहाहा! भाई! तुझे इतने दुःख हुए। आहाहा! नरक में, निगोद में, उस दुःख को देखकर ज्ञानियों को आँसू आते हैं। अरर! यह क्या? करुणा आती है, कहते हैं। आहाहा! भाई! तुझे बचने का उपाय तो यह एक है। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द के नाथ का आश्रय ले, तेरी सिद्धि होगी, दुःख का नाश होगा। आहाहा! दूसरा कोई उपाय है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ : आत्मा के शुद्ध स्वभाव की साक्षात् प्राप्ति अथवा सर्वथा मोक्ष वह साध्य है। देखो, साध्य! यह व्याख्या यहाँ की। द्रव्य ध्येय वह यहाँ अभी नहीं लेना है। आत्मा की-शुद्धस्वभाव की साक्षात् प्राप्ति अर्थात् क्या? शुद्ध स्वभाव तो है, शुद्धस्वभाव तो है, पर्याय में साक्षात् प्राप्ति होना... आहाहा! समझ में आया? **शुद्ध स्वभाव की साक्षात्....** क्यों कहा? पर्याय में बताना है। आहाहा! यह भगवान शुद्धस्वभाव का भण्डार परमात्मा तीन लोक का नाथ तो है ही, परन्तु उसकी पर्याय में शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होना, वह साक्षात् प्राप्ति कही जाती है। आहाहा! ऐसी बातें बापू! **आत्मा के शुद्धस्वभाव की साक्षात् प्राप्ति अथवा सर्वथा मोक्ष वह साध्य है।** क्या कहते हैं? वस्तु तो मोक्षस्वरूप

है ही; साक्षात् प्रगट स्वभाव वस्तु तो है ही परन्तु पर्याय में साक्षात् प्राप्त करना; मुक्तस्वरूप तो है ही। समझ में आया? अकेला शुद्धस्वभाव स्वरूप तो है ही परन्तु पर्याय में साक्षात् प्राप्ति करना अथवा पर्याय में मोक्ष करना, वह साध्य है। ध्येय भले ही मोक्ष स्वभावस्वरूप भगवान आत्मा है, परन्तु पर्याय में मोक्ष प्राप्त करना, वह साध्य है। आहाहा! स्वभाव तो है ही परन्तु पर्याय में शुद्ध प्राप्त करना, वह साध्य है। मुक्त तो है ही, परन्तु पर्याय में मुक्ति प्राप्त करना, वह साध्य है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है।

परम सत्य! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरों की यह आवाज है, दिव्यध्वनि है। इसे सन्त जगत के समक्ष आडतिया बनकर बताते हैं (कि) मार्ग तो यह है प्रभु! आहाहा! आत्मा का शुद्धस्वभाव तो त्रिकाल है ही; आत्मा मोक्षस्वरूप तो त्रिकाल है ही **साक्षात् प्राप्ति....** वर्तमान में प्राप्ति और वर्तमान में मोक्ष की दशा... आहाहा! वह साध्य है।

आत्मा मेचक है या अमेचक,.... व्यवहार और निश्चय, भेद और अभेद... **ऐसे विचार ही मात्र करते रहने से वह साध्य सिद्ध नहीं होता,....** ऐसे साध्य अर्थात् मुक्ति की पर्याय — शुद्धस्वभाव की पूर्ण प्राप्ति — ऐसे विचार करने से नहीं होती। आहाहा! **आत्मा मेचक है या अमेचक, ऐसे विचार ही मात्र करते रहने से वह साध्य सिद्ध नहीं होता,.... परन्तु दर्शन अर्थात् शुद्ध स्वभाव का अवलोकन,....** परन्तु दर्शन का अर्थ यह कि त्रिकाली का अवलोकन, प्रतीति; त्रिकाली स्वभाव का अवलोकन अर्थात् प्रतीति, अवलोकन अर्थात् जानना, प्रतीति। आहाहा! **अवलोकन, ज्ञान अर्थात् शुद्ध स्वभाव का प्रत्यक्ष जानना....** वह जानना। शुद्धस्वभाव का ज्ञान में प्रत्यक्ष वेदन होना, वह ज्ञान, **और चारित्र....** आहाहा! शुद्धस्वभाव का अवलोकन एक, ज्ञान-शुद्धस्वभाव का प्रत्यक्ष जानना... आहाहा! राग और निमित्त के अवलम्बन बिना भगवान का ज्ञान — सीधे ज्ञान होना, आहाहा! इन्द्रियों से जानकर जो ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान नहीं। आहाहा! शास्त्र पढ़कर, शास्त्र बाँचकर जो ज्ञान हुआ, वह तो शब्दज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यहाँ तो जरा-सा शास्त्र का ज्ञान हो और कथन करने में जोर दे, जोर बरसाये... परन्तु क्या है जोर? प्रभु! तेरा लक्ष्य तो तू चूक जाता है। आहाहा! दुनिया प्रसन्न हो... प्रसन्न करने को तो यह कहते हैं। अरेरे...! यह तो विपरीतदृष्टि का भाव है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **शुद्ध स्वभाव का प्रत्यक्ष जानना....** वह ज्ञान। आहाहा! आहाहा! **और चारित्र अर्थात् शुद्ध स्वभाव में स्थिरता से ही साध्य की सिद्धि होती है।....** भगवान आत्मा में स्थिरता ही चारित्र है। आहाहा! शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, आहाहा! अवलोकन; अवलोकन अर्थात् देखना अर्थात् श्रद्धा करना और शुद्धात्मा का ज्ञान, आहाहा! वह भी प्रत्यक्ष जानना। आहाहा! भगवान परमानन्दस्वरूप प्रभु को ज्ञान-प्रत्यक्ष जानना, प्रत्यक्ष जानना; किसी राग की अपेक्षा नहीं। अरे... प्रभु! यह तो कोई बात है? आहाहा! और उस स्वरूप में स्थिरता करना। आहाहा! इस दर्शन-ज्ञान और चारित्र से साध्य की सिद्धि होती है, इसी प्रकार होती है। **यही मोक्षमार्ग है, अन्य नहीं।** दूसरा कोई मोक्षमार्ग है नहीं। आहाहा!

यह तो कहता है — मोक्षमार्ग दो है... वह तो निरूपण / कथन की अपेक्षा से कहा है; वास्तविक तो एक ही मोक्षमार्ग है। आहाहा! अरेरे! दो प्रकार के मोक्षमार्ग है? एक तो राग तो मोक्षमार्ग है... वह तो बन्ध का मार्ग है। बन्ध के मार्ग को आरोप से मोक्ष का मार्ग कहा। आहाहा!

व्यवहारीजन.... यहाँ अब क्या कहते हैं? कि तुम पहले तो ऐसा बहुत कहते थे कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह पर्याय, वह मेचक 'व्यवहार' अशुद्ध (है) ऐसा कहते थे। फिर तुम्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र को परिणमना — ऐसा कहा। समझ में आया? फिर एकरूप नहीं, तीन रूप परिणमना — ऐसा कहा। पहले तो कहते थे कि वह तो अशुद्ध है, व्यवहार है, मेचक है....

व्यवहारीजन पर्याय में-भेद में समझते हैं,.... यह समझाने की विधि दूसरी क्या कहें, बाकी। आहाहा! **भेद में समझते हैं,....** उनको भेद करके बतावे तो समझते हैं। आहाहा! **इसलिए यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र के भेद से समझाया है।** देखो! निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से समझाया है। वे भेद से समझते हैं, इस कारण (समझाया है) वरना वस्तु तो अभेद है। आहाहा!

आठवीं गाथा में कहा न? कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा.... यह तो व्यवहार कहा। समझ में आया? व्यवहार कहकर आचार्य ने आठवीं गाथा में ऐसा कहा

कि व्यवहार कहते हैं और व्यवहार विकल्प में आया है परन्तु हमें भी व्यवहार अनुसरण करने योग्य नहीं है और तुझे भी व्यवहार अनुसरण करने योग्य नहीं है। आहाहा! अनार्य.... आता है न? आहाहा!

श्रोता : अनुसरण करने योग्य नहीं — ऐसे भाव से धर्म होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा विकल्प आवे, समझाये, आये बिना रहता नहीं परन्तु उससे धर्म होता नहीं। उसे अनुसरण करने योग्य नहीं, भेद से समझाया — भगवान आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा — परन्तु उस भेद को आदरणीय / अनुसरण करने योग्य नहीं है। वह तो तुझे समझाने के लिए मैंने कहा, मुझे भी विकल्प आया है तो भेद से कहा। मुझे भी व्यवहार को अनुसरण करने योग्य नहीं, आहाहा! ऐसी बातें अब बहुत कठिन पड़ती हैं। आहाहा! पूरे दिन व्यापार में रुके, उसमें कभी सुनने जाये, उसमें ऐसा सिर पर बैठा हो वह पण्डित कहे उसे मानना, वह एक व्यक्ति कहता है। अरे दूसरा कहाँ परन्तु इसे पता भी नहीं पड़ता। बेचारा पाप में पूरे दिन पड़ा स्त्री, पुत्र और उनमें आकर फुरसत हो तो सुने, तो वह सिर पर पण्डित कहता हो — जय नारायण (उसे ऐसा होता है कि) यह भी समझकर कहता होगा न? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि यह जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन कहा, तो हम तो पहले से मेचक और भेद कहा था, परन्तु उस प्रकार समझते हैं तो समझाया है। वरना तो दृष्टि का विषय अभेद है, उस तरफ ही ले जाना है। आहाहा! है! यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र भेद से समझाया है। अब विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा १७-१८

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण॥१८॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन॥

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते, ततस्तमेव श्रद्धत्ते, ततस्तमेवानुचरति, तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, ततः स एवानुचरितव्यश्च, साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम्। तत्र यदात्मनोऽनुभूयमानानेकभाव–संकरेऽपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशंकमवस्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लव–मानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः। यदा त्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेऽपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबन्धवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते, तदभावादज्ञातखरशृंगश्रद्धानसमानत्वात् श्रद्धानमपि नोत्प्लवते, तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशंकमवस्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः।

अब, इसी प्रयोजन को दो गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

ज्यों पुरुष कोई नृपति को भी, जानकर श्रद्धा करे।
फिर यत्न से धन अर्थ वो, अनुचरण राजा का करै॥१७॥
जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से॥१८॥

गाथार्थ : [यथा नाम] जैसे [कः अपि] कोई [अर्थार्थिकः पुरुषः] धन का अर्थी पुरुष [राजानं] राजा को [ज्ञात्वा] जानकर [श्रद्दधाति] श्रद्धा करता है, [ततः पुनः] और फिर [तं प्रयत्नेन अनुचरति] उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सुन्दर रीति से सेवा करता है, [एवं हि] इसी प्रकार [मोक्षकामेन] मोक्ष के इच्छुक को [जीवराजः] जीवरूपी राजा को [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए, [पुनः च] और फिर [तथा एव] इस प्रकार [श्रद्धातव्यः] उसका श्रद्धान करना चाहिये [तु च] और तत्पश्चात् [स एव अनुचरितव्यः] उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय हो जाना चाहिए।

टीका : निश्चय से जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष बहुत उद्यम से पहले तो राजा को जाने कि यह राजा है, फिर उसी का श्रद्धान करे कि 'यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी' और फिर उसी का अनुचरण करे, सेवा करे, आज्ञा में रहे, उसे प्रसन्न करे; इसी प्रकार मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए, और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा' और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिए — अनुभव के द्वारा उसमें लीन होना चाहिए; क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप उसकी सिद्धि की इसी प्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् इसी प्रकार से साध्य की सिद्धि होती है, अन्य प्रकार से नहीं)।

(इसी बात को विशेष समझाते हैं —) जब आत्मा को, अनुभव में आने पर अनेक पर्यायरूप भेदभावों के साथ मिश्रितता होने पर भी सर्व प्रकार से भेदज्ञान में प्रवीणता से 'जो यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ' ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ, 'इस आत्मा को जैसा जाना है वैसा ही है' इस प्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है ऐसा,

श्रद्धान उदित होता है, तब समस्त अन्यभावों का भेद होने से, निःशंक स्थिर होने में समर्थ होने से आत्मा का आचरण उदय होता हुआ आत्मा को साधता है। ऐसे साध्य आत्मा की सिद्धि की इस प्रकार उपपत्ति है।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबालगोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बन्ध के वश पर (द्रव्यों) के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ-अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के श्रद्धान समान है इसलिए, श्रद्धान भी उदित नहीं होता तब समस्त अन्यभावों के भेद से आत्मा में निःशंक स्थिर होने की असमर्थता के कारण आत्मा का आचरण उदित न होने से आत्मा को नहीं साध सकता। इस प्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है।

भावार्थ : साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि यह जो जाननेवाला अनुभव में आता है सो मैं हूँ। इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है; क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा? तत्पश्चात् समस्त अन्यभावों से भेद करके अपने में स्थिर हो। इस प्रकार सिद्धि होती है किन्तु यदि जाने ही नहीं, तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता और ऐसी स्थिति में स्थिरता कहाँ करेगा? इसलिए यह निश्चय है कि अन्य प्रकार से सिद्धि नहीं होती।

प्रवचन नं. ७८ गाथा-१७-१८ दिनाङ्क ०५-०९-१९७८ मंगलवार
भाद्र शुक्ल ३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

(समयसार) गाथा १७-१८

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण॥१८॥

ज्यों पुरुष कोई नृपति को भी, जानकर श्रद्धा करे।
फिर यत्न से धन अर्थ वो, अनुचरण राजा का करै॥१७॥
जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से॥१८॥

टीका – निश्चय से जैसे कोई धन का अर्थी.... दृष्टान्त दिया। धन का अर्थी हो वह राजा को जाने, जो धन का अर्थी नहीं, उसे राजा का क्या काम? धन का–लक्ष्मी का अर्थी / प्रयोजन जिसे है, जिसको है, वह **धन का अर्थी पुरुष बहुत उद्यम से पहले तो राजा को जाने....** पहले राजा, उसका चँवर, छत्र आदि चिह्न से यह राजा है — ऐसा जाने। धन का अर्थी — यह दृष्टान्त है और **फिर उसी का श्रद्धान करे....** राजा को जाने फिर श्रद्धा करे — ऐसा। जानने के बाद श्रद्धा करे, जाने बिना श्रद्धा किसकी? और '**यह अवश्य राजा ही है,....** यह अवश्य राजा ही है। **इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी....**' ऐसा निर्णय करे। यह (धन) तो पुण्य से आता है, यह तो दृष्टान्त है न? दृष्टान्त कि राजा है, छत्र-चँवर आदि का चिह्न है, बड़ा छत्र, चँवर आदि चिह्न उसको जानने से जाना और उसकी सेवा करने से धन मिलेगा, और उसी का श्रद्धान करे। अवश्य वह राजा ही है। इसकी सेवा करने से... श्रद्धा में क्या आया? कि इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी। आहाहा!

उसका अनुचरण करने से, आश्रय करने से, आराधना करने से... आहा... आहाहा! धन की प्राप्ति होगी। **उसी का अनुचरण करे,....** और उसकी आज्ञा में रहे। **सेवा करे,.... अनुचरण करे, सेवा करे, आज्ञा में रहे, उसे प्रसन्न करे;....** राजा को। **इसी प्रकार....** यह तो दृष्टान्त हुआ। (**इसी प्रकार**) **मोक्षार्थी पुरुष को....** जिसमें परमानन्दरूपी पर्याय / मोक्ष, साध्य जो मोक्ष परमानन्द की प्राप्तिरूपी मोक्ष का जो अर्थी है... वह धन का अर्थी है, यह मोक्ष का अर्थी है। आहाहा!

पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान की पूर्णता — ऐसा जो मोक्ष, उसका जो अर्थी है, जिसे मोक्ष का प्रयोजन है; दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। आहाहा! जिसे मोक्ष का प्रयोजन है — ऐसे (**मोक्षार्थी**) **पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए,....**

यहाँ से बात उठायी है। पहले नव तत्त्व का ज्ञान करना या अमुक करना या देव-शास्त्र-गुरु की सेवा (करना), यह बात नहीं ली है। यहाँ तो एकदम भगवान आत्मा, जीव राजा अपनी सम्पदा से शोभता है, 'राज्यते शोभते इति राजा' है — ऐसा भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, आनन्द आदि अपनी लक्ष्मी से शोभायमान है — ऐसा जीव राजा, आहाहा! उसको पहले तो जानना, पहले तो जानना — ऐसा शब्द है। आहाहा! पहले क्या करना? लोग कहते हैं न? पहले क्या करना? सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुए पहले क्या करना? कि पहले यह करना। आहाहा!

एकदम भगवान आत्मा (के) मोक्ष का प्रयोजन हो, उसको (क्या करना?) जिसको लक्ष्मी और पुण्य आदि का प्रयोजन है, उसकी तो बात है नहीं। आहाहा! मोक्षार्थी को पहले तो, पहले में पहले आत्मा को जानना चाहिए। आहाहा! पहले शास्त्र पढ़ना या वाँचना, यह बात ली ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? पहले भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, अनन्त स्वभाव की सम्पदा से परिपूर्ण भरा है। आहाहा! स्वभाव की सम्पदा से प्रभु परिपूर्ण (है तो) उसको पहले जानना। आहाहा! स्वसंवेदन निर्विकल्प ज्ञान से प्रथम जानना। आहाहा! समझ में आया? प्रथम जानने का अर्थ यह। स्वसंवेदनज्ञान अपना-अपने से अनुभव में आनेवाला ज्ञान — ऐसा स्वसंवेदन, अपना वेदन, आनन्द का वेदन, ज्ञान का वेदन — ऐसे स्वसंवेदन ज्ञान से जानना। मोक्षार्थी को स्वसंवेदन ज्ञान से आत्मा को जानना। आहाहा! (जो) परमानन्द की प्राप्ति का, मोक्ष का अर्थी है, जिसे उसका मोक्ष करना है, उसे पहले (आत्मा को जानना)। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा परिपूर्ण आनन्द आदि सम्पदा से भरा जीवराज है। जैसे वह राजा छत्र, चँवर आदि चिह्नों से दिखता है; वैसे भगवान आत्मा अपरिमित ज्ञान और अपरिमित आनन्द, अपरिमित शान्ति आदि स्वभाव से शोभायमान है। ऐसा राजा अर्थात् शोभता है। 'राज्यते शोभते इति राजा' आहाहा! इस राग से शोभता है और निमित्त से शोभता है — ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। उसको (मोक्षार्थी को) आत्मा को **पहले तो आत्मा को जानना चाहिए,....** पहले आत्मा को जानना चाहिए। आहाहा!

परन्तु एकदम, सीधे.... कोई कारण-फारण है या नहीं? कि गुरु की सेवा करना... अरे...! गुरु तो अपना आत्मा ही गुरु है और निर्मलपर्याय उसकी शिष्य है। आहाहा! बात बहुत कठिन! जगत् को अन्दर भगवान परमात्मस्वरूप विराजमान है, उसे प्रथम में प्रथम जानना। मोक्षार्थी को पहले में पहला प्रयोजन यह है। आहाहा! शास्त्र जानना और गुरु से पहले सुनना और.... यह बात पहले ली ही नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

जैसे धन का अर्थी, प्रथम ही राजा को जाने; वैसे मोक्षार्थी, आहाहा! परम अतीन्द्रिय का पूर्ण लाभ, उसका नाम मोक्ष। पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ, वह आत्मलाभ, वह मोक्ष (है)। आहा! ऐसे आत्मलाभ के (अर्थी) मोक्षार्थी को प्रथम में प्रथम आत्मा को स्वसंवेदन ज्ञान से... आहाहा! निर्विकल्पज्ञान से जानना — ऐसा कहा है। कठिन बात है बापू! आहाहा!

पुरुष को.... पुरुष शब्द से (आशय है) आत्मा। **पहले तो आत्मा को जानना चाहिए,....** पुरुष शब्द से चेतना-चेतना में जो एकाकार है, वह पुरुष है। 'पुरुषार्थीसिद्धियुपाय' में है न? पुरुष — चेतना में एकाकार है, वह पुरुष। चेतना में एकाकार है, वह पुरुष। ऐसा पुरुष जो आत्मा... आहाहा! एकदम प्रथम में प्रथम कर्तव्य होवे तो मोक्षार्थी को स्वसंवेदन से आत्मा को जानना। आहाहा! समझ में आया?

आत्मा को लक्ष्य में लेकर पर्याय में स्व / अपना वेदन प्रत्यक्ष — स्वसंवेदन — स्व / अपना, सम / प्रत्यक्ष — राग की और निमित्त की अपेक्षा बिना और व्यवहाररत्नत्रय की भी अपेक्षा बिना.... यहाँ तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह व्यवहार कहा गया है। समझ में आया? क्या? अपना ज्ञान, अपनी श्रद्धा और अपना चारित्र / अनुचरण, यह भेदरत्नत्रय है। समझ में आया? आहाहा! अत: जिसे अपने आनन्द का पूर्ण लाभ — ऐसे मोक्ष की जिसे चाह है, उसे भगवान आत्मा... आहाहा! पहले में पहले जानना चाहिए — ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ पहले नवतत्त्व का निर्णय करना, या नय, निक्षेप, प्रमाण से... तेरहवीं गाथा में आया है वह कि नय, निक्षेप, प्रमाण से पहले आत्मा दूसरे (दर्शन से भिन्न) भगवान कहते हैं, उसके अतिरिक्त दूसरे से भिन्न क्या भगवान कहते हैं! भगवान त्रिलोक के

नाथ जो आत्मा का स्वरूप जिन ने बताया, वह दूसरे अज्ञानी से क्यों भिन्न है — ऐसा नय, निक्षेप, प्रमाण से पहले अनुभव करना, जानना। बाद में यह भी अनुभव करने में अभूतार्थ है। अत: यहाँ तो सीधी बात ली है। आहाहा! निश्चयनय ये द्रव्य है और पर्याय व्यवहारनय है और प्रमाण में दोनों का ज्ञान है और निक्षेप में ज्ञेय भेद के भेदों में, व्यवहारनय से जानना और यह सब बात पहले लेना — यह बात यहाँ नहीं की है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

जिसे अन्तर पूर्णानन्द ऐसे आत्मलाभरूपी मोक्ष, पूर्णानन्दरूपी आत्मलाभ का मोक्ष, उसका जिसे प्रयोजन है, उसे... आहाहा! तो उसे तो पहले यह भगवान आत्मा स्वसंवेदनज्ञान से प्रथम जानना। अकेले ज्ञान से, धारणा (करना) — ऐसा नहीं है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! आत्मा ऐसा है, और वैसा है, और ऐसा ज्ञान में धारण करना (ऐसी) अकेली धारणा वह नहीं — वह चीज नहीं। आहाहा! मूल रकम जो आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु को अपने स्व से-प्रत्यक्ष वेदन से जानना। यह जाना कि यह आत्मा परिपूर्ण शुद्ध आनन्द है, आहाहा! है? **और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए....** यहाँ पहले श्रद्धा नहीं ली, क्योंकि जो चीज उसके ज्ञान में-जानने में नहीं आयी, उसकी श्रद्धा कैसी? आहाहा! ज्ञान की पर्याय में यह वस्तु अखण्ड-ज्ञेय अखण्ड है — ऐसा ज्ञेय का पर्याय में ज्ञान हुए बिना किसकी, श्रद्धा किसकी करना? जो ज्ञान में भावभासन, भासन हुआ नहीं, वस्तु का ज्ञान में वह चीज आयी नहीं और ज्ञेय बनाकर ज्ञान हुआ नहीं, तो उसकी श्रद्धा कैसी? किसकी श्रद्धा? आहाहा!

मोक्षमार्ग में **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्ग:** ऐसा वहाँ कहा। ऐसे दर्शन कारण और ज्ञान कार्य (ऐसा आता है)। यहाँ एकदम भगवान आत्मा का ज्ञान करना, आहाहा! और **फिर उसी का श्रद्धान करना,** फिर उसी का श्रद्धान करना। जाने हुए कि श्रद्धा, ज्ञान में भास हुआ — यह चिदानन्द प्रभु शुद्ध पूर्ण है — ऐसा ज्ञान में भास हुआ तो यह उसकी श्रद्धा। यह है — ऐसी श्रद्धा; क्योंकि श्रद्धा का प्रतीति भाव तो अपने को भी नहीं जानता और ज्ञान की पर्याय में पूर्ण वस्तु को, वह नहीं जानता। जाननेवाली पर्याय तो ज्ञान की है और उस ज्ञान की पर्याय में जानने में आया, वहाँ प्रतीति हुई कि यह आत्मा पूर्ण शुद्ध है — ऐसी प्रतीति आयी। आहाहा! कठिन काम भाई!

यह ऐसा पहले शास्त्र-श्रवण करना, गुरु की सेवा करना... पहले आया था। चौथी गाथा में (आया था)। स्वयं अनात्म ज्ञानी है और आत्मज्ञानी की सेवा नहीं की। वहाँ तो निमित्त से यह बताया है, परन्तु यहाँ तो एकदम भगवान आत्मा निमित्त से शोधता है, सुनता है, और धारण करता है, वह भी आत्मज्ञान नहीं। आहाहा! शास्त्र से ज्ञान हो, श्रवण से हो, गुरु से हो, भगवान की वाणी से हो परन्तु वह ज्ञान, ज्ञान नहीं है। आहाहा! वह परलक्ष्यी ज्ञान है, वह इन्द्रियज्ञान, खण्ड-खण्ड ज्ञान है। आहाहा! ऐसा ख्याल छोड़कर इन्द्रिय से ज्ञान हुआ वह इन्द्रियज्ञान। श्रवण से हुआ, देखने से हुआ, पढ़ने से हुआ.... आहाहा! वह सब इन्द्रियज्ञान है क्योंकि भावेन्द्रिय जो खण्ड-खण्ड है, उसमें द्रव्येन्द्रिय-जड़ निमित्त है और बाहर की चीज भी निमित्त है। आहाहा! बाहर की चीज को भी इन्द्रिय कहा है, जड़ इन्द्रिय को इन्द्रिय कहा, भावेन्द्रिय को इन्द्रिय कहा, तीनों इन्द्रिय का जो ज्ञान है... आहाहा! वह खण्ड-खण्ड ज्ञान है, परावलम्बी है, परसत्तावलम्बी है — ऐसा ज्ञान अनन्त बार किया, वह तो बन्ध का कारण है। अनन्त बार किया और वह कोई छूटने का कारण नहीं हुआ। आहाहा! ग्यारह अंग का ज्ञान, नव पूर्व की लब्धि भी अनन्त बार की। यदि वह ज्ञान मोक्ष का आंशिक भी कारण हो तो अल्प काल में छूटना (मुक्ति) होना चाहिए। यह नव पूर्व की लब्धि और ग्यारह अंग का जानपना... आहाहा! वह खण्ड-खण्ड ज्ञान — इन्द्रियज्ञान है। आहाहा! भगवान अनीन्द्रिय ज्ञान उसमें नहीं आया। आहाहा!

अनीन्द्रिय भगवान आत्मा का प्रथम स्वसंवेदन से ज्ञान करना। आहाहा! गजब बात है भाई! यह तो जिसे संसार के दु:ख का नाश करना हो और पूर्ण आनन्द की प्राप्ति... मोक्ष शब्द है न? मोक्ष अर्थात् छूटना। किससे? दु:ख से। किस चीज की प्राप्ति करना? अतीन्द्रिय आनन्द के लाभ की प्राप्ति, मोक्ष है और मोक्ष अर्थात् छूटना। छूटना किससे? इन्द्रिय से। और लाभ किसका? अनन्त आनन्द का। आहाहा!

श्रोता : कितने समय में?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है। उत्कृष्ट तो एक अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है। विशेष छह माह बतलाया / कहा न? आहाहा! और जिसकी आवश्यकता ज्ञात हो, वहाँ पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। जिसकी रुचि और आवश्यकता ज्ञात हो, उसका

प्रयत्न हुए बिना नहीं रहता। संसार के काम में प्रयोजन में रुचि है, आवश्यकता है, तो वहाँ पुरुषार्थ काम करता है — पाप के (काम करता है)। आहाहा!

भगवान आत्मा शुद्ध अखण्ड आनन्द... यहाँ भेद से कथन है, हाँ! ज्ञान, दर्शन, चारित्र — यह भेद से कथन है, यह भेद रत्नत्रय! और अखण्ड आनन्द भगवान में यह सदैव और अकेले आत्मा की सेवा करना, वह अभेद... आहा...! उसमें भेदाभेद की बात है। चौदहवीं गाथा में आया है न, प्रयोजन किस बात का है?

अब, इसी प्रयोजन को दो गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं.... ऊपर शीर्षक में है न? आहाहा! यह तो धीरज का काम है भाई! गाथा के ऊपर है, अमृतचन्द्राचार्य के ये शब्द नहीं हैं परन्तु पण्डितजी — पण्डित जयचन्दजी हैं, उन्होंने शब्द रखे हैं, क्योंकि गाथा की न — १९ कलश — तो बाद में यह लिया इसलिए कहा। यह तो विशेष स्पष्ट करते हैं। आहाहा!

'धीरज धर न अरे अधीरा वहाँ उतावल का काम नहीं वहाँ'... आहाहा! धीरज धर न अरे अधीरा...। भगवान अन्दर महा आनन्द के ढाले में ढलकर, प्रभु! धीरज से प्रभु 'धी' अर्थात् बुद्धि — ज्ञान की पर्याय और 'र' धीर प्रेरित, वर्तमान ज्ञान की पर्याय स्व तरफ प्रेरे उसका ज्ञान, उसका नाम यहाँ धीर कहा जाता है। आहाहा! जो 'धी' 'र' 'धी' (अर्थात्) ज्ञान की बुद्धि / पर्याय, उसको 'र' — प्रेरति — स्वतरफ, स्वसंवेदन तरफ जाते हैं। आहाहा! उसे धीर कहते हैं, उसे वीर कहते हैं। वीर - विशेषपने वीर्य अर्थात् प्रयत्न। पुरुषार्थ जो 'र' प्रेरति। अन्तर्मुख में पुरुषार्थ प्रेरे, उसे यहाँ वीर कहा जाता है। बाकी सब कायर और आहाहा! नपुंसक (है)। आहाहा! जो पुण्य-पाप में जुड़ जाये और उसकी रचना करे, वह तो नपुंसक है। आहाहा! जिसमें चार गति फले, भटकने के भाव करे और भटकने के कार्य हो... आहा...! वह तो कायर का काम है। भाई! आहाहा!

वचनामृत वीतराग के परम शान्त रस मूल,
औषध जो भवरोग के कायर को प्रतिकूल॥

आहाहा! प्रथम ही, आहाहा! अद्‌भुत गाथा आयी है भाई! अब कल अपने पर्यूषण हैं — दशलक्षण पर्व (है)। आहाहा! आज मंगलवार है, यह मांगलिक शुरु होता है।

आहाहा! मंग अर्थात् पवित्रता, ल अर्थात् लाति-प्राप्ति। भगवान पूर्णानन्द के नाथ का वेदन करना, उसे प्राप्त करना... आहाहा! पर्याय के वेदन में भगवान को प्राप्त करना... आहाहा! उसका नाम स्वसंवेदनज्ञान से आत्मा जाना — ऐसा कहा जाता है। आहाहा! **फिर उसी का श्रद्धान करे....** जो जाना उसी का श्रद्धान करना चाहिए — ऐसा शब्द है न? जानने में आया, उसी का श्रद्धान करना चाहिए। आहाहा!

ज्ञायकभगवान पूर्णानन्द प्रभु 'पूर्णं इदम्' जो सम्यक् वेदन से जानने में आया, उसी का श्रद्धान करना चाहिए। जो चीज जानने में आयी, उसका श्रद्धान करना चाहिए। अब ऐसी बातें बापू! जगत् को बहुत कठिन (लगती हैं)। आहाहा! अरे! जन्म-मरण का अन्त लाना... बापू! आहाहा! यह तो धीर-वीर का काम है। आहाहा! **उसी का.... फिर उसी का श्रद्धान....** ऐसा शब्द है न? आहाहा! **जानीते, ततस्तमेव श्रद्धत्ते,** ऐसा शब्द है न? संस्कृत में। **ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, स एव श्रद्धातव्यः,** आहाहा! संस्कृत ली है न? दूसरी लाईन है। आहाहा!

भगवान आत्मा अपनी मतिज्ञान आदि धारणा में आया, वह नहीं, वह मति अज्ञान है। आहाहा! जिस ज्ञान की पर्याय में स्वसंवेदन आया, उस ज्ञान में आत्मा पूर्णानन्द प्रभु ज्ञात हुआ — प्रत्यक्ष जानने में आया, फिर उसकी श्रद्धा। है? **फिर उसी का श्रद्धान....** फिर अर्थात् बाद में अर्थात् जानने में श्रद्धान करना — ऐसा। जाने बिना श्रद्धा किसकी? जो चीज ही ज्ञान में नहीं आयी, भावभासन नहीं हुआ... श्रद्धा करो, किसकी श्रद्धा? आहाहा! (स्व) ज्ञेय का पर्यायरूपी भाव में भासन हुआ... आहाहा! लोगों को ऐसा मार्ग कठिन पड़ता है।

अन्य तो कहते हैं कि निश्चय से यह और व्यवहार से यह — समाज की रक्षा करना और वस्त्र छोड़ना और वह व्यवहार करना... अरे प्रभु! क्या करता है भाई? यहाँ तो अभी भेद रत्नत्रयरूप परिणमना भी व्यवहार है। समझ में आया? और एकरूप आत्मा में एकाकार हो जाना, वह अभेद और निश्चय है। समझ में आया?

जो जानने में आया — अपने स्वभाव की जितनी सामर्थ्य है और जितनी शक्तियाँ हैं, सबको पूर्णरूप से पर्याय में जानने में आया, वह जो चीज जानने में आयी, उसका

श्रद्धान करना। आहाहा! समझ में आया? जानने में पर्याय में आया, उसकी श्रद्धा (करना)। पर्याय की श्रद्धा करना — ऐसा नहीं। आहाहा! स्वसंवेदन से जानने में आया तो स्वसंवेदन की श्रद्धा करना — ऐसा नहीं। समझ में आया? स्वसंवेदन में जो ज्ञान वस्तु भगवान पूर्णानन्द आया, उसकी श्रद्धा करना। आहाहा!

ऐसी बात! दिव्यचक्षु है, 'समयसार' 'भाव' दिव्यचक्षु और 'वाणी' दिव्यचक्षु दोनों। आहाहा! अन्दर के नेत्र खुल गये। जो अनादि से राग की एकता में पड़ा था... आहाहा! तो सारे निधान में ताला लगा दिया था। आहाहा! ताला समझते हैं न? ताला... ताला (लगा) दिया था और जब स्वसंवेदन से जानने में आया तो उस राग की एकता का ताला खोल दिया... सारा निधान भगवान... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय प्रभुता — ऐसा पूर्ण स्वरूप जो अखण्ड आनन्द प्रभु (है), उसका जो स्वसंवेदन में ज्ञान हुआ, उसकी ही श्रद्धा करना। आहाहा! स्वसंवेदन की पर्याय की श्रद्धा करना — ऐसा नहीं कहा। वह तो पर्याय है परन्तु उस पर्याय में जो स्वसंवेदन में जो जानने में आया कि यह आत्मा... आहाहा! (उसकी श्रद्धा करना)।

ऐसी बात कहाँ है प्रभु! आहाहा! अरे...! जब तक यह बात सुनने को न मिले, वह कहाँ जीवन बिताये? कहाँ जाये? आहाहा!

फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए कि 'यही आत्मा है,.... देखो! यह पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा, यही आत्मा है। आहाहा! **इसका आचरण करने से...** अब श्रद्धा में क्या आया? पण्डित जयचन्दजी ने विशेष स्पष्टीकरण किया है। पाठ में तो इतना है **'स एवानुचरितव्यश्रय, स एव श्रद्धातव्यः ततः स एवानुचरितव्य'** परन्तु उसका अर्थ यह लिया, उन्होंने निकाला कि भाई! यह आत्मा जो त्रिकाली ज्ञायक आनन्द का नाथ प्रभु भगवत्स्वरूप, भगवानस्वरूप, परमात्मस्वरूप का स्वसंवेदन में ज्ञान आया, जिसका वह ज्ञान आया, उसकी श्रद्धा करना और उस श्रद्धा में ऐसा आया कि मैं उसका अनुचरण करूँगा — उसमें लीन होऊँगा, इससे कर्म का नाश और अशुद्धता का नाश होगा। आहाहा! किसी व्रत पालने से और भक्ति करने से (नहीं) आहाहा!

ऐसी श्रद्धा में ऐसा आया कि भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु का वेदन हुआ,

स्वसंवेदन (हुआ), इसकी श्रद्धा की यह आत्मा ही पूर्णानन्द प्रभु है और इस पूर्णानन्द में रमने से, उसमें लीन होगा, इतनी अशुद्धता और राग नाश होगा — ऐसा श्रद्धा में आया। आहाहा! यहाँ तो अभी श्रद्धा नहीं होती, वेदन भी नहीं होता और यह बाहर व्रत, तप, और भक्ति करने से कल्याण हो जाएगा (— ऐसा मानते हैं)। अरे प्रभु! बहुत फरक है भाई! समझ में आया? तुझे कठिन लगता है। आहाहा! व्यवहार क्रिया बराबर करे तो निश्चय प्राप्त कर सकता है, यह बात है ही नहीं, प्रभु! समझ में आया? व्यवहार तो सब राग की क्रिया है न? भगवान तो अन्दर वीतराग मूर्ति प्रभु है न? आहाहा! वह राग से कैसे प्राप्त हो?

अतः श्रद्धा में भी पहले यह आया, क्या आया? आहाहा! **इसका आचरण करने से....** इसका आचरण करने से (अर्थात्) स्वसंवेदन में जो आत्मा ज्ञान में ज्ञात हुआ, उसकी श्रद्धा की और श्रद्धा में ऐसा आया कि भगवान पूर्णानन्द प्रभु की सेवा करने से — अनुचरण करने से — उसमें रमने से... है? आहाहा! **अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा'....** अवश्य कर्म से छूटना होगा। ऐसा सम्यग्दर्शन में यह आया कि यह वस्तुस्वरूप-भगवान है, तू उसमें लीन होगा, तब राग और कर्म का नाश होगा। आहाहा! कोई व्रत, तप, भक्ति, तप करना, अपवास करना, महीने-महीने के अपवास, और छह महीने के अपवास ये सब अपवास हैं, उपवास नहीं। आहाहा! उप अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव जो वेदन में आया, उसकी श्रद्धा की और उस भगवान आत्मा में मैं लीन होऊँगा, उसमें मैं रमणता करूँगा, इससे ही अशुद्धता और कर्म का नाश होगा, दूसरी कोई विधि नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

श्रद्धा में ऐसा आया, तो जो ज्ञान के वेदन में प्रभु ज्ञात हुआ, उसकी श्रद्धा की और उस श्रद्धा में ऐसा आया कि इस वस्तु में, जो पूर्णानन्द प्रभु है, उसमें लीन होगा तो कर्म से छूटेगा; दूसरे किसी क्रियाकाण्ड से कर्म छूटेगा — ऐसा है नहीं। आहाहा!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो सच्ची भाई! यह भाग्यशाली है, यह बात आ गयी और रुचि हो गयी कि यह बात तो ऐसी है भगवान। आहाहा! समझ में आया? हमारे बाबूलालजी

और सब बैठे, दूर बैठे हैं अभी, शान्तिभाई और आये न? यह मार्ग, बापू! क्या कहें? आहाहा! वाणी का विषय नहीं, विकल्प का विषय नहीं। आहाहा! श्रद्धा में क्या आया? कि **इसका आचरण करने से....** इस चिदानन्द भगवान पूर्ण आनन्द के नाथ का आचरण, इसमें रमने से, अन्दर रमने से, वह आचरण... कोई पंच महाव्रत का विकल्प और वह कोई आत्मा का आचरण नहीं है। आहाहा!

भाषा तो सादी है प्रभु! तू, तेरी चीज ही सादी है। आहाहा! वह उपाधिरहित चीज आत्मा है। आहाहा! सादे श्रृंगार से शोभित भगवान है। आहा...! ज्ञान, आनन्द, शान्ति, वीतरागता के स्वभाव से शोभित प्रभु है, यह इसका श्रृंगार है। आहाहा! (अध्यात्म) पंच संग्रह में लिया है... (अध्यात्म) पंच संग्रह में! दीपचन्दजी हैं न? दीपचन्दजी हैं, (अध्यात्म) पंच संग्रह में (उन्होंने) ऐसा लिया है — श्रृंगाररस! एक-एक में अद्‍भुत श्रृंगाररस, वीररस बहुत व्याख्या की है। दीपचन्दजी ने (बहुत व्याख्या की है) ऐसी व्याख्या किसी ने नहीं की। वे भी उस समय ऐसा कहते थे कि अरेरे! मैं बाहर से देखता हूँ समाज को, सम्प्रदाय को, तो कोई आगम अनुसार श्रद्धा दिखती नहीं। २०० वर्ष पहले (की बात है) और मुख से कहता हूँ तो मानते नहीं। अतः मैं लिख जाता हूँ कि मार्ग यह है — ऐसा भावदीपिका में लिखा है। भावदीपिका नामक ग्रन्थ है। आहाहा! अब, यह तो (तत्त्वज्ञान तो) एकदम बाहर में आया है। है? अब लाखों लोग इतना तो सुनते हैं। आहाहा!

इसका आचरण करने से.... इसका अर्थात् भगवान पूर्ण शुद्ध द्रव्य जो पर्याय में ज्ञात हुआ, उसकी श्रद्धा हुई और उसमें आचरण करने से... आहाहा! पर्याय में रमना परन्तु द्रव्य में रमना — ऐसा। अकेले पर्याय में रमना ऐसा नहीं, द्रव्य में रमना, आहाहा! यह है तो पर्याय में रमना, परन्तु त्रिकाली भगवान अनीन्द्रिय पूर्णानन्द और वीतरागता के स्वभाव से भरपूर प्रभु है, उसमें मैं आचरण करूँगा। आत्म आचरण करूँगा, आहाहा! ऐसा आत्मा का आचरण करूँगा, तब **अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा....'** अवश्य कर्म से छूटूँगा। मुझे मोक्ष होने में बिल्कुल आवश्यक बात यह है। आहाहा! चाहे जितने निकाचित् और निधत कर्म हों... आहाहा! परन्तु मेरा आत्मभगवान चीज है, उसमें मैं रमने से — उसका आचरण — आत्म-आचरण (करने से कर्मों से छूटा जा सकेगा।) दया, दान, व्रत आदि तो राग का अनात्म—आचरण है। आहाहा! कठिन बात भाई!

ऐसा तो सिद्धान्त बोलता है, आगम है, युक्ति है, अनुभव और आगम सब एक ही चीज है। लोग कहते हैं ए... सोनगढ़ का एकान्त है... एकान्त है, महावीर से भी विरुद्ध है — ऐसा कहते हैं। अरे भगवान! भाई! तुझे पता नहीं है, प्रभु! आहाहा! वस्तु तो द्रव्य से साधर्मी जीव है वे, पर्याय में भूल हो तो भी वे भगवान हैं। आहाहा! भगवान! तुझे पता नहीं प्रभु और तुम ऐसा आरोप करते हो, प्रभु! आहाहा! यहाँ तो परमात्मा... सन्त कहते हैं, वही परमात्मा कहते हैं, वे सन्त आडतिया होकर बात करते हैं। अपने अनुभव में रहकर बात करते हैं। आहाहा! यह कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन तो सही नाथ! इस अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ भगवान में आचरण करने से (कर्मों से छूटा जा सकेगा)। यह सदाचरण कहते हैं न? लौकिक सदाचरण, वह सदाचरण नहीं। सत् आचरण, सत् स्वरूप भगवान पूर्णानन्द सत् में आचरण करना, वह सदाचरण है। आहाहा!

यहाँ तो यह दया, दान और व्रत करे, वहाँ हो गया... आचरण करते हैं, वह सदाचरण नहीं, वह तो असत् आचरण है वह तो... ऐसी बात है भाई! अरेरे...! भगवान! तू परिपूर्ण प्रभु है न, नाथ! आहाहा! तुझमें कहाँ हीनता, कचास या अपूर्णता है। आहाहा! भगवान तो अनन्त... अनन्त... गुण से परिपूर्ण प्रभु परिपूर्ण भरा है। आहाहा! उसके वेदन में जाना और उसकी श्रद्धा की कि यह आत्मा है और इस आत्मा में आचरण करूँगा तो अवश्य कर्मों से छूटूँगा — ऐसा सम्यग्दर्शन और प्रतीति में आया। आहाहा!

मैं भविष्य में व्रत लूँगा, तप करूँगा और ऐसे बाह्य का कर्म छूटेगा — ऐसा श्रद्धा में था, वह छूट गया। आहाहा! समझ में आया? **इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा....** निःसन्देह भगवान आत्मा के आनन्द में रमने से अवश्य कर्मों से छूटूँगा। आहाहा! ऐसी निःसन्देह श्रद्धा हुई। समझ में आया? जिसका — भगवान का पता मिला, उसमें रमने से कर्मों से छूटेगा, अवश्य छूटेगा। आहाहा! व्यवहारधर्म भी उसे कहते हैं कि ऐसे निश्चय के श्रद्धा-ज्ञान आचरण हुआ, उसमें विकल्प उठता है, उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है। आहाहा! परन्तु यह व्यवहार बन्ध का कारण है। आहाहा! इन्द्रियाधीन, इन्द्रिय से ज्ञान हुआ, वह बन्ध का कारण है। पंच महाव्रत का विकल्प बन्ध का कारण है। आहाहा! और नवतत्त्व की भेदश्रद्धा, वह मिथ्यात्व बन्ध का कारण है। आहाहा! भेद, हाँ! नौ के भेद। एकरूप होवे तो अन्तर में आ जाता है। आहाहा!

(समयसार) कलश टीका में लिया है — अनादि नवतत्त्व की श्रद्धा तो मिथ्यात्व है। आहाहा! वह संवर, निर्जरा, मोक्ष सच्चे नहीं। नवतत्त्व में द्रव्य संवर, द्रव्य निर्जरा... आहाहा! क्या श्लोक आया? आहाहा! थोड़ा व्यवहार का आचरण करूँगा तो में छूटूँगा, यह दृष्टि छूट गयी। समझ में आया? थोड़े व्यवहार की दया, धर्म, शरीर का ब्रह्मचर्य सेवन — ऐसे आचरण करूँगा तो छूटूँगा — यह दृष्टि छूट गयी। आहाहा! वह मिथ्यादृष्टि था। ऐसी बातें बहुत कठिन हैं, भाई! यह तो पण्डितों को भी पचाना कठिन पड़ता है। आहाहा! है?

वस्तु ही सत् सरल प्रभु है न! है न भगवान! है उसे प्राप्त करना है! यह तो न हो और प्राप्त करना हो, वह तो बात दूसरी है। है? आहाहा! सत् प्रभु, सच्चिदानन्दनाथ, है, उसका ज्ञान करना और है, उसकी श्रद्धा करना, है उसमें रमना — यह भेद से तीन कथन / बोल आते हैं, और इतने भेद आये न? सोलहवीं गाथा में आया न? **दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं। ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।** आहाहा! यह तो व्यवहार से तीन बातें की हैं। परन्तु व्यवहार यह, हाँ! एकरूप भगवान की श्रद्धा, एकरूप का ज्ञान और एकरूप की स्थिरता — यह तीन भेद आये वह व्यवहार हुआ। वह व्यवहार हुआ, मलिन हुआ, मेचक हुआ, अनेकता हुई। आहाहा! यह अशुद्धता कही जाती है। आहाहा!

सैंतालीस नय में पर्याय का यह नय कहा न — अशुद्धनय और शुद्धनय। ४६-४७! एक मिट्टी के अनेक पिण्ड — बर्तन आदि अनेकपना है, झारी आदि (अनेकपना है) — ऐसा देखना वह अशुद्धता है और मिट्टी को एकरूप देखना वह शुद्धता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा उसकी पर्याय-निर्मल पर्याय भेद से देखना, वह अशुद्धनय है। आहाहा! नय के सब व्याख्यान आ गये हैं। और भगवान एक ही स्वरूप अखण्डानन्द प्रभु में अन्दर में रमना-एकाकार करना, वह शुद्ध है, वह शुद्धनय है। आहाहा! अरेरे...! कहाँ इसे (पड़ी है)।

फिर उसी का अनुचरण करना चाहिए.... 'फिर' पहले तो श्रद्धा में लिया, (कि) इस द्रव्यस्वभाव में लीन होगा, इतना कर्म छूटेगा, फिर उसी का अनुचरण करना,

अन्दर रमना। आहाहा! उसी का अनुचरण, उसका अनुचरण करके, चरण — रमना। भगवान पूर्णानन्द का केडे-केडे (पास-पास) रमना, उसे अनुसरण करके रमना। आहाहा! उसका नाम चारित्र है। आहाहा! नग्नपना और पंच महाव्रत के परिणाम, वह कोई चारित्र नहीं है; वह तो अचारित्र है। आहाहा! नग्नपना वह अजीव (की) दशा है; पंच महाव्रत का परिणाम तो राग है, आहाहा! वह तो राग का आचरण है; वह जीव का आचरण नहीं। सन्तों ने ऐसी स्पष्ट बात कही है और लोगों ने विरोध किया है। अरे... प्रभु! यह विरोध तो तेरे आत्मा के साथ है। है ?

श्रोता : अज्ञानी को भ्रम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका विरोध, उसके आत्मा के साथ है।

अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ भगवान निर्विकल्प अभेद वस्तु... आहाहा! ऐसा दृष्टि में लिया नहीं, ज्ञान में वेदन किया नहीं और बाहर का क्रियाकाण्ड और ऐसा और वैसा... आहाहा! लोकरंजन... मोक्षपाहुड़ में आता है, अष्टपाहुड़ में! लोकरंजन — लोकरंजन (ऐसा) अष्टपाहुड़ में आता है। लोग प्रसन्न हों, प्रसन्न (प्रसन्न) आहाहा! व्यवहार से आता है, ऐसी क्रिया से ऐसा होता है (यह) लोकरंजन अज्ञान है। आहाहा! इसमें तेरा आत्मा प्रसन्न नहीं। आहाहा!

अनुभव के द्वारा उसमें लीन होना चाहिए;.... भगवान पूर्णानन्द के नाथ प्रभु का ज्ञान किया-श्रद्धान किया। अब उसमें लीन होना चाहिए। आहाहा! आनन्दस्वरूप भगवान में रमना-अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करना, आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द! आहाहा! आता है न, नहीं ? उसमें — कलश में नित्यभोजी आता है, बन्ध अधिकार में (आता है)। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नित्यभोजी भगवान!

दूसरे कहते हैं.... खाना और यह खाने की क्रिया भी, बापू! यह तो जड़ की है भाई! तुझे इसके प्रति लक्ष्य है, वह भी विकारभाव है। आहाहा! यह तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान का ज्ञान-श्रद्धान किया और फिर रमना, उस अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करना, आहाहा! अतीन्द्रिय का स्वाद लेना। ऐसी बातें लोगों को कठिन पड़ती हैं, अभ्यास नहीं होता और पूरे दिन संसार के पाप के पोटले में पड़े हैं। अरर...! रंगूलालजी! अरे भगवान! भाई! आहाहा!

अनुभव के द्वारा उसमें लीन होना चाहिए;.... आहाहा! किसमें ? **उसमें....** यह जो ज्ञायकस्वभाव जो जानने में और श्रद्धा में आया है, उसमें लीन होना। समझ में आया ? **क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्था....** — मोक्ष ? **साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप....** यह अवस्था / पर्याय है, मोक्ष भी (पर्याय है)। **साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप उसकी सिद्धि की....** आहाहा! निष्कर्मदशा पूर्णानन्द की मोक्षदशा अभेद शुद्धस्वरूप **उसकी सिद्धि की इसी प्रकार उपपत्ति है,....** इस प्रकार से उसकी प्राप्ति है; दूसरे किसी प्रकार से प्राप्ति नहीं।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७९ गाथा - १७-१८ दिनाङ्क ०६-०९-१९७८ बुधवार
भद्रपद शुक्ल ४, वीर निर्वाण संवत् २५०४, उत्तमक्षमाधर्म

यह दशलक्षण पर्व का पहला दिन है न ? उत्तमक्षमा। उत्तमक्षमा आदि जो दश बोल हैं, वे चारित्र के भेद हैं। चारित्र मुख्य मोक्ष का कारण है, इसलिए चारित्र के दश प्रकार के धर्म (कहे गये हैं)। आत्मा का अनुभव, शुद्ध चैतन्य की दृष्टि और अनुभव हुआ हो और फिर उसमें चारित्र-लीनता हुई हो, उसे यह दश प्रकार का धर्म होता है। दश प्रकार के धर्म से सुख होता है, आनन्द होता है। आहाहा!

दश प्रकार का धर्म किसे कहते हैं ? कि जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द आता हो। आहाहा! और इसमें अतीन्द्रिय आनन्द है, इससे अतीन्द्रिय आनन्द है, वह अतीन्द्रिय आनन्द सुखस्वरूप ही है। दश प्रकार का धर्म.... ऐसी बात है, भाई! उत्तम क्षमा कहा न ? सम्यक्त्वसहित की (बात है), सम्यक्त्व बिना जो कुछ है, वह कोई क्षमा नहीं है, वह तो रूँधी हुई कषाय होती है। आहाहा! ऊपर आया है, भाई! ३९३ श्लोक।

मुनिधर्म क्षमा आदि भावों से दश प्रकार का है। सौख्यसार.... उससे सुख होता है, आहाहा! यह चारित्रधर्म। जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द आता है, आहाहा! उसका नाम दश प्रकार का मुनि का धर्म कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात है, बापा! बहुत कठिन! है

इसमें ? सौख्यसार.... इससे सुख होता है और इसमें सुख है अथवा सुख का सार है। यह दश प्रकार का धर्म सुख का सार, आनन्द का सार उसमें है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन विशेष हो, उसका नाम यहाँ दश प्रकार का धर्म है। आहाहा! ऐसी व्याख्या.... ३९३ में है। अब ३९४, दशों में, हाँ! दशों प्रकार का धर्म.... आहाहा! यह दशलक्षणी पर्व, यह दश प्रकार का धर्म, चारित्र का भेद है। सम्यग्दर्शनसहित अनुभव और चारित्र हुआ हो, उसमें विशेष आनन्द आता है, उसे यहाँ दश प्रकार का धर्म कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात है।

सम्यग्दर्शन में स्वरूप की दृष्टि होने से आनन्द का स्वाद आता है परन्तु थोड़ा है, आहाहा! और चारित्र में प्रचुर आनन्द है और उसमें क्षमादि हो.... आहाहा! उस क्षमा में तो महा आनन्द... आनन्द आता है, समझ में आया ? ऐसी बात है। इन दश धर्म में पहला उत्तम (क्षमा धर्म कहा)।

श्रोता : वीतरागभाव को धर्म कहते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह वीतरागभाव ही यह दश प्रकार का धर्म है। यह तो उसके भेद बताये, वरना वीतरागभाव एक ही धर्म और वह चारित्र और वह दश प्रकार का धर्म, वीतरागभाव है — ऐसी बात है। यह दश प्रकार का धर्म वीतरागभाव है। आहाहा! बहुत ही राग का अभाव करके अतीन्द्रिय आनन्द के उग्र अनुभव में आनन्द आता है, उसे यहाँ दश प्रकार का धर्म कहा जाता है। यह तो क्षमा की और अमुक किया — ऐसी बात नहीं है। यह तो उत्तमक्षमा और उत्तममार्दव!

अन्तर में आत्मा आनन्द प्रभु के अन्तर अनुभव में अतीन्द्रिय स्वाद का आना, उसका नाम तो सम्यग्दर्शन है। आहाहा! और चारित्र (अर्थात्) विशेष आनन्द का आना, उसका नाम चारित्र है। उसमें दश प्रकार के धर्म.... आहाहा! उस सुख के स्वाद में वृद्धि होती है.... आहाहा! उसका नाम (दश प्रकार का धर्म है)। बात ऐसी है।

कोहेण जो ण तप्पदि, सुरणरतिरिएहिं कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खिमा णिम्मला होदि॥

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३९४)

जो कोई सन्त मुनि मनुष्य, तिर्यञ्च, अचेतन आदि उपसर्ग में होने पर भी तप्तायमान नहीं होते, क्रोध से तप्तायमान नहीं होते परन्तु आनन्द से उग्र आनन्द के स्वाद में आ जाये... आहाहा! उसे यहाँ दशलक्षणी पर्व में प्रथम उत्तमक्षमाधर्म कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? श्रावक को पञ्चम गुणस्थान में भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों होते हैं। नियमसार में भक्ति आती है न? दर्शन — सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की श्रावक भक्ति करता है। वह भक्ति (रूप) परिणमन करता है। आहाहा! उसे यह दश प्रकार के धर्म का अंश है, मुनि को विशेष है, इसे आंशिक है परन्तु उस अंश में आनन्द का विशेष स्वाद आता है। सुखसार...! आहाहा!

शीशम की लकड़ी होती है न? शीशम.... शीशम। उसके अन्दर चिकना, कठिन सार होता है, ऐसे ही यह सुखसार! आहाहा! उत्तमक्षमा में अतीन्द्रिय आनन्द का सार आता है... आहाहा! उसको उत्तमक्षमाधर्म कहते हैं। उस मुनि को निर्मल क्षमा होती है, फिर दृष्टान्त दिया है। ऐसे-ऐसे मुनि हो गये हैं न? शान्त... शान्त... घानी में पिले.... आहाहा! इन पाण्डवों को लोहे के गहने बनाकर पहनाये.... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द की बाढ़ आती थी। उपसर्ग और परीषह सहन करे, उसमें सहन (करना) उसे कहते हैं कि ज्ञाता-दृष्टा रहकर आनन्द का विशेषपना प्रगट हो, उसका नाम परीषह सहन किया कहा जाता है। आहाहा! ऐसी चीज है, भाई! वीतराग के मार्ग की पूरी लाईन में अन्तर है। यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। यह इस उत्तमक्षमा का कहा। अब चलता अधिकार।

यहाँ तक आया है, **साध्य जो निष्कर्म....** दशा। मोक्ष की दशा, वह साध्य है। **अभेद शुद्धस्वरूप, उसकी सिद्धि की इसी प्रकार उपपत्ति है....** आहाहा! निज भगवान का दर्शन करना, प्रतीति करना-ज्ञान करना, और रमणता (करना —) यह निष्कर्म अवस्था / मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। आहाहा! **अन्यथा अनुपपत्ति है....** यह अनेकान्त है। वे अनेकान्त में ऐसा कहते हैं न? कि निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है, यह अनेकान्त है। आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा.... आहाहा! अपने निश्चयदर्शन-ज्ञान और चारित्र से

निष्कर्म अवस्था साध्य होती है, अन्यथा नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। व्यवहार से या राग से या निमित्त से नहीं — अनेकान्त इसका नाम है कि स्व से होता है, पर से नहीं। अभी अनेकान्त को फुदड़ीवाद कर दिया है। आहाहा! निश्चय से भी होता है, व्यवहार से भी होता है, उपादान से भी होता है, निमित्त से भी होता है, यह तो फुदड़ीवाद है, एकान्त मत-मिथ्या है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा! है?

इसी प्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है.... दूसरे प्रकार मुक्ति की अवस्था की उत्पत्ति होती नहीं है। आहाहा! अपने भगवान आत्मा (की) अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि, ज्ञान, और रमणता करना, यह एक निष्कर्म अवस्था की प्राप्ति का उपाय है। आहाहा! दूसरा कोई उपाय नहीं है। दो मोक्षमार्ग कहते हैं, वह तो कथन की शैली है, आहाहा! मोक्षमार्ग तो यह एक ही है, आहाहा! भाई! यह तो जिसे भव की थकान लगी हो, भव की पीड़ा (लगी हो कि) कहाँ जाऊँगा? आहाहा! (उसके लिए बात है।) शरीर में एक पीड़ा आती है तो सहन नहीं होती, आहाहा! शरीर में रहकर प्रभु! अन्दर तेरा काम करना है। मैं तो आनन्दकन्द प्रभु शुद्ध चैतन्यघन (हूँ), उसकी प्रतीति में आनन्द आना, उसका ज्ञान करने में आनन्द आना, उसमें स्थिरता करने में आनन्द आना.... आहाहा! ऐसा मार्ग है। **दूसरे प्रकार से नहीं होती....** है न? **साध्य की सिद्धि इसी प्रकार होती है, अन्य प्रकार से नहीं होती।** है? आहाहा!

(श्रोताओं से) इस दरवाजे के पास से हट जाओ। ऐसा क्या, यह, ठेठ पीछे से आते है और सामने बैठते हैं; हट जाओ या बाहर। बाद में आते हैं और सामने बैठना है, आहाहा!

अब, **(इसी बात को विशेष समझाते हैं —)** है न? **जब आत्मा को, अनुभव में आने पर....** क्या (कहते हैं)? अनेक पर्याय में राग-द्वेष और विकल्प (होते हैं)। आहाहा! **जब आत्मा को अनुभव में आने पर अनेक पर्यायरूप भेदभावों....** अनुभव अर्थात् यहाँ आनन्द के अनुभव की बात नहीं है। राग और पुण्य-पाप, यह अनेक प्रकार के (भाव) जो वेदन में — अनुभव में आते हैं। **अनेक पर्यायरूप भेदभावों के साथ मिश्रितता होने पर भी....** आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के साथ यह पुण्य और पाप के असंख्य प्रकार के (भाव) साथ में मिश्रितपना अनादि से हो गया है, (ऐसा) माना है। आहाहा! है?

मिश्रितता होने पर भी, सर्व प्रकार से भेदज्ञान में प्रवीणता से..... आहाहा! अन्तर में राग से भिन्न करने में प्रवीणता.... राग, वह बन्ध का लक्षण है; भगवान का लक्षण ज्ञान है। उस ज्ञान से राग को भिन्न करके.... आहाहा! ऐसी बात है। पर्याय में पुण्य और पाप के अनेक विकार अनुभव में आने पर भी, मिश्रितता होने पर भी, वस्तु तो वस्तुरूप है। राग की मिश्रितता मानी है, समझ में आया? आहाहा! राग और आत्मा की एक मिश्रितदशा होने पर भी.... आहाहा! **सर्व प्रकार से भेदज्ञान......** देखो! सर्व प्रकार से, एक अंश भी राग का अपने में नहीं है — ऐसे सर्व प्रकार से भेदज्ञान.... आहाहा! अन्तर में झुकने से राग से भिन्न हो जाता है — ऐसी बातें अब।

(सर्व प्रकार से) भेदज्ञान में प्रवीणता से.... सर्व प्रकार से, एक अंश भी राग मेरा नहीं है। आहाहा! **जो यह अनुभूति है, सो ही मैं हूँ....** यह जानने का अनुभव होता है, वह मैं हूँ; राग मैं नहीं हूँ। चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग हो; गुण-गुणी के भेद का राग हो, परन्तु राग से आत्मा को मिश्रित मान लिया है, तो उसे भेदज्ञान करके.... आहाहा! रागभाव से भगवान आत्मा का भेदज्ञान करने से, भिन्नता करने से, सर्व प्रकार से भिन्नता करने से.... आहाहा! यह क्रिया.... समझ में आया?

यह अनुभूति है सो ही.... भेदज्ञान करने से जो ज्ञान का अनुभव रहा, वह मैं हूँ। है? **यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ — ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ....** आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ... आहाहा! भगवान आत्मा, राग से मिश्रित अवस्था में होने पर भी, भिन्न करने की — भेदज्ञान की कला से, सर्व प्रकार से भेदज्ञान करने से एक ज्ञानरूप रहा, वह मैं हूँ। आहाहा! ऐसी बात है। जिसे कल्याण करना हो, उसे यह मार्ग है, भाई! बाकी सब बातें हैं। आहाहा!

यह अनुभूति है, सो ही मैं हूँ.... यह जाननहार आत्मा — ऐसी अनुभूति सो मैं! राग की मिश्रितता होने पर भी सर्व प्रकार से भेदज्ञान से भिन्न करने पर जो ज्ञान है, सो मैं हूँ, अनुभूति वह आत्मज्ञान। आहाहा! अरे....! ऐसी बातें। **प्राप्त होता हुआ इस आत्मा को जैसा जाना है, वैसा ही है। इस प्रकार की प्रतीति....** जानने में आया कि यह तो ज्ञानस्वरूपी भगवान है, आनन्दस्वरूपी प्रभु है। इस प्रकार ज्ञान में भेदज्ञान से

अनुभूति-ज्ञान की अनुभूति, वह मैं हूँ — ऐसा जाना, ऐसी ही प्रतीति — इस प्रकार की प्रतीति हुई। आहाहा!

प्रतीति जिसका लक्षण है ऐसा, श्रद्धान उदित होता है.... आहाहा! उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। अरे....! राग के भाग से अन्दर में भगवान को भिन्न करके जो ज्ञान का अनुभव रहा, वह मैं हूँ और वह आत्मज्ञान है। आहाहा! उस ज्ञान में ऐसा आत्मा ज्ञात हुआ, ऐसी ही प्रतीति आयी। आत्मा का ज्ञान हुआ, वैसी ही प्रतीति हुई कि यह आत्मा! आहाहा! ऐसी बात....। **ऐसा श्रद्धान उदित होता है...।**

तब समस्त अन्य भावों का भेद होने से.... जब राग से, पुण्य के विकल्प से ज्ञानस्वरूपी भगवान भिन्न होने से, भिन्न का ज्ञान हुआ, और भिन्न की प्रतीति हुई। यह जानने में आया, वही आत्मा — ऐसी प्रतीति हुई। फिर अन्य भावों का भेद होने से... **समस्त अन्य भावों....** आहाहा! गुण-गुणी का विकल्प / भेद उठता है, उससे भी भेद करके.... आहाहा! **समस्त अन्य भावों का भेद होने से निःशंक स्थिर होने में समर्थ....** होता है। आहाहा! स्वरूप में निःशंकरूप से स्थिर होने से चारित्र होता है।

राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप है — ऐसी अनुभूति हुई, वह आत्मज्ञान; और उस आत्मज्ञान में जो आत्मा ज्ञात हुआ, वैसी प्रतीति हुई। प्रतीति होने के बाद अन्यभावों से, रागादि से भिन्न होकर (स्थिर होने में समर्थ हुआ) है? **निःशंक स्थिर होने में....** स्वरूप में निःशंकरूप से स्थिर होने से **आत्मा का आचरण उदय....** होता है। यह आत्मा का आचरण....। राग से भिन्न श्रद्धा, ज्ञान करने के बाद और फिर राग से भिन्न होकर स्वरूप में स्थिर होना, निःशंकरूप से (स्थिर होना कि) मैं यही हूँ। राग और दया, दान का विकल्प है, वह मैं नहीं। आहाहा! काम बहुत (कठिन है)। शास्त्र का जो परलक्ष्यी ज्ञान है, वह भी मैं नहीं हूँ क्योंकि उसमें आत्मज्ञान नहीं हुआ। आहाहा! आत्मज्ञान अर्थात् जो आत्मा है, उसका ज्ञान। राग से भिन्न पड़कर (हुआ) आत्मज्ञान और ऐसी प्रतीति (होना कि) यह आत्मा... ज्ञान में आया ऐसा 'यह आत्मा' ....ऐसी प्रतीति और समस्त अन्य भावों से भिन्न पड़कर निःशंकरूप से स्थिर होने की सामर्थ्य प्रगट हुई, आहाहा! रागादि मैं नहीं और मेरी चीज में निःशंकरूप से स्थिर होना, आहाहा! (तब) **आत्मा का**

आचरण उदय.... होता है। तब आत्मा का आचरण (उदय होता है)। भगवान आत्मा में लीन होता है; आचरण अर्थात् स्वरूप का आचरण होता है — यह आचरण का उदय अर्थात् चारित्र (प्रगट) हुआ। आहाहा! ऐसी बात है।

आत्मा को साधता है। इस प्रकार अनुभूति — ज्ञान, वह मैं; और उस ज्ञान में आत्मा ज्ञात हुआ — ऐसी प्रतीति हुई, तब समस्त अन्य भावों से भिन्न होकर निःशंकरूप से स्वरूप में स्थिर होने का आचरण — आत्म-आचरण प्रगट हुआ। इस प्रकार आत्मा की सिद्धि है; इस प्रकार **आत्मा को साधता है।** आहाहा! **ऐसे साध्य आत्मा की सिद्धि की इस प्रकार उपपत्ति है।** इस प्रकार साध्य जो निष्कर्मदशा — मोक्ष की सिद्धि इस प्रकार है, दूसरे प्रकार से नहीं है। आहाहा! थोड़े में भी कितना भर दिया है!

राग / विकल्प और भगवान / वीतरागस्वरूप — दोनों का मानों मिश्रितपना हो गया हो, ऐसे मिश्रितपने में राग से भिन्न पड़कर अनुभूति — यह जाननेवाला.... जाननेवाला ही मैं — ऐसा ज्ञान हुआ, वह आत्मज्ञान हुआ। आहाहा! समझ में आया? लो, यह दशलक्षण पर्व का पहला दिन। आहाहा!

श्रोता : सुख का पहला दिन, सुख प्राप्त करने का पहला दिन!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सुख, सुख, सुख कहा था न कल, भाई ने वहाँ, वहाँ सूरतवाले आये न! आहाहा!

भगवान सुख का भण्डार है न, प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, है न! — उसे राग से भिन्न करके ज्ञान में अतीन्द्रिय सागर का ज्ञान — आत्मज्ञान हुआ। आहाहा! और जैसा जानने में आया, वैसी प्रतीति हुई और समस्त राग से भिन्न पड़कर निःशंकरूप से आत्म-आचरण करने का पुरुषार्थ हुआ। आहाहा! यह चारित्र....। सूक्ष्म बात, बापू! अरेरे...! अनन्त काल से भगवान को भूलकर भ्रम में अनादि से पड़ा है, वह दुःख के पन्थ में है। आहाहा! इस प्रकार सिद्धदशा की उपपत्ति है। साध्य सिद्ध!

ऐसा होने पर भी.... आहाहा! अब आया... यह शरीर, पैसा, और प्रतिष्ठा यह श्मशान की हड्डियों की फासफूस है। आहाहा! जिसे इसकी विस्मयता लगती है, उसे आत्मा की विस्मयता नहीं लगती। जिसे आत्मा के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ की अतिशयता,

विशेषता भासित होती है, उसे आत्मा की भिन्नता नहीं भासित होती। आहाहा! समझ में आया कुछ? ऐसा होने पर भी....।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा.... आहाहा! ज्ञान में अनुभवस्वरूप भगवान आत्मा, आहाहा! **आबाल-गोपाल....** आबाल अर्थात् बालक से लेकर वृद्ध; गोपाल अर्थात् वृद्ध, बालक से लेकर वृद्ध को — सबको; आहाहा! अनुभव में **सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी....** आहाहा! उसकी पर्याय में, ज्ञान की पर्याय है, उसका स्वपरप्रकाशक स्वभाव है, उस कारण पर्याय में स्वस्वरूप जानने में आता है। पर्याय में द्रव्यस्वरूप भगवान जानने में आता है, तथापि अज्ञानी को पर तरफ के बन्ध के लक्ष्य होने से, राग के प्रेम के कारण वह अन्तर में देख नहीं सकता। मेरी वस्तु, मैं आत्मा पर्याय में जानने में आता है — ऐसा देख नहीं सकता।

फिर से, आहाहा! ज्ञान की जो वर्तमान पर्याय है, उस पर्याय का स्वभाव ही स्वपरप्रकाशक है, चाहे तो अज्ञान हो या ज्ञान हो! उस पर्याय में आत्मा ही जानने में आता है, क्योंकि स्वपरप्रकाशक स्वभाव होने से ज्ञान की पर्याय में स्ववस्तु है, वही जानने में, अनुभव में आ रही है। पर्याय में द्रव्य ही ज्ञात होता है। आहाहा! है?

श्रोता : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी; **सदा।** नहीं कहा यह? अनुभव में सदा और स्वयं, सदा और स्वयं। आहाहा! ज्ञान की पर्याय में सदा.... स्वयं.... आहाहा! **आने पर भी.... स्वयं ही आने पर भी....** आहाहा! कहते हैं कि ज्ञान की वर्तमान दशा में सदा, स्वयं जानने में आता है — ऐसा होने पर भी, **अनादि बन्ध के वश....** परन्तु अनादि राग के वश.... आहाहा! राग, वह वास्तव में परद्रव्य है, वह स्वद्रव्य नहीं है। आहाहा! ज्ञान की पर्याय में स्वद्रव्य जानने में आता होने पर भी, राग जो परद्रव्य है, उसके साथ (एकपने की) दृष्टि के कारण पर्याय में ज्ञात होते आत्मा को नहीं जानता, उसे नहीं जानता। आहाहा! अद्भुत, भाई!

फिर से, **परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान...** ज्ञानस्वभावी **भगवान आत्मा....** देखो, भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी अनुभव.... **आबाल-गोपाल सबके....**

बालक से (लेकर) वृद्ध, आहाहा! सबको अनुभव में, सबको अनुभव में.... सबको सदा और सबको स्वयं, आहाहा! भाई! यह कोई वार्ता, कथा नहीं; यह तो भगवत् (कथा है)। आहाहा!

आबाल-गोपाल सबको सदा.... सबको और सदा और स्वयं आत्मा ही ज्ञान की पर्याय में जानने में आता है। आहाहा! अरे! ऐसा होने पर भी, **अनादि बन्ध के वश....** परन्तु दृष्टि राग और विकल्प पर है, आहाहा! उसके वश हो जाने से, पर्याय में द्रव्य ज्ञात होता है, फिर भी उसे जान नहीं सकता। आहाहा! राग की एकता की अन्धबुद्धि में पर्याय में ज्ञात होते हुए भगवान को जान सकता है, फिर भी जानता नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। अन्दर है या नहीं ? आहाहा!

ऐसा अनुभूति — ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, आबाल-गोपाल को ज्ञान की पर्याय में जानने में आता है। सबको, सदा और स्वयं.... यह आत्मा ही सदा, स्वयं अपनी पर्याय में जानने में आता है। आहाहा! परन्तु अपने स्वभाव की तरफ दृष्टि नहीं होने से और राग के वश होकर, अबन्धस्वरूप जो पर्याय में ज्ञात होता है, वह राग के बन्ध के (वश), रागरूप बन्ध के वश होकर, अबन्धस्वरूप जो पर्याय में जानने में आता है, उसे जान नहीं सकता। आहाहा! क्या कहा ? यह तो धीरज का काम है, बापू! आहाहा!

बालक से लेकर वृद्ध सभी आत्मा में जो ज्ञान की पर्याय है, उसमें यह अनुभूति (स्वरूप) भगवान आत्मा ही जानने में आता है। आहाहा! ऐसा होने पर भी, अनादि राग के सम्बन्ध में — यह बन्ध कहो या राग का सम्बन्ध कहो... आहाहा! राग के सम्बन्ध में रुकने से, अबन्धस्वरूप पर्याय में ज्ञात होता है, वह बन्ध में रुकने के कारण, अबन्ध ज्ञात होता है (तो भी) उसे जानता नहीं है। आहाहा!

फिर से, आत्मा आनन्द, ज्ञानस्वरूप है। वह पर्याय में अज्ञानी को भी, बालक से वृद्ध (सबको) सदा स्वयं आत्मा, वह आत्मा ही पर्याय में अनुभव में आता है। आहाहा! ऐसा होने पर भी, अज्ञानी, राग के सम्बन्ध में रुकने से — राग के बन्धभाव में रुकने से, पर्याय में अबन्धस्वरूपी भगवान (आत्मा) ज्ञात होने पर भी, राग के सम्बन्ध में पड़े हुए को वह जानने में नहीं आता। कहो, अन्दर है या नहीं ? आहाहा!

नजर तले ऐसी चीज दिखती हो परन्तु नजर और लक्ष्य अन्यत्र होता है तो वह नहीं दिखता है। आहाहा! अरे...! प्रभु! तू तेरी पर्याय में, ज्ञान की एक समय की पर्याय में प्रभु! सदा आबाल-गोपाल को और स्वयं भगवान आत्मा ही ज्ञात होता है। आहाहा! क्या टीका (है)! भरतक्षेत्र में (अजोड़ है)! आहाहा! राग के वश, होकर पर्याय में अबन्धस्वरूप ज्ञान में आता होने पर भी राग के सम्बन्ध में रुकने से अबन्धस्वरूप ज्ञात नहीं होता।

फिर से, आहाहा! भगवान आत्मा, उसकी ज्ञान की पर्याय भले अज्ञान हो, परन्तु उस पर्याय में पर्याय का स्वभाव ज्ञान है न? तो उसका स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। अतः पर्याय में स्वयं आबाल-गोपाल को सदा स्वयं आत्मा ही ज्ञात होता है। आहाहा! ऐसा होने पर भी, राग के सम्बन्ध के बन्ध के वश से उस पर्याय में अबन्ध ज्ञात होने पर भी उसे नहीं जानता, राग को जानता है। आहाहा! अरे...! यह बात कहाँ है? बापा! दिगम्बर सन्त हैं। आहाहा! केवलज्ञान का विरह भुलावे — ऐसी बात है। आहाहा! दूसरे को दुःख लगे कि यह हमारा, यह तुम्हारा एक ही है। बापू! तुम्हारा-हमारा नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा!

क्या कहा? कि आत्मा, पर्याय में अबन्धस्वरूप है, उस पर्याय में पर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से अज्ञानी की पर्याय में भी वह द्रव्य ही जानने में आता है परन्तु अज्ञानी, राग के सम्बन्ध में रुकने से राग को जानता है; जो उसमें है नहीं, उसे जानता है और पर्याय में जो जाननेवाली चीज है, उसे नहीं जानता। आहाहा! कहो, सुमनभाई! वहाँ कहीं ऐसा मिले ऐसा नहीं है। (वह सब) भटकने के मार्ग हैं, बापू! आहाहा! अरे...! इसे सत्य कान में न पड़े, (वह) सत्य को किस प्रकार शोधे? आहाहा!

भगवान! तेरा स्वरूप जो पूर्ण अबद्धस्वरूप है... आहाहा! वह तेरी पर्याय में अबद्ध ही स्वयं, सदा, सबको जानने में आता है — ऐसा होने पर भी राग के सम्बन्ध में, बन्ध में वहाँ रुकने से पर्याय में अबन्ध ज्ञात होता है, उसे जान नहीं सकता... आहाहा! ऐसी बात है। चाहे तो भगवान की भक्ति का राग हो, या चाहे शास्त्र की भक्ति का राग हो.. आहाहा! परन्तु वह राग का बन्ध... राग वह बन्ध है (और) भगवान

अबन्धस्वरूप है, तो पर्याय में अबन्धस्वरूप जानने में आता है, स्वभाव ही ऐसा है; पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है, आहाहा! ज्ञान की पर्याय का — अवस्था का त्रिकाली अवस्थायी प्रभु स्वयं जानने में आता है — ऐसा पर्याय का धर्म है, स्वभाव है। ऐसा होने पर भी, राग के सम्बन्ध में रुकने से और राग को जानने से रागरहित चीज पर्याय में जानने में आती है, उसे जानता नहीं... आहाहा! कहो, ऐसी बात है बापू! कठिन बात, भाई! वीतरागमार्ग (अलौकिक है।)

राग की पर्याय में रुकने से वीतराग भगवान आत्मा जिनस्वरूपी... आहाहा! जिनस्वरूपी भगवान आत्मा, उस पर्याय में वह जिनस्वरूप ही ज्ञात होता है। आहाहा! ऐसा होने पर भी, जिनस्वरूप से विरुद्ध जो राग — चाहे तो दया-दान-भक्ति-व्रत का कोई भी विकल्प हो... आहाहा! उसे देखने से — बन्ध के वश होकर पर्याय में अबन्धस्वरूप ज्ञात होने पर भी, उसे नहीं जानता है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! कितनों को तो यह नयी लगती है। यह समयसार कहीं नया है? दो हजार वर्ष से तो बना हुआ है। आहाहा! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है न प्रभु!

जहाँ स्वयं सदा पर्याय में — ज्ञान की दशा में जानने में आता होने पर भी लक्ष्य बन्ध (— राग) पर है। राग का विकल्प चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति (का हो परन्तु) राग में ही एकाकार हुआ है, राग को देखता है। राग को देखता है तो पर्याय में अरागी अबन्धस्वरूपी जानने में आता है, उसे नहीं जानता। आहाहा! अरे...! आहाहा! बहुत ही भरा है, ओहोहो...! सन्त तो करुणा करके जगत् को आत्मा की प्रसिद्धि करते हैं। भाई! भगवान की प्रसिद्धि तेरी पर्याय में हो रही है परन्तु तेरी नजर राग और पर्याय में रुकने से... आहाहा! उस पर्याय में जानने की शक्ति और जानना होने पर भी, जानता नहीं। आहाहा! यहाँ तो अकेली ज्ञान की क्रिया की बात है।

जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा... देखो! **भगवान आत्मा...!** आहाहा! अनन्त... अनन्त... आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी का भण्डार भगवान है। वह **आबाल-गोपाल...** बालक से लेकर वृद्ध सबको... आहाहा! आठ वर्ष का बालक हो... आहाहा! प्रभु! उसकी ज्ञान की पर्याय में वह भगवान आत्मा जानने में आता है। आहाहा!

सबको सदा स्वयं पर्याय में भगवान ज्ञात होने पर भी, अनादि राग के वश होकर राग के ज्ञान में रुकने से, अबद्धस्वरूप का ज्ञान होने पर भी, उसका ज्ञान नहीं करता। आहाहा! ऐसा उपदेश... अन्य तो व्रत करो, तप करो, प्रतिमा ले लो, जाओ! आहाहा! भाई! तेरा नाथ अन्दर महाप्रभु है न! भगवान आत्मा कहा न? भगवान... आहाहा! अज्ञानी का आत्मा भी भगवान आत्मा कहा... आहाहा! भाई! तुझे तेरा पता नहीं, जिसका पता होता है, उसका तुझे पता नहीं, तुझे पता नहीं और राग की खबरों में रुकने से भगवान रुक गया। आहाहा! कहो, युगलजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा! यह समझ में आये ऐसा है, हाँ! भाषा कोई ऐसी कठिन नहीं, भाषा तो सादी है। आहाहा! क्या सन्तों ने काम किया है! आहाहा! आत्मा की प्रसिद्धि... इस टीका का नाम आत्मख्याति है। उस आत्मख्याति की प्रसिद्धि करने पर... आहाहा! पर्याय में आत्मा ज्ञात होने पर भी... क्योंकि पर्याय का स्वभाव स्वपरप्रकाशक होने से... भले तेरी नजर वहाँ न हो परन्तु वह स्वपरप्रकाशक स्वयं जानने में आता है। स्वयं भगवान जानने में आता है। आहाहा! **परन्तु अनादि बन्ध के वश से....** देखो! इस राग के अंश के बन्ध के वश पड़ा है... भगवान आत्मा पर्याय में ज्ञात होने पर भी, राग के अंश के वश पड़ा है। आहाहा!

परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से.... वास्तव में तो यह विकल्प-राग है, वह भी परद्रव्य है, आहाहा! वह स्वद्रव्य नहीं है। भगवान आत्मा... आहाहा! व्यवहार के रसिकों को तो यह ऐसा लगता है कि यह क्या कहते हैं? भाई! तेरे घर की बात है प्रभु! और तेरा घर तुझे ज्ञात होता है। जानने में आने पर भी तेरी नजर वहाँ नहीं है। आहाहा! कहो, हीराभाई! ऐसा है। ऐसा कैसा उपदेश! करना क्या? कुछ हाथ नहीं आता? आहाहा! भाई! करना यह है, पर के — बन्ध का लक्ष्य छोड़कर अबन्धस्वरूपी भगवान ज्ञात होता है, वहाँ नजर डाल! — यह करना है, बाकी तो सब व्यर्थ है। आहाहा!

परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से.... यह क्या कहा? राग और स्वभाव की एकता है — ऐसा मानने से... आहाहा! विभाव का अध्यास हो गया है, इसलिए... आहाहा! **एकत्व के निश्चय से मूढ़-अज्ञानीजन को...** आहाहा! एक ओर भगवान आत्मा कहा (और यहाँ मूढ़ कहा) आहाहा! भाई! यह तो अमृत का प्रवाह है। आहाहा!

अमृत का सागर भगवान, तेरी पर्याय में भगवान आत्मा सदा स्वयं ज्ञात होता है। प्रभो! यह तेरी पर्याय का स्वभाव है परन्तु तूने अनादि से राग-चाहे तो शुभ हो... आहाहा! गुण-गुणी के भेद के विकल्प में रुकने से... आहाहा! मूढ़ अज्ञानी को **जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ...** जाननेवाला ज्ञान मैं हूँ — **ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता...** इसलिए आत्मा का ज्ञान, आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

वीतरागस्वरूपी भगवान, पर्याय में ज्ञात होने पर भी, राग के वश हुआ होने से, राग का ज्ञान करने से स्व का ज्ञान रुक गया। आहाहा! राग का, विकल्प का ज्ञान किया, अरे...! शास्त्र के ज्ञान से वहाँ रुक गया। आहाहा! मेरी पर्याय में बहुत शास्त्र का ज्ञान हुआ, आहाहा! भाई! यह शास्त्रज्ञान कोई तेरी चीज नहीं है। आहाहा! परन्तु उसमें रुकने से... आहाहा! वह बन्धभाव है। आहाहा! ज्ञान को वहाँ रोकने से ज्ञान में भगवान ज्ञात होता है, उसे मूढ़ जानता नहीं है। आहाहा!

अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ'... जाननेवाली चीज है, वही मैं हूँ — **ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता...** उसे ऐसा आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता; राग का ज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! ऐसी गम्भीर बातें! साधारण समाज को (ऐसा उपदेश) ? परन्तु सत्य हो, वह समाज के समक्ष रखना या असत्य रखना? और समाज आत्मा है या नहीं? प्रभु! भगवान आत्मा है, भाई! ऐसा भगवान आत्मा, पर्याय में ज्ञात होने पर भी, पर्याय में राग में रुकने से... आहाहा! वह (आत्मा) जानने में आता है, उसे मूढ़ ने जाना नहीं है। आहाहा!

ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता... उसे तो राग का ज्ञान हुआ। आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु अकेला जाननेवाला, उसका ज्ञान नहीं हुआ। जिसमें वह चीज नहीं है — ऐसे राग का ज्ञान हुआ। आहाहा! तो आत्मज्ञान उदित नहीं हुआ। आहाहा! भगवान! **और उसके अभाव से अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के श्रद्धान समान है...** अज्ञात, जो चीज जानने में नहीं आयी, उसकी श्रद्धा क्या? आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८० गाथा-१७-१८, कलश-२० दिनाङ्क ०८-०९-१९७८ शुक्रवार
भाद्र शुक्ल ६, वीर निर्वाण संवत् २५०४

मार्दव धर्म।

उत्तमणाणपहाणो उत्तमतवयरणकरणसीलो वि।
अप्पाणं जो हीलदि मद्दवरयणं भवे तस्स॥ ३९५॥

आहाहा! यह दश प्रकार का धर्म, चारित्रधर्म का अन्तर्भेद है। चारित्र, वह मोक्ष का साक्षात् कारण है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान, जिसको चारित्र का कारण है और चारित्र, मोक्ष का कारण है, उस चारित्र में यह दश भेद हैं, उसमें उत्तम मार्दव — कोमलता... कोमलता... कोमलता... उत्तम ज्ञान हो, जानने का पण्डित हो और ज्ञान, तपस्या में महा प्रधान, तपस्या करता हो, छह-छह महीने के अपवास आदि, तथापि **अप्पाणं जो हीलदि...** इस आत्मा का अनादर करता है। आहाहा! अरे..! तेरी पर्याय कहाँ और सर्वज्ञ की पर्याय कहाँ? आहाहा! समझ में आया? मुनि है, तीन कषाय का अभाव है, चारित्र है, इतनी निर्मानता प्रगट हुई है कि जिसमें केवलज्ञान की पर्याय देखने से मैं तो तृणतुल्य हूँ। आहाहा! यहाँ तो थोड़ा बहुत ज्ञान हो, वहाँ मान ले कि हमने बहुत कर लिया और जाना... आहाहा! अरे..रे...! यहाँ तो उत्तम ज्ञान हो, शास्त्र का, महा शास्त्रों का जाननेवाला पण्डित हो, ज्ञानमद नहीं करता। आहाहा! तथा पुत्र-कलत्र आदि में, समकिती हो वह भी उसमें मेरा है — ऐसा अभिमान नहीं करता। आहाहा! सम्यग्दृष्टि है, (उसे) पुत्र-कलत्र आदि लक्ष्मी अरबोंपति आदि (हो), उसमें आसक्ति होती है परन्तु वह मोह का विलास है, मेरी चीज नहीं। समझ में आया? ऐसे आत्मा में निर्मानपना रखते हैं। यह फिर यह तो तीसरा है न, (तीसरा) उत्तम आर्जव।

अब, उत्तम आर्जव!

जो चिंतेइ ण वंकं कुणदि ण वंकं ण जंपए वंकं।
ण य गोवदि णियदोसं अज्जवधम्मो हवे तस्स॥ ३९६॥

जो मुनि, मन में वक्रता का चिन्तवन नहीं करते। आहा! सूक्ष्म बात है। एक बार

बहुत प्रश्न हुआ था, (संवत्) ८२ था, संवत् ८२ में जामनगर गये थे परन्तु वहाँ तो सब क्रियाकाण्ड बहुत चलता था। ताराचन्दभाई थे, वीरजीभाई के पिताजी (थे), तो वे बाहर से व्यवहार सब कराते थे, उसमें यह बात निकली की भाई! जो मन, वचन, काया की वक्रतारहित सरलता हो तो उससे तो पुण्यबंध होता है। यह सरलता अलग है, वह सरलता अलग है। समझ में आया? चार बोल हैं — शुभ नामकर्म बंधन में चार बोल हैं — मन की वक्रतारहित, वचन की वक्रतारहित, काया की वक्रतारहित, विसंवाद-झगड़ा किसी के साथ नहीं, तथापि यह तो सम्यग्दर्शनरहित हो तो भी ऐसा शुभभाव तो होता है। आहाहा! समझ में आया? जिससे शुभनामकर्म बँध पड़े। यह भाषा तो वह की वह यहाँ है। मन में वक्रता नहीं, वचन में... इस वक्रता का अर्थ-आनन्दस्वरूप भगवान का अनुभव करने में... आहाहा! जिसमें इतनी सरलता है कि अतीन्द्रिय आनन्द की उग्र शान्ति आती है। आहाहा! उसका नाम आर्जवधर्म कहा जाता है। समझ में आया? इस पाठ में तो ऐसा है परन्तु 'न गुवई निज दोषम्' अपना दोष-जो आसक्ति का थोड़ा (दोष) है, वह भी नहीं छिपाता। भाई! मुझमें तो है। समझ में आया? मुझमें जरा अस्थिरता का दोष आता है, मेरी कमजोरी है — ऐसा सरल मुनि अपनी ज्ञानदशा में आनन्द में सुख का स्वाद लेता है, उसको यह सरलता होती है। आहाहा! समझ में आया? है?

वचन से वक्र नहीं बोलता, अपने दोषों को नहीं छिपाता, (उस) मुनि के उत्तम आर्जव होता है। लो, आहाहा! अपने दोष हो, वह गुरु के पास सरलरूप से प्रसिद्ध करे, यद्यपि यह है तो विकल्प... समझ में आया? नीचे है - जैसे बालक की तरह गुरुओं के पास कहे — ऐसा-ऐसा विकल्प वह तो विकल्प है परन्तु अन्दर में इतनी सरलता है। आहाहा! कि कहने में जरा भी छुपाना... तुम इतनी पदवी धारक और ऐसा राग आया... ऐसा सरलता करके बोले, आया मुझे तो। आहाहा! मैं सन्त हूँ, मुनि हूँ, शान्ति का दाता हूँ, तथापि मेरी परिणति में जरा ऐसा राग आया — ऐसा सरलरूप से वीतरागभाव से प्रसिद्ध करे, समझ में आया? आहाहा! इसको यहाँ उत्तम आर्जवधर्म — तीसरा कहा जाता है। इस आर्जवधर्म में शुभभाव नहीं, अन्दर शुद्ध के उपयोग में रमणता वह यह दश प्रकार का धर्म है। आहाहा! यह तीन बोल आये।

अपने समयसार (१७-१८ गाथा में) भावार्थ आया न? भावार्थ — भावार्थ :- (श्रोताओं को सम्बोधन करके कहा) यह सब आ गया है, तुम्हें पता नहीं रहता। (क्या कहा)? पता नहीं रहता।

आत्मा को नहीं साध सकता, साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है। वहाँ सब आ गया है। **अन्यथा अनुपपत्ति है।** आ गया है। हर बार ऐसा ही होता है, हाँ! याद नहीं रहता। यह बात कर गये थे, अन्दर।

भावार्थ : साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है,.... पर्याय से बात की है। आहाहा! इस पर्याय-दर्शन, ज्ञान, चारित्र से सिद्धि है — ऐसी पर्याय से - व्यवहार से बात की है। आहाहा! अरे! विकल्प का व्यवहार तो कहीं (दूर) रह गया परन्तु अन्तर आत्मा की निर्विकल्प दृष्टि-निर्विकल्प सम्यक् आत्मा का ज्ञान और स्वरूप की रमणता... आहाहा! यह तीन भी पर्यायदृष्टि से-व्यवहारनय से कहे गये हैं। आहाहा! तीसरा शब्द लें तो ये अशुद्धनय से कहा गया है, पर्याय है न — भेद? आहाहा! आहाहा! यह ऐसी बात है! भगवान आत्मा अपना शुद्ध अखण्ड एकरूप स्वभाव में से तीन प्रकार पर्यायरूप परिणमित हुए... आहाहा! ऐसा मार्ग।

सम्यक् निर्विकल्प आत्मा का अनुभव और आत्मा का ज्ञान... शास्त्र का ज्ञान, यह बात तो यहाँ है ही नहीं; आहाहा! और आत्मा में रमणतारूप चारित्र, चरना, रमना — इन तीन प्रकार को पर्याय से कहा गया है, व्यवहारनय से कहा गया है। तीसरा शब्द कहें तो अशुद्धनय से कहा गया है। पर्याय का कहना वह अशुद्धनय है, शुद्ध से कहना — अभेद से (कहना) वह शुद्ध निश्चयनय है। आहाहा! यह नय में आया है, कहा था — अशुद्ध, शुद्धनय है न? ४६-४७, प्रवचनसार! मिट्टी में से घड़ा, झारी आदि बर्तन हो, वह पर्याय है, तो वह अशुद्धनय का विषय है और अकेली मिट्टी, वह शुद्धनय का विषय है। (यह दृष्टान्त) है।

सिद्धान्त — आहाहा! भगवान आत्मा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-निश्चयचारित्र और पर्यायरूप परिणमित हो, वह अशुद्धनय का विषय है। आहाहा! और एकरूप द्रव्यस्वभाव, वह शुद्धनय का विषय है — ऐसा मार्ग है। आहा! वह कहते हैं, **अन्य प्रकार से नहीं।**

इस सम्यग्दर्शन, ज्ञान निश्चय से मोक्ष का मार्ग — साध्य की सिद्धि है, मोक्ष अर्थात् साध्य सिद्धि। **अन्य प्रकार से नहीं।....** निषेध कर दिया। व्यवहाररत्नत्रय से, निमित्त से होता है, यह तीन काल में नहीं। आहाहा!

क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि यह जो जाननेवाला अनुभव में आता है.... यह जाननेवाला जो है, वह अनुभव में आता है। राग है, वह जानने में आता है — ऐसा नहीं है। जाननेवाला राग को, स्व को, पर को भी जाननेवाला है। **यह जो जाननेवाला अनुभव में आता है सो मैं हूँ।....** ऐसी सूक्ष्म बात है। भभूतमलजी प्रश्न करते थे न रात में! सम्यग्दर्शन कैसे हो? आहाहा! बापू! यह बात... आहाहा! यह जाननेवाला, यह अनुभव में आता है। राग — दया, दान, भक्ति का राग नहीं। आहाहा! चाहे तो देव-गुरु और शास्त्र की भक्ति (हो), वह भी एक शुभराग है। समझ में आया? वह अनुभव में नहीं आता; अनुभव में तो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अनुभव में आता है कि यह ज्ञान। जाननेवाला आत्मा अनुभव में आता है। आहाहा! रीति बहुत (अद्भुत है), अभ्यास नहीं और वर्तमान में तो इस उपदेश में भी फेरफार हो गया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं — दूसरे प्रकार से कहें तो जाननेवाला जो सर्वज्ञस्वभावी आत्मा, आहाहा! जाननेवाला सर्वज्ञस्वभावी वह मैं हूँ। समझ में आया? आहाहा! **सो मैं हूँ।....** उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। यहाँ ज्ञान प्रधान से कथन है न? प्रतीति बाद में लेते हैं। यह जाननेवाला जो है, वह जाननेवाला सर्वज्ञस्वभावी है। जाननेवाला है, वह जानन स्वभावी है। जाननेवाला है, वह सर्वज्ञस्वभावी है। जाननेवाला है, (वह) पूर्ण ज्ञानस्वभावी है — यह बात है। वह अनुभव में आता है, वह मैं हूँ — ऐसा ज्ञान होना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। आहाहा!

इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है;.... जानने में आता है वह मैं हूँ — ऐसा जो ज्ञान हुआ, सम्यक्, हाँ! शास्त्र को जाननेवाला, राग को जाननेवाला, वह नहीं; मैं तो जाननेवाला, बस! आहाहा! ऐसी ज्ञानदशा हुई, उसमें प्रतीति कि यह आत्मा, यह पूर्ण ज्ञानस्वभावी प्रभु, पूर्ण आनन्द अतीन्द्रिय सुखस्वरूप — ऐसा ज्ञान में जानकर, ज्ञान में जानते प्रतीति हुई, आहाहा!

क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा?.... आहाहा! जाननस्वभाव मैं जाननभाव मैं जाननेवाला मैं हूँ — ऐसा अन्तर्मुख लक्ष्य से जो ज्ञान हुआ, आहाहा! उस ज्ञान में प्रतीति आयी कि यह आत्मा जानने में आया यह आत्मा, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

तत्पश्चात् समस्त अन्यभावों से भेद करके अपने में स्थिर हो।.... आहाहा! जाननेवाला वह मैं हूँ — ऐसा ज्ञान, भान, अनुभव आया, उसमें प्रतीति आयी कि यह आत्मा और उसमें राग आदि से, भेद से भिन्न होकर... आहाहा! यह ज्ञानस्वभावी आत्मा आता है न? हुकमचन्दजी का, नहीं? 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' 'मैं रंग राग से भिन्न, भेदभाव से भिन्न निराला हूँ' एक पंक्ति है उसमें। रंग, राग से भिन्न... रंग अर्थात् अजीव; जितना अजीव है, उससे भिन्न। राग, जितना विकार है, दया, दान, विकल्प आदि उससे भिन्न। रंग, राग से भिन्न, भेदभाव से भिन्न निराला हूँ और उसमें जो पर्याय का भेद है, आहाहा! रंग, राग से भिन्न, भेद से भिन्न निराला हूँ, यह हुकमचन्दजी ने बनाया है न? पूनमचन्दजी बोलते थे। आहाहा!

अजीव के समस्त प्रकारों से मैं भिन्न; विकृत अवस्थाओं के अनेक प्रकार — शुभ अशुभ आदि इनसे भिन्न और पर्याय के अनेक प्रकार — अनन्त गुण के भेद पड़ते हैं, अवस्था, आहाहा! रंग-राग से भिन्न भेद से भिन्न निराला हूँ। आहाहा! ऐसी अन्तर में ज्ञानदशा होकर प्रतीति होना और अन्य भाव से भेद करके, देखो! आहाहा! अपने में स्थिर हो। स्वरूप अखण्डानन्द प्रभु में स्थिर हो। आहाहा! **इस प्रकार सिद्धि होती है....** है न? **किन्तु यदि जाने ही नहीं,....** आहाहा! जिसने ज्ञान की पर्याय में आत्मा कैसा है — ऐसा जाना ही नहीं, वह प्रतीति किसकी करे? ज्ञान में चीज जाने बिना प्रतीति किसकी करे? आहाहा! ऐसा मार्ग है।

यदि.... आहाहा! **जाने ही नहीं, तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता....** आहाहा! है? **और ऐसी स्थिति में स्थिरता कहाँ करेगा?** जब वस्तु अखण्ड-अभेद ज्ञान में आयी नहीं तो प्रतीति किसकी, और प्रतीति के बिना स्थिरता किसमें करेगा? आहाहा! स्थिरता कहाँ करेगा? जो चीज ही अखण्ड ज्ञायक, अखण्डानन्द प्रभु, ज्ञान में और प्रतीति में नहीं

आयी तो स्थिरता कहाँ से करेगा ? आहाहा ! ऐसा मार्ग है।

इसलिए यह निश्चय है कि अन्य प्रकार से सिद्धि नहीं होती। आहाहा ! लो इसका — ऊपर का सार आ गया। अन्य प्रकार से सिद्धि नहीं है।

कलश - २०

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्‌गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं नित्यमुपास्त एव, कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत इति चेत्, तन्न, यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येऽपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते, स्वयम्बुद्ध-बोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः। तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वात्? एवमेतत्।

श्लोकार्थ : आचार्य कहते हैं कि [अनन्तचैतन्यचिह्नं] अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी [इदम् आत्मज्योतिः] इस आत्मज्योति का [सततम् अनुभवामः] हम निरन्तर अनुभव करते हैं [यस्मात्] क्योंकि [अन्यथा साध्यसिद्धिः न खलु न खलु] उसके अनुभव के बिना अन्य प्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती। वह आत्म ज्योति ऐसी है कि [कथम् अपि समुपात्तत्रित्वम् अपि एकतायाः अपतितम्] जिसने किसी प्रकार से त्रित्व अंगीकार किया है तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई और [अच्छम् उद्‌गच्छत्] जो निर्मलता से उदय को प्राप्त हो रही है।

भावार्थ : आचार्य कहते हैं कि जिसे किसी प्रकार पर्यायदृष्टि से त्रित्व प्राप्त

है तथापि शुद्धद्रव्य द्रष्टि से जो एकत्व से रहित नहीं हुई तथा जो अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदय को प्राप्त हो रही है ऐसी आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं। यह कहने का आशय यह भी जानना चाहिए कि जो सम्यक्दृष्टि पुरुष हैं वे जैसा हम अनुभव करते हैं वैसा अनुभव करें।

टीका : अब, कोई तर्क करे कि आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है, अलग नहीं है, इसलिए वह ज्ञान का नित्य सेवन करता है; तब फिर उसे ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है ? उसका समाधान यह है — ऐसा नहीं है। यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप से है तथापि वह एक क्षणमात्र भी ज्ञान का सेवन नहीं करता; क्योंकि स्वयंबुद्धत्व (स्वयं स्वतः जानना) अथवा बोधितबुद्धत्व (दूसरे के बताने से जानना) — इन कारणपूर्वक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। (या तो काललब्धि आये तब स्वयं ही जान ले अथवा कोई उपदेश देनेवाला मिले तब जाने — जैसे सोया हुआ पुरुष या तो स्वयं ही जाग जाये अथवा कोई जगाये तब जागे।)

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो जानने के कारण से पूर्व क्या आत्मा अज्ञानी ही है क्योंकि उसे सदा अप्रतिबुद्धत्व है ? उसका उत्तर - ऐसा ही है, वह अज्ञानी ही है।

कलश-२० पर प्रवचन

इस अर्थ का कलश काव्य कहते हैं लो — २०-२०

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२० ॥

आहाहा ! सन्त कहते हैं, आहाहा ! मैं तो भगवान आत्मा का निरन्तर अनुभव करता हूँ। आहाहा ! अनन्त चैतन्य चिह्न ! आहाहा !

श्लोकार्थ : आचार्य कहते हैं.... आहाहा ! **अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका**

चिह्न है.... अन्तिम शब्द पहले लिया है। उस तीसरे पद में अन्त में है न? **चैतन्य जिसका चिह्न है अविनश्वर....** त्रिकाली नित्यानन्द, जिसकी चिह्न अविनश्वर है, जिसका लक्षण कभी विनश्वर नहीं होता, कभी पर्याय में नहीं आता; राग में तो कहाँ से आये? आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा, आहाहा! सर्वज्ञस्वभावी अविनश्वर स्वभाव... आहाहा! यह चैतन्य जिसका अविनश्वर... अनन्त का अर्थ अविनश्वर किया है। अनन्त काल रहना, इसकी अपेक्षा अनन्त रहना, अविनश्वर रहना... आहाहा!

श्रीमद् में ऐसा आता है — छह बोल आते हैं न? 'पाँचों उत्तर से हुई। आत्मा विषे प्रतीति होगी मोक्ष उपाय की सहज प्रतीति इस रीत'। जिसे आत्मा है, नित्य है... अविनश्वर आया न? आहाहा! है... नित्य है, परिणमता है कर्तारूप से; और उस परिणति का भोक्ता वह है, मोक्ष है, वस्तुस्वभाव है, वह पूर्णरूप से शुद्धरूप से परिणमे — ऐसा मोक्ष है, मोक्ष है — ऐसे छह (बोल) हैं। नित्य, परिणमन कर्ता-भोक्ता का और मोक्ष, अपूर्ण पर्याय का कर्ता-भोक्ता शुद्धता का, अपूर्ण शुद्धता, आहाहा! और पूर्ण शुद्धता का मोक्ष है — ऐसी अन्तर में जिसको प्रतीति हुई... आहाहा! 'होगी मोक्ष उपाय की सहज प्रतीति इस रीत।' आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं — **अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है....** है तो सही, परन्तु अविनश्वर है, चैतन्य, आहाहा! भाई! यह अध्यात्म के शब्द हैं। आहाहा! ऐसी वाणी अन्यत्र नहीं मिले, ऐसा वाच्य (अन्यत्र सम्भव नहीं है) आहाहा! यह है, यह अविनश्वर है, यह अविनश्वर चैतन्य जिसका चिह्न है, लक्षण है। आहाहा! थोड़ा भी परन्तु प्रभु! सत्य होना चाहिए — ऐसा कहते हैं। आहाहा!

ऐसी... ऐसी **इदम् आत्मज्योतिः** आहाहा! यह प्रत्यक्ष आत्मज्योति, ओहोहो! **सततम् अनुभवामः हम निरन्तर अनुभव करते हैं....** आहाहा! इस नित्य अविनश्वर चैतन्यस्वरूप भगवान को निरन्तर आस्वादते हैं। आहाहा! यह मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! समझ में आया? भाव सूक्ष्म है, बात तो यथार्थ है। आहाहा! **सततम्** — निरन्तर वेदन में हमारे, आहाहा! वह '**इदम्**' — प्रत्यक्ष ज्ञाता हमें वेदन में है। आहाहा!

'यह' नित्य अविनाशी भगवान 'इस' इसका निरन्तर अपनी पर्याय में आस्वादन

में आता है, अनुभव में आता है। आहाहा! क्योंकि **यस्मात् अन्यथा साध्यसिद्धिः न खलु न खलु — उसके अनुभव के बिना....** उसके अर्थात् भगवान अविनश्वर चैतन्यस्वभावी भगवान के अनुभव के बिना, आहाहा! **अन्य प्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती।** आहाहा! कोई भगवान की बहुत भक्ति करे, कोई शास्त्र की भक्ति बहुत करे, दान बहुत करोड़ों-अरबों का करे... आहाहा! करोड़ों शास्त्रों की रचना करे, करोड़ों मन्दिर बनावे, आहाहा! उस अन्य प्रकार से मुक्ति नहीं होती। **न खलु न खलु** दो बार कहा। आहाहा! इस साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती... आहाहा! नहीं होती — ऐसा लेना। आहाहा! ऐसा काम है। इसका पहले ज्ञान में निर्धार तो करे, मार्ग तो यह है। अन्यथा साध्य-सिद्धि **न खलु न खलु,** आहाहा! अरे! एकान्त नहीं हो जाता है? व्यवहार से भी — भगवान की भक्ति से, शास्त्र की महिमा से आत्मा में कोई लाभ होगा या नहीं? **न खलु न खलु....** नहीं... नहीं...। खलु अर्थात् निश्चय से नहीं, वास्तव में नहीं, वास्तव में नहीं। आहाहा!

वह आत्मज्योति ऐसी है कि **कथम् अपि समुपात्तत्रित्वम् अपि एकतायाः अपतितम्...** आहाहा! **जिसने किसी प्रकार से त्रित्व अंगीकार किया है....** यह आत्मवस्तु जो कि एकरूप त्रिकाल है, उसने तीन प्रकार की पर्याय ग्रहण की है। आहाहा! यह मोक्षमार्ग निश्चय, हाँ! आहाहा! **जिसने किसी प्रकार से....** व्यवहार से **त्रित्व अंगीकार किया है....** व्यवहार से, पर्याय से, भेद से... आहाहा! **किसी प्रकार से....** अशुद्धनय से। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग, भाई! निश्चय आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो निर्विकल्प वीतरागी पर्याय, परन्तु तीन प्रकार का परिणमन, वह पर्याय, वह व्यवहारनय का विषय — अशुद्धनय का विषय है। आहाहा! पर्यायनय कहो, व्यवहारनय कहो, या अशुद्धनय कहो। आहाहा! **किसी प्रकार से त्रित्व अंगीकार किया है तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई....** आहाहा! द्रव्यस्वभाव जो एकरूप है, उससे च्युत नहीं हुई। आहाहा! द्रव्यस्वभाव पर्याय में नहीं आया। आहाहा! गजब बात है।

पर्यायनय से तीन प्रकार (त्रित्व) अंगीकार किया है। मार्ग तो मार्ग है! कहो, भभूतमलजी! यह वहाँ प्रवृत्ति छोड़कर निवृत्ति ले तो समझ में आये ऐसा है। ऐसे का ऐसा

धमाधम... आहाहा! यह मार्ग अभी तो सब कुछ का कुछ कर डाला है, कुछ का कुछ कर डाला है। कोई कहते हैं दया, दान, और व्रत से होगा, कोई कहते हैं भक्ति से होगा, प्रतिमा की भक्ति से (होगा), कोई कहते हैं भगवान की भक्ति से, कोई कहते हैं शास्त्र की भक्ति से (होगा)। सब एक प्रकार का अज्ञान है। आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा है, नित्य है, एकरूप है। आहाहा! उसके आश्रय से तीन प्रकार — सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन होना, वह भी पर्याय है, व्यवहार है और अशुद्धनय है। आहाहा!

श्रोता : फिर क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना, क्या ? है ? अन्दर जाना, द्रव्यस्वभाव में एकत्व करना, द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि देना, पर्याय के भेद का लक्ष्य छोड़ देना — ऐसा कहना है। भगवान ज्ञायकभाव अविनश्वर आया न ? एकरूप रहनेवाला है, वहाँ दृष्टि दे, परन्तु इस दृष्टि की अपेक्षा से कथन करे तो तीन पर्याय हो गयी — दर्शन, ज्ञान और चारित्र। आहाहा! उसका विषय है वह अभेद है परन्तु अभेद का विषय होने से जो पर्याय हुई है ?

श्रोता : इसमें कुछ समझ में नहीं आता, कभी भेद कहते हो, कभी अभेद कहते हो — इसमें कुछ समझ में नहीं आता ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पष्ट कराते हैं। ऐसा है कि वस्तु जो एकरूप त्रिकाल है, उसमें दृष्टि देना, वह चीज है, तथापि उसके लक्ष्य से द्रव्य जो है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप परिणमता है, वह पर्याय व्यवहार है, त्रिकाली वस्तु निश्चय है। त्रिकाली वस्तु वह अभेद है, तीन प्रकार का परिणमन करना, वह भेद है, व्यवहार है, अशुद्ध है, मेचक है, मलिन है — ऐसा कहने में व्यवहार है। आहाहा! इस सोलहवीं गाथा में आ गया है — मेचक-अमेचक! आहाहा! ऐसी बात है प्रभु, क्या हो ? भगवान का विरह पड़ा, ज्ञान की लक्ष्मी घट गयी, लोगों ने अपनी कल्पना से मार्ग चलाया। ऐसा मार्ग है नहीं, भाई! आहाहा! समझ में आया ?

मनोहरलालजी वर्णी थे न.... वर्णीजी के शिष्य, उन्हें बेचारों को किसी ने मार डाला ऐसा सुना है। गले में (फन्दा) बाँधकर....। परन्तु उन्होंने प्रश्न किया था, वहाँ एक बार

जयपुर आये थे कि इस उद्दिष्ट का स्पष्टीकरण हो। मैंने कहा, उद्दिष्ट क्या कहे बापू! ऐसा कि गृहस्थ उनके लिए बनाते हैं तो लेनेवाले का उसमें क्या दोष था? उन्होंने कहाँ बनवाया है? अरे...! प्रभु का विरह पड़ा और प्रभु! — भगवान की अनुपस्थिति में उनके (उद्दिष्ट त्यागियों) के लिए बनाया वह कोई दोष नहीं इन्हें? यह नहीं हो सकता। मैंने तो यहाँ तक कहा, प्रभु मैंने तो शान्ति से कहा था — इस समय तो द्रव्यलिंगी क्षुल्लक भी अभी है (— ऐसा मैं तो) नहीं मानता... नहीं, वे क्षुल्लक थे तब तो सुनते थे, बाद में जरा विरोध बहुत हो गया।

उसमें बेचारे गुजर गये किसी ने .... पुस्तक बहुत बनाते थे न? सेट (पुस्तकों के) बहुत बनाते थे और फिर गृहस्थों को बेचते थे, पैसा बहुत इकट्ठा हुआ था, पाँच लाख है ऐसा कोई कहता था। उसमें एक गृहस्थ से मेरठ में ढाई लाख माँगते थे, तो ऐसा सुना है कि लोगों ने प्रार्थना की कि साहिब! अब वहाँ आओ, ईसरी में रहो। जैसे कानजीस्वामी एक स्थान में रहते हैं, और परिचय करते हैं... क्या कहते हैं इसे? प्रभावना नहीं, (श्रोता : प्रचार-प्रसार) प्रचार और प्रसार करते हैं। ऐसा कि उनसे कहा तुम अब वहाँ ईसरी में आओ। तब उन्हें उनसे वह पैसे माँगते होंगे जिनसे उनसे माँगा ढाई लाख माँगते थे। तो कहा ढाई लाख दो, उसने कहा (क्या है यह)? साढ़े चार बजे तक बेचारा कुछ नहीं था, हाँ! बैठे थे, जीभ निकल गयी। हार्टफेल होवे तो जीभ नहीं निकलती। ऐसा सुना है। हार्टफेल हो जाये परन्तु ऐसे जीभ अरर...! ऐसा कुछ भी प्राणी के लिए... आहाहा! पाँच मिनट में देह छूट गयी। वहाँ दूसरे साथ आवें, वहाँ मर गये। मुर्दा, साढ़े चार बजे तब तक कोई नहीं — ऐसा क्या हो गया? यह इन्हें मैंने कहा था भाई! गृहस्थ, क्षुल्लक और साधु के लिए (आहार) बनाते हैं, वे लेते है, यह व्यवहार भी उनका सच्चा नहीं है। आहाहा! उसका द्रव्यलिंग भी सच्चा नहीं, आहाहा! भगवान का विरह पड़ा तो तुम्हें बचाव करना है, भाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! एक बार सुन तो सही! यह सदोष आहार लेना, यह चीज तो कहीं रह गयी परन्तु यहाँ तो निर्दोष वस्तु ज्ञायक एकरूप अभेद की परिणति में तीन पर्याय — सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुई, उसको हम कहते हैं **त्रित्वम् अपि एकताया:**

अपतितम् त्रित्वम् है परन्तु वह एकता को नहीं छोड़ता। द्रव्यस्वभाव ने एकरूप नहीं छोड़ा है। इस परिणमन में तीन प्रकार आये, वह व्यवहार है। आहाहा! वह पर्याय है, शुद्ध है परन्तु पर्याय है। पर्याय है वह व्यवहारनय का विषय है। द्रव्य त्रिकाली निश्चय का विषय है, पर्यायमात्र व्यवहार का विषय है। केवलज्ञान हो तो भी व्यवहार का विषय है। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि **किसी प्रकार से त्रित्व अंगीकार....** परिणति में पर्याय तीन प्रकार हुई थी। तीन हुई है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! किसी प्रकार से 'त्रि' अर्थात् पर्यायदृष्टि से, व्यवहारनय से तीन प्रकार हुए हैं। आहाहा! **तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई....** ज्ञायकरूप निश्चय एकरूप है, उससे च्युत नहीं, वह चीज पर्याय में आयी नहीं। आहाहा! समझ में आया? तीन प्रकार — सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुक्ति का सच्चा उपाय, साध्य की सिद्धि / उत्पत्ति इससे होती है। तथापि इस तीन प्रकार की पर्याय को अशुद्ध और व्यवहारनय का विषय पर्याय को कहकर, भगवान त्रिकाली ज्ञायक है, वह एकरूप से कभी च्युत हुआ ही नहीं। द्रव्य है, वह पर्याय में कभी नहीं आया। आहाहा! निश्चय वस्तु है, वह किसी पर्याय में और व्यवहार में नहीं आयी। आहाहा! ऐसी वस्तु है।

आहाहा! एक श्लोक में तो कितना भरा है! एकरूप त्रिकाली भगवान ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... नित्य... नित्य... नित्य... सदृश... सदृश.. सदृश... वह चीज जो निश्चय है, वह अपने स्वरूप से च्युत नहीं हुई। आहाहा! यह निश्चय वस्तु है, यह पर्यायरूप तीन प्रकार हुई, परन्तु पर्याय में निश्चय वस्तु नहीं आयी। आहाहा! भगवान आनन्द गोला, त्रिकाल आनन्द गोला, वह ध्रुव एकरूप आनन्द पिण्ड प्रभु, इस तीन प्रकार की पर्याय में नहीं आया। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है प्रभु! आहाहा! इसे ज्ञान में तो पहले लेना पड़ेगा (कि) मार्ग यह है, दूसरे प्रकार से है नहीं।

तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई। अच्छम् उद्गच्छत्.... आहाहा! **जो निर्मलता से उदय को प्राप्त हो रही है।...** आहाहा! त्रिकाल निर्मलरूप है, आहाहा! **अच्छम् उद्गच्छतं....** निर्मलरूप त्रिकाल है, जो निर्मलता से उदय को अर्थात् प्रगट

अन्दर प्राप्त हुई है, त्रिकाल। आहाहा! समझ में आया? इसमें क्या अर्थ किया है? क्या है यह, बीसवाँ है न? परिणमता है — ऐसा कहा है इसमें। आत्मज्योति प्रकाशरूप परिणमति है — ऐसा लिया है। इस प्रकार एक अर्थ ऐसा लिया है। **अच्छम्** — निर्मल त्रिकाल है, जो निश्चयवस्तु है, वह तो निर्मल त्रिकाल है, बाद में पर्याय में परिणति होती है, जैसा उसका निर्मल ज्ञायकस्वभाव है, **अच्छम्** उस पर्यायरूप परिणमति है, पर्यायदृष्टि से (परिणमति है)। आहाहा!

श्लोक बहुत गम्भीर है। प्रत्येक श्लोक! आहाहा! पूरा जैनधर्म! बस, सत्य बात बापू! आहाहा! उसका एक श्लोक, उसका एक कलश, सारा जैनशासन एक-एक में भर दिया है। आहाहा!

भावार्थ : आचार्य कहते हैं कि जिसे किसी प्रकार.... जिसे अर्थात् आत्मा को, किसी प्रकार से अर्थात् **पर्यायदृष्टि से...** देखो! **त्रित्व प्राप्त है...** आहाहा! जो द्रव्य है वह पर्यायरूप से त्रिपने परिणमता है। आहाहा!

तथापि शुद्धद्रव्य द्रष्टि से जो एकत्व से रहित नहीं हुई.... आहाहा! भगवान आत्मा जो एकरूप त्रिकाल वस्तु है, वह कभी उससे च्युत नहीं हुई। आहाहा! पर्यायदृष्टि से तो त्रित्व प्राप्त है, तथापि शुद्धदृष्टि से एकत्व से रहित नहीं हुई। आहाहा! यह द्रव्य, पर्यायपने परिणमा है — ऐसा कहा गया है, तथापि वह द्रव्य, पर्याय में नहीं आया। आहाहा! ***द्रवति इति गच्छति इति द्रव्यम्*** आता है न? द्रव्य है वह ***द्रवति गच्छति इति द्रव्यम्*** जो द्रव्य है वह द्रवति (अर्थात्) पर्याय में द्रवता है, द्रवता है। पानी का दल है, वह पानी की तरंगरूप उठता है, वैसे भगवान आत्मा एकरूप त्रिकाल है, वह पर्यायरूप द्रवता है। वह द्रवती है, वह पर्याय है, द्रव्य द्रवती है — ऐसा कहना व्यवहार है। समझ में आया? आहाहा!

अरे ऐसी चीज है! समझ में न आवे सुनने में न आवे, वे क्या करें? विरोध करें... विरोध। किसका विरोध करते हैं यह पता नहीं है। है? इसका विरोध करते हैं। भाई, बापू! उल्टी दृष्टि से दुःख होगा भाई! और दुःख में रहना, तो कौन चाहेगा प्रभु! आहाहा! इस विपरीत दृष्टि से तो महादुःख होगा, यहाँ तो विपरीत दृष्टि नहीं परन्तु पर्यायदृष्टि से भी

आश्रय करने जायेगा तो राग होगा। आहाहा! तीन प्रकार का — सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का, भेद का, भी लक्ष्य करेगा तो राग होगा। आहाहा! किसी प्रकार पर्यायदृष्टि से जिसे ऐसा कहा न? आहाहा! जिसे... यह तो भाई! आहाहा! जिसे किसी प्रकार, जिसे अर्थात् आत्मा को त्रिकाली, किसी प्रकार अर्थात् पर्यायदृष्टि से, ऐसा? तीनपना अंगीकार किया। आहाहा! निश्चय सम्यग्दर्शन निर्विकल्प, निश्चय सम्यग्ज्ञान-आत्मज्ञान, निश्चय चारित्र-स्वरूप की रमणता, यह जिसे अर्थात् आत्मा को पर्यायदृष्टि से तीन प्रकार हुए हैं। आहाहा! **शुद्ध द्रव्यदृष्टि से जो एकत्व से रहित नहीं हुई,** एकरूप ज्ञायकभाव वह कभी पर्याय में नहीं आया। आहाहा! भगवान एकरूप चैतन्यदल सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त आनन्द, एकरूप निश्चय, वह कभी पर्याय में एकत्व को छोड़कर अनेकरूप वह चीज नहीं हुई। आहाहा! आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? कठिन पड़ता है, इसलिए दूसरा उल्टा रास्ता ले लिया। आहाहा!

तथा जो अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदय को प्राप्त हो रही है.... अनन्त चैतन्य निर्मल उदय को प्राप्त हो रही है, त्रिकालरूप ऐसा है, है? यहाँ तो यह लिया — अनन्त चैतन्य निर्मल उदय को प्राप्त, कायम त्रिकाल निर्मल ज्योति पड़ी है। देखो! ऐसा अर्थ यहाँ किया। आहाहा! मूल तो वहाँ बताना है कि वस्तु तो निर्मल ज्योति एकरूप त्रिकाल है — ऐसी आत्मज्योति को देखो। देखा? पण्डितजी! ऐसी आत्मज्योति ली है। उसमें जरा परिणमन लिया परन्तु अनन्त चैतन्यस्वरूप अविनाशी चैतन्य चिह्न... वहाँ आया न? आया था न? है न अन्दर? अनन्त चैतन्य चिह्न इससे पहला वह। आहाहा! यह तीन लोक के नाथ भगवान की वाणी है। सन्तों की वाणी वह भगवान की वाणी है। आहाहा! एक-एक शब्द में बहुत गूढ़ता है।

भगवान आत्मा अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदय को अर्थात् कायम रहना, प्राप्त हो रही है। आहाहा! **ऐसी आत्मज्योति...** देखो! ऐसी भगवान आत्मज्योति **का हम निरन्तर अनुभव करते हैं।....** यह पर्याय। **आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं,...** पर्याय में अनुभव करते हैं। आहाहा! इस आत्मा का हम अनुभव करते हैं — ऐसा कहते हैं। अनुभव तो पर्याय है न? आहाहा! आत्मज्योति भगवान, चैतन्यज्योति, स्वयंज्योति,

निर्मलज्योति, एकरूप भगवान चैतन्यज्योति का अनुभव... आहाहा! **निरन्तर अनुभव करते हैं।....** क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई मुक्ति / साध्य की सिद्धि है नहीं, मोक्षरूपी साध्य की इसके अतिरिक्त सिद्धि है नहीं। आहाहा!

यह कहने का आशय यह भी जानना चाहिए कि जो सम्यक्दृष्टि पुरुष हैं.... आहाहा! स्वयं मुनि तो कहते हैं कि हम भगवान आत्मज्योति निर्मल जलहल ज्योति अविनश्वर (आत्मज्योति) का अनुभव करते हैं, वह मोक्षमार्ग है। आहाहा! अब **जो सम्यक्दृष्टि पुरुष हैं, वे जैसा हम अनुभव करते हैं, वैसा अनुभव करें।** आहाहा! जिसने अपना पूर्णानन्द ज्ञायकस्वभाव प्रतीति में लिया है — ऐसे समकिती जीवों, तुम निरन्तर अनुभव करो। राग की क्रिया में आता है, तो (उसे) छोड़कर अनुभव करो — ऐसा कहते हैं। आहाहा! अशुभराग से बचने को शुभराग आता है परन्तु उससे बचने को (उसे) छोड़कर... आहाहा! सम्यग्दृष्टि भी यह अनुभव करो। यह आत्मा का अनुभव मोक्ष का कारण है।

अनुभव चिन्तामणि रत्न अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप॥

यह बात है भाई! सूक्ष्म बात है। यह तो अन्य पैसेवाले पैसा खर्च करें, इसलिए पद दे देते हैं कि जीव धर्मी हो गया। भभूतमलजी! आठ लाख खर्च किये वहाँ इन्होंने बैंगलोर मन्दिर में आठ लाख (खर्च किये)। चार लाख (एक दूसरे) भाई ने (खर्च किये)। परन्तु कहा, भाई! तुम आठ लाख क्या दस लाख डालो... इस दो करोड़ में से आठ लाख दिये तो चालीस लाख तो आमदनी हुई दूसरे तो उसमें शुभभाव होवे, यह तो कहा धर्म-फर्म नहीं, यहाँ तो आठ लाख और दस लाख देवें ही किसके कितने अधिक, इतने अधिक परन्तु करोड़ खर्च कर डाले तो भी वह जड़ है। जड़ की पर्याय जड़ होती है, तुझे शुभभाव है, वह धर्म-फर्म नहीं है। आहाहा!

आत्मा का दर्शन-ज्ञान और चारित्र अनुभव करना, वह धर्म है।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८१ श्लोक २० की टीका दिनाङ्क ०९-०९-१९७८ शनिवार
भाद्र शुक्ल ७, वीर निर्वाण संवत् २५०४

(दशलक्षण पर्व का) चौथा (दिन) उत्तम शौच — शौच। चार आ गये न पहले ? क्रोध से विरुद्ध उत्तम क्षमा, मान से विरुद्ध मार्दव, माया से विरुद्ध सरलता, लोभ से विरुद्ध शौचता — निर्लोभता, वह आज चौथा दिन है।

समसंतोसजलेण य जो धोवदि तिह्णलोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धिविहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं॥३९७॥

मुनि की व्याख्या है न मुख्य तो, उसे जानना तो चाहिए न ? मुनि के चारित्र धर्म में दस प्रकार के धर्म जो आनन्ददाता सुखस्वरूप सुख का जिसको अनुभव होता है, उसको यह उत्तम धर्म होता है। आहाहा ! जो मुनि समभाव — कंचन और तृण दोनों के प्रति जिनको समभाव है क्योंकि वे तो ज्ञेय हैं। कंचन हो या तृण हो, तिनका हो, उन्हें यह ठीक है और यह अठीक, उनमें ऐसा कुछ नहीं, वे तो ज्ञेय हैं। अत: सब में समभाव और सन्तोष (होता है) और आत्मा में आनन्द की प्राप्ति करना, यह सन्तोष... आहाहा ! यह है। सन्तोष अर्थात् यह राग को घटाकर सन्तोष यह ठीक, परन्तु मूल तो अतीन्द्रिय आनन्द का प्रगट करना, उसमें सन्तोष मानना। मैं सुखरूप हूँ, मैं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप हूँ, उसका नाम शौचधर्म / निर्लोभ धर्म कहा जाता है। आहाहा !

तिह्णलोहमलपुंजं — तृष्णा और लोभ, भविष्य की किसी पदार्थ की इच्छा वह तृष्णा (है और) लोभ — वर्तमान प्राप्त पदार्थ में इच्छा, वह लोभ है। समझ में आया ? भविष्य में पदार्थ मिलने की इच्छा, वह तृष्णा और वर्तमान प्राप्त पदार्थ में लोभ — उसका नाम यहाँ लोभ कहते हैं। दोनों मल को धोवे — एक बात। भोजन की गृद्धि, दूसरा तो मुनि को है नहीं; एक आहार है, आहाहा ! उसकी गृद्धि अतिचाररहित हो, उस मुनि का चित्त निर्मल होता है, आनन्द होता है, उनको उत्तम शौच धर्म होता है। लो, समभाव की व्याख्या आ गयी। मुनि को केवल आहार का ग्रहण है, उसमें भी तीव्रता नहीं। लाभ, अलाभ, सरस-नीरस में समबुद्धि रहते हैं, तब उत्तम शौचधर्म होता है।

वर्तमान लोभ के चार प्रकार — (१) जीवितव्य का लोभ, (२) आरोग्य रहने का लोभ, आहाहा! (३) इन्द्रियाँ बनी रहने का लोभ, इन्द्रिया अनुकूल रहने का लोभ और (४) उपभोग का लोभ — ये चारों अपने और अपने सम्बन्धी स्वजन, मित्र आदि के दोनों के चाहने से आठ भेद होते हैं। आहाहा! इसलिए जहाँ सब ही का लोभ नहीं होता.... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... और आनन्द। इसका नाम यहाँ शौच अर्थात् पवित्र धर्म कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया? यह चौथे बोल की — सन्तोष की (उत्तम शौचधर्म की) बात हुई। (अब समयसार का) चलता अधिकार (लेते हैं)।

टीका आयी, यहाँ आया न? **अब, कोई तर्क करे कि आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है,....** क्या कहते हैं? भगवान सन्तों ने जब ऐसा कहा कि तुम ज्ञानस्वरूपी भगवान हो, उसकी सेवा करो, उपासना करो। आहाहा! जैसे देव और देवी की उपासना करते हैं, मिथ्याभ्रम अज्ञानी... वैसे तुम ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, ज्ञानमूर्ति प्रभु दिव्य भगवान आत्मा की सेवा करो। आहाहा! अर्थात् उसमें एकाग्र होओ! आहाहा! ऐसा शिष्य ने सुना, गुरु ने कहा — तो शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा तो ज्ञान के साथ तद्रूप है ही, आत्मा और ज्ञान तो एकरूप है, उसकी सेवा करना (ऐसा) नया आप क्या कहते हो? आत्मा और ज्ञान अर्थात् स्वभाव, ज्ञानस्वभाव और आत्मा तो तादात्म्य है। जैसे अग्नि और उष्णता तादात्म है, तद्स्वरूप है; वैसे भगवान आत्मा... आहाहा! और ज्ञान जानन-जानन स्वभाव से आत्मा तद्रूप तो है ही... आहाहा! अलग नहीं। यह आत्मा अपना ज्ञानस्वभाव स्थायी ज्ञायकस्वभाव से **अलग नहीं है, इसलिए वह ज्ञान का नित्य सेवन करता है;....** आहाहा! इस कारण ज्ञान और आत्मा एकरूप है — तद्रूप है, इस कारण आत्मा ज्ञान की सेवा तो करता ही है। आहाहा! **तब फिर उसे ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है?....** आहाहा! भगवान आत्मा द्रव्यस्वरूप, उसका जानन-ज्ञानस्वभाव वह तो तद्रूप है, तादात्म्य है तो फिर ज्ञान की सेवा करने का उपासक, उपासना करो, सेवा करो, आहाहा! **स एवः** — वह मैं हूँ — ऐसी दृष्टि करके एकाग्र होओ। आहाहा! ऐसा क्यों कहते हैं?

उसका समाधान यह है — ऐसा नहीं है।.... सुन! भगवान आत्मा और ज्ञान —

त्रिकाली स्वभाव के साथ तादात्म्य द्रव्य-गुण से है परन्तु पर्याय ने उसकी सेवा नहीं की; पर्याय, राग और पुण्य — पाप के विकल्प की सेवा करती है। आहाहा! पर की सेवा की तो यहाँ बात है ही नहीं। यह ज्ञान की पर्याय वर्तमान में, शुभाशुभराग जो इसमें है नहीं। है ज्ञान और आत्मा एक है परन्तु राग तो उसमें है नहीं, तथापि वह अनादि से पुण्य और पाप के राग की सेवा करते हैं। आहाहा! क्योंकि **ऐसा नहीं है। यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप से है....** भगवान आत्मा ज्ञानरूपी स्वच्छता का दर्पण, उससे तो अभिन्न है ही। आहाहा! **तथापि वह एक क्षणमात्र भी ज्ञान का सेवन नहीं करता;....** आहाहा!

ज्ञान, स्वभाव और आत्मा, स्वभावी — उसको एकरूप है, तथापि एक क्षणमात्र भी अनन्त काल में कभी ज्ञान की उपासना नहीं की है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। एक क्षणमात्र भी ज्ञान का सेवन नहीं किया। शास्त्र का ज्ञान किया, उसकी सेवा की परन्तु अपना ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है, उस ओर का आश्रय करके एकाग्र होना एक क्षणमात्र भी नहीं किया। प्रभु! आहाहा! समझ में आया? यह पर्याय में रागादि होते हैं, शास्त्र का ज्ञान होता है, दया, दान का, भक्ति का भाव होता है, उसकी पर्याय में सेवा अर्थात् एकाग्रता होती है, उसकी सेवा अनादि से करता है। आहाहा! परन्तु ज्ञान की पर्याय ने अपना ज्ञान और आत्मा एक है, उस सन्मुख होकर आत्मा के ज्ञान की सेवा कभी नहीं की है।

इस स्त्री-पुत्र की सेवा करता है, वह तो यहाँ बात है ही नहीं, वह तो व्यर्थ में मानता है। यह राग करे परन्तु (उनकी सेवा) यह पर का कर नहीं सकता। पुत्र को सम्हालता है, यह रोग हुआ, इसलिए हम ध्यान रखते हैं, इसलिए ऐसा हुआ न।

श्रोता : लड़के को लटकता छोड़ा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ लड़का उसका था? उसका आत्मा है और शरीर है, वह तो परद्रव्य है। आहाहा! यहाँ तो वहाँ तक कहते हैं कि परसन्मुखता के झुकाववाला जो शुभ-अशुभभाव पुण्यादि होता है, उसमें जो एकाग्र होकर सेवा करता है, तो वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! परवस्तु है।

अपना चिदानन्दस्वरूप ज्ञानस्वभावी प्रभु की ओर की उपासना का झुकाव नहीं और राग तथा पुण्य के विकल्प में झुकाव है, वह क्षणमात्र भी आत्मा की सेवा नहीं करता है। आहाहा! वह कुसेवा करता है। पहले कहा न? आहाहा! यह पाप का भाव और पुण्य का भाव, उसमें एकाग्रता है, वह सेवा करता है कुसेवा, वह तो कुसेवा है। आहाहा! पर की सेवा की तो यहाँ बात ही नहीं है। देश की सेवा करो, इसका यह करो — वह कर ही नहीं सकता, फिर प्रश्न कहाँ? आहाहा! यहाँ तो अपने स्वभाव को भूलकर पुण्य और पाप के भाव... आहाहा! और क्षणिक वर्तमान पर्याय में एकाग्रता की सेवा अनादि से है। आहाहा! यहाँ कहे तो पर्यायबुद्धि — ऐसा कहना है, दूसरी भाषा है, भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाना है न? वरना तो अनादि का... भगवान! तेरा वस्तुस्वभाव ज्ञान प्रभु चैतन्यमूर्ति, प्रज्ञा ब्रह्म... आहाहा! उस ओर की क्षणमात्र भी तूने उसका आदर करके, स्वीकार करके, सत्कार करके, उसमें कभी एकाग्र नहीं हुआ। आहाहा! एक क्षणमात्र भी ज्ञान की सेवा नहीं करता है। आहाहा! तो ज्ञान और आत्मा तो एकमेक है न? परन्तु एकमेक है परन्तु पर्याय में कहाँ एकमेक माना? वह तो द्रव्यगुण में एकमेक है। समझ में आया? तीनों बोल ले लिये। द्रव्य अर्थात् वस्तु; ज्ञान अर्थात् गुण, वह तो एकरूप है परन्तु पर्याय उसमें एकरूप नहीं हुई, तब तक उसने ज्ञान की सेवा नहीं की। आहाहा! दया, दान का राग और शास्त्र का ज्ञान किया, उसकी सेवा की। आहाहा! गजब बात करते हैं न! यह तो पर्यायबुद्धि, अज्ञानबुद्धि है। आहाहा! है? शिष्य का प्रश्न था, उसका उत्तर है। शिष्य का यह प्रश्न था कि भगवान आत्मा... जैसे अग्नि और उष्णता तो एकरूप ही है, कोई अलग नहीं है, वैसे ही भगवान आत्मा और ज्ञानस्वभाव एकरूप / तद्रूप है, वे भिन्न तो है नहीं और तुम कहते हो कि आत्मा ज्ञान की सेवा नहीं करता। हम तो कहते हैं कि वह सदा ही सेवा करता है (उससे कहते हैं) कि सुन तो सही। आहाहा!

ज्ञानस्वभाव आत्मा — ऐसी दृष्टि करके उसमें एकाग्र नहीं हुआ तो क्षणमात्र भी उसने आत्मा की सेवा नहीं की। आहाहा! यहाँ ज्ञान की सेवा कहना है। आहाहा! ज्ञानस्वभाव भगवान आत्मा की पर्याय में उस ओर झुककर... आहाहा! वर्तमान में दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम और शास्त्र का ज्ञान — उस सन्मुख का झुकाव अनादि से है। आहाहा! परन्तु तुम्हारा ज्ञान और आत्मा एक है — ऐसी सेवा / एकाग्रता कभी नहीं

की है, प्रभु! आहाहा! अब ऐसा मार्ग! यहाँ तो कहते हैं, अभी पर की सेवा करो, देश सेवा करो, धर्म होगा। ए...ई...! सब युवक वे कहें चलो हो...हा... हो...हा...! देश की सेवा करें, कौन करे प्रभु? सुन तो सही! सेवा करते हो तो अज्ञान से पुण्य-पाप की सेवा की है। आहाहा! परन्तु उस पुण्य-पाप से और पुण्य-पाप जिसमें नहीं हैं, जिसमें ज्ञानस्वभाव ही है... आहाहा! उस ओर के ज्ञान की एकाग्रता — स्वभाव की एकाग्रता, स्वभाव सन्मुख की उपासना एक क्षणमात्र भी नहीं की है। आहाहा! यह तो एक क्षण हुआ तो समाप्त — जन्म-मरण का अन्त आ गया। आहाहा!

चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु... आहाहा! उस सन्मुख का बाह्य जो ज्ञान और रागादि की महत्ता छोड़कर... आहाहा! अपने ज्ञायकभाव से भरा पड़ा प्रभु, उस सन्मुख की दृष्टि करके, उसमें एकाग्रता होना, उसका नाम ज्ञान की सेवा करना कहा जाता है। यह शास्त्र-वास्त्र पढ़ना वह ज्ञान की सेवा नहीं है — ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा! बन्ध अधिकार में शब्दज्ञान कहा था न? जितना शास्त्र का ज्ञान है, वह तो शब्द का — जड़ का ज्ञान है, चैतन्य का नहीं। आहाहा! समझ में आया? शास्त्र है, पुस्तक — पृष्ठ, उसकी भक्ति करना, अरे...! उसका ज्ञान करना, वह भी... आहाहा! वह पर के ज्ञान की / शब्दज्ञान की सेवा है। कठिन काम भाई! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा! वह शास्त्र — चाहे तो समयसार हो, प्रवचनसारादि (हो), उस शास्त्र का ज्ञान करे, यह शास्त्र ऐसा कहता है, ऐसा कहता है तो वह तो शब्दज्ञान हुआ और शब्दज्ञान हुआ, वह आत्मज्ञान नहीं है। आहाहा! शाब्दिक ज्ञान में जिसका प्रेम है, वह शब्द की सेवा करता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। भूपतभाई! वहाँ तुम्हारे व्यापार में धर्म विलास सुनने में कहीं नहीं है। ऐसा अभी गजब हो पड़ा है, भाई! आहाहा! लोगों ने बात बहुत बदल डाली है।

श्रोता : लोगों ने सब विपरीत कर डाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विपरीत कर डाला है। आहाहा! भाई! तू कहाँ है? यह तो ज्ञानस्वभाव में भगवान तो रहता है। आहाहा! क्या इस राग के भाव में आत्मा है? अरेरे...! क्या नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा में आत्मा है? क्या पंच महाव्रत के विकल्प में आत्मा है? आहाहा! क्या यह ग्यारह अंग का ज्ञान किया, नौ पूर्व का ज्ञान, आहाहा! प्रभु! उसमें

आत्मज्ञान नहीं आया। आहाहा! ऐसी बातें हैं। युगलजी! फिर लोगों को सोनगढ़ का एकान्त लगता है। भाई! परम सत्य तो यह है प्रभु! आहाहा! दुनिया अपने स्वार्थ के स्वच्छन्द से शास्त्र का अर्थ करे और माने कि हमने ज्ञान किया.... भाई! यह चीज कोई दूसरी है। आहाहा!

जहाँ भगवान ज्ञान का भण्डार भगवान, उस सन्मुख झुकाव से एकाग्रता होती है, उसने ज्ञान की सेवा की और जिसकी पुण्य-पाप और शाब्दिक ज्ञान... आहाहा! अरेरे! प्रभु क्या कहते हैं? शास्त्रज्ञान, वह शाब्दिक ज्ञान है, वह आत्मज्ञान नहीं। आहाहा! उस सेवा में झुकाव करने से अनन्त काल से क्षणमात्र भी भगवान आत्मा चिदानन्द भगवान प्रभु की सेवा नहीं की है। आहाहा! उस ओर का झुकाव एकाग्रता तेरी कभी नहीं हुई। आहाहा! समझ में आया? बहुत मर्म की बात है। आहाहा!

क्योंकि? सेवन क्यों नहीं किया। **क्योंकि स्वयंबुद्धत्व (स्वयं स्वतः जानना)....** अपने से अन्दर ज्ञान की पर्याय से आत्मा को जानना, आहाहा! **अथवा बोधितबुद्धत्व (दूसरे के बताने से जानना) — इन कारणपूर्वक....** इन दो कारणपूर्वक **ज्ञान की उत्पत्ति होती है।....** भगवान ज्ञानस्वरूपी तो है परन्तु पर्याय में ज्ञान की उत्पत्ति इस कारण से होती है — या तो स्वयं अन्तर आत्मा ज्ञान करे या बोधित-गुरु समझाये कि यह ज्ञान, वह आत्मा; तो (भी) फिर भी करना तो इसे ही है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। इसलिए लोगों को ऐसा एकान्त लगता है और फिर हा...हो...हा...हो..., हा...हो... बाहर में बड़ा भाषण करे और लाखों लोगों का रंजन हो जाये। देखो! आहाहा! जवाहरलाल यहाँ आये थे, जवाहरलाल (पण्डित नेहरु) भावनगर (आये थे)। दो लाख लोग, लौकिक बातें करते थे। आहाहा! अरे! यह बात कहाँ? अरे! यहाँ कहते हैं मैं पर की सेवा करता हूँ, पर को सुविधा दे सकता हूँ, पर को असुविधा दे सकता हूँ, यह मान्यता भ्रम अज्ञान है। परन्तु यहाँ तो राग और शाब्दिक ज्ञान की सेवा करता हूँ, एकाग्र हूँ, वह भी मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! दूसरी भाषा में कहें तो वह पर्यायबुद्धि में पड़ा है। ***'पज्जयमूढ़ा परसमया'*** आहाहा! वह परसमय में है। आहाहा!

भगवान आत्मा अपनी ज्ञान की सेवा का 'स्वयंबुद्धत्व' अपने से अन्तर में जाकर

करता है, या कोई गुरु समझाये, बस! इतनी बात। परन्तु करना तो उसे अन्तर से है, यह तो निमित्त से कथन है। 'बोधिबुद्धत्व जानना' — **इस कारणपूर्वक ज्ञान की उत्पत्ति होती है।...** देखो! पर्याय में, यह ज्ञान है और आत्मा है — ऐसे सन्मुख होकर सेवा करे, तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। तब उसे ज्ञान और आत्मा एक है — ऐसा तब उसने माना। आहाहा! समझ में आया? समयसार अर्थात् गजब बात है। साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा सीमन्धर भगवान की वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्य सुनने गये थे, आहाहा! वह यह वाणी है। आहाहा! जिसमें एक-एक पद में और एक-एक श्लोक में भरपूर सागर भरा है। आहाहा! आहाहा! बहुत संक्षिप्त और सार यह कि प्रभु जो ज्ञानस्वभावी आत्मा है, उसका आश्रय / लक्ष्य छोड़कर पर्याय में जितना परसम्बन्धी ज्ञान और राग है, उसमें एकाग्र होने से मिथ्याबुद्धि पर्यायबुद्धि, अज्ञानबुद्धि है। आहाहा! उसने आत्मा की सेवा नहीं की है। आहाहा!

'स एव' भगवान, सेवा अर्थात् स एव भगवान-ज्ञानस्वरूपी वह मैं — ऐसी एकाग्रता ज्ञानस्वभाव में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से एकाग्रता करना। आहाहा! ऐसा मार्ग है! लोगों ने न सुना हो, उन्हें ऐसा लगता है — यह क्या कहते हैं? यह नया कहाँ से निकाला? नया नहीं भाई! यह अनादि का मार्ग है, बापू! पवित्र ज्ञानस्वभाव से भरपूर भगवान है न? वह ज्ञान कहीं बाहर से आता नहीं है। आहाहा! शाब्दिक ज्ञान से वह आत्मज्ञान नहीं होता है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! उस जड़ के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान नहीं होता है — ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इस आत्मा की ओर के झुकाव से आत्मा के ज्ञान की उत्पत्ति होती है। आहाहा! ऐसी बात है भाई! यहाँ तो बहुत समय से चलती है; इसलिए अब तो थोड़ा-थोड़ा (समझ में आता है)। नहीं तो अजीर्ण लगता है। कहो मोहनलालजी! ऐसी बात है भगवान! आहाहा! अन्दर बड़ा प्रभु पड़ा है न नाथ! परमेश्वरस्वरूप ही तू है। ज्ञान का परम ईश्वर, आनन्द का परम ईश्वर, आहाहा! शान्ति का परम ईश्वर (है।) उस तरफ तेरा झुकाव, स्वीकार तूने कभी नहीं किया, नाथ! आहाहा! जो चीज परिपूर्ण आनन्द और ज्ञान से भरी है, उसका तुझे स्वीकार नहीं हुआ तो तूने तेरे ज्ञान की सेवा नहीं की। आहाहा! बहुत कठिन काम!

या तो काललब्धि.... स्वकाल की प्राप्ति, उस समय में प्राप्ति काललब्धि, **आये तब स्वयं ही जान ले अथवा कोई उपदेश देनेवाला मिले तब जाने — जैसे सोया हुआ पुरुष....** सोया हुआ, सोता हुआ पुरुष **या तो स्वयं ही जाग जाये अथवा कोई जगाये तब जागे।....** आहाहा! जागता तो वह स्वयं है। आहाहा! **यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो जानने के कारण से पूर्व....** आहाहा! ज्ञानस्वभाव भगवान (आत्मा) ऐसा ज्ञान नहीं किया, इससे पूर्व क्या यह अज्ञानी था? आहाहा! समझ में आया? ज्ञानस्वरूपी भगवान अज्ञानी था? आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु का ज्ञान न करे तो यह ज्ञानस्वभावी प्रभु पर्याय में अज्ञानी था? आहाहा! है? **ऐसा है तो जानने के कारण से पूर्व क्या आत्मा अज्ञानी ही है....** आत्मा अज्ञानी है? आहाहा!

वेदान्तवाले को तो यह कठिन पड़ता है। आहाहा! एक आया था न वहाँ, (संवत्) ९९वें की साल में, एक वेदान्ती आया था कि इस जैन में ऐसी अध्यात्म की बात! ऐसी जैन में कहाँ से आयी? कौन कहता है यह? ऐसा कि जैन में तो यह व्रत पालना और भक्ति करना यह सब ऐसा? इसलिए कहा लाओ न, सुनने जाऊँ — ऐसा करके आया था। बात करते-करते ऐसी बात निकली, परमहंस था कोई वेदान्ती (था)। (ऐसी बात निकली) कि देखो भाई! आत्मा नित्य तो है, परन्तु अनित्य भी है। (यह सुनकर वह) भागा कि हाय...हाय... अनित्य? अरे भाई! आत्मा है — ऐसा निर्णय कौन — ध्रुव करता है या पर्याय करती है? अनित्य निर्णय करती है या नित्य निर्णय करता है? उसे भी यह बात (नहीं रुची) अभी सर्वत्र गड़बड़ चल रही है। आहाहा! ऐसा कि जैन में फिर अध्यात्म की बात और आत्मा की बात कहाँ से आयी? ऐसा कि जैन में तो मानो क्रियाकाण्ड और व्रत और वही... ऐसा लोगों ने माना है, बाहर का जैनधर्म। आहाहा!

श्रोता : जैन में होवे तो कर्म की बात होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म की बात और क्रिया की बात।

श्रोता : आत्मा की बात बिल्कुल है नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! तब उससे कहते हैं कि बापू! भगवान तो सच्चिदानन्द प्रभु है, परन्तु उसका निर्णय करने की पर्याय अनित्य है। अरे! आत्मा अनित्य? भागा! आहाहा!

यह शास्त्रज्ञान भी अनित्य है, यह तो क्षणिक पर, वास्तविक यह ज्ञान नहीं परन्तु आत्मा का ज्ञान हुआ... आहाहा! वह पर्याय भी क्षणिक है। ध्रुव का ज्ञान हुआ, परन्तु पर्याय क्षणिक है। आहाहा! अरेरे...! दो वस्तु ही ऐसी है — अपरिणामी — परिणमन। परिणमन में अपरिणामी पारिणामिकभाव का ज्ञान होता है। क्या कहा? परिणमन में... परिणमन अनित्य है; परिणमन में अपरिणामी पारिणामिकभाव का ज्ञान होता है। आहाहा! इस अपरिणामी का अर्थ — उसमें पर्याय नहीं होती, परन्तु है उसका नाम पारिणामिकभाव। आहाहा! पारिणामिकभाव का अर्थ, परिणमे इसलिए पारिणामिक — ऐसा नहीं है। सहज स्वभाव को — अपरिणामी को पारिणामिकभाव कहते हैं। आहाहा! अरे...! कभी ऐसा तत्त्व, वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा के पंथ में जन्मे, उन्हें ही पता नहीं पड़ता। अरेरे...! आहाहा!

क्या जानने के कारण से पूर्व स्वयं आत्मा का ज्ञान नहीं होता और पूर्व में गुरु से भी नहीं हुआ तो इससे पहले क्या अज्ञानी था? आहाहा! क्या अज्ञानी ही है? आत्मा अज्ञानी है? आहाहा! ज्ञानस्वभाव का भण्डार प्रभु अज्ञानी है? आहाहा! **क्योंकि उसे सदा अप्रतिबुद्धत्व है?....** आहाहा! क्योंकि अपने स्वभाव का ज्ञान नहीं है। अप्रतिबुद्धत्व, देखो! इस समयसार में अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। कितने ही कहते हैं कि यह समयसार तो मुनियों के लिए है। यहाँ तो (श्रोता : वह होने के लिए) यह होने का हो फिर भी यह तो अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। समयसार, आहाहा!

अप्रतिबुद्ध ही है? **उसका उत्तर — ऐसा ही है, वह अज्ञानी ही है।** अपने ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता नहीं हुई, उस सन्मुख स्वीकार नहीं हुआ। 'मैं आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ' — ऐसी दृष्टि नहीं हुई तब तक वह अज्ञानी है। आहाहा! पर्याय में अज्ञानी है। वस्तु भले ही ज्ञान और आनन्द है। आहाहा! द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों ले लिये। द्रव्य, स्वभावभान; गुण, स्वभाव और उसका भान हुआ, वह पर्याय। और भान न हुआ, वह अज्ञानरूपी पर्याय, आहाहा! ऐसी बात बापू! द्रव्य, गुण और पर्याय का कहाँ पता है? आहाहा! बापू! अभी तो द्रव्य, गुण और पर्याय का नाम भी नहीं आता। पर्याय अर्थात् क्या? (ऐसा) व्यक्ति कहता था, पण्डित आया था, दक्षिण का पण्डित आया था, कोमल व्यक्ति

था, (कहता था) पर्याय अर्थात्? अरे! परन्तु तुम बड़े पण्डित हो... यहाँ आया था। वह बीस पंथी, केसर से और अमुक से भगवान की पूजा करता, भाई! यहाँ वह रिवाज नहीं है बापू! परन्तु कोमल व्यक्ति था। पण्डित, फिर तो वह कहे — पर्याय? अरे! परन्तु क्या तुम्हें — द्रव्य त्रिकाली वस्तु, गुण त्रिकाली स्वभाव, और वर्तमान पलटती अवस्था, वह पर्याय। आहाहा! उस पर्याय में पर्यायवान का ज्ञान होता है। आहाहा! कठिन बात, बापू! बहुत बदलाव हो गया है। आहाहा!

यह पर्याय ज्ञायक सन्मुख झुकती है। आहाहा! तब ज्ञान की पर्याय का परिणमन निर्मल होता है। इस सम्यग्दर्शन की पर्याय कहो, ज्ञान की पर्याय कहो, स्वरूपाचरण की कहो, आनन्द की कहो, शान्ति की कहो, स्वच्छता की कहो, प्रभुता की, ईश्वरता की कहो — यह सब ज्ञान की पर्याय है। आहाहा! अब यह ऐसा मार्ग! अन्य तो अपवास करो, छठ करो, संघ करो, व्रत करो, रस छोड़ो (यह) सीधा-सादा था। यह सब तो भटकने का रास्ता है। तुम दान दो पाँच-पच्चीस लाख का... इतना सब तो क्या दे, पाँच, पच्चीस, पचास लाख थोड़े ही दे! आहाहा! कहाँ यह चीज इसकी थी? इसमें कदाचित् राग की मन्दता का भाव करे वह भी पुण्य है और पुण्य में एकाग्रता वह मिथ्यात्व है। आहाहा! पुण्य की सेवा की है, आहाहा! ऐसा मार्ग है बापू! अरेरे! आहाहा!

श्रोता : संस्था की सेवा करना या नहीं करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन किसकी सेवा करता है? राग और पुण्य के भाव की सेवा करता है, अज्ञानभाव से... आहाहा! अरेरे! शाब्दिक ज्ञान की सेवा, आहाहा! इसे महत्व लग जाता है, मानो कि मैंने कितना जाना? अरे भगवान! सुन न भाई! तुझे अहं पद (मान) आ गया है मिथ्यात्व का। आहाहा! और जवाब देना आवे और धड़ाधड़ (जवाब देना आवे) तो मानो कि आहाहा! भाई! क्या है? यह तो स्वाभाविक है। आहाहा! यहाँ तो परमात्मा... सन्त कहते हैं, वह परमात्मा कहते हैं; परमात्मा कहते हैं, वह सन्त कहते हैं। प्रभु! तूने स्वयं अपने ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा की तुझे कभी एक क्षण महिमा नहीं आयी और पुण्य-पाप तथा वर्तमान शास्त्रज्ञान की महिमा तूने कभी नहीं छोड़ी, प्रभु! आहाहा! ऐसा यहाँ भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूपी दर्शन करे प्रभु तू आहाहा! वह अप्रतिबुद्ध

है — ऐसा शिष्य कहता है, हाँ! अभी कि हाँ... हाँ... ऐसा ही है, अप्रतिबुद्ध है, अपने स्वरूप में ज्ञान है, आनन्द है और वह अप्रतिबुद्ध है ? हाँ, अप्रतिबुद्ध है। स्वरूप का — आनन्दकन्द ज्ञानस्वरूप भगवान का ज्ञान नहीं हुआ और अकेला राग तथा शब्दज्ञान में एकाग्र हो गया। आहाहा! ए...ई... ! सुरेशभाई ! क्या होगा ऐसा वह, भाई ! ऐसा मार्ग कहाँ से ? ए... झाँझरीजी ! यह अन्तरिक्ष की सेवा करना... और सेवा-बेवा कर नहीं सकता — ऐसा कहते हैं। शुभभाव आवे, विकल्प (आवे) आहाहा ! परन्तु उसकी एकाग्रता होवे तो मिथ्यात्व है। आहाहा ! गजब बात है बापू ! वीतराग... वीतराग... वीतराग... तीन लोक का नाथ सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु, यह आत्मा, हाँ ! यह सर्वज्ञस्वरूपी परमात्मा ! ज्ञानस्वरूपी कहा न ? यह ज्ञानस्वभाव इसे कहा न ? यह सर्वज्ञस्वभाव, ऐसा। आहाहा ! उस ओर की एकाग्रता एक क्षण भी-समयमात्र भी कभी नहीं की और एक समयमात्र भी सेवा करे तो उसके जन्म-मरण का अन्त आ जाये। आहाहा ! भव का अन्त वहाँ है, आहाहा ! सुख का पंथ वहाँ है, भव का अन्त वहाँ है। आहाहा ! ऐसा सोनगढ़ के नाम से लोगों को कठिन पड़ता है। अरेरे ! यह कौन कहते हैं ? यह शास्त्र कहते हैं या नहीं ? आहाहा !

गाथा १९

तर्हि कियन्तं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयताम् –

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥१९॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत्॥

यथा स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धेषु घटोऽयमिति, घटे च स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावा: पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गल–स्कन्धाश्चामी इति वस्त्वभेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वन्तरंगेषु नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरङ्गेषु चात्मतिरस्कारिषु पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्म मोहादयोऽन्तरंगा नोकर्म शरीरादयो बहिरङ्गाश्चात्मतिरस्कारिण: पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावन्तं कालमनुभूतिस्तावन्तं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः। यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मन: स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वत: परतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति।

अब, यहाँ पुनः पूछते हैं कि यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध रहता है, वह कहो। उसके उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैं —

नोकर्म कर्म जु 'मैं' अवरु, 'मैं' में कर्म नोकर्म हैं।
यह बुद्धि जबतक जीव की, अज्ञानी तब तक वो रहे॥१९॥

गाथार्थ : [यावत्] जब तक इस आत्मा की [कर्मणि] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म [च] और [नोकर्मणि] शरीरादि नोकर्म में, [अहं] 'यह मैं हूँ' [च] और [अहकं कर्म नोकर्म इति] मुझमें (-आत्मा में) 'यह कर्म-नोकर्म हैं' — [एषा खलु बुद्धिः] ऐसी बुद्धि है, [तावत्] तब तक [अप्रतिबुद्धः] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध [भवति] है।

टीका : जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भावों में तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकार परिणत हुए पुद्‌गल के स्कन्धों में 'यह घट है' इस प्रकार और घड़े में 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदिरूप परिणत पुद्‌गल-स्कन्ध हैं' इस प्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है, इसी प्रकार कर्म-मोह आदि अन्तरंग परिणाम तथा नोकर्म-शरीरादि बाह्य वस्तुएँ-सब पुद्‌गल के परिणाम हैं और आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं - उनमें 'यह मैं हूँ' इस प्रकार और आत्मा में 'यह कर्म-मोह आदि अन्तरङ्ग तथा नोकर्म-शरीरादि बहिरङ्ग आत्म-तिरस्कारी (आत्मा के तिरस्कार करनेवाले) पुद्‌गल-परिणाम हैं' इस प्रकार वस्तु के अभेद से जब तक अनुभूति है, तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है और जब कभी, जैसे रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व-पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली स्वच्छता ही है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है, इसी प्रकार अरूपी आत्मा की तो अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्‌गल के हैं। इस प्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से जिसका मूल भेदविज्ञान है ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा।

भावार्थ : जैसे स्पर्शादि में पुद्‌गल का और पुद्‌गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है अर्थात् दोनों एकरूप अनुभव में आते हैं, उसी प्रकार जब तक आत्मा को, कर्म-नोकर्म में आत्मा की और आत्मा में कर्म-नोकर्म की भ्रान्ति होती है अर्थात् दोनों एकरूप भासित होते हैं, तब तक तो वह अप्रतिबुद्ध है और जब वह यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता है और कर्म-नोकर्म पुद्‌गल के ही हैं तभी वह प्रतिबुद्ध होता है। जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है, वहाँ यह ज्ञात होता है कि 'ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है, और जो दर्पण में दिखाई दे रही है, वह दर्पण की स्वच्छता ही है;' इसी प्रकार 'कर्म-नोकर्म अपने आत्मा में

प्रविष्ट नहीं हैं; आत्मा की ज्ञान-स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेय का प्रतिबिम्ब दिखाई दे; इसी प्रकार कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं इसलिए वे प्रतिभासित होते हैं' — ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव आत्मा को या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेश से हो, तभी वह प्रतिबुद्ध होता है।

गाथा - १९ पर प्रवचन

अब, यहाँ पुनः पूछते हैं कि यह आत्मा कितने समय तक.... आहाहा! प्रभु तब अब ऐसा अज्ञानी अप्रतिबुद्ध कितने काल तक रहेगा? समझ में आया? यह पूछते हैं कि यह आत्मा, यह आत्मा **कितने समय तक....** कितने काल तक **अप्रतिबुद्ध रहता है, वह कहो।** प्रभु! यह तो बताओ न, अप्रतिबुद्ध कैसे कहाँ तक? (रहेगा)। आहाहा! **उसके उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैं —**

तर्हि कियन्तं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयताम् -

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥१९॥

नोकर्म कर्म जु 'मैं' अवरु, 'मैं' में कर्म नोकर्म हैं।
यह बुद्धि जबतक जीव की, अज्ञानी तब तक वो रहे॥१९॥

आहाहा! **टीका : जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भावों में तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकार परिणत हुए पुद्गल के स्कन्धों में 'यह घट है'....** देखो, क्या कहते हैं? स्पर्श, रस, गंध, और रंग आदि भावों में और चौड़ा-गहरा अवगाहरूप आकार, उदरादि आकार परिणति हुए पुद्गलों के स्कन्धों में यह घट है। **इस प्रकार और घड़े में 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण....** आकार परिणत पुद्गल के स्कन्ध आदि भाव चौड़े, गहरे, उदर आकार आदि परिणत पुद्गल-स्कन्ध है। क्या कहा? वर्ण, गंध, रंग स्पर्श में घट और घट में वर्ण, रंग, गंध, स्पर्श है। आहाहा! पारस्परिक! आहाहा! **इस प्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है,....** घट और घट का भाव — वर्ण, गंध,

रस, स्पर्श वह घट है और घट वह वर्ण, रंग, गंध, स्पर्शरूप है, अभेद है। समझ में आया ? **इस प्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है,....** ज्ञान होता है। **उसी प्रकार....** आहाहा! **कर्म-मोह आदि अन्तरंग परिणाम....** आहाहा! भावकर्म और यह सब। आहाहा! **कर्म-मोह आदि अन्तरंग परिणाम....** राग-द्वेष-मिथ्यात्व परिणाम। आहाहा! पुद्गल स्कन्ध है। आहाहा! **अन्तरंग परिणाम तथा नोकर्म-शरीरादि बाह्य वस्तुएँ....** यह शरीर, वाणी, मन, वह बाह्य वस्तु, यह नोकर्म — ऐसे ये सब **पुद्गल के परिणाम हैं....** यह तो पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! शुभ-अशुभराग और शरीरादि, ये तो सब पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! **और आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं...** आहाहा! क्या कहते हैं ? यह शुभ-अशुभभाव, आत्मा का तिरस्कार करनेवाला है। आहाहा! मैं हूँ, तुम नहीं। पुण्य-पाप का भाव मैं हूँ, यह पुण्य-पाप का भाव आत्मा का तिरस्कार करता है। भगवान पूर्णानन्द का नाथ पड़ा है। आहाहा!

बहुत कठिन बातें! क्या गाथा और क्या टीका! आहाहा! कोई गजब, अभी भरतक्षेत्र में समयसार! आहाहा! सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ वीतराग का कहा हुआ हो तो यह एक है। जिसमें सर्वांगी पूर्ण बात सब (आयी है)। आहाहा! उसके साथ प्रवचनसार, नियमसार, सब है। आहाहा!

ये तिरस्कार करनेवाले हैं। यह कौन, क्या कहते हैं ? कि शरीर, वाणी, मन — यह मैं हूँ - ऐसा आता है तो भगवान आत्मा अखण्डानन्द का तिरस्कार होता है। पुण्य और पाप के भाव पर दृष्टि है, तब तक भगवान का तो तिरस्कार हुआ। भगवान तीन लोक का नाथ अन्दर विराजमान है। आहाहा! यह... मैं यह... मैं नहीं ऐसा। क्या कहते हैं यह ? ये शुभाशुभभाव... आहाहा! अरे! शास्त्र का ज्ञान, वह मैं हूँ, यह भगवान का अनादर-तिरस्कार करता है। गजब बात है! आहाहा! है ?

श्रोता : गजब बात है या परम सत्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : परम सत्य... परम सत्य... आहाहा! परम सत्य... साहेब, भूतार्थ भगवान सत्यार्थ प्रभु, परम सत्य प्रभु है। आहाहा! एक समय में भी भूतार्थ भगवान सत्यार्थ प्रभु है, उसका अनादर करके राग और शरीर मैं हूँ, वह स्वरूप का तिरस्कार करता

है, प्रभु! आहाहा! भाषा तो सादी है, भाव तो है वह है। आहाहा! आहाहा! आहाहा! गजब बात करते हैं, टीका तो टीका!! आहाहा!

शरीर आदि – वाणी, मन; पुण्य और पाप का अन्तरंग परिणाम, वह बाह्यवस्तु है। देखो! यह तो बाह्यवस्तु है, यह अन्तरवस्तु नहीं। आहाहा! बाह्यवस्तु में सब पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं। आहाहा! उनका जहाँ स्वीकार करने जाते हैं, भगवान का अनादर हो जाता है। अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु पड़ा है, उसका तिरस्कार होता है, भाई! आहाहा! ऐसी बात है।

'उनमें यह मैं हूँ'.... उनमें यह मैं हूँ। आहाहा! **इस प्रकार और आत्मा में 'यह कर्म-मोह आदि अन्तरङ्ग तथा नोकर्म-शरीरादि बहिरङ्ग आत्म-तिरस्कारी...** आत्मा का तिरस्कार करनेवाला पुद्गल परिणाम है। यह राग, शरीर और वाणी में मैं हूँ और राग, शरीर आदि मेरे में है... आहाहा! अब ऐसी बात! यहाँ तो पुण्य से धर्म होता है... अरे प्रभु! क्या करता है तू? यह पुण्य अन्तरंग परिणाम, उसमें मैं हूँ और मेरे में वह है... मिथ्यात्व... तिरस्कार तेरा... आहाहा! प्रभु! समझ में आया? ओहोहो! थोड़े शब्दों में गागर में सागर भर दिया है। उनमें यह मैं हूँ, यह मैं हूँ — राग, पुण्य, दया, दान, विकल्प, राग। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग, शास्त्र की भक्ति का राग... आहाहा! वह मैं हूँ इस प्रकार; और **आत्मा में कर्म नोकर्म रागादि अन्तरंग परिणाम तथा शरीर, वाणी आदि बहिरंग परिणाम। (आत्म) तिरस्कारी।** आहाहा! **(आत्मा के तिरस्कार करनेवाले) पुद्गल-परिणाम हैं'....** मुझमें ये हैं... तिरस्कार करनेवाली चीज मुझमें है। आहाहा! गजब है।

इस प्रकार वस्तु के अभेद से... क्या? यह पुण्य और पाप के परिणाम अन्तरंग; बहिरंग शरीर, वाणी, मन, वह मैं हूँ और वे मुझमें हैं – ऐसी (मान्यता) जब तक है... जैसे घट और वर्ण, गंध, रस, स्पर्श अभेद है। घट वर्ण, गंध, रस, स्पर्श है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श सब घटरूप है; वैसे यह आत्मा पुण्य और पाप, शरीर, वाणी, मन मैं हूँ, यह अन्तरंग परिणाम आदि मुझमें हैं – ऐसे अभेद से जब तक अनुभूति है... अभेद से जब तक अनुभव है अर्थात् ज्ञान है। आहाहा! ऐसा मार्ग है... **तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है।** आहाहा! क्या

कहा ? कि जब तक भगवान आत्मा में पुण्य, पाप, शरीर, वाणी, कर्म में यह मैं हूँ और यह चीज मुझमें है, तब तक वह अज्ञानी अप्रतिबुद्ध है। आहाहा! उसे ज्ञानस्वरूप में यह रागादि नहीं और राग में आत्मा नहीं, इसका पता नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें बहुत कठिन! देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति का राग, उस राग में मैं हूँ और राग मुझमे है... आहाहा! यह तो, राग से मेरा कल्याण होगा (ऐसा मानता है) तो उसका अर्थ यह हुआ कि राग मुझमें है। आहाहा! **तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध....** अज्ञानी है। है न ? आहाहा! फिर अब विशेष बात है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं. 36

समयसार सिद्धि

भाग-२ (उत्तरार्द्ध)

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा १९ से ३८ तथा कलश २१ से ३२)
प्रवचन क्रमांक ८२ से १११

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
वीर निर्वाण 2539 विक्रम संवत् 2070 ईस्वी सन् 2013
(प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन की जन्म शताब्दी के अवसर पर)

ISBN No. : 978-93-81057-03-2

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846–244334
2. **श्री कुन्दकुन्द–कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई–400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ–कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए–4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान–302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली–422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर–कुन्दकुन्द–कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट–360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप–सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष,

निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान-वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है - ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर-कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा - 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? - उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 - इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष-वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!

- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये - ऐसी बात अन्दर है।
- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है - ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म सम्प्रदाय-बाड़ा-गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है - उसका यथार्थ ज्ञान अपने को-मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही - यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है - एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई - वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी-पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी ड़ेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस

प्रकार उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के जीव अधिकार की गाथा 19 से गाथा 38 और कलश 21 से 32 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 82 से 111 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दश: लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में डॉ. देवेन्द्रभाई एम. दोशी, सुरेन्द्रनगर; श्री देवशीभाई चावड़ा, राजकोट तथा श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्ततः समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
– रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, – मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध–विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त

पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

गाथा/कलश नम्बर	प्रवचन नम्बर	तारीख	पृष्ठ क्रमांक
गाथा-१९	-	-	१
	८२	१०-०९-१९७८	३
	८३	११-०९-१९७८	१६
कलश-२१	-	-	२०
	८३	११-०९-१९७८	२०
गाथा-२०-२२	-	-	२५
	८३	११-०९-१९७८	२८
	८४	१२-०९-१९७८	३७
कलश-२२	-	-	३८
	८४	१२-०९-१९७८	३९
गाथा २३-२५	-	-	४६
	८४	१२-०९-१९७८	४९
	८५	१३-०९-१९७८	५५
	८६	१४-०९-१९७८	६८
	८७	१५-०९-१९७८	८१
कलश-२३	-	-	८६
	८७	१५-०९-१९७८	८७
गाथा-२६	-	-	९५
कलश-२४	८७	१५-०९-१९७८	९६
गाथा-२७	-	-	९९
	८८	२१-०९-१९७८	१००
गाथा-२८	-	-	१०५
	८८	२१-०९-१९७८	१०६

गाथा/कलश नम्बर	प्रवचन नम्बर	तारीख	पृष्ठ क्रमांक
गाथा–२९	–	–	१११
	८८	२१–०९–१९७८	११२
गाथा–३०,	–	–	११४
कलश–२५	८८	२१–०९–१९७८	११५
कलश–२६	–	–	११७
	८८	२१–०९–१९७८	११८
गाथा–३१	–	–	१२१
	८९	२२–०९–१९७८	१२३
	९०	२४–०९–१९७८	१३६
	९१	२५–०९–१९७८	१४७
गाथा–३२	–	–	१५४
	९१	२५–०९–१९७८	१५५
	९२	२६–०९–१९७८	१६१
	९३	२७–०९–१९७८	१७३
	९४	२८–०९–१९७८	१८६
गाथा–३३	–	–	१९४
	९४	२८–०९–१९७८	१९५
	९५	२९–०९–१९७८	२०१
कलश–२७	–	–	२१३
	९५	२९–०९–१९७८	२१४
	९६	३०–०९–१९७८	२१५
कलश–२८	–	–	२१८
	९६	३०–०९–१९७८	२१९
	९७	०१–१०–१९७८	२३०
गाथा–३४	–	–	२४२
	९७	०१–१०–१९७८	२४३

गाथा/कलश नम्बर	प्रवचन नम्बर	तारीख	पृष्ठ क्रमांक
	९८	०३-१०-१९७८	२४६
	९९	०४-१०-१९७८	२५९
	१००	०५-१०-१९७८	२७४
गाथा-३५	-	-	२७६
	१००	०५-१०-१९७८	२७७
	१०१	०६-१०-१९७८	२९०
कलश-२९	-	-	२९८
	१०१	०६-१०-१९७८	२९९
	१०२	०७-१०-१९७८	३०५
गाथा-३६	-	-	३१०
	१०२	०७-१०-१९७८	३१२
	१०३	०८-१०-१९७८	३२१
	१०४	१०-१०-१९७८	३३६
कलश-३०	-	-	३४७
	१०४	१०-१०-१९७८	३४८
	१०५	११-१०-१९७८	३५२
गाथा-३७	-	-	३६२
	१०५	११-१०-१९७८	३६३
	१०६	१२-१०-१९७८	३६९
	१०७	१३-१०-१९७८	३८२
कलश-३१	-	-	३९३
	१०७	१३-१०-१९७८	३९३
गाथा-३८	-	-	३९७
	१०८	१४-१०-१९७८	३९९
	१०९	१५-१०-१९७८	४१४
	११०	१७-१०-१९७८	४२९
कलश-३२	-	-	४४४
	१११	१८-१०-१९७८	४४५

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

भाग – २ (उत्तरार्द्ध)

पूर्वरङ्ग

तर्हि कियन्तं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयताम् –

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥१९॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत्॥

यथा स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धेषु घटोऽयमिति, घटे च स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गल –स्कन्धाश्चामी इति वस्त्वभेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वन्तरंगेषु नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरङ्गेषु चात्मतिरस्कारिषु पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्म मोहादयोऽन्तरंगा नोकर्म शरीरादयो बहिरङ्गाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावन्तं कालमनुभूतिस्तावन्तं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः। यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं

ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मन: स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वत: परतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति।

अब, यहाँ पुनः पूछते हैं कि यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध रहता है, वह कहो। उसके उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैं —

नोकर्म कर्म जु 'मैं' अवरु, 'मैं' में कर्म नोकर्म हैं।
यह बुद्धि जबतक जीव की, अज्ञानी तब तक वो रहे॥१९॥

गाथार्थ : [यावत्] जब तक इस आत्मा की [कर्मणि] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म [च] और [नोकर्मणि] शरीरादि नोकर्म में, [अहं] 'यह मैं हूँ' [च] और [अहकं कर्म नोकर्म इति] मुझमें (-आत्मा में) 'यह कर्म-नोकर्म हैं' — [एषा खलु बुद्धिः] ऐसी बुद्धि है, [तावत्] तब तक [अप्रतिबुद्धः] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध [भवति] है।

टीका : जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भावों में तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकार परिणत हुए पुद्गल के स्कन्धों में 'यह घट है' इस प्रकार और घड़े में 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदिरूप परिणत पुद्गल-स्कन्ध हैं' इस प्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है, इसी प्रकार कर्म-मोह आदि अन्तरंग परिणाम तथा नोकर्म-शरीरादि बाह्य वस्तुएँ-सब पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं - उनमें 'यह मैं हूँ' इस प्रकार और आत्मा में 'यह कर्म-मोह आदि अन्तरङ्ग तथा नोकर्म-शरीरादि बहिरङ्ग आत्म-तिरस्कारी (आत्मा के तिरस्कार करनेवाले) पुद्गल-परिणाम हैं' इस प्रकार वस्तु के अभेद से जब तक अनुभूति है, तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है और जब कभी, जैसे रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व-पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली स्वच्छता ही है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है, इसी प्रकार अरूपी आत्मा की तो अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं। इस प्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से जिसका मूल भेदविज्ञान है ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा।

भावार्थ : जैसे स्पर्शादि में पुद्गल का और पुद्गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है अर्थात् दोनों एकरूप अनुभव में आते हैं, उसी प्रकार जब तक आत्मा को, कर्म-नोकर्म में आत्मा की और आत्मा में कर्म-नोकर्म की भ्रान्ति होती है अर्थात् दोनों एकरूप भासित होते हैं, तब तक तो वह अप्रतिबुद्ध है और जब वह यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता है और कर्म-नोकर्म पुद्गल के ही हैं तभी वह प्रतिबुद्ध होता है। जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है, वहाँ यह ज्ञात होता है कि 'ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है, और जो दर्पण में दिखाई दे रही है, वह दर्पण की स्वच्छता ही है;' इसी प्रकार 'कर्म-नोकर्म अपने आत्मा में प्रविष्ट नहीं हैं; आत्मा की ज्ञान-स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेय का प्रतिबिम्ब दिखाई दे; इसी प्रकार कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं इसलिए वे प्रतिभासित होते हैं' — ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव आत्मा को या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेश से हो, तभी वह प्रतिबुद्ध होता है।

प्रवचन नं. ८२ गाथा १९ दिनाङ्क १०-०९-१९७८ रविवार
भाद्र शुक्ल अष्टमी, वीर निर्वाण संवत् २५०४ उत्तम सत्य धर्म

पाँचवाँ बोल है न?

जिणवयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि।
ववहारेण वि अलियं ण वददि जो सच्चवाई सो॥३९८॥

जो मुनि.... मुनि के चारित्र के भेद हैं न! यह चारित्र के भेद हैं, ये दस प्रकार। मुनि! जिनसूत्र के ही वचन को कहते हैं, जिनसूत्र के ही वचन को कहते हैं। उसमें जो आचारादि कहा गया है, उसका पालन करने में असमर्थ हो तो भी अन्यथा नहीं कहते। आहाहा! कि यह मैं भलीभाँति पालन नहीं कर सकता, मुझे दोष लगता है - इस प्रकार जिनवाणी जो कहती है, तदनुसार कहते हैं, अपनी स्वच्छन्दता से नहीं कहते। आहाहा! पालन करने में असमर्थ हो तो भी झूठ नहीं कहते। आहाहा! और जो व्यवहार से भी अलग नहीं कहते। आहाहा! व्यवहार बोल है, उसमें भी असत्य नहीं कहते। बोलचाल-गृहस्थ के साथ बात चलती हो, व्यवहार में भी झूठ नहीं कहते, वे मुनि सत्यवादी हैं। दस प्रकार लिये हैं, उनमें

दस प्रकार से नामसत्य, द्रव्यसत्य, भावसत्य इत्यादि उसमें। अपनी बात तो यह है कि सत्यस्वरूप भगवान! जानने में आती है जो चीज, उससे जाननेवाले को जानना, वह सत्य है। आहाहा! क्या कहा?

जो चीज जानने में आती है, उसको जानते हैं और मानते हैं कि मैंने उसे जाना, परन्तु जाननेवाला अलग है, जाननेवाले को नहीं जाना। आहा! यह सत्य है — जाननेवाले को जानना, जाननेयोग्य को जानना – इसे छोड़कर... आहाहा!

श्रोता : जाननेवाले को जानना, यह तो शुद्ध उपयोग हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : जानने में जो चीज आती है — ज्ञेय, वह भी तो दूसरी चीज है परन्तु जाननेवाला कौन है? आहाहा! वह तो अन्तर्लक्ष्य करे तो जाननेवाले को जान सकते हैं। परलक्ष्य में तो जाननेयोग्य चीज जानने में आती है, वह तो पर है। आहाहा! समझ में आया? इस प्रकार वेदन में आनेयोग्य को वेदते हैं–जानते हैं। वेदन में आना... परन्तु वेदन करनेवाली जो चीज है... आहाहा! परम सत्य तो वह है। समझ में आया? भगवान परमसत्यार्थ जो भूतार्थ वस्तु है, उसको नहीं जाना और पर को जानने में रुक गया... आहाहा! और पर का वेदन होता है, भले ही राग का भी... पर के लक्ष्य से शरीर का ऐसा–ऐसा वेदन ऐसा दिखता है न राग, राग.... परन्तु वेदन करनेयोग्य को वेदन किया, जाना... आहाहा! परन्तु भगवान! वेदन करनेवाली चीज कौन है? आहाहा! उसको जानना, वह सत्यवस्तु है। आहाहा! समझ में आया? विशेष अधिकार है अन्दर दस बोल में। अब चलता अधिकार।

समयसार! आहाहा! परमसत्य प्रभु! यह दूसरे प्रकार से बात की है, वरना तो सत्यार्थ जो भूतार्थवस्तु है... आहाहा! उसको जानना, वह सत्य है। आहाहा! बाकी पर को जानने में रुकता है तो पर को जाना परन्तु जाननेवाला कौन है? — उसको नहीं जाना वह असत्य है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ १९ गाथा — जैसे घड़ा और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श अभेद है और घड़े में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श घट है। घट समझे न, घट। वैसे – **इसी प्रकार कर्म-मोह आदि अन्तरंग परिणाम....** आहाहा! शुभाशुभराग **तथा नोकर्म-शरीरादि बाह्य वस्तुएँ-(जो कि) सब पुद्गल के परिणाम हैं....** वास्तव में तो पुण्य

और पाप का भाव, वह पुद्गल का परिणाम है। निमित्त के आश्रय से हुआ तो निमित्त का है — ऐसा कहते हैं। अपना भगवान आत्मा... आहाहा! शुद्ध चैतन्य भगवान के अवलम्बन से नहीं हुआ, वह निमित्त के आश्रय और अवलम्बन से हुआ तो निमित्त पुद्गल है, उसके आश्रय से हुआ अपने में, परन्तु फिर भी अपने में हुआ, वह स्वभाव नहीं; इस कारण पुण्य और दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव... आहाहा! इन्द्रियाँ जो यह जड़ और भावेन्द्रिय, उससे जो जानने में आया शास्त्र आदि ज्ञान, आहाहा! गजब बात प्रभु! उसको भी यहाँ पुद्गल-परिणाम कहा! जानने का भाव पर का, परतरफ से जाना-शास्त्र ज्ञानादि, पुद्गल का परिणाम है, क्योंकि उससे अबन्धपरिणाम नहीं हुआ; वह बन्धपरिणाम है। अतः अबन्धस्वरूपी भगवान... आहाहा! उससे भिन्न बन्धभाव, वह पुद्गल का भाव है। आहाहा! गजब बात है।

श्रीमद् में.... रात्रि में कहा था न! 'दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य समझा जा सकता है।' आहाहा! सन्तों की, दिगम्बर सन्तों की वाणी, जिसे ऐसा कहे कि शास्त्रज्ञान भी हुआ... आहाहा! प्रभु! दया, शास्त्र की ओर का विकल्प हुआ, दया, दान, व्रत आदि का (विकल्प हुआ), उसे तो पुद्गल कहा, परन्तु शास्त्रज्ञान का... आहाहा! प्रभु-प्रभु! जिस ज्ञान में अबन्धपना नहीं, वह ज्ञान पुद्गल है। आहाहा!

वह परद्रव्य है, आहाहा! यहाँ तो स्त्री, पुत्र, परिवार सब परद्रव्य है, ऐसा पुण्य और पाप का भाव परद्रव्य है, ऐसा पर का जानना भी भाव-परद्रव्य है। अरेरे! प्रभु! ऐसी बात है! क्या हो? अरेरे! सन्तों ने तो प्रसिद्ध करके जगत को निहाल कर दिया है। आहाहा! भाई! तू पर को जानने... भगवान को जानने गया, समवसरण में साक्षात् तीर्थंकर को, तो भी जो पर को जानना हुआ... आहाहा! कहते हैं कि वह तो पुद्गल का (परिणाम) पुद्गल है। उसमें भगवान आत्मा का परिणाम आनन्द नहीं आया। आहाहा! प्रभु! तू कौन है? आहाहा! अपने को जानने में तो आनन्द आता है। वह आनन्द नहीं आता है और यह पर का जानना हुआ.... आहाहा! गजब बात है न प्रभु! सन्तों की वाणी तो वाणी, रामबाण है! है! आहाहा! अमोघ-अमोघ सफल, मोघ अर्थात् निष्फल, अमोघ अर्थात् सफल। यह मोघ था न मोघ, मोघ का अर्थ निष्फल होता है; अमोघ (का अर्थ) सफल होता है। आहाहा!

यहाँ तो दया, दान, व्रत, भक्ति, शास्त्र की भक्ति, गुरु की भक्ति, देव की भक्ति... आहाहा! वह पुद्गल का परिणाम है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्योंकि अपना ज्ञायकस्वरूप भगवान का परिणाम तो निर्मल और पवित्र होना चाहिए। आहाहा! यह मलिन और अपवित्र परिणाम... आहाहा! यह कहा, अन्तरंग शरीर आदि, रागादि, मोहादि; बहिरंग आत्म तिरस्कारी, आहाहा! भगवान अनाकुल आनन्द प्रभु, चैतन्य का पर्वत भगवान, आहाहा! उसका यह दया, दान, भक्ति आदि का परिणाम, स्वभाव का तिरस्कार करनेवाला है। आहाहा! उसके प्रेम में स्वभाव का तिरस्कार / अनादर होता है। आहाहा! ऐसी बात कहीं सुनने को नहीं मिलती। आहाहा! है? **तिरस्कारी...** (भाव) आहाहा! भगवान ज्ञान और आनन्द का गंज प्रभु, उससे विरुद्ध परिणाम, वे आत्मा के नहीं; पुद्गल के कहे हैं। आहाहा! क्योंकि वे परिणाम हैं, वह अपनी चीज नहीं। आहा! अपनी चीज हो, वह अलग नहीं पड़ती, दूर हो नहीं। आहाहा!

यह पुण्य के परिणाम दया, दान, व्रत, भक्ति, शास्त्र की भक्ति... आहा! गजब बात है प्रभु! यह स्वरूप का तिरस्कार करनेवाले हैं। आहाहा! वहाँ आगे अकेली दृष्टि दे, जिसने राग को भिन्न जाना, वह राग में है नहीं। समझ में आया? आत्मा को राग से भिन्न जाना तो वह तो ज्ञायकस्वरूप है, वह ज्ञानी तो ज्ञायकस्वरूप में है; राग आता है परन्तु उसको जानता है; मेरी चीज है और उससे मुझे लाभ होगा (— ऐसा नहीं मानता)। आहाहा! तीन लोक के नाथ ऐसा कहते हैं - प्रभु! तुझे हमारी भक्ति का भाव-राग है। आहाहा! प्रभु! तू निरागी, आनन्दकन्द है न? आहाहा! तेरी चीज कहाँ है? तूने नहीं जाना, नाथ! आहाहा! पर के वेदन में वेदन वह तो जाना परन्तु वेदन करनेवाली पर्याय में यह जो भगवान त्रिकाली है, उससे ये रागादि भिन्न हैं। आहाहा! तो उस भिन्न को यहाँ पुद्गल का परिणाम कहा है। आहाहा! बापू! यह तो धीरजवान का मार्ग है। आहाहा!

इस प्रकार वस्तु के अभेद से जब तक अनुभूति है,.... लो, है न? आहाहा! यह परिणाम... दो बार तिरस्कार (शब्द) आया है। है? तिरस्कारी, वह भी आत्मा का.... **(आत्मा के तिरस्कार करनेवाले) पुद्गल-परिणाम हैं' इस प्रकार वस्तु के अभेद से....** यह क्या कहा? यह शुभराग आदि-दया, भक्ति का (भाव) आया, वह पुद्गल तो है और जब तक आत्मा को उससे अभेद माना। आहाहा! — राग से आत्मा (की) अभेद

जब तक अनुभूति है,... आहाहा! भगवान आत्मा के साथ राग की अभेदबुद्धि से अनुभव है। आहाहा! समझ में आया? जीव अधिकार है न? आहाहा! तो वे रागादि अजीव हैं, पुद्गल हैं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का राग है, वह भी शुभराग-पुद्गल है, उसके साथ जब तक अभेद अनुभूति है, आहाहा! **इस प्रकार वस्तु के अभेद से जब तक अनुभूति है,....** ज्ञान, **तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है....** तब तक आत्मा अज्ञानी है, प्रतिबुद्ध नहीं। आहाहा! भाषा निकलती है, वह तो जड़ है; कण्ठ कंपता है, वह जड़ है, आहाहा! तो जिसको अन्दर में ऐसा लगता है कि मैं भलीभाँति बोलता हूँ, वह तो वाणी और आत्मा से अभेदबुद्धि हुई। आहाहा! वह तो वाणी... परन्तु उसमें विकल्प आया, उस विकल्प के साथ जब तक अभेदबुद्धि है... आहाहा! तब तक अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है, बहिरात्मा है। आहाहा!

जैसे **और जब कभी,...** अब सम्यक् बताते हैं। **जैसे रूपी दर्पण की....** रूपी दर्पण-काँच की **स्वच्छता ही...** स्वच्छता ही, दर्पण की स्वच्छता ही **स्व-पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली है....** यह दर्पण स्व का आकारस्वरूप और पर का प्रतिभास करनेवाला है। आहाहा! **और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है,....** आहाहा! उसमें जो अग्नि दिखती है और उष्णता है, वह तो अग्नि की है, दर्पण की नहीं। आहाहा! यहाँ तो अग्नि तो अग्नि में रही परन्तु दर्पण में अग्नि जैसी पर्याय है न? है तो स्वच्छता की - दर्पण की पर्याय, परन्तु वह वास्तविक उसकी नहीं है। समझ में आया? वह तो अग्नि की है — ऐसा कहते हैं। अन्दर दर्पण में जो ज्वाला दिखती है, वह अग्नि की है। भगवान आत्मा ज्ञायकदर्पण, भगवान में जो राग दिखता है, वह तो अपने निर्मलज्ञान की प्रधानता से राग यह है — ऐसा दिखता है। मैं हूँ — ऐसा नहीं, आहाहा! अरे! कहाँ जाना?

यह दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, अपवास आदि का विकल्प उत्पन्न हुआ... आहाहा! वह; और मैं स्व और पर का जाननेवाला हूँ, उस स्व और पर — रागादिक की अभेदबुद्धि अज्ञान है परन्तु स्व और रागादि पुद्गल का परिणाम पर, उसको अपने में रहकर स्व-पर प्रकाशक जाननेवाला हूँ। आहाहा! **अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है...** अपनी तो अपने को और राग को जाननेवाली ज्ञातृता, वह अपनी है;

रागादि अपने नहीं हैं। आहाहा! यहाँ तो अभी पुत्र और स्त्री और मेरे... मेरे और यह मेरा... मर गया, मार डाला तुझे, आहाहा! ठिकाने लगाना चाहिए न, कहा था न फूलचन्दजी ने क्या? लड़के-बड़के को ठिकाने लगाना चाहिए न? भटकने में! स्वयं ठिकाने पड़े, उसमें भटकने में।

श्रोता : ठिकाने लगते जायें तो यहाँ आया जा सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं लगते, किसे कहना ठिकाने? ठिकाने तो स्थान आनन्दधाम में पड़े, उसे ठिकाने कहलाता है। आहाहा! यह तो लड़कों को अच्छे ठिकाने विवाह और दो-पाँच-पचास हजार लेकर कोई कन्या आयी और ओहोहोहोहो! उसके पास एक हजार तोला सोना दिया है, उसके पिता ने। ओहोहो! यह क्या सोने का पता नहीं अपने को कुछ? अकेले प्रसन्न प्रसन्न हो जाते हैं। आहाहा! एक लाख तोला सोना, एक लाख तोला सोना दिया, साड़ियाँ, पाँच-पाँच हजार की एक साड़ी, ऐसे दस तो साड़ियाँ, साड़ियाँ क्या? साड़ी, भभूतभाई! यह भभूती अज्ञान की।

श्रोता : वैभव-वैभव।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! प्रभु तू कहाँ गया? भाई!

श्रोता : खो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : खो गया भाई तू। आहाहा!

जाननेवाले की स्वच्छता वह तेरी है, स्व और पर को जाननेवाली ज्ञातृता, वह तेरी है। आहाहा! शरीर, कुटुम्ब परिवार तो तेरा नहीं। देश-मेरा देश, मेरा देश... हमची मुम्बई, क्या कहते हैं न कुछ? मुम्बई हमची? हमची मुम्बई धूल भी नहीं। सुन न भाई! मर गया, मार डाला! यह सब काठियावाड़ी आये हैं न? निकल जाये यहाँ से। हमची मुम्बई है दक्षिण की। आहाहा! मार डाला... आहाहा! अफ्रीका में भी रंगभेद है न? बाहरवाले आये और पैसेवाले हो गये और हम यहाँ कितने गरीब हैं... तुम आकर यहाँ बड़े करोड़पति हो गये। महाजन लोग वहाँ अफ्रीका में बहुत करोड़पति हैं। आहाहा! यहाँ बैल की पूँछ खेती में ऐसे करते हों, वहाँ पैसेवाले हो गये, करोड़पति और वे गाँव के लोग बेचारे कितने ही

साधारण हो गये.... बाहर निकलो, नहीं तो यहीं के यहीं रहोगे, उसके लिए यह है, तुम्हारे से पैसा बाहर दिया नहीं जा सकेगा, बाहर लिया नहीं जा सकेगा। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि स्वदेश भगवान आत्मा, उसे परदेश में—रागादिक (में) जाना... आहाहा! वह तो परदेश है, स्वधाम नहीं। आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का आनन्दधाम अमृत का सागर (है), उसमें उसकी स्वच्छता वह उसकी है। राग सम्बन्धी अपनी ज्ञान की पर्याय और अपनी पर्याय, वह स्वच्छता उसकी है। राग और पर उसका है नहीं। आहाहा! अरेरे! अभी ऐसी दृष्टि का ठिकाना नहीं। आहाहा! **इसी प्रकार अरूपी आत्मा की तो....** वह रूपी दर्पण... **अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता....** बस, आहाहा! यह तो अपनी स्वच्छता में राग जानने में आता है, परन्तु राग अपना है — ऐसा अन्दर में होता ही नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग लोगों को बहुत कठिन पड़ता है, इसलिए बेचारे दूसरे रास्ते-इस व्यवहार से होगा, इससे होगा (ऐसा मानते हैं)। यहाँ यह कहते हैं कि तेरा व्यवहार दुःखरूप है, वह तेरी चीज ही नहीं है, वह तो पुद्गल है। गजब बात है नाथ, आहाहा! और इस पुद्गल से तेरा सम्यग्दर्शन, तेरे आत्मा का ज्ञान हुआ? क्या हो! जगत... है?

श्रोता : ज्ञाता-दृष्टा रहना....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यहाँ तो स्व और पर, **अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है...** वह अपनी है। आहाहा! रागादि और शरीर और स्त्री-कुटुम्ब-परिवार तो कहीं रह गये। आहाहा! अपनी पर्याय में राग हो, वह भी पर है; अपनी स्वच्छता में जाननेयोग्य है तो स्त्री, कुटुम्ब और परिवार कहाँ-कहाँ व्यर्थ रह गये बाहर, आहाहा!

यह सब पुद्गल हैं, कहा है। यह पुद्गल है, पर है न? यह चैतन्य नहीं, इसलिए पुद्गल। आहाहा! स्त्री-पुत्र का आत्मा पुद्गल! यह द्रव्य नहीं, इसलिए अद्रव्य। यह आत्मा नहीं, इसलिए अनात्मा; यह आत्मा नहीं, इसलिए पुद्गल। आहाहा! ऐसी बात कहाँ? अरेरे! सत्य का सुनना मिलता नहीं, सुनने में आवे नहीं, वह कब करे? आहाहा! एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है... ऐसा कहकर तिरस्कार... तिरस्कार (करता है) परन्तु एकान्त ही है, सम्यक् एकान्त (है)। निश्चय का विषय सम्यक् एकान्त है। नय है

न ? प्रमाण में दो का विषय है। यह निश्चयनय का विषय एकान्त (है)। सम्यक् चैतन्यमूर्ति स्व और पर को जानने की परिणति / पर्याय उसकी, बस। वह है त्रिकाली परन्तु वर्तमान में स्व को जानने की पर्याय और राग को जानने की पर्याय, वह पर्याय अपनी, बस इतनी गिनी। समझ में आया ?

आहाहा! और यह स्व-स्वामी सम्बन्ध वह द्रव्य-गुण और निर्मल पर्याय, वह स्व और उसका स्वामी जीव, बस! राग का स्वामी और पत्नी का पति स्वामी और नर का नरेन्द्र / स्वामी और नरपति-नृपति मनुष्य का पति.... धूल भी नहीं। यह उद्योगपति... मार डाला!

श्रोता : बोर्डिंग का गृहपति...

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले पैसे नहीं थे, इसके पिता ने कुछ नहीं दिया था, यह अभी अपने बल से दस करोड़ रुपये, पच्चीस करोड़ रुपये इकट्ठे किये हैं। ओहोहो! क्या है परन्तु यह तुझे ? आहाहा! सन्निपात लगा है। आहाहा! यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं, जैसे पुण्य और पाप को पुद्गल कहा; वैसे शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार सबको पुद्गल कहा। यह आत्मा नहीं, इसलिए पुद्गल — ऐसा। समझ में आया ? आहाहा! यह कहाँ भ्रमित हो गया है ? आहाहा! भ्रमित हो गया है पर में, भ्रमित हो गया (और) भगवान को भूल गया तू। प्रभु! आहाहा!

तेरी तो जानने-अपने को और पर को जाननेवाली... आत्मा की तो ऐसा। आत्मा की तो ऐसा है न ? **अपने को और पर को जाननेवाली...** अब यहाँ वर्तमान पर्याय की बात करते हैं। आत्मा तो त्रिकाली द्रव्य है। समझ में आया ? है ? **अरूपी आत्मा की तो....** यहाँ पर्याय लेना है न ? द्रव्य-गुण तो कहा। यह कहते हैं **अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता....** आहाहा! यह पर्याय ली है। अपने को जो पर्याय जानती है और वह पर्याय राग को जानती है, वह ज्ञातृत्वपर्याय, आत्मा की है। समझ में आया ? भाषा तो सादी परन्तु भाई भाव तो कठिन है भाई! आहा! भाषा आ जाये, इसलिए अन्दर आया — ऐसा भी नहीं, यह तो अलग दूसरी चीज है। आहाहा!

शरीर को पुद्गल कहा, बहिरंग सब स्त्री, पुत्र आदि सबको पुद्गल कहा। लो! आहाहा! आदि है न ? शरीरादि शब्द है न ? आहाहा! अरे! देव-गुरु और शास्त्र, वह

पुद्गल है — ऐसा कहते हैं। ३१ (गाथा) में कहा है कि देव, गुरु और शास्त्र, इन्द्रिय है; वे अनीन्द्रिय आत्मा नहीं है। आहाहा! लोग कहाँ-कहाँ बहकर एकान्त में चले जाते हैं, उनको पता नहीं, आहाहा! 'सहजानन्दी रे आत्मा; सूतो कईं निश्चिंत!' प्रभु तू कहाँ सोया? तेरा पोढना कहाँ गया भाई! राग और पुण्य में तेरा पोढन-सोना हो गया! प्रभु! तू तो आनन्द का सागर है न! तेरी पर्याय में जो जानने की दशा हुई, वह तेरी है। आहाहा! आहाहा! **और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं।....** पुण्य और पाप का भाव, शरीर आदि बाह्य वस्तु, वह सब पुद्गल के हैं। आहाहा!

इस प्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से.... दो प्रकार, बस! या तो अपने से जान ले और या गुरु उपदेश से जान ले। समझ में आया? आहाहा! जानना तो इसको (स्वयं को) है। आहाहा! ऐसा काम कठिन पड़ता है; संसार के काम करना, स्त्री-पुत्र संभालना, इज्जत हो तद्नुसार रहना... अब यह कहें ऐसा आत्मा, ऐसा आत्मा... आहाहा! भाई! तूने व्यर्थ की मजदूरी बहुत की है प्रभु! आहाहा! राग, राग शुभ-अशुभभाव.... यह तो अशुभभाव है। यहाँ तो शुभभाव को भी, आहाहा! पुद्गल कहा है।

श्रोता : आत्मा का तिरस्कार करनेवाले ये भाव हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे वह भाव, पुद्गल! आहाहा! अपने को जानना और शुभभाव को जानना, यह ज्ञातृत्वपर्याय अपनी और ये रागादि पुद्गल के। आहाहा! चैतन्य के नहीं, इसलिए पुद्गल ऐसा। आहाहा! अभी ऐसा समझना कठिन पड़ता है। है! क्या हो भाई! यह तो जन्म-मरण मिटाने की कला है।

श्रोता : कालेज....

पूज्य गुरुदेवश्री : कालेज है बापू! क्या कहें? अमुक प्रकार का जानपना तो हो... यह तो भगवान का कालेज है। आहाहा! सीमन्धर भगवान विराजते हैं। आहाहा! उनकी यह वाणी यहाँ आयी है। आहा!

इस प्रकार आत्मा अपने को जाने वह ज्ञानपर्याय और राग को जाने, वह पर्याय अपनी है। ऐसे कैसे जाने? कि या तो स्व से-अपने से जान ले... आहाहा! या पर-उपदेश - गुरु का (उपदेश) मिले और जाने परन्तु जानना तो इसको है। आहाहा! एक **स्वतः**

अथवा परोपदेश से जिसका मूल.... आहाहा! जिसका मूल... पहले अभेद कहा था न? तो अब जिसका मूल **भेदविज्ञान है....** आहाहा! जैसे घड़ा और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श दोनों अभेद हैं। घड़े में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में घड़ा है, अभेद है। इसी प्रकार भगवान आत्मा में रागादि हैं, वे अभेद हैं, यह मिथ्याबुद्धि है।

अब भेद.... आहाहा! अरे भाई! करने योग्य तो यह है, बाकी तो पाप के पोटले बाँधकर, भाई! कहाँ जायेगा, भाई! कुछ नहीं मिले कहीं, चौरासी के अवतार, ओहोहो! शरण तो एक भगवान अन्दर है। आहाहा! वह अपने से जाने। मैं स्वतः ज्ञाता-दृष्टा हूँ या गुरुगम से जाने कि गुरु कहते हैं कि तेरी चीज यह है। आहाहा! **जिसका मूल भेदविज्ञान है...** आहाहा! जानने में आया क्या? कि जिसका मूल भेदविज्ञान-राग से भिन्न स्वभाव से अभिन्न अपनी जाननशक्ति स्व-पर प्रकाशक, उससे अभिन्न; राग से — दया, दान, व्रतादि से भिन्न, आहाहा! ऐसा स्पष्ट और इतना फिर भी अरे बेचारे क्या करते हैं! भाई!

अरे! भगवान का विरह पड़ा, परमात्मा वहाँ रह गये। आहाहा! केवलज्ञान की शक्ति रही नहीं, देवों का आवागमन घट गया। आहाहा! समझ में आया? उसमें ऐसी बातें, बाहर रखना बहुत कठिन, कहते हैं। आहाहा!

श्रोता : देव अभी क्यों नहीं आते? देव....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न? देवों का आवागमन घट गया। घट गया, कहीं किसी प्रदेश में सहज आते होंगे, लौकिक के लिये परन्तु धर्म के लिये तो देवों का (आवागमन नहीं है)। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य को भगवान का विरह लगा, आहाहा! तब उन्हें जाने का भाव हुआ, सहज ही देव आया। समझ में आया? और स्वयं की लब्धि भी थी, दोनों बातें आती हैं। चलो, भगवान के पास, विमान में। आहाहा! देखो न! देव ले गये, भगवान के पास! लब्धि भी थी चार अंगुल ऊँचे (चलने की लब्धि थी)। आहाहा! अभी तो वे देव भी नहीं रहे। आहाहा! है? देव स्वयं रहा एक! आहाहा! देवशक्ति का नाथ भगवान, इस देव की मौजूदगी है। समझ में आया? आहाहा! यह अपने को किसी व्यक्ति के प्रति काम नहीं है, यह तो तत्त्व की स्थिति ऐसी है भाई! जिनवाणी में वस्तु की स्थिति ऐसी कही है। आहाहा!

वहाँ तो ऐसा लिया है 'राजा भिक्षार्थे भ्रमे ऐसी जन को टेव।' प्रतिमाजी के पास जाये, उनके पास जाये, शास्त्र के पास (कि) मुझे कुछ दो। अरे! भिखारी! क्या माँगता है? तेरे पास क्या नहीं है, तो हम तुम्हें देंगे? शास्त्र को कहे परन्तु हे शास्त्र... ! कुछ तुम प्रसन्न होओ। भगवान की मूर्ति के समीप जहाँ भगवान जहाँ बैठे... भगवान हो ऊपर... परन्तु भगवान तेरे पास हैं न? आहाहा! तू भिक्षा के लिए कहाँ निकला भिखारी! आहाहा! एक तो बाह्य लक्ष्मी का भिखारी, आहाहा! और अन्दर की चीज पाने के लिये बाहर में गोते खाता है। यहाँ यात्रा करें, यहाँ शत्रुंजय... ऊपर क्या कहलाता है वह? वह ऊपर क्या कहलाता है? वह बैठने की (डोली)। डोली-डोली डोली में बैठकर जाये, हिल न सके वृद्ध हो वह (डोली में बैठकर जाये) जय भगवान, शिवपद हमको देना रे महाराज! वे कहते हैं कि शिवपद तो तेरे पास ही है, भिखारी! हमारे पास माँगने क्या आया? आहाहा!

ज्ञानी को भी शुभभाव आता है परन्तु वे जानते हैं कि मेरी कमजोरी से आया है तो उसे भी हेयरूप से जानते हैं। आहाहा! **इस प्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से जिसका मूल....** आहाहा! पर ने भी यह कहा था कि राग से भिन्न कर और अपने से भी किया राग से भिन्न। आहाहा! देखो, यह आचरण और यह क्रिया! आहाहा!

जिसका मूल भेदविज्ञान है.... आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से भी स्वतः को भेद करके जाना। आहाहा! उसे गुरु ने भी यह कहा कि तेरा राग से भिन्न तेरी भिन्न चीज पड़ी है, प्रभु! तू तो वीतरागी बिम्ब है, तू परमात्मा ही है, आहाहा! इस राग से भिन्न **जिसका मूल भेदविज्ञान है — ऐसी अनुभूति....** ऐसा अनुभव। राग से भिन्न — ऐसा आत्मा का अनुभव। आहाहा! उत्पन्न होगी... **ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी....** देखो! **तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा।** आहाहा! समझ में आया? तब यह सम्यग्दृष्टि होगा। आहाहा! ज्ञानप्रधान कथन है न तो अनुभूति... आहाहा! यहाँ तो वहाँ तक कहा — राग से भिन्न और शास्त्रज्ञान हुआ, उससे भी भिन्न... आहाहा! ऐसी अनुभूति हो, तब वह प्रतिबुद्ध हुआ। तब उसे सम्यग्ज्ञान हुआ। आहाहा! यहाँ तो अप्रतिबुद्ध था, वह प्रतिबुद्ध हुआ — ऐसा कहते हैं। अज्ञानी (था, वह) ज्ञानी हुआ। अज्ञान टालकर (ज्ञानी हुआ), उसकी तो यहाँ बात चलती है। आहाहा! समयसार में ऐसा कि मुनि की व्याख्या है... अरे!

सुन तो सही! यह तो मुख्यरूप से कथन है, गौणरूप से प्रतिबुद्ध होने की अप्रतिबुद्ध को ही शिक्षा है। आहाहा!

भावार्थ : जैसे स्पर्शादि में पुद्‌गल का और पुद्‌गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है.... पुद्‌गल में स्पर्श, रस, गन्ध आदि और स्पर्श, गन्ध में पुद्‌गल — ऐसा अनुभव – ज्ञान होता है, दोनों एकरूप अनुभव में आते हैं। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, और घट दोनों एकरूप देखने में आते हैं। **उसी प्रकार जब तक आत्मा को, कर्म....** रागादिक **नोकर्म...** शरीर आदि, कुटुम्ब, परिवार, देश आदि, देव, गुरु और धर्म परवस्तु, वह आत्मा की **और आत्मा में कर्म-नोकर्म की भ्रान्ति होती है....** आहाहा! देव-भगवान मेरे हैं.... आहाहा! **दोनों एकरूप भासित होते हैं,....** उसी प्रकार जब आत्मा को कर्म में आत्मा की, आत्मा में भ्रान्ति होती है, राग में और शरीर आदि देश में और पर में... आहाहा! **दोनों एकरूप भासित होते हैं,....** राग, शरीर और आत्मा; यहाँ राग, शरीर एक में गिने हैं और आत्मा दो एकरूप भासित होते हैं। आहाहा! **तब तक तो वह अप्रतिबुद्ध है....** आहाहा!

चाहे तो शास्त्र पढ़े हों, ग्यारह अंग और नौ पूर्व (पढ़े हों) आहाहा! इससे भी मेरी चीज भिन्न है। भेद... परसत्तावलम्बी ज्ञान कहा है न परमार्थ वचनिका में? परसत्तावलम्बी ज्ञान! उसे ज्ञानी कभी मोक्षमार्ग नहीं कहता। आहाहा! आहाहा! परसत्तावलम्बी अर्थात्? पर की अपेक्षा होकर जो ज्ञान हुआ, वह पर की सत्तावलम्बी-उसे धर्मी, मोक्षमार्ग नहीं कहता। आहाहा! अपनी स्वसत्ता के अवलम्बन से जो ज्ञान-दर्शन हुआ, उसे मोक्षमार्ग कहता है। आहाहा! ऐसी बातें कठिन पड़ती हैं, फिर लोग बेचारे सब विरोध करते हैं, क्या करे? कोटा में जुगलकिशोर के सामने वहाँ विरोध आया या नहीं? अब ऐसी बातें! यह मार्ग, भाई! आहाहा! अरे! लक्ष्मी तिलक करने आयी तो कहता है नहीं, नहीं मुँह धोना है, परन्तु चली जायेगी, बाद में अवसर आया तो कहता है नहीं, नहीं, नहीं एकान्त है, भाई, बापू!

श्रोता : लक्ष्मी के रूप में आपका ही उदय हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हैं...?

श्रोता : लक्ष्मी के रूप में आपका उदय है। लक्ष्मी के रूप में, लक्ष्मी सबको तिलक करने आयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो यह चीज है, भगवान! क्या कहें? आहाहा! दोनों एकरूप भासित हो, तब तक तो वह अप्रतिबुद्ध है। आहाहा!

और जब वह यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता है.... आहाहा! वह तो ज्ञानस्वभावी-सर्वज्ञस्वभावी ज्ञाता है, वह सर्व को जाने परन्तु सर्व से अपने में जानना हो — ऐसा होता नहीं। अपने सिवाय परचीज से अपने जानना होता है — ऐसा नहीं। मैं तो स्व-पर का जाननेवाला हूँ। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

दशलक्षणी पर्व धर्म, बापू! यह कोई अलौकिक धर्म है — चारित्र आराधना का धर्म है। आहाहा! दशलक्षणी का अर्थ यह है कि चारित्र आराधना का धर्म। आहाहा! सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र की आराधना कर। आहाहा! श्वेताम्बर में आठ (दिन) गिने, उन्होंने एक पंचमी गिनी और पहले सात दिन... जैसे लौकिक में विवाह करते हैं न विवाह... विवाह की तिथि हो, उससे पहले चार-पाँच दिन इस ओर मण्डप लगाते हैं, लौकिक... वैसे पंचमी रखकर सात दिन इस ओर रखे... सब लौकिक लाईन। यह तो दस प्रकार पूरे पूर्ण... आहाहा! दिगम्बर की रीति ही कोई व्यवहार की भी कोई अलौकिक है। समझ में आया? आहाहा! और वह भी दसों ही प्रकार का धर्म आनन्ददायक है, वह आनन्ददायक प्रभु, कल्पना का विषय नहीं है। आहाहा! किसी जगह ऐसा लिखा है — दस प्रकार के धर्म में विकल्प उठता है न, इस हिसाब से शुभभाव भी गिना है, परन्तु वह यहाँ नहीं लेना। समझ में आया?

भगवान आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र की आराधना और आनन्द-सुखरूप की उत्पत्ति... आहाहा! उसका नाम दशलक्षण पर्व है। आहाहा! समझ में आया?

तभी वह प्रतिबुद्ध होता है।.... जैसे आत्मा तो ज्ञाता है और कर्म-नोकर्म पुद्गल ही है, मेरे नहीं। रागादिक जड़ के हैं। आहाहा! **तभी वह प्रतिबुद्ध होता है।....** ज्ञानी होता है। **जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है, वहाँ यह ज्ञात होता है कि 'ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है,....** ज्वाला दर्पण में अन्दर प्रविष्ट नहीं है। ऐसे दर्पण में दिखाई दे रही है, (वह) **वह दर्पण की स्वच्छता ही है;....** वह तो दर्पण की स्वच्छता है। **इसी प्रकार 'कर्म-नोकर्म अपने आत्मा में प्रविष्ट नहीं हैं;....** राग

और पुण्य और दया-दान का विकल्प, भगवान आत्मा में प्रविष्ट नहीं है। आहाहा!

अरे! चारों अनुयोग में हम कहते हैं, यहाँ तो अकेला द्रव्यानुयोग है,... अरे प्रभु! सुन तो सही! चारों अनुयोगों में, वस्तु तो यह द्रव्यानुयोग में कही, वह वस्तु है। आहाहा! कोई विरुद्ध दूसरे मुनियों ने कहा वह विरुद्ध है? वह तो व्यवहारनय से कथन करके बताया है कि इस गुणस्थान में ऐसा व्रत होता है, ऐसा यहाँ बताया है। समझ में आया? कुन्दकुन्दाचार्यदेव को दूसरे मुनियों का विरोध है? (श्रोता : जरा भी नहीं)

आहाहा! '**ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है, और जो दर्पण में दिखाई दे रही है,....**' नोकर्म भगवान आत्मा में प्रविष्ट नहीं हैं। **आत्मा की ज्ञान-स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेय का प्रतिबिम्ब दिखाई दे;....** जानने की चीज जो जानते हैं, उसका प्रतिबिम्ब ज्ञान में आता है, वह चीज नहीं आती। आहाहा! लोगों को ऐसा कठिन पड़ता है, इसलिए वे फिर ऐसा कहते हैं, उन सोनगढ़वालों का यह धर्म है। अरे भगवान! यह तो वीतराग परमात्मा का फरमान है, उसका तो यह स्पष्टीकरण / अर्थ चलता है। आहाहा!

इसी प्रकार कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं.... राग, वह ज्ञान का परज्ञेय है, स्वज्ञेय नहीं। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का विकल्प उत्पन्न होता है, वह ज्ञेय है, परज्ञेय है। है? **इसलिए वे प्रतिभासित होते हैं'....** ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है तो प्रतिभासित हो। **ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव आत्मा को या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेश से हो, तभी वह प्रतिबुद्ध होता है।** तब उसको सम्यग्ज्ञान होता है, तब मोक्ष का मार्ग शुरु होता है। (विशेष कहेंगे)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८३ श्लोक २१ तथा गाथा २०-२२ दिनाङ्क ११-०९-१९७८ सोमवार
भाद्र शुक्ल ९, वीर निर्वाण संवत् २५०४ उत्तम संयमधर्म

पहले चारित्र का भेद है। चारित्र किसको होता है? जिसे आत्मा, राग के विकल्प से भिन्न — चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो, वह राग है; वह धर्म नहीं है —

उससे भिन्न अपना आत्मा आनन्दस्वरूप-ज्ञायकस्वरूप परमब्रह्म आनन्द, सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो शुद्ध आत्मा परमानन्द देखा, ऐसा जो अनुभव करे, उसका नाम सम्यग्दृष्टि धर्मी — पहली श्रेणी का कहा जाता है। फिर स्वरूप में यह अनुभव होने के बाद अन्दर का रस-आनन्द का रस चढ़ा, उसमें लवलीन होता है, उसे चारित्रदशा-वीतरागदशा उत्पन्न होती है। उसके दश प्रकार हैं। सूक्ष्म बात है, क्या हो? छठवाँ बोल है, आज छठवाँ दिन है न? 'उत्तम संयम'। उत्तम संयम — ऐसा क्यों कहा? कि अपना आनन्दस्वरूप भगवान के अनुभवपूर्वक सम् - सम् सम्यक् अनुभवपूर्वक, यम - अन्तरस्वरूप में विशेष रमणता / लीनता को संयम कहते हैं। आहाहा! उसमें यह छठवाँ बोल —

जो जीवरक्खणपरो गमणागमणादिसव्वकज्जेसु।
तणछेदं पि ण इच्छदि संजमधम्मो हवे तस्स॥३९९॥

आहाहा! यह सब मुनि की मुख्यता से बात है न? दशलक्षण पर्व मुनि की मुख्यता से है। चारित्र है, (वह) मोक्ष का कारण है। वह चारित्र कोई यह क्रियाकाण्ड — नग्न हो जाना या पंच महाव्रत पालना, वह कोई चारित्र नहीं है। आहाहा! चारित्र तो अतीन्द्रिय आनन्द में अन्दर घुस जाना, गुफा में प्रवेश हो जाना — ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द में लीन हो जाना... आहाहा! उसका नाम संयम और चारित्र कहते हैं। संयम का भेद नहीं आया? जीवों की रक्षा में तत्पर — यह निमित्त से कथन है। मुनि को जीव की रक्षा का हेतु नहीं है। समझ में आया? परजीव को दुःख न हो — ऐसे अप्रमादभाव से रहकर कोई विकल्प आया (कि) पर को दुःख न देना, वह जीव की दया सहज हो जाती है। जीव की रक्षा करना, यह तो आत्मा कर नहीं सकता। भाषा (में) तो निमित्त से कथन है। समझ में आया?

मोक्षमार्गप्रकाशक में है (सातवें) अधिकार में, संवर (तत्त्व सम्बन्धी भूल में) मोक्षमार्गप्रकाशक (में है कि) समिति में जीव की रक्षा का हेतु नहीं है। आहाहा! देखकर चलना, चलना उसमें जीव की रक्षा का प्रयोजन नहीं है क्योंकि आत्मा, जीव की रक्षा कर ही नहीं सकता। आहाहा! तब तीव्र राग की आसक्ति छोड़कर, गमनागमन में ध्यान रखना, सावधानी रखना, उसका नाम जीव की रक्षा की — ऐसा कहा (जाता है)। जीव की दया पाली... कौन पाले पर की (दया)? आहाहा! यहाँ यह भाषा ऐसी ली है। मोक्षमार्ग

(प्रकाशक) में इससे इनकार किया है, संवर (तत्त्वसम्बन्धी भूल प्रकरण में सातवें) अधिकार में कि पर की रक्षा के हेतु मुनि आत्मज्ञानी-ध्यानी चलते हैं तो जीव की रक्षा का प्रयोजन समिति में नहीं है। ईर्यासमिति में यह प्रयोजन नहीं है। आहाहा!

श्रोता : मुनि में बचाने की योग्यता नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बचाये? अपने में तीव्रराग न होने देना और आनन्द में रहना, उसका नाम समिति है। आहाहा! मार्ग बहुत अलग प्रकार का है, भाई! आहाहा! युगलजी! यह मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में आता है, संवर... (सातवें) अधिकार - पाँच समिति, तीन गुप्ति... संवर कहा न! नहीं तो कोई ऐसा मान ले कि जीव की रक्षा करने में ध्यान रखना... यह समिति है ही नहीं।

श्रोता : ईर्यासमिति में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह आता है न? पता है न, है यहाँ तो, जीव रक्षण शब्द पड़ा है, यह तो व्यवहार का कथन है परन्तु पर जीव को जरा भी दुःख न देना, पीड़ा न देना — ऐसा अप्रमादभाव उसका नाम यहाँ संयम कहा गया है। आहाहा! बहुत कठिन!

पुनश्च, गमनागमन आदि सब कार्यों में.... मुनि किसे कहें बापू! मुनिपना तो अभी... आहाहा! जिसे आत्मज्ञान-आत्मा का अनुभव हुआ हो और फिर आत्मा में लीनता हो गयी हो और जिसकी दशा बाह्य में नग्न हो जाये। आहाहा!

श्रोता : वस्त्र छोड़ना पड़ता है या नहीं, वस्त्र तो छोड़ना पड़ता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्त्र कौन छोड़े? छूट जाते हैं। आहाहा! वस्त्र तो जड़ हैं, उन्हें नीचे उतारना, वह आत्मा की क्रिया नहीं है, आत्मा कर नहीं सकता। सूक्ष्म बात है भाई! वीतरागमार्ग अभी बहुत फेरफार कर डाला है। कहा था न एक बार? चाँदमलजी के साथ चर्चा हुई, वे कहते थे — वस्त्र तो उतारते हैं न? कपड़े क्या, वे तो जड़ हैं। जड़ का उतारना, वह क्रिया आत्मा कर सकता है? और वस्त्र ओढ़ना यह आत्मा कर सकता है? वह तो जड़ की क्रिया है। क्या? आहाहा!

यहाँ कहा — **गमनागमन कार्य में तृण का छेदमात्र न चाहता...** आहाहा! एक

तिनका-तृण, उसके दो टुकड़े हों, वह भी जीव की इच्छा नहीं है। आहाहा! क्योंकि तृण का टुकड़ा हो, वह आत्मा नहीं कर सकता। एक तिनका है न तिनका? उसके दो टुकड़े आत्मा नहीं कर सकता, वह तो जड़ की क्रिया है।

श्रोता : तब तो रोटी के टुकड़े भी नहीं करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : रोटी के टुकड़े भी नहीं कर सकता। आहाहा!

श्रोता : रोटी के टुकड़े नहीं करे तो चबाये किस प्रकार?

पूज्य गुरुदेवश्री : चबाये कौन? दाँत इसके (आत्मा के) नहीं हैं, दाँत हिलते हैं, वह आत्मा हिलाता ही नहीं, वह तो जड़ के कारण हिलता है, आहा! बापू! मार्ग अलग, भाई! अरेरे! समझ में आया? तृण का छेद भी न करे।

श्रीमद् तो ऐसा कहते हैं एक बार कि एक तिनके के दो टुकड़े करने की हमारी शक्ति नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्र! एक तिनके के दो टुकड़े (करना), वह हमारी ताकत नहीं है, क्योंकि वे टुकड़े होना, वह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा!

श्रोता : पूरी दुनिया वस्त्र पहनती है और उतारती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन उतारता है और कौन पहनता है? राग करता है कि मैं कपड़े पहनूँ और कपड़े उतारूँ। राग है। सूक्ष्म बात है, भाई! समझ में आया? यह टोपी मैं पहनता हूँ, ओढ़ता हूँ... मूर्खता है। टोपी जड़ के रजकण हैं, वह मैं पहनता हूँ, ओढ़ता हूँ — यह जड़ की क्रिया आत्मा कर सकता है?

श्रोता : पूरी दुनिया से उल्टा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया से उल्टा है। वीतरागमार्ग — परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर का मार्ग पूरी दुनिया से विरुद्ध है, वह यहाँ कहते हैं। तृण का भी छेद न करे उस मुनि को संयम होता है। लो, इतनी थोड़ी बात ली है। (अब) २१ कलश, २१ में है न?

कलश - २१

अब, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव॥२१॥

श्लोकार्थ : [ये] जो पुरुष **[स्वतः वा अन्यतः वा]** अपने ही अथवा पर के उपदेश से **[कथम् अपि हि]** किसी भी प्रकार से **[भेदविज्ञानमूलाम्]** भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है ऐसी अपने आत्मा की **[अचलितम्]** अविचल **[अनुभूतिम्]** अनुभूति को **[लभन्ते]** प्राप्त करते हैं, **[ते एव]** वे ही पुरुष **[मुकुरवत्]** दर्पण की भाँति **[प्रतिफलन-निमग्न-अनन्त-भाव-स्वभावैः]** अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावों के स्वभावों से **[सन्ततं]** निरन्तर **[अविकाराः]** विकाररहित **[स्युः]** होते हैं — ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते॥२१॥

कलश - २१ पर प्रवचन

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव॥२१॥

जो पुरुष अपने ही अथवा पर के उपदेश से किसी भी प्रकार से भेदविज्ञान जिसका मूल.... आहाहा! मैं तो आनन्दस्वरूप आत्मा.... यह शुभाशुभविकल्प जो राग, दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प जो राग, उससे भी मैं तो भिन्न हूँ। आहाहा! समझ में आया? **भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है — ऐसी अपने आत्मा की**

अविचल अनुभूति.... आहाहा! यह आत्मा पूर्णानन्द अतीन्द्रिय आनन्दकन्द प्रभु है। उसको (वह) शरीर-वाणी से तो भिन्न है परन्तु अन्दर में शुभराग होता है, पाप का राग अशुभराग (होता है), उससे तो भिन्न है, परन्तु पुण्य का राग दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, यात्रा, यह शुभराग है, उससे भी आत्मा भिन्न है। आहाहा! ऐसा **भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है....** अनुभूति की उत्पत्ति का कारण क्या? अनुभूति का अर्थ? मैं शुद्ध आनन्दस्वरूप, उसका अनुभव सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में होना। आहाहा! मैं शुद्ध चैतन्य वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा अन्दर है, उसका अनुभव, अनुभूति-आनन्द का स्वाद आना, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आना, उसका मुख्य हेतु कौन? **भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है....** यह विकल्प जो दया, दान का विकल्प; हिंसा, झूठ, चोरी, भोग-विषयवासना, यह तो अकेला पाप-राग है। आहाहा! परन्तु पुण्य-राग के विकल्प से भी, भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्ति अनुभूति का (कारण है)। आत्मा का अनुभव — सम्यग्दर्शन-ज्ञान की उत्पत्ति... आहाहा! जिसका भेदविज्ञान मूल उत्पत्तिकारण है। राग से भिन्न करना, यह अनुभूति की उत्पत्ति का कारण है। अरे... ऐसी बात, अब! ऐसी बातें हैं, बापू! समझ में आया?

इसके बिना तो राग और मैं आत्मा दोनों एक हूँ, यह महापाखण्ड, अज्ञान मिथ्यात्व, चौरासी के अवतार में भटकने का कारण है। आहाहा! परन्तु यह भगवान चैतन्यतत्त्व प्रभु, यह विकल्प अर्थात् राग से भिन्न जिसकी उत्पत्ति है — ऐसी अनुभूति की उत्पत्ति हो, आहाहा! उसका नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, आत्मा के स्वरूप-आचरण अनुभूति... आहाहा! ए ई...! भभूतमलजी! रुपये धूल में तो कुछ सुनायी नहीं देता, वहाँ फिर... आहाहा!

श्रोता : धूल (पैसा) के बिना मन्दिर होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्दिर, मन्दिर से हुआ है। क्या धूल से हुआ है? ए ई...! हमने तो उस समय वहाँ कहा था, बारह लाख का मन्दिर हुआ, बैंगलोर! इनने आठ लाख दिये थे, इनने आठ लाख, तो आठ लाख दिये तो क्या धर्म है? बिल्कुल नहीं, ए ई...!

श्रोता : उदारता के बिना आठ लाख दिया?

पूज्य गुरुदेवश्री : उदारता किसे कहना ? यह उदारता ! रागरहित अनुभूति करे, वह उदारता है। कोई राग मन्द करे और वह भी फिर उसमें मेरी इज्जत बढ़ेगी, मैंने मन्दिर बनाया, मेरी प्रसिद्धि होगी तो यह (भाव) तो अकेला पाप है; पुण्य भी नहीं। आहाहा ! धर्म तो उसमें है ही नहीं। लाख-करोड़ मन्दिर बनाओ और करोड़ों-अरबों रुपये खर्च करो, धर्म नहीं है; वह तो राग की मन्दता हो तो पुण्य-शुभभाव होगा। आहाहा !

श्रोता : आपके प्रताप से यह सब.....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे यह ? रामजीभाई प्रमुख थे तो यह सब किया था ?

श्रोता : कहाँ से किया था रामजीभाई ने ? यह इसके कारण हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे इसे ? यह तो इसके कारण परमाणु की-पुद्गल की पर्याय जिस क्षेत्र में जिस प्रकार से होनी थी, वह हुई; करे कौन ? आहाहा ! कदाचित् भाव हो, शुभभाव हो तो वह पुण्य है; धर्म नहीं। आहाहा ! ऐंई ! यह (परमागम मन्दिर) छब्बीस लाख का मकान है, परन्तु बाहर पूछते थे न, बाहर पूछते थे, वहाँ बाहर पूछते थे परन्तु इससे यह बन गया है — ऐसा नहीं है। आहाहा ! ऐसी बातें सब पूरी दुनिया से बहुत फेरफार, भाई ! आहाहा !

अविचल अनुभूति को प्राप्त करते हैं,... जो पुरुष अन्दर भगवान आत्मा — आत्मतत्त्व परमात्मस्वरूप विराजमान है... आहाहा ! उसको शुभ-अशुभराग — पुण्य - पाप के भाव से भेदज्ञान करके भिन्न / पृथक् करके अपनी अनुभूति हो, आहाहा ! उसमें आनन्द का अनुभव हो, उसका नाम धर्म की पहली शुरुआत है। आहाहा ! उसकी पहली सीढ़ी, उसकी पहली सीढ़ी यह (है)। अरे ! ऐसा कठिन काम ! जगत को कहाँ पड़ी है, अरे ! भटकते-भटकते चार गति में भटक-भटककर मर गया है, अनन्त काल से !

श्रोता : आपका व्याख्यान सुना हो वह भटके — ऐसा कैसे बने ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सुना तो भगवान के पास अनन्त बार सुना था। आहाहा !

यहाँ कहते हैं **अविचल अनुभूति को प्राप्त करते हैं,....** आहाहा ! ज्ञानानन्द प्रभु, ज्ञानरूपी स्वच्छ दर्पण, वह राग से भिन्न होकर अनुभव हो, इस अनुभव में **दर्पण की**

भाँति.... है ? **वे ही पुरुष दर्पण की भाँति....** आहाहा! **अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावों के स्वभावों से....** अनन्त.... **निरन्तर विकाररहित होते हैं....** आहाहा! क्या कहते हैं ? धर्मी जीव (ने) अपना स्वरूप, राग के विकल्प से भिन्न अनुभव किया, उस अनुभव में परज्ञेय जानने में आते हैं। परज्ञेय! अरे राग आता है, वह भी जानने में आता है परन्तु जानने में होने से ज्ञान विकारी नहीं होता। आहाहा!

अब ऐसी बातें कहीं दुनिया के सम्प्रदाय में तो यह बात है ही नहीं! सम्प्रदाय में तो विपरीतता – गड़बड़ी चली है। सब स्थानकवासी में कहते हैं सामायिक करो और प्रौषध करो और प्रतिक्रमण करो.... थे कहाँ अब ? अभी भान नहीं होता सम्यक्त्व का और कहाँ से सामायिक आयी ? श्वेताम्बर में पूजा करो, यात्रा करो, भक्ति करो, सिद्धचक्र की करो... मर जा न लाख करके, वह तो सब राग की क्रिया है। आहाहा!

श्रोता : वहाँ भी मोक्ष तो है, दया-दान में।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष है ? आत्मा का मोक्ष है ? आत्मा से भिन्न पड़ गया; राग के प्रेम में गिर गया। आहाहा!

जिसने इस शुभराग को उपादेय, अर्थात् आदरणीय माना है, उसने यह भगवान आत्मा हेय-तिरस्कार कर दिया है। उसने आत्मा का तिरस्कार कर दिया है। यह अपने उन्नीसवीं (गाथा में) आ गया है। पुण्य और पाप के भाव का आदर करनेवाला, इस पुण्य-पाप से आत्मा का तिरस्कार करनेवाला हो गया। पुण्य-पाप, आत्मा का तिरस्कार करते हैं। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव, यह शुभराग, आत्मा का तिरस्कार करता है। बापू! मार्ग अलग है भाई! आहाहा! आ गया है न अपने १९ वीं (गाथा में)। 'तिरस्कारणीय' यह शुभभाव भी आत्मा का तिरस्कार करता है। मैं (राग) ठीक हूँ तो भगवान त्रिलोकनाथ आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, वह ठीक नहीं। आहाहा! धूल तो कहाँ रह गयी ? पैसे! परन्तु अन्दर में शुभराग-पुण्य-यात्रा का, भक्ति का और भगवान के दर्शन का... आहाहा! वह शुभराग है, धर्म नहीं। उस राग को जिसने आदरणीय माना, उसने भगवान आत्मा को हेय माना है। आहाहा! ऐसी बात! यहाँ तो यह कहा।

अपने में तो फिर आत्मा का भान हुआ। मैं तो विकल्प से और परसंयोग से तो

अत्यन्त भिन्न (हूँ) — ऐसा अनुभव होने से दर्पण की स्वच्छता में अनेक पर प्रतिबिम्बित दिखते हैं परन्तु दर्पण विकारी नहीं होता; वैसे अपने ज्ञानस्वरूप में ज्ञातापने का भान हुआ। समकिती को — धर्मी को, फिर राग आदि, शरीर आदि दिखायी देता है परन्तु वे ज्ञान करते हैं। उसका ज्ञान करने से ज्ञान में विकार नहीं होता है। अरे.. अरे... ! ऐसी बातें कहाँ की, परन्तु क्या है यह ? कहाँ का उपदेश यह ? भगवान का उपदेश ऐसा होगा ?

श्रोता : भगवान का उपदेश तो ऐसा ही होता है न !

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे बापू ! तुझे पता नहीं, भाई ! आहाहा ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर... भाई ! आहाहा !

आत्मा का ज्ञान-आत्मज्ञान हुआ, राग से भिन्न होकर... आहाहा ! तब से जगत की चीज उसको ज्ञाता में जानने में आती है परन्तु जानने में आती है तो भी ज्ञान विकारी नहीं होता। आहाहा ! ज्ञाता-दृष्टा रहता है। अरेरे ! अब ऐसी बात है। समझ में आया ?

निरन्तर विकाररहित होते हैं — ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं, उनसे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते।

गाथा २०-२२

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत–

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा।।२०।।

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि।।२१।

एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो।।२२।।

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यास्मि अस्ति ममैतत्।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा।।

आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम्।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि।।

एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति सम्मूढः।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसम्मूढः।।

यथाग्निरिन्धनमस्तीगन्धनमग्निरस्त्यग्निरिन्धनमस्तीन्धनस्याग्निरस्ति, अग्नेरिन्धनं पूर्वमासीदिन्धनस्याग्निः पूर्वमासीत्, अग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यतीन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यती–तीन्धन एवासद्भूताग्निविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत, तथाहमेतदस्म्येतदह–मस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि, ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं, ममैतत्पुनर्भविष्यत्ये–तस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धौ लक्ष्येतात्मा।

नाग्निरिंधनमस्ति नेन्धनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तीन्धनमिन्धनमस्ति नाग्नेरिन्धनमस्ति नेन्धन-स्याग्निरस्त्यग्नेरस्त्यग्नेरग्निरस्तीन्धनस्येन्धनमस्ति, नाग्नेरिन्धनं पूर्वमासीन्नेन्धनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिन्धनस्येन्धनं पूर्वमासीत्, नाग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यति नेन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतीन्धनस्येन्धनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति, न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति, न ममैत्पूर्वमासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीत्, न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्म-विकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात्।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि अप्रतिबुद्ध को कैसे पहिचाना जा सकता है? उसका चिह्न बताइये; उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं —

मैं ये अवरु ये मैं, मैं हूँ इनका अवरु ये हैं मेरे।
जो अन्य हैं पर द्रव्य मिश्र, सचित्त अगर अचित्त वे॥२०॥

मेरा ही यह था पूर्व में, मैं इसी का गतकाल में।
ये होयगा मेरा अवरु, मैं इसका हूँगा भावि में॥२१॥

अयथार्थ आत्मविकल्प ऐसा, मूढ़जीव हि आचरे।
भूतार्थ जाननहार ज्ञानी, ए विकल्प नहीं करे॥२२॥

गाथार्थ : [अन्यत् यत् परद्रव्यं] जो पुरुष अपने से अन्य जो परद्रव्य — [सचित्ताचित्तमिश्रं वा] सचित्त स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक अथवा मिश्र ग्रामनगरादिक हैं, उन्हें यह समझता है कि [अहं एतत्] मैं यह हूँ, [एतत् अहम्] यह द्रव्य मुझ-स्वरूप है, [अहम् एतस्य अस्मि] मैं इसका हूँ, [एतत् मम अस्ति] यह मेरा है, [एतत् मम पूर्वम् आसीत्] यह मेरा पहले था, [एतस्य अहम् अपि पूर्वम् आसम्] इसका मैं भी पहले था, [एतत् मम पुनः भविष्यति] यह मेरा भविष्य में होगा, [अहम् अपि एतस्य भविष्यामि] मैं भी इसका भविष्य में होऊँगा, [एतत् तु असद्भूतम्] ऐसा झूठा [आत्मविकल्पं] आत्मविकल्प [करोति] करता है वह [संमूढः] मूढ़ है,

मोही है, अज्ञानी है; [तु] और जो पुरुष [भूतार्थं] परमार्थ वस्तुस्वरूप को [जानन्] जानता हुआ [तम्] वैसा झूठा विकल्प [न करोति] नहीं करता वह [असंमूढः] मूढ़ नहीं, ज्ञानी है।

टीका : (दृष्टान्त से समझाते हैं :) जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करे कि 'जो अग्नि है, सो ईंधन है और ईंधन है सो अग्नि है; अग्नि का ईंधन है, ईंधन की अग्नि है; अग्नि का ईंधन पहले था, ईंधन की अग्नि पहले थी; अग्नि का ईंधन भविष्य में होगा, ईंधन की अग्नि भविष्य में होगी' — ऐसा ईधन में ही अग्नि का विकल्प करता है वह झूठा है, उससे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) कोई पहिचाना जाता है, इसी प्रकार कोई आत्मा परद्रव्य में ही असत्यार्थ आत्म-विकल्प करे कि 'मैं यह परद्रव्य हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप है; यह मेरा परद्रव्य है, इस परद्रव्य का मैं हूँ; मेरा यह पहले था, मैं इसका पहले था; मेरा यह भविष्य में होगा, मैं इसका भविष्य में होऊँगा' — ऐसे झूठे विकल्पों से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहिचाना जाता है।

और, 'अग्नि है वह ईंधन नहीं है, ईंधन है वह अग्नि नहीं है, अग्नि है वह है अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है; अग्नि का ईंधन नहीं, ईंधन की अग्नि नहीं, अग्नि की अग्नि है, ईंधन का ईंधन है; अग्नि का ईंधन पहले नहीं था, ईंधन की अग्नि पहले नहीं थी, अग्नि की अग्नि पहले थी और ईंधन का ईंधन पहले था; अग्नि का ईंधन भविष्य में नहीं होगा, ईंधन की अग्नि भविष्य में नहीं होगी, अग्नि की अग्नि ही भविष्य में होगी, ईंधन का ईंधन ही भविष्य में होगा' — इस प्रकार जैसे किसी को अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प हो सो प्रतिबुद्ध का लक्षण है, इसी प्रकार 'मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है, मैं तो मैं ही हूँ, परद्रव्य है, वह परद्रव्य ही है; मेरा यह परद्रव्य नहीं, इस परद्रव्य का मैं नहीं, मेरा ही मैं हूँ, परद्रव्य का परद्रव्य है; यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, यह परद्रव्य का मैं पहले नहीं था, मेरा मैं ही पहले था, परद्रव्य का परद्रव्य पहले था; यह परद्रव्य मेरा भविष्य में नहीं होगा, इसका मैं भविष्य में नहीं होऊँगा, मैं अपना ही भविष्य में होऊँगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) भविष्य में होगा।' — ऐसा जो स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होता है, वही प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) का लक्षण है, इससे ज्ञानी पहिचाना जाता है।

भावार्थ : जो परद्रव्य में आत्मा का विकल्प करता है वह तो अज्ञानी है और जो अपने आत्मा को ही अपना मानता है, वह ज्ञानी है — यह अग्नि-ईंधन के दृष्टान्त से दृढ़ किया है।

गाथा - २० से २२ पर प्रवचन

अब शिष्य प्रश्न करता है कि अप्रतिबुद्ध को कैसे.... यह अज्ञानी है, मूढ़ है, अधर्मी है, उसे **कैसे पहिचाना जा सकता है ?** उसकी पहिचान क्या ? समझ में आया ? है ? शिष्य प्रश्न करता है — प्रभु ! यह अज्ञानी है, यह अप्रतिबुद्ध है, मूढ़ है, अधर्मी है... आहाहा ! कैसे पहिचाना जा सकता है ? **उसका चिह्न बताइये;....** उसका कोई लक्षण बतलाइये।

उसके उत्तररूप गाथा —

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा।।२०।।
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि।।२१।
एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो।।२२।।

नीचे हरिगीत !

मैं ये अवरु ये मैं, मैं हूँ इनका अवरु ये हैं मेरे।
जो अन्य हैं पर द्रव्य मिश्र, सचित्त अगर अचित्त वे॥२०॥
मेरा ही यह था पूर्व में, मैं इसी का गतकाल में।
ये होयगा मेरा अवरु, मैं इसका हूँगा भावि में॥२१॥
अयथार्थ आत्मविकल्प ऐसा, मूढ़जीव हि आचरे।
भूतार्थ जाननहार ज्ञानी, ए विकल्प नहीं करे॥२२॥

टीका – है टीका? **(दृष्टान्त से समझाते हैं :) जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर....** लकड़ी, लकड़ी, ईंधन और अग्नि मिलाकर देखता हुआ, मिला हुआ देखकर **ऐसा झूठा विकल्प करे कि 'जो अग्नि है, सो ईंधन है....** अग्नि वह लकड़ी है, झूठ बात है। **और ईंधन है सो अग्नि है;....** और लकड़ी है, वह अग्नि है। यह सामान्य बात पहले की है। **अग्नि का ईंधन है,....** अग्नि का ईंधन वर्तमान; **ईंधन की अग्नि है;....** यह वर्तमान; **अग्नि का ईंधन पहले था,....** इस अग्नि की लकड़ी, लकड़ी पहले थी — भूतकाल... **ईंधन की अग्नि पहले थी;'....** भूतकाल। **अग्नि का ईंधन भविष्य में होगा,....** भविष्यकाल। आहाहा! **ईंधन की अग्नि भविष्य में होगी' — ऐसा ईधन में ही अग्नि का विकल्प करता है, वह झूठा है,....** मूढ़ है, आहा! लौकिक मूढ़ है। अब, आत्मा पर उतारते, (घटित करते) हैं।

ऐसे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) कोई पहिचाना जाता है,.... अज्ञानी-लौकिक मूढ़ (पहिचाना जाता है)। **इसी प्रकार कोई आत्मा परद्रव्य में ही असत्यार्थ आत्म – विकल्प करे....** आहाहा! राग, पुण्य और पुण्य का फल यह पैसा, धूल आदि बाहर के — शरीर के स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, यह असत्यार्थ परद्रव्य में... आहाहा! असत्यार्थ, झूठा, आत्मविकल्प करता है कि यह मेरा है; स्त्री मेरी, कुटुम्ब मेरा, पुत्र मेरा, पैसा मेरा, मकान मेरा — मूढ़ है। आहाहा! तेरी चीज कहाँ से आयी? वह तो परचीज है। आहाहा!

आत्मा, परद्रव्य में-परवस्तु में असत्य – झूठा आत्मभाव करता है कि **'मैं यह परद्रव्य हूँ, '...** मैं राग हूँ, मैं शरीर हूँ, यह स्त्री मेरी है, यह मेरा पुत्र है, मेरी कन्या है, मेरे पुत्र की बहू है, मूढ़ है। ऐसा आत्मविकल्प करता है। आहाहा!

श्रोता : तब तो सबको पागल के अस्पताल में रखना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल ही पागल। आहाहा! ऐसा भगवान तीन लोक के नाथ पुकारते हैं जगत को — अरे जीव! यह मूढ़ कैसे जानने में आता है? कि ऐसे जानने में आता है कि **यह मेरा परद्रव्य है, इस परद्रव्य का मैं हूँ;....** आहाहा! यह वर्तमान। पहले सामान्य कहा था। क्या? **'मैं यह परद्रव्य हूँ,....** मैं पुण्य हूँ, मैं राग, यह शरीर, कर्म, लक्ष्मी, लड़के-लड़कियाँ, देश मकान यह मैं हूँ और **यह परद्रव्य मुझस्वरूप है;'....** और राग, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार यह मेरा रूप है। आहाहा!

श्रोता : यह मेरा परिवार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी परिवार नहीं। आहाहा! बहिन में (बहिनश्री के वचनामृत में) तो आ गया है, नहीं? वचनामृत में! आहाहा! अरे! ज्ञानी दया, दान और व्रत के विकल्प में आता है... अरे! हम परदेश में कहाँ आ गये? आहाहा! वचनामृत में आता है न? आहाहा! है यहाँ? पुस्तक यहाँ नहीं आये लगते हैं। हाँ, है, है, है न? १४९ पृष्ठ, कितना? ४०१ बोल। आहाहा! अरे! लो, यह विभावभाव हमारा देश नहीं। यह वचनामृत! यह पुण्य और पाप के — दया, दान, व्रत के भाव, वह मेरा देश नहीं, नाथ! आहाहा! ऐसी कठिन बात है। है? इस परदेश में हम कहाँ आ गये? आ पहुँचे? अरे...रे! हमारा देश तो आनन्द और ज्ञानस्वरूपी भगवान, उसमें से शुभराग में आ गये, परदेश में कहाँ आ गये? आहाहा! ऐई! आया है न? तुम्हारे आया है। आहाहा! यहाँ हमारा कोई नहीं, आहाहा! हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। धर्मी को तो राग में अच्छा नहीं लगता; राग, आता है। आहाहा! जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, शान्ति, चारित्र, आनन्द, वीर्य, अनन्त गुण हमारा परिवार अन्दर बसता है, हमारा परिवार तो अन्दर में ज्ञान-आनन्द, वह परिवार है। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार तो धूल, तेरी नहीं, तेरी चीज ही नहीं परन्तु राग तेरा परिवार नहीं। आहाहा! कितनी चिन्ता हो गयी थी, उस लड़के को हो गया था वह? पता है न? टीबी का असर था? सुना था, आहाहा! यह संसार ऐसा बापू! अरेरे! हम तो आनन्दस्वरूपी आत्मा हैं न प्रभु! आहाहा! अरेरे! यह दया, दान और व्रत का विकल्प - राग उत्पन्न हो, वह हमारा देश नहीं, वह हमारा परिवार नहीं, आहाहा! देखो, धर्मी की दृष्टि! आहाहा! मूढ़ की दृष्टि तो यह शरीर और स्त्री, पुत्र और... आहाहा! यह हमारी घरवाली है... अरे! तेरा घर कहाँ से आया? घर तो यहाँ हुआ, तेरा घर तो आनन्द का नाथ - सागर, वह तेरा घर है। यह घरवाली कहाँ से आ गयी तेरी? आहाहा! हमारा स्वदेश! अब हम उस स्वरूपदेश की ओर जा रहे हैं। हमें शीघ्रता से अपने मूल वतन में जाकर आराम से बसना है, जहाँ सब हमारे हैं। ४०१ (बोल)। आहाहा!

यहाँ कहते हैं अज्ञानी... **'मैं यह परद्रव्य हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप है;'....** आहाहा! यह सामान्य बात की। **यह मेरा परद्रव्य है,...** वर्तमान; यह राग मेरा, स्त्री मेरी

है, परिवार मेरा है, मकान मेरा है, **इस परद्रव्य का मैं हूँ;....** इस राग और स्त्री, कुटुम्ब का मैं पति हूँ, पत्नी का मैं पति हूँ, यह मूढ़ मानता है। आहाहा!

शिष्य ने प्रश्न किया कि इस अधर्मी का लक्षण क्या ? चिह्न क्या ? आहाहा! कठिन बातें बापू! अरेरे! जैनधर्म में जन्मे, उन्हें भी पता नहीं पड़ता तो अन्य में तो है क्या ? आहाहा! आहाहा! यह भूतकाल की बात की है। **मेरा यह पहले था,...** यह भूतकाल। अरे! यह तो स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा हमारा था, हमारा! और हमारे भाई वे कोई पानी में डण्डा मारने से पानी कहीं अलग पड़ता है ? पानी में लकड़ी मारे न ऐसे कि हमारे भाईयों ने हमारे कुटुम्ब कोई ऐसे हमारे अलग पड़ेंगे ? अब सुन न मूर्ख! जगत से पृथक् सब (है) बापू! है ?

श्रोता : पूरी दुनिया से पृथक्।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया, इस प्रकार पागल, पागल है। आहाहा!

मेरा यह भविष्य में होगा,.... आहाहा! अरे भाई! यह पैसा, इज्जत, कीर्ति भविष्य में मेरी मदद करेगी, यह लड़का, लड़का, यह स्त्री, पचास-पचपन वर्ष में विवाह... भाई! नंगे भूखे यह ढँके रखेगी... अरे मूढ! क्या है ? आहाहा! पचपन वर्ष में विवाह। किसलिए परन्तु ? कि स्त्री हो तो नंगे-भूखे-ढँके। कौन नंगा-भूखा! सुन न अब, मूर्ख! यह सब उसकी पोल खोलते हैं। आहाहा! खुल्ला शरीर हो तो लड़का-लड़की कैसे ढँक सके नग्न हो गया हो तो पत्नी ढँक दे। आहाहा! अरे! कौन प्रभु तेरी! आहाहा! ये हमारे थे और हम इनके थे। भविष्य में ऐसा होगा, **ऐसे झूठे....** झूठे **विकल्पों से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहिचाना जाता है।....** लो! यह मूढ़ है — कैसे जानने में आता है ? ऐसे झूठे - राग को करता है, वह अज्ञानी जानने में आता है। यह मूढ़ है, अधर्मी है, पापी है। आहाहा! बहुत कठिन काम!

'अग्नि है, वह ईंधन नहीं है,.... अब सुलटा दृष्टान्त। अग्नि है, वह लकड़ी नहीं है, लकड़ी और अग्नि भिन्न है। **ईंधन है वह अग्नि नहीं है,...** (यह) सामान्य बात की है। अब वर्तमान.... **अग्नि है वह अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है; अग्नि का ईंधन नहीं,...** आहाहा! **ईंधन की अग्नि नहीं, अग्नि की अग्नि है, ईंधन का ईंधन है;....** यह वर्तमान (की) बात की। **अग्नि का ईंधन पहले नहीं था,....** अग्नि की लकड़ी

पहले नहीं थी। लकड़ी तो लकड़ी की ही है और अग्नि तो अग्नि की है। आहाहा! अग्नि की लकड़ी पहले नहीं थी। **ईंधन की अग्नि पहले नहीं थी,....** लकड़ी की अग्नि पहले थी ही नहीं; अग्नि तो अग्नि की थी। **अग्नि की अग्नि पहले थी और ईंधन का ईंधन पहले था; अग्नि का ईंधन भविष्य में नहीं होगा, ईंधन की अग्नि भविष्य में नहीं होगी, अग्नि की अग्नि ही भविष्य में होगी, ईंधन का ईंधन ही भविष्य में होगा'....**

इस प्रकार जैसे किसी को अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प हो सो प्रतिबुद्ध.... है। वह लौकिक चतुर कहलाता है। अग्नि को अग्नि माने और अग्नि को लकड़ी न माने तथा लकड़ी को अग्नि न माने, वह लौकिक चतुर कहलाता है।

इसी प्रकार... आहाहा! **'मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ,....** आहाहा! जैसे अग्नि लकड़ी की नहीं है, वैसे मैं भगवान चैतन्यस्वरूप — मैं शरीर का, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश का नहीं हूँ। आहाहा! यह धर्मी की पहचान है। आहाहा! आहाहा! है ? **'मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है,....** राग और पत्नी / स्त्री, कुटुम्ब, परिवार मेरा स्वरूप है ही नहीं, यह मेरा स्वरूप है ही नहीं। आहाहा! ऐसा सब भेदज्ञान करना। पूरे दिन निवृत्त कहाँ है, पाप के धन्धे... ! आहाहा! एक पूरे दिन बाईस घण्टे यह खाया और यह पिया और यह कमाया और यह पुत्र और पाप के पोटले.... घण्टे भर सुनने को मिले तो वहाँ जाये तो इसे सब उल्टा मिलता है — यह दया पालो, व्रत करो, धर्म होगा, यह विपरीत मान्यताएँ (मिलती हैं)। आहाहा! इसका एक घण्टा बेचारे का लूट लिया। श्रीमद् कहते हैं कि कुगुरु इसका एक घण्टा लूट लेता है। भगवान की यात्रा करो, पालीताना-शत्रुंजय (पहाड़ पर) ऊपर चढ़ो, ९९ वें बार चढ़ो.... धूल में लाख बार चढ़ न अब!

श्रोता : पालीताना में मन्दिर बनाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्दिर बनावे तो वह सब शुभराग है। समझ में आया ? पन्द्रह लाख का मन्दिर बनता है न! अफ्रीका-नैरोबी (में)! यहाँ के साठ घर हैं, श्वेताम्बर थे, सब दिगम्बर हो गये हैं। साठ घर हैं, आठ तो करोड़पति हैं। यह दूसरा कोई पन्द्रह लाख-बीस लाख, पच्चीस लाख, चालीस लाख, पचास लाख सब पैसेवाले हैं। अफ्रीका में मन्दिर नहीं था, पहले तो था नहीं। आहाहा! अभी इस महीने में पहले पन्द्रह लाख के

मन्दिर का मुहूर्त किया है। ये लोग विनती करने आयेंगे। गृहस्थ लोग हैं। सब श्वेताम्बर थे, साठ घर, सब दिगम्बर हो गये हैं। क्योंकि वहाँ अफ्रीका में तीस वर्ष वाँचन चलता है, तीस वर्ष से स्वाध्याय (चलती है)। बड़ा स्वाध्याय मन्दिर ढाई लाख का है, स्वाध्याय चलता है परन्तु श्वेताम्बर थे, श्वेताम्बर थे वे सब। पन्द्रह लाख के मन्दिर का मुहूर्त किया है। ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस-भीम ग्यारस, अफ्रीका-नैरोबी.... विनती करने आयेंगे परन्तु अब तो भाई! शरीर को ८९ वर्ष हुए। कोमल शरीर, खुराक बन्द,... विनती करते हैं और उनका आने का भाव है। भाई! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि किसका पैसा और किसका मन्दिर? आहाहा! मेरा यह था और मेरा यह रहेगा, भविष्य में भी मेरा रहेगा — मूढ़ है। आहाहा! है? '**मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ,....** धर्मी तो ऐसा मानता है। देखो! मैं तो यह राग और शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश मेरा नहीं। **यह परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है, मैं तो मैं ही हूँ,....** मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु मैं हूँ। यह धर्मी का लक्षण है। आहाहा! आहाहा! यह तो यात्रा की तो धर्म किया... पालीताना की यात्रा पूर्णिमा को की... धूल भी धर्म नहीं है। सुन न! उसमें राग मन्द किया हो तो पुण्य होगा। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है।

परद्रव्य का परद्रव्य है; यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था,.... यह राग, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, मकान, महल पहले से ही मेरे नहीं थे। आहाहा! **यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, इस परद्रव्य का मैं पहले नहीं था,....** ये मेरे नहीं हैं, मैं उनका नहीं हूँ, पहले से ही ऐसा हूँ। आहाहा! यह धर्मी! आहाहा! इसका नाम सम्यग्दृष्टि जीव! अभी धर्म की शुरुआतवाला, हों! आहाहा! **मेरा मैं ही पहले था,...** मैं तो अनादि से आनन्दस्वरूप, मैं पहले से अपना था। **परद्रव्य का परद्रव्य पहले था; यह परद्रव्य मेरा भविष्य में नहीं होगा,....** आहाहा! यह लड़का, स्त्री, पुत्र वर्तमान में मेरे नहीं; भूतकाल में मेरे नहीं थे; भविष्य में मेरे नहीं रहेंगे। आहाहा! (भविष्य में मेरा) नहीं होगा। **इसका मैं भविष्य में नहीं होऊँगा, मैं अपना ही भविष्य में होऊँगा,....** आहाहा! मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप, मुझमें भविष्य में मैं ही रहूँगा; मैं रागरूप और पररूप कभी नहीं होऊँगा। आहाहा! यह सम्यग्दृष्टि का लक्षण! आहाहा! इसे तो (अज्ञानी को तो) भान भी नहीं होता कि यहाँ यह

क्या है ? (क्योंकि) बेचारे को सुनने में नहीं मिला। आहाहा! **मैं अपना ही भविष्य में होऊँगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) भविष्य में होगा।'....** यह तो परद्रव्य है, परद्रव्य उसमें रहेगा। आहाहा!

ऐसा जो स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होता है,.... भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु, अनाकुल आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा, उसमें जो आत्मा निर्णय करता है, वह स्वद्रव्य में सत्यार्थ आत्मा का निर्णय करता है, वही ज्ञानी है, वह धर्मी है, वह धर्मी का लक्षण है। आहाहा! बहुत कठिन काम लिया! दया, दान का विकल्प भी मेरा नहीं था, मेरे में है ही नहीं। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार मुझमें है नहीं; मैं उनमें नहीं हूँ, भूतकाल में नहीं था, भविष्य में नहीं होऊँगा। आहाहा!

यहाँ तो कुछ शरीर को ठीक हो तो भी लड़के को कहता है — यह मर जाये तब जाय न स्नान करने को... स्नान-स्नान। जा न तू, यह मैं ही हूँ न, जा न तू! मूरख! तू जा, तू जा। स्नान में साथ जा, श्मशान में वहाँ साथ जा? तू है वह मैं ही हूँ न? परन्तु कब तू है वह मैं... आहाहा! अज्ञानी का भ्रम, चार गति में भटकने का यह सब लक्षण है। आहाहा!

इसमें तो जबावदारी बहुत है। आहाहा! (स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्मविकल्प) यह प्रतिबुद्ध ज्ञानी का लक्षण है। आहाहा! इसमें ज्ञानी पहचाना जाता है। अज्ञानी की पहचान रागादि परद्रव्य को मेरा मानना और वह मेरा स्वरूप है — ऐसा मानना; पहले मेरा था, मैं उसका था; भविष्य में मेरा रहेगा, मैं भी उसका रहूँगा (— ऐसा मानना वह) उसका — अज्ञानी का लक्षण है।

धर्मी का — सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में हो, छह खण्ड के राज्य में सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती थे — शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ.... परन्तु एक राग का अंश और छियानवें करोड़ सैनिक, छियानवें हजार स्त्रियाँ मेरी नहीं हैं, वे तो पर हैं। आहाहा! समझ में आया? मैं उनमें नहीं, वे मुझमें नहीं, और मेरे कारण से वे आये नहीं तथा मैं उनका स्वामी हूँ — ऐसा है नहीं। सौधर्म देवलोक का इन्द्र है, बत्तीस लाख विमान, एक-एक विमान में असंख्य देव (उनका स्वामी) सौधर्म देवलोक समकिती है, ज्ञानी है, करोड़ों अप्सरायें हैं परन्तु अन्तर में एक रोम में भी यह स्त्री मेरी नहीं, मैं उसका नहीं। आहाहा! समझ में

आया ? यह इन्द्राणी मेरी नहीं, मेरे इन्द्राणी नहीं, मैं इन्द्राणी में नहीं। आहाहा!

इस प्रकार पर से भेदज्ञान — वर्तमान, भूत और भविष्य में तीनों काल में — ऐसा भेदज्ञान वर्तता है। आहाहा! अज्ञानी को तीनों काल में मेरा (सब) — ऐसा वर्तता है। आहाहा! लड़के को समझाना, शिक्षा देना, जवान लड़की आवे-बीस-पच्चीस वर्ष की जवान, दो-दो वर्ष की उम्र में एक तेईस-पच्चीस और सत्ताईस और उनतीस, उन्हें ठिकाने लगाना या नहीं, अब यहाँ ? कौन है परन्तु तेरे, वे थी ही नहीं न ? आहाहा!

पैसा बहुत हो तो यह काम कर सके नहीं स्वयं; फिर एक गृहस्थ को दुकान के लिए ढूँढ़ता है कि देखो! पच्चीस लाख तुझे दूँगा, एक प्रतिशत ब्याज लूँगा और महीने में हिसाब जाँच करने आऊँगा और आधा हिस्सा आमदनी में... इतनी शर्तें ये सेठिया लोग करते हैं।

श्रोता : आपको कैसे पता ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम्हारी दुनिया, पूरी दुनिया का पता है। आहाहा!

अरे प्रभु! तू यह क्या करता है ? भगवान तो इसे मूढ़ कहते हैं, यह जैन ही नहीं है। आहाहा! जैन तो उसे कहते हैं... आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसै, घट घट अन्तर जैन।' भगवान वीतरागी मूर्ति प्रभु आत्मा विराजमान है, भाई! तुझे नहीं जँचता, भाई! आहाहा! यह आत्मा मैं हूँ और राग नहीं हूँ; इस (प्रकार) जिसने राग को जीत लिया, जिसने राग को जीत लिया (वह ज्ञानी है) और जिसे राग ने जीत लिया, वह अज्ञानी है। जिसने राग को जीत लिया, वह जैन। आहाहा! समझ में आया ? जगत से अलग बात है, बापू!

हम दुनिया को बहुत जानते हैं और यहाँ तो ८९ वर्ष हुए और ७२ वर्ष से तो यह शास्त्र अभ्यास है। मैं तो दुकान में भी — पालेज में शास्त्र-अभ्यास करता था। सब देखा है न, अनेक देखे हैं। वेदान्ती देखे हैं, वेदान्ती के एक बड़े गुरु थे, वह हमारा ग्राहक था, वहाँ सब पैर पड़ते और हमारा ग्राहक आसामी था। क्या कहते हैं उसे ? ग्राहक था। क्या कहलाता है ? धीरता धार धीर करते आते हों। उगाही करने जाता मैं; वहाँ उनका मेहराजसी गाँव था, वहाँ हमारी उगाही बहुत थी परन्तु यह सब १९-२०-२१ वर्ष की उम्र में। सब भ्रमणाएँ की। आहाहा!

अरे प्रभु ! तू कौन है, कहाँ है ? आहाहा ! तू तो आत्मा है न नाथ ! तुम किसमें हो ? तुम तो ज्ञान में हो, आनन्द में, शान्ति में हो न तुम तो ! तुम राग और पर में तो हो ही नहीं न ? आहाहा ! और राग तथा पर तुझमें कभी आया ही नहीं। आहाहा ! ऐसे आत्मा के अन्तर में राग से भिन्न होकर भान / अनुभूति होना, उसका नाम भगवान सम्यग्दृष्टि-धर्म की पहली शुरुआतवाला, अभी तो पहली शुरुआत, हों ! आहाहा ! ऐसा मार्ग ! अरेरे ! दुनिया चली जाती है — लुट जाती है, बेचारे कहाँ जायेंगे ? आहाहा ! बहुतों को तो इस आत्मा का जिन्हें श्रवण नहीं है, पुण्य भी नहीं और अकेले पाप किये हैं; धर्म तो है नहीं। राग से भिन्न सम्यग्दर्शन तो है नहीं... आहाहा ! और २२-२३ घण्टे पाप... एकाध घण्टे कोई सुनने जाये शुभभाव हो, शुभ; यात्रा आदि शुभभाव परन्तु ऐरण की चोरी और सुई का दान.... आहाहा ! ऐरन समझते हो न ? सोनी, सोनी की होती है; सोना गढ़ने की, आहाहा ! क्या कहते हैं ? ऐरन। ऐरन की चोरी और सुई का दान.... धर्म तो है नहीं आत्मज्ञान (तो है नहीं) परन्तु पुण्य का भी ठिकाना नहीं है। एकाध घण्टे सुनने जाये उससे शुभभाव हो, उसमें बाईस घण्टे तो अकेले पाप — स्त्री, पुत्र और धन्धा.... मार डाला ! आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं — प्रभु ! एक क्षण भी पर की चीज अपनी है और मैं उसका हूँ, — यह माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि, अधर्मी है और एक क्षण में जैसे भिन्न पड़कर अपना भान हुआ (कि) मैं तो ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ, मुझमें यह चीज जानने में आती है, तथापि मुझे विकार नहीं होता; मैं तो जाननेवाला हूँ। आहाहा ! उसका नाम धर्म की पहली सीढ़ी... आहाहा ! कितनी जवाबदारी ! **वही प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) का लक्षण है, इससे ज्ञानी पहिचाना जाता है।**

भावार्थ : जो परद्रव्य में आत्मा का विकल्प,... राग-एकता... करता है वह तो अज्ञानी है और जो अपने आत्मा को ही अपना मानता है, वह ज्ञानी है — यह अग्नि-ईंधन के दृष्टान्त से दृढ़ किया है। आहाहा ! बात तो बहुत सादी थी भाषा... अग्नि लकड़ी की होती नहीं, लकड़ी अग्नि की होती नहीं। परद्रव्य अपना होता नहीं, अपना द्रव्य परद्रव्य में होता नहीं। अग्नि शब्द से आत्मा आनन्दकन्द प्रभु और राग तथा यह सब (परद्रव्य) लकड़ी है। पैसा-बैसा इसका (आत्मा का) होता नहीं और लकड़ी अपनी होती नहीं कभी। आहाहा ! (विशेष कहेंगे) (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ८४ श्लोक २२ तथा गाथा २३-२५ दिनाङ्क १२-०९-१९७८ मंगलवार
भाद्र शुक्ल १०, वीर निर्वाण संवत् २५०४ उत्तमतप धर्म

सातवाँ दिन है आज। उत्तमतप-तप, तप धर्म कहते हैं।

इहपरलोयसुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकिलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स॥४००॥

आहाहा! जो कोई मुनि.... यहाँ चारित्र की बात है। सम्यग्दर्शन और अनुभवसहित जिसको चारित्र-अन्तर रमणता प्रगट हुई। वैसे चारित्र में उग्र पुरुषार्थ करना, स्वरूप में रमणता का उग्र पुरुषार्थ करना, उसका नाम तप है। समझ में आया? यह कहते हैं, देखो! सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, तृण-कंचन समान — राग-द्वेषरहित समभाव।

अन्तर में आनन्दस्वरूप की अनुभूतिपूर्वक स्वरूप में रमणता में उग्र पुरुषार्थ करके वीतरागता बढ़ाना और अतीन्द्रिय आनन्द का सुख-स्वाद विशेष लेना, उसका नाम तप कहा जाता है। आहा! यह व्याख्या! समझ में आया? तप, मुनि को 'निर्मल' शब्द भावार्थ में है, चारित्र के लिए जो उद्यम और उपयोग करता है, वह तप कहा है। आहाहा! अन्तर में आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है, उसके अनुभवपूर्वक चारित्र, अर्थात् स्वरूप में रमणता, उसमें उग्र पुरुषार्थ करते हैं। चारित्र के लिए — अन्तर रमणता के लिए... आहाहा! उद्यम और उपयोग करते हैं। है? उद्यम — अन्तर में उद्यम करते हैं। आनन्दस्वरूप में रमणता में... आहाहा! वह तप कहा है। उसे भगवान तप कहते हैं। आहाहा! यह अनशन-अपवास कर डाले और यह कर दिये और वह तप — ऐसा नहीं। यह कहते हैं। अन्तर में आत्मा, चारित्र में रमण करते-करते उग्र पुरुषार्थ से अन्तर में जोर करना, स्वरूप में रमणता की इस दशा को समकित सहित को उत्तमतप धर्म कहते हैं। आहाहा! यह आंशिक (चारित्र) भी सहित होता है।

आत्मा की विभाव परिणति के संस्कार को मिटाने के लिए.... मुनि को भी जरा रागादि बाकी है न, तो उन विभाव संस्कारों को मिटाने के लिए... आहाहा! उद्यम करता है। अपने शुद्धात्मस्वरूप के उपयोग को चारित्र में रोकता है। देखो! आहाहा! अरे! कभी,

कहीं बाहर की मानें, और मैंने यह किया, यह किया... आहाहा! शुद्धस्वरूप उपयोग, अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का शुद्ध उपयोग, उसमें उपयोग को-चारित्र में रोकता है। उपयोग को अन्तर रमणता में रोकता है।

अभी शुद्ध उपयोग क्या? अन्तर में विकल्प से रहित निर्विकल्प शुद्ध उपयोग, आहाहा! उसे चारित्र में रोकता है, बड़े बलपूर्वक रोकता है - ऐसा बल करना, वह तप है। यह सब व्याख्या अलग! तुम्हारी अपेक्षा... अर्थ है, हों! ऐसा बल करना वह तप है। आहाहा! तो बाहर का त्याग किया और कुछ पाँच महाव्रत का विकल्प, विकल्प वस्तु तो कहाँ है? यह आया। अपवास किया और हो गया चारित्र व तप। अरे भाई! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है। अन्दर समभाव शब्द पड़ा है न! समभाव शब्द पड़ा है। मूल श्लोक में 'समभाओ' — ऐसा आया है न 'समभाओ' ऐसा शब्द पड़ा है, वीतराग, शुद्ध उपयोग से चारित्र में रुकना, शुद्ध उपयोग में वहाँ लगा देना... आहाहा! स्वरूप की दृष्टिपूर्वक चारित्र तो है परन्तु अभी थोड़ा राग बाकी है, उसका नाश करने के लिए अपने शुद्ध उपयोग करके स्वरूप की रमणता में उपयोग को रोकना, उसको उत्तम तप कहते हैं — ऐसी व्याख्या चलती है। समझ में आया? इसके भेद फिर बाह्य-अन्तरंग के (होते हैं) वस्तुस्थिति यह है।

अब, २२ कलश आया है न? बाईसवाँ कलश —

कलश - २२

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेक:
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥२२॥

श्लोकार्थ : [जगत्] जगत् अर्थात् जगत् के जीवों! [आजन्मलीनं मोहम्] अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को [इदानीं त्यजतु] अब तो छोड़ो और [रसिकानां रोचनं] रसिक जनों को रुचिकर, [उद्यत् ज्ञानम्] उदय हुआ जो ज्ञान उसको [रसयतु] आस्वादन करो; क्योंकि [इह] इस लोक में [आत्मा] आत्मा [किल] वास्तव में [कथम् अपि] किसी प्रकार भी [अनात्मना साकम्] अनात्मा (परद्रव्य) के साथ [क्व अपि काले] कदापि [तादात्म्यवृत्तिम् कलयति न] तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा [एकः] एक है वह अन्य द्रव्य के साथ एकतारूप नहीं होता।

भावार्थ : आत्मा परद्रव्य के साथ किसी प्रकार किसी समय एकता के भाव को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार आचार्यदेव ने, अनादि काल से परद्रव्य के प्रति लगा हुआ जो मोह है, उसका भेदविज्ञान बताया है और प्रेरणा की है कि इस एकत्वरूप मोह को अब छोड़ दो और ज्ञान का आस्वादन करो; मोह वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है।

कलश - २२ पर प्रवचन

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

आहाहा! अरे! जगत् (अर्थात्) जगत् के जीवों!.... जगत् का अर्थ जगत् के जीवों, संसारी प्राणियों! **आजन्मलीढं.... आजन्मलीढं.... अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को....** आहाहा! अनादि काल से राग और द्वेष का, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना का अनुभव करते हुए, अनन्त काल हुआ है। आहाहा! **आजन्मलीढं.... अनादि काल से....** आहाहा! पुण्य और पाप रागादिभाव में लीनता, उसका आज तक अनुभव किया है। उस **मोह को....** आहाहा! **इदानीं त्यजतु.... अब तो छोड़ो....** प्रभु! आहाहा! आज तक राग का अनुभव किया, अनादि काल से पुण्य–

पाप मिथ्यात्वभाव का (अनुभव किया) **इदानीं त्यजतु....** प्रभु! अभी तक (अनुभव किया), अभी ही छोड़ दे। आहाहा! अनादि से राग का विकार का वेदन किया है-अनुभव किया है, यह अनादि से किया है, तो हे जगत के प्राणियों! सन्त कहते हैं जगत को, आहाहा! **इदानीं त्यजतु....** अब तो छोड़ दे! आहाहा! और यह राग का अनुभव, आकुलता का अनुभव, दुःख का अनुभव.... आहाहा! प्रभु! छोड़ दे और आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान के आनन्द का अनुभव कर। आहाहा! ऐसी बात है। लोगों को ऐसा लगता है कि ऐसा तो सब.... ? यह परमसत्य ही ऐसा है।

है? **रसिकानां रोचनं....** आहाहा! **रसिक जनों को रुचिकर,....** जिसको आनन्दस्वरूप भगवान, ज्ञानस्वरूप प्रभु, जिसको **रसिकानां रसिक को....** (जिसको) रुचि हो गयी है! आनन्द के रसिक को रुचि हो गयी है, उसको... आहाहा! आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु है, उस ओर का जिसको रस चढ़ा है। आहाहा! राग का रस छोड़ दे और आनन्द-ज्ञान के रस को ग्रहण कर। आहाहा! ऐसी भाषा है, ऐसा स्वरूप है, क्या हो? यह **रसिक जनों को रुचिकर, उदय हुआ जो ज्ञान....** आहाहा! (क्या कहते हैं?) राग को छोड़कर, जहाँ स्वभाव सन्मुख में एकाग्र हुआ तो ज्ञान में आत्मा प्रगट हुआ, उदय हुआ; राग का अस्त हुआ और अपना आनन्द और ज्ञान की दशा का उदय हुआ। आहाहा! आहाहा!

जीव अधिकार है न? शुभ-अशुभभाव-राग, वह तो अजीव है। इसका अनुभव तो, प्रभु! तूने अनन्त काल से किया है। साधु हुआ तो भी पंच महाव्रत के परिणाम का अनुभव, वह राग का अनुभव है। आहाहा! अनन्त बार मुनिव्रत धारण किया, आहाहा! अब तो... आहाहा! **रसिकानां रोचनं रसयतु....** आहाहा! **रसिकानां रोचनं उद्यत् ज्ञानम्....** जिसको आनन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अन्तर का अनुभव करके प्रगट हुआ है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। **उद्यत् ज्ञानम्....** प्रगट हुआ है आत्मा... ज्ञान अर्थात् आत्मा। राग से भिन्न भगवान ज्ञान, वह ज्ञानस्वरूपी प्रवाह आत्मा, अन्तर में दृष्टि करने से वह उदय हुआ है, प्रगट हुआ है। जैसे सूर्य प्रकाशित होता है, वैसे भगवान प्रकाशित हुआ है। आहाहा! ज्ञान और आनन्द के प्रकाश से प्रगट हुआ है। अरे! ऐसी व्याख्या। है?

आस्वादन करो;.... इस विकल्प का–राग का अनुभव तो, प्रभु! तूने अनन्त काल से किया है, अब तो छोड़ दे और अपना आनन्दस्वरूप भगवान, ज्ञानस्वरूप रसिक रुचिकर को रसिक — ऐसा ज्ञान और आनन्द उत्पन्न हुआ तो उसका आस्वादन करो। आहाहा! जैसा राग का, पुण्य–पाप का, विकल्प का, विकार का, मोह का अनुभव किया; वैसे भगवान आत्मा का अनुभव करो। थोड़े में भी बहुत भर दिया है! आहाहा! ज्ञान अर्थात् आत्मा, हों! भगवान पूर्णानन्द वीतराग मूर्ति प्रभु की प्रत्यक्षदशा प्रगट हुई। आहाहा! राग को छोड़कर स्वभाव का आश्रय लिया, वहाँ वह ज्ञान और आनन्द और आत्मा पर्याय में प्रगट हुआ। आहाहा! उस आनन्द का आस्वाद करो, प्रभु! आहाहा! उसका नाम जीव का अनुभव (कहते हैं)। जीव अधिकार है न!

राग–विकल्प जो है; चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का हो; जो उसको छोड़कर... आहाहा! अपना आत्मा ज्ञान–आनन्दस्वरूप का आश्रय करते हैं तो पर्याय में आनन्द और ज्ञान प्रगट हुआ, उसका आस्वाद करो। जो राग का आस्वाद करता था, वह आत्मा का आस्वाद करो। अरे! ऐसी बातें हैं! समझ में आया? राग का आस्वाद करता था, वह अजीव का आस्वाद था और भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा आश्रय करके जो आनन्द की पर्याय प्रगट हुई, वह जीव है, वह जीव का भाव है। आहाहा! ऐसी बातें अब!

अब दूसरी बात ऐसी कहते हैं कि स्त्री का शरीर, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत को तो कभी आत्मा ने भोगा ही नहीं। क्या कहा? शरीर... शरीर... जड़, वह तो मिट्टी धूल है, मिट्टी; वह तो मिट्टी पुद्‌गल है, पैसा पुद्‌गल है। लड्डु, दाल, भात, शाक, जड़ पुद्‌गल है, उसका तो अनुभव कभी किया ही नहीं; इसने अनुभव किया तो राग–द्वेष का अनुभव किया। समझ में आया? आहाहा! पहले यह शब्द लिया न? ऐसा नहीं लिया कि तुमने स्त्री को भोगा, पैसा भोगा, उसे छोड़ दे, परन्तु उसे भोगा ही नहीं है। उस ओर का राग करके, विकार करके विकार को भोगता था। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वह दुःख का भोक्ता था, प्रभु! कर्मचेतना, (कर्मफलचेतना), राग और राग का फल दुःख। आहाहा!

प्रभु! अब अरागी भगवान अन्दर पूर्णानन्द का नाथ वीतराग मूर्ति प्रभु का आश्रय ले, वहाँ रस (में) जम, उससे तेरी पर्याय में आनन्द और शान्ति आयेगी, उसका आस्वाद

कर। आहाहा! उसका नाम धर्म है। ऐसी बात है। आहाहा! आस्वादन-अनुभव करो। आहाहा!

भगवान आनन्द और ज्ञान और शान्ति का सागर प्रभु है, उसका अनुभव कर न! आहाहा! अनुभव तो पर्याय में होता है, द्रव्य में कहीं अनुभव होता नहीं है; द्रव्य तो ध्रुव अनन्त आनन्दकन्द प्रभु है, परन्तु उसकी ओर के लक्ष्य से-आश्रय से जो आनन्द की प्रगट दशा हुई, उसका आस्वादन करो। आहाहा! अब ऐसा मार्ग है! यह साधारण लोगों ने बेचारों ने सुना ही नहीं होगा, उन्हें यह, यह कुछ नया मार्ग निकाला कहते हैं परन्तु यह कब का है यह? और हजार वर्ष पहले के तो कलश हैं न, उसमें दो हजार वर्ष पहले के श्लोक (मूल गाथाएँ) हैं और अनादि काल का यह अभिप्राय है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

आस्वादन करो; क्योंकि इस लोक में आत्मा वास्तव में किसी प्रकार भी अनात्मा (परद्रव्य) के साथ.... आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वह कभी राग के साथ एकत्व हुआ ही नहीं। समझ में आया? **किसी प्रकार भी अनात्मा (परद्रव्य) के साथ कदापि तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता,....** आहाहा! राग-दया-दान-व्रतादि का विकल्प है, उसके साथ भगवान ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप, पवित्रस्वरूप उस राग के साथ तादात्म्य कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग! इसलिए फिर क्या हो? आहाहा! अन्य (लोग) कहते हैं संयम धरो, वस्त्र छोड़ो... तो वहाँ सातवाँ गुणस्थान आयेगा और वहाँ निर्विकल्प समकित, समकित वहाँ होगा। कहो, अरे भगवान!

यहाँ तो प्रथम जो अनादि का पुण्य और पाप के विकार का-दु:ख का अनुभव करता आया है, प्रभु! अब एक बार उसको दृष्टि में से छोड़ दे। क्यों? कि यह आत्मा, राग के साथ तादात्म्य हुआ ही नहीं; इसलिए छूट सकता है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! युगलजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा! इन पुण्य-पाप के भाव के साथ भगवान आनन्दस्वरूप कभी तादात्म्य / एकरूप कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! तो एकरूप नहीं हुआ तो उस ओर से दृष्टि छोड़ दे। जिससे एकरूप नहीं हुआ, उसकी दृष्टि छोड़ दे और आनन्द व ज्ञान के साथ एकमेक है, वहाँ दृष्टि लगा दे। आहाहा! ऐसा मार्ग! ए ई... ! कभी सुना भी नहीं होगा,

इसके बाप-दादा ने, इसके बाप-दादा तो कहाँ थे? परन्तु.... आहाहा! आहाहा! यह दिगम्बर धर्म! कहीं है नहीं, आहाहा! यह वस्तु का स्वभाव है, दिगम्बर धर्म कोई पक्ष नहीं है।

यह तो बात करते हैं कि आत्मा, जो विकल्प रागादि है, उस वस्त्र से भिन्न है। आहाहा! उस रागादि वस्त्र से आत्मा अभेद कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! इससे छोड़कर अत्यन्त ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा परंब्रह्म प्रभु का आश्रय लेकर, उसका स्वीकार करके, उसका सत्कार करके, उसको उपादेय में जानकर, पर्याय में जो आनन्द आया, उसका स्वाद ले, प्रभु! आहाहा! गजब बात करते हैं न! स्वाद लेना वह संवर, निर्जरा है और जीव त्रिकाली है, वह जीवद्रव्य ध्रुव-ज्ञायक है! आहाहा! समझ में आया? राग का स्वाद लेना, वह अजीव है और जीव तो ज्ञायक त्रिकाल है। आहाहा! उसको छोड़कर शुभ-अशुभराग का स्वाद लेना, वह एक मिथ्यात्वभाव-दु:खरूप भाव, परिभ्रमण का कारण है। आहाहा! समझ में आया? यह बात लोगों को ऐसी (कठिन) लगती है तो... आहाहा!

तादात्म्यवृत्तिम् कलयति न.... एकत्व को प्राप्त नहीं होता,.... आहाहा! प्रभु अन्दर निराला रहा है। राग जो दया, दान, व्रत, शुभ-अशुभभाव और भगवान के बीच में सन्धि है, सांध है; एकत्व नहीं हुआ है। आहाहा! (दोनों के) बीच में दरार है। दरार समझे? भिन्नता है। आहाहा! ऐसी बात है! शरीर, वाणी, मन, स्त्री, पैसा, और यह (पर) चीज तो कहीं (दूर) रह गयी। आहाहा! उसका तो अनुभव है नहीं, परन्तु उस ओर का लक्ष्य करके राग और द्वेष उत्पन्न करता है, उसका अनुभव है, परन्तु वह राग और द्वेष भगवान के साथ कभी तादात्म्य एकरूप हुआ ही नहीं। आहाहा! दोनों के बीच सांध है, दरार है, भेद है, आहाहा! तो उसमें भेद है तो उनको छोड़कर, भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु अन्दर... आहाहा! प्रथम सम्यग्दर्शन के समय की बात है, मुनिपना तो, बापू! वह कोई अलग चीज है। आहाहा! उसका स्वाद ले, **क्योंकि आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्य के साथ एकतारूप नहीं होता।** क्या कहते हैं? भगवान ज्ञायकस्वरूप परंब्रह्म भगवन्त एकरूप है, वह विकल्पादि अनेकरूप में कभी एकता को प्राप्त नहीं होता। आहाहा! एकरूप, वह अनेकरूप कभी नहीं होता — ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या शब्द! आहा! सन्तों की वाणी रामबाण है! अरे! सुनने को मिले नहीं, वह कब विचार में आवे और वह कब जाये गहरे! आहाहा!

क्योंकि आत्मा एक है.... एकरूप स्वरूप आनन्दकन्द ज्ञायकभाव एक है और यह विकल्पादि अनेक हैं। यह एक, अनेक के साथ तादात्म्यरूप कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! इस कारण.... यह जीव अधिकार है न? यह जीवस्वरूप भगवान, इस रागादि के अजीव के साथ एकरूप कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! तो एक का अनेक नहीं हुआ तो अनेक का लक्ष्य छोड़कर एक का अनुभव कर। आहाहा! ऐसा मार्ग, लो! हैं! ऐसा मार्ग है भाई! यह कोई पण्डिताई की चीज नहीं है। आहाहा!

तथापि ज्ञानी को भी शुभराग आता है। समझ में आया? परन्तु वह दुःखरूप आता है। आहाहा! तो क्यों आता है? परन्तु आये बिना नहीं रहता। जब तक वीतराग न हो, तब तक ऐसा शुभभाव-भगवान की भक्ति आदि का ऐसा (भाव) आये बिना नहीं रहता। (यद्यपि वह) है दुःखरूप, तथापि उस दुःखरूप में आत्मा तादात्म्य हुआ ही नहीं। आहाहा! उस दुःख के काल में भी अपना आत्मा अन्दर भिन्न रहा है। आहाहा! गजब बात कही है! एक श्लोक में भी! ओहोहो! एक है। आहाहा! वह एक अन्य द्रव्य के साथ एकतारूप कैसे हो? आहाहा! ज्ञायक आनन्दस्वरूप प्रभु एकरूप सामान्य स्वभाव... आहाहा! वह रागादि अनेकरूप अजीव आदि कैसे हो? आहाहा! यह जीव ज्ञायकस्वरूपी प्रभु एकरूप, उन रागादि अनेक अजीव के साथ वह अनेक कैसे हो? आहाहा! समझ में आये उतना समझना भाई! मार्ग तो... आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का यह पन्थ है। सन्त कहते हैं, वह तो आड़तिया होकर कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं, वह यह है। आहाहा! आहाहा! भाषा तो देखो! **क्व अपि काले तादात्म्यवृत्तिम् न....** धरता एक है। आहाहा! किसी काल में भगवान आत्मा ज्ञायकरसस्वरूप, अज्ञायक ऐसे राग के साथ तादात्म्यवृत्ति — एक, अनेक में नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? ऐसे एकरूप स्वभाव का अनुभव करो, इस पर्याय में। वस्तु एकरूप त्रिकाल है, आहाहा! वह राग के साथ एकरूप नहीं हुआ तो एकरूप का अनुभव करो। आहाहा! क्या बात! कहीं नहीं मिलती। आहाहा!

भावार्थ : आत्मा परद्रव्य के साथ किसी प्रकार.... किसी भी प्रकार से **किसी समय एकता के भाव को प्राप्त नहीं होता।....** आहाहा! 'जैसे निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे!' भगवान तो निर्मल स्फटिक जैसी चीज अनादि-अनन्त भिन्न है। आहा! आहाहा! जिसको जीव कहते हैं, आत्मा कहते हैं, आहाहा! वह तो

ज्ञायकभावस्वरूप अनादि-अनन्त भिन्न है। है? आत्मा भगवान द्रव्यस्वरूप चैतन्यमूर्ति प्रभु, परद्रव्य अर्थात् राग और पुण्य-पाप के साथ... शरीर, वाणी, मन के साथ तो सम्बन्ध क्या है? वह तो पर का वेदन तो है ही नहीं। **किसी प्रकार....** किसी प्रकार से व्यवहार से भी एक है — ऐसा नहीं है, यहाँ तो यह कहते हैं। आहाहा! निश्चय से भिन्न है तो व्यवहार से एक है? वह कथन मात्र आता है परन्तु है नहीं। आहाहा! **किसी प्रकार किसी समय एकता के भाव को प्राप्त नहीं होता।**

इस प्रकार आचार्यदेव ने,.... भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने **अनादि काल से परद्रव्य के प्रति लगा हुआ जो मोह है, उसका भेदविज्ञान बताया है....** आहाहा! **और प्रेरणा की है कि इस एकत्वरूप मोह को अब छोड़ दो....** आहाहा! भाषा तो सरल है परन्तु भाव कोई अलौकिक है! आहाहा! इस राग का स्वभाव के साथ सम्बन्ध नहीं है; इस कारण छोड़ दे। आहाहा! और स्वभाव का अनुभव कर तो यह जीव का अनुभव हुआ। राग का अनुभव है, वह जीव के अनुभव से भिन्न अजीव का अनुभव है। आहाहा! उसका भेदज्ञान बताया है और **एकत्व मोह को छोड़ दो और ज्ञान का आस्वादन करो।...** आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान ज्ञानस्वरूप, ज्ञायकस्वरूप, जाननस्वभाव का अनुभव करो। **मोह वृथा है,....** मोह की व्याख्या — मोह अर्थात् वृथा, आहाहा! **झूठा है, दुःख का कारण है।** यह शुभ-अशुभभाव, आत्मा में नहीं है; इसलिए झूठा है। मोह का अर्थ ही वृथा है। अमोह का अर्थ सफल है और मोह का अर्थ निष्फल है। आहाहा! ऐसी बातें! अब समाज में ऐसी बातें रखना...

श्रोता : हों वैसी ही रखी जायेगी न?

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग तो यह है, भाई! चाहे वह पण्डित हो या चाहे जो नाम धराये, मार्ग तो यह है - ऐसा ज्ञान में अभी निर्णय न करे, उसको अनुभव कहाँ से आता है? आहाहा! समझ में आया? आहा! **मोह वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है।**

गाथा २३-२५

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसाय: क्रियते –

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो।।२३।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।।२४।।
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं।।२५।।

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम्।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्त:।।
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम्।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम्।।
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत्।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम्।।

युगपदनेकविधस्य बन्धनोपाधे: सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोग –वशाद्विचित्रोपाश्रयोपरक्त: स्फटिकोपल इवात्यन्ततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमित –समस्तविवेकज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभाव –भावान् स्वीकुर्वाण: पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीव:। अथायमेव प्रतिबोध्यते – रे दुरात्मन्, आत्मपंसन्, जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरस

-तृणाभ्यवहारित्वम्। दूरनिरस्तसमस्तसन्देहविपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि, यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात् पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्य -मित्यनुभूतिः किल घटेत, तत्तु न कथंचनापि स्यात्। तथा हि – यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रव्यत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनु -भूयते, न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवत् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवत् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनु -भूयते। तत्सर्वथा प्रसीद, विबुध्यस्व, स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव।

अब, अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न करते हैं —

अज्ञान मोहितबुद्धि जो, बहुभाव संयुत जीव है।
''ये बद्ध और अबद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा'' वो कहै॥२३॥
सर्वज्ञज्ञानविषै सदा, उपयोगलक्षण जीव है।
वो कैसे पुद्गल हो सके जो, तू कहे मेरा अरे!॥२४॥
जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्व को।
तू तब हि ऐसा कह सके, ''है मेरा'' पुद्गलद्रव्य को॥२५॥

गाथार्थ : [अज्ञानमोहितमतिः] जिसकी मति अज्ञान से मोहित है [बहुभावसंयुक्तः] और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है ऐसा [जीवः] जीव [भणति] कहता है कि [इदं] यह [बद्धम् तथा च अबद्धं] शरीरादिक बद्ध तथा धनधान्यादिक अबद्ध [पुद्गलं द्रव्यम्] पुद्गल द्रव्य [मम] मेरा है। आचार्य कहते हैं कि — [सर्वज्ञज्ञानदृष्टः] सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो [नित्यम्] सदा [उपयोगलक्षणः] उपयोगलक्षणवाला [जीवः] जीव है [सः] वह [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप [कथं] कैसे हो सकता है [यत्] जिससे कि [भणसि] तू कहता है कि [इदं मम] यह पुद्गलद्रव्य मेरा है? [यदि] यदि [सः] जीवद्रव्य [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और [इतरत्] पुद्गलद्रव्य

[जीवत्वम्] जीवत्व को [आगतम्] प्राप्त करे [तत्] तो [वक्तुं शक्तः] तू कह सकता है [यत्] कि [इदं पुद्गलं द्रव्यम्] यह पुद्गल द्रव्य [मम] मेरा है। (किन्तु ऐसा तो नहीं होता।)

टीका : एक ही साथ अनेक प्रकार की बन्धन की उपाधि की अति निकटता से वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभावभावों के संयोगवश जो (अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव) अनेक प्रकार के वर्णवाले आश्रय की निकटता से रंगे हुए स्फटिक-पाषाण जैसा है, (१. आश्रय = जिससमें स्फटिकमणि रखा हुआ हो वह वस्तु) अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभावभावत्व से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गयी है ऐसा है, और महा अज्ञान से जिसका हृदय स्वयं स्वतः ही विमोहित है — ऐसा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव स्वपर का भेद न करके, उन अस्वभावभावों को ही (जो अपने स्वभाव नहीं हैं ऐसे विभावों को ही) अपना करता हुआ, पुद्गलद्रव्य को 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुभव करता है। (जैसे स्फटिकपाषाण में अनेक प्रकार के वर्णों की निकटता से अनेक वर्णरूपता दिखायी देती है, स्फटिक का निज श्वेत-निर्मलभाव दिखायी नहीं देता इसी प्रकार अज्ञानी को कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है-दिखायी नहीं देता इसलिए पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है।) ऐसे अज्ञानी को अब समझाया जा रहा है कि — रे दुरात्मन्! आत्मघात करनेवाले! जैसे परम अविवेकपूर्वक खानेवाले हाथी आदि पशु सुन्दर आहार को तृण सहित खा जाते हैं उसी प्रकार खाने के स्वभाव को तू छोड़, छोड़। जिसने समस्त सन्देह, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं और जो विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने के लिए एक अद्वितीय ज्योति है, ऐसे सर्वज्ञ ज्ञान से स्फुट (प्रगट) किया गया जो नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य वह पुद्गलद्रव्य कैसे हो गया कि जिससे तू यह अनुभव करता है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'? क्योंकि यदि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो तभी 'नमक का पानी' इस प्रकार के अनुभव की भाँति ऐसी अनुभूति वास्तव में ठीक हो सकती है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'; किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकार से नहीं बनता।

दृष्टान्त देकर इसी बात को स्पष्ट करते हैं — जैसे खारापन जिसका लक्षण है ऐसा नमक पानीरूप होता हुआ दिखायी देता है और द्रवत्व (प्रवाहीपना) जिसका

लक्षण है, ऐसा पानी नमकरूप होता दिखायी देता है, क्योंकि खारेपन और द्रवत्व का एक साथ रहने में अविरोध है, अर्थात् उसमें कोई बाधा नहीं आती, इस प्रकार नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य होता हुआ दिखायी नहीं देता और नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य होता हुआ देखने में नहीं आता क्योंकि प्रकाश और अन्धकार की भाँति उपयोग और अनुपयोग एक ही साथ रहने में विरोध है; जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं हो सकते। इसलिए तू सर्व प्रकार से प्रसन्न हो, (अपने चित्त को उज्ज्वल करके) सावधान हो, और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुभव कर।

भावार्थ : यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है; उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतनद्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, कभी भी किसी भी प्रकार से एकरूप नहीं होते ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है; इसलिए हे अज्ञानी! तू परद्रव्य को एकरूप मानना छोड़ दे; व्यर्थ की मान्यता से बस कर।

गाथा - २३ से २५ पर प्रवचन

अब, अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न.... देखो! क्या कहते हैं? यह समयसार अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए कहते हैं। मुनि के लिए कहते हैं और मिथ्यादृष्टि के लिए नहीं — ऐसा नहीं है। आहाहा! कितने ही कहते हैं कि समयसार तो मुनियों के लिए है परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अप्रतिबुद्ध — अज्ञानी को समझाने के लिए अब प्रयत्न करते हैं। भाषा में.... आहाहा! अरे! तीन गाथाएँ हैं।

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो।।२३।।

सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।।२४।।

जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं।।२५।।

अज्ञान मोहितबुद्धि जो, बहुभाव संयुत जीव है।
''ये बद्ध और अबद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा'' वो कहै॥२३॥

सर्वज्ञज्ञानविषै सदा, उपयोगलक्षण जीव है।
वो कैसे पुद्गल हो सके जो, तू कहे मेरा अरे!॥२४॥

जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्व को।
तू तब हि ऐसा कह सके, ''है मेरा'' पुद्गलद्रव्य को॥२५॥

आहाहा! **टीका : एक ही साथ अनेक प्रकार की बन्धन की उपाधि की अति निकटता से वेगपूर्वक बहते हुए...** आहाहा! और **अस्वभावभावों के संयोगवश जो (अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव) अनेक प्रकार के वर्णवाले आश्रय की निकटता से रंगे हुए स्फटिक-पाषाण जैसा है,....** क्या कहते हैं ? फिर से — **एक ही साथ अनेक प्रकार की बन्धन की उपाधि की अति निकटता से वेगपूर्वक....** रागादि, **बहते हुए अस्वभावभावों के संयोगवश....** विकारभाव, अस्वभावभाव के संयोगवश। आहाहा! तीन लोक का नाथ स्फटिकमणि जैसा चैतन्यमूर्ति (है), परन्तु अस्वभाविक जो भाव है, उसके साथ संयोगवश अनेक प्रकार के रंगवाले आश्रय की निकटता से रंगे हुए स्फटिक की तरह... स्फटिक पत्थर है, वह तो सब निर्मलानन्द है-निर्मल है, परन्तु संयोग लाल-पीले फूल के कारण उसमें लाल-पीले रंग दिखते हैं, वह उपाधि है। आहाहा! स्फटिक में लाल-पीले फूल के कारण उसमें छाया दिखती है, वह अपनी (स्फटिक की) योग्यता से हुई है। समझ में आया ? लकड़ी में हो तो लाल-पीले फूल हों तो छाया नहीं पड़ती क्योंकि उसकी योग्यता नहीं है परन्तु वह योग्यता भी उसका स्वभाव नहीं है — ऐसा बताना है।

आहाहा! स्फटिक में जो लाल-पीला दिखता है, वह उसका स्वभाव नहीं है; वैसे भगवान आत्मा में अस्वाभाविक जो विकार आदिक संयोग में दिखते हैं, वह उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! वास्तव में तो ज्ञान के इस भाव में वे ज्ञेयरूप से जानने में आते हैं परन्तु वैसा न मानकर वह चीज मेरी है — ऐसा मानता है, वह मिथ्यात्व भ्रम का सेवन करता है। आहाहा! समझ में आया ? यहाँ तो स्फटिकमणि का दृष्टान्त दिया है न ? कि

स्फटिकमणि में — आत्मा में अनेक प्रकार के बन्धन की उपाधि, अति निकट-नजदीक,.... आहाहा! यह सर्वविशुद्ध में आता है न? (चेतक-चैत्य भाव) ऐसा कि अति निकट है इसलिए; है तो परज्ञेय परन्तु अति निकटता के कारण एक है — ऐसा अज्ञानी को मालूम पड़ता है। आहाहा! सर्वविशुद्ध में आता है। समझ में आया? आहाहा!

अनेक प्रकार की बन्धन की.... निमित्त की **उपाधि की अति निकटता से वेगपूर्वक बहते हुए....** आहाहा! रागादिभाव वेगपूर्वक परिणमते अथवा **अस्वभावभावों के संयोगवश....** यह अस्वभावभावों के संयोग के आधीन है। आहाहा! **(अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव) अनेक प्रकार के वर्णवाले आश्रय की निकटता से....** स्फटिक.... **रंगे हुए स्फटिक-पाषाण जैसा है,....** आहाहा! स्फटिक-पाषाण में रंग के सम्बन्ध से मानो संयोग से मानो स्फटिक लाल-पीला आदि हो गया — ऐसे संयोगवश लोग मानते हैं; वैसे ही भगवान आत्मा... आहाहा! अति निकट विकार के भाव के सम्बन्ध से मानो मैं विकार (रूप) हो गया — ऐसा अज्ञानी मानते हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

जैनधर्म सूक्ष्म है, भाई! जैनधर्म, अर्थात् वस्तुधर्म; वस्तु का स्वरूप सूक्ष्म है। आहाहा! अभी तो यहाँ पहले सम्यग्दर्शन की बात चलती है। भेदज्ञान... आहाहा! भगवान आत्मा, स्फटिकमणि को लाल-पीले अनेक रंग के उपाधि के निमित्त से ऐसे लाल-पीली दिखने में आती है; वैसे ही भगवान आत्मा में पुण्य और पाप आदि विकारीभाव का निकटपना होने से... हैं तो परज्ञेय; स्वज्ञान का है तो परज्ञेय, परन्तु अति निकटता से दृष्टि वहाँ होने से रागादिभाव मेरा है — ऐसा अज्ञानी को अनुभव में आता है। आहाहा!

अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभावभावत्व से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गयी है.... आहाहा! उस स्फटिकमणि में लाल-पीले संयोग के कारण लाल-पीला भासित होता है, वह मानो स्फटिक की दशा है — ऐसा मानते हैं। वैसे अज्ञानी अपना चैतन्य ज्ञायकस्वभाव के समीप में रागादि अति निकटता से दिखाई देते हैं कि वह मेरी चीज है — ऐसा मानकर अज्ञानी मूढ़, राग का वेदन करते हैं.... आहाहा! अजीव का वेदन करते हैं, जीव नहीं — ऐसा कहते हैं। आहाहा! एक-एक श्लोक सूक्ष्म भरा है, भाई! आहाहा! है?

अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभावभावत्व से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गयी है.... इस राग से भिन्न भेदज्ञान, अज्ञानी को अस्त हो गया है, अस्त हो गया है, (उसने) एकत्वबुद्धि मान ली है। आहाहा! चाहे तो सूक्ष्म गुण-गुणी के भेद का राग उत्पन्न हो तो राग के साथ भगवान को (आत्मा को) एकता कभी हुई नहीं परन्तु अज्ञानी उस पर दृष्टि होने से राग से भिन्न भेदज्ञान अस्त हो गया और राग में एकत्व है — ऐसा मान लिया। आहाहा! ऐसा उपदेश है लो! **अस्त हो गयी है ऐसा है,....** अज्ञानी। भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु की विकारदशा की निकटता से भेदज्ञान ज्योति अस्त हो गयी, क्योंकि राग मैं हूँ — ऐसा अज्ञानी अनुभव करता है, यह अजीव का अनुभव है। आहाहा! कठिन काम!

महा अज्ञान से.... आहाहा! **जिसका हृदय स्वयं....** महा अज्ञान से अपने स्वभावभाव का.... जिसका हृदय **स्वयं स्वतः....** अपने से ही, कर्म के कारण से नहीं। समझ में आया? भाई! कर्म ऐसा है तो ऐसा नहीं, कहते हैं। आहाहा! कर्म तो परद्रव्य है, परद्रव्य को तो पर्याय स्पर्श ही नहीं करती। परद्रव्य की पर्याय अपने में स्पर्श नहीं करती। आहाहा! **महा अज्ञान से....** आहाहा! राग — अस्वभावभाव संयोग के वश से, इसको ऐसा हो गया है कि मैं यह हूँ और इससे भेदज्ञान ज्योति अस्त हो गयी है — ऐसा **महा अज्ञान से जिसका हृदय स्वयं....** अपने से **स्वतः विमोहित है....** कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! इसमें भी विवाद! यह तो दर्शनमोह का उदय हो, तब ऐसा होता है... कहते हैं। यह तो निमित्त का कथन है। समझ में आया? अपना स्वरूप चैतन्यस्वभाव, वह अस्वभाविक भाव-रागादि के साथ एकत्वबुद्धि करके उसको भेदज्ञान अस्त हो गया है, पर में विमोहित हो गया है। वह स्वयं अपने से विमोहित हुआ है। अपनी भूल से विमोहित हो गया है, कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! समझ में आया? 'कर्म विचारै कौन भूल मेरी अधिकाई,' भक्ति में — ऐसा आता है। आहाहा!

लोगों को इसमें भी विवाद है। कर्म के कारण विकार नहीं होता? हैं?

श्रोता : कर्म के कारण न हो तो विकार, स्वभाव हो जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकार स्वभाव हो जायेगा... बड़ी चर्चा हुई थी वर्णीजी के साथ

(संवत्) १३ के साल- २१ वर्ष पहले बड़ी चर्चा (हुई थी)। विकार है, वह कर्म के निमित्त से होता है। कहा — बिल्कुल नहीं; विकार अपने से (होता है); कर्म की अपेक्षा है ही नहीं परन्तु यह सब पूरे सम्प्रदाय में यह बात थी। श्वेताम्बर में तो इसकी ही पूरी मुख्यता है। समझ में आया? (श्वेताम्बर में) एक रामविजय है, उस रामविजय के साथ एक अपने हैं खेड़ावाले जेठाभाई, पक्के श्वेताम्बर और फिर उनके भगत थे और उसमें यहाँ का अपना वाँचन सुनने को आ गया। तब उन्हें ऐसा लगा कि भाई पचास प्रश्न निकाले उन्होंने कि इसका कोई जवाब दो, जो अपने में से मिले-श्वेताम्बर में से तो मुझे बदलना मिटेगा। पचास प्रश्न निकाले, किसी ने जवाब नहीं दिया। एक व्यक्ति ने जवाब दिया परन्तु सब मिथ्या। फिर रामविजय के साथ चर्चा करें, रामविजय के साथ बैठे, रामविजय ने पहले कहा — देखो भाई! इस कर्म से विकार होता है, यह पहले तुम्हें मान्य है? तो फिर चर्चा करेंगे। यह कहते हैं — यह हमें मान्य नहीं है, परन्तु श्वेताम्बर की पूरी शैली ही कर्म के कारण होता है और पर के कारण होता है — ऐसी पूरी विपरीत शैली है। आहाहा!

श्रोता : पूरे संसार की शैली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरे संसार की शैली है। क्या कहें भाई? यह तो — दिगम्बर तो कोई अलौकिक चीज है, कहीं है नहीं, कहीं....

इस बात पर बड़ी चर्चा हुई थी। जेठालाल न, जेठाभाई है अहमदाबाद, मुम्बई रहते हैं। रामविजय के साथ चर्चा हुई, वह मानो कि इन्होंने सोनगढ़ का सब सुना है। आहाहा! अपने चर्चा करें, परन्तु पहले यह मान्य है तुम्हें, ऐसा रामविजय ने कहा कि कर्म से विकार होता है, यह मान्य है? तो चर्चा करते हैं। यह कहता है यह मुझे मान्य नहीं है। वह उनके बड़े आचार्य रामविजय! ऐसी वस्तु क्या? पूरी दृष्टि ही विपरीत है। श्वेताम्बर की शैली ही पूरी दृष्टि विपरीत है। आहाहा! और लोगों को पता नहीं। ये श्वेताम्बर के साधु थे, देखो चेतनजी! कहाँ था कुछ? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि स्वयं। है? स्वतः ही दो शब्द तो पड़े हैं। इस अपने स्वभाव को भूलकर स्वयं स्वतः ही अपने से विमोहित है। राग में अपनापन वह विमोहित स्वयंसिद्ध अपने से है, किसी पर के कारण से है नहीं। आहाहा! परन्तु यह शास्त्र में ऐसा

आता है न ? ज्ञानावरणीय कर्म, ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को रोकता है। अरे! ऐसा है नहीं। सुन तो सही! यह तो निमित्त का कथन है। ज्ञानपर्याय अपने से हीन परिणमति है तो ज्ञानावरणीय कर्म को निमित्त कहा गया है। निमित्त से यहाँ ज्ञानावरणीय आत्मा को रोके, यह बात है नहीं। परद्रव्य आत्मा को रोके — ऐसी बात है नहीं। ऐई..! आहाहा! ऐसी बात है, भाई! मार्ग यह है, भाई! आहाहा! सन्त कहते हैं और आचार्य महाराज... आहाहा! ऐसा कहते हैं कि देखो क्या ?

जिसका हृदय स्वयं स्वतः ही विमोहित है — ऐसा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव स्व-पर का भेद न करके,.... आहाहा! यह राग जो दया, दान, व्रत आदि का विकल्प है, वह राग है। आहाहा! उससे भिन्न न करके, आहाहा! **स्व-पर का भेद न करके....** मैं ज्ञानानन्द हूँ और यह राग पर है। आहाहा! **उन अस्वभावभावों को ही....** यह पुण्य और पाप के रागादि अस्वभावभाव हैं। **(जो अपने स्वभाव नहीं हैं — ऐसे विभावों को ही) अपना करता हुआ,....** आहाहा! यह व्यवहार का राग आदि आया, उसको अपना करता हुआ। है अस्वभावभाव; अपना स्वभाव नहीं। आहाहा! इसमें कहाँ फुर्सत (है) ? धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं। आहाहा!

अपना करता हुआ,.... आहाहा! **पुद्गलद्रव्य को 'यह मेरा है'....** वास्तव में यह रागादि पुद्गलद्रव्य ही है; जीवद्रव्य नहीं। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा विकल्प है, वह पुद्गल है। जीव नहीं इसलिए पुद्गल, जीव में उसका अभाव है, इसलिए... (पुद्गल है।) आहाहा! इस पुद्गल को ही यह मेरा है, **इस प्रकार अनुभव करता है....** आहाहा! अज्ञानी, राग को मेरा है, जो अस्वभावभाव है, वह स्वभावभाव-ज्ञायक से भिन्न है — ऐसा भिन्न को अपना मानता है और उसका कर्ता होता है और उसका अनुभव करता है। आहाहा! अब इसमें एक-एक पद और एक-एक श्लोक समझना कठिन! वह समयसार पन्द्रह दिन में पढ़ गया — एक व्यक्ति कहता है। तुम समयसार की बहुत महिमा करते हो... बापू! अक्षर पढ़ गया, इसका एक-एक पद और एक-एक शब्द सन्तों की — दिगम्बर मुनियों की वाणी है। आहाहा! आहाहा!

यह अपना ज्ञायकस्वभाव जीव वस्तु और रागादि — चाहे तो दया, दान, व्रत,

भक्ति का विकल्प हो परन्तु वह राग, अस्वभावभाव है; वह अस्वभावभाव अपने से भिन्न है। आत्मा अस्वभावभाव से तादात्म्यवृत्ति / एकरूप कभी नहीं हुआ, तथापि अज्ञानी अपने स्वभाव को न जानकर, अस्वभावभाव को अपना मानकर कर्ता होता है। आहाहा! वास्तव में अस्वभावभाव, वह ज्ञानी को परज्ञेयरूप से जानने में आता है। ऐसी बातें हैं! यह तुम्हारे जवाहरात की अपेक्षा यह सब दूसरे प्रकार यहाँ है। आहाहा! बापू! मार्ग (अलौकिक है)! वह सब धूल की जवाहरात है। सब भटकने की...

श्रोता : वह जड़ जवाहरात है, यह चेतन जवाहरात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! प्रभु! तू चैतन्य जवेरी अन्दर है न प्रभु! आहाहा! अनन्त... अनन्त गुण के रत्न के गोदाम अन्दर पड़े हैं न प्रभु! आहाहा! कल कमरा कहा था, गुजराती में ओरडा (कहते हैं)। आहाहा! उसमें यह विकार-फिकार है ही नहीं। जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधता है, वह भाव भी आत्मा में नहीं है, वह आत्मा का नहीं है। आहाहा! अज्ञानी, स्वभावभाव के साथ विभावभाव का एकरूप नहीं होने पर भी, वह रागादि मैं हूँ — ऐसा कर्ता होकर स्वभाव को भूल जाता है और कर्ता होकर राग का कर्ता होता है। (ऐसा) अनुभव होता है। आहाहा!

विशेष आयेगा, लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८५ गाथा-२३ से २५ दिनाङ्क १३-०९-१९७८ बुधवार
भाद्र शुक्ला १२, वीर निर्वाण संवत् २५०४ उत्तमत्यागधर्म

(दशलक्षण धर्म का) आठवाँ दिन है त्याग.... त्याग (धर्म)

जो चयदि मिट्ठभोज्जं, उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स॥ ४०१॥

मुनि की व्याख्या है। जिन्हें अपना आत्मा ज्ञानस्वरूपी आनन्द का अन्तर अनुभव हुआ हो, तदुपरान्त स्वरूप में प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया हो, उन मुनि की बात है, उन मुनि को त्यागधर्म है। त्याग की व्याख्या – मुनि को संसार, देह, भोग के ममत्व

का त्याग है ही; अब, जिस वस्तु के साथ वर्तमान में काम पड़ता है, वह भोजन। भोजन में इष्ट भोजन को छोड़ते हैं। आहाहा! आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष इष्ट भोजन भी छोड़ देते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के... आहाहा! अनुभव और वेदन के समक्ष मुनि, प्रिय भोजन-इष्ट भोजन छोड़ देते हैं, उसका नाम त्याग है।

उपकरण के सम्बन्ध में उसमें राग-द्वेष का त्याग, जो उपकरण मिले हैं उनमें राग -द्वेष का (त्याग)। अनुकूल है — ऐसा नहीं रखते या जिसमें राग हो, और.... आहार, उपकरण, वस्ती, तीन के साथ सम्बन्ध, तीनों में राग का त्याग करते हैं। आहाहा! ममत्व का हेतु बड़ी बस्ती, मकान आदि हो तो आनन्द के स्वाद के आगे उसकी कोई कीमत नहीं है, वह बस्ती छोड़ दे उसका नाम त्यागधर्म कहा जाता है। त्याग अर्थात् यह बाह्य स्त्री, कुटुम्ब, परिवार का त्याग, वह तो है ही। संसार भोग, देह के ममत्व का त्याग तो है ही। उसकी बात है। आहाहा!

बस्ती, भोजन, और उपकरण — तीन के साथ सम्बन्ध है — तीन। तो इनके प्रति ममत्व की वृत्ति का (त्याग करते हैं)। आनन्द का स्वाद लेकर, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद... आहाहा! अनुभव में विशेष सुख का स्वाद आता है तो वह बस्ती छोड़ देते हैं। आहाहा! इसका नाम त्याग है। वह आठवाँ दिन है। आज ? बुधवार, बुधवार से।

यहाँ यह गाथा आयी। कहाँ तक आया ? अप्रतिबुद्ध... **महा अज्ञान से जिसका हृदय स्वयं अपने से ही विमोहित है — ऐसा अप्रतिबुद्ध...** है ? पाँचवीं लाइन है। क्या कहते हैं ? जैसे स्फटिक में... स्फटिक निर्मल होने पर भी, संयोग आदि में अथवा जिस चीज में स्फटिक रखा हो, उसकी झाँईं अन्दर पड़ती है। पीतल का बर्तन हो तो उसकी झाँईं पड़ती है, वह उपाधि है; उसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप स्फटिक जैसा है, उसमें राग और पुण्य-पाप के भाव की झाँईं — उपाधि दिखती है। आहाहा! वह अस्वभावभाव है, शुभ-अशुभभाव.... आहाहा! वह अस्वभावभाव है, वह स्वभावभाव रहित है, उसे अपना मानकर अज्ञानी, अस्वभावभाव को अपना मानता है और वेदन करता है। आहाहा! परन्तु अपना आत्मा क्या है — उसका ज्ञानी को ज्ञान है; अज्ञानी को उसका पता नहीं है। आहाहा!

राग है परन्तु राग को जाननेवाला आत्मा भिन्न है — ऐसा ज्ञानी को ज्ञान है, अज्ञानी को पता नहीं। आहाहा! राग है, बहुत सूक्ष्म बात बापू! राग है, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो तो वह शुभराग है, अस्वभावभाव है परन्तु उसे जाननेवाला यह है, ऐसा जानता कौन है? किसकी सत्ता में यह राग है — ऐसा ज्ञात होता है? समझ में आया? ज्ञान की सत्ता में वह राग, ज्ञात होता है। आहाहा! यह स्वभावभाव मैं हूँ — ऐसा अज्ञानी नहीं मानकर, यह दया, दान का विकल्प - राग आया, वह उपाधि है, वह अस्वभावभाव है, वह विभावभाव है... आहाहा! उसे अपना मानता है, अज्ञानी उसे अपना मानता है। है?

हृदय स्वयं अपने से ही विमोहित है — ऐसा अप्रतिबुद्ध जीव स्व-पर का भेद नहीं करके.... आहाहा! यह राग और स्वभाव भिन्न है — ऐसा दो का भेदज्ञान अज्ञानी नहीं करता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा! **उन अस्वभावभावों को ही....** ये पुण्य-पाप के विकल्प, राग, उससे स्व का भेद नहीं करके, अस्वभावभावों को ही... है? आहाहा! **(अपना स्वभाव नहीं ऐसे विभावों को ही) अपना करता हुआ....** आहाहा! जानने-देखनेवाला भगवान ये स्वभावभाव से राग भिन्न है, और राग अस्वभावभाव से स्वभाव भिन्न है। आहाहा! ऐसा अनन्त बार मुनिपना लिया, द्रव्यलिङ्गी साधु हुआ परन्तु राग और आत्मा दोनों को एक मानकर, अस्वभावभाव में अपना लाभ मानकर मिथ्यादृष्टि रहा। आहाहा! समझ में आया? ऐसा कठिन काम है, भाई!

पुद्गलद्रव्य ही मेरा है.... यह रागादि पुद्गलद्रव्य है; वास्तव में आत्मद्रव्य नहीं है। आहाहा! चाहे तो वह शुभराग हो परन्तु वह राग, पुद्गल-जड़ है; चैतन्य नहीं। क्योंकि वह राग जानता नहीं है। राग जानता नहीं है; राग, ज्ञान द्वारा जानने में आता है; इसलिए राग पुद्गल और अचेतन है; भगवान उससे भिन्न हैं। आहाहा! परन्तु उसका इसे पता नहीं है, स्व और पर की भिन्नता का भान नहीं है; इसलिए पर को अपना भाव मानता है। है? आहाहा! **यह मेरा है; इस प्रकार अनुभव करता है।**

कोष्टक में **(जैसे स्फटिक पाषाण में अनेक प्रकार के वर्णों की निकटता से अनेक वर्णरूपता दिखायी देती है....)** स्फटिक में ऐसा दिखाई देता है। **(स्फटिक का निज श्वेत निर्मल भाव दिखायी नहीं देता....)** आहाहा! स्फटिक जिस बर्तन में

रखा हो, उसकी झाँईं दिखायी देती है, उसे अज्ञानी स्फटिक मानते हैं। इसी प्रकार **अज्ञानी को कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है....** आहा...हा... ! ये पुण्य और पाप के विकल्प का राग — चाहे तो दया का राग हो, चाहे तो भक्ति का राग हो... आहाहा ! परन्तु उस राग — अस्वभावभाव को अपना मानकर... आहाहा ! **शुद्धस्वभाव आच्छादित हो रहा है....** राग को अपना मानने से, राग को जाननेवाला भगवान ज्ञानस्वरूप आच्छादित-ढँक रहा है। आहाहा ! राग की प्रीति के प्रेम में ज्ञानस्वरूपी भगवान ढँक गया है। अरे...अरे... ! ऐसी बातें हैं। आहा !

जैसे लाल-पीला आदि बर्तन हो, उसमें स्फटिक रखने से उसमें उसकी उपाधि दिखती है तो उसे निर्मल स्वभाव नहीं दिखता; इसी प्रकार अज्ञानी, अपना चैतन्य ज्ञान-स्वभाव प्रभु है, उसे राग की उपाधि से अपना मानकर, उसे स्वच्छता का ज्ञान नहीं होता, आहाहा ! **कर्म की उपाधि से....** अर्थात् रागादि। **आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है....** दिखायी नहीं देता। राग को ही देखनेवाले को... आहाहा ! राग को ही जाननेवाला वहाँ ढँक गया, उसे राग ही रह गया, आहाहा ! मैं तो राग हूँ — ऐसा अज्ञानी को राग की उपाधि से ज्ञानस्वभाव ढँक गया, तिरोभूत हो गया, दृष्टि में नहीं रहा। आहाहा !

(इसलिए पुद्‌गलद्रव्य को अपना मानता है...) आहाहा ! भगवान ज्ञान-चैतन्य चमत्कार, आनन्दकन्द प्रभु, राग के प्रेम में, अस्वभावभाव की एकत्वबुद्धि में स्वभावभाव ढँक गया तो वह स्वभावभाव दिखायी नहीं देता; अकेला राग ही दिखायी देता है। आहाहा ! ऐसी बातें अब ! यह समयग्दर्शन होने की रीति है। आहाहा ! **ऐसे अज्ञानी को अब समझाया जा रहा है कि....** देखो, यह समयसार अज्ञानी को समझाया जा रहा है। अप्रतिबुद्ध को यह समझाया जा रहा है। आहाहा !

रे दुरात्मन् !... आहाहा ! सन्तों की करुणा है, करुणा, हों ! आहाहा ! प्रभु ! तू राग और पुण्य का जो परिणाम है, वह पुद्‌गल है, उसे अपना मानता है, हे दुरात्मन ! हे दुष्ट आत्मा ! आहाहा ! सन्तों की करुणा है, अरे... ! तू क्या मानता है ? भाई ! आहाहा ! तेरी चीज इस राग के विकल्प से महाचैतन्य चमत्कार भिन्न पड़ी है न ! आहाहा ! उसे तो तू मानता

नहीं, जानता नहीं और जो तेरी चीज में नहीं — ऐसे रागादि पुद्गल को अपना मानता है, दुरात्मन्! तेरी दृष्टि मूढ़ है। आहाहा!

राग में सुखबुद्धि होती है तो आनन्दकन्द का नाथ वहाँ ढँक गया। आहाहा! यह राग के विकल्प में ठीक है, सुख है, मजा है, ऐसा माननेवाले ने राग, पुद्गल है उसे अपना माना। राग से (भिन्न) आनन्दस्वरूप भगवान में आनन्द है, आत्मा आनन्दस्वरूप है — ऐसा हे दुरात्मन्! तूने नहीं माना। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें! अभी तो सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की बात चलती है। मुनिपना, बापू! यह तो कोई अलौकिक वस्तु है। क्या हो? समझ में आया? यहाँ तो भगवान अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की चमत्कारी वस्तु है, उसे राग की उपाधि में राग को ही अपना मानकर चैतन्य-चमत्कार, राग से भिन्न है, उसे छोड़ देता है। जो स्वभावभाव है, उसे नहीं मानता; अस्वभावभाव है, उसे मानता है। आहाहा!

दूसरे प्रकार से कहें तो यह राग है वह पुद्गल-अजीव है। अजीवभाव में आत्मा रुककर, त्रिकाली ज्ञान-जीवस्वभाव उसे ढँक गया। आहाहा! ऐसी बातें अब, लो! पहले तो 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये....' पहाड़े बोलता है, किसकी दया? आहाहा! पर की दया का भाव तो राग है और राग को देखनेवाला पुद्गल को देखता है। आहाहा! भगवान की भक्ति भी राग है, शास्त्र की भक्ति भी राग है और तू राग को देखता है तो उस पुद्गल को ही तू देखता है, उस अजीव को तू देखता है और अस्वभावभाव है, वही मेरा है — ऐसा तू मानता है। आहाहा! कठिन बात, आहाहा!

श्रोता : राग में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्ण, गन्ध नहीं परन्तु अचेतन है। चैतन्य-चमत्कार ज्ञानस्वरूप भगवान की किरण राग में नहीं है; इस कारण राग को अचेतन और पुद्गल कहा गया है। आहाहा! चाहे तो पंच महाव्रत का राग-विकल्प हो तो भी वह अचेतन है। चैतन्यप्रकाश की मूर्ति भगवान सूर्य की किरण उसमें नहीं है। वह चैतन्यरूपी सूर्य की किरण राग में नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। इस कारण राग को अचेतन कहकर पुद्गल कहा है। आहाहा! यह श्रवण में भी जो राग उत्पन्न होता है, वह राग पुद्गल है। आहाहा! क्योंकि चैतन्यस्वभाव

का उसमें अभाव है, आहाहा! ऐसे पुद्गल को अपना मानकर अज्ञानी अपना स्वरूप, राग है — ऐसा मानता है। हे दुरात्मन! आहाहा! सन्तों की कड़क भाषा नहीं (परन्तु) करुणा है। आहाहा!

अरे भगवान! यह दया, दान, व्रत, भक्ति का राग तो पुद्गल है। अरर! यह बात! पंच महाव्रत का विकल्प, राग है, आहाहा! वह पुद्गल है। हे दुरात्मन्! तू पुद्गल को अपना क्यों मानता है ? आहाहा! पैसे-बैसे की बात तो कहाँ रह गयी! वह तो धूल कहाँ (रह गयी)। उसे अपनी माने वह तो महामूढ़ है, महामूढ़! आहाहा! यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव कहते हैं, उसे सन्त, आड़तिया होकर जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! वीतरागी दिगम्बर सन्त हैं, आहाहा! आनन्द और आनन्द की वीतराग दशा में झूलते-झूलते सन्तों को करुणा से विकल्प आया। आहाहा!

ऐसे एक ओर 'भगवान आत्मा' ऐसा कहे और यहाँ 'दुरात्मन्' ऐसा कहा। ७२ गाथा में ऐसा कहा कि यह पुण्य और पापभाव प्रभु! अशुचि है, मैल है, नाक की गन्दगी-मैल है, यह मैल है, अचेतन है, जड़ है। भगवान-ऐसा शब्द लिया है। भगवान! तू तो निर्मल आनन्द ज्ञानस्वरूप है न! प्रभु! आहाहा! समझ में आया ? यहाँ राग को पुद्गलरूप से गिनकर (अजीव का कहा) और अज्ञानी अपने आत्मा का है — ऐसा मानता है। गिना किसने ? ज्ञानियों ने (पुद्गलरूप से) गिनकर... आहाहा! (अज्ञानी) उस राग को अपना मानता है और वह राग करते-करते कल्याण होगा (ऐसा मानता है)। आहाहा! यह पंच महाव्रत पालते-पालते, व्यवहार रत्नत्रय करते-करते (कल्याण मानता है)। पुद्गल करते-करते पुद्गल से चैतन्य जागृत होगा (— ऐसा मानता है)। आहाहा!

हे दुरात्मन्!... आहाहा! क्योंकि राग को अपना मानता है, यह तेरा आत्मा दुरात्मा है। आहाहा! **आत्मघात करनेवाले!....** आत्मघात करनेवाले, आहाहा! यह राग का कण-विकल्प, वृत्ति उत्पन्न हुई — दया, दान, व्रत, भक्ति के राग की वृत्ति को अपनी मानकर आत्मघाती है। तू आत्मा का घात करनेवाला है, प्रभु! आहाहा! ऐसी तो दिगम्बर सन्त करुणा से बात करते हैं। आहाहा! जंगलवासी सन्त, सिद्ध के साथ बातें करनेवाले (हैं, वे)जगत् के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्यदेव भगवान के पास

गये थे। संवत् ४९, दो हजार वर्ष पहले (गये थे) भगवान तो विराजमान हैं, अभी पाँच सौ धनुष की देह है। आहाहा! वहाँ आठ दिन रहे और वहाँ श्रुतकेवली के पास चर्चा करके कितना ही समाधान हुआ। यहाँ आये और तत्पश्चात् यह शास्त्र बनाये। आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान। सीम-अपनी मर्यादा में-आनन्द में-वीतरागस्वभाव में (रहनेवाले), उन सीमन्धर भगवान की पाँच सौ धनुष की देह है, करोड़ पूर्व की आयु है। श्वेताम्बर में चौरासी लाख पूर्व की आयु कहते हैं — ऐसा नहीं है, करोड़ पूर्व की आयु है। श्वेताम्बर ने सब बातें बहुत कल्पित कर डाली है। क्या कहें ? अरेरे!

श्रोता : उन्हें सहारा देनेवाले मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सब अज्ञानी हो तो इकट्ठे मिलते ही है न! आहाहा! करोड़पूर्व की प्रभु की आयु है। समवसरण में विराजमान हैं। आहाहा! वहाँ आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर यह बनाया, फिर एक हजार वर्ष बाद अमृतचन्द्राचार्यदेव हुए, उनकी यह टीका है। आहाहा!

हे आत्मघाती! आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु है। ऐसे स्वभाववान को नहीं माननेवाला और अस्वभाव राग, पुद्गल है (उसे अपना) माननेवाला आत्मघाती है। तूने आत्मा के शुद्धस्वभाव का अनादर किया है। यह तूने आत्मा का घात किया है। युगलजी! ऐसी बात है। आहाहा! चाहे तो शास्त्र श्रवण का राग हो... आहाहा! शास्त्र कहने का विकल्प हो परन्तु वह राग, पुद्गल है। आहाहा! प्रभु! उसमें चैतन्य के नूर के तेज का प्रवाह नहीं आया। आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में शुद्ध चैतन्य का प्रवाह आता है। आहाहा! राग और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि भाव या हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना के भाव में भगवान चैतन्य का रस अंश भी नहीं आया। आहाहा! जिसमें अचेतनपना, पुद्गलपना है, उसे प्रभु! तूने अपना माना है तो तू आत्मघाती है, प्रभु! आहाहा!

श्रोता : स्वभाव और अस्वभाव की स्पष्टता अभी होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य। ऐसी (बात है) बापू! भाई, क्या हो ? आहाहा!

निर्मलानन्द चैतन्यस्वरूप स्व-पर प्रकाशक स्वभाव का सागर प्रभु है — ऐसे

अपने स्वरूप को नहीं मानकर, उससे विपरीत रागादि जो पुद्‌गल-अचेतन-जड़ है, उन्हें अपना मानकर वहाँ रुक गया (तो तू) आत्मघाती हुआ। आहाहा! भगवान चैतन्यमूर्ति निर्मलानन्द प्रभु श्रद्धा में आना रह गया। रागादि मैं हूँ यह (श्रद्धा) तूने की। क्रियाकाण्ड में सामायिक और प्रौषध और प्रतिक्रमण करता है, वह राग है, राग है। सामायिक (कैसी) ? समकित दृष्टि बिना सामायिक कैसी ? आहाहा! बहुत कठिन काम, सामायिक करूँ और प्रौषध करूँ और प्रतिक्रमण करूँ, यह सब तो विकल्प-राग है, वह पुद्‌गल है। उस पुद्‌गल को अपना माननेवाला चैतन्य आनन्द के नाथ का घात कर डालता है। वह नहीं, मैं यह हूँ। आहाहा! ऐसी बात है।

आहाहा! सन्तों की करुणा तो देखो! हे दुरात्मन्! राग की वृत्ति उत्पन्न हुई, ज्ञानानन्दस्वभाव में राग नहीं है, वह राग आया कि दया पालूँ और यह करूँ और वह करूँ, वह वृत्ति उपाधि है। आहाहा! वह पुद्‌गल है, अचेतन है, अजीव है, जड़ है, मैल है, दुःख है। आहाहा! उसे तू अपना मानता है और भगवान चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु का अनादर करता है तो विद्यमान चीज को तूने अविद्यमान कर डाली और अविद्यमान चीज को तूने विद्यमान कर डाली। रागादि अविद्यमान चीज है, वास्तव में अन्दर नहीं है। समझ में आया ? उनका सत्‌पना तूने स्वीकार किया तो भगवान सत्‌स्वरूप त्रिकाल का तूने अनादर कर डाला। आहाहा! बहुत कठिन काम! दुनिया को अभी यह मिलना बहुत कठिन! बस! आठ दिन, दस दिन हो आठ अपवास करे, उसमें रात्रिभोजन त्याग करे (तो) ओहोहो! गजब किया! महीने के अपवास (करे) महीने-महीने के अपवास! थे कब उपवास ? तेरा लंघन है। वह तो क्रियाकाण्ड का राग मन्द किया हो तो पुण्य है। मान के लिए करे और यह अपवास करेंगे तो.... क्या कहलाता है वह ? उच्छामणी करे, आहाहा! फिर पाँच-पच्चीस हजार खर्च करे तो अपना मान रहे.... बहू ने बहुत अच्छी तपस्या की थी (यह भाव) तो पाप है। कदाचित् राग मन्द किया हो तो वह पुण्य है, पुद्‌गल है, राग है; वह धर्म नहीं। आहाहा!

रे दुरात्मन्! आत्मघात करनेवाले!.... आहाहा! महाप्रभु चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा चैतन्य चमत्कार के अस्तित्व का तो तूने घात कर दिया, प्रभु! आहाहा! और राग को तूने जीवित

रखा, वह तेरा जीवन हो गया; पुद्गल में तेरा जीवन हो गया। **जैसे परम अविवेकपूर्वक....** भाषा देखो! **जैसे परम अविवेकपूर्वक खानेवाले हाथी....** हाथी आदि पशु। हाथी को चूरमा देते हैं न? साथ में घास हो, घास; चूरमा के साथ घास हो, वह **हाथी आदि पशु सुन्दर आहार को तृणसहित खा जाते हैं....** आहाहा! वह सुन्दर आहार चूरमा हो, उसे घास के साथ खा जाते हैं परन्तु घास और चूरमा भिन्न है, इसका पता नहीं है। आहाहा! पडसा होता है न? हमारी काठियावाड़ी भाषा है। पडसा समझे? काशीफल, पडसा होता है। इतना-इतना चौड़ा होता है, उसमें चूरमा या रोटी या लड्डू डालकर (दें फिर) खाता है। आहाहा!

परम अविवेकपूर्वक खानेवाले हाथी आदि पशु सुन्दर आहार को तृणसहित खा जाते हैं.... आहाहा! उस तृणसहित चूरमा को खा जाते हैं। **उसी प्रकार खाने के स्वभाव को तू छोड़,....** आहाहा! राग मेरा है — ऐसा अनुभव छोड़। आहाहा! जीव अधिकार है न? इस राग को अजीव में — पुद्गल में डाल दिया है। आहाहा! यहाँ तो अभी व्यवहाररत्नत्रय अच्छा करे तो निश्चय पाये, पहुँच सके (ऐसा मानते हैं)। अरे...! प्रभु! यह तू क्या करता है? भगवान के विरह में तूने क्या किया? प्रभु! लोक को प्रसन्न रखकर यह तूने क्या किया? लोग प्रसन्न हों कि आहाहा! देखा? व्यवहार से भी निश्चय प्राप्त होता है, एकान्त निश्चय से ही निश्चय प्राप्त होता है — ऐसा नहीं। वे सुननेवाले, आहाहा! सुननेवाले को और कहनेवाले को कुछ पता नहीं होता। आहाहा!

श्रोता : दृष्टान्त दीजिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त कहा न यह! दूसरे को ऐसा कहते हैं — तू यह दया, दान, व्रत के परिणाम करता है तो तेरा कल्याण होगा, इससे तुझे सम्यग्दर्शन होगा। आहाहा! पुद्गल खाते-खाते तुझे आत्मा का आनन्द होगा... जहर खाते-खाते तुझे अमृत की डकार आयेगी! आहाहा! भाई! मार्ग बहुत अलौकिक है! सच्चिदानन्द प्रभु, जिसमें प्रभु में-आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द ठसाठस भरा है, भाई! तुझे पता नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर सागर प्रभु पूरा है, उसे तू नहीं मानकर, राग के स्वाद में तेरी मिठास आ गयी। आहाहा! वह हाथी आदि अविवेकी (प्राणी) घास के साथ चूरमा खाता है, वैसे तू

राग के साथ आत्मा का अनुभव करता है परन्तु आत्मा वैसा है नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। फिर लोग 'सोनगढ़' का कहते हैं न? कहो प्रभु! शास्त्र है तो भगवान का; यह कहीं (यहाँ का नहीं है) सोनगढ़ का एकान्त है, निश्चयाभास है... कहो प्रभु! आहाहा! बापू! तेरा पन्थ कोई अलग प्रकार का है नाथ!

यहाँ आचार्य कहते हैं **उसी प्रकार खाने के स्वभाव को तू छोड़, छोड़।...** आहाहा! यह राग मेरा है ऐसा अनुभव छोड़। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का शास्त्र का (राग) आया हो, शास्त्र को वन्दन करने का भाव राग है और राग का अनुभव है, वह पुद्गल का अनुभव है। आहाहा! हे आत्मा! वह तू छोड़। आहाहा! दो बार कहा — **छोड़, छोड़।...** यह राग का अनुभव, हाथी जैसे चूरमा के साथ घास खाता है, वह तू छोड़! वैसे भगवान का राग के साथ अनुभव करता है, उस राग को छोड़, वह राग तेरी चीज नहीं है। आहाहा! राग किसे कहना यह अभी पता नहीं होता। स्त्री, पुत्र के प्रति राग करो, अमुक करो, यह राग... परन्तु दया पालना और पंच महाव्रत का भाव, वह भी राग है। आहाहा!

श्रोता : भगवान के दर्शन करने का भाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के दर्शन करना, वह राग है।

श्रोता : आपका व्याख्यान सुनना वह?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग है श्रवण का — कहा न? इस पुस्तक का वाँचन करना, वह विकल्प राग है। आहाहा! भाई! वह हो, परन्तु वह तू नहीं है; वह तेरी चीज नहीं है प्रभु! आहाहा! अरे! अनन्त काल से भटक रहा, बिना भान भगवान; सेव्या नहीं गुरु सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान। सन्त किसे कहना? और किसे कहना ज्ञानी? बापू! अरेरे! वन-जंगल में रण में अकेला हो वैसे अभी अकेले हो गये हैं। आहाहा!

भगवान परमात्मा ऐसा फरमाते हैं, प्रभु! तू एक बार मेरी बात सुन! आहाहा! जिसे तू धर्म मानता है — दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, वह राग है, पुद्गल है, अचेतन है, जड़ है, अजीव है। उसका अनुभव है, वह आत्मा का अनुभव है — ऐसी दृष्टि छोड़ दे। आहाहा! कठिन काम इसमें, भाई!

जिसने समस्त सन्देह,.... अब क्या कहते हैं? भाई! प्रभु! भगवान आत्मा तो सर्वज्ञदेव ने उसे कहा है। यह राग कहीं आत्मा नहीं है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधता है, वह भाव, राग है; वह आत्मा नहीं। आहाहा! लो, 'षोढस कारण भावना भाय, तीर्थंकर पद पाये', नहीं आता? प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है। वह होता है समकिती को, परन्तु वह राग, पुद्गल-जड़ है। आहाहा! उससे तीर्थंकर प्रकृति का — जड़ परमाणु का बन्ध होता है। आहाहा! वह अबन्धभाव नहीं है। आहाहा!

तू भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब चन्द्र शीतलस्वरूप वीतरागमूर्ति शीतल शान्तस्वरूप है, उसमें अशान्त ऐसे विकल्प और राग को तू अपने अनुभव करता है, वह छोड़ दे, प्रभु! सुखी होना हो और धर्म पन्थ में जाना हो तो छोड़ दे! आहाहा! क्यों छोड़ दे? **जिसने समस्त सन्देह, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं....** भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने समस्त सन्देह, विपरीत और अनध्यवसायभाव दूर कर दिये हैं। **और जो विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने के लिए....** आहाहा! विश्व अर्थात् समस्त वस्तु-लोक-अलोक। **प्रकाशित करने के लिए एक अद्वितीय ज्योति है,....** अजोड़ ज्योति चैतन्यभगवान सर्वज्ञ हैं। आहाहा! सर्वज्ञ अरिहन्त परमेश्वर अद्वैत ज्योति, अजोड़ ज्योति हैं। उनके जैसी दूसरी कोई ज्योति जगत में है नहीं।

ऐसे सर्वज्ञ ज्ञान से स्फुट (प्रगट) किया गया.... त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर... आहाहा! सम्पूर्ण लोक और अलोक को प्रकाशित करनेवाले ऐसे सर्वज्ञ भगवान द्वारा (प्रगट) किया गया **जो नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य....** प्रभु ने तो आत्मा को उपयोगस्वरूप कहा है। जानना-देखना उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा है। वह रागरूप किस प्रकार हो गया? आहाहा! सर्वज्ञ **सव्वण्हुणाणदिट्ठो** सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर अरिहन्तदेव ने सर्वज्ञस्वभाव में जीव को उपयोगस्वरूप देखा है। जानन-देखन उपयोगी आत्मा। इस राग को भगवान ने आत्मा नहीं कहा है। आहाहा! यह तो बात-बात में अन्तर लगता है। क्या हो भाई! आहाहा!

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं, वह यह मुनि कहते हैं। भाई! सर्वज्ञ परमेश्वर लोकालोक के प्रकाशक हैं, उन्होंने तो... आहाहा! उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य कहा है। जीवद्रव्य अर्थात् भगवान आत्मा को अनन्त गुणवाला नहीं कहा परन्तु

उपयोगस्वरूप आत्मा कहा है। क्योंकि अनन्त-अनन्त गुण हैं तो अनन्त-अनन्त गुण के कितने भेद इसे बतलाना? यह एक चीज महाप्रभु उपयोग जिसका लक्षण है, आहाहा! उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा, वह जीवद्रव्य है, **उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य**.... आहाहा! अनन्त गुणस्वरूप जीवद्रव्य नहीं लिया। मुख्य लक्षण बताने के लिए ऐसा कहा कि जीव भगवान तो उपयोगस्वरूप उसका स्वभाव है न! आहाहा! जानना-देखना ऐसे उपयोगस्वरूप भगवान है न! आहाहा! जीवद्रव्य को ऐसा कहा।

सव्वण्हुणाणदिट्ठो पाठ है न? यह तो पाठ है, गाथा है, देखो न **सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।** आहाहा! उसे अनन्त गुणवाला है — ऐसा नहीं कहा। आहाहा! परन्तु जानना-देखना उपयोग जो मुख्य चीज है, जो विशिष्ट लक्षण है (वैसे स्वरूप कहा); इसलिए कहा न? **उवओगलक्खणो णिच्चं** — ऐसा कहा है। यह भगवान तो जानन-देखन उपयोग लक्षणस्वरूप है। वह तेरे राग में कैसे आ गया? आहाहा! समझ में आया?

चैतन्य के अनन्त गुणस्वरूप आत्मा — ऐसा नहीं लेकर, महाप्रभु उपयोग लक्षण निश्चय-ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को कहा है न! आहाहा! और **लक्खणो** लिया है। **उवओगलक्खणो णिच्चं सव्वण्हुणाणदिट्ठा** आहाहा! भगवान आत्मा को भगवान आत्मा ने उपयोग लक्षण देखा है, उसमें राग लक्षण और रागभाव आया कहाँ से? ऐसा कहते हैं। जानन-देखन उपयोग है न? आहाहा! दूसरे अनन्त गुण में ऐसा जानन-देखन (स्वरूप) नहीं है। आहाहा! ज्ञानप्रकाश, दर्शनप्रकाश, ऐसा जो उपयोग, उस उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा है। भगवान ने तो ऐसा कहा है और हे दुरात्मन! तू दया, दान के राग को अपना मानता है और पुद्गल से लाभ मानता है, यह कहाँ से लाया? ऐसी बातें हैं।

जिसके प्रकाश के तेज में स्व-पर ज्ञात हो — ऐसा उपयोगस्वरूप भगवान तो है, वह परस्वरूप नहीं। आहाहा! राग तो अनुपयोग है। राग — दया, दान, व्रतादि का विकल्प है, वह तेरा है — ऐसा मानता है (परन्तु) वह तो अनुपयोग है। आहाहा! भगवान तो जानन-देखन उपयोगस्वरूप है — ऐसा भगवान ने देखा है। भगवान ने तो ऐसा कहा है। जिन्हें तीन काल-तीन लोक का ज्ञान विश्व प्रकाशक है। विश्व अर्थात् समस्त का प्रकाशक। तीन काल-तीन लोक को एक समय में जाने — ऐसा प्रकाश (प्रगट है)।

आहाहा! ऐसी चैतन्यज्योति भगवान ने तो ऐसा कहा है कि जीव तो निश्चय से उपयोग लक्षण है। उसमें तेरा राग कहाँ से आया? आहाहा! वहाँ बैंगलोर में कुछ मिले — ऐसा नहीं। धूल आवे वह धूल — पैसा। आहाहा!

नित्य उपयोगस्वभावरूप.... यह एक शब्द पड़ा है। त्रिकाल ज्ञान उपयोग, दर्शन उपयोगस्वरूप वह है। आहाहा! वह रागरूप कभी नहीं हुआ, रागरूप होता नहीं। आहाहा! उपयोगस्वरूप जीव चैतन्य, वह अजीव — रागरूप कैसे हो? जो अनुपयोग है, उपयोग नहीं। आहाहा! समझ में आया? बात कहना सूक्ष्म और कहना कि समझ में आया? समझ में आता है? बापू! यह (बात) है, भाई! आहाहा!

एक विश्व को-सर्व को प्रकाशित करनेवाले भगवान सर्वज्ञदेव **सर्वज्ञ ज्ञान से स्फुट (प्रगट) किया गया....** सर्वज्ञ ज्ञान से प्रगट किया गया। **नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य....** देखो! नित्य उपयोगस्वरूप जीवद्रव्य — ऐसा भी नहीं कहा। नित्यस्वभाव — ऐसा नहीं कहा, नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य (कहा है)। आहाहा! जानन-देखन उपयोगस्वभावरूप.... आहाहा! जीवद्रव्य **वह पुद्गलद्रव्य कैसे हो गया....** वह रागरूप कैसे हो गया? आहाहा! ऐसी बातें हैं। युगलजी! भगवान का यह मार्ग है, भाई! आहाहा! दुनिया फिर चाहे जो कहो — एकान्त है, निश्चयाभास है — ऐसा कहे, प्रभु! भाई! तुझे राग के प्रेम में वस्तु भिन्न है, उसका भान नहीं है। आहाहा! उसे ऐसा कि ऐसी क्रिया करते हैं, महाव्रत पालते हैं, इन्द्रिय दमन करते हैं, आजीवन ब्रह्मचर्य पालते हैं तो भी कल्याण नहीं होगा? यह सब क्रिया राग की है, सुन तो सही! यह तो राग की वृत्ति का उत्थान है। भगवान आनन्दकन्द में वह उत्थान है ही नहीं। आहाहा!

कैसी गाथा है, देखो न! आहाहा! यह पुद्गलद्रव्य कैसे होगा? जिससे तू यह अनुभव करता है कि **'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'....** राग मेरा है। क्या हो गया तुझे? आहाहा! घास निकाल देने की चीज है, उसे चूरमा के साथ खाता है? राग पुद्गल है, उसके साथ आत्मा मेरा है — ऐसा अनुभव करता है? आहाहा! गजब है न? वास्तव में तो यह जीव-अजीव अधिकार है, इसलिए जो राग है — चाहे तो दया का, व्रत का, भक्ति-पूजा का, वह सब अजीव है, वह पुद्गल है, वह जड़ है, अचेतन है। अरर! ऐसा

सुनना (कठिन पड़ता है।) आहाहा ! सर्वज्ञ भगवान ने तो ऐसा कहा है। आहाहा ! तू ऐसा नया कहाँ से निकला कि यह राग की क्रिया करते-करते, अनुपयोग करते-करते उपयोग हो जायेगा ! आहाहा !

आहाहा ! **क्योंकि यदि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो....** किसी भी प्रकार से भगवान आनन्द और ज्ञान उपयोग, वह रागरूप हो... है ? **और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो....** और राग-पुद्गलद्रव्य है, वह जीवद्रव्यरूप हो... दृष्टान्त देंगे। **तभी 'नमक का पानी'....** आहाहा ! नमक का पानी। नमक होता है न ? गर्मी में पानी हो जाता है न ? गर्मी के कारण (पानी हो जाता है)। नमक का पानी पहले लेना है। पानी का नमक बाद में लेंगे। पानी का नमक होता है, यह बाद में... यहाँ तो पहले नमक का पानी (लेते हैं)। **इस प्रकार के अनुभव की भाँति....** आहाहा ! समझ में आया ? दृष्टान्त बाद में विशेष आयेगा... अभी इतना बाकी है।

पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो तभी 'नमक का पानी' इस प्रकार के अनुभव की भाँति ऐसी अनुभूति वास्तव में ठीक हो सकती है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है', किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकार से नहीं बनता। आहाहा ! जैसे नमक है, वह पानी हो जाता है; वैसे भगवान चैतन्य है, वह राग हो जाता है — ऐसा कभी नहीं बनता।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ८६ गाथा २३-२५ दिनाङ्क १४-०९-१९७८ गुरुवार
भाद्र शुक्ल १३, वीर निर्वाण संवत् २५०४ उत्तम आकिंचन्य धर्म

दशलक्षण पर्व में आकिंचन्य। यहाँ सम्यग्दर्शन में भी, एक राग का कण भी मेरा नहीं — ऐसी दृष्टि होती है। अधिकार चलेगा। यहाँ तो मुनिपने की बात है। सम्यग्दृष्टि को राग का कण और रजकण, वह मेरा नहीं है; मैं तो ज्ञायक आनन्दस्वरूप हूँ — ऐसी दृष्टि को यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उसको दूसरा राग-आसक्ति का होता है परन्तु वह मेरा है — ऐसा नहीं होता। यहाँ तो मुनि को आसक्ति का राग भी नहीं, यह बतलाते हैं। आहाहा ! आकिंचन्य है न ?

तिविहेण जो विवज्जदि चेयणमियरं च सव्वहा संगं।
लोयववहारविरदो णिग्गंथत्तं हवे तस्स॥४०२॥

जो मुनि लोक व्यवहार से विरक्त होकर 'चेयणं इधर्म स्वभाव संगम' चेतन में शिष्य और संग का ममत्व छोड़ दे... आहाहा! यह मेरा शिष्य है अथवा यह मेरा संघ है, यह भी छोड़ दे। 'चेयणं इधर्म' पुस्तक-पिच्छी, कमण्डल में भी ममत्व का जो अंश है, वह छोड़ दे। आहाहा! और अचेतन में आहार, बस्ती और देह... मुनि को आहार, रहने का स्थान और देह — उसमें से भी ममत्व छोड़ दे। चारित्रवन्त तो है, अपने स्वरूप में-आनन्द में रमनेवाला तो है परन्तु थोड़ा राग का अंश — किसी शिष्य से मेरा संघ है, मेरा शिष्य है, यह मेरा धर्म उपकरण, पिच्छी, कमण्डल, पुस्तक — इसकी भी वृत्ति ममत्व, स्वभाव के आश्रय से आनन्द का स्वाद लेने से उसे छोड़ दे। विशेष आत्मा का आनन्द का अनुभव लेने के लिए इस आसक्ति का राग भी छोड़ दे। आहाहा! 'तिविहेण' मन, वचन और काया, कृत, कारित और अनुमोदना... ऐसा मार्ग है। मुनिपना कैसा होता है? यह बतलाते हैं। समझ में आया? मुनि को वस्त्र या पात्र तो होते नहीं परन्तु शिष्य का संघ होता है या पिच्छी, कमण्डल और पुस्तक होते हैं। आहाहा! उनके प्रति भी ममत्व का अंश छोड़ दे — यह आकिंचन, मेरी कोई चीज नहीं है। आहाहा! मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द में रमनेवाला हूँ। आहाहा! इसको दशलक्षण पर्व में आकिंचन्य धर्म कहते हैं।

मुनि को वस्त्र और पात्र तो होता ही नहीं है। (वस्त्र-पात्रवाले) वे तो मुनि हैं नहीं। समझ में आया? यह वस्त्र-पात्र रखकर मुनि मानते हैं, वह तो मुनि है ही नहीं। वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! परन्तु जिसने वस्त्र और पात्र छोड़ दिया है, परन्तु अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र चारित्र का स्वाद लिया है, आहाहा! जिसकी नग्नदशा है और जिसको अचेतन मोरपिच्छी, कमण्डल, पुस्तक आदि होते हैं, उनके प्रति भी 'वह मैं नहीं', मैं नहीं — यह दृष्टि तो हो गयी है। यह तो अस्थिरता का राग, वह मैं नहीं। आहाहा! अकेला वीतरागी भाव, उस वीतरागी भाव में क्रीड़ा करते हैं, आनन्द में झूलते हैं। उसको आकिंचन्यभाव कहते हैं। यह नौवाँ (धर्म) हुआ।

अब चलता अधिकार। दृष्टान्त आया है न? दृष्टान्त। **दृष्टान्त देकर इसी बात को**

स्पष्ट करते हैं.... क्या ? कि यह आत्मा जो ज्ञायक चैतन्यस्वरूप है, वह कभी रागरूप नहीं होता; और राग है, वह चैतन्यस्वरूप नहीं होता। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन की बात है। आहाहा! **जैसे खारापन जिसका लक्षण है ऐसा नमक....** खारापन जिसका लक्षण, वह नमक। **पानीरूप होता हुआ दिखायी देता है...** वह नमक है, वह पानीरूप होता दिखायी देता है, पानी हो जाता है, नमक का पानी हो जाता है। आहाहा! दृष्टान्त तो कैसा देखो न! नमक है नमक, नमक वह पानी हो जाता है। एक बात! **और द्रवत्व (प्रवाहीपना) जिसका लक्षण है, ऐसा पानी....** खारा पानी होता है न नमक का, वह **पानी नमकरूप होता दिखायी देता है,...** जो खारापना है न लवण का, वह खारा हो जाता है, लवण हो जाता है। क्या कहा ? समझ में आया ? कि जो लवण है, वह पानीरूप-खारे पानीरूप हो जाता है, उसका स्वभाव है और पानी जो खारा है, वह लवणरूप हो जाता है — नमकरूप हो जाता है। ऊपर दृष्टान्त तो देखो! आहाहा! **क्योंकि खारेपन और द्रवत्व का एक साथ रहने में अविरोध है,....** खारापन और द्रवत्व — पानी होना, यह तो उसका स्वभाव है, यह तो अविरोध है। नमक है, वह पानी हो जाना, वह तो अविरोध है, कोई विरोध नहीं है। समझ में आया ? आहाहा! **अर्थात् उसमें कोई बाधा नहीं आती,....** यह तो दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार लवण की डली है, वह खारे पानीरूप हो जाये और खारा पानी है, वह लवणरूप हो जाये तो इसमें कोई विरोध नहीं है। आहाहा!

अब दृष्टान्त का सिद्धान्त। **नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य....** आहाहा! जैसे नमक की डली, वह पानीरूप हो, खारे पानीरूप हो परन्तु आत्मा नित्य उपयोग लक्षणवाला जीवद्रव्य, **पुद्गलद्रव्य होता हुआ दिखायी नहीं देता....** वह रागरूप होता है — ऐसा दिखायी नहीं देता। आहाहा! समझ में आया ? नमक की डली, पानीरूप — खारे पानीरूप होती दिखती है; वैसे भगवान उपयोगलक्षण-ज्ञानदर्शन उपयोग — ऐसा उपयोगस्वरूप भगवान, कभी दया, दान के राग, कभी रागरूप हो जाये — ऐसा कभी नहीं होता। आहाहा! समझ में आया ?

दृष्टान्त तो समझ में आये ऐसा है — सीधी बात है। आहाहा! भगवान, नित्य उपयोग जिसका लक्षण है — **'सव्वण्हु णाणदिठ्ठो जीवो उपयोग लख्खणो निच्चं'**

यह तो जानन-देखन उपयोगस्वरूप भगवान त्रिकाल है। जो उपयोगस्वरूप भगवान (आत्मा), वह क्या अनउपयोगरूप-रागरूप कभी होता है? नमक का — लवण का पानी होता है, यह तो अविरोध है परन्तु उपयोग लक्षणस्वरूप (आत्मा), वह अनउपयोग रागरूप कभी होता है? यह तो विरोध है। आहाहा! शरीर और वाणीरूप नहीं होता — यह प्रश्न यहाँ है नहीं। यहाँ तो भगवान चैतन्यदल, उपयोग लक्षण नित्य त्रिकाल, वह कभी राग — दया, दान, व्रतादिक, शुभ-अशुभ राग, वह राग पुद्गल है तो भगवान, जैसे नमक पिघल करके पानी होता है.... पिघलता है न, पिघलना कहते हैं न? लवण का पानी हो जाता है पिघल करके (पानी हो जाता है)। वैसे ही भगवान... आहाहा! क्या दृष्टान्त! चैतन्यमूर्ति भगवान, उपयोगस्वरूप भगवान, यह राग-अनउपयोगरूप है, उसरूप कभी होता है? आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो परन्तु उस रागरूप भगवान कभी होता है? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! उपयोगस्वरूप भगवान पिघलकर क्या रागरूप होता है? आहाहा! लवण तो पिघलकर पानी हो (जाता है); वैसे भगवान ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप प्रभु... आहाहा! वह कहीं पिघल करके रागरूप होता है? दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प जो है, उस रागरूप क्या प्रभु होता है? आहाहा! तो जो व्यवहाररत्नत्रय का राग है... आहाहा! देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नौ तत्त्व की भेदरूप श्रद्धा, शास्त्र का बहिर्लक्ष्यी शब्द का ज्ञान और पंच महाव्रत का परिणाम, यह राग है — तो भगवान आत्मा वीतरागी शुद्ध उपयोगस्वरूप प्रभु आत्मा.... आहाहा! क्या कभी रागरूप होता हुआ दिखायी देता है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! तात्त्विक बात है, अध्यात्म की बात है। आहाहा! समझ में आया?

खारापन जिसका लक्षण है — ऐसा नमक, पानीरूप होता हुआ दिखायी देता है?.... कि हाँ! वैसे नित्य उपयोग लक्षणवाला जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्यरूप होता हुआ दिखाई नहीं देता। आहाहा! चाहे तो तीर्थंकर गोत्र बाँधे — ऐसा भाव हो, उस भावरूप क्या भगवान ज्ञानस्वरूप उपयोग होता है? वह राग तो अन-उपयोग है, उसमें ज्ञायकस्वरूप का उपयोग तो अन्दर में है ही नहीं। आहाहा! **नित्य उपयोगलक्षणवाला...** ऐसा लिया है न? जीवद्रव्य। भगवान तो नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य है, वह पुद्गलद्रव्यरूप होता हुआ दिखायी नहीं देता। आहाहा! इस व्यवहाररत्नत्रय के रागरूप होता हुआ दिखायी

नहीं देता। आहाहा! समझ में आया?

चैतन्य के नूर के तेज का पूर प्रभु, वह कहाँ राग अन्धकार अचेतन अनुपयोग अस्वभावभावरूप भगवान होता दिखायी देता है? नहीं। आहाहा! जिसको राग अन-उपयोग अपना है (ऐसा) दिखे, वह दृष्टि मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? जिसकी दृष्टि में भगवान आनन्द और ज्ञान उपयोगस्वरूप प्रभु, रागरूप मैं हूँ — ऐसा भासित हो, वह पुद्गलरूप हुआ — ऐसा भासित हुआ, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वह जैन नहीं है। आहाहा! जिनस्वरूपी, उपयोगस्वरूप, वह रागरूप है (— ऐसा माननेवाला) जैन नहीं है। आहाहा! उपयोगस्वरूप कहने पर वह वस्तु स्वयं जिनस्वरूप ही है। भगवान जिनस्वरूपी,... ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप कहो या वीतरागी उपयोगस्वरूप कहो या वीतरागभाव कहो — क्या वह रागरूप होता है? व्यवहाररत्नत्रयरूप होता दिखता है? (नहीं)। आहाहा! ज्ञानी को अपना शुद्ध उपयोगस्वरूप भगवान, रागरूप होता नहीं दिखता, परन्तु राग है, उसका जानना उपयोगरूप दिखता है। आहाहा! उसका और अपना जानना उपयोग उसरूप दिखता है। समझ में आया?

लोगों ने पूरी मूल चीज.... मूल चीज ही यह है और मूल चीज के बिना सब व्रत और तप नियम, पूजा, भक्ति, और यह मन्दिर सब व्यर्थ है। आहाहा! वह दिखायी नहीं देता! है! और **नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षणवाला....** आहाहा! सामने लिया है। जो राग है — देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति का राग, वह राग तो जड़ है। आहाहा! **नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षण....** राग का तो नित्य अनुपयोग लक्षण और भगवान का तो नित्य उपयोग लक्षण है। आहाहा! यह आत्मा.... यह तो धीरा का काम है भाई! आहाहा! अन्दर जानना-देखना नित्य उपयोग लक्षणवाला प्रभु, वह अनुपयोग लक्षण राग-यह व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प — राग अनुपयोगरूप क्या आत्मा कभी होता है? (नहीं होता है)। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि राग-व्यवहार है, उससे निश्चय (होता है)। अरे प्रभु! यह तू क्या करता है? पुद्गल से आत्मा होता है? समझ में आया?

यह राग / व्यवहार — दया, दान, व्रत, भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, शास्त्र का ज्ञान, पंच महाव्रत का परिणाम, यह सब अनुपयोग जड़ राग है। इस अनुपयोग जड़

राग से उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा का पता मिल जाता है ? कठिन काम भाई ! आहाहा ! यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा, अनुपयोग लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य; जो राग है, वह पुद्गलद्रव्य है। आहाहा ! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग.... आहाहा ! गजब काम करते हैं न ! भाई ! तेरी चीज का तुझे पता नहीं है। आहाहा ! तेरा नाथ ज्ञान और दर्शन उपयोगवाला प्रभु, इस जड़ राग अनुपयोगस्वरूप क्या दिखायी देता है ? और दिखायी देता है तो तुम मिथ्यादृष्टि हो। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

क्या टीका ! क्या सार का सार !! समयसार ! वह द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म, यह अनुपयोगी चीज है। आहाहा ! द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नोकर्म - शरीर, वाणी आदि; देव, गुरु और शास्त्र भी नौकर्म हैं। आहाहा ! यह भगवान उपयोगस्वरूप है, वह अनुपयोग अर्थात् जिसमें यह उपयोग नहीं — ऐसे अनुपयोग जो यह परवस्तु है, उसरूप कभी होता है ? आहाहा !

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि त्रिलोकनाथ भगवान का शिष्य आत्मा होता है ? आहाहा ! आत्मा, परद्रव्य का शिष्य होता है ? (नहीं) आहाहा ! यह लोगों को कठिन पड़ता है। देव, शास्त्र, गुरु को भी इन्द्रिय कहा है। यह आत्मा अनीन्द्रिय है, तब यह शरीर, यह इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और देव-गुरु-शास्त्र तथा स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, ये सभी इन्द्रियाँ हैं, अर्थात् ये जड़ हैं। आहाहा ! इसकी अपेक्षा से हों। उनकी अपेक्षा से नहीं। जैसे अपने स्वद्रव्य की अपेक्षा से भगवान का द्रव्य भी अद्रव्य है। आहाहा ! उसकी अपेक्षा से द्रव्य — भगवान पूर्ण है परन्तु यह आत्मा द्रव्य है, इस अपेक्षा से पर अद्रव्य है। भगवान आत्मा का क्षेत्र स्वक्षेत्र है तो पर का क्षेत्र, वह इस आत्मा की अपेक्षा से अक्षेत्र है। स्वकाल की अपेक्षा से अपना आत्मा त्रिकाल है तो अपनी अपेक्षा से पर काल का उसमें अकाल है — पर अकाल है और मेरा भगवान पूर्णानन्दभाव भावस्वरूप मैं हूँ, तो इस भाव की अपेक्षा से सब तीर्थंकरों का भाव भी इस भाव की अपेक्षा से अभावस्वरूप है। युगलजी ! ऐसी बातें हैं। अरे ! मार्ग तो मार्ग ! आहाहा !

भाषा तो सादी है, भाव तो भाई जो है, वह है। आहाहा ! **नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य....** भगवान जीवद्रव्य तो नित्य ज्ञान-दर्शन के लक्षण के उपयोगवाला जीव है।

आहाहा! वह **पुद्‌गलद्रव्यरूप होता हुआ दिखायी नहीं देता...** वह रागरूप होता है — ऐसा दिखायी नहीं देता। आहाहा! तो राग आता है न? परन्तु रागरूप हो — ऐसा दिखायी नहीं देता। इस राग से पृथक् अपना उपयोग है, उसरूप दिखायी देता है। राग का जो ज्ञान पर प्रकाशक की अपेक्षा से और अपना आत्मा स्वप्रकाश, इस स्वपरप्रकाशक उपयोगरूप आत्मा दिखायी देता है। आहाहा! धर्मी को व्यवहाररत्नत्रय का ज्ञान जो यहाँ होता है — स्व-परप्रकाशक, उस उपयोगरूप दिखायी देता है। रागरूप आत्मा है — ऐसा दिखायी नहीं देता है। आहाहा!

जितनी वृत्ति उठती है, यह सब अनुपयोग है; यह उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा, उस अनुपयोगरूप कभी दिखता है? और तुझे दिखे तो तू मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! आत्मा ज्ञायक आनन्द प्रभु उपयोगस्वरूपी है। तुझे राग उपयोगस्वरूपी दिखायी देता है तो आत्मा जड़ हुआ। आहाहा! समझ में आया? वह उपयोगस्वरूप भगवान भिन्न नहीं रहा — ऐसी बातें! अब लोगों को कठिन पड़ती है, क्या हो?

अरे भाई! कल देखो न! बेचारे दो जवान लड़के भाई दोनों गूँगे और बहरे, उनकी माँ को कैसा लगता होगा? एक लड़का ऐसा हुआ, वहाँ दूसरा फिर ऐसा हुआ; अब बेचारे पालकर बड़ा किया, वापिस दोनों हैं होशियार, हों! आहाहा! वह कुछ सुनते नहीं, बोल सकते नहीं — ऐसा भाव है तो उस भावरूप क्या वह आत्मा हो गया है? आत्मा तो नित्य उपयोगस्वरूप अन्दर है। आहाहा! समझ में आया?

क्या संक्षिप्त बात में.... भगवान आत्मा, जानन-देखन नित्य उपयोगस्वरूप प्रभु, इस अनजान और अनुपयोग — ऐसे राग और दया, दान, व्रत आदि का विकल्प इसरूप कभी दिखायी देता है, प्रभु? आहाहा! चैतन्य तो अपने शुद्ध उपयोगरूप दिखायी देता है; रागरूप दिखायी नहीं देता। आहाहा! है या नहीं पाटनीजी? यह अन्दर है, अन्दर, हों! आहाहा! भगवान पास पड़ा है न अन्दर! आहाहा! आहाहा! इन अक्षररूप कभी आत्मा हुआ ही नहीं, शास्त्र की रचना में आत्मा कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! शास्त्र तो जड़ परमाणु है, उसकी रचना आत्मा क्या करे? परन्तु उस ओर का जो राग है, उसरूप भी आत्मा होता नहीं है। आहाहा!

क्योंकि नवतत्त्व में शुभ-अशुभराग, वह पुण्य-पाप का तत्त्व है। समझ में आया? वह आत्मतत्त्व नहीं है। आहाहा! क्योंकि नौ में ज्ञायकतत्त्व तो भिन्न है। आहाहा! वह जानन-देखन उपयोगस्वरूप भगवान तो इस राग से तो भिन्न है। ऐसा भगवान आत्मा, रागरूप कैसे हो? भिन्नरूप है, वह अभिन्नरूप कैसे हो? आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात भाई! आहाहा!

और नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य.... यह राग है, वह नित्य अनुपयोग है। आहाहा! यह देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग, यह आरती उतारना और जय नारायण, जय नारायण.... समवसरण में भगवान के पास गये — जय नारायण... आहाहा! हीरा के थाल, मणिरत्न के दीपक, कल्पवृक्ष के फूल, समवसरण में साक्षात् जय हो... परन्तु यह राग है। यह क्रिया तो (आत्मा) कर नहीं सकता परन्तु रागरूप नहीं होता। आहाहा! ऐई! वहाँ कभी ऐसा सुनने को नहीं मिला!

श्रोता : कहीं है नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही तो यह कहते हैं न हमारे पाटनीजी कहते हैं न? कि ऐसा स्पष्टीकरण....

श्रोता : राग होवे तो बोझा लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बोझा लगे। कहा न कल, कहा था न।

श्रोता : बोझा ही लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपयोगस्वरूप भगवान में राग का बोझ-भार आता है। आया था न कल? आहाहा! बोझा का अर्थ वह भिन्न चीज है; तो वह अपने में आ नहीं सकती। आहाहा! दु:खरूप लगती है। आहाहा!

नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य.... आहाहा! यह व्यवहाररत्नत्रय का राग, यह तो नित्य अनुपयोग लक्षणवाला जड़द्रव्य है। आहाहा! अरे..रे! विषय में राग होता है, वह राग तो अनुपयोग जड़ है प्रभु! आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव-शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ छियानवें हजार स्त्रियाँ... आहाहा! वह तो मैं नहीं परन्तु उस ओर का राग हुआ, वह भी मैं नहीं। आहाहा! मेरा भगवान, इन्द्रिय के विषय और

राग में आया ही नहीं न! आहाहा! मैं जहाँ हूँ, वहाँ अनुपयोग राग है ही नहीं न, आहाहा! समझ में आया? यह समयसार तो सभा में उन्नीसवीं बार पढ़ा जा रहा है, अठारह बार एक-एक बार गिनो तो उन्नीसवीं बार तो अधिक स्पष्टीकरण होता है या नहीं? आहाहा!

आहाहा! इस राग से आत्मा को लाभ होता है — ऐसी उपदेश शैली भी मिथ्यात्व है। आहाहा! क्योंकि राग है अनुपयोगस्वरूप जड़... क्या उपयोगस्वरूपी आत्मा जड़ हो जाता है? आहाहा! राग व्यवहार का हो परन्तु उसकी रुचि छोड़कर भगवान ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि में आया, वहाँ क्या रागभाव से उपयोगभाव प्रगट हुआ? अनुपयोगभाव से क्या उपयोगस्वरूप भगवान जानने में आया? आहाहा! तो व्यवहार से आत्मा निश्चय प्राप्त कर सकता है? प्रभु! यह क्या बात है! आहाहा! समझ में आया? **नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य, जीवद्रव्य होता हुआ देखने में नहीं आता....** आहाहा! यह व्यवहाररत्नत्रय का राग, नित्य उपयोगलक्षणवाला देखने में नहीं आता। आहाहा! उससे नित्य उपयोग लक्षण का भान होता है — ऐसा देखने में नहीं आता। आहाहा! युगलजी! कोटा में भी सब बहुत गड़बड़ चलती है, युगलजी है तो भी।

श्रोता : सारे हिन्दुस्तान में गड़बड़ है, अज्ञान हो वहाँ गड़बड़ ही होती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान! यह तो दो और दो चार जैसी बात है। आहाहा! यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं सन्त.... आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्यदेव की गाथा में यह भाव भरा है, उसे अमृतचन्द्राचार्य तर्क से टीका करके भाव निकाला है। भगवान! राग जो है, चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आदि का राग हो, महाव्रत का राग (हो), वह अनुपयोग राग क्या उपयोगस्वरूप भगवान (आत्मा) हो सकता है? आहाहा! उसका अर्थ तो यह हुआ कि व्यवहार, जो अनुपयोग राग है, उससे उपयोगस्वरूप की दृष्टि नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

जब भगवान के श्रीमुख से यह व्याख्या निकलती हो, सन्तों को... आहाहा! टीका भी टीका! आहाहा! भरतक्षेत्र में इस समयसार जैसा कोई शास्त्र नहीं है। आहाहा! जिसके एक-एक पद में कितनी गम्भीरता! आहाहा! खोलते-खोलते (स्पष्टीकरण करते-करते) पार न आवे — ऐसी बात अन्दर है। आहाहा!

उपयोगस्वरूप भगवान क्या अनुपयोगस्वरूप दिखायी देता है? यह अनुपयोगस्वरूप राग क्या उपयोगस्वरूप आत्मा दिखायी देता है? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! सम्यग्दर्शन-भान होता है... आहाहा! तब क्या उपयोगस्वरूप भगवान, वह राग मन्द हुआ है तो उससे उपयोगस्वरूप की दृष्टि हुई? और फिर.... आहाहा! उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा अनुभव में आया, और अन्तर में जाने का -स्थिर होने का भाव आया, आहाहा! यह दीक्षित होते हैं... आहाहा! इस शरीर को रमानेवाली तू स्त्री, मैं तो मेरी अनुभूति, आनन्द का नाथ मेरा भगवान, उसके पास जाना चाहता हूँ, छोड़ दे। आहाहा! व्यवहार से आज्ञा माँगता है; न छोड़े तो भी वह तो चला जाता है। समझ में आया? आहाहा! परन्तु व्यवहार ऐसा लिया है। आहाहा! मेरी आनन्दरूपी अनुभूति मेरे पास है। आहाहा! उपयोगस्वरूप कहो या आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, मेरी लीनता में रमनेवाला मैं! अब इस शरीर को रमानेवाली स्त्री, वह मेरी नहीं; मुझे छोड़ दे। न छोड़े तो मैं चला जाता हूँ। आहाहा! अपने भगवान के पास मैं जाना चाहता हूँ। शुद्ध उपयोग, नित्य उपयोग — ऐसा मैं भगवान आत्मा... आहाहा! उस उपयोग की स्थिरता करने के लिए मैं जाता हूँ। देह की क्रिया करने को या महाव्रत करने को (जाता हूँ) — ऐसा नहीं है। जो उपयोगस्वरूप है, उसमें स्थिरता करने को मैं जाता हूँ। आहाहा!

वन में अकेला, सिंह और बाघ की दहाड़ हो, वहाँ वह अकेला चला जाता है। आहाहा! वह उपयोगस्वरूप आनन्द का स्वाद आया है और अनुपयोगस्वरूप राग का स्वाद छूट गया है। समझ में आया? अब ऐसी व्याख्या! दो लाईन में तो....!! आहाहा! नित्य अनुपयोग-ऐसे। राग में नित्य अनुपयोग है। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय के राग में कभी कोई उपयोग का अंश आता है? आहाहा! नित्य अनुपयोग लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य, जीवद्रव्य होता हुआ देखने में नहीं आता। आहाहा! यह उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा, रागरूप हो जाये — ऐसा देखने में नहीं आता। उसका व्यवहार-राग से मैं उपयोगस्वरूप आत्मा में आ जाऊँ — ऐसा देखने में नहीं आता। आहाहा! परघर में मैं रहूँ तो स्वघर में मैं आ जाऊँ — ऐसा है नहीं। आहाहा! अरे! ऐसी बातें!! क्या टीका, क्या टीका!!

किसकी तरह? प्रकाश और अन्धकार एक साथ दिखायी नहीं देते। **क्योंकि प्रकाश और अन्धकार की भाँति....** अब देखो! पहले कहा कि लवण जो खारा है, वह

पानीरूप होता है खारा पानी और खारा पानी, नमकरूप होता है; वैसे राग है, वह आत्मारूप हो जाये और आत्मा, रागरूप हो जाये — ऐसा कभी नहीं बनता।

अब, अस्ति का दृष्टान्त दिया — **प्रकाश और अन्धकार की भाँति....** आहाहा! उपयोग भगवान वह तो प्रकाश है और राग-व्यवहार, वह अन्धकार है। आहाहा! अद्भुत बात भाई! भगवान ऐसा कहते हैं — हमारे प्रति तेरा लक्ष्य है, वह उपयोग अन्धकार है। आहाहा! समझ में आया? परद्रव्य की ओर तेरा लक्ष्य रहता है, वह उपयोग राग है। आहाहा! वह अन्धकार है और भगवान तो उपयोगस्वरूप प्रकाश है। क्या प्रकाश, अन्धकाररूप होता है?

श्रोता : कभी नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्धकार प्रकाशरूप होता है? आहाहा! यह तो पकड़ में आये ऐसा है। यह कहीं.... आहाहा!

प्रकाश और अन्धकार की भाँति उपयोग और अनुपयोग का.... उपयोग, वह प्रकाश है और अनुपयोग राग, वह अन्धकार है। **एक ही साथ रहने में विरोध है;....** एक ही साथ रहने में विरोध का अर्थ (यह) है कि प्रकाश और अन्धकार दोनों एक चीज है — ऐसा रहने में विरोध है। दूसरी बात — शुद्ध उपयोग के भान में राग आया, परन्तु राग साथ में है, वह भिन्नरूप है। वह प्रकाशरूप साथ में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? प्रकाश और अन्धकार एक साथ नहीं रह सकते — इसका अर्थ? कि चैतन्य उपयोग प्रकाश और राग उपयोग अन्धकार — दोनों एक नहीं हो जाते। समझ में आया? एक साथ रहने का अर्थ? कि रागरूप आत्मा हो जाये और शुद्धरूप भी (रहे) — ऐसा नहीं होता। अपना शुद्ध उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा — ऐसा भान हुआ तो कमजोरी से राग-व्यवहार आता है परन्तु वह अनुपयोग भिन्न रहता है। उपयोग में एक साथ आ जाता है — साथ का अर्थ — उपयोग और अनुपयोग एक हो जाता है — ऐसा नहीं। परन्तु ज्ञान उपयोग हुआ, वहाँ अनुपयोग रागादि बाकी आता है, हों! परन्तु वह अन्धकार और प्रकाश की भाँति भिन्न चीज है। आहाहा! अरे! एक बार मध्यस्थता से सुन न तो पता पड़े! यह विरोध करते हैं। क्या करते हैं प्रभु! एकदम निश्चयाभास, खोटा, झूठा... भगवान को भी

झूठा सिद्ध करते हैं और ऐसा लिखते हैं, लो! अरे प्रभु! क्या करता है यह तू? आहाहा! उसे ऐसा कि इस व्यवहार से कुछ लाभ होगा — ऐसा माने तब तो अनेकान्त कहलाये। आहाहा! परन्तु यहाँ तो अन्धकार और प्रकाश दोनों भिन्न चीज गिनने में आयी है। व्यवहार — अन्धकार से प्रकाश-चैतन्यप्रकाश जानता है? आहाहा!

लवण का दृष्टान्त, तो लवण तो पानीरूप होता है; वैसे प्रकाश अन्धकाररूप होता है? खारा पानी, नमकरूप होता है; वैसे अन्धकार प्रकाशरूप होता है? आहाहा! समझ में आया? **प्रकाश और अन्धकार की भाँति उपयोग और अनुपयोग का एक ही साथ रहने में विरोध है....** एक ही साथ का अर्थ? उपयोग का भान है, वहाँ यह राग अन्धकार हो परन्तु दोनों एक हैं, ऐसे एक साथ नहीं रहते। आहाहा! उपयोग भी है और अन्धकार भी उपयोग में है — ऐसा नहीं है। राग अन्धकार / व्यवहार आता है परन्तु वह भिन्न होकर रहता है; एकरूप नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! क्या शैली!

ज्ञानी को व्यवहार अन्धकार आता है। आहाहा! जब तक वीतराग न हो, तब तक देव-गुरु-शास्त्र का विकल्प आता है परन्तु है अन्धकार। आहाहा! तथापि उस प्रकाश के पास वह रह सकता है, किन्तु प्रकाशरूप होकर नहीं रह सकता। समझ में आया?

श्रोता : कठिन कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन नहीं है परन्तु लोगों को कहाँ जँचता है? बड़े पण्डित विरोध करते हैं न। आहाहा! क्या करे? वर्णीजी का दृष्टान्त सब देते हैं। देखो! वर्णीजी ने कहा है कि सोनगढ़ का साहित्य डुबोनेवाला है — ऐसा लिखते हैं। उन्होंने कहा था क्योंकि निमित्त से भी कभी होता है — ऐसा मानते थे। क्रमबद्ध नहीं (— ऐसा मानते थे)। तो यह विरोध करते थे, बात सच्ची।

अभी तो उसने स्वीकार — (कैलाशचन्दजी ने) स्वीकार किया है। उस समय क्रमबद्ध नहीं मानते थे, अब स्वीकार किया है (कि) क्रमबद्ध है और सोनगढ़वाले निमित्त मानते हैं परन्तु निमित्त से होता है — ऐसा नहीं मानते। इतना कहते हैं। ऐसे दो बोल आये हैं। यह दो बड़ी चर्चा हुई थी (संवत्) १३ की साल वर्णीजी के साथ बड़ी चर्चा हुई थी। आहाहा! प्रभु! यह मार्ग ऐसा है भाई!

श्रोता : धीरे-धीरे स्वीकार करेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री: धीरे-धीरे स्वीकार करते हैं, बात तो ऐसी है। हमारे युगलजी ठण्डे व्यक्ति हैं न, इसलिए धीरे-धीरे... आहाहा! मार्ग ही यह है न प्रभु! और वह भी दो और दो चार जैसी बात है। व्यवहार होता है, उसका किसने इन्कार किया है परन्तु वह व्यवहार अन्धकार है। आहाहा! यह प्रकाश और अन्धकार एक साथ रहते हैं, अर्थात् एकरूप हो जाते हैं — ऐसा नहीं है। भाई! यह तो प्रज्ञाछैनी आया है न? प्रज्ञाछैनी-राग और स्वभाव का भान एकसाथ रह सकता है।

श्रोता : दोनों के बीच सन्धि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी सन्धि है। वह फिर अलग रखी है, यह तो एक साथ रहते हैं यह प्रश्न है। कलश-टीका में लिया है — व्यवहार का राग और भगवान की परिणति शुद्ध चैतन्य (परिणति) एक साथ रह सकते हैं। एक साथ, अर्थात् एक समय में रह सकते हैं, किन्तु एक होकर नहीं रह सकते; भिन्न होकर रह सकते हैं, उसमें कोई विरोध नहीं है। आहाहा! कहो समझ में आता है या नहीं कुछ? इन्हें उस जाति में मिलने के लिए इकतालीस हजार भरने पड़े। सोनगढ़िया हो गया है, इसे निकाल दो... निकाल दो। फिर जाति में मिलने के लिए इकतालीस हजार भरने के बाद अब कोई बोलता नहीं ऐसा।

अरे भगवान! यह मार्ग तेरे चैतन्य की जाति का मार्ग है प्रभु! भाई! यह कोई पक्ष और वाड़ा नहीं है। आहाहा! तू कैसा अन्दर शुद्ध उपयोग, नित्य उपयोगस्वरूप प्रभु, आहाहा! इस राग-अनुपयोग से कैसे प्राप्त हो? अन्धकार से प्रकाश कैसे प्राप्त हो? आहाहा! और प्रकाश में अन्धकार एकमेक कहाँ से हो? वैसे ही शुद्धोपयोग में, उपयोगस्वरूप लक्षण का भान हुआ, फिर राग-व्यवहार तो आता है परन्तु एकरूप कैसे हो? भिन्नरूप एक साथ रह सकते हैं। एकरूप होकर साथ नहीं रह सकते। आहाहा! समझ में आया? आज यह नौवाँ दिन है। है? अफर दिन है, नौ का अंक (अफर है)। आहाहा! ज्ञान भी अफर है, भाई! यह वस्तु ऐसी है। कहो, झाँझरीजी! ये सब वहाँ प्रमुख है। आहाहा! अन्तरिक्ष! वे (दूसरे लोग) ऐसा तूफान करे। क्या करे बापू? भाई! आहाहा! यह दिगम्बर धर्म तो अनादि सनातन है, यह कोई नयी चीज नहीं है। समझ में आया? श्वेताम्बर तो दो

हजार वर्ष पहले नया निकला है, उसमें यह ऐसी चीज है नहीं। आहाहा! आहाहा!

सूरज की भाँति प्रकाश — उपयोगस्वरूप प्रकाश आत्मा और अन्धकार समान राग एक साथ क्यों रहे? एकरूप एक साथ क्यों रहे? एकरूप होकर एक साथ क्यों रहे? भिन्नरूप होकर एक समय में एक साथ रह सकते हैं। आहाहा! यह **जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं हो सकते,....** राग जड़ और भगवान चैतन्य प्रभु, ये कभी एक नहीं हो सकते। आहाहा! समझ में आया? **इसलिए तू सर्व प्रकार से प्रसन्न हो,....** आहाहा! यह प्रसन्न हो, प्रसन्न प्रभु! तेरी चीज कभी रागरूप हुई नहीं, राग तुझमें कभी आया नहीं। आहाहा! प्रसन्न हो जा एक बार! आहाहा! अर्थात् राग से भिन्न होकर आनन्द का अनुभव कर। आहाहा! यह प्रसन्न (का अर्थ है)। आहाहा! ऐ प्रसन्नकुमारजी! यह प्रसन्न आया, देखो! आहाहा! प्रभु! तेरा स्वरूप राग से भिन्न है। वह रागरूप हुआ नहीं और तुम रागरूप हुआ नहीं, बस! आहाहा! भेदज्ञान करके प्रसन्न हो जा। आहाहा!

(अपने चित्त को उज्ज्वल करके) सावधान हो, और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुभव कर। मैं तो शुद्धस्वरूपी भगवान हूँ — ऐसा अनुभव कर। आहाहा!

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८७ गाथा २३-२५ तथा २६ एवं कलश २३-२४ दिनाङ्क १५-०९-१९७८ शुक्रवार
भाद्र शुक्ल चौदस, वीर निर्वाण संवत् २५०४ उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

दशलक्षण पर्व, दसवाँ दिन है। (उत्तम) ब्रह्मचर्य, दसवाँ, चारित्र का भेद है यह। पहले तो ब्रह्म अर्थात् आत्मा राग से भिन्न है, उसकी दृष्टि-अनुभव होना, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन है। ब्रह्म अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु का, राग से भिन्न होकर अनुभव होना, वह तो प्रथम सम्यग्दर्शन भूमिका है; तदुपरान्त स्वरूप में-आनन्द में विशेष रमते-रमते चारित्रदशा प्रगट हुई, उसमें दशवाँ बोल उत्तम ब्रह्मचर्य है, तो वह भी ब्रह्म अर्थात् भगवान आत्मा... आहाहा! उसमें चर्या करना, रमना, लीन होना, उसका नाम दशलक्षण पर्व में अन्तिम ब्रह्मचर्य (धर्म) कहा जाता है।

जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।
कामकहादिणियत्तो णवहा बंभं हवे तस्स॥४०३॥

जो मुनि, स्त्रियों की संगति को नहीं करता... आहाहा! अपने स्वरूप के संग में स्त्री का संग नहीं करता और 'नेव पस्सई रूणम' उसका रूप नहीं देखता क्योंकि विषयों में मुख्य चीज तो स्त्री है; अत: उसका संग छोड़ना और उसका रूप नहीं देखना। आहाहा! और 'काम कहादि नियतो' काम की कथा, विषय की कथा, स्मरण आदि और पहले विषय हुआ हो, उसका स्मरण आदि छोड़ना.. आहाहा! आनन्दस्वरूप भगवान का स्मरण करे या काम-भोग कथा का स्मरण करे... आहाहा! जिसको जैसा प्रेम है, उसका स्मरण करता है। आहाहा!

धर्मी को तो अपने ब्रह्मचर्य — आत्मा के प्रति प्रेम और परिणमन है। आहाहा! अत: उसके संग में रहे, पर का संग छोड़ दे — ऐसा नौ प्रकार — मन, वचन, काय, कृत-कारित अनुमोदना से करता है। आहाहा! मन से ब्रह्मचर्य पालन करता है, वाणी से कहता है और काया से उससे (अब्रह्मचर्य से) दूर रहता है। करना, कराना और अनुमोदन... आहाहा! यह अर्थ में लिया है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा में लीन होना, वह ब्रह्मचर्य है। आत्मा, परद्रव्य में लीन हो, उसमें स्त्री में लीन होना मुख्य है। परद्रव्य में लीन होने में उसमें स्त्री में लीन होना मुख्य है। आहाहा! तो उसका संग तो होना नहीं, नौ बाड़ ब्रह्मचर्य होता है। समझ में आया?

ब्रह्मचारी की-मुनि की बात है न! तो स्त्री के संग में स्त्री को सिखाना, उसके पास बैठना — यह बात होती नहीं है। समझ में आया? यह भी एक प्रेम और राग है, उसे छोड़ देते हैं। आहाहा!

अपना आनन्द का नाथ, भगवान ब्रह्मानन्द प्रभु, अमृत का सागर, उसके संग में जा न! आहाहा! उस असंग का संग कर न... यह पर का संग क्या है तुझे? आहाहा! ऐसी बात है। इसके बाद विशेष भेद लिए हैं — संगति करना, रूप निरखना, कथा करना, रमण करना, यह सब छोड़ना। पुस्तक नहीं आया?

यहाँ आया है, देखो! २५वीं गाथा चलती है न? क्या कहते हैं? यह जीव अधिकार है, तो भगवान आत्मा उपयोगस्वरूप चैतन्य जीव और रागादि पुद्गल आदि सब अनुपयोग

–जड़; अत: दोनों को भिन्न करके... आहाहा! दोनों कभी एक नहीं हुए। **जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं हो सकते।....** अन्तिम दो लाईन है। भगवान ज्ञानस्वरूप आत्मा और रागादि अचेतन अनुपयोग। वह उपयोग और अनुपयोग कभी एक नहीं हो सकते। आहाहा! **इसलिए तूं सर्व प्रकार से प्रसन्न हो,....** आहाहा! क्या कहते हैं? भगवान पूर्णानन्द ज्ञानस्वरूप प्रभु और राग–दोनों एक कभी नहीं होते। आहाहा! अत: अब प्रसन्न हो, आहाहा! राग से भिन्न होकर, अब अपना अनुभव कर, क्योंकि दोनों एक हैं नहीं; दो एक होते नहीं... आहाहा! प्रसन्न हो, प्रभु कहते हैं... आहाहा! ऐ प्रसन्नजी! आहाहा! प्रभु तेरी चीज अन्दर राग के विकल्प से भिन्न पड़ी है न? वह कभी एकत्व नहीं हुई न? आहाहा! एकत्व हुई नहीं तो भिन्न का अनुभव करने में प्रसन्न हो। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया? आनन्दस्वरूप प्रभु, वह रागस्वरूप दु:ख–अनुपयोग... यह आनन्द और अनुपयोग कभी एक हुआ ही नहीं। आहाहा!

चाहे तो यह दया, दान का राग हो या यह संसार का कमाना — ऐसा सब पापराग हो। आहाहा! वह सब अनुपयोग जड़ है। भगवान तेरी चीज (आत्मा) उसमें कभी एक हुई नहीं। एक नहीं हुई तो प्रसन्न हो न! आहाहा! ऐसी बातें हैं। **इसलिए तूं सर्व प्रकार से प्रसन्न हो,....** आहाहा! भिन्न है, वह कभी एक नहीं हुई। आहाहा! अत: राग से भिन्न तेरी चीज पड़ी है, एक हुई ही नहीं तो उस पर दृष्टि करके आनन्द का अनुभव कर। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात! आहाहा! एक हुई हो तो तुझे भिन्न करने में कठिनाई पड़े परन्तु एक हुई नहीं न, कहते हैं। आहाहा!

चाहे तो शुभ–अशुभ राग हो; शरीर, वाणी, कर्म तो भिन्न ही है, परन्तु शुभ–अशुभ राग है.... यह भगवान वीतरागस्वरूप उपयोगस्वरूप तो अनुपयोग राग में कभी एकत्व हुआ ही नहीं। आहाहा! यह अनेक सो अनेकरूप रहे हैं। अनेक राग और आत्मा एक ये (दोनों) एकरूप कभी हुए ही नहीं। आहाहा! प्रसन्न हो! गुरु का (आशीर्वाद) देखो! तू प्रसन्नता को जाहिर कर — ऐसा कहते हैं। प्रसन्नता में जाहिर कर, ओहोहो! मैं राग से तो भिन्न रहा हूँ — ऐसा भिन्न का अनुभव कर, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो। आहाहा! ऐसी बात है। सर्व प्रकार से प्रसन्न हो। किसी भी प्रकार खेद मत कर। तेरी चीज भिन्न पड़ी है, प्रभु! आहाहा! भिन्न पड़ी है, उसका अनुभव कर न, तो प्रसन्न हो जा न! आहाहा!

इस राग से भिन्न अन्दर प्रभु अनीन्द्रिय... अनीन्द्रिय परन्तु अनन्त आनन्दस्वरूप प्रभु, उसमें इन्द्रियाँ नहीं है। आहाहा! यह चीज जब राग से, विकल्प से — चाहे तो अनन्त काल हुआ परन्तु वह राग का विकल्प और निर्विकल्प प्रभु (आत्मा) एक नहीं हुआ है; अत: प्रसन्न हो न प्रभु! आहाहा! तेरी भिन्न चीज है, वहाँ नजर कर न! अरे! ऐसी बातें हैं! समझ में आया?

(अपने चित्त को उज्ज्वल करके) सावधान हो,.... आहाहा! निर्मल चित्त, निर्मल पर्याय प्रगट करके... आहाहा! सावधान-स्वरूपसन्मुख हो जा। राग और पुण्य की ओर अनादि से, एक नहीं था फिर भी, उस ओर की एकत्वबुद्धि तूने मानी थी। आहाहा! ऐसी चीज बहुत कठिन! व्यापार आदि की क्रिया और उद्योग और यह सब तो जड़ की क्रिया है। आहाहा! उससे तो प्रभु भिन्न है ही परन्तु अपने में कमजोरी से राग और द्वेष के परिणाम दु:खरूप होते हैं; यह आनन्दस्वरूप प्रभु कभी दु:खरूप हुआ ही नहीं। आहाहा! हुआ नहीं तो फिर आनन्द कर न! प्रसन्नता कर न! आहा! स्वरूप में सावधान हो जा न!! आहाहा! ऐसी बातें लोगों को कठिन पड़ती है, ऐसा कि समकित की उत्पत्ति के कारण तो सब ऐसे होते हैं और ऐसे होते हैं। परन्तु यह कारण है। भक्ति करना और पूजा करना और सब करना, इससे समकित की उत्पत्ति होगी — ऐसे सब शिक्षण देते हैं। आहाहा!

मन्दिर बनाना और मन्दिर का दर्शन करना, ये सब सम्यक् का कारण है — ऐसा सिखाते हैं। अरे प्रभु! क्या बात करता है। आहा! भाई? मन्दिर तो ठीक, मन्दिर की ओर का भाव - राग है, वह भी ठीक, वह भी भिन्न, परन्तु अन्दर में विकल्प उठे कि मैं आत्मा और अनन्त गुणरूप... आहाहा! ऐसे विकल्प उत्पन्न हों, उससे भी तो प्रभु तुम कभी एकत्व नहीं हुआ। आहाहा! राग, रागरूप रहा; भगवान शुद्धरूप रह गया यहाँ तो! आहाहा! सावधान हो! आहाहा! गजब बात है! सन्तों की-दिगम्बर सन्तों की वाणी तो देखो! आहाहा! 'समयवर्ते सावधान' (ऐसा) नहीं कहते? लग्न आते हैं तब, लग्न का प्रसंग हो, कन्या का प्रसंग, साढ़े आठ बज गये, समय हो गया, लाओ! 'समयवर्ते सावधान', कन्या को लाओ। यहाँ समयवर्ते सावधान! तेरा समय समयसार आत्मा राग से भिन्न है, सावधान हो जा। आहाहा! आहाहा! ऐसा लोगों को कठिन पड़ता है। व्यवहार साधन से होता है न? व्यवहार साधन वह है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

इस प्रकार अनुभव कर। और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है'.... मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप स्वद्रव्य ही मेरा है; राग आदि तो सब परद्रव्य हैं और स्वद्रव्य तथा परद्रव्य एक कभी हुआ नहीं। सावधान होकर, यह स्वद्रव्य मेरा है — ऐसा अनुभव कर। आहाहा! इन दो लाइन में तो ऐसी बात है। उपादान-निमित्त का झगड़ा (चलता है न) ! निमित्त हो तो होता है... निश्चय-व्यवहार का झगड़ा, व्यवहार से निश्चय होता है। अरेरे प्रभु! क्या करता है तू ? निमित्त, वह परद्रव्य; उपादान स्वद्रव्य की पर्याय होती है, तब निमित्त हो, परन्तु परद्रव्य से इसमें कुछ होता है — ऐसा नहीं है। इसी प्रकार व्यवहार हो, रागरूप व्यवहार पृथक् हो, परन्तु उससे भगवान आत्मा भिन्न है। राग से तो आत्मा को कुछ लाभ होता है — ऐसा है नहीं। राग से तो नुकसान होता है। आहाहा! समझ में आया ?

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में तो यहाँ तक कहा है कि तीर्थंकर गोत्र बाँधे, वह भाव और आहारक शरीर जिस भाव से बँधे, वह (भाव) अपराध है। आहाहा! वह आत्मा नहीं। आहाहा! यह आत्मा प्रभु अन्दर शुद्ध चैतन्यघन है न! आहाहा! उसमें सावधान हो जा और यह स्वद्रव्य मेरा है — ऐसा अनुभव कर। राग को (अपना मानना) छोड़ दे। आहाहा! ऐसी बात है।

श्रोता : समकित प्राप्ति का उपाय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह उपाय यह। बाकी वह सब दूसरा करने को कहते हैं। समकित उत्पत्ति के कारण - व्यवहार डालेंगे। पंचम काल के अन्त तक साधु... बापू! साधु भी कहा साधु, बापू! गम्य क्षेत्र में तो दिखते नहीं। मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखते हैं — अरे प्रभु! किसका विवाद करता है भाई! अभी तो सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं... आहाहा! साधुपना (तो कहाँ रहा) ? बापू! प्रभु तेरे हित की बात है, नाथ! अहित के पन्थ में तू हित मान लेगा (तो) दुःख होगा, भाई! आहाहा! उसे अपमान लगे कि हम ऐसा करते हैं और मुनिपना नहीं ? बापू! तुझे दुःख किसका ? यह राग की क्रिया वह दुःखरूप है, इससे आत्मा का आनन्द प्राप्त हो — ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! इस प्रकार यह द्रव्य मेरा है। राग भी नहीं, दया, दान, व्रत, विकल्प वह मैं नहीं। आहाहा! यह स्त्री, कुटुम्ब, परिवार तो कोई मेरे हैं नहीं। यह तो परचीज है, इसके कारण आयी है और टिक रही है, परन्तु मुझमें मेरे अपराध से जो विकल्प होता है, वह भी मेरी चीज नहीं है। आहाहा!

भावार्थ : यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है;.... यह रागादि, पुण्यादि भाव वह वास्तव में पुद्गलद्रव्य है। आहाहा! **उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतनद्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं,....** राग, शरीर और प्रभु आत्मा अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! आहाहा! धीर का काम है, भाई! चेतनद्रव्य सर्वथा भिन्न है। **कभी भी किसी भी प्रकार से....** कभी भी और किसी भी प्रकार से.... **एकरूप नहीं होते....** आहाहा! राग का विकल्प और प्रभु आत्मा, किसी काल में किसी प्रकार से एक नहीं होते। निश्चय से नहीं परन्तु व्यवहार से तो है या नहीं? ऐसा भी नहीं, यह कहते हैं। आहाहा! **ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है;....** 'सव्वन्हु नाण दिठ्ठो' भगवान ने तो उपयोगरूपी आत्मा सर्वज्ञ ने देखा है और वह अनुपयोग राग (रूप) कैसे हो जाये? भगवान ने तो तेरे आत्मा को राग से भिन्न देखा है। आहाहा! भगवान ने देखा है, वैसा तू देख! आहाहा! मैं ज्ञान, दर्शन, उपयोग (स्वरूप आत्मा), राग से भिन्न हूँ; उपयोग मेरी चीज है। आहाहा! ऐसा भगवान ने देखा है। **इसलिए हे अज्ञानी! तू परद्रव्य को एकरूप मानना छोड़ दे;....** आहाहा! इस व्यवहार के राग से मुझे लाभ होगा (— यह बात) छोड़ दे। आहाहा! समझ में आया? परद्रव्य को एकरूप मानना छोड़ दे। **व्यर्थ की मान्यता से बस कर।** आहाहा! झूठी मान्यता से 'अलम्'। आहाहा! अब श्लोक कहेंगे।

कलश - २३

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥२३॥

श्लोकार्थ : [अयि] 'अयि' यह कोमल सम्बोधन का सूचक अव्यय है। आचार्यदेव कोमल सम्बोधन कहते हैं कि हे भाई! तू [कथम् अपि] किसी प्रकार महा कष्ट से अथवा [मृत्वा] मरकर भी [तत्त्वकौतूहली सन्] तत्त्वों का कौतूहली होकर [मूर्तेः मुहूर्तम् पार्श्ववर्ती भव] इस शरीरादि से मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर [अनुभव] आत्मानुभव कर [अथ येन] कि जिससे [स्वं विलसन्तं] अपने आत्मा के विलासरूप, [पृथक्] सर्व परद्रव्यों से भिन्न [समालोक्य] देखकर [मूर्त्या साकम्] इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ [एकत्वमोहम्] एकत्व के मोह को [झगिति त्यजसि] शीघ्र ही छोड़ देगा।

भावार्थ : यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह के आने पर भी डिगे नहीं, तो घातियाकर्म का नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके, मोक्ष को प्राप्त हो। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है तब मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम है; इसलिए श्रीगुरु ने प्रधानता से यही उपदेश दिया है।

कलश - २३ पर प्रवचन

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥२३॥

'अयि' यह कोमल सम्बोधन का सूचक अव्यय है।.... अव्यय — हे भगवान! हे आत्मा! ऐसा। हे भव्य जीव! टीका में तो ऐसा लिया है कि हे मित्र! अयि का अर्थ अध्यात्म में (परमाध्यात्म तरंगिणी) है मित्र! आहाहा! हे भगवान आत्मा! हे मित्र! ऐसा कहकर कहा है। आहाहा! **आचार्यदेव कोमल सम्बोधन कहते हैं कि हे भाई!** आहाहा! **कथम् अपि — किसी प्रकार महा कष्ट से....** चाहे जितनी प्रतिकूलता हो तो भी उसे छोड़कर स्वभाव का अनुभव कर। आहाहा! महापुरुषार्थ से, मरकर भी... आहाहा!

माया को मार डालकर, आहाहा! राग और उदयभाव, वह माया है। वह माया है, वह आत्मा की चीज नहीं है। स्थायी टिकती नहीं, वह तो अस्थिर है। आहाहा! उसको मारकर, भगवान आनन्दस्वरूप से जीवन कर। आहाहा! ऐसा काम है। **तत्त्वों का कौतूहली होकर....** आहाहा! तत्त्वों की विस्मयता को जानकर... आहाहा! राग के समीप अन्दर प्रभु चैतन्य-चिन्तामणि रत्न भगवान पड़ा है। आहाहा! कामधेनु, चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, सुरतरु, देव का वृक्ष — ऐसा भगवान आत्मा सुरतरु देवस्वरूप वृक्ष है। आहाहा! ऐसे भगवान को कौतुहली होकर, कौतुहल तो कर, कहते हैं। तुझे बाहर में कौतुहलता लगती है, शरीर जरा सुन्दर दिखे और जरा पैसा मिले और स्त्री जरा रूपवान हो, वहाँ इसे कौतुहल लगता है। आहाहा! यह क्या है? प्रभु! यह तो हड्डियों की फासफूस (चमक) है। श्मशान में हड्डियाँ होती हैं न? और उनमें चमक होती है न, अग्नि। फोसफरस... लड़के ऐसा कहते हैं कि वहाँ व्यन्तर है व्यन्तर, वहाँ नहीं जाना। व्यन्तर कहाँ होता है? हड्डियाँ ऐसी पड़ी हों, उसमें चमक होती है। इसी प्रकार यह जगत की चमक बाहर की है, श्मशान की हड्डियों की चमक की तरह यह शरीर, वाणी, पैसा, मकान, बाह्य (चीजें हैं)। आहाहा! प्रभु कहते हैं, उनकी कौतुहलता प्रभु! एक बार छोड़ और अन्दर की कौतुहलता कर। आहाहा!

यह किसे पड़ी है? इस राग के पर्दे में क्या चीज है यह? आहाहा! प्रभु इतनी-इतनी महिमा करते हैं तीन लोक के नाथ आत्मा की महिमा करे — तू देवादिदेव, तू सिद्धरूप, परम अमृत का पिण्ड, आहाहा! अनन्त गुण का धाम, शक्ति का संग्रह, आहाहा! क्या है यह तो! ऐसे एक बार कौतुहल तो कर! अर्थात्? अन्तर अवलोकन करने के लिए प्रयत्न तो कर! — ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कौतुहल का अर्थ यह किया। आहाहा! तेरी ज्ञान की पर्याय पर को देखती है तो उस पर्याय को एक बार कौतुहल तो कर कि यह आत्मा क्या है — ऐसा अवलोकन तो कर! आहाहा! अपनी ज्ञानपर्याय में स्वरूप का अवलोकन - कौतुहल तो कर कि यह क्या है? एक बार अवलोकन तो कर! आहाहा! ऐसी बातें हैं।

'भवमूर्तेः मुहूर्तम् पार्श्ववर्ती' इस शरीरादि से मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी हो जा.... जैसे पड़ोसी है तो उसका मकान दूसरा, तेरा मकान दूसरा। आहाहा! एक बार दो घड़ी मूर्त रागादि पदार्थ से... आहाहा! आहाहा! पड़ोसी की चीज

देखकर ऐसा माने कि यह मेरी चीज है? आहाहा! यह पड़ोसी होकर अनुभव कर। आहाहा! राग का, पुण्य का, शरीर का पड़ोसी होकर; भगवान उससे भिन्न है — ऐसा अन्तर अनुभव कर। आहाहा! **कि जिससे 'स्वं विलसन्तं' अपने आत्मा के विलासरूप,....** आहाहा! भगवान आत्मा का स्वविलास, आहाहा! अन्दर बड़ा बाग पड़ा है। वहाँ जा और उसकी सुगन्ध ले। उस ओर जाकर आत्मा का विलास कर। आहाहा! **अपने आत्मा के विलासरूप 'पृथक्' सर्व परद्रव्यों से भिन्न....** आहाहाहा!

'समालोक्य' देखकर 'मूर्त्या साकम्' इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ.... आहाहा! रागादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ **'एकत्वमोहम्' एकत्व के मोह को 'झगिति त्यजसि'....** प्रभु! तू **शीघ्र ही छोड़ देगा।** आहाहाहा! गजब बात! यह विधि है भाई! आहाहा! यह पहले तो सुनने को मिले नहीं, उसे समझने को नहीं मिले... अरे! आहाहा! दीन होकर मृत्यु करके चला जाता है। आहाहा! चौरासी के अवतार में कहीं! एक बार प्रभु ऐसा कर न कि... आहाहा!

भाई! तेरी चीज राग से भिन्न पड़ी है न प्रभु? भिन्न है, उसका सावधान होकर अनुभव कर। आहाहा! तो **झगिति त्यजसि....** राग की एकता का मोह तत्काल छूट जायेगा। आहाहा! समझ में आया? उसी क्षण छूट जायेगा। आहाहा! भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु का राग से भिन्न अनुभव कर तो तेरी राग की एकतारूपी मोह **'झगिति'** उसी क्षण छूट जायेगा। आहाहा! और वस्तु का स्वरूप ग्रहण हो जायेगा — ऐसी बातें हैं। आहाहा!

'एकत्वमोहम् झगिति त्यजसि'.... भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, उपयोगस्वरूप, रागादि अनुपयोग से भिन्न पड़ा है और वे दो कभी एक हुए ही नहीं तो उसकी दृष्टि कर, उस ओर सावधान हो, उसका अवलोकन करने की कौतुहलता तो कर! आहाहा! तो उसी क्षण 'एकत्वमोहम्' — राग का एकत्वरूपी मिथ्यात्वभाव... जिनबिम्ब के दर्शन से — ऐसा होता है लो, पाठ ऐसा है। पाठ है वह जिनबिम्ब यह, केवली की स्तुति कहा न? इस केवली की स्तुति करे, सच्ची स्तुति; केवली की स्तुति अर्थात् इस आत्मा की स्तुति। अनन्त आनन्दकन्द प्रभु आत्मा के गुण ग्राम का सत्कार स्वभाव का हो, त्रिकाल स्वभाव का सत्कार-स्वीकार हो, वह केवली की स्तुति है। आहाहा!

धवल में यह आता है — जिनबिम्ब के दर्शन से निद्धत और निकाचित् कर्म का नाश होता है — ऐसा पाठ आता है। भाई! परन्तु किसे ? जिनबिम्ब के दर्शन तो अनन्त बार किये। आहाहा! और स्वर्ग में तो असंख्य जिनबिम्ब विराजमान हैं; स्वर्ग में — भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, और वैमानिक में असंख्य प्रतिमाएँ-जिनप्रतिमाएँ शाश्वत् हैं, वहाँ अनन्त बार उत्पन्न हुआ है। आहाहा! और उत्पन्न होते ही प्रथम उन जिनबिम्ब के दर्शन करने जाता है — ऐसा शास्त्र में लेख है परन्तु वह तो शुभभाव है। वह जिनबिम्ब नहीं; यह जिनबिम्ब प्रभु, वीतरागस्वभाव से ठसाठस भरा हुआ जिनबिम्ब यह (आत्मा) है। आहाहा! उसका अनुभव कर, उसका अवलोकन कर, उसका दर्शन कर, उसकी प्रतीति कर, उसका ज्ञान करके विश्वास कर। आहाहा! ऐसी कठिन बातें! **शीघ्र ही छोड़ देगा।... झगिति** का अर्थ शीघ्र किया। **त्यजसि** का अर्थ छोड़ देगा (किया है।) आहाहा!

भावार्थ : यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करे.... यह सम्यग्दर्शन पाने की कला! यह बात है भाई! आहाहा! शास्त्र में आता है, देवदर्शन-देव की ऋद्धि बड़ी हो, उसे देखना-उससे समकित पाता है, यह तो निमित्त का कथन है। आहाहा! ऐसा तो अनन्त बार हुआ, तो भी करे, तब उसे निमित्तरूप से कहा जाता है। आहाहा! नन्दीश्वर द्वीप (में) भगवान बावन जिनालय १०८-१०८ रत्न की शाश्वत् प्रतिमा हैं। देव महोत्सव करने वहाँ हमेशा जाते हैं — कार्तिक शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा, फाल्गुन शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा, आषाढ़ शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा - तीन बार — ऐसा तो अनन्त बार किया है। आहाहा! वह तो शुभभाव है, पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा!

यह भगवान जिनबिम्ब प्रभु (निजात्मा), आहाहा! इसके दर्शन और अवलोकन करने से मिथ्यात्व का क्षण में नाश हो जायेगा। आहाहा! प्रकाश हुआ, वहाँ अन्धकार नहीं रह सकता। आहाहा! तेरी भ्रान्ति नाश हो जायेगी। भगवान का दर्शन करने से भ्रान्ति का नाश हो जायेगा। यह (निज) भगवान, हों! यह लोग विवाद उठाते हैं बाहर के... सब शास्त्र में ऐसा आता है देव की ऋद्धि देखने से, आहाहा! वेदना से आता है लो न ? नारकी की महा तीव्र वेदना से समकित पाता है परन्तु वेदना तो अनन्त बार हुई है, क्यों प्राप्त नहीं हुआ ? यह तो जिसे वह पाने में अन्दर जाता है, उसका लक्ष्य ऐसा अन्दर जाता है।

आहाहा! यह ? अरेरे! यह दुःख यह ? ऐसा लक्ष्य होता है, वह लक्ष्य बदल डालता है, तब वेदना से हुआ — ऐसा कहा जाता है। आहाहा! उसकी पीड़ा, बापू! नरक की पीड़ा! दस हजार वर्ष की स्थिति पहले नरक में-जघन्य स्थिति दस हजार, उत्कृष्ट स्थिति एक सागर, पहली नरक में; ऐसे जाये सातवें नरक में तैंतीस सागर! आहाहा! हजारों बिच्छु, ठाकरिया कड़क बिच्छु होता है न, वह ऐसे काटे, उससे भी अनन्तगुनी पीड़ा वहाँ है, भाई! तू वहाँ अनन्त बार रहा है प्रभु! आहाहा! इसलिए शास्त्र में तो ऐसा आता है कि वेदना से भी पाता है। परन्तु कौन ? उस वेदना का लक्ष्य किया कि अरेरे यह ? मैं कौन हूँ ? इस प्रकार जो आत्मा में गया, उसे वेदना से किया - ऐसा निमित्त से हुआ — ऐसा कहा जाता है। आहाहा! ऐसी वेदना तो प्रभु! अनन्त बार सहन की है भाई! आहाहा! मनुष्यरूप से भी वेदना का पार नहीं है। आहाहा! कीड़े पड़ें, हाँ! आहाहा!

एक बार कहा था न ? लाठी की एक लड़की थी, अठारह वर्ष की छोटी उम्र, दो वर्ष का विवाह, उसमें शीतला निकली। शीतला क्या कहलाती है यह ?

श्रोता : चेचक।

पूज्य गुरुदेवश्री : चेचक; उसमें एक-एक दाने में एक-एक कीड़ा, कीड़ा। आहाहा! बिस्तर पर सोये परन्तु आहाहा! रोवे... रोवे... रोवे... अठारह वर्ष की जवान लड़की, (बोले) माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में नहीं किये, मुझसे सहन नहीं किया जाता, नहीं रहा जा सकता, क्या करूँ ? आहाहा! वह ऐसी की ऐसी मर गयी। लाठी। आहाहा! ऐसा तो प्रभु अनन्त बार... यह तो साधारण है परन्तु जीवित राजकुमार का विवाह हो आज का, जिसमें करोड़ों-अरबों रुपये खर्च किये हों, वह जवान पच्चीस वर्ष का जवान, उसे टाटा की अग्नि की जीवित डाले। टाटा की अग्नि है न ? जमशेदपुर देखा है न ? आहाहा! हम वहाँ गये थे, जमशेदपुर-भाई! वहाँ रहते थे न नरभेरामभाई, देखने गये थे, वहाँ बड़ा लोहे का बनता है, वहाँ अग्नि - अग्नि भड़...भड...भड़ उस जवान राजकुमार का विवाह आज का और अरबों रुपये का खर्च, उसे जीवित अग्नि में डाले, उस पीड़ा से अनन्तगुनी पीड़ा नरक में है प्रभु! आहाहा! आहाहा! ऐसी पीड़ा प्रभु! तूने अनन्त बार सहन की है। एक बार अब तेरे आनन्द को देख न अब! आहाहा!

है ? **अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह के आने पर भी डिगे नहीं,....** आहाहा ! **तो घातियाकर्म का नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके, मोक्ष को प्राप्त हो ।....** आहाहा ! ऐसी स्थिति में तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होता है, कहते हैं। ऐसी तेरी ताकत है। आहाहा ! **आत्मानुभव की ऐसी महिमा है, तब मिथ्यात्व का नाश करके....** आहाहा ! अतीन्द्रिय आनन्द में लीन... लीन... लीन... लीन... लीन... होते-होते जहाँ केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वहाँ मिथ्यात्व का नाश करना तो साधारण बात है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा ! है ? **तब मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम है;....** आहाहा ! आनन्द के नाथ में सम्यग्दर्शनपूर्वक जहाँ अन्दर में रमते हैं, अन्दर जमावट जाती है। आहाहा ! जम जाये जहाँ आनन्द में; केवलज्ञान हो जाता है, तो एक क्षण में स्वरूप की ओर का अनुभव करके मिथ्यात्व का नाश करना तो सुगम है — ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? है ? **तब मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम है; इसलिए श्रीगुरु ने प्रधानता से यही उपदेश दिया है।** मुख्यरूप से यह उपदेश दिया है। आहाहा !

श्रोता : यहाँ सुगम कहा, कहीं कठिन कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! यह कठिन तो अपेक्षा से कहा है। बोधिदुर्लभ भावना ! दूसरा अनन्त बार मिला और यह मिला नहीं। इस अपेक्षा से दुर्लभ कहते हैं। आहा !

श्रोता : दोनों में से सत्य क्या है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों सत्य हैं।

श्रोता : सुलभ भी सच्चा और दुर्लभ भी सच्चा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा था न, हम तो कहते थे न, सम्प्रदाय में, हजारों लोग तब एकत्रित हुए थे न ! अस्सी के साल, कितने वर्ष हुए ? ५४ वर्ष। बोटाद में चातुर्मास था, हजारों लोग आवें, साढ़े तीन सौ घर.... व्याख्यान चले तब 'कानजीस्वामी पढ़ने बैठे हैं' इसलिए हजारों लोग पार नहीं, ५५ वर्ष पहले। एक बार ऐसा कहा था — उसमें से श्वेताम्बर में उत्तराध्ययन है, उसमें एक ब्राह्मण के छह पुत्रों की कथा है, फिर वे लड़के वैराग्य प्राप्त करते हैं। फिर माता के समीप जाकर आज्ञा माँगते हैं, माता से वे लड़के कहते

हैं, यह गाथा जब व्याख्यान में चलती थी तब लोग ऐसे... ५५ वर्ष पहले। 'अजेय धम्मम् परिवज्जयामो जहीं पवन नाम पुनः भवामो' — हे माता! मैं आत्मा के आनन्द की उग्र दीक्षा लेने के लिए आज ही अंगीकार करूँगा, 'अजेय धम्म परिवज्जयामो' — माता! आनन्द के नाथ को प्रगट करने के लिए हम वन में चले जायेंगे; हमें यहाँ कहीं चैन नहीं पड़ती। 'अजेय धम्मम् परिवज्जयामो जहीं पवन नाम पुनः भवामो' — माता! जननी! कोलकरार करते हैं माँ! फिर से अब हम माता नहीं करेंगे। माँ! फिर से अवतार नहीं करेंगे अब। आहाहा!

उस समय बोटाद में बहुत बड़ी सभा थी। सेठ बैठे हों - पचास-पचास हजार की आमदनीवाले, सुनते, पहले से ऐसी शैली हैं न यहाँ तो, आहाहा! 'अजेय धम्मम् परिवज्जयामो' हम आज ही आनन्द के स्वरूप का चारित्र अंगीकार करना चाहते हैं, 'जही पवनाम पुनः भवामो' माता! जिसे अंगीकार करने पर दूसरी माता और दूसरा भव न करने की हमारे प्रतिज्ञा है। 'अनागयं ऐवअतिकिंची' तीसरा पद — माता! 'अणागंय ऐवअतिकिंची' अनन्त काल में कौन सी चीज अप्राप्त रह गयी है? 'अणागयं निरअति किंची' माता! गत काल में — भूतकाल में कौन सी चीज बाकी रह गयी है कि जो प्राप्त न हुई हो। अनन्त काल में अनन्त बार स्वर्ग मिला, अनन्त बार सेठाई मिली, 'अणागयमेव अतिहिंची, श्रद्धाकम्म मे।' माता! श्रद्धा करो 'विनय तु रागम्' माँ! अब हमारे प्रति राग छोड़ दे। आहाहा! हम वन में अकेले चले जायेंगे। आहाहा! जहाँ हमारा कोई नहीं है, आहाहा! बाहर में, आहाहा! उस वन में बाघ की दहाड़ पड़ती हो - सिंह की, हम तो वहाँ आनन्द में झूलेंगे। आहाहा! 'एकाकी विचरूँगा फिर श्मशान में' आहाहा! यह तो वह दशा प्राप्त करना सरल तो फिर समकित प्राप्त करना तुझे मुश्किल कैसे है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यह यहाँ कहा — **श्रीगुरु ने प्रधानता से यही उपदेश दिया है।** आहाहा! समकित प्राप्त करने का (उपदेश दिया है)। आहाहा! यह लोग इस प्रकार कहते हैं — बाहर से ऐसा होता है और ऐसा होता है, गुरु का विनय करे और गुरु की भक्ति करे.... हो, परन्तु वह राग है, वह तो आता है, राग होता है, परन्तु उससे कोई आत्मा का सम्यग्दर्शन

प्राप्त करता है — यह चीज नहीं है, प्रभु! आहाहा! वैसे तो ऐसा कहे 'विनय मोक्ष का द्वार है' विनय मोक्ष का द्वार, परन्तु कौन-सी विनय? आहाहा! अपने अनन्त आनन्द के नाथ की विनय, उसका सत्कार - स्वीकार करना, वह विनय। भगवान की विनय तो आवे, प्रभु! परन्तु वह शुभराग है। आहाहा! आज दशवाँ दिन है, दशलक्षण पर्व है न? आहाहा! ऐसे दशलक्षण पर्व भी अनन्त बार गये प्रभु! तेरे ऊपर। आहाहा! अनन्त-अनन्त भव में... आहाहा! जैन सम्प्रदाय में, दिगम्बर सम्प्रदाय में भी अनन्त बार जन्म हुआ और अनन्त ऐसा हुआ परन्तु तूने आत्मा अन्दर में क्या चीज है, यह जानने का कौतुहल नहीं किया। आहाहा!

गाथा २६

अथाहाप्रतिबुद्धः–

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो।।२६।।

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः।।

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा –

(शार्दूलविक्रीड़ित)

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः।।२४।।

– इत्यादिका तीर्थकराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात्। ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यमिति ममैकान्तिकी प्रतिपत्तिः।

अब, अप्रतिबुद्ध जीव कहता है उसकी गाथा कहते हैं —

जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेश की।
मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीवदेह की!॥२६॥

गाथार्थ : अप्रतिबुद्ध जीव कहता है कि — [यदि] यदि [जीवः] जीव [शरीरं न] शरीर नहीं है तो [तीर्थकराचार्यस्तुतिः] तीर्थंकरों और आचार्यों की जो

स्तुति की गयी है वह [सर्वा अपि] सभी [मिथ्या भवति] मिथ्या है; [तेन तु] इसलिए हम (समझते हैं कि) [आत्मा] जो आत्मा है वह [देहः च एव] देह ही [भवति] है।

टीका : जो आत्मा है वही पुद्‌गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर है। यदि ऐसा न हो तो तीर्थंकरों और आचार्यों की जो स्तुति की गयी है, वह सब मिथ्या सिद्ध होगी।

श्लोकार्थ : [ते तीर्थेश्वराः सूरयः वन्द्याः] वे तीर्थंकर और आचार्य वन्दनीय हैं। कैसे हैं वे ? [ये कान्त्या एव दशदिशः स्नपयन्ति] अपने शरीर की कांति से दसों दिशाओं को धोते हैं — निर्मल करते हैं, [ये धाम्ना उद्दाम-महस्विनां धाम निरुन्धन्ति] अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि के तेज को ढक देते हैं, [ये रूपेण जनमनः मुष्णन्ति] अपने रूप से लोगों के मन को हर लेते हैं, [दिव्येन ध्वनिना श्रवणयोः साक्षात् सुखं अमृतं क्षरन्तः] दिव्यध्वनि से (भव्यों के) कानों में साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं और वे [अष्टसहस्त्रलक्षणधराः] एक हजार आठ लक्षणों के धारक हैं।

— इत्यादिरूप से तीर्थंकरों-आचार्यों की जो स्तुति है वह सब ही मिथ्या सिद्ध होती है। इसलिए हमारा तो यही एकान्त निश्चय है कि जो आत्मा है वही शरीर है, पुद्‌गलद्रव्य है। इस प्रकार अप्रतिबुद्ध ने कहा।

गाथा - २६ एवं कलश-२४ पर प्रवचन

अब, अप्रतिबुद्ध जीव कहता है उसकी गाथा.... जब बहुत जोर दिया कि राग और शरीर आत्मा का है ही नहीं, तब अप्रतिबुद्ध (जीव पूछता है।) आहाहा! आहाहा! महाराज! तुम इतना अधिक जोर देते हो तो हम कहते हैं शास्त्र की बात, सुनो।

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो।।२६।।

जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेश की।
मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीवदेह की!॥२६॥

आहाहा! शिष्य ने शास्त्र में से प्रश्न उठाया है कि तुम भगवान के देह की तो स्तुति करते हो, तो देह और आत्मा एक न हो तो ऐसी स्तुति क्यों करते हो — ऐसा अज्ञानी का प्रश्न है। आहाहा!

टीका : जो आत्मा है, वही पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर है। यदि ऐसा न हो.... यह पुद्गलद्रव्यस्वरूप शरीर है.... आत्मा है, वही पुद्गलद्रव्यस्वरूप शरीर है — ऐसा कहते हैं। आत्मा जो है, यह पुद्गलद्रव्य शरीर है, वही आत्मा है। यदि ऐसा न हो तो हम प्रश्न करते हैं **(यदि ऐसा न हो तो) तीर्थंकरों और आचार्यों की जो स्तुति की गयी है,....** तीर्थंकर के शरीर की स्तुति की गयी है तो **वह सब मिथ्या सिद्ध होगी।** समझ में आया? सब मिथ्या सिद्ध होगी। आहाहा!

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः।।२४।।

आहाहा! शिष्य प्रश्न करता है कि तुम तो शरीर से आत्मा भिन्न... भिन्न और आत्मा, वह शरीर नहीं। तो हम तो कहते हैं — शास्त्र में तो तीर्थंकर के शरीर की स्तुति चली है, शरीर की स्तुति की तो वह आत्मा की स्तुति हुई।

श्रोता : वरना करते किसलिए हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वरना करते किसलिए हो? आहाहा!

'ते तीर्थेश्वराः सूरयः वन्द्याः' वे तीर्थंकर और आचार्य वन्दनीय हैं। कैसे हैं? अपने शरीर की कांति से दसों दिशाओं को धोते हैं.... आहाहा! उन तीर्थंकर का शरीर कान्तिमान दशों दिशाओं को धोता है — ऐसा प्रकाश... प्रकाश... प्रकाश पड़ता है। अन्धकार ऐसे उलट जाता है। आहाहा! ऐसा, प्रभु का-किसका गुणगान करते हो तुम? यह शरीर का गुणगान है! आत्मा, शरीर है तो आप गुणगान करते हैं ऐसा? शरीर की कान्ति से दसों दिशाओं को धोते हैं। **निर्मल करते हैं...** भगवान के शरीर की कान्ति परमोदारिक है — ऐसी कान्ति कि सूर्य के तेज के समक्ष जिसका तेज छा जाता है — आप क्या महिमा

करते हो ? शरीर की या आत्मा की ? तीर्थंकर के शरीर की स्तुति हुई, वह तीर्थंकर की स्तुति हुई — ऐसा है नहीं। सुन तो सही! आहाहा!

'कान्त्या एव दशदिशः स्नपयन्ति' अपने शरीर की कांति से दसों दिशाओं को धोते हैं 'ये धाम्ना उद्दाम-महस्विनां धाम निरुन्धन्ति' अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि के तेज को (ढक देते हैं,....) आहाहा! जिनके शरीर की कान्ति के तेज के समक्ष सूर्य का तेज हीन पड़ जाता है। समझ में आया? **'ये रूपेण जनमनः मुष्णन्ति' अपने रूप से लोगों के मन को हर लेते हैं,....** भगवान का इतना रूप है, शरीर का... आहाहा! अपने रूप से लोगों के मन को हर लेते हैं। **'दिव्येन ध्वनिना श्रवणयोः साक्षात् सुखं अमृतं क्षरन्तः'** आहाहा! दिव्यध्वनि! लो, आया दिव्यध्वनि तो जड़ है। हम स्तुति तो करते हैं। समझ में आया? **दिव्यध्वनि से (भव्यों के) कानों में साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं....** आहाहा! भगवान की दिव्यध्वनि, इन्द्र और नरेन्द्र बैठे हों, मानो साक्षात् अमृत झरता हो — ऐसा लगता है। आहाहा! जिसमें सिंह और बिल्ली, बिल्ली और चूहा एक साथ बैठे हों, बिल्ली को बैर नहीं उछलता, उस वाणी का तो आप इतना गुणगान करते हो, वाणी तो जड़ है। जड़ का गुणगान करते हो तो तीर्थंकर की स्तुति हो गयी, शरीर की स्तुति से (तीर्थंकर की स्तुति हो गयी)। अरे! सुन तो सही, भाई! **कानों में साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं और वे एक हजार आठ लक्षणों के धारक हैं।** लो! भगवान के शरीर में एक हजार आठ लक्षण होते हैं। पैर में, हाथ में हाथी का, कल्पवृक्ष का ऐसा चिह्न होता है, यह सब तो आपने शरीर का गुणगान किया; इसमें आत्मा की महिमा क्या है ? आत्मा, वह शरीर है; इसलिए आपने शरीर का गुणगान किया है। यह तो आत्मा के.... **इत्यादिरूप से जो तीर्थंकर-आचार्यों की स्तुति है मिथ्या सिद्ध होती है।....** यदि आप ऐसी स्तुति करते हो और कहते हों कि यह शरीर, आत्मा नहीं है तो वह मिथ्या स्तुति होगी (ऐसा) शिष्य का प्रश्न है। **इसलिए हमारा तो यही एकान्त निश्चय है कि जो आत्मा है वही शरीर है,....** आहाहा! यह **पुद्गलद्रव्य है। इस प्रकार अप्रतिबुद्ध ने कहा।** इसका उत्तर देंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा २७

नैवं, नयविभागानभिज्ञोऽपि–

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो।।२७।।

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेक:।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थ:।।

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयो: समावर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कन्धव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं, न पुनर्निश्चयत:, निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयो: कनककलधौतयो: पीतपाण्डुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यन्तव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्ते: नानात्वमेवेति। एवं हि किल नयविभाग:। ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवननेनात्मस्तवनमुपपन्नम्।

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; तू नयविभाग को नहीं जानता। जो नयविभाग इस प्रकार है, उसे गाथा द्वारा कहते हैं —

जीव देह दोनों एक हैं, यह वचन है व्यवहार का।
निश्चयविषैं तो जीव देह, कदापि एक पदार्थ ना॥२७॥

गाथार्थ : [व्यवहारनय:] व्यवहारनय तो [भाषते] यह कहता है कि [जीव: देह: च] जीव और शरीर [एक: खलु] एक ही [भवति] है; [तु] किन्तु [निश्चयस्य] निश्चयनय के अभिप्राय से [जीव: देह: च] जीव और शरीर [कदा अपि] कभी भी [एकार्थ:] एक पदार्थ [न] नहीं हैं।

टीका : जैसे इस लोक में सोने और चाँदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है, उसी प्रकार आत्मा और शरीर की परस्पर एक क्षेत्र में रहने की अवस्था होने से एकपने का व्यवहार होता है। यों व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकपना है, परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है; क्योंकि निश्चय से देखा जाये तो, जैसे पीलापन आदि और सफेदी आदि जिसका स्वभाव है — ऐसे सोने और चाँदी में अत्यन्त भिन्नता होने से उनमें एक पदार्थपने की असिद्धि है, इसलिए अनेकत्व ही है; इसी प्रकार उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है — ऐसे आत्मा और शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से एक पदार्थपने की असिद्धि है, इसलिए अनेकत्व ही है। ऐसा यह प्रगट नयविभाग है। इसलिए व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है।

भावार्थ : व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है और निश्चयनय से भिन्न है; इसलिए व्यवहारनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन माना जाता है।

प्रवचन नं. ८८　　गाथा २७-३०, श्लोक २५-२६　　दिनाङ्क २१-०९-१९७८ गुरुवार
भाद्र कृष्ण ५,　वीर निर्वाण संवत् २५०४

ऐसा कहा कि शरीर और आत्मा तो एक है क्योंकि आप स्तुति तो भगवान की और आचार्य की करते हो, वह सब पुण्य का फल और शरीर की स्तुति करते हो; इसलिए मैं तो ऐसा मानता हूँ कि शरीर और आत्मा एक है। जरा सूक्ष्म बात आयेगी। यहाँ अप्रतिबुद्ध ने ऐसा कहा.... एकान्त व्यवहार ही होता है और निश्चय का पता नहीं, वह अकेले व्यवहार को मानता है, वह मिथ्या है, वह झूठ है — ऐसा कहना है।

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; तू नयविभाग को नहीं जानता।.... व्यवहारनय को रखा अवश्य है, वह है अवश्य परन्तु उससे भिन्न निश्चयनय को वह नहीं जानता। आहाहा! **जो नयविभाग इस प्रकार है,....** २७ (गाथा)।

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो।।२७।।

जीव देह दोनों एक हैं, यह वचन है व्यवहार का।
निश्चयविषैं तो जीव देह, कदापि एक पदार्थ ना॥२७॥

जरा सूक्ष्म रीति से बात की है। **टीका : जैसे इस लोक में सोने और चाँदी को गलाकर....** सोना और रूपा-चाँदी, **एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है,....** एक पिण्ड का व्यवहार होता है। **उसी प्रकार आत्मा और शरीर की परस्पर एक क्षेत्र में रहने की....** जगह है।

श्रोता : आकाश का क्षेत्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्हें इसमें तो जरा ऐसा कहना है कि यह विकल्प से स्तुति है, वह विकल्प स्वयं व्यवहारस्तुति है और विकल्प, पर की स्तुति करता है, पर के प्रति ऐसा लक्ष्य जाता है न उसका, इसलिए वास्तव में तो वह विकल्प की स्तुति है, वह शरीर की स्तुति है — ऐसा कह दिया है। विकल्प से स्तुति है, वह विकल्प वास्तव में निश्चयनय से पुद्गल है और उससे शरीर की स्तुति की, क्योंकि उसका लक्ष्य वहाँ पर के ऊपर है, वह वास्तविक स्तुति नहीं है परन्तु यह वस्तुस्थिति है ही नहीं — ऐसा नहीं है। आहाहा! कहेंगे धीरे से, हों! बड़ा व्यवहार का-नय का झगड़ा है न?

आत्मा और शरीर की परस्पर एक क्षेत्र में रहने की अवस्था होने से.... आहाहा! **एकपने का व्यवहार होता है।....** आहाहा! **यों व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकपना है, परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है;....** आहाहा! **क्योंकि निश्चय से विचार किया जाये तो जैसे पीलापन आदि और सफेदी आदि....** पीलापन, सोने का गुण है और सफेदपन, चाँदी का (गुण है) **ऐसे सोने और चाँदी में अत्यन्त भिन्नता होने से....** भले एक पिण्डरूप से कहा सोना और चाँदी इकट्ठा है, इसलिए यह सोना सफेद है — ऐसा कहा परन्तु सफेद तो चाँदी है, सोना तो पीला है। आहाहा! क्या शैली रखी! **उनमें एक पदार्थपने की असिद्धि है, इसलिए अनेकत्व ही है,....** सोना, सोना है और चाँदी, चाँदी है। भले ही एक पिण्डरूप से कहे गये हों। **इसी प्रकार....** आहाहा! **उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है....** आहाहा! जानना-देखना — ऐसा उपयोग जिसका-आत्मा का स्वभाव है। आहाहा! और व्यवहारस्तुति

रागादि-शरीरादि, वह अनुपयोग जिसका स्वभाव है। आहाहा! **ऐसे आत्मा और शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से....** ऐसा आत्मा को और राग को अत्यन्त भिन्नपना होने से... समझ में आया? **(उनमें एक पदार्थपने की असिद्धि है....)** एक पदार्थपने की प्राप्ति नहीं है। राग और आत्मा एकरूप नहीं है; वैसे ही शरीर और आत्मा एकरूप नहीं है। आहाहा! **इसलिए अनेकत्व ही है। ऐसा यह प्रगट नयविभाग है।....** आहाहा!

व्यवहारनय तो आत्मा को और शरीर को एक कहता है। आगे कहेंगे — व्यवहारनय से भी यह फल है — ऐसा कहेंगे। इसका अर्थ? यह व्यवहार झूठा कहा, इस कारण भगवान की स्तुति और यह हो ही नहीं सकती — ऐसा नहीं है। यह परमार्थवस्तु नहीं है, इसलिए उसे असत्यार्थ कहा है। जैसे ११वीं गाथा में पर्याय को असत्यार्थ कहा, वह तो त्रिकाली की अपेक्षा से असत्यार्थ कहा है, परन्तु पर्याय की अपेक्षा से पर्याय है। इसी प्रकार विकल्प से भगवान की स्तुति... क्योंकि विकल्प है, वह पर में लक्ष्य जाता है इसका — शरीर और.... यह। यह विकल्प से स्तुति है। यह परमार्थस्तुति नहीं है परन्तु (जिसे) परमार्थस्तुति है, उसे विकल्प-भाव आता है; इस कारण व्यवहार स्तुति होती है। आहाहा! ऐसी बातें हैं! समझ में आया?

जयसेनाचार्यदेव की टीका में तो साध्य-साधक लिया है। व्यवहार साधन है — (ऐसा) निमित्त से कहा है न विकल्प। (व्यवहार) है — ऐसा सिद्ध करते हैं इतना। ऐसा करके एक आर्यिका ऐसी है कि देखो! भगवान की मूर्ति और प्रतिमा की स्तुति, यह सब झूठा है; इसलिए हम स्थानकवासी मानते हैं, वह सच्चा है - ऐसा कहते हैं। किस अपेक्षा से कहा है? यह तो अकेली विकल्प से स्तुति करते हैं और पर की ओर का उसका लक्ष्य है, इस अपेक्षा से झूठ है परन्तु निर्विकल्प दृष्टि हुई, राग से भिन्न आत्मा की स्तुति हुई, उसे जो विकल्प आता है, वह विकल्प व्यवहारस्तुति है। है भले वह राग की ओर पुद्गल की है; वह विकल्प है, वह स्वयं ही पुद्गल है और राग! आहाहा! ऐसा अटपटा लगता है। व्यवहारस्तुति नहीं है — ऐसा नहीं परन्तु व्यवहारस्तुति, वह परमार्थस्तुति नहीं है - ऐसा है। आहाहा!

परमार्थस्तुति तो भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है, उस ओर की एकाग्रता

के आश्रय में उसका सत्कार-स्वीकार होना। आहाहा! वह निश्चय, सत्य, अबन्धपरिणामी निश्चयस्तुति है। समझ में आया? आहाहा!

और अकेला व्यवहार है, वह झूठा है — इतना सिद्ध करना है परन्तु निश्चयस्तुतिवाले को ऐसा व्यवहार-विकल्प आता है और भगवान का गुण (गान) होता है, वह भगवान का गुण गाता है, वह तो वास्तव में पर का और शरीर का है, आत्मा का नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

इसलिए यहाँ कहा, यही बात आगे की गाथा में कहते हैं। देखो, २८ गाथा! ऐसी विशिष्टता से रखा है कि व्यवहार झूठा है — ऐसा कहा फिर भी उनकी स्तुति करने से अथवा उनकी-भगवान की प्रतिमा या मूर्ति देखने से शान्तभाव, अर्थात् शुभभाव होता है और उसे देखने से शान्ति ऐसी है — ऐसा ज्ञान में लक्ष्य आता है। है तो शुभभाव, परन्तु वह शुभभाव अत्यन्त है ही नहीं और न ही हो — ऐसा नहीं है। समझ में आया? वह शुभभाव होता है। निश्चय के अनुभव की अपेक्षा रखकर (होता है) क्योंकि श्रुतज्ञान होने पर आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन होने पर जो भावश्रुतज्ञान हुआ, उसके दो भेद — निश्चय (नय) और व्यवहारनय पड़ जाते हैं; इसलिए ज्ञानी को भी व्यवहारनय होता है परन्तु अकेला व्यवहारनय वह हितकर है — ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ज्ञानी को वह व्यवहारनय आता है, उसमें शुभभाव होता है और उससे राग द्वारा भगवान के, परद्रव्य के; आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य, वह अद्रव्य हो गया, अर्थात् यह आत्मा नहीं, अर्थात् शरीर हो गया। क्या कहा समझे?

इस आत्मा के अतिरिक्त विकल्प उठा, वह भी एक न्याय से शरीर है और जिसकी स्तुति की जाती है, वह भी यह आत्मा नहीं है; इसलिए वह शरीर ही है। व्यवहारस्तुति है न? आहाहा! चाहे तो भले भगवान के, सर्वज्ञ के विकल्प से उसका वह करे तो भी वह तो राग है और वह राग है, वह कहीं स्वभाव की स्तुति नहीं है। इसके आत्मा का जो स्वभाव है, उसकी स्तुति नहीं है। आहाहा! यह व्यवहार बिल्कुल झूठा है, ऐसा कहना है — ऐसा वहाँ नहीं है। व्यवहार है अवश्य परन्तु व्यवहार, निश्चय का कारण है — ऐसा नहीं है, तथापि निमित्त कथन से ऐसा कहा जाता है। निमित्त को साधनरूप से, उपचार से,

व्यवहार से, अभूतार्थनय से कहा जाता है। अरे! इतने सब... समझ में आया?

इस स्तुति में बड़ी गड़बड़ है, वह आर्यिका कहती है देखो! समयसार कहता है कि मूर्ति और मूर्ति की पूजा तथा स्तुति झूठी है। आहाहा! और आत्मसिद्धि में कहीं मूर्ति आयी नहीं है कहीं, श्रीमद् में है न, ख्याल है परन्तु इससे भगवान की प्रतिमा और उसकी स्तुति का विकल्प ज्ञानी को हो ही नहीं — ऐसा नहीं है।

श्रोता : विकल्प आ जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आ जाता है। आहाहा! निश्चयस्तुति तो अपने स्वरूप में एकाग्रता, वह निश्चय; उसे श्रुतज्ञान का व्यवहारनय आवे, वह व्यवहारनय अर्थात् विकल्प... व्यवहारनय का विषय विकल्प और फिर उसका विषय पर, आहाहा! उसे यहाँ शरीर की स्तुति, वह आत्मा की स्तुति नहीं है। विकल्प से स्तुति, वह आत्मा की स्तुति नहीं है — इतनी बात है। तथापि जो निर्विकल्प स्तुति है, उसे पूर्ण वीतराग नहीं, तब उसे विकल्प की स्तुति आये बिना रहती ही नहीं। होती है, साधक है न? इसलिए ऐसा का ऐसा निषेध नहीं कर डाले (कि) व्यवहारस्तुति का विकल्प है, वह हो ही नहीं तो वह झूठा है। इसी प्रकार वह व्यवहारस्तुति है, वह मोक्ष का कारण है — ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा बहुत अन्तर... बहुत कठिन काम। इसमें पकड़ा गये हो न, उसमें फिर अपनी दृष्टि से इसका अर्थ करना — ऐसा नहीं होता, भाई! आहाहा!

गाथा २८

तथा हि–

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं।।२८।।

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वन्दितो मया केवली भगवान्।।

यथा कलधौतगुणस्य पाण्डुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पाण्डुरं कार्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः, तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थकरकेवलि–पुरुष इत्यस्ति स्तवनम्। निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव।

यही बात इस गाथा में कहते हैं —

जीव से जुदा पुद्गलमयी, इस देह की स्तवना करी।
माने मुनी जो केवली, बंदन हुआ स्तवना हुई॥२८॥

गाथार्थ : [जीवात् अन्यत्] जीव से भिन्न [इदम् पुद्गलमयं देहं] इस पुद्गलमय देह की [स्तुत्वा] स्तुति करके [मुनिः] साधु [मन्यते खलु] ऐसा मानते हैं कि [माया] मैंने [केवली भगवान्] केवली भगवान की [स्तुतः] स्तुति की और [वंदितः] वन्दना की।

टीका : जैसे, परमार्थ से सफेदी, सोने का स्वभाव नहीं है, फिर भी चाँदी का

जो श्वेतगुण है, उसके नाम से सोने का नाम 'श्वेत स्वर्ण' कहा जाता है, यह व्यवहारमात्र से ही कहा जाता है; इसी प्रकार, परमार्थ से शुक्ल-रक्तता तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्वभाव न होने पर भी, शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं, उसके स्तवन से तीर्थंकर-केवली पुरुष का 'शुक्ल-रक्त तीर्थंकर केवलीपुरुष' के रूप में स्तवन किया जाता है, वह व्यवहारमात्र से ही किया जाता है, किन्तु निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं हो सकता।

भावार्थ : यहाँ कोई प्रश्न करे कि — व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है, तब व्यवहाराश्रित जड़ की स्तुति का क्या फल है? उसका उत्तर यह है — व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, उसे निश्चय को प्रधान करके असत्यार्थ कहा है और छद्मस्थ को अपना, पर का आत्मा साक्षात् दिखायी नहीं देता, शरीर दिखायी देता है, उसकी शान्तरूप मुद्रा को देखकर अपने को भी शान्तभाव होते हैं। ऐसा उपकारसमझकर शरीर के आश्रय से भी स्तुति करता है तथा शान्तमुद्रा को देखकर अन्तरंग में वीतरागभाव का निश्चय होता है, यह भी उपकार है।

गाथा - २८ पर प्रवचन

यहाँ तो यह कहते हैं देखो! २८ गाथा

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं।।२८।।

जीव से जुदा पुद्गलमयी, इस देह की स्तवना करी।
माने मुनी जो केवली, बंदन हुआ स्तवना हुई॥२८॥

टीका : जैसे, परमार्थ से सफेदी सोने का स्वभाव नहीं है, फिर भी चाँदी का जो श्वेत गुण है, उसके नाम से सोने का नाम 'श्वेत स्वर्ण'.... सफेद सोना - ऐसा कहते हैं न? सफेद सोना — ऐसा नाम **कहा जाता है, यह व्यवहारमात्र से ही कहा जाता है; इसी प्रकार, परमार्थ से शुक्ल-रक्तता तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्वभाव न होने पर भी,....** स्वर्णवर्णी भगवान — ऐसा आता है न? सोलह तीर्थंकर

स्वर्णवर्णी.... **शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं, उसके स्तवन से तीर्थंकर-केवली पुरुष का 'शुक्ल-रक्त तीर्थंकर केवलीपुरुष' के रूप में स्तवन किया जाता है, वह व्यवहारमात्र से ही किया जाता है....** देखा? व्यवहार सिद्ध किया।

भगवान परमात्मा परवस्तु है, उनकी स्तुति है, वह विकल्प है; वास्तव में तो वह पुद्गल है और वह स्वयं पुद्गल, अर्थात् इस आत्मा के अतिरिक्त पर की स्तुति का विकल्प ज्ञानी को भी आता है परन्तु वह मोक्ष का वास्तविक कारण नहीं है। आहाहा! इतना (सिद्ध करना है)। आहाहा! आगे-पीछे करके मार्ग बदल डाला।

श्रोता : सम्यग्दर्शन को निश्चयस्तुति कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्तुति है परन्तु फिर भी वह स्तुति होने पर भी, ऐसा विकल्प का-व्यवहारस्तुति का भाव आता है, तथापि वह सच्ची स्तुति नहीं है, फिर भी वह व्यवहार बीच में आये बिना रहता नहीं है — ऐसा बहुत अटपटा काम! आहाहा!

वास्तव में तो जो विकल्प उत्पन्न होता है, वही वास्तव में तो पर शरीर है और उसकी स्तुति जो — पर की ऐसे करते हैं, इस आत्मा को सिवाय पर की, पर है वह अनात्मा है, इस अनुसार तो — इस द्रव्य की अपेक्षा से तो भगवान के द्रव्य को भी अद्रव्य कहा गया है। आहाहा! ऐसा है भाई! इसी प्रकार भगवान आत्मा की अपेक्षा से, भगवान का आत्मा भी इस अपेक्षा से अनात्मा कहा जाता है। उनकी अपेक्षा से आत्मा है। आहाहा! ऐसे अनात्मा की, अर्थात् शरीर की... आहाहा! वह स्तुति व्यवहार से की जाती है परन्तु निश्चय से उनका स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं होता, आहाहा! परन्तु विकल्प से-पर के स्तवन से स्व का निश्चय स्तवन नहीं होता। समझ में आया? आहाहा!

आहाहा! आहाहा! यह कलश में आता है न भाई! पहले आत्मा और अनात्मा... शुरुआत में आता है, कलश में आता है। इस आत्मा के अतिरिक्त दूसरे सब अनात्मा कहे जाते हैं। इस अपेक्षा से, हों! यह द्रव्य है, वह स्वद्रव्य है और स्वद्रव्य की अपेक्षा से भगवान का द्रव्य, अद्रव्य कहा जाता है। आहाहा! उनकी अपेक्षा से उनका द्रव्य; इसकी अपेक्षा से अद्रव्य। आहाहा! उनकी अपेक्षा से उनका आत्मा, आत्मा परन्तु इसकी अपेक्षा से उनका आत्मा, अनात्मा। अरे! ऐसी सब कठिन बातें, ओहोहो! इसलिए कोई व्यवहारस्तुति

है, उसे झूठा कहा; इसलिए होती ही नहीं — ऐसा नहीं है। झूठी का अर्थ ? — वह बन्ध का कारण है। व्यवहारनय का विषय राग और स्तुति है, वह सब बन्ध का कारण है, इस अपेक्षा से उसे झूठा कहा है परन्तु वह वस्तु है ही नहीं (– ऐसा नहीं है।) आहाहा! ऐसा शुभभाव होता है परन्तु उससे भगवान की स्तुति–तीर्थंकर की स्तुति....

देखो! (शरीर का स्तवन करने से) आत्मा का स्तवन नहीं होता, इतनी बात है। विकल्प द्वारा अपने आत्मा के अनन्त गुण के पिण्ड की स्तुति के अतिरिक्त जितनी पर की स्तुति है, वह वास्तविक–यथार्थ स्तुति नहीं है। समझ में आया ? इस कारण अयथार्थ स्तुति होने से उस स्तुति का भाव और परसन्मुख का जो स्तुति का लक्ष्य, वह वस्तु ही नहीं — ऐसा नहीं है। अरे! इतने सब.... (पहलू समझना)!

इसलिए कहते हैं देखो! **भावार्थ : यहाँ कोई प्रश्न करे कि — व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा है....** है ? **शरीर जड़ है, तब व्यवहाराश्रित जड़ की स्तुति का क्या फल है ?....** आहाहा! **उसका उत्तर यह है — व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है,....** वह है ही नहीं — ऐसा नहीं है। आहाहा! **निश्चय को प्रधान करके असत्यार्थ कहा है....** देखा ? अन्दर भगवान आत्मा के आनन्द की एकाग्रता की स्तुति, उस निश्चय की प्रधानता की अपेक्षा से विकल्प की स्तुति को झूठा कहा है। आहाहा! **और छद्मस्थ को....** अब देखो! वह विकल्प है न, इसलिए विकल्प में कहीं भगवान का आत्मा ज्ञात नहीं होता। **छद्मस्थ को अपना, पर का आत्मा साक्षात् दिखायी नहीं देता,....** है ? व्यवहार से शरीर दिखायी देता है। आहाहा! अपना ही अपना विकल्प दिखायी देता है व्यवहार से, और सामनेवाले का भी उसके बाह्य शरीर को वह देखता है, अथवा भले उसके गुण हों परन्तु इन गुण की अपेक्षा से वह अनात्मा है। आहाहा! यहाँ फिर कहेंगे कि भाई! यह भगवान की स्तुति नहीं है तो निश्चयस्तुति किसे कहना ? तब भगवान की निश्चयस्तुति — ऐसा नहीं लिया। यह आत्मा अन्दर में अनन्त आनन्द का कन्द प्रभु, इसके सन्मुख होकर एकाग्र होना, वह निश्चय केवली की स्तुति है। अब स्तुति यहाँ कहना उसकी और निश्चयस्तुति, आहाहा! अरे! यह मार्ग तो प्रभु! स्याद्वाद से किस अपेक्षा से कहा है, यह न समझकर खींचतान करे और व्यवहारस्तुति से कल्याण हो

जायेगा — ऐसा माने वह मिथ्या है और व्यवहारस्तुति आती ही नहीं — समकिती को ज्ञानी को भी (व्यवहारस्तुति आती ही नहीं) — यह भी मिथ्या है। है? वह यहाँ कहते हैं, देखो! **उसकी शान्तरूप मुद्रा को देखकर....** देखो! है तो पर, परन्तु शुभभाव आया है; इसलिए भगवान की मूर्ति, प्रतिमा या भगवान साक्षात् हों, आहाहा! **शान्तरूप मुद्रा को देखकर अपने को भी शान्तभाव होते हैं।....** शुभभाव! समझ में आया? मुद्रा देखकर – यह निमित्त से कथन है, परन्तु अपने को ऐसा शुभभाव होता है, तब ऐसे देखने पर शान्त है — ऐसा इसे लगता है। इसकी ज्ञान की पर्याय में (ऐसा लगता है)। आहाहा! क्या शैली!

ऐसा उपकार समझकर.... देखा? **शरीर के आश्रय से भी स्तुति करता है....** अर्थात् विकल्प का भाव आता है। आहाहा! और निर्विकल्प प्रभु आत्मा की स्तुति के अतिरिक्त ऐसा विकल्प का भाव होता है। आहाहा! बहुत फेरफार... मध्यस्थता से बात न समझे और खींचतान करते हैं... यहाँ तो कहा है, फिर स्पष्टीकरण किया है कि उससे शान्तभाव होता है, अर्थात् शुभभाव होता तो स्वयं से है परन्तु उसका लक्ष्य वहाँ जाता है। आहाहा! व्यवहार का लक्ष्य ही पर के प्रति जाता है और निश्चय का लक्ष्य स्व के प्रति है। आहाहा! परन्तु वह व्यवहारनय का विषय-स्तुति, वह मोक्ष का मार्ग नहीं है। समझ में आया? तथापि बन्ध का-विकल्प का मार्ग बीच में आये बिना नहीं रहता, वह भी ज्ञानी को; अज्ञानी को तो निश्चय नहीं तो व्यवहार भी नहीं। आहाहा! ऐसा सब बहुत कहाँ फेरफार...?

देखा? **शान्तमुद्रा को देखकर अन्तरंग में वीतरागभाव का निश्चय होता है...** देखा? लक्ष्य है न, पर के ऊपर कि... आहाहा! शान्त प्रतिमा मुद्रा! वीतरागमुद्रा देखकर केवलज्ञान याद आता है। आता है न? समयसार नाटक में आता है, चौदह गुणस्थान के अधिकार में (आता है कि) मुद्रा देखकर... आहाहा! है तो शुभभाव परन्तु उसके लक्ष्य में, आहाहा! इसलिए ऐसा भाव आता है। इसलिए व्यवहारस्तुति को भी अवकाश है, इतनी बात है। परन्तु वह व्यवहारस्तुति है, इसलिए निश्चयस्तुति का कारण है — ऐसा नहीं है। अरे...! बहुत कठिन, फेरफार... व्यवहारनय है ही नहीं — ऐसा

उत्थापित करे, वह झूठा है तथा व्यवहार से निश्चय का लाभ होता है — ऐसा मानता है, वह भी झूठा है। अब, ऐसी बात कहाँ!

वीतराग भाव का निश्चय होता है... देखा? स्वयं मानो कि, आहाहा! ऐसे वीतराग... ऐसे वीतराग... वह किसे? कि जिसे निश्चयस्तुति का स्वभाव प्रगट हुआ है, उसे शुभभाव में ऐसा ज्ञात होता है। आहाहा! देखो! भावार्थ कर्ता ने ऐसा स्पष्टीकरण किया है। व्यवहारस्तुति को स्थापित किया है, (वह) है, परन्तु वह बन्ध का कारण है; इस कारण उसे निश्चयस्तुति नहीं कहा जाता है परन्तु निश्चयस्तुति नहीं कहा जाता है; इसलिए व्यवहारस्तुति का भाव ही नहीं होता - ऐसा नहीं है। अरे! ऐसी बातें! क्षण में हाँ और क्षण में ना! क्या अपेक्षा है यह जानना चाहिए न? आहाहा! इस आत्मा की अपेक्षा से दूसरे सभी आत्मायें भी अनात्मा और अद्रव्य हैं। आहाहा! इसलिए वास्तव में तो वे इस जीव की अपेक्षा से अजीव हैं, जीव नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। इसलिए अजीव की स्तुति है। वह शुभविकल्प है, वह अजीव है और सामनेवाले की स्तुति है, वह भी यह जीव नहीं, इसलिए अजीव है। इसलिए (व्यवहार) स्तुति (को) झूठी कहा है परन्तु वह भाव आये बिना नहीं रहता है। भावश्रुतज्ञान है न? तो दो नय के भेद उसके पड़ते हैं, उसे निश्चय और व्यवहार, समकिती को ही व्यवहारनय होता है, अज्ञानी को व्यवहारनय नहीं होता। नय ही नहीं है जहाँ (भाव) श्रुतज्ञान नहीं वहाँ नय कैसा? आहाहा! अब ऐसे विवाद में... यहाँ तो शान्तमुद्रा देखकर... है तो पर, वास्तव में तो इस जीव की अपेक्षा से वे सब अजीव हैं। वास्तव में तो वे शरीर हैं। आहाहा! क्योंकि विकल्प उत्पन्न हुआ, वह स्वयं ही शरीर-पुद्गल है। आहाहा! यह गाथा बहुत अटपटी है।

गाथा २९

तथा हि –

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि।।२९।।

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवन्ति केवलिनः।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति।।

यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पाण्डुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः, कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्; तथा तीर्थकरकेवलि-पुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं, तीर्थकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात्।

ऊपर की बात को गाथा में कहते हैं —

निश्चयविषैं नहिं योग्य ये, नहिं देह गुण केवलि हि के।
जो केवली गुण को स्तवे, परमार्थ केवलि वो स्तवे॥२९॥

गाथार्थ : [तत्] वह स्तवन [निश्चये] निश्चय में [न युज्यते] योग्य नहीं है [हि] क्योंकि [शरीरगुणाः] शरीर के गुण [केवलिनः] केवली के [न भवंति] नहीं होते; [यः] जो [केवलिगुणान्] केवली के गुणों की [स्तौति] स्तुति करता है, [सः] वह [तत्त्वं] परमार्थ से [केवलिनं] केवली की [स्तौति] स्तुति करता है।

टीका : जैसे चाँदी का गुण जो सफेदपना, उसका सुवर्ण में अभाव है; इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नहीं बनता, सुवर्ण के गुण जो पीलापन

आदि हैं, उनके नाम से ही सुवर्ण का नाम होता है; इसी प्रकार शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं, उनका तीर्थंकर-केवलीपुरुष में अभाव है; इसलिए निश्चय से शरीर के शुक्ल रक्तता आदि गुणों का स्तवन करने से तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता है, तीर्थंकर-केवलीपुरुष के गुणों का स्तवन करने से ही तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन होता है।

गाथा - २९ पर प्रवचन

अब, ऊपर की बात को गाथा से सिद्ध करते हैं, अब इसे क्यों व्यवहार कहा और निश्चय क्यों नहीं कहा? — इसका वर्णन करते हैं।

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि।।२९।।

निश्चयविषैं नहिं योग्य ये, नहिं देह गुण केवलि हि के।
जो केवली गुण को स्तवे, परमार्थ केवलि वो स्तवे॥२९॥

टीका : जैसे चाँदी का गुण जो सफेदपना, उसका सुवर्ण में अभाव है.... देखा? **इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नहीं बनता,....** है? सफेदपने के नाम से सोने का नाम.... क्योंकि सोने में सफेदपने का अभाव है। आहाहा! **सुवर्ण के गुण जो पीलापन आदि हैं, उनके नाम से ही सुवर्ण का नाम होता है; इसी प्रकार....** ओहोहो! किस प्रकार? **शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं....** क्योंकि विकल्प जो है, वह परतरफ का है (ऐसा होने से) वह आत्मा को नहीं देखता। आहाहा! वह तो सामने उसका शरीर और उसके गुण,... भले यहाँ गुण लिये गये, तथापि वह पर को देखता है। आहाहा! ओहोहो! क्या शैली! **शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं उनका तीर्थंकर-केवलीपुरुष में अभाव है....** आहाहा! तीर्थंकर और उनका जो आत्मा, उनके आत्मा में इनका अभाव है। आहाहा! **इसलिए निश्चय से शरीर के शुक्ल-रक्तता आदि गुणों का स्तवन करने से तीर्थंकर-केवलीपुरुष का**

स्तवन नहीं होता है,..... आहाहा! आहाहा! **तीर्थंकर-केवलीपुरुष के गुणों का स्तवन करने से ही....** फिर देखो? **तीर्थंकर-केवलीपुरुष के गुणों का स्तवन करने से....** परन्तु इसका अर्थ? इस आत्मा के गुणों का स्तवन करने से। आहाहा! भगवान ज्ञायकस्वरूप, पूर्ण आनन्दस्वरूप — यह आत्मा, उसकी निर्विकल्पदृष्टि से स्तवन करने से... आहाहा! यह केवली की स्तुति होती है। समझ में आया?

श्रोता : बहुत स्पष्टता की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाबूभाई! ऐसा सब फेरफार है ऐसा। क्या हो! खींचतान करते हैं। यहाँ तो यह कहते हैं कि तीर्थंकरपुरुष का स्तवन होता है परन्तु वह केवल तीर्थंकर (केवलीपुरुष का) स्तवन पुरुष का होता है — इसका अर्थ? यह आत्मा के गुणों का स्तवन होता है वह। आहाहा! वह आता है न 'ज्ञातारं मोक्षमार्ग नेतारं ज्ञातारं भूप्रतां वन्दे तदगुण लब्ध्ये' इसका अर्थ यह लोग ऐसा करते हैं 'हे प्रभु! आपकी स्तुति से आपके गुण मुझे प्राप्त होओ।' 'तद्गुणलब्ध्ये — ऐसा है न, परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है। आहाहा! उनकी स्तुति के काल में मेरी ओर का जो स्वभाव में जोर है, उसका मुझे लाभ प्राप्त होओ, उसका लाभ होओ — ऐसी बात है क्या हो? ऐसी भगवान की स्तुति करने से लाभ होता है? आहाहा! भाई! यह कहा न, अमृतचन्द्राचार्य ने (कहा है न) 'कलमासिता' मेरे परिणाम अभी कलुषित वर्तते हैं पर्याय में! मुनि हूँ, आचार्य हूँ। आहाहा! परन्तु मैं शुद्ध चैतन्यद्रव्य हूँ — ऐसा मुझे भान है फिर भी पर्याय में अनादि की कलमासिता परिणति खड़ी है। इसकी यह टीका करते-करते उसका नाश हो जाओ। अब, टीका करते हुए तो टीका करते हुए तो (टीका) करने का (भाव) तो विकल्प है परन्तु मेरा जोर उस समय अन्दर में है। उसके जोर की वृद्धि हो जाओ। उस काल में, उससे नहीं — ऐसा सब बहुत फेरफार।

श्रोता : उससे अर्थात् उसके निमित्त से, उपादान मेरा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसा है। अभी सत्य समझने में भी अपना आग्रह रखते हैं और सत्य को नहीं समझते तो अब इसे वह सत्य अन्दर हाथ कहाँ से आयेगा? आहाहा!

गाथा ३०

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यत इति चेत्-

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति।।३०।।

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति।।

तथा हि-

(आर्या)

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम्।।२५।।

- इति नगरे वर्णितेऽपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्रकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात्।

अब, शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है, इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चय से क्यों युक्त नहीं है? उसके उत्तररूप दृष्टान्तसहित गाथा कहते हैं —

रे ग्राम वर्णन करने से, भूपाल वर्णन हो न ज्यों।
त्यों देहगुण के स्तवन से, नहिं केवलीगुण स्तवन हो ॥३०॥

गाथार्थ : [यथा] जैसे [नगरे] नगर का [वर्णिते अपि] वर्णन करने पर भी

[राज्ञः वर्णना] राजा का वर्णन [न कृता भवति] नहीं किया जाता; इसी प्रकार [देहगुणे स्तूयमाने] शरीर के गुण का स्तवन करने पर [केवलिगुणाः] केवली के गुणों का [स्तुताः न भवन्ति] स्तवन नहीं होता।

टीका : उपरोक्त अर्थ का काव्य कहते हैं।

श्लोकार्थ : [इदं नगरम् हि] यह नगर ऐसा है कि जिसने [प्राकार-कवलित-अम्बरम्] कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है (अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है), [उपवनराजी-निगीर्ण-भूमितलम्] बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को निगल लिया है, (अर्थात् चारों ओर बगीचों से पृथ्वी ढक गयी है) और [परिखावलयेन पातालम् पिबति इव] कोट के चारों ओर की खाई के घेरे से मानो पाताल को पी रहा है (अर्थात् खाई बहुत गहरी है)।

इस प्रकार नगर का वर्णन करने पर भी, उससे राजा का वर्णन नहीं होता क्योंकि, यद्यपि राजा उसका अधिष्ठाता है तथापि, वह राजा कोट-बाग-खाई आदिवाला नहीं है।

गाथा - ३० पर प्रवचन

अब, शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है.... है ? शरीर का स्वामी है, मालिक है। आहाहा! **इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चय से क्यों युक्त नहीं है ?....** आहाहा! यह वहाँ भी कहा है न? प्रवचनसार! व्यवहार — निश्चय ये सब जितने विकल्प हैं, उनका अधिष्ठाता आत्मा है। आहाहा! व्यवहार से मोक्ष होता है, क्रिया से होता है — ऐसा आता है न ? क्रिया से होता है, ज्ञान से होता है, व्यवहार से होता है, निश्चय से होता है — ये सभी धर्म एक समय में गिनने में आये हैं और उनका अधिष्ठाता आत्मा है — ऐसा वहाँ कहा है, आहाहा! क्योंकि उसमें होता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि शरीर को और आत्मा को, अधिष्ठाता उसका स्वामी है या नहीं ? यह स्वामी — ऐसा नहीं है, यहाँ जो कहा ऐसा नहीं है। आहाहा! **इसलिए शरीर के**

स्तवन से आत्मा का स्तवन क्यों युक्त नहीं है ? उसके उत्तररूप (दृष्टान्तसहित गाथा कहते हैं —)

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति।।३०।।

रे ग्राम वर्णन करने से, भूपाल वर्णन हो न ज्यों।
त्यों देहगुण के स्तवन से, नहिं केवलीगुण स्तवन हो ॥३० ॥

आहाहा! **यह नगर ऐसा है कि....** आहाहा! यह विकल्प की स्तुति और सब भगवान का यह सब नगर का वर्णन है, आत्मा का नहीं। आहाहा! **यह नगर ऐसा है कि जिसने कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है (अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है),....** गढ़ कि पूरे आकाश को ग्रसित कर जाये, इतना ऊँचा गढ़ है — ऐसा। इस नगर का कोट इतना ऊँचा है कि आकाश को ग्रसित कर गया है — ऐसा।

(श्रोताओं को लक्ष्य करके कहा) यहाँ तो अब बहुत जगह है - नीचे। ऊपर बैठते हैं तो यहाँ बहुत जगह है, कोई ऊपर बैठे हैं, नीचे बैठना चाहिए, तो सब ऊपर बैठते हैं, सुनने आवें वे यहाँ ऊँचे बैठे, इसका क्या अर्थ है ? है जगत की इतनी स्वच्छन्दता, कुछ व्यवहार का भी पता नहीं होता। यहाँ (शास्त्र) पढ़ा जा रहा है, उससे ऊँचा बैठना.... वह तो उस दिन लोग नहीं समा रहे थे — एक साथ बैठ नहीं सक रहे थे, सबके साथ इसलिए.... पूरे जगत की रीत ऐसी। आहाहा!

यह क्या कहा ? इस नगर के कोट ने आकाश को ग्रसित किया है, इतना बड़ा - ऊँचा है परन्तु यह तो नगर का वर्णन है। आहाहा!

श्रोता : राजा का नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसी प्रकार भगवान के गुणों का या भगवान के शरीर का, यह सब नगर का वर्णन है — पर का है। आहाहा! समझ में आया ? **'उपवनराजी-निगीर्ण-भूमितलम्' बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को निगल लिया है,....** अर्थात् इतने अधिक बगीचे हैं कि मानो बगीचे पूरी भूमि को निगल गये हैं... परन्तु यह वर्णन तो नगर का हुआ; उसके राजा का नहीं हुआ। आहाहा! **(चारों ओर बगीचों से पृथ्वी ढक**

गयी है) और 'परिखावलयेन पातालम् पिबति इव' कोट के चारों ओर की खाई के घेरे से मानो पाताल को पी रहा है.... गढ़ मानों आकाश का हो गया, वर्तमान में बगीचा पृथ्वी को निगल लिया, पाताल में खाई.... आहाहा! आहाहा!

इस प्रकार नगर का वर्णन करने पर भी उससे राजा का वर्णन नहीं होता क्योंकि, यद्यपि राजा उसका अधिष्ठाता है.... निमित्तरूप से। **तथापि, वह राजा कोट-बाग-खाई आदिवाला नहीं है।** आहाहा! आहाहा! इस नगर के वर्णन का निमित्तरूप से राजा अधिष्ठाता कहलाता है, तथापि यह राजा का वर्णन नहीं है।

इसी प्रकार विकल्प से वर्णन हो, आहाहा! वह आत्मा का वर्णन नहीं है; वह तो अनात्मा आदि पुद्गल का — शरीर का वर्णन है। आहाहा! ऐसा है। कोट, बाग, खाई आदिवाला राजा नहीं है। है ? आहा! यह विकल्प से स्तुति करे परन्तु इस विकल्पवाला आत्मा नहीं है। आहाहा! ऐसे विकल्प से इस भगवान की स्तुति करे परन्तु यह आत्मा वहाँ नहीं है। आहाहा! बहुत गम्भीरता! निश्चय और व्यवहार.... अलौकिक गम्भीरता!!

कलश - २६

इसी प्रकार शरीर का स्तवन करने पर, तीर्थंकर का स्तवन नहीं होता, यह भी काव्य द्वारा कहते हैं —

(आर्या)

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति॥२६॥

श्लोकार्थ : [जिनेन्द्ररूपं परं जयति] जिनेन्द्र का रूप उत्कृष्टता जयवन्त वर्तता है, [नित्यम्-अविकार-सुस्थित-सर्वांगम्] जिसमें सभी अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, [अपूर्व-सहज-लावण्यम्] जिसमें (जन्म से ही) अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है (जो सर्वप्रिय है) और [समुद्रं इव अक्षोभम्] जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है, चलाचल नहीं है।

इस प्रकार शरीर का स्तवन करने पर भी उससे तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता क्योंकि यद्यपि तीर्थंकर-केवलीपुरुष के शरीर का अधिष्ठातृत्व है तथापि, सुस्थित सर्वांगता, लावण्य आदि आत्मा के गुण नहीं हैं, इसलिए तीर्थंकर-केवलीपुरुष के उन गुणों का अभाव है।

कलश - २६ पर प्रवचन

इसी प्रकार शरीर का स्तवन करने पर तीर्थंकर का स्तवन नहीं होता,.... इसका अर्थ कि विकल्प से चाहे तो परमात्मा तीर्थंकरदेव का स्तवन करो तो भी वह वास्तव में आत्मा का स्तवन नहीं है; वह शरीर का स्तवन है — पुद्‌गल का है। आहाहा!

भगवान और भगवान की वाणी को इन्द्रिय कहा है न? आयेगा न अब! (गाथा) ३१ में आयेगा। इन्द्रिय कहो या पुद्‌गल कहो या पर कहो। आहाहा! स्व आत्मा के अनन्त आनन्दकन्द के समक्ष प्रभु! यह भगवान की वाणी और भगवान स्वयं इन्द्रिय है। आहाहा! अर्थात् वह पुद्‌गल है, अर्थात् वह पर है। आहाहा! वह शरीर है। उसका — नगर का वर्णन, वह आत्मा का वर्णन नहीं है। विकल्प से जो वर्णन होता है - भले भगवान के गुण का (वर्णन हो) परन्तु वह आत्मा का वर्णन नहीं है। आहाहा! गजब शैली! दिगम्बर सन्तों की गजब बात!! गजब बात! ऐसी बात कहीं नहीं है। आहाहा! श्लोक रखा है, २६ वाँ कलश है न? २५ वाँ? २५ वाँ आ गया।

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति॥२६॥

श्लोकार्थ : जिनेन्द्र का रूप उत्कृष्टता जयवन्त वर्तता है, आहाहा! **'नित्यम्-अविकार-सुस्थित-सर्वांगम्' जिसमें सभी अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं,....** शान्त... शान्त... शान्त... आहाहा! भले प्रकार सुखरूप सुस्थित है परन्तु यह तो पर की - शरीर की बात है। **'अपूर्व-सहज-लावण्यम्' जिसमें (जन्म से ही) अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है (जो सर्वप्रिय है)....** ऐसी लावण्यता है। आहाहा! शरीर की

इतनी सुन्दरता और कोमलता और लावण्यता (है कि) देखनेवाले को प्रिय लगते हैं परन्तु यह सब तो नगर का वर्णन — शरीर का वर्णन हुआ। अरे! उनके गुणों का वर्णन करे तो भी विकल्प है न? परद्रव्य है न? आहाहा! उसमें यह आत्मा का वर्णन नहीं आया। आहाहा! **'समुद्रं इव अक्षोभम्' जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है, चलाचल नहीं है।** शान्त... शान्त... एक लड़के को देखा था, अस्सी की साल में, बोटाद में। कौन जाने कैसा सात-आठ वर्ष का लड़का परन्तु देखो तो ऐसा गम्भीर... गम्भीर... गम्भीर... गम्भीर — ऐसा बैठा हो तो मानो कोई चंचलता नहीं, कुछ नहीं — सामायिक लेकर बैठा तो उसके पिता के साथ आया था। (संवत्) ८० की बात है। बोटाद, परन्तु उसके शरीर की कौन जाने इतनी गम्भीरता कि बालकपना ही नहीं दिखता। यह तो एक साधारण पुण्य, हीन प्राणी, आहाहा! उसके पिता को कहा था कि यह लड़का ऐसी गम्भीर मुद्रा, कभी कुछ हँसना या कुछ विस्मय लगे, कुछ नहीं, कहते हैं। आठ वर्ष का बालक था। ८० की बात है। २० और ३४ — चौबन वर्ष हुए।

यह तो तीन लोक के नाथ, उनके शरीर की लावण्यता का क्या कहना, तथापि वह तो परद्रव्य का गुण है। आहाहा! भगवान के गुण गाना, भगवान के गुण गाना, वह भी शरीर के और पर के हैं; आत्मा के नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन काम भाई! क्योंकि भगवान के गुण गाना, वे गुण कहीं तेरे नहीं हैं। वह तो तेरी अपेक्षा से तो वे सब गुण ही नहीं हैं। आहाहा! इस भाव की अपेक्षा से भगवान का भाव, वह अभाव है। आहाहा! ऐसा है। वीतरागमार्ग बहुत गम्भीर, भाई! आहाहा! अगाध गम्भीर, भाई! आहाहा! उनका निश्चय और उनका व्यवहार, वह कोई बात है! आहाहा! **इस प्रकार शरीर का स्तवन करने पर भी, उससे तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता....** आहाहा! शुभराग से-विकल्प से भगवान के गुणगान गाना, वह भी शरीर का है; आत्मा का नहीं। आहाहा! तेरे आत्मा के नहीं। **यद्यपि तीर्थंकर-केवलीपुरुष के शरीर का अधिष्ठातृत्व है....** निमित्त का (कथन है) **तथापि, सुस्थित सर्वांगता, लावण्य आदि आत्मा के गुण नहीं हैं, इसलिए तीर्थंकर-केवलीपुरुष के उन गुणों का अभाव है।** आहाहा! अर्थात् इस आत्मा में, उनके जो गुण गाओ, उन गुणों का इसमें अभाव है। आहाहा! भगवान के

गुण गाओ, परन्तु उस गुण के भाव का इस आत्मा में तो अभाव है, वे तो पर में रहे। आहाहा! ऐसी निवृत्ति-फुर्सत कहाँ! सत्य को किस प्रकार सत्य खड़ा रहे... आहाहा! ऐसे का ऐसे चला जाये। आहाहा! प्रश्न : अभी तक क्या आया इन सभी गाथाओं में? कि केवली के जो गुण हैं, वे तो इस आत्मा के गुण, वे केवली के गुण हैं, पर के गुण जो हैं, वे केवली के गुण नहीं हैं। वे पर के गुण हैं, वे पर आत्मारूप से गिनकर, इस आत्मा में उनका अभाव है, अर्थात् वास्तव में तो वे अनात्मा के गुण हैं। आहाहा! क्योंकि विकल्प है, वह राग है और उसमें यही आता है। आहाहा! और निर्विकल्परूप से जो आत्मा के गुण, वे केवली के गुण हैं। आहाहा!

आज जरा निश्चय-व्यवहार का विषय था न? आहाहा! इसलिए अब स्पष्टीकरण करेंगे कि भगवान और भगवान की वाणी, वह सब इन्द्रिय है, पुद्गल है, यह आत्मा नहीं। आहाहा! जैसी यह जड़ इन्द्रियाँ हैं, भावेन्द्रियाँ हैं, वैसी ही यह भगवान की वाणी और भगवान स्वयं इन्द्रिय है — केवलीपरमात्मा स्वयं इन्द्रिय है परन्तु इस आत्मा के हिसाब से इन्द्रिय है। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय प्रभु... आहाहा! इसकी अपेक्षा से तो भगवान साक्षात् (प्रत्यक्ष) विराजते हैं, वे भी इन्द्रिय है। आहाहा! ऐसे साक्षात् भगवान के गुण (गान) करे तो भी वह पुद्गल के गुण हैं। देखो! विकल्प उठा है और पर की ओर आश्रय है न? आहाहा! निर्विकल्परूप से अन्तर में दृष्टि में जाये, वह केवली का स्तवन है। केवली अर्थात् केवल तू स्वयं... आहाहा! ऐसा स्वरूप है। आज अटपटा था, बाबूभाई! आहाहा! इसमें कुछ फेरफार करने जाये तो होवे — ऐसा नहीं है। आहाहा! क्योंकि न्याय से वर्णन करके भगवान का गुणगान करे तो भी कहते हैं कि शरीर के गुणगान हैं, तेरे नहीं। यह नगर जो बाह्य की चीज है, उसका वर्णन नगर का वर्णन है। है?

विशेष लेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा ३१

अथ निश्चयस्तुतिमाह। तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत्–

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।।३१।।

य इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः।।

यः खलु निरवधिबन्धपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धान्तः स्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टम्भबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि, प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खण्डशः आकर्षन्ति प्रतीयमानाखण्डैकचिच्छक्तितया भावेन्द्रियाणि, ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूयमानासंगतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिन्द्रियार्थांश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवान्तः प्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसत्ता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यान्तरेभ्यः परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः।

अब, (तीर्थंकर-केवली की) निश्चय स्तुति कहते हैं। उसमें पहले ज्ञेय—ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके स्तुति करते हैं —

कर इन्द्रिजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।
निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को ॥३१॥

गाथार्थ : [यः] जो [इन्द्रियाणि] इन्द्रियों को [जित्वा] जीतकर [ज्ञानस्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक [आत्मानम्] आत्मा को [जानाति] जानते हैं [तं] उन्हें, [ये निश्चिताः साधवः] जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं [ते] वे, [खलु] वास्तव में [जितेन्द्रियं] जितेन्द्रिय [भणंति] कहते हैं।

टीका : (जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को — तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं।) अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश जिसमें समस्त स्वपर का विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखायी नहीं देता) ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से सर्वथा अपने से अलग किया; सो वह द्रव्येन्द्रियों को जीतना हुआ। भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापारभाव से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप बतलाती हैं) ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा सर्वथा अपने से भिन्न जाना सो यह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ। ग्राह्यग्राहक लक्षणवाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखायी देती हैं ऐसी, भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए, इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को, अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आनेवाली असंगता के द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया; सो यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ। इस प्रकार जो (मुनि) द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को (तीनों को) जीतकर ज्ञेयज्ञायक-संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन हैं। (ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिए उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है।) कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तिरता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ), प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप — ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इस प्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

(ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का और ज्ञायकस्वरूप स्वयं आत्मा का — दोनों का अनुभव, विषयों की आसक्ति से, एक सा होता था; जब भेदज्ञान से भिन्नत्व ज्ञात किया तब वह ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष दूर हुआ ऐसा यहाँ जानना।)

प्रवचन नं. ८९ गाथा ३१ दिनाङ्क २२-०९-१९७८ शुक्रवार
भाद्र कृष्ण ६, वीर निर्वाण संवत् २५०४

अब, (तीर्थंकर-केवली की) निश्चय स्तुति कहते हैं।.... हिन्दी है। यह लोग आये हैं न! क्या कहते हैं? कि नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं होता, वैसे ही शरीर का वर्णन, अतिशय का वर्णन-इसके वर्णन से आत्मा का वर्णन नहीं होता। अरे! यहाँ तो वहाँ तक कहा है कि अपने से भिन्न भगवान तीर्थंकर हो या सर्वज्ञ हो या पंच परमेष्ठी हो, वे अपने आत्मा की अपेक्षा से अनात्मा-परद्रव्य है। आहाहा! उनकी स्तुति, वह व्यवहारस्तुति है, पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? तो तीर्थंकर और केवली की वास्तविक स्तुति किसे कहते हैं? तो उसके उत्तर में ऐसा कहा है। है?

उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके स्तुति करते हैं — क्या कहते हैं? आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञायक है और यह इन्द्रियाँ जो जड़ हैं, वे ज्ञेय हैं, पर हैं; वैसे ही अन्दर जो भावेन्द्रिय है, वह भी ज्ञेय है, पर है। वैसे ही देव-शास्त्र-गुरु या उनकी वाणी भी परज्ञेय है, वह भी इन्द्रिय है। जैसे यह जड़ इन्द्रियाँ हैं, वैसे अन्दर भावेन्द्रिय एक-एक विषय को-ज्ञान को खण्ड-खण्ड बतलानेवाली और इन्द्रिय का विषय — चाहे तो स्त्री, कुटुम्ब परिवार हो; चाहे तो देव-शास्त्र-गुरु हो, वे सब परद्रव्य है, इन्द्रिय है। वह इन्द्रिय, परद्रव्य है। इन्द्रिय कहो या परद्रव्य कहो — जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रिय का विषय... आहाहा! चाहे तो तीन लोक के नाथ भगवान समवसरण में विराजमान हों, वे भी इन्द्रिय का विषय होने से इन्द्रिय है। ऐसी बात है प्रभु! आहाहा!

यह सब ज्ञेय है और तुम ज्ञायक हो, दोनों की एकता संकर दोष है। द्रव्येन्द्रिय में

हूँ, भावेन्द्रिय मैं हूँ और भगवान की वाणी तथा भगवान यह मैं हूँ। आहाहा! तो उसमें, आहाहा! ज्ञेय और ज्ञायक को संकर बनाया। संकर का अर्थ खिचड़ा बनाया। समझ में आया? आहा! ऐसी बातें हैं, बापू! बहुत सूक्ष्म-बारीक बातें हैं।

यह ज्ञेय — जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रिय का विषय — चाहे तो तीन लोक के नाथ की वाणी और भगवान, इनको यहाँ तो इन्द्रिय कहा गया है। पाठ में तो इतना है कि **इंदिये जिणित्ता** — तब वे कितने ही विद्वान अभी कहते हैं — विद्वानों ने टीका दुरुह कर डाली है, क्योंकि यह इन्द्रियों को जीतना इतना था। अरे प्रभु! परन्तु इन्द्रियों को जीतने का अर्थ ही यह है।

श्रोता : इन्द्रियों को जीता किस प्रकार जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे लोग ऐसा कहते हैं कि यह भाषा में सादी बात थी, इन्द्रियों को जीतना; और इन अर्थकार ने-टीकाकार ने दुरुह कर दिया कि इन्द्रियाँ जड़, भावेन्द्रियाँ और भगवान की वाणी और भगवान वे भी इन्द्रिय, यहाँ तक ले गये टीकाकार। यह तो गम्भीररूप से पाठ पढ़ा है, उसमें अन्दर क्या भाव है, उसकी टीका (करके) स्पष्ट किया है तो उन लोगों को यह दुरुह लगता है। आहाहा! इन्द्रिय? वीतराग की वाणी सुनें, भगवान साक्षात् विराजते हैं — ऐसा देखे, वह इन्द्रिय? इन्द्रिय का विषय इन्द्रिय। बापू! बहुत कठिन बात भाई, आहाहा!

इन ज्ञेय और ज्ञायक, दोनों की एकत्वपने की बुद्धि संयोगबुद्धि, संकरबुद्धि, पर के साथ सम्बन्ध बुद्धि, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! सूक्ष्म बात प्रभु! मार्ग ऐसा बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! यह भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप प्रभु और इसके अलावा यह द्रव्येन्द्रिय आदि और भगवान आदि को भी इन्द्रिय कहा — ज्ञेयरूप इन्द्रिय कहा। आहाहा! भगवान आत्मा अनीन्द्रिय ज्ञायकप्रभु अन्दर... आहाहा! उस अनीन्द्रिय की अपेक्षा से भगवान और भगवान की वाणी को भी इन्द्रिय कह दिया है। आहाहा! बालचन्दजी! (यहाँ तो) ऐसी बातें हैं, क्या हो? उन लोगों ने ऐसा कहा है, अभी आया था कि टीकाकार ने दुरुह कर दिया है। उन विद्यानन्दजी ने समयसार बनाया (छपाया) है। ***अमथी*** भाषा में साधारण किया है। अरे बापू! यह कोई विद्वत्ता का चीज नहीं है। आहाहा! यहाँ तो परमात्मा अपना

ज्ञायकस्वभाव, इस अपेक्षा से उसके अलावा जितनी चीज है, उन सबको इन्द्रिय कहा गया है। आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, उसके अलावा दूसरी सब चीज अजीव है। यह जीव नहीं, इसलिए अजीव है। आहाहा!

भगवान का-तीन लोक के नाथ का आत्मा तो इस जीव-ज्ञायक की अपेक्षा से वह अ-जीव है। जीव नहीं, यह जीव नहीं, इसलिए (अजीव है)। सुमेरुचन्दजी! कठिन बातें! आज छोटे भाई को साथ लाये हैं। आहाहा! भाई! अनन्त काल में इसने वास्तविक तत्त्व दृष्टि में नहीं लिया। आहाहा! यह ज्ञेय और ज्ञायक, आया? संकरदोष.... संकरदोष का अर्थ दोनों का एकत्व, दो के सम्बन्ध का एकपना, संयोग सम्बन्ध, संकर सम्बन्ध, आहाहा! दोनों की एकता की मान्यता के दोष का यहाँ निराकरण करते हैं। आहाहा! है? ऐसा कहकर स्तुति करते हैं-तीर्थंकर केवली की स्तुति। भाषा ऐसी है परन्तु इस तीर्थंकर केवली की स्तुति का अर्थ — अपना आत्मा जो ज्ञायकस्वरूप पूर्णानन्द है, उसमें एकाग्र होना यह तीर्थंकर और केवली की स्तुति है। आहाहा! ऐसी बात जगत-समाज को कठिन पड़ती है, क्या हो? आहाहा! संकरदोष का परिहार करके तीर्थंकर केवली की सच्ची स्तुति — ऐसा है न, भाई-बाबूभाई? तो तीर्थंकर केवली तो पर है और यहाँ बात करेंगे आत्मा की। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, आहाहा! उसके सन्मुख होकर उसमें एकाग्रता करना, वह तीर्थंकर और केवली की स्तुति कही जाती है। आहाहा! समझ में आया? यह बात यहाँ करेंगे। है? **संकरदोष का परिहार करके....** किसकी स्तुति? **तीर्थंकर-केवली....** तीर्थंकर-केवली अर्थात्? आत्मा की। आहाहा! गाथा —

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।।३१।।

नीचे हरिगीत —

कर इन्द्रिजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।
निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को॥३१॥

शब्दार्थ – गाथार्थ लेते हैं। यह तो १९ वीं बार पढ़ा जा रहा है। अठारह बार तो पूरा समयसार सभा में पढ़ा गया है।

श्रोता : १९ वीं बार में अलग प्रकार से पढ़ा जा रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : १९ में ९ आया न?

श्रोता : नहीं बदले ऐसा एकड़ा और फिर ९, आत्मा कभी नहीं बदले ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा। आहाहा!

गाथार्थ, सूक्ष्म है भाई! यह गाथा ही ठीक आये हैं, ठीक अनुकूल में। आहाहा! गाथा ऐसी है। **जो इन्द्रियों को जीतकर....** उसका अर्थ तीन-इन्द्रिय का अर्थ तीन — द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय, और भगवान देव-शास्त्र-गुरु, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार सब इन्द्रिय। आहाहा! उसको जीतकर अथवा उस ओर का आश्रय और लक्ष्य छोड़कर... आहाहा! **'ज्ञानस्वभावाधिकं'** ज्ञानस्वभावी, भगवान आत्मा वह पर से पृथक् — अधिक भिन्न परिपूर्ण... आहाहा! क्या कहा? इन्द्रियों को जीतकर... बहुत संक्षिप्त में परन्तु बहुत गम्भीर कहेंगे। टीका आयेगी। यह जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय जो एक-एक विषय को खण्ड-खण्ड ज्ञान बतावे और देश, कुटुम्ब, स्त्री, परिवार, इज्जत, पैसा, देव-गुरु और शास्त्र — यहाँ तो सब को इन्द्रिय कहा है। समझ में आया? आहाहा!

उसको जीतकर, अर्थात् उससे भेद करके। आहाहा! **'ज्ञानस्वभावाधिकं'....** भगवान आत्मा-ज्ञानस्वभाव से परज्ञेय से भिन्न, अधिक पृथक् परिपूर्ण, आहाहा! **ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक....** आहाहा! अन्य द्रव्य से पृथक; भगवान और भगवान की वाणी से भी प्रभु पृथक्, आहाहा! **आत्मा को जानते हैं....** अपने भगवान को अन्य द्रव्य से भिन्न / अधिक / पृथक् अपने परिपूर्ण आत्मा को जानते हैं, अनुभव करते हैं, वेदन करते हैं, मानते हैं, जानते हैं, वेदन करते हैं। आहाहा!

समयसार तो अलौकिक चीज है, बापू! यह तो साक्षात् तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ की वाणी है। आहाहा!

श्रोता : जगत की तीसरी आँख!

पूज्य गुरुदेवश्री : अद्वितीय चक्षु, अजोड़ चक्षु, आहाहा! भगवान अद्वितीय चक्षु... यह तो शब्द है, यह तो इन्द्रिय है। यह इन्द्रिय है, वह आत्मा नहीं। आहाहा! उससे

भी भिन्न, आहाहा! ज्ञायकस्वभाव... अधिक अर्थात् ज्ञेय से भिन्न और अकेला ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण-उसे जो अन्तर में अनुभव करते हैं, मानते हैं, जानते हैं, उन्हें जितेन्द्रिय कहा जाता है। उसने इन्द्रियों को जीता। ऐसे इन्द्रियों को जीतना कि कान बन्द रखना, आँखें ऐसे बन्द की है, (वह कोई जीतना नहीं है)। आहाहा! समझ में आया?

आत्मा को जानते हैं उन्हें, जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं.... निश्चयनय में जो स्थित साधु हैं, **वे वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।** उस जीव को जितेन्द्रिय, धर्मी समकिती कहते हैं। आहाहा! निश्चय में स्थित सन्त, जो कोई ज्ञेय को अपने ज्ञायक से भिन्न ज्ञेय बनाकर अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें निश्चयनय में स्थित सन्त जितेन्द्रिय कहते हैं। आहाहा! ऐसी भाषा भी कठिन पड़ती है। आहाहा! समझ में आया?

टीका : द्रव्येन्द्रिय.... है भाई टीका? इस शरीरपरिणाम को प्राप्त जड़ यह पाँच इन्द्रियाँ हैं, शरीर का परिणाम-पर्याय, शरीर के परिणाम को प्राप्त जड़ इन्द्रियाँ, आहाहा! आयेगा टीका में। भावेन्द्रियाँ जो एक-एक ज्ञान को विषय, एक-एक इन्द्रिय एक-एक विषय को खण्ड-खण्ड बतलाती है, वह भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत-इन्द्रियों के विषयभूत.... आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश, देव, गुरु और शास्त्र, ये सब इन्द्रियों के विषय हैं। आहाहा! उन्हें, आहाहा! पदार्थों को — तीनों को, तीन आये न? द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उसका विषय। विषय शब्द से (आशय) पदार्थ। आहाहा! **तीनों को अपने से अलग करके....** आहाहा! **समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न....** समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न-द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय इन तीनों ज्ञेय को.... अपना ज्ञायकभाव (को) पर से भिन्न करके और भगवान की वाणी आदि अन्य द्रव्य, उनसे भिन्न, उनसे भिन्न, आहाहा! **अपने आत्मा का अनुभव करते हैं....** अपने आत्मा का; भगवान का आत्मा नहीं। आहाहा! **अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं।)....** उसे जितेन्द्रिय कहा जाता है। आहाहा!

अब स्पष्टीकरण। **अनादि....** इसका अर्थ अमर्याद किया है। दो शब्द नहीं हैं, टीका में एक ही शब्द है **निरवधि....** निरवधि। अनादि-मर्यादारहित काल में, आहाहा! **बंधपर्याय के वश....** राग, कर्म और निमित्त के वश; निमित्त से नहीं परन्तु निमित्त के

वश। समझ में आया? अनादि अमर्यादित, यह 'अनादि' का अर्थ किया। मर्यादारहित काल — अनादि। **बंधपर्याय के वश....** आहाहा! रागादि परवस्तु जो बन्ध, उसके वश हुआ जीव, **जिसमें समस्त स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है....** जिसमें अपना स्वरूप और राग और परद्रव्य दोनों को एक मानकर स्व-पर की भिन्नता अस्त हो गयी है। स्व-पर की एकता करके स्व-पर की भिन्नता अस्त हो गयी है। अस्त हो गयी है। आहाहा! अस्त हो गयी अर्थात् दोनों की भिन्नता नहीं रही। ज्ञायक, ज्ञायकरूप और इद्रियाँ पर यह जो भिन्न है — ऐसा नहीं रहा। दो की एकता के वश भिन्नता अस्त हो गयी, भिन्नता अस्त हो गयी। आहाहा! यह तो अलौकिक है भाई! आहाहा! यह तो दिगम्बर सन्त और जैनदर्शन सर्वज्ञ का कथित यह तत्त्व है, बापू! आहाहा!

विभाग अस्त हो गया है.... क्या कहा? एक ओर ज्ञायक भगवान पूर्णानन्द प्रभु चैतन्यविलासी आनन्द का नाथ प्रभु और एक ओर शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देव, गुरु दोनों स्व-पर भिन्न हैं; यह अनादि राग के वश होकर भिन्नता अस्त हो गयी है, भिन्नता अस्त हो गयी है; एकता प्रगट हो गयी है। आहाहा! यह देव भी मेरे हैं, गुरु मेरे हैं।

श्रोता : दोनों की एकता हो गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकता है। कठिन काम है, प्रभु! क्या हो? वे ज्ञेय में जाते हैं — देव-सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ और गुरु-निर्ग्रन्थ मुनि दिगम्बर सन्त और शास्त्र-भगवान द्वारा कथित परमागम, आहाहा! यह परवस्तु और स्व-आत्मा, इनकी भिन्नता, राग के वश होकर दोनों की भिन्नता अस्त हो गयी है, अस्त हो गयी है। भिन्नता उसके पास नहीं रही। सूक्ष्म है, बालचन्दजी! आहाहा! है? स्व-पर का विभाग, स्व-पर का विभाग — स्व ज्ञायक और पर रागादि, देव-गुरु-आदि। स्व-पर का विभाग — स्व-पर की भिन्नता अस्त हो गयी है। **(अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखायी नहीं देता)....** आहाहा! समझ में आया? उसमें लेंगे, निकटता, ग्राह्य-ग्राहक में है न भाई? वहाँ निकटता, वहाँ भी निकटता ली है न भाई! २९४ (गाथा में) चैत्य-चेतक की अत्यन्त निकटता, यह पाठ वहाँ है। भगवान आत्मा चेतक-जाननेवाला और

राग, देव-गुरु-शास्त्र आदि वह चैत्य है — ज्ञात होने योग्य है। जाननेवाला भगवान और वे जाननेयोग्य। आहाहा! दोनों की अति निकटता के कारण, मानो ज्ञात होनेयोग्य वस्तु मेरी है — ऐसा अज्ञानी को हो गया है। आहाहा! मीठालालजी! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा!

आहाहा! और भान होने के बाद भी, सम्यग्दृष्टि को — ज्ञानी को इन्द्रिय का पर के आश्रय से राग होता है, ज्ञानी को भी राग होता है परन्तु वह राग अपनी ज्ञानधारा में नहीं रखते। ज्ञानधारा और रागधारा भिन्न रखते हैं। कर्मधारा-आता है न? ११० कलश? ११० कलश, आहाहा! समकिती को भी, अनुभवी को भी, अरे! सच्चे सन्त को भी... आहाहा! परइन्द्रिय के लक्ष्यवाला राग आता है। आहाहा! वह दुःख है, आनन्द से विपरीत है। आहाहा! ऐसा ज्ञानी को आता है परन्तु पर को पररूप से जानता है। समझ में आया? वेदन में भी दुःख आता है, वहाँ कर्मधारा कही है। आहाहा! क्षायिक समकित हो, पर से भिन्न करके अकेले ज्ञायक का अनुभव हुआ हो। अप्रतिहत क्षायिक हुआ हो, उसको भी राग आता है, वह कर्मधारा साथ में होती है और कर्मधारा का वेदन भी है। आहाहा! कठिन काम भाई! यह आत्मा का, ज्ञान का वेदन भी है, और अपूर्णदशा है, वह पूर्ण नहीं है; इसलिए राग आया, वह ज्ञेयरूप से, हों! तथापि दुःख का वेदन है। आहाहा!

जगत् को यह बात कठिन पड़ती है! समझ में आया? भिन्न किया, भिन्न करने पर भी बाकी राग अन्दर आता है; वीतराग नहीं है, इसलिए राग आता है; साधक हुआ, अनुभव हुआ, ज्ञेय से भिन्न ज्ञायक मेरी चीज — ऐसा अनुभव में आया, तथापि जब तक वीतरागता न हो, तब तक ज्ञानी को भी राग.... राग कहो या दुःख कहो, आहाहा! आता है। वहाँ तो — कलश ११० में कहा है न भाई? राग, दुःख और आत्मा के भान का आनन्द एक साथ रहने में विरोध नहीं है — वहाँ लिया है ११० कलश में। मिथ्याश्रद्धा और सम्यक्श्रद्धा दोनों को एक साथ रहने में विरोध है। है अन्दर? है कलश? ११०, हों! देखो, यही आया है, गुजराती है — एक जीव में एक ही काल में ज्ञान और क्रिया, आहाहा! दोनों किस प्रकार हों? एक ही काल में ज्ञान और क्रिया दोनों — एक ओर ज्ञान का परिणमन

तथा एक ओर राग का परिणमन — ऐसा एक काल में कैसे हो ? है ? कलश-टीका में है। ११० कलश। ज्ञान और क्रिया दोनों एक साथ किस प्रकार हों ? प्रभु ! एक ओर आत्मा का ज्ञान और अनुभव हुआ और उस ज्ञान के आनन्द की दशा रहे और साथ में राग की क्रिया के दुःख की दशा रहे — एक साथ (रहे), कैसे रह सकते हैं ? यह कहा। समाधान — विरोध तो कुछ नहीं। आहाहा ! है ? कितने ही काल तक दोनों होते हैं। साधक है न ? साधक है, वहाँ थोड़ा बाधकपना है, राग-दुःख है; ज्ञानी को भी दुःख का वेदन है। आनन्द के साथ दोष का वेदन है। आहाहा ! है ? कितने ही काल तक दोनों साथ में रहते हैं — ऐसा वस्तु का परिणाम है परन्तु विरोधी जैसा दिखता है। पर से भिन्न ज्ञान का अनुभव और साथ में राग के दुःख का अनुभव, यह विरोध जैसा दिखता है। आहाहा ! परन्तु अपने-अपने स्वरूप से है, विरोध तो करते नहीं। आहाहा ! कितने काल तक रहेंगे ? कि जहाँ तक आत्मा मिथ्यात्वरूपी विभावपरिणाम मिटाकर और आत्मद्रव्य शुद्ध हुआ परन्तु क्रिया का त्याग भलीभाँति परिपक्वता को प्राप्त नहीं हुआ.... वह राग की क्रिया का त्याग अभी पूर्ण नहीं हुआ। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा ! क्रिया का मूल से विनाश नहीं हुआ; जब तक अशुद्ध परिणमन है, तब तक जीव का विभाव परिणमन है। आहाहा ! आहाहा !

बापू ! बातें-मार्ग कोई अलग है, दुनिया को हाथ नहीं आया है। समझ में आया ? एक ओर अस्त हो गया — ऐसा कहा और भान हुआ-यह कहेंगे। आहाहा !

मैं तो ज्ञायकस्वरूप, परज्ञेय की एकता से भिन्न, संकर सम्बन्ध से-संयोग सम्बन्ध से भिन्न (हूँ)। आहाहा ! मेरी चीज को पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है — ऐसा अन्तर में अनुभव-सम्यग्दर्शन हुआ। समझ में आया ? ऐसा होने पर भी, जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक साथ में राग अर्थात् दुःख की पर्याय साथ आती है और ज्ञानी को भी, आनन्द का भी वेदन और पूर्ण आनन्द नहीं तो थोड़े दुःख का भी वेदन साथ में है। सूक्ष्म बात है बापू ! मार्ग कोई अलग है। अभी तो बहुत गड़बड़ उठी है। आहाहा ! यह निर्मलानन्द नाथ, आहाहा ! इसमें पूर्ण निर्मलदशा न हो, तब तक मलिनता तो आती है। व्यवहार आता है न ? व्यवहार आता है, वह तो सब राग है, दुःख है। आहाहा ! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा

का राग, पंच महाव्रत के परिणाम का राग, अरे! शास्त्र के पठन का राग, वह राग होता है परन्तु है दु:खरूप। आहाहा!

जगत को ऐसी बात कठिन पड़ती है परन्तु क्या हो? भाई! मार्ग तो यह है। आहा! यह जन्म-मरणरहित, बापू! चौरासी के अवतार कर-करके — कुत्ते के, कौवे के, वनस्पति के, आहाहा! यह नरक के भव, प्रभु ऐसा कहते हैं, इस नरक की वेदना, नाथ! एक क्षण तूने वेदन की उसे, करोड़ों वर्ष की तो क्या बात कहें? एक क्षण की वेदना करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से नहीं कही जा सकती, प्रभु! इतनी वेदना तू भूल गया है प्रभु! नाथ! नरक के अन्दर ३३-३३ सागर की स्थिति में अनन्त बार गया प्रभु! उसमें परमात्मा ऐसा कहते हैं प्रभु! तेरी एक क्षण की वेदना.... आहाहा! उस दु:ख की व्याख्या करने पर करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से नहीं कहा जा सकता, प्रभु! ऐसा दु:ख तूने वेदन किया है। समझ में आया? आहाहा! अरे! जाग रे नाथ जाग!! उसमें-रमेश में (घाटकोपर भजन मण्डली) में आता है — 'दुखडा सह्या न जाय और अब जाग कर जो तू जीव' — आता है। रमेश का (भजन) आहाहा! यहाँ यह कहते हैं — जितनी पर के साथ एकत्वबुद्धि, वह दु:ख और एकत्वबुद्धि जाने के बाद भी जितनी अस्थिरता है, वह भी दु:ख है। समझ में आया? आहाहा!

जिसे उसमें ज्ञानधारा और क्रियाधारा — कर्मधारा कहा है। वह कर्म की अर्थात् राग का परिपूर्ण त्याग जब तक न हो, राग की परिणति का परिपूर्ण त्याग जब तक न हो, तब तक राग और ज्ञानक्रिया एक साथ रहने में विरोध है नहीं। हैं दोनों विरुद्ध — आनन्द की दशा और राग की दु:ख की दशा हैं तो दोनों विरुद्ध, परन्तु एक साथ रहने में विरोध नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

श्रोता : दु:ख है, उसे ज्ञान का ज्ञेय मानें तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : मात्र दु:ख है — ऐसा न माने तो मिथ्याभ्रम अज्ञान है। दु:ख है न? ज्ञान का निश्चय से ज्ञेय है परन्तु वेदन की अपेक्षा से वेदते हैं। आहाहा! ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञेय, श्रद्धा की अपेक्षा से हेय, चारित्र की अपेक्षा से वेदन। बापू! ऐसा मार्ग है भाई! आहाहा! वह यहाँ कहते हैं। आहा!

(जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखायी नहीं देता).... द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषय-पर, ये दोनों मानों एक हों, आहाहा! ऐसा भेद दिखायी नहीं देता। अज्ञानी को अनादि से एकरूप दिखायी देता है। आहाहा!

अब इसका स्पष्टीकरण। आहा! अब इन्द्रिय की व्याख्या — **अनादि बंधपर्याय के वश जिसमें समस्त....** आ गया न? **(भेद दिखायी नहीं देता) ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त....** क्या? यह... यह... यह... शरीरपरिणाम पर्याय है। जड़ इन्द्रिय शरीर की पर्याय है। शरीर के परिणाम को प्राप्त द्रव्य इन्द्रियाँ हैं। भाषा तो सादी है, पकड़ में आये ऐसा है। आहाहा! इस शरीर परिणाम को प्राप्त जड़-द्रव्येन्द्रियाँ; फिर भावेन्द्रियाँ लेंगे। शरीर परिणाम (अर्थात्) शरीर की पर्याय। आहाहा! यह जड़ इन्द्रियाँ, शरीर की पर्याय है; यह आत्मा की पर्याय नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को....** शरीर परिणाम को प्राप्त — शरीर की पर्याय को प्राप्त.... ये पाँचों ही इन्द्रियाँ, जड़ इन्द्रियाँ शरीर की पर्याय है। आहाहा!

(शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों) को तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से.... क्या कहते हैं अब? निर्मल भेद अभ्यास... आहाहा! इस जड़ शरीर की पर्याय को प्राप्त (द्रव्येन्द्रियों) से भेद अभ्यास, निर्मल भेद अभ्यास। जरा क्या कहते हैं? शास्त्र-अभ्यास नहीं; भेद अभ्यास; और वह भी निर्मल भेद अभ्यास अर्थात्? इसे धारणा में यह बात आ जाये कि यह इन्द्रियाँ पर हैं, यह पर, यह भेद अभ्यास नहीं। समझ में आया? आहाहा! इसके ख्याल में आवे कि यह शास्त्र या यह द्रव्येन्द्रिय आत्मा से पर है परन्तु यह भेद अभ्यास नहीं। आहाहा! यह तो शास्त्र अभ्यास है। आहाहा! और शास्त्र का ज्ञान, वह भी शब्द का ज्ञान हुआ। आहाहा! इस कारण 'निर्मल भेद अभ्यास' — यह शब्द पड़ा है। शरीर परिणाम को प्राप्त, इससे भिन्न अन्दर में निर्मल भेद अभ्यास.... पर का लक्ष्य छोड़कर और अन्तर के लक्ष्य में जाना। आहाहा! आहा! निर्मल भेद अभ्यास। निर्मल शास्त्र अभ्यास — ऐसा नहीं। आहाहा! एक बात। **निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता....** उसमें चतुराई, कौशल्य। कौशल्य शब्द पड़ा है न भाई, संस्कृत में? आहाहा! चतुर मनुष्य — ऐसा कौशल्य। इन्द्रिय से भिन्न अभ्यास में — निर्मल भेद के अभ्यास में प्रवीण। आहाहा!

द्रव्य इन्द्रिय से — शरीर परिणाम को प्राप्त पर्याय को, शरीर की पर्याय है — यह

द्रव्येन्द्रिय.... इससे निर्मल भेद अभ्यास से प्रवीणता, चतुरपना। आहाहा! इसे आत्मा को देह की पर्याय से भिन्न करना, आहाहा! यह तो अभी स्थूल है, भावेन्द्रिय का सूक्ष्म है। आहा! **निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से.... शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को तो निर्मल भेदाभ्यास....** यह अभ्यास करना — ऐसा कहते हैं। निर्मल भेदज्ञान का अभ्यास। आहाहा! भेद अभ्यास की प्रवीणता, चतुराई, कौशल्य से प्राप्त — भेदविज्ञान की कौशल्यता से प्राप्त.... अन्दर भगवान आत्मा। आहाहा! ऐसा काम बहुत....

अन्तरंग में क्या प्राप्त? **निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त....** क्या? **अन्तरंग में प्रगट....** यह शरीर परिणाम है, वह तो बाह्य रहा। अब इससे भिन्न करने का अभ्यास करने पर, आहाहा! **अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म....** आहाहा! अन्तरंग में प्रगट/व्यक्त परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा, आहाहा! अतिसूक्ष्म — विकल्प से भी पार। आहाहा! गाथा सूक्ष्म-अच्छी आ गयी है। तुम आये न ठीक मांगलिक है। भाग्य हो तो ऐसा मिले बिना नहीं रहता। आहाहा! ऐसी बात...

श्रोता : यह तो पूर्व का याद किया, वर्तमान में क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्तमान में उसे भिन्न करना यह, भेद अभ्यास करना। एकत्व की बुद्धि है, उसमें भेद का अभ्यास करना। आहाहा!

वह तो पुद्गल की, जड़ की पर्याय है। परिणाम कहा न? शरीर परिणाम को प्राप्त — पुद्गल की पर्याय को प्राप्त; उसे निर्मल भेदज्ञान के अभ्यास से, **भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त....** अब अन्दर... शरीर परिणाम को प्राप्त, उसे निर्मल भेद अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त। आहाहा! कैसे प्राप्त हो? - उसकी विधि कही। आहाहा! **अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव....** आहाहा! भगवान ज्ञायकस्वभाव, चैतन्य, ज्ञायक, आनन्द ज्ञानरसस्वभाव त्रिकाली ध्रुवस्वभाव, आहाहा! अन्तरंग में अतिसूक्ष्म प्रगट है। आहाहा! जैसे शरीर के परिणाम को प्राप्त बाह्य प्रगट है, आहाहा! वैसे भगवान आत्मा अन्तरंग में प्रगट है। आहाहा! निर्मल भेद अभ्यास, बापू! यह तो मन्त्र हैं, यह कोई कथा नहीं। आहाहा! यह तो जहर उतारने के (मन्त्र हैं)। सर्प का जहर चढ़ता है न? मन्त्र उतारते हैं। बिच्छू का.... यह मिथ्यात्व के जहर उतारने के मन्त्र हैं। यह कोई इसका शब्द से पार पड़े ऐसा नहीं है। आहाहा! शरीर परिणाम को प्राप्त, (द्रव्येन्द्रियों को) **निर्मल भेदाभ्यास**

की प्रवीणता से प्राप्त.... आहाहा! **अन्तरंग में प्रगट....** वे शरीर के परिणाम वह बाह्य थे, वे तो जड़ थे। अब अन्तरंग में भगवान, निर्मल भेद अभ्यास की चतुराई से कि यह तो यह इन्द्रिय नहीं; यह तो आत्मा आनन्द है, ज्ञानस्वरूप है — ऐसी चतुराई से.... आहाहा! **अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म....** जो दया-दान का विकल्प है, वह तो स्थूल है; उससे तो प्रभु अन्दर भिन्न है। आहाहा! **अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव....** जाननस्वभाव अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म... आहाहा! टीका, यह भी टीका है न! आहाहा! निर्मल भेद अभ्यास, अर्थात् अकेली धारणा कर रखी हो ऐसा नहीं — ऐसा कहते हैं। आहाहा! ज्ञान में धारणा कर रखी हो कि जड़ इन्द्रियाँ पर है और आत्मा पर (भिन्न) है, यह निर्मल भेदज्ञान नहीं; यह तो धारणा की बात हुई। आहाहा! **निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त....** आहाहा! **अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से....** चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से **द्रव्य इन्द्रियों को पृथक् किया।** आहाहा!

बात क्रमश: कहेंगे। द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ (की बात क्रमश: कहेंगे) परन्तु होता तो एक साथ है। समझाने में तो क्रम पड़ता है। आहाहा! द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय से भिन्न होने का समय तो एक ही है। पहले द्रव्येन्द्रिय से अलग पड़ता है और फिर भावेन्द्रिय से — ऐसा कुछ नहीं है। समझाने की शैली तो क्या करे? आहाहा!

अवलम्बन के बल से.... '**अति**' अन्तरंग में अस्तिरूप-व्यक्तरूप प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के आधार से, अवलम्बन के बल से **सर्वथा अपने से अलग किया;....** आहाहा! अलग करने की विधि यह है। चैतन्य-प्रगट सूक्ष्म स्वभाव से — उसके अवलम्बन के बल से, आहाहा! द्रव्येन्द्रियाँ अलग हो गयीं। द्रव्येन्द्रियाँ अलग की ऐसा कहा जाता है। उसे करता हूँ — ऐसा वहाँ नहीं है परन्तु इसे समझाना किस तरह? अन्तरंग में भेद अभ्यास के बल से प्राप्त जो अन्तरंग में अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से-प्राप्त हो गया आत्मा। उसने द्रव्येन्द्रियाँ जीत लीं, उसने द्रव्येन्द्रिय को जीता — ऐसा कहा जाता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप! अब लोगों को ऐसा लगता है, ये सोनगढ़िया निश्चयाभास है — ऐसा कहते हैं। कहो बापू! कहो, प्रभु! ऐसे अकेले निश्चय की बातें, व्यवहार की बातें नहीं आतीं?

श्रोता : मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि निश्चय अर्थात् वास्तविक।

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय अर्थात् सत्य और व्यवहार तो उपचारित है, आहाहा! तथापि व्यवहार आता है, यह तो कहते हैं। कहा न? आहाहा! जब तक पूर्ण वीतराग न हो, जब तक यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक ज्ञानी को, समकिती को, अनुभवी को भी रागधारा, दु:खधारा.... आहाहा! एक साथ रहती है। आहाहा! परन्तु एकत्व हो, वहाँ दो धारा कहाँ रही? वहाँ तो अकेली अज्ञानधारा — रागधारा रही है। यह तो भिन्न पड़ा है, भिन्न करके अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से द्रव्येन्द्रियाँ पृथक् की हैं। पृथक् की कहा जाता है, तब तो ज्ञानधारा उत्पन्न हुई और जब अपूर्णता है, राग आता है, व्यवहार आता है, उसको व्यवहार कहो, राग कहो, दु:ख कहो, आहाहा! समझ में आया?

बारहवीं गाथा में कहा है न, व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान... ग्यारहवीं गाथा में कहा अकेला भगवान भूतार्थ, सत्यार्थ प्रभु अतिसूक्ष्म वस्तु का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन होता है, फिर उसकी पर्याय में कुछ है या नहीं? क्योंकि पर्याय में कमजोरी है, इतना राग है और अपूर्ण शुद्धता है, वह शुद्धता अपूर्ण और कमजोरी का राग है, उसे उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है। समझ में आया? और ११० कलश में ऐसा कहा — उसे राग की धारा और आनन्द की धारा वेदन में दोनों एक साथ होते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है। वाद-विवाद से तो यह कुछ पार पड़े — ऐसा है नहीं।

अपने से सर्वथा.... एकान्त तो नहीं हो जाता न सर्वथा में? आहाहा! शरीर परिणाम को प्राप्त (द्रव्येन्द्रियाँ) और भगवान अतिसूक्ष्म — इस भेद के अभ्यास से प्राप्त — वह भिन्न पड़ गया। आहाहा! **सो वह द्रव्येन्द्रियों को जीतना हुआ।....** तो यह द्रव्येन्द्रियों को जीता — ऐसा कहा गया। इस प्रकार, हों! इस प्रकार इन्द्रियों को काटना और ऐसे उन सूरदास में आता है कि वैश्या को देखना नहीं, आँखें फोड़ डालना। सुना था हमने वहाँ पालेज में। यह नहीं, यहाँ तो जड़ से भिन्न अन्तरंग में एकाग्रता करके अन्तरंग में अनुभव में आना, उसने द्रव्य इन्द्रियों को जीता ऐसा कहा जाता है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९० गाथा ३१ दिनाङ्क २४-०९-१९७८ रविवार
भाद्र कृष्ण ८, वीर निर्वाण संवत् २५०४

(समयसार) ३१ वीं गाथा चलती है। क्या कहते हैं? कि जो कोई प्राणी, यह द्रव्येन्द्रिय, जो यह जड़; भावेन्द्रिय जो अन्दर खण्ड-खण्ड ज्ञान को बतलाती है और उसका विषय बाह्य पदार्थ-सबको यहाँ इन्द्रिय कहा गया है। भगवान आत्मा, इन्द्रिय के विषय अथवा इन्द्रिय के साथ संकर-संयोग सम्बन्ध, 'मैं एक हूँ' — यह संकर-संयोग सम्बन्ध, वह मिथ्यात्व है। आहाहा!

श्रोता : शरीर के साथ एकपना हो, वह मिथ्यात्व।

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीरपना, एकपना वह भी भावेन्द्रिय है। एक समय की क्षयोपशमदशा के साथ एकता, वह मिथ्यात्व है। सूक्ष्म बात है बापू! यहाँ तो तीनों को ज्ञेय बनाया है। अपने भगवान ज्ञायकस्वरूप के साथ शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियाँ, वह परज्ञेय है; वैसे अन्दर भावेन्द्रिय जो ज्ञान में क्षयोपशम अवस्था वर्तमान विषय को — एक-एक (विषय) को जानती है और अपने ज्ञान में खण्ड-खण्ड ज्ञान बतलाती है — ऐसी भावेन्द्रियाँ भी पर हैं और इन्द्रिय का विषय — स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देव, गुरु और शास्त्र — सब इन्द्रिय का विषय है तो वह भी इन्द्रिय है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म भाई! इसमें शरीरपरिणाम को प्राप्त इन्द्रियाँ, वह आ गया है। **निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से...** आहाहा! यह मैं द्रव्येन्द्रिय की पर्याय मैं नहीं, मुझमें नहीं, मैं उसमें नहीं — ऐसे इस जड़ शरीर के परिणाम को प्राप्त इन्द्रियों (को), भेद-निर्मल भेदाभ्यास के बल से, आहाहा! भिन्न करने के ज्ञान के बल द्वारा... आहाहा! **प्राप्त अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म....** अन्तरंग में प्रगट वस्तु भगवान अतिसूक्ष्म-अतिसूक्ष्म; एक समय की पर्याय से भी भिन्न... आहाहा! **अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से....** अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव का आश्रय लेकर, उसके अवलम्बन के बल से, आहाहा! **सर्वथा अपने से अलग किया;....** यह द्रव्येन्द्रियाँ जीतीं — ऐसा कहने में आता है।

शरीरपरिणाम को — पर्याय को प्राप्त, यह जड़ को अपना स्वरूप से भिन्न — ऐसा

प्रवीणता का भेद अभ्यास से अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वरूप भगवान के अवलम्बन के बल से द्रव्य इन्द्रियों को भिन्न कर दिया, आहाहा! उसका नाम सम्यग्दर्शन है। सूक्ष्म बात है प्रभू! यह बात तो हो गयी — एक बात तो हो गयी।

अब दूसरी — **भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में....** भावेन्द्रियाँ जो पाँच हैं — श्रोत, चक्षु आदि उघाड़ अन्दर हो वह; जड़ नहीं, अन्दर विकास है — ज्ञान का विकास है। एक समय में जो खण्ड-खण्ड ज्ञान को बतलाती है — ऐसे **भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापारभाव से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं....** एक-एक खण्ड-खण्ड विषय को ग्रहण करती है। उसका अर्थ कि **(ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप बतलाती हैं)....** आहाहा! खण्ड-खण्ड ज्ञान अपना स्वरूप नहीं है। आहाहा!

श्रोता : अखण्डज्ञान स्वरूप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म बात भाई!

एक तो द्रव्येन्द्रिय है, यह सिद्ध किया। शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्य इन्द्रिय है, यह सिद्ध किया और भावेन्द्रिय है, एक-एक विषय को जानने की खण्ड-खण्ड ज्ञान के जानने का विषय है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु उससे भी भिन्न... आहाहा! **विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप बतलाती हैं)....** भावेन्द्रियाँ **ऐसी भावेन्द्रियों....** आहाहा! बात क्रमशः कहते हैं, होता है सब एक समय में; समझाने में क्रम पड़ता है, द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय, फिर विषय। यहाँ कहते हैं, जो ज्ञान की पर्याय वर्तमान खण्ड-खण्ड अथवा अपने-अपने विषय में व्यापार करनेवाली जो खण्ड-खण्ड ज्ञान बतलाती है, वह परज्ञेय है; वह अपना स्वज्ञेय नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। भाषा तो सादी है परन्तु वस्तु तो (जो है, वह है।) आहाहा!

ऐसी भावेन्द्रियों को,.... कैसी? कि जो अपनी पर्याय में खण्ड-खण्ड ज्ञान बतलाती है — ऐसी भावेन्द्रियाँ। आहाहा! वह भी ज्ञायकभाव से भिन्न चीज है। आहाहा! अपना भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव आनन्दघन प्रभु सच्चिदानन्द आत्मा, आहाहा! उससे यह भावेन्द्रिय भिन्न है। भावेन्द्रिय, ज्ञायक का परज्ञेय है; स्वज्ञेय ज्ञायक। आहाहा! ऐसी बातें! स्वज्ञेय ज्ञायक, परन्तु भावेन्द्रिय खण्ड-खण्ड ज्ञान बतलाती है, वह परज्ञेय। परज्ञेय

अपने ज्ञायकभाव से भिन्न है। आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग केवलज्ञान हुआ और तीन काल-तीन लोक एक समय में जानने में आये, उनकी वाणी — दिव्यध्वनि निकली, वह यह दिव्यध्वनि है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा, वह द्रव्येन्द्रिय से तो भिन्न, संयोग-सम्बन्ध से रहित परन्तु भावेन्द्रिय, वह भी संयोग-सम्बन्ध है। आहाहा! खण्ड-खण्ड ज्ञान बतलाती है — ऐसी इन्द्रियाँ, वह भी संयोग-सम्बन्ध है; स्वभाव-सम्बन्ध नहीं। सुमेरुमलजी! ऐसा है भगवान! ऐसा जो भगवान आत्मा... वह खण्ड-खण्ड ज्ञान.... शरीर तो अब एक ओर रह गया। आहाहा! परन्तु खण्ड-खण्ड ज्ञान, पर्याय में जो जानने में आता है, वह भी ज्ञायक भगवान आत्मा से भिन्न चीज है, वह तो ज्ञायक को परज्ञेय है। आहाहा!

इसको कैसे जीतना? और कैसे जीतना कहा जाता है? आहाहा! आहाहा! **प्रतीति में आती हुई....** देखो? अब अखण्ड ज्ञान का लेना है न, इसलिए प्रतीति ली। खण्ड-खण्ड ज्ञान के सामने अखण्ड ज्ञायक भगवान पूर्णानन्द प्रभु, आहाहा! उसमें तो शरीरपरिणाम को प्राप्त, उससे अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन से लिया था। आहाहा! यहाँ खण्ड-खण्ड ज्ञान की पर्याय जो जानती है, आहाहा! उसको, अन्दर में प्रतीति में आनेवाला भगवान आत्मा... आहाहा! **अखण्ड एक चैतन्यशक्ति....** वे खण्ड-खण्ड अनेक थी। सामने भगवान आत्मा आहाहा! अखण्ड एक **चैतन्यशक्ति....** आहाहा! **अखण्ड एक चैतन्यशक्ति....** चैतन्यस्वभाव! सूक्ष्म बात है प्रभु! गाथा ऐसी आयी है ठीक, सुमेरुमलजी आये हैं और गाथा बड़ी अच्छी आयी है, भाग्यशाली है। यह ऐसी चीज है, बापू! आहाहा!

अन्तर में खण्ड-खण्ड ज्ञान को बतलाती है — ऐसी इन्द्रियाँ भाव; है तो ज्ञान की पर्याय, हों! परन्तु वह भी ज्ञायक का भिन्न परज्ञेयरूप से गिनने में आयी है। आहाहा! क्योंकि अखण्ड एक चैतन्यशक्ति जो अन्दर त्रिकाल है, प्रभु! आहाहा! जिसमें पर्याय का भेद भी नहीं। आहाहा! **प्रतीति में आती हुई....** कौन आती हुई? **अखण्ड एक चैतन्यशक्ति....** आहाहा! ज्ञायकशक्ति, ज्ञायकशक्ति, चैतन्यशक्ति, ध्रुवशक्ति। जैसे, पानी का पूर ऐसे चलता है, वैसे चैतन्यशक्ति ऐसे ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... समझ

में आया ? यह चैतन्य का नूर का पूर का ध्रुव, आहाहा ! अब, ऐसी बातें हैं। साधारण लोगों को पकड़ में नहीं आये इसलिए.... आहाहा !

यह शरीरपरिणाम प्राप्त तो एक ओर रहा, परन्तु अपनी पर्याय में जो ज्ञान का खण्ड-खण्ड दिखता है, आहाहा ! वह भी वास्तव में तो स्वज्ञेय ज्ञायक की अपेक्षा से तो वह परज्ञेय है और उस परज्ञेय की स्वज्ञेय में नास्ति है। आहाहा ! प्रभु ! तेरा मार्ग तो देखो भाई ! आहाहा ! बालचन्दजी ! बुद्धि फैलाना पड़े ऐसा है, भाई ! आहाहा ! जो खण्ड-खण्ड ज्ञान की पर्याय है, वह निश्चय से—परमार्थ से ज्ञायकस्वरूप भगवान जो प्रतीति में आनेवाला, अखण्ड एक चैतन्यस्वभाव, उससे वह भिन्न चीज है; भिन्न है तो उसे भेद करना। आहाहा ! भिन्न है तो भिन्न करके अतिसूक्ष्म का अवलम्बन लेना — ऐसी बात, बापू ! सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त कहीं है नहीं। आहाहा !

उस शरीरपरिणाम को प्राप्त इन्द्रियाँ जड़, वह सिद्ध किया। नहीं है — ऐसा नहीं है, और भावेन्द्रिय नहीं है — ऐसा नहीं है। आहाहा ! वह खण्ड-खण्ड ज्ञान बतलाती है — ऐसी चीज है, परन्तु भगवान आत्मा उससे भिन्न है। आहाहा ! भाषा तो सादी है, बालचन्दजी ! भाव तो भगवान... यह तेरी चीज भगवान ! कौन है तेरा ? आहाहा ! अब राग और पुण्य-पाप के विकल्प की बात तो कहाँ रह गयी ! परन्तु यहाँ तो ज्ञान की पर्याय में वर्तमान में जो क्षयोपशम अंश प्रगट है, आहाहा ! वह भावेन्द्रिय वास्तव में तो अपने ज्ञायकभाव से भिन्न है तो उस **भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आती हुई....** अन्तर भगवान **अखण्ड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा....** आहाहा ! **सर्वथा अपने से भिन्न जाना....** आहाहा ! अकेले मन्त्र हैं, भेदज्ञान के मन्त्र हैं। रतनलालजी ! ऐसा है बापू ! आहाहा !

आहाहा ! गजब बात करते हैं न ! अपनी ज्ञान की पर्याय भी ज्ञायक में परज्ञेयरूप है। आहाहा ! इस कारण... समझ में आया ? क्योंकि एक समय की खण्ड-खण्ड है न ? भगवान तो अखण्ड अनन्त आनन्द... खण्ड है — ऐसा सिद्ध भी किया। आहाहा ! क्या शैली ! द्रव्येन्द्रिय है —ऐसा सिद्ध किया, अस्ति है; सर्वथा आत्मा एक ही है — ऐसा नहीं। आहाहा ! और भावेन्द्रिय है; आत्मा अकेला आत्मा एक ही है और खण्ड-खण्ड ज्ञान-भावेन्द्रिय नहीं है — ऐसा नहीं है। आहाहा !

व्यवहारनय का विषय सिद्ध करते हैं। आहाहा! इस एक समय की पर्याय से भी भिन्न भगवान। कैसा? प्रतीति में आनेवाला – विश्वास में आनेवाला – भरोसे में आनेवाला, अखण्ड एक चैतन्यशक्ति। समझ में आया? आहाहा! यह प्रभु! तेरी बात कोई अलग है। मूल बात रही नहीं, बाहर की धमाल — यह व्रत करो और तप करो... प्रभु! उसमें आत्मा नहीं। आहाहा! यह व्रत और तप का विकल्प है, वह तो राग है। उसमें आत्मा तो नहीं और आत्मा में वह नहीं परन्तु यहाँ तो खण्ड-खण्ड ज्ञान की पर्याय, जो राग आया, उसे जानती है, ज्ञान की पर्याय; वह खण्ड-खण्ड ज्ञान, उससे भी प्रभु अन्दर भिन्न है।

श्रोता : सर्वथा भिन्न है या कथंचित्।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वथा भिन्न। हमारे सेठ कहते हैं, कथंचित नहीं? आहाहा! ऐसी बात है भगवान! अरे! मिलना मुश्किल। सेठ स्वयं कहता है, अभी ऐसा स्पष्टीकरण नहीं मिलता। अरे भगवान! यह तो मार्ग भाई! आहा! यह खण्ड-खण्ड ज्ञान की जो पर्याय है, अपनी हों! क्षयोपशम। आहाहा!

शरीर को प्राप्त इन्द्रियाँ, वह तो जड़ — पर की जड़ थी। आहाहा! यहाँ ज्ञान की पर्याय का वर्तमान क्षयोपशम का अंश जो खण्ड-खण्ड ज्ञान बतलाये, आहाहा! प्रभु! वह तेरी चीज नहीं है। वह तुझमें नहीं है, तू उसमें नहीं है। आहाहा! तब क्या है? मैं तो प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्यशक्ति, चैतन्यस्वभाव स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... अखण्ड एकरूप चैतन्यस्वभाव के द्वारा, अखण्ड एक चैतन्यस्वभाव के द्वारा **सर्वथा अपने से भिन्न जाना....** आहाहा! भावेन्द्रिय का क्षयोपशम जो ज्ञान की पर्याय, उसको सर्वथा अपने से भिन्न जाना। आहाहा! कहो, समझ में आता है या नहीं? आहाहा!

अन्दर तीन लोक का नाथ अखण्ड आनन्दकन्द प्रभु, आहाहा! उसके अवलम्बन द्वारा खण्ड-खण्ड ज्ञान से भिन्न कर, आहाहा! सर्वथा अपने से — अपने से अर्थात्? ज्ञायक जो प्रतीति में आनेवाला अखण्ड एक चैतन्यस्वभाव है, उसके द्वारा अपने से सर्वथा भिन्न जाना। आहाहा! चैतन्यज्योत ध्रुव-ध्रुव प्रवाह... पानी का पूर ऐसे चलता है, यह तो चैतन्य के नूर का पूर ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... समझ में आया। आहाहा! ऐसा है भगवान! क्या कहें? आहा! कहो शशिभाई!

अन्दर भगवान हैं न बापू! आहाहा! देह-देवालय में भगवान विराजमान है। वह भगवान खण्ड-खण्ड ज्ञान से भी भिन्न है। आहाहा! राग से भिन्न है, शरीर से भिन्न है; खण्ड-खण्ड ज्ञान से भिन्न है।

अखण्ड एक चैतन्यस्वभाव के आश्रय के द्वारा उसको (भावेन्द्रियों को) पृथक् किया, सर्वथा पृथक् किया। कथंचित् पृथक् किया और कथंचित् एक — ऐसा नहीं। भगवान का मार्ग तो अनेकान्त है न? कथंचित् पृथक् और कथंचित् एक — ऐसा है ही नहीं। आहाहा! **यह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ।....** यह जीतना हुआ। आँखें बन्द कर दे और आँख फोड़ डाले, वह इन्द्रियों का जीतना — यह है नहीं। आहाहा! परन्तु वह एक समय की खण्ड-खण्ड दशा उसको — प्रतीति में आनेवाला अखण्ड एक चैतन्यस्वभाव के द्वारा खण्ड-खण्ड ज्ञान की पर्याय को भिन्न जाना। आहाहा! उसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? दो बोल हुए। दो बोल हुए न? द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

अब, **ग्राह्यग्राहक लक्षणवाले....** क्या कहते हैं? ग्राह्य अर्थात् ज्ञेय, जानने योग्य जो ज्ञेय, और ग्राहक — जाननेवाला ज्ञायक। ग्राह्यग्राहक — ग्राह्य-ज्ञात होने योग्य जो परपदार्थ - ज्ञेय, जाननेवाला — ग्राहक आत्मा। ग्राह्यग्राहक शब्द लिया है न? नहीं तो है तो ज्ञेयज्ञायक, परन्तु क्यों लिया कि अनादि से, आहाहा! यह परज्ञेय-ग्राह्य जो जाननेयोग्य है, वह मेरा है — ऐसा माना है। आहाहा! अरे! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, शरीर, वह तो पर है परन्तु यहाँ तो देव, गुरु और शास्त्र जो परज्ञेय है, आहाहा! वह जाननेयोग्य और आत्मा जाननेवाला, इसके अतिरिक्त वे देव-गुरु-शास्त्र मेरे हैं और मैं उनका, यह परज्ञेय के साथ एकताबुद्धि है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात बापू! आहाहा! ग्राह्य, ग्रहण करनेयोग्य; ग्राह्य अर्थात् ग्रहण योग्य। दूसरी भाषा में कहें तो ज्ञात होनेयोग्य परपदार्थ, ज्ञात होनेयोग्य और ग्राहक (अर्थात्) जाननेवाला भगवान (आत्मा) वह ग्राह्यग्राहक, ज्ञेय-ज्ञायक लक्षणवाले **सम्बन्ध की निकटता के कारण....** आहाहा! 'निकट' वहाँ सर्वविशुद्ध (अधिकार में) आता है न? आहाहा! यह देव, गुरु और शास्त्र, मन्दिर और प्रतिमा, यह सब परज्ञेय है। आहा! परन्तु ज्ञायक जाननेवाला और ज्ञेय पर, उनकी अत्यन्त निकटता के कारण, मानो वह जानने में आया, वह मैं हूँ, परज्ञेय है वह मैं हूँ, आहाहा! देव से मुझमें लाभ

हुआ, गुरु से मुझमें लाभ हुआ कि यह मुझे पूर्ण करना। आहाहा! समझ में आया? मन्दिर हो, भगवान तीर्थंकर आदि हो तो उसको भी छोड़कर जंगल में चले जाते हैं। आहाहा! यहाँ क्या कहना है? — यह परज्ञेय है और आत्मा ज्ञायक। वह परज्ञेयरूप से जाननेयोग्य है। इसके अतिरिक्त आगे बढ़कर पर से मुझे लाभ होगा, आहाहा! यह भ्रम है।

ग्राह्यग्राहक लक्षणवाले.... यह लक्षण, सम्बन्ध, संकर, संयोग, इसकी **निकटता के कारण.... मानो कि अपने में संवेदन के साथ** अपने ज्ञान में उसका ज्ञान इस तरफ (आत्मा में) आ गया। उसके कारण उसका ज्ञान मुझमें आ गया — ऐसा अज्ञानी को निकटता से भास होता है। यह शास्त्रज्ञान कान में पड़ा तो मेरी पर्याय में शास्त्रज्ञान से ज्ञान हुआ — ऐसी एकता मानता है, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसी बात है। भगवान की वाणी, वह ग्राह्य है-जाननेयोग्य है बस, परज्ञेयरूप से (जाननेयोग्य है)। भगवान भी परज्ञेयरूप से ग्राह्य-जाननेयोग्य है। इसके अतिरिक्त अति निकट सम्बन्ध और संयोग की निकटता के कारण उससे मुझमें लाभ हुआ, यह भ्रम है। ऐसी बातें! बहुत कठिन काम। आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र उड़ जाते हैं (निषिद्ध हो जाते हैं)। वे तो पर हैं न! आहाहा! बापू! यह तो वीतरागमार्ग है। आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र, वे परज्ञेय — ज्ञान में निकटता से जानने में आते हैं; इस कारण ऐसा लगे कि उनसे मुझमें ज्ञान हुआ — वाणी सुनने से मुझमें ज्ञान हुआ, भगवान को देखने से मुझको भगवान का ज्ञान हुआ — यह ज्ञेयज्ञायक की अति निकटता से भ्रम उत्पन्न होता है। ऐसी बातें हैं बापू! बालचन्दजी! वहाँ कहीं सरदारशहर में मिले ऐसा नहीं है वहाँ। आहाहा! अमृत बरसता है भगवान! आहाहा!

ग्राह्यग्राहक लक्षणवाले.... आहाहा! यह ग्राह्यग्राहक लक्षण है, सम्बन्धरहित वह चीज नहीं है। पर के साथ तो ग्राह्यग्राहक लक्षण, आहाहा! अति **निकटता के कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखायी देती हैं....** आहाहा! शास्त्र के शब्द कान में पड़े तो उससे मुझे ज्ञान हुआ — ऐसी एकता अज्ञानी को भासित होती है। अद्‌भुत काम भाई! यह तो कठिन काम! परिचय न हो, सत्समागम (नहीं हो तो) बहुत कठिन काम है, भाई! ऐसा कहे कि स्वलक्ष्य से शास्त्र पढ़ना...

श्रोता : स्वलक्ष्य से ही ज्ञान के लक्ष्य से या पर के लक्ष्य से...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह स्वलक्ष्य चूककर शास्त्र कान में पड़े, पढ़े तो उसे ऐसा हो जाता है कि इससे यह ज्ञान हुआ। ज्ञान की पर्याय तो अपने से होती है, भले वह परलक्ष्यी हो, वह अपने से होती है परन्तु शास्त्र से (ज्ञान) हुआ, शब्द से हुआ... आहाहा! यह शब्दज्ञान हुआ। शास्त्र का ज्ञान, वह शब्दज्ञान है। उस शब्दज्ञान से मुझमें ज्ञानपर्याय हुई (ऐसा लगता है वह) भ्रम है। आहाहा! गजब बात है! समयसार (का) एक-एक पद! एक-एक गाथा!! आहाहा! धीर का काम है भाई! यह कहीं उतावल से आम पक जाये — ऐसा नहीं है। आहा!

निकटता के कारण.... ज्ञेय-ज्ञायक.... जैसा ज्ञेय है, वैसा यहाँ ज्ञान होता है तो ऐसी निकटता के कारण उस ज्ञेय से मुझमें ज्ञान हुआ — ऐसा भ्रम छोड़ दे। आहाहा! ऐसा मार्ग! **अपने अनुभव के साथ परस्पर....** परस्पर, देखा, क्या कहा? यह ज्ञेय और जाननेवाला (ज्ञायक) दोनों परस्पर एक हो गये हों, ज्ञेय यहाँ आ गया और ज्ञान की पर्याय उसमें घुस गयी? आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य साक्षात् भगवान के पास गये थे। तीर्थंकर भगवान विराजते हैं, वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे, (वहाँ से) आकर यह शास्त्र बनाया है। आहाहा! उस वाणी का क्या कहना! तथापि यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि वाणी से तुझे ज्ञान हो, आहाहा! तो ज्ञेय से ज्ञान हुआ, ज्ञान से ज्ञान न हुआ... बहुत भ्रम, बापू! सत् को पहुँच जाना, वह अलौकिक बात है भाई! आहाहा! **एक जैसी हुई दिखायी देती हैं....** परस्पर, हों! भगवान, भगवान की वाणी और ज्ञायक दोनों ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण के कारण अति निकटता से मानो उससे मुझमें, (ज्ञान) हुआ और मेरा ज्ञान वहाँ — उसके पास चला गया; इसलिए ज्ञान हुआ (ऐसा भ्रम होता है।) आहाहा! अब ऐसा उपदेश अनजान लोगों को तो ऐसा लगता है, यह क्या कहते हैं? बापू! तेरा मार्ग वह अलौकिक है, भाई! आहाहा!

आया न? **भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए,....** क्या कहते हैं? **भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए,....** आहाहा! ज्ञान के क्षयोपशम की पर्याय द्वारा ग्रहण किया। वाणी, भगवान, मन्दिर या प्रतिमा, आहाहा! भावेन्द्रिय द्वारा, ज्ञायक द्वारा नहीं। आहाहा! **ग्रहण किये हुए, इन्द्रियों के विषयभूत....** इन्द्रियों के विषय — रंग, गंध, रस और

स्पर्श, भगवान की वाणी और भगवान, यह सब इन्द्रिय के विषय हैं। अरेरे! ऐसी बातें! **भावेन्द्रियों के द्वारा....** आहाहा! **ग्रहण किये हुए,....** ग्रहण अर्थात् जानने में आये हुए। **इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों....** आहाहा! भावेन्द्रियों द्वारा स्पर्श जानने में आया, रंग जानने में आया, गन्ध जानने में आयी, शब्द जानने में आया। आहाहा! **अपनी चैतन्यशक्ति की....** आहाहा! अपनी चैतन्यशक्ति से-स्वभाव का स्वयमेव अनुभव में आनेवाला। यह भावेन्द्रिय द्वारा जानने में आया, वह नहीं; ज्ञान के क्षयोपशम की पर्याय में, आहाहा! शास्त्र जानने में आया, वह नहीं। आहाहा! अपना चैतन्यस्वभाव स्वयंमेव अनुभव में आया। वह तो कोई निमित्त है तो जानने में आया — ऐसी चीज है नहीं। अपना चैतन्यस्वरूप भगवान स्वयंमेव... आहाहा! **स्वयमेव अनुभव में आनेवाली....** कौन? **असंगता के द्वारा....** ज्ञेय के संग बिना-ज्ञेय के संग के सम्बन्ध बिना, आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र जो ज्ञेय हैं, उनके सम्बन्ध बिना भगवान असंग प्रभु अन्दर है। आहाहा! क्या टीका! आहाहा!

अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आनेवाली.... आहाहा! इन्द्रियों से सुनने से नहीं। आहाहा! चैतन्य प्रवाह भगवान ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... नित्यानन्द प्रभु, आहाहा! ऐसे चैतन्यस्वभाव का स्वयंमेव अनुभव में आनेवाला। भावेन्द्रिय और निमित्त जाना, उसके द्वारा नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

श्रोता : स्वयमेव अर्थात् काललब्धि आ गयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं ज्ञायकभाव स्वयंमेव जाननेवाला; निमित्त की अपेक्षा से नहीं, भावेन्द्रिय की अपेक्षा से नहीं।

श्रोता : काललब्धि की अपेक्षा आती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : काललब्धि नहीं, वह तो पुरुषार्थ से; तब काललब्धि कहते हैं। अपने पुरुषार्थ से जब भिन्न भान किया, तब काललब्धि पक गयी।

यह प्रश्न तो हमारे (संवत्) ७२ की साल में आया था। ७२-७२ कितने वर्ष हुए? ६२ - ६० और २। सम्प्रदाय में प्रश्न खड़ा था। ७० में दीक्षा, ६२ वर्ष हुए, तो पीछे ७२ में एक प्रश्न खड़ा हुआ, वे ऐसा कहने लगे.... हमारे गुरु तो भद्र थे परन्तु हमारे गुरुभाई

जरा बहुत... ऐसा कहते थे 'केवली ने देखा, वैसा होगा हम क्या करें?' पाटनीजी! ७२-७२ में अर्थात् ६२ वर्ष पहले, बहुत प्रश्न चला। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा देखा, वैसा होगा, हम क्या करें? सुनो! सर्वज्ञ जगत में हैं? यह ज्ञान की एक समय की पर्याय तीन काल-तीन लोक को देखती है — ऐसी सर्वज्ञ की पर्याय जगत् में सत्तारूप है, उसका स्वीकार है? फिर देखा (वैसा) होगा। सुमेरुचन्द! यह तो अन्दर से आया था, तब तो कुछ नहीं था। आहाहा! प्रवचनसार की ८० गाथा है न, **'जो जाणदि अरहंतं द्रव्यत्त गुणत्तपज्ज्य त्तेहिं'** यह अन्दर से आया था, पढ़ा नहीं था। आहाहा! भाई! तुम ऐसा कहते हो, मैं तो ऐसा कहता हूँ कि सर्वज्ञ ने देखा, वैसा होगा — तो सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार है? अल्पज्ञ पर्याय में सर्वज्ञ का स्वीकार है? यह सर्वज्ञ का स्वीकार अल्पज्ञ में कैसे आयेगा? आहाहा!

यह अपने सर्वज्ञस्वभाव सन्मुख होगा। भगवान आत्मा का सर्वज्ञ स्वभाव है, उसके सन्मुख होगा। सर्वज्ञ, उस समय इतना नहीं था; ज्ञान अन्दर होगा — ऐसा कहा (संवत्) ७२ की बात है। ज्ञान में अन्दर गये, घुस गया, सर्वज्ञ की पर्याय का निर्णय करने में आया तो सम्यग्दर्शन हुआ। अपनी पर्याय में सर्वज्ञस्वभाव आया नहीं परन्तु सर्वज्ञस्वभाव जगत में प्रगट है तो वह सर्वज्ञस्वभाव आया कहाँ है? सर्वज्ञस्वभावी भगवान है, उसमें से आता है। उस सर्वज्ञस्वभाव का जिसको निर्णय हुआ, वह पुरुषार्थ है। यह बात है भाई! आहाहा! कहा — ऐसा नहीं चलता। आहाहा! भाई, मैं इसमें आ गया हूँ, इसलिए ऐसा मानूँ — ऐसा नहीं है। मैं तो सत् क्या है? आहाहा! निश्चय की बात हुई। व्यवहार की बात भी ऐसी थी। हम तो उसमें मुँहपट्टी में थे न, तब सेठ दस लाख (रुपयेवाला) था। साठ वर्ष पहले। वह स्थानकवासी था। मूर्ति को नहीं माने तो ऐसा कहता था कि मूर्ति की पूजा तब तक हो, जब तक मिथ्यादृष्टि हो तब तक — ऐसा कहता था। मैंने कहा — सुनो! जिनप्रतिमा की पूजा का भाव, भावश्रुतज्ञानी को ही आता है, क्योंकि जब आत्मा का ज्ञान हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, भावश्रुतज्ञान हुआ तो भावश्रुतज्ञान का भेद निश्चय और व्यवहार दो नय हैं तो व्यवहारनय उसको आता है और व्यवहारनय का विषय भगवान की प्रतिमा व्यवहार है। है तो व्यवहार परन्तु व्यवहार उसको आता है। समझ में आया?

निश्चय से अपने स्वरूप का निर्णय करे, तब सर्वज्ञ का निर्णय होता है और मूर्ति की पूजा भी, सर्वज्ञस्वभाव का अनुभव — निर्णय हुआ तो सम्यग्ज्ञान हुआ, तो श्रुतज्ञान हुआ भाव (श्रुत) । भावश्रुतज्ञान का भेद नय-निश्चय और व्यवहार; अतः उसको व्यवहारनय है और निक्षेप, ज्ञेय का भेद है, यह नय का भेद है । नय है विषयी और वह विषय । अतः समकिती को ही निश्चय से व्यवहार का विकल्प-भक्ति का आता है । न्याय समझ में आया ? है तो व्यवहार । भावश्रुतज्ञानी को ही वह ऐसा विकल्प आता है । नय-व्यवहारनय का विषय और इसका विषय ध्येय-भगवान है, व्यवहार है शुभभाव है । निश्चय और व्यवहार इस प्रकार सिद्ध होता है । समझ में आया ? आहाहा !

चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आनेवाली असंगता के द्वारा.... आहाहा ! जिसको ज्ञेय का संग नहीं, भावेन्द्रिय का संग नहीं, आहाहा ! ऐसे असंगप्रभु के आश्रय द्वारा **सर्वथा अपने से अलग किया;....** यह ज्ञेय — चाहे तो देव-गुरु और शास्त्र हो परन्तु असंग ऐसे अपने आत्मा के भान से भिन्न है । कहो.... शिवलालभाई ! इनके पिता का प्रश्न था, १० के साल (संवत् २०१० के साल) ! शिवलालभाई बोटादवाले । वे कहते बोटाद व्याख्यान करते थे, १० की साल, २४ वर्ष हुए, बोटाद में व्याख्यान करते थे, हजारों लोग थे, तो उसने कहा कि देव, गुरु और शास्त्र पर ? शुद्ध हैं वे पर ? लाख बार पर । परद्रव्य है, स्वद्रव्य नहीं । समझ में आया ? आहाहा ! परद्रव्य का लक्ष्य करने से शुभराग ही होगा; वहाँ से वीतरागता नहीं होगी । आहाहा !

वीतरागता तो त्रिकाली नाथ प्रभु वीतरागस्वरूपी बिम्ब अन्दर है, उसके आश्रय से वीतरागता होगी । हीराभाई ! ऐसा है । आहाहा !

असंगता के द्वारा.... आहाहा ! चैतन्य भगवान-चैतन्यस्वभाव, वह असंग है । जिसे एक समय की पर्याय का ही संग नहीं, आहाहा ! तो देव, गुरु, और शास्त्र - परज्ञेय का भी संग नहीं — ऐसी असंगता के द्वारा **सर्वथा अपने से अलग किया;....** ज्ञेय को भिन्न किया । वह ज्ञेय अपने में नहीं; ज्ञेय से अपने में लाभ नहीं और ज्ञेय में मैं नहीं । आहाहा ! ऐसी बात ! सुनने मिलना कठिन पड़ता है । थोड़ा-बहुत जाना और फिर मान लेता है कि हमने यह जाना, बापू ! यह मार्ग कोई अलौकिक है । आहाहा !

सो यह इन्द्रियों के विषयभूत.... इन्द्रिय के विषय। **पदार्थों का जीतना हुआ।....** तीन बोल हो गये। द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय, और पदार्थ... आहाहा!....

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९१ गाथा ३१-३२ दिनाङ्क २५-०९-१९७८ सोमवार
भाद्र कृष्ण १०, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ३१ गाथा। यहाँ आया है? **इस प्रकार....** कहाँ आया है? जो द्रव्येन्द्रियाँ, यह जड़ पर्याय, भावेन्द्रियाँ जो खण्ड-खण्ड ज्ञान बतलाती है वह; और पंचेन्द्रियों के विषयभूत — पाँचों इन्द्रियों के विषयभूत परपदार्थ-तीनों को जीतकर, अर्थात् तीनों से भिन्न होकर, आहाहा! ज्ञायक चैतन्यस्वभाव असली त्रिकाली असलस्वरूप के अवलम्बन से, उस पर से भिन्न करना उसे इन्द्रिय जीत कहा गया है।

ज्ञेयज्ञायक-संकर नामक दोष आता था.... क्या कहते हैं? भगवान चैतन्यस्वरूप तो सच्चिदानन्द ज्ञायकस्वरूप, उसमें यह द्रव्येन्द्रिय परज्ञेय है, भावेन्द्रिय भी परज्ञेय है, आहाहा! और स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देव, गुरु और शास्त्र, देश, ये सब परद्रव्य हैं; इन तीनों का लक्ष्य छोड़कर, अपने चैतन्यस्वभाव को पकड़कर, उसकी एकाग्रता होना, वह आत्मा की वास्तविक निश्चयस्तुति है। आहाहा! ऐसा है। है? **ज्ञेयज्ञायक-संकर** (दोष) क्या कहते हैं? भगवान चैतन्यस्वरूप में द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय, वह परज्ञेय है। आहाहा! अपना स्वज्ञेय ज्ञायक चैतन्यप्रभु से द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय वे परज्ञेय हैं। आहाहा! और देव-गुरु-शास्त्र, या स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, यह सब परद्रव्य है। यह ज्ञायक चैतन्य प्रभु.... यह क्षयोपशम की अवस्था भी परद्रव्य-परज्ञेय (है)। आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र, वह परज्ञेय है। स्वज्ञेय में परद्रव्य का सम्बन्ध-संयोग मानना, वह बड़ा - मिथ्यात्व का दोष है। आहाहा! ऐसा प्रभु अन्दर, सच्चिदानन्द प्रभु, जिसका स्वभाव अकेला ज्ञान और आनन्द है — ऐसी चीज से यह पर्याय — शरीरपरिणाम को प्राप्त पर्याय-इन्द्रियाँ, वे परज्ञेय हैं, भावेन्द्रिय — जो ज्ञान की पर्याय खण्ड-खण्ड बतलाती है, वह भी त्रिकाली ज्ञायक की दृष्टि से परद्रव्य है। आहाहा! तब देव, गुरु और शास्त्र तो कहाँ रह गये! यशपालभाई!

आहाहा! इन तीनों को जीतकर, अर्थात् ज्ञेयज्ञायक-संकर नाम का दोष आता था। आहाहा! ज्ञायक भगवान सच्चिदानन्द प्रभु और ज्ञेय, वे तीनों चीजें, (इनमें) एकपने की मान्यता का दोष-मिथ्यात्व का (दोष) आता था। आहाहा! **संकर नाम का दोष आता था।** संकर, अर्थात् दो का एकत्व सम्बन्ध है — ऐसा जो दोष आता था, **वह सब दूर होने से,** आहाहा! अपना भगवान ज्ञायक चैतन्य ज्योत ध्रुव... ध्रुव... प्रवाह अनादि से... आहाहा! उसको पकड़कर स्वज्ञेय को पकड़कर परज्ञेय को भिन्न कर दिया। ऐसी बात है, प्रभु! क्या हो? मार्ग-यह तो अभी प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यक् अनुभव की बात है। बाद में, ज्ञानी को भी राग आता है, वह दूसरी-तीसरी (३१-३३) गाथा में कहेंगे। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो प्रथम भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और पर — इस ज्ञायक के साथ सम्बन्ध, अर्थात् एकत्वबुद्धि थी, इतना नाश किया। स्वभाव के अवलम्बन से, (जो) पर के साथ एकत्वबुद्धि थी, वह स्वभाव के आश्रय से दोष का नाश किया। उस दोष का नाश किया, वह एक आत्मा की स्तुति हुई। अन्दर वास्तविक तत्त्व है, उसकी प्रशंसा की, स्तुति की। समझ में आया? भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय तथा संयोगी चीज की जो प्रशंसा, वह तो इन्द्रिय की प्रशंसा है। आहाहा! भगवान की स्तुति भी इन्द्रिय की प्रशंसा है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि **दोष आता था, सो सब दूर होने से....** आहाहा!

एकत्व में टंकोत्कीर्ण.... भगवान आत्मा एकरूप स्वभाव टंकोत्कीर्ण... जैसे टाँकी से खोदी हुई अन्दर में से प्रतिमा निकलती है, ऐसे भगवान टंकोत्कीर्ण, राग से भिन्न होकर चैतन्यदल भिन्न कर दिया। आहाहा! बालचन्दजी! इसमें ऐसा है। सुनना कठिन पड़े ऐसा है। मार्ग ऐसा बापू! आहाहा! अनन्त काल का अनजाना मार्ग.... आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि उसको जानने में लिया। आहाहा! पर के प्रति एकत्वबुद्धि की दृष्टि छोड़कर, एकत्वस्वभाव में एकत्व होना... आहाहा! आहाहा! यह पर के साथ एकत्वबुद्धि थी, वह मिथ्यात्व के संयोग का सम्बन्ध का दोष था। असंग भगवान में पर का संग मानना (दोष है)। आहाहा! गजब बात है भाई! आहाहा! वह सब दूर कर दिया। चैतन्य ज्ञायक अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का दल, आहाहा! उसका आश्रय लेकर पर की एकत्वता छोड़ दी। ऐसी बात है। अभी राग है परन्तु राग की

एकता तोड़ दी। समझ में आया? भावेन्द्रिय है, द्रव्येन्द्रिय है परन्तु उसकी एकता टूट गयी।

यह प्रथम श्रेणी की केवलज्ञानी की स्तुति कहो या केवल अकेला ज्ञान प्रभु की स्तुति कहो — ऐसी बात है प्रभु! आहाहा! 'अनन्त काल से भटक रहा, बिना भान भगवान; सेव्या नहीं गुरु सन्त को' सेव्या अर्थात् कोई पैर दबाना है? आहाहा! उनकी कही हुई आज्ञा नहीं मानी। आहाहा! सन्तों की आज्ञा, शास्त्र की आज्ञा वीतरागता प्रगट करना, वह आज्ञा है। वीतरागता कब प्रगट हो? कि पर से भिन्न होकर स्व में एकत्व करने से वीतरागता प्रगट होगी। आहाहा! उन गुरु की आज्ञा यह है। आहा! समझ में आया?

संकर नामक दोष आता था.... संकर अर्थात् एकत्व, संयोग, सम्बन्ध। **सो सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण....** परन्तु यह चीज क्या? इस **ज्ञानस्वभाव के द्वारा...** आहाहा! प्रज्ञाब्रह्म प्रभु, उस प्रज्ञा-ज्ञानस्वभाव के द्वारा, आहाहा! **सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं....** आहाहा! ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं। **वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन हैं।....** आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसै, घट घट अन्तर जैन', वह जिनस्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय लेकर पर की एकता तोड़ी, वह पर्याय में जिन हुआ। द्रव्य में तो जिन था। आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसै' प्रत्येक घट में भगवान जिनस्वरूपी भगवान विराजमान है और 'घट घट अन्तर जैन' उस जिन का अवलम्बन लेकर पर की एकता तोड़ दी, वह जैन। जैन कहीं पक्ष या सम्प्रदाय नहीं है। समझ में आया? वह वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहाहा! बाहर से ऐसा कहलावे कि हम स्थानकवासी हैं और मन्दिरमार्गी हैं, वह जैन नहीं। 'घट घट अन्तर जिन बसै' — यह ज्ञानस्वभावी, जिनस्वभावी... आहाहा! इस जिनस्वभाव की अन्तर में प्रतीति करके पर की एकता तोड़ दी, वह वर्तमान पर्याय में जिन हुआ — जितेन्द्रिय जिन हुआ; पूर्ण जिन नहीं अभी पर्याय में। समझ में आया? ऐसी बातें, अब लोगों को (कठिन लगती हैं)। तीन लोक का नाथ अन्दर विराजमान है न प्रभु! आहाहा! 'तेरी नजर के आलसे रे प्रभु ते न निरख्या नैने हरि' यह स्तुति वैष्णव में आती है। 'मेरी नजर ने आलसे रे मै निरख्या न नैने हरि' हरि अर्थात् आहाहा! अज्ञान और राग-द्वेष को हरे, वह हरि। आहाहा! पंचाध्यायी में हरि का अर्थ किया है। आहाहा! वीतरागी ज्ञानस्वभावी

भगवान.... ज्ञानस्वभाव कहा न? (उसके) द्वारा आहाहा! इस वीतरागस्वभाव द्वारा, ज्ञानस्वभाव द्वारा, जिनस्वभाव द्वारा.... आहाहा! अन्य द्रव्य को पृथक् कर दिया। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! आहाहा!

ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करता है, वह निश्चय से जितेन्द्रिय जिन है.... ज्ञानस्वभाव भगवान आनन्द ज्ञान, ज्ञान अर्थात् ज्ञायक सर्वज्ञस्वभाव, स्वरूप का, सर्वज्ञस्वरूप... आहाहा! अकेला **(ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है ....)** अर्थात् यह ज्ञानस्वभाव दूसरे किसी पदार्थ में नहीं है। भगवान के पदार्थ में भी यह ज्ञानस्वभाव नहीं है। आहाहा! और यह ज्ञानस्वभाव भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और पर भगवान, ये सब अचेतन, अर्थात् यह चेतन नहीं। आहाहा!

यह अद्भुत विस्मयकारी तत्त्व तेरा भगवान अन्दर है। आहाहा! आहाहा! उस तत्त्व के अवलम्बन से... आहाहा! **अचेतन द्रव्यों में नहीं है....** वह वस्तुस्वभाव आनन्द और ज्ञान प्रज्ञाब्रह्म प्रभु... प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान, ब्रह्म अर्थात् आनन्द... यह तो आता है या नहीं? वैष्णव में आता है। प्रज्ञाब्रह्म परन्तु उसकी पर्याय क्या और गुण क्या? — उसका तो पता नहीं। यह तो सर्वज्ञ से सिद्ध हुआ है। आहाहा! क्योंकि जो ज्ञानस्वभाव अन्य चेतन नहीं **(इसलिए उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक,...)** आहाहा! भावेन्द्रिय, अरे! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ से भी यह ज्ञानस्वभाव अधिक / भिन्न है। समझ में आता है? आहाहा! **(उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है।)....** परिपूर्ण (है), आहाहा! 'मन्यते' वह जानने में आता है, अनुभव में आता है, वह चीज पर से अत्यन्त भिन्न है। तीन लोक के नाथ तीर्थंकर केवलीदेव से भी वह चीज भिन्न है। शिवलालभाई! यह तो यह आया, शुद्ध से भिन्न है और इससे वह भिन्न और उससे यह भिन्न।

भक्ति... भक्ति... भक्ति... इसमें स्वयं अपने को भूल गया। हम देव-गुरु की भक्ति करते हैं, इसलिए कल्याण होगा। परद्रव्य की भक्ति तो राग है। सूक्ष्म बात है भाई! स्वद्रव्य की भक्ति, वह वीतरागता है। भजन, अर्थात् पूर्णानन्द के नाथ का दृष्टि में भजन करना। आहाहा! वह वीतरागीस्तुति है, वह वास्तविक केवलज्ञानी की स्तुति है। केवलज्ञानी ऐसा कहते हैं — भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि हम तुझसे भिन्न हैं और हमसे

तेरी चीज भिन्न है — ऐसी भिन्न चीज की स्तुति करे, उसने वास्तविक केवलज्ञान की स्तुति की है। आहाहा! हमारे सामने देखकर हमारी स्तुति करे, वह तो राग है; वह आत्मा नहीं है। आहाहा! आता है, धर्मी को भी राग आता है परन्तु वह बन्धन का कारण है। व्यवहार आता है, जब तक पर्याय में वीतरागता न हो, वीतरागता-सर्वज्ञता न हो, तब तक साधक जीव को भी अपने भगवान आत्मा की एकाग्रता की स्तुति होने पर भी, पूर्ण एकाग्रता नहीं है; इस कारण भगवान का, देव-गुरु का विनय आदि का भाव आता है परन्तु वह भाव, पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? लोगों को ऐसा कठिन लगता है। कितने ही तो ऐसा कहते हैं कि ऐसा धर्म कहाँ से निकाला? भाई! मार्ग ही यह है बापू! आहाहा!

अरे! जन्म-मरण कर-करके कचूमर निकल गया है। आहा! बापू! तुझे पता नहीं है, भूल गया है। भूल गया, इसलिए नहीं था — ऐसा प्रभु! कौन कहे? आहाहा! जन्म के बाद छह महीने में, बारह महीने में क्या हुआ? यह पता है? माता-पिता ने कैसे किया, कैसे दिशा करने बैठाया — यह पता है? बालक को दो पैर लम्बे करके दिशा करने बैठाते हैं और ऐसे पैर में बैठाते हैं, यह पता है? (तुझे) पता नहीं, इसलिए नहीं था? हैं? आहाहा! काँख में बैठाते हैं और हाथ में.... यह छह महीने की, बारह महीने की क्रिया ख्याल में है नहीं; ख्याल में नहीं है तो नहीं थी? ऐसे अनन्त काल प्रभु, चार गति के दु:ख अनन्त बार भोगे हैं, प्रभु! यह पता नहीं, इसलिए नहीं था — ऐसा नहीं है। है? लॉजिक से, न्याय से (बात है)। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि इस आत्मा के स्वभाव द्वारा सबसे अधिक-भिन्न... **कैसा है ज्ञानस्वभाव?.....** भगवान, यह ज्ञानस्वभाव, चैतन्य हीरा, आहाहा! आत्म हीरा कैसा है? इस **विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तिरता हुआ....** क्या कहते हैं? राग, देव, गुरु, शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार को ज्ञान जाने, जानने पर भी उसरूप नहीं होता। समझ में आया? ऊपर तिरता है।

(उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ),.... आहाहा! पर को जानता हुआ भी जानने में रहनेवाला है, पररूप नहीं होता। आहाहा! अग्नि को ज्ञान जाने तो उस

ज्ञान में अग्नि आयी नहीं और अग्निरूप ज्ञान हुआ नहीं परन्तु अग्नि सम्बन्धी का ज्ञान अपने में ज्ञान आता है। आहाहा! तो ज्ञान हुआ, अग्नि सम्बन्धी तो वह ज्ञान अग्निरूप हुआ है – ऐसा है नहीं। आहाहा! वैसे ही ज्ञान प्रभु (आत्मा) पर को जाने परन्तु पररूप होकर नहीं जानता। आहाहा! अपने में रहकर जानता है। पर का जानना हुआ, परन्तु पर के जानने से पररूप हुआ? वह पर का जानना, यह तो अपना जानना है। आहाहा! यह बात।

(उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ), प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान,.... आहाहा! प्रत्यक्ष है। आहाहा! जिसको जानने में राग और निमित्त की अपेक्षा नहीं है, तो सीधे अपने मति-श्रुतज्ञान से प्रत्यक्ष जानने में आता है। आहाहा! आहाहा! अभी तो निचली श्रेणी की बात है, हों! मति-श्रुतज्ञान... वह सम्यक् हुआ, वह प्रत्यक्ष जानता है। यह भगवान पूर्णानन्दस्वरूप, यह **प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान,....** आहाहा! सदा अन्तरंग में प्रकाशमान, चैतन्यज्योति जलहलज्योति विराजमान प्रभु, आहाहा! **अविनश्वर,....** कभी नाश नहीं होता। यह चीज है, वह कभी पलटती भी नहीं। पर्याय पलटे, वस्तु तो वस्तु है। आहाहा! आहाहा!

स्वत:सिद्ध.... अपने से है; कोई उसका कर्ता-फर्ता है (नहीं।) समझ में आया? ईश्वर कर्ता है – कोई कर्ता कहे तो परमेश्वर ने तो (कहा) ईश्वर कर्ता नहीं (तो) ऐसा आत्मा बनाया तो ऐसे को उसने जन्म क्यों दिया? यदि ईश्वर कर्ता हो तो 'ईश्वर कर्ता नहीं है' ऐसे माननेवाले को जन्म क्यों दिया? बहिन तो घर से तुम्हारे है। एक बार विचार आया था, बा है न घर में, वह जरा विचार आया था, आहाहा! वह आती है न वेदान्त की पत्रिका नहीं? कल्याण। एक बार सुना था। आहाहा! 'कल्याण' (पत्रिका) आती है और घर में एक बार पढ़ते होंगे। आहाहा! भगवान! तेरा कल्याणस्वरूप तो अन्दर भिन्न है, उसका कोई कर्ता है? अरे, जो द्रव्य है, वह तो पर्याय का कर्ता नहीं। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञायक ध्रुवस्वरूप, वह अपनी निर्मलपर्याय का भी वह कर्ता नहीं। आहाहा! पर्याय का कर्ता पर्याय है, आहाहा! ऐसा मार्ग! अरे! जन्म-मरण का अन्त लाने का अवसर मिला, प्रभु! आहाहा! इस अवसर में नहीं समझेगा तो कब समझेगा? आहाहा!

स्वत:सिद्ध और परमार्थरूप.... परमपदार्थ, परम पदार्थ, परम अर्थ — परमार्थ,

परम अर्थ, परम पदार्थ — **ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।** यह ज्ञानस्वभाव तो भगवान ज्ञान, आहाहा! भग, अर्थात् आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी; वान, अर्थात् लक्ष्मीवान आत्मा, भगवान है। ज्ञानरूपी लक्ष्मी। भग, अर्थात् ज्ञानरूपी लक्ष्मी, उसका वान, वह लक्ष्मीवान है, यह धूलवाला नहीं, ऐई...! सौभाग्यचन्दजी गुजर गये, नहीं? गुजर गये। उनके घर में से वे एक आते थे। आहाहा! भाग्य बिना यह कहाँ मिले बापू! आहाहा! ऐसा भगवान (आत्मा) ज्ञानस्वभाव है! आहाहा!

इस प्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।..... यह एक प्रकार हुआ। इसमें स्तुति के तीन प्रकार हैं, उसमें यह एक प्रकार हुआ। पर से भिन्न होकर राग रहा परन्तु राग से भिन्न होकर एकत्व हुआ, यह पहली स्तुति कही गयी है। अभी राग बाकी है। समकिती को अनुभव होने पर भी, राग की एकता टूटी है परन्तु राग की अस्थिरता बाकी रह गयी है। समझ में आया? राग कहो या दु:ख कहो, आहाहा! आनन्दस्वरूप में दु:ख का — एकत्व का तो नाश किया परन्तु अस्थिरता का राग और दु:ख है, वह बाकी है। समझ में आया?

इस प्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई। स्पष्टीकरण किया। **(ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों,...** जो ज्ञेय पर है। **भावेन्द्रियों....** ज्ञेय पर **इन्द्रियों के विषय....** ज्ञेय पर। इन **पदार्थों का और ज्ञायकस्वरूप स्वयं आत्मा का — दोनों का अनुभव, विषयों की आसक्ति से, एक सा होता था;....** अनादि से। **जब भेदज्ञान से भिन्नत्व ज्ञात किया....** आहाहा! भावेन्द्रिय और परपदार्थ से भी भिन्नत्व भगवान है, उसका ज्ञान किया। अद्भुत बात भाई! **तब वह ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष दूर हुआ....** दो एक थे — ऐसी मान्यता का नाश हुआ। परद्रव्य और परद्रव्यरूप राग तथा भावेन्द्रिय, यह एकत्व था, उसका नाश हुआ परन्तु (अस्थिरता) अभी बाकी अवश्य रहा है। अभी भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय का निमित्तपना, देव-गुरु का भी निमित्तपना (रहा है)। आहाहा! एकत्व से (एकत्वबुद्धि से) पृथक् हुआ परन्तु अभी अस्थिरता से पृथक् नहीं हुआ। यह दूसरे प्रकार की स्तुति ऊँची। पहली स्तुति तो पर से भिन्न कर दिया और आत्मा से एकत्व हुआ यह एक स्तुति।

गाथा ३२

अथ भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण –

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति।।३२।।

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति।।

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवन्तमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावक-संकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवान्त:-प्रकाशमानेनानपायिना स्वत:सिद्धेन परमार्थसत्ता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यान्तर-स्वभावभाविभ्य: सर्वेभ्यो भावान्तरेभ्य: परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुति:।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचन-कायसूत्राण्येकादश पंचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्या-तत्वाद्व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।

अब, भाव्यभावक-संकरदोष दूर करके स्तुति कहते हैं —

कर मोहजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आत्मा।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उन हि जितमोही कहा॥३२॥

गाथार्थ : [यः तु] जो मुनि [मोहं] मोह को [जित्वा] जीतकर [आत्मानम्] अपने आत्मा को [ज्ञानसवभावाधिकं] ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से

अधिक [जानाति] जानता है [तं साधुं] उन मुनि को [परमार्थविज्ञायकाः] परमार्थ के जाननेवाला [जितमोहं] जितमोह [ब्रुवन्ति] कहते हैं।

टीका : मोहकर्म फल देने की सामर्थ्य से प्रगट उदयरूप होकर भावकपने से प्रगट होता है तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्मा — भाव्य, उसको भेदज्ञान के बल द्वारा दूर से ही अलग करने से इस प्रकार बलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके, समस्त भाव्यभावक-संकरदोष दूर हो जाने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण (निश्चल) और ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों के स्वभावों से होने वाले सर्व अन्यभावों से परमार्थतः भिन्न अपने आत्मा को जो (मुनि) अनुभव करते हैं वे निश्चय से जितमोह (जिसने मोह को जीता है) जिन हैं। कैसा है वह ज्ञानस्वभाव? समस्त लोक के ऊपर तिरता हुआ, प्रत्यक्ष उद्योतरूप से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनाशी, अपने से ही सिद्ध और परमार्थरूप ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इस प्रकार भाव्यभावक भाव के संकरदोष को दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति है।

इस गाथासूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है; उसमें 'मोह' पद को बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय रखकर ग्यारह सूत्र व्याख्यानरूप करना और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन तथा स्पर्शन — इन पाँच के सूत्रों को इन्द्रियसूत्र के द्वारा अलग व्याख्यानरूप करना; इस प्रकार सोलह सूत्रों को भिन्न-भिन्न व्याख्यानरूप करना और इस उपदेश से अन्य भी विचार लेना।

भावार्थ : भावक मोह के अनुसार प्रवृत्ति करने से अपना आत्मा भाव्यरूप होता है उसे भेद ज्ञान के बल से भिन्न अनुभव करनेवाले जितमोह जिन हैं। यहाँ ऐसा आशय है कि श्रेणी चढ़ते हुए जिसे मोह का उदय अनुभव में न रहे और जो अपने से उपशमादि करके आत्मानुभव करता है उसे जितमोह कहा है। यहाँ मोह को जीता है; उसका नाश नहीं हुआ।

गाथा - ३२ पर प्रवचन

अब, पर से भिन्न किया तो भी अन्दर में अभी राग बाकी रहा है। यदि राग न रहे तो वीतरागता हो जाये। समझ में आया? अतः सम्यग्दृष्टि भी जितेन्द्रिय हुआ तो भी,

जिनस्वरूप का अनुभव हुआ, तो भी राग बाकी है। आहाहा! अत: उस राग का जीतना किस प्रकार होता है ? — यह बात करते हैं। समझ में आया ? दो के एकत्व को छोड़ दिया परन्तु दो में राग अभी बाकी है। उसे अस्थिरता नहीं छूटी है। आहाहा! समझ में आया ?

धर्मी को भी — सम्यग्दृष्टि को, ज्ञानी को, क्षायिक सम्यक्त्वी को भगवान के वन्दन-स्तुति का राग आता है। है राग, है दु:ख, है आकुलता, है कषाय। आहाहा! समझ में आया ? तो **अब, भाव्यभावक-संकरदोष दूर करके....** इससे पहले में ज्ञेय-ज्ञायक एकत्व परज्ञेय और स्वज्ञायक (में) एकत्व माना था वह दोष दूर किया। अब यहाँ तदुपरान्त अब आगे जाते हैं। भाव्य-आत्मा, रागरूप होने के योग्य है, भावककर्म का उदय है; उस उदय के अनुसार अपनी योग्यता से जो राग था, उसको भाव्य कहते हैं। समकिती को भी वह भाव्य कहते हैं। आहाहा! भाव्य.... जो जड़कर्म है, वह भावक है परन्तु अपनी पर्याय में उसका अनुसरण करके जो विकारभाव होता है, वह भाव्य है। समकिती को-ज्ञानी को-मुनि को भी राग आता है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! गजब बात है।

अब ऐसा ही मान लेना कि ज्ञानी को दु:ख है ही नहीं — (यह) विपरीत दृष्टि है। ज्ञान विपरीत हुआ, वहाँ दृष्टि विपरीत हुई। आहाहा! यहाँ तो एकत्व तोड़ दिया — भगवान ज्ञानस्वभाव दृष्टि में-अनुभव में आया तो राग की, परद्रव्य की, भावेन्द्रिय की एकता टूट गयी परन्तु अभी अस्थिरता रह गयी है। समझ में आया ? इस कर्म का भावक.... भावक क्यों कहा ? कि विकार, आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए भावक कर्म का उदयभाव, भाव के करनेवाला और उसे अनुसरण करके राग अपने में होता है वह भाव्य; वह पर का अनुसरण जो है, वह भाव्य है — ऐसा न होने देना, वह दूसरी स्तुति है। समझ में आया ? अब ऐसी बातें! अब यह तो कॉलेज है, थोड़ा तो अभ्यास हो तो ख्याल में आवे। आहाहा!

श्रोता : एकत्वबुद्धि टूटने के बाद तो यह सहज है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, अस्थिरता आती है न ? इतना दोष है। दोष है, उसको जानता है परन्तु मेरी पर्याय में उदय के अनुसार मेरी भाव्यदशा, वह मुझमें होती है — ऐसा भान करता है। सूक्ष्म बात है। इसीलिए तो गाथा ली है। आत्मज्ञान हुआ, ज्ञानस्वभाव

भगवान पर से भिन्न हुआ परन्तु पर से-अस्थिरता से भिन्न अभी नहीं हुआ। यदि अस्थिरता से भिन्न हो जाये तो (पूर्ण) वीतराग हो जाये। आहाहा! सुमेरुमलजी! ठीक आये हैं ठीक, भाग्यवान है न, तभी ठीक इस चीज में आये हैं। आहाहा! यह वाणी कहाँ है प्रभु! आहाहा! यहाँ प्रभु कहते हैं कि एक जघन्य स्तुति तो राग और भावेन्द्रिय परज्ञेय है, मेरा ज्ञायक भिन्न है — ऐसा भान हुआ - सम्यग्दर्शन हुआ - सम्यग्ज्ञान हुआ — स्वरूप में आचरण भी थोड़ा हुआ परन्तु अभी स्वरूप में पूर्ण स्थिर होना, वह नहीं है, क्योंकि भावक जो कर्म है, उसके अनुसार अपनी विकारी पर्याय भाव्य होने में योग्य जीव है। भावक कर्म से भाव्य विकार होता है — ऐसा नहीं तथा विकारभाव होता ही नहीं — ऐसा भी नहीं परन्तु यह विकारीभाव, वह भावक जो कर्म है, उसके पर्याय समकिती ज्ञानी को भी, उसका अनुसरण होकर के जो विकार होता था, उसका नाम भाव्य है। यह पर का अनुसरण छोड़ना और अपना-शुद्ध का विशेष अनुसरण करना, यह दूसरे प्रकार की स्तुति है।

यहाँ तो उपशमश्रेणी की बात करते हैं। अन्दर उपशमश्रेणी, अर्थात् कर्म के उदय के अनुसार जो राग था, उसको स्वभाव के अनुसार उपशम करके छोड़ दिया, यह दूसरी स्तुति है। आहाहा! उपशमभाव हुआ। अभी सत्ता में रागादि हैं परन्तु उससे भिन्न होकर अपने में भाव्य जो भावक कर्म का.... निमित्त से होता नहीं परन्तु निमित्त परद्रव्य है, उससे क्या? परन्तु उसके अनुसार अपनी पर्याय में समकिती को भी, मुनि को भी जो राग आदि आता था, उस राग को भाव्य कहते हैं, और कर्म के उदय को भावक कहते हैं। आहाहा! अरे भगवान! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग है भाई! इसमें कोई उल्टा-पुल्टा एक भी फेरफार हो तो दृष्टि विपरीत है। आहा!

भाव्यभावक-संकर.... यह संकर अर्थात् एकत्व नहीं — एकत्वबुद्धि नहीं परन्तु इस राग के साथ अस्थिरता होती है, इतना संकर है, इतना दोष है। आहाहा! समकिती को, ज्ञानी को, क्षायिक समकिती को... आहाहा! जो अपनी पर्याय में, अपनी लायकात-योग्यता से कर्म के भावक को अनुसरण करके जो विकृतभाव होता था, इतना स्व का अनुसरण नहीं था। समझ में आया? आहाहा! ज्ञानी को भी, समकिती को भी,

अरे! मुनि को भी, आहाहा! सच्चे मुनि, हों! भावलिंगी को भी जरा पंच महाव्रत का राग आदि आता है, वह कर्म-भावक का अनुसरण करके होता है, स्वभाव को अनुसरण करके विकार नहीं होता। निहाल! समझ में आया? प्रभु! यह तो अन्दर सत्यमार्ग है। इसमें कोई पक्ष करके बैठ जाये, वह वस्तु की स्थिति नहीं है। आहाहा! प्रभु-आत्मा की स्तुति के तीन प्रकार — ज्ञायकभाव की स्तुति, अर्थात् राग से पृथक् होकर अन्दर एकाग्र होना, वह प्रथम स्तुति है और दूसरी स्तुति आगे बढ़कर भावक जो कर्म है, उसके अनुसार अपने में अपनी कमजोरी से राग / दुःख की पर्याय होती थी वह भाव्य, उसको अपने स्वभाव के अनुसरण करके भाव्य नहीं होने देना, वह दूसरी स्तुति है। सुमेरुमलजी! भगवान देखो तो, आहाहा! ३२ (गाथा)

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति।।३२।।

मोह का नाश करके, नहीं उपशम करके.... 'अधिक', अर्थात् समकिती को भी जो राग था, उससे अधिक अर्थात् भिन्न अन्दर अनुभव करे। अस्थिरता से भी भिन्न होकर... आहाहा! चौथे गुणस्थान में भी तीन कषाय बाकी है, पाँचवें गुणस्थान में दो कषाय बाकी है, छठवें में एक कषाय बाकी है। राग है, वह दुःख है। आहाहा! वह दुःख अपने स्वभाव का अनुसरण करने से नहीं होता परन्तु वह दुःख, कर्म के उदय के अनुसरण करने से (होता है) यहाँ अनुसरण छोड़कर, इतना अनुसरण किया तो इतना भाव्य और राग और दुःख हुआ। आहाहा!

विशिष्टता तो यह है कि राग हुआ, वह पर से नहीं; पर का अनुसरण किया, उससे हुआ है। स्व का अनुसरण करके एकत्वबुद्धि हुई — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हुआ परन्तु अभी राग है तो जितना अपना अनुसरण करना चाहिए, इतना अनुसरण नहीं है और कर्म के निमित्त के अनुसरण में राग — दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध — ऐसा राग आता है। उस राग को भाव्य कहते हैं और कर्म को भावक कहते हैं। दो का सम्बन्ध था, वह तोड़ दिया। स्वभाव का आश्रय लेकर उस अस्थिरता का नाश कर दिया। नाश नहीं, उपशम किया; नाश बाद में आयेगा। आहाहा! ऐसा स्वरूप प्रत्यक्ष है। आहाहा!

हरिगीत

कर मोहजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आत्मा।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उन हि जितमोही कहा॥३२॥

गाथार्थ : जो मुनि.... अर्थात् यहाँ मुनि की प्रधानता से कथन है। भावलिंग तो प्रगट हुआ, मुनिदशा प्रगट हुई परन्तु अभी अस्थिरता का राग बाकी रहा, कर्म के अनुसार है। **जो मुनि मोह को जीतकर....** वह जो अस्थिरता का भाव था, उसे स्वभाव के अनुसार (अनुसरण) करके अस्थिरता को दबा दिया, ढँक दिया। समझ में आया? अरे! अब यह ऐसी बातें! 'मोह' क्या कहा? मोह, यह मिथ्यात्व नहीं। यह मोह मिथ्यात्व नहीं; यह मोह अस्थिरता का भाव। ज्ञानी को जो राग आता है, यह मोह है। मोह क्यों कहा? कि पर तरफ की इतनी सावधानी रही; अपनी ओर की सावधानी इतनी नहीं रही। आहाहा! **जो मुनि...** अब मुनि तो कहा, समकिती को मोह है परन्तु वह मोह, मिथ्यात्व का नहीं; चारित्रमोह का दोष है। समझ में आया? **जीतकर....** उपशम करके-दबा दिया है। अपने स्वरूप में इतना उपशमभाव प्रगट किया। आहाहा! **अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक....** यह भाव्य जो विकारीदशा, उससे भिन्न अब यहाँ लेना।

पहली एकत्वबुद्धि का तो नाश पहले कर दिया, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हुआ। अब जो अस्थिरता का राग आया, उससे अधिक अर्थात् मेरी चीज भिन्न है — ऐसा होकर राग को दबा दिया, उपशम कर दिया। आहाहा! अरे! ऐसी बातें! यह तो प्रभु का मार्ग है भाई! आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य तो भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर यह कहते हैं। भाई! भगवान तो ऐसा कहते हैं कि पहली स्तुति तो ज्ञेय-भावेन्द्रियाँ आदि पर, उससे भिन्न करके अपने में एकाग्र होना और आनन्द का वेदन करना, स्वसंवेदन होना, वह आत्मा की-केवली की पहली स्तुति — प्रशंसा कही जाती है। आहाहा! जो परद्रव्य की प्रशंसा करता था, आहाहा! शुभराग, भगवान ऐसे और भगवान — ऐसे इस स्तुति को छोड़कर, अपना भगवान ज्ञानस्वभाव में एकाग्र हुआ, वह अपनी स्तुति, प्रशंसा की, फिर अभी बाकी रहा अस्थिरता (का राग)। अब एकत्वबुद्धि से स्तुति नहीं परन्तु अस्थिरता से जो स्तुति थी, आहाहा! समकिती को,

क्षायिक समकिती को, अरे! मुनि को... आहाहा! मुनि कहते हैं न अमृतचन्द्राचार्य, तीसरे श्लोक में (कहते हैं न) अरे, मैं तो पवित्र भगवान द्रव्यस्वरूप शुद्ध हूँ परन्तु मेरी पर्याय में अनादि से जो मलिनता है, वह अभी खड़ी है। मलिनता का अभाव पर्याय में (सर्वथा) नहीं हुआ। आहाहा! 'कल्माषितायां' ऐसा पाठ है, मेरी पर्याय में... वरना वे तो मुनि हैं, शुभभाव आता है तो कहते हैं — मेरी पर्याय में यह कलुषितता है। आहाहा! मैं तो परमानन्द का नाथ हूँ परन्तु मेरी पर्याय में अनादि से.... अभी भले अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, मुनिपना हुआ परन्तु पर्याय में जो अशुद्धता है, वह अभी गयी नहीं। भाई! आहाहा! तीसरे कलश में है।

है न? तीसरे कलश में है, तीसरा कलश, हों! अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं, वह चौथा पृष्ठ — इस समयसार शुद्धात्म ग्रन्थ की व्याख्या से ही मेरी अनुभूति-अनुभवरूप परिणति की परमविशुद्धि हो। कैसी है मेरी परिणति? आहाहा! परपरिणति का कारण मोह नामक कर्म, उसके अनुभाव्यरूप उदयरूप विपाक से मुझमें जो अनुभाव्य रागादि परिणाम होता है, आहाहा! भावमुनि, समकिती तो है परन्तु सन्त है, णमो लोए सव्व आयरियाणं — आचार्य पद में है परन्तु मैं छद्मस्थ हूँ, मेरी पर्याय में शुभभाव की कलुषितता उत्पन्न होती है। आहाहा! है? रागादि की व्याप्ति है। है अन्दर? मेरी पर्याय में राग-द्वेष का अंश, उसकी व्याप्ति है, मेरी पर्याय में है। आहाहा! मैं स्वरूप से तो परमानन्द शुद्ध चैतन्य हूँ परन्तु मेरी पर्याय में अभी अशुद्धता बाकी है। आहाहा! वह भावक, कर्म के अनुसरण से अपने में जरा पर्याय - भाव्य होती है, तो मैं कहता हूँ — इससे निरन्तर कल्माषित - मैली है। है! आहाहा! अरे! मुनि को अशुभभाव तो है नहीं। यह टीका बनाने का विकल्प उठा, वह मैल है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

और मैं द्रव्यदृष्टि से शुद्ध चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ। आहाहा! है? भावार्थ - उसका भावार्थ — आचार्यदेव कहते हैं — शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति वस्तु हूँ किन्तु मेरी परिणति मोहकर्म के उदय का निमित्त.... निमित्त पाकर मैली है। मेरी पर्याय में राग है, दुःख है, आकुलता है। आहाहा! न हो तो मुझे परम आनन्द होना चाहिए। आहाहा! अरे! जगत को सत्य मिलना बहुत कठिन हो गया है।

आहाहा! मेरी (पर्याय) रागादिस्वरूप हो रही है। स्थापना करते हैं कि ऐसा इतना नहीं तो राग का अंश, द्वेष का अंश है, सत्य ऐसा है — ऐसी भी स्थापना करना, वह राग का अंश है। आहाहा! यह (कलश) १४३ में आया है।

इसलिए शुद्धात्मा की कथनीरूप समयसार ग्रन्थ की टीका करने का फल मेरी परिणति रागादिरहित होकर... मेरी परिणति में राग है। राग कहो, दुःख कहो, आकुलता कहो, कषाय कहो, आहाहा! भाषा तो ऐसी है कि मेरे शुद्धस्वरूप की प्राप्ति हो। मेरी परिणति रागादि रहित है, वह टीका करने का फल, ...परन्तु उसका अर्थ यह है, टीका करने का जो विकल्प है, उसका फल अशुद्धता का नाश है — ऐसा नहीं परन्तु टीका के काल में मेरी दृष्टि का जोर वहाँ — अन्दर जायेगा, उस टीका के काल में मेरी अशुद्धता का नाश होगा। आहाहा! यह तो अमृतवाणी है, अमृतचन्द्राचार्य के अमृत कलश! आहाहा! मेरी परिणति रागादिरहित होकर शुद्ध हो। मुनि कहते हैं कि मेरी पर्याय में राग है। राग-दुःख कहो, आकुलता कहो, आहाहा! तो मैं टीका के काल में, टीका से नहीं परन्तु पाठ में 'टीका से' शब्द है। टीका का विकल्प है परन्तु मेरा जोर अन्दर में है। आहाहा! उस जोर के और जोर के कारण अशुद्धता का नाश हो जायेगा, भैया! आहाहा! मुनिराज ऐसा कहते हैं। आचार्य पद — णमो लोए सव्वं आयरियाणं। आहाहा! वह यहाँ कहते हैं। विशेष अर्थ आयेगा। लो समय हो गया। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९२ गाथा ३२ दिनाङ्क २६-०९-१९७८ मंगलवार
भाद्र कृष्ण १०, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, गाथा ३२। गाथा का अर्थ चला न? (हाँ), हो गया।

टीका, सूक्ष्म अधिकार है। यहाँ आत्मा ज्ञानानन्द सहजात्म चैतन्यस्वरूप का अनुभव होने पर भी, उसके आनन्द का स्वाद आने पर भी, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर भी, अपनी पर्याय में कर्म के निमित्त के लक्ष्य से विकारभाव होता है, उसे यहाँ भाव्य कहते हैं। कर्म भावक, उस भाव को करनेवाला उपचार से; वह भाव्य अपनी पर्याय में धर्मी को भी ज्ञानी को भी, मुनि को भी, आहाहा! अपनी पर्याय में मोह... मोह शब्द से यहाँ

मिथ्यात्व नहीं। अन्दर जो चारित्रमोह है, उसके उदय में अपनी योग्यता से जो भाव्य... उस तरफ अनुसरण करते हैं तो विकारी पर्याय होती है। आहाहा! धर्मी को, ज्ञानी को, आहाहा! उसको जीतना...

टीका : मोहकर्म फल देने की सामर्थ्य से.... कर्म जड़ है, वह सत्ता में पड़ा है। अब उदय में आया। (फल) **देने की सामर्थ्य से प्रगट उदयरूप होकर भावकपने से प्रगट होता है....** यहाँ विकारी पर्याय में भावकपना निमित्तपना होकर प्रगट होता है। **तथापि....** ऐसा होने पर भी, **तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है....** आहाहा! धर्मी जीव की भी, ज्ञानी की, समकिती की, अनुभवी की भी, वह कर्म जो भावक आया, उसके अनुसार जिसकी प्रवृत्ति है। है? अपनी पर्याय में विकार होने की योग्यता है। आहाहा! बालचन्दजी! यह तो दूसरे प्रकार की स्तुति है न? पहली स्तुति तो आनन्दस्वरूप भगवान राग से, परद्रव्य से, भावेन्द्रिय से भिन्न — ऐसा भान हुआ तो वह प्रथम, केवली की अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप भगवान की स्तुति कही जाती है। आहाहा!

अब उससे दूसरी स्तुति, उससे विशेष — कि भावक है, कर्म का उदय आया, चारित्रमोह है, भावकपने से प्रगट होता है। कर्म में, कर्म में-जड़ में उदय आया। अब **तथापि...** तो भी **तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है....** उस कर्म के उदय के अनुसार होकर जो भाव्यकर्म की प्रवृत्ति है, आहाहा! **ऐसा जो अपना आत्मा....** आहाहा! विशिष्टता तो यह कही है कि कर्म का उदय आया परन्तु वह कोई विकार कराता है — ऐसा नहीं है। समकिती को और ज्ञानी को अपनी पर्याय तदनुसार प्रवृत्ति करने से जो विकारभाव राग-द्वेष आदि बहुत बोल लेंगे। पहले यहाँ मोह का लिया, फिर सोलह बोल लेंगे। आहाहा! उस कर्म के उदय के अनुसार... यहाँ अनुसार — आश्रय अल्प है परन्तु विशेष लक्ष्य पर के ऊपर गया। आहाहा! वह **तदनुसार जिसकी....** आत्मा की **प्रवृत्ति है - ऐसा जो अपना आत्मा....** आहाहा! **भाव्य, उसको भेदज्ञान के बल द्वारा....** आहाहा! वह विकारी पर्याय जो अपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान आनन्द होने पर भी, पुरुषार्थ की कमी से... आहाहा! भावक जो कर्म का उदय आया, उसके अनुसार जो प्रवृत्ति थी, उसको छोड़ देते हैं। आहाहा! अपने उल्टे पुरुषार्थ से कर्म के उदय के अनुसार जो विकार-भाव्य होता था।

'भाव्य' अर्थात् विकारी दशा होने के योग्य — **उसको भेदज्ञान के बल द्वारा....** एकत्वबुद्धि तो छूट गयी है और सम्यग्दर्शन ज्ञान है परन्तु उसके साथ जो सम्बन्ध है, उसे भेदज्ञान के बल से वह सम्बन्ध छोड़ देते हैं। आहाहा! और स्वभाव के साथ विशेष सम्बन्ध करते हैं। ऐसी बातें कठिन भाई! समझ में आया?

अपना आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान है, वह चैतन्य ज्योति (है), उसकी दृष्टि और अनुभव हो, फिर भी अभी कमजोरी-पुरुषार्थ की कमी है। आहाहा! ज्ञानी को भी चौथे गुणस्थान में, पाँचवें गुणस्थान में रौद्रध्यान होता है। क्या कहा? आहाहा! समकिती ज्ञानी अनुभवी को भी कमजोरी से आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों होते हैं, चौथे, पाँचवें (गुणस्थान में)। आहाहा! और छठवें गुणस्थान में मुनि को आर्तध्यान होता है, रौद्रध्यान नहीं, क्योंकि अन्तर में इतनी एकाग्रता का अभाव तो परतरफ की एकाग्रता का रौद्रध्यान, आर्तध्यान, मोहभाव उत्पन्न होता है। आहाहा! समझ में आया? उस कर्म के निमित्त का अनुसरण करके जो भाव्य, अर्थात् विकारदशा-मोह हुई, उसका अनुसरण छोड़कर, स्वभाव का विशेष अनुसरण करने से भाव्यकर्म का उपशम किया। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बापू! मार्ग बहुत सूक्ष्म है! यह सर्वज्ञ भगवान के अतिरिक्त (कहीं नहीं है)। आहाहा! यहाँ तो समय-समय का लेखा है। सुमेरुमलजी! गाथा बड़ी अच्छी आ गयी। आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि आहाहा! जिसको ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव भगवान आत्मा का अनुसरण करके भान हो गया — सम्यग्दर्शन हो गया... सम्यग्ज्ञान हुआ और स्वरूप में अल्पस्थिरता-आचरण भी हो गया। आहाहा! उस जीव को अभी तक कर्म के उदय के अनुसार मोह, अर्थात् भाव्य-विकारदशा होती है, उस सम्बन्ध को तोड़ देता है। उस उदय के साथ सम्बन्ध करता है तो भाव्य होता है। पहले में संकरदोष था। संकर का अर्थ? राग और मैं एक हूँ — ऐसी मान्यता मिथ्यात्व का संकरदोष था। आहाहा! वह शंकर (अन्यमत में माने जानेवाले) नहीं, हों! आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द प्रभु है, उसमें शुभराग या अशुभराग, वह राग की एकत्वबुद्धि है, वहाँ तक तो मिथ्यात्व है। वह एकत्वबुद्धिरूप संकरदोष उत्पन्न होता है। आहाहा! यह भगवान आत्मा अपनी जाति की सम्हाल में जाता है, तब राग की एकतारूपी संकरदोष नाश होता है। आहाहा!

दूसरे प्रकार से कहें तो शंकरस्वरूप, भगवान शिवस्वरूप प्रभु है। भगवान आत्मा शिव-शंकर; शंकर अर्थात् शिव - शिव, अर्थात् महादेव। यह महादेवस्वरूप है। इसे राग के साथ एकता वह संकर नाम का दोष है, शंकर नाम का स्वभाव भगवान का शिवस्वरूप — निरुपद्रव आनन्द का नाथ, उसमें... आहाहा! वह सुखस्वरूप है, वह शंकरस्वरूप है-शंकरस्वरूप है। शंकर, अर्थात् यह शंकर नहीं; शिवस्वरूप है। उस भगवान शिवस्वरूप में राग की एकता मानना, वह संकर अर्थात् विरुद्ध है। जो सुखरूप दशा शंकरस्वभाव से विरुद्ध संकरदोष... आहाहा! अरेरे! उस दोष को निकाल दिया। सम्यग्दर्शन हुआ तो यह इतनी आत्मा की स्तुति की। जो राग की स्तुति करता था, उसे छोड़कर भगवान पूर्णानन्द की स्तुति-अन्दर एकाकार हुआ तो यह निश्चयस्तुति हुई।

आहाहा! ऐसी बातें हैं बापू! इसमें जरा मस्तिष्क फैलाना पड़े ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? आटा बनाती हैं न बहिनें, आटा? तो उसको भी फैलाती हैं तो रोटी होती है, ऐसे के ऐसे रोटी नहीं होती। आहाहा! आटा में पानी डालकर फिर फैलाते हैं तो रोटी होती है, फैलाये बिना रोटी नहीं होती, आहाहा! वैसे ही भगवान को ज्ञान में सीख देना चाहिए। आहाहा! ऐसा केवलज्ञान प्रभु भगवान, ऐसे केवलज्ञान स्तुति की, अनुभव हुआ परन्तु अभी तक अभी कर्म के उदय की ओर का अनुसरण जो राग-मोह होना, वह नहीं गया... आहाहा! तो यह कर्म के उदय के अनुसार होनेवाला विकार, उसे अपना अनुसरण करके विकार को उपशम-दबा देना, यह दूसरे प्रकार की स्तुति है। समझ में आया? अब ऐसी बातें! बनियों को धन्धे के कारण फुर्सत नहीं मिलती, व्यापार... क्यों रतनलालजी! यह धन्धा... आहाहा!

यह भाव्य — **उसको भेदज्ञान के बल....** अर्थात् उस ओर के अनुसरण को छोड़कर — पर का सम्बन्ध छोड़कर, अपना विशेष सम्बन्ध कर लेना, यह भाव्य का नाश नहीं किया, किन्तु दबा दिया, उपशम किया। आहाहा! यह उपशमश्रेणी की बात है। **भेदज्ञान के बल द्वारा....** अर्थात् पर के सम्बन्ध को छोड़कर, अपने सम्बन्ध में विशेष लेकर वह भेदज्ञान हुआ। भेदज्ञान — सम्यग्दर्शन तो है परन्तु राग का सम्बन्ध था, कर्म का — निमित्त का ऐसा सम्बन्ध था, उसको भेदज्ञान — अपना अनुसरण करके, राग से

भिन्न करके राग को दबा दिया। आहाहा! इसमें कितना याद रखना? ऐसा मार्ग, दुनिया कहीं का कहीं मानती है! अरे... आहाहा! क्या शैली! समयसार!

दो बात - कर्म का उदय आया तो विकार करना पड़े — ऐसा नहीं है। उदय की ओर का झुकाव हो तो विकार होता है। आहाहा! यह पर के झुकाव का सम्बन्ध, उस संकर में (गाथा ३१ में) एकत्वबुद्धि का सम्बन्ध था, इसमें (गाथा ३२ में) अस्थिरता का सम्बन्ध है। यह अस्थिरता का — कर्म के निमित्त का जो सम्बन्ध था, उसको छोड़कर स्वभाव की ओर आया तो यह दूसरी स्तुति — शुद्धता की वृद्धि हुई, यह दूसरी स्तुति है। आहाहा! छोटूभाई गये या हैं? (है) है। ऐसा मार्ग है, कलकत्ता नहीं? छोटूभाई। शान्तिभाई और छोटूभाई! आहाहा! इन्हें बहुत रुचता है। आहाहा! प्रभु इसमें किसी का पक्ष नहीं, आहाहा! अपने स्वभाव का जो विशेष अनुसरण होना चाहिए, वह न करके, कर्म के निमित्त का अनुसरण की दशा करे तो वह दोष है। 'राग' — बहुत बोल लेंगे, यहाँ पहले मोह लिया है, अस्थिरता का। उसको अपने पुरुषार्थ से भिन्न करके, अपने स्वभाव का विशेष अनुसरण करके, राग का भाव उत्पन्न नहीं हुआ, दबा दिया, वह दूसरे प्रकार की समकित की स्तुति है। समकिती को दूसरे प्रकार की स्तुति कही गयी है, अरे! बापू! मार्ग ऐसा अलौकिक है।

भेदज्ञान के बल द्वारा दूर से ही अलग करने से.... यह क्या कहा? दूर से अर्थात्? कर्म के उदय का सम्बन्ध किये बिना दूर से वह छूट गया। कर्म के उदय का सम्बन्ध किये बिना छूट गया। आहाहा! अन्दर में झुक गया। समकिती, ज्ञानी, सन्त आत्मज्ञानी धर्मात्मा... आहाहा! इतना अभी कर्म के उदय का निमित्त में अनुसरण अपनी योग्यता से करते थे, उस अनुसरण को दबा दिया। अपने अनुसरण में वह विशेष आ गया। समझ में आया? ऐसी भाषा चाहे जैसी सादी परन्तु भाव तो जो हो वह (कहा जायेगा न?) आहाहा! **दूर से ही अलग करने से....** अर्थात्? कि उत्पन्न हुआ और बाद में राग दबा दिया — ऐसा नहीं। उत्पन्न हुआ ही नहीं। आहाहा! अपने शुद्धस्वभाव का भान — सम्यग्दर्शन, ज्ञान तो है परन्तु स्वभाव का विशेष आश्रय लेकर (एकाग्रता से) उस उदय के राग को दबा दिया, उपशम कर दिया। समझ में आया? ऐसा मार्ग है बापू! वीतराग

परमेश्वर जिनेश्वरदेव का पन्थ यह है। यह तो वस्तु का पन्थ है। यह जैन कोई पक्ष नहीं, आहाहा! जिनस्वरूपी भगवान का अनुसरण करके पहले राग की एकता तोड़ दी और भगवान आत्मा की प्रशंसा, अर्थात् स्तुति, अर्थात् स्वीकार और सत्कार हुआ — यही भगवान की स्तुति है। आहाहा! राग ठीक है, यह विकार की स्तुति है; भगवान आत्मा ठीक आनन्दकन्द है — ऐसी दृष्टि का विषय पकड़ा तो पहली स्तुति हुई।

दूसरी स्तुति अपनी पर्याय में कमजोरी से निमित्त का अनुसरण करती राग की पर्याय, आहाहा! वह तो दूर से हटाकर — निमित्त का अनुसरण छोड़कर, भगवान आत्मा का विशेष अनुसरण करके राग को दबा दिया। अभी क्षय नहीं हुआ। जैसे, पानी में मैल,... मैल होता है न, दब जाता है न? बाहर नहीं निकाल दिया। आहाहा! ऐसी शैली ली है।

इस प्रकार बलपूर्वक.... अपने स्वभाव का अनुसरण करनेवाला बलपूर्वक, आहाहा! जोरदार आत्मा की ओर का बलपूर्वक पुरुषार्थ करके। समकिती को-अनुभवी को, ज्ञानी को.... आहाहा! **इस प्रकार बलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके,....** पर तरफ की सावधानी के भाव को उत्पन्न नहीं होने देना, यह मोह का तिरस्कार किया; भगवान का स्वीकार विशेष किया, राग का तिरस्कार किया। आहाहा!

मोह का तिरस्कार करके, समस्त भाव्यभावक-संकरदोष दूर हो जाने से.... लो, ठीक! क्या? भावक जो कर्म का उदय, उसके अनुसरण से होनेवाला विकारी मोहभाव, इन दोनों का सम्बन्ध दूर हो जाने से-दोनों का सम्बन्ध दूर हो जाने से, आहाहा! और स्वभाव-भगवान आत्मा की ओर का जोर से आश्रय करके... आहाहा! अरे बापू! तेरा मार्ग कोई अलौकिक है। प्रभु! तू भगवानस्वरूप है न? आहाहा! भगवानरूप से भगवान को जाना, तथापि पर्याय में अभी कमजोरी है। ज्ञानी (को भी) पंचम गुणस्थान में रौद्रध्यान होता है। आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान — यह ध्यान के चार प्रकार (है।) उसमें समकिती को भी... आहाहा!

श्रेणिक राजा के लड़के ने अपना राज्य करने को (उन्हें) कैद में डाल दिया। क्षायिक समकिती, तीर्थंकर गोत्र बाँधते हैं, भविष्य में-आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होनेवाले हैं परन्तु जहाँ वह बालक, उनका लड़का, उनको कैद में डालकर उसकी माता

के पास चरण छूने को गया (कि) माता! आज मैंने ऐसा किया। अरेरे..! पुत्र तेरे जन्म के समय मुझे पहले स्वप्न आता था कि मैं श्रेणिक का कलेजा खाऊँ। पुत्र मेरे अन्दर ऐसा आता था। इस कारण तेरा जन्म हुआ तो मैंने (तुझे) फैंक दिया, बालक को (तुझे) कचरे में डाल दिया, कचरे का ढेर (में डाल दिया) और तेरे पिताजी आये। क्या हुआ? बालक कहाँ गया? मैंने तो कचरे के ढेर में डाल दिया। अरर! वे श्रेणिक एकदम गये और कचरे के ढेर में कूकड़ा होता है न कूकड़ा! चोंच मारकर और पीड़ा... श्रेणिक राजा गये और उठा लिया और चूस लिया और आकर रानी को सौंप दिया। अरे भाई! तेरे पिताजी ने ऐसा किया, तुमने यह क्या किया? माता मैंने बहुत अपराध किया। मैं जेल में छुड़ाने को जाता हूँ। हाथ में हथियार है। राजा को ऐसा लगता है कि मुझे मारने को आता है। आहाहा! है समकिती, क्षायिक समकिती। एकदम हीरा चूस लिया और देह छूट गयी। आहाहा! बाद में अरेरे! मेरे पिताजी को यह क्या हुआ... क्या करूँ.... मैं क्या करूँ! इस प्रकार ज्ञानी को भी ऐसा आत्मघात करने का भाव आया तो भी यह समकित का दोष नहीं है, वह चारित्र का दोष है। समझ में आया? आहाहा! समकित तो निर्मलानन्द, वह समकित केवलज्ञान लेगा।

ऐसी चीज है प्रभु! उसे भी यह मरने का भाव आ गया, तथापि वह दोष चारित्र का है। वह कर्म के निमित्त के अनुसर कर भाव हो गया, अपना अपराध अपने से हो गया। समझ में आया? फिर भी सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन में किंचित् दोष नहीं है। आहाहा! यह बात! बालचन्दजी! सुना है या नहीं श्रेणिक महाराज का? ऐसा यहाँ कहते हैं कि यह भगवान आत्मा अनन्त गुण-रत्नाकर की (खान), माला, आहाहा! उसका अन्तर में भान-सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हुआ, तो भी पर्याय में कमजोरी से कर्म के उदय के अनुसार विकार अर्थात् भाव्य होने की अपनी पर्याय में योग्यता है, उस योग्यता को छोड़ दे। आहाहा! अब ऐसी बातें! इसमें एकेन्द्रिय की दया पालो और धर्म हो, अब इसे कहाँ? दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान अनन्त जीव मुक्ति गये दया.... दया यह, वह दया नहीं। बापू! आहाहा!

पर की दया का भाव राग है। उसमें स्वरूप की हिंसा होती है। समझ में आया?

धर्मी को भी राग तो आता है तो इतनी स्वरूप की हिंसा है। आहाहा! स्वरूप का ज्ञान-भान है, फिर भी स्वरूप को राग का आघात लगाता है। ओहोहो! इस दोष को-**संकरदोष दूर हो जाने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण....** राग की योग्यता से उत्पन्न था, उस ओर का सम्बन्ध छोड़कर, स्वभाव के सम्बन्ध में एकत्व हुआ; जो राग का द्वैत होता था, उसे छोड़कर स्वभाव में एकत्व हुआ। समझ में आया? भाषा तो सरल है परन्तु भाव तो भाई बहुत सूक्ष्म है! आहाहा! भगवान सूक्ष्म अरूपी आनन्दकन्द का नाथ, आहाहा! यह शुभराग-दया, दान, व्रत का (राग) भी स्थूल राग है। भगवान तो उससे भिन्न है। आहाहा! फिर भी जब तक ज्ञानी को (पूर्ण) वीतरागता न हो, तब तक कर्म के निमित्त के अनुसार विकार होता है। विकार कहो, दुःख कहो, आहाहा! वह विकार का भाव्य, स्वभाव का इतना सम्बन्ध विशेष करके, पर का सम्बन्ध छूट गया।

उस स्वभाव में इतना एकाग्र हुआ, वह दूसरी स्तुति हुई। आहाहा! ऐसा मार्ग अब! यह साधारण प्राणी को.... सत् होगा तो शरण रहेगा, नहीं तो नहीं रहेगा प्रभु! आहाहा! आहाहा!

एकत्व में टंकोत्कीर्ण.... क्या कहते हैं? अपने में राग की योग्यता, अपने पुरुषार्थ की कमी से निमित्त के अनुसरण से विकारदशा होती थी, उसको छोड़कर, जो राग का द्वैतपना उत्पन्न होना.... स्वभाव की दृष्टि होने पर भी, द्वैतपना-राग का द्वैत उत्पन्न होता था, उसको छोड़कर एकत्व हुआ। आहाहा! ऐसा मार्ग है प्रभु! लोग सोनगढ़ के नाम से विरोध करते हैं, बेचारों को पता नहीं, क्या करें! आहाहा! **एकत्व में टंकोत्कीर्ण....** यह तो मन्त्र है प्रभु! यह तो जहर उतारने के मन्त्र हैं। मिथ्यात्व का जहर और अस्थिरता का जहर। आहाहा! आहाहा! ज्ञानी को भी शुभभाव (आता है), मुनि को भी पंच महाव्रत का (शुभभाव) आता है परन्तु है जहर, है विषकुम्भ। आहाहा! तो राग क्यों आता है? उसे कमजोरी से राग आये बिना नहीं रहता। जब तक वीतराग न हो,... आहाहा! आता है परन्तु उसको अब विशेष सम्बन्ध पर का था, यहाँ सम्बन्ध तो किया है परन्तु विशेष सम्बन्ध किया, वह सम्बन्ध छोड़ दिया। इसमें मस्तिष्क फैलाना पड़ता है। भगवान तीन लोक का नाथ केवलज्ञान का पिण्ड प्रभु का भान होने पर भी, पर्याय में कमजोरी के कारण निमित्त के अनुसरण से विकार-मोह होता था, वह 'भाव्य' (था), वह सम्बन्ध छोड़ दिया;

इतना स्वभाव का सम्बन्ध करके राग को दबा दिया, उपशम कर दिया। समझ में आया?

(समस्त भाव्यभावक-संकरदोष दूर हो जाने से) ज्ञानस्वभाव के द्वारा.... देखो! भगवान चैतन्यस्वभाव, सर्वज्ञस्वभाव, उस सर्वज्ञस्वभाव के द्वारा **अन्य द्रव्यों के स्वभावों से होनेवाले सर्व अन्यभावों से परमार्थतः....** है न? **भिन्न अपने आत्मा को जो (मुनि) अनुभव करते हैं....** आहाहा! सम्यग्दर्शन के उपरान्त, राग को छोड़कर स्वभाव का सम्बन्ध करके अनुभव करते हैं। आहाहा! **वे निश्चय से जितमोह....** है। मोह को जीता; अभी मोह का नाश नहीं किया। उपशमश्रेणी ली है। मोह को जीता है। गाथा तो बहुत अच्छी आ गयी है। आहाहा!

एक बार मध्यस्थता से सुने तो सही! बापू! यह वस्तु-आत्मा का अनुभव और सम्यग्ज्ञान होने पर भी, जब पूर्ण वीतरागता पर्याय में नहीं है, तब तक राग आये बिना नहीं रहता; पर के अनुसरण से विकार भाव्य-भावक भाव होता है परन्तु अब यहाँ तो कहते हैं कि स्वभाव का विशेष सम्बन्ध करके पर के सम्बन्ध को दबा दिया। आहाहा! ऐसा मार्ग अब! अब यह साधारण लोगों को पकड़ना...

श्रोता : कभी आप कहते हो रास्ता सुगम है, कभी आप कहते हो साधारण लोग नहीं पकड़ सकते...

पूज्य गुरुदेवश्री : सुगम है परन्तु उसका प्रयत्न नहीं न! और प्रयत्न करे तो सुगम है। है उसकी प्राप्ति है — प्राप्त की प्राप्ति है परन्तु अभ्यास नहीं न, और अन्दर दूसरी विपरीत मान्यताएँ घुस गयी हों, इसलिए इसे दुर्लभ कहा जाता है। आहाहा!

शास्त्र में तो ऐसा कहा — लक्ष्मी आदि मिलना, वह दुर्लभ है। क्यों? कि उसमें कर्म हो तो मिले और आत्मा का धर्म सुलभ है क्योंकि उसमें पर की कोई अपेक्षा नहीं है। आहाहा! एक ओर दुर्लभबोधि कहा और एक ओर ऐसा कहा। प्रभु! यह लक्ष्मी, अनुकूलता मिलना, वह दुर्लभ है, क्योंकि तेरे पुरुषार्थ से नहीं मिलती; वह तो पूर्व का प्रारब्ध हो तो उसके आश्रय से मिलती है, तो वह वस्तु तेरे पुरुषार्थ से नहीं मिलती; इसलिए दुर्लभ है, और तेरी चीज है, वह तेरे पुरुषार्थ से मिलती है; इसलिए सुलभ है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा भी शास्त्र में कथन है। समझ में आया?

यह धर्मात्मा मुनि... यहाँ आगे ले गये न! सम्यग्दर्शन उपरान्त अन्दर में विशेष स्थिरता हुई है। **वे निश्चय से जितमोह (जिसने मोह को जीता है) जिन हैं।....** जिन तो-दृष्टि में तो अनुभव हुआ तो जिन हुआ, पर्याय से, परन्तु इस विशेष राग का अभाव करके स्थिर हुआ तो 'जितमोह जिन' हुआ। आहाहा! समझ में आया? **कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ?....** भगवान ज्ञानस्वभाव **समस्त लोक के ऊपर तिरता हुआ,....** राग आदि सबको जानता होने पर भी, रागरूप नहीं होकर, राग से भिन्न करता है। आहाहा! कैसा है भगवान आत्मा का स्वभाव? कि **समस्त लोक के ऊपर तिरता हुआ,....** सारे जगत का-रागादि सब कोई वस्तु, उससे अपना आत्मा ज्ञायकस्वभाव **तिरता हुआ,....** भिन्न रहता हुआ। आहाहा!

प्रत्यक्ष उद्योतरूप से.... अन्दर भगवान तो प्रत्यक्ष है। आहाहा! पहले प्रत्यक्ष तो मति-श्रुतज्ञान में था परन्तु यहाँ पर राग का सम्बन्ध छोड़कर विशेष स्थिरता आयी तो विशेष प्रत्यक्ष हुआ। आहाहा! अब ऐसा उपदेश! आहा! अब इस एक गाथा में...

श्रोता : भाव कितने सूक्ष्म?

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! मार्ग बहुत सूक्ष्म भाई! आहाहा! शास्त्र का ज्ञान हो गया, इसलिए ज्ञान हुआ — ऐसी चीज नहीं है। भगवान ज्ञानस्वभाव प्रभु का ज्ञान, उसकी दृष्टि और उसमें लीनता प्रगट हुई — यह पहली स्तुति; और विशेष-राग पर्याय में अपनी योग्यता से था, उसे दबा दिया, इतना सम्बन्ध छोड़ दिया, यह दूसरी स्तुति। यह पढ़ना भी कठिन पड़े — ऐसा है। सुमेरुमलजी! आहाहा! भगवान ज्ञानस्वभाव, राग की योग्यता से भाव्य-विकार होता था, उसका-निमित्त की ओर का सम्बन्ध छोड़कर अन्तर स्वभाव की दृष्टि तो है परन्तु स्वभाव में विशेष एकता हुई तो पर से तिरता-भिन्न रहता है-आत्मा रहता है। आहाहा!

सदा अन्तरंग में प्रकाशमान,.... चैतन्य ज्योति जलहल ज्योति चैतन्य प्रकाश का नूर, चैतन्य के नूर का पूर का तेज। आहाहा! अरे! बात सुनने मिलना कठिन पड़ता है। आहाहा! क्या स्तुति की स्थिति! आहाहा! अन्तरंग में सदा प्रकाशमान भगवान तो विराजमान हैं। आहाहा! चैतन्यस्वभाव का-प्रकाश का पूर अन्दर बहता है, यह ध्रुव।आहाहा!

अविनाशी, अपने से ही सिद्ध.... पहले स्वयंसिद्ध आया था न? अपने से ही सिद्ध है; किसी पर के कारण से है नहीं। यह आत्मा और आत्मा का अनुभव अपने से सिद्ध हुआ है; किसी कर्म का अभाव हुआ और यह सिद्ध हुआ — ऐसा है नहीं। समझ में आया? आहाहा!

और परमार्थरूप ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है। चैतन्यसूर्य, चैतन्यचन्द्र शीतलता से भरा भगवान — ऐसा ज्ञानस्वभाव भगवान है। आहाहा! शान्ति से सुने तो समझ में आये ऐसा है। इसके ख्याल में तो ऐसी बात आनी चाहिए न? आहा! इसके घर की बात है न प्रभु! आहाहा!

श्रोता : स्वयं की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके घर का क्यों नहीं समझ में आयेगा? पहले इसके ख्याल में तो आना चाहिए। आहाहा!

इस प्रकार भाव्यभावक भाव के.... क्या कहा? भाव्यभावक भाव,.... भावक जो कर्म, उसको अनुसरकर होनेवाला विकारीभाव ऐसा भाव; भाव्यभावक भाव, आहाहा! **इस प्रकार भाव्यभावक भाव के संकरदोष को....** दो के सम्बन्ध को; एकत्व को नहीं। आहाहा! **दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति हुई।** आहाहा!

इस गाथासूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है; उसमें 'मोह' पद को बदलकर.... उसके स्थान पर.... राग लेना, कर्म के उदय के अनुसार ज्ञानी को भी जो राग-भाव्य था, उसको स्वभाव का सम्बन्ध करके राग का सम्बन्ध पर के साथ (का सम्बन्ध) छोड़ दिया। आहाहा! राग था, कर्म के — भावक के अनुसार अपनी पर्याय में राग था। आहाहा! वह राग, पर के सम्बन्ध से था, उसे छोड़ दिया और अपने स्वभाव में इतना आ गया। आहाहा! अस्थिरता का राग भी छूट गया और अन्दर इतना स्थिर हो गया। आहाहा! अरे! यह वाणी कहाँ प्रभु! तीन लोक के नाथ की अमृत वाणी है!

राग, द्वेष,.... लेना। द्वेष भी ज्ञानी को उत्पन्न होता है। कर्म का उदय भावक, द्वेष भाव्य। आहाहा! वह द्वेष-भाव्य, उसको भी छोड़कर... राग, द्वेष आता है। अरे! सत् का स्थापन करना, यह भी छद्मस्थ को एक विकल्प है। असत्य को झूठा सिद्ध करना, यह भी एक द्वेष का विकल्प (है)। भगवान तो ज्ञानस्वरूप है और उसमें यह स्थापन करना,

विकल्प कहाँ है उसमें ? आहाहा ! सर्वज्ञ की बात दूसरी परन्तु छद्मस्थ को.... वह आता है, पीछे कर्ताकर्म में पीछे है कि यह स्थापन करना यह ऐसा है, वहाँ विकल्प है, राग है, और यह नहीं, इतना द्वेष का अंश है। द्वेष का अंश निमित्त का अनुसरण करके होता था। ज्ञानी को, समकिती को, आहाहा ! वह सम्बन्ध छोड़कर स्वभाव का विशेष अनुसरण करना, यह दूसरी स्तुति हुई। आहा !

क्रोध... अब इस द्वेष के दो भाग — क्रोध और मान (हैं) । जरा क्रोध भी आ जाता है, कर्म का भावक-वस्तु-निमित्त-जड़, उसके अनुसरणयोग्य जो भाव — अपना भाव्य वह क्रोधदशा उत्पन्न हुई। आहाहा ! उसको भी अपने स्वभाव का विशेष सम्बन्ध करके, निमित्त के सम्बन्ध में जो क्रोध उत्पन्न था, उसको दबा दिया। आहाहा ! तो यह सब भाव था, समकित और आत्मज्ञान होने पर भी, आहाहा ! यह भाव था। इस भाव की ओर का अनुसरण छोड़ करके, इस ओर का (स्वभाव का) अनुसरण करके क्रोध को दबा दिया। यह दूसरी स्तुति का भेद है। आहाहा ! सर्वज्ञ परमेश्वर के सिवाय यह कहीं है नहीं। समय-समय के दोष की व्याख्या बतलाते हैं। समझ में आया ?

मान... मान भी जरा आ जाता है। दृष्टि का विषय निर्मल है, उसमें... परन्तु अस्थिरता का जरा (मान आ जाता है) । नेमिनाथ भगवान सभा में विराजमान थे, सभा में यादव के सभी योद्धा बैठे हुए थे, तो लोग महिमा करते-करते कोई कहता था — भीम का बल और कोई कहता अर्जुन का बल। ऐसी बात करते-करते.... भगवान तो बैठे थे। गृहस्थाश्रम में थे न ! तब किसी ने ऐसा कहा भाई ! यह भगवान हैं, इनका बल कितना ! शरीर का कितना बल ! उनके आत्मा का... वहाँ भगवान ने पैर नीचे रखा। कृष्ण उस पैर को हिलाने लगे, पैर हिला नहीं। आहाहा ! तीर्थंकर !

श्रोता : थोड़ा मान आया....

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा मान आया, अस्थिरता का आया। तीन ज्ञान के धनी, उसी भव में मोक्ष जानेवाले... आहाहा ! ऐसा विकल्प आता है, तो उसको स्वभाव का अनुसरण करके दबा देना; प्रगट नहीं होने देना (यह दूसरी स्तुति हुई) ।

माया,.... यह क्रोध और मान, द्वेष के दो भाग हैं। माया और लोभ, यह राग के दो

भाग हैं। माया अर्थात् कपट; लोभ अर्थात् इच्छा। इस माया को भी... आहाहा! ज्ञानी समकिती को, क्षायिक समकिती को भी जरा कर्म के उदय के अनुसार माया भाव, भाव्य हो जाता है। वह चारित्र का दोष है। आहाहा! उसको अपने स्वभाव का विशेष सम्बन्ध करके माया को दबा देना, वह दूसरे प्रकार की स्तुति का भाग है। ऐसा सुना नहीं कभी...

श्रोता : कहीं है नहीं फिर कहाँ से सुनें?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात! भाग्यशाली कि फिर यहाँ आ गया। बापू! यह मार्ग ऐसा है!

लोभ,... समकिती को भी जरा लोभ आ जाता है। कर्म का अनुसरण करके भाव्य-लोभ को अपना सम्बन्ध करके, उस सम्बन्ध को तोड़ देना, यह दूसरी स्तुति है। आहाहा!

कर्म,.... आठों ही कर्म सम्बन्ध में है न? तो यह कर्म है, उसका लक्ष्य छोड़ देना, यह कर्म को जीता — ऐसा कहा जाता है। कर्म को दबा दिया... आहाहा! ऐसे **नोकर्म, मन, वचन, काय....** स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, यह सब चीज नोकर्म है। देव, शास्त्र, गुरु — यह नोकर्म। आहाहा! उस ओर लक्ष्य जाता था, उतनी स्तुति कम थी। उस ओर का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव में विशेष लक्ष्य करना, वह भगवान की-आत्मा की दूसरे नम्बर की स्तुति है। नम्बर दूसरा परन्तु पहले नम्बर की अपेक्षा ऊँची है। आहाहा! समझ में आया? अरे..रे! अकेला आया, अकेला है, अकेला चला जायेगा। आहाहा! यह लाख मनुष्य-कुटुम्ब इकट्ठे हुए हों और यह पीड़ा... आहाहा! ऐसा करे तो चिल्लाहट निकल जाये। बापू! देह छोड़कर अकेला जाना है, यदि ऐसा भान नहीं किया तो पिस जायेगा बापू! आहाहा! नोकर्म तक आया। विशेष आयेगा... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९३ गाथा ३२ दिनाङ्क २७-०९-१९७८ बुधवार
भाद्र कृष्ण ११, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, गाथा ३२ नीचे चलता है न? **इस प्रकार....** फिर से - है न भावार्थ के ऊपर? **भाव्यभावक भाव के संकरदोष को दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति है...** दूसरी अर्थात् दूसरे नम्बर की — ऐसा नहीं। पहले नम्बर की स्तुति से दूसरे नम्बर की

स्तुति ऊँची है। समझ में आया? पहले में तो भगवान आत्मा, राग से भिन्न, इन्द्रियाँ जो जड़, भावेन्द्रिय, जड़ इन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय — देव, गुरु, और शास्त्र, सबसे लक्ष्य छोड़कर अपने स्वसंवेदनज्ञान के बल से उनका एकत्व तोड़ दिया, यह प्रथम संकरदोष का नाश किया। संकर का अर्थ? पर के साथ संयोग सम्बन्ध। संकर - संयोग सम्बन्ध, उसका नाश किया। आहाहा!

एकत्वबुद्धि जो पर-इन्द्रिय का — देव-शास्त्र-गुरु हो या जड़ इन्द्रिय (हो), वस्तुतः तो प्रभु आत्मा की अपेक्षा से जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय और भगवान, ये सब अनात्मा है, परद्रव्य है, अनात्मा है। आहाहा! अनात्मा का सम्बन्ध जो लक्ष्य है, उसे छोड़कर भगवान ज्ञायकस्वभाव चैतन्य परमात्मस्वरूप सच्चिदानन्दस्वभाव का स्वसंवेदन करना, वह प्रथम दो पदार्थ की एकता के दोष का नाश किया। समझ में आया? सूक्ष्म बात बहुत, बापू!

अब, ऐसा होने पर भी, धर्मी को-ज्ञानी को-सम्यग्दृष्टि को... आहाहा! कर्म का उदय जो मोह आदि होता है, उसके अनुसरण करके होनेवाला विकारी भाव्य, यह कर्म / भावक है और उसके अनुसरण से सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को भी होनेवाली भाव्य अर्थात् विकारी पर्याय जो है, वह बोल चलता है और राग-द्वेष... आहाहा! उस पर्याय का सम्बन्ध, स्वभाव के निर्विकल्प समाधि का अनुसरण विशेष करके वह सम्बन्ध तोड़ना, वह आत्मा की, परमात्मस्वरूप की स्तुति का दूसरा प्रकार है। आहाहा! समझ में आया?

मुनि हो, भावलिंगी (हो), उनको भी जब तक कर्म का भावक / भाव करनेवाला निमित्त... परन्तु है अपनी पर्याय में अपने से... मुनि को भी रागादि पंच महाव्रत का विकल्प, वह राग है। आहाहा! वह भावक का भाव्य अपनी पर्याय में होनेवाली दशा, उस समय विकृत अवस्था का उत्पन्न होना, मुनि को-भी समकिती को भी... आहाहा! होता था। उसका भाव्य के ओर की जो विकृत अवस्था है, उसका लक्ष्य छोड़कर अन्तर निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के बल से भाव्य उत्पन्न नहीं हुआ, यह दूसरे प्रकार की स्तुति कही गयी है। आहाहा! ऐसा मार्ग है भाई! समझ में आया? यहाँ तक आया है — **भाव्यभावक भाव**। है?

भाव्यभावक भाव — अपनी पर्याय में विकृत होने की योग्यता वह भाव्य; भावक

(अर्थात्) कर्म का निमित्त। भाव्य, भावक का भाव। अरे! अपनी पर्याय में समकिती को ज्ञानी को, धर्मात्मा को, आहाहा! जब तक वीतरागता न हो, तब तक अपनी पर्याय में भाव्य अर्थात् विकारी योग्यता-दशा; भावक अर्थात् निमित्त कर्म, वह भाव्यभावक जो भाव, वह संकरदोष है, उस संकर अर्थात् सम्बन्ध दोष — पहले में एकत्व का संकर दोष था; इसमें सम्बन्ध का दोष है। क्या कहा, समझ में आया? संकर, संयोग, सम्बन्ध — तीनों का एक अर्थ है। पहले में तो जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय, और इन्द्रिय के विषय, ये सब परज्ञेय हैं। समझ में आया? और स्वज्ञेय, ज्ञायक है। स्वज्ञेय, ज्ञायक के साथ यह भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और यह पदार्थ — भगवान तीन लोक के नाथ और उनकी वाणी, आहाहा! जो परज्ञेय हैं, उस परज्ञेय के सम्बन्ध से एकत्वबुद्धि से जो मिथ्यात्व उत्पन्न होता था, उस पर का लक्ष्य छोड़कर, मैं ज्ञानस्वभाव से 'अधिकम्' पृथक् **पूर्णम् अनुभवति जानाति वेदयति संचयति** — यह प्रथम जितेन्द्रिय स्तुति कही गयी है। आहाहा! समझ में आया?

जो राग और विकार की प्रशंसा करता था और परद्रव्य की प्रशंसा करता था, तब तक तो वह विकारीदशा है। आहाहा! अपना स्वभाव चिदानन्द भगवान, परद्रव्य के सम्बन्ध से भिन्न है — ऐसी स्वभाव में एकत्वबुद्धि होना और पर से एकत्वबुद्धि का व्यय होना, आहाहा! स्व की एकत्वबुद्धि का उत्पाद होना उत्पाद-व्यय और ध्रुव - तीन हैं न? आहाहा! पर की एकत्वबुद्धि का - भगवान से, वाणी से मुझे लाभ होगा, वह तो परद्रव्य है; परद्रव्य से स्वद्रव्य में लाभ कभी नहीं होगा। आहाहा!

श्रोता : परद्रव्य उपकार तो करता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपकार का अर्थ निमित्त, बस! उपकार का अर्थ — उपकार करता है ऐसा नहीं है। सर्वार्थसिद्धि वचनिका में ऐसा अर्थ किया है। उपकार का अर्थ निमित्त है, परन्तु निमित्त है, उसके सम्बन्ध का लक्ष्य करने से राग होता है। आहाहा! ऐसी बात।

समकिती को भी पर का लक्ष्य छोड़कर स्वसंवेदन — पर से भिन्न, पर से अधिक, पर से पृथक्, पर से पृथक् परिपूर्ण प्रभु... आहाहा! उसका अनुभव हुआ, वह तो पर्याय है। अनुभव हुआ, वह पर्याय है परन्तु वह अनुभव पर्याय कब होती है? पर का लक्ष्य छोड़कर अपने भगवान पूर्णानन्द के नाथ को ध्येय बनाकर.... ऐसी शर्तें बहुत कठिन।

अपनी पर्याय में स्वसंवेदन — वह ज्ञान की वेदनदशा प्रगट करना। वस्तु तो वस्तु है। समझ में आया? यह तो अगाधवस्तु है भाई! आहाहा! जो अपनी चीज, परद्रव्य के सम्बन्ध से भिन्न, अधिक, पूर्ण (है) उसका ऐसा स्वसंवेदन में अनुभव करना, वह प्रथम सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का अंश है। वह प्रथम स्तुति कही गयी है, क्योंकि जो उसकी प्रशंसा नहीं करता था और निमित्त की प्रशंसा करता था, तब तक आत्मा की अस्तुति थी, ऐसी बात है। पाटनीजी! ऐसा अभी तो कहीं है नहीं, यह तो स्वयं कहते हैं, भाई! यह तो....

बापू! मार्ग यह है भाई! नहीं... नहीं... बाहर क्या करें? लोग ऐसा कहते हैं, यह एकान्त है। प्रभु! कहो, मार्ग प्रभु! यह है। आहाहा! आहाहा! परद्रव्य और परद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाली विकृत अवस्था से भगवान अन्दर भिन्न है और भिन्न है, वह परिपूर्ण है और भिन्न है, वह पर से अत्यन्त भिन्न है; कथंचित् भिन्न और कथंचित् एकत्व — ऐसा है नहीं। आहाहा! यह मार्ग तो देखो! यह आत्मज्ञान-सम्यग्दर्शन हुआ, तथापि पर्याय में कर्म का-भावक/निमित्त और उस ओर का झुकाववाला भाव्य अर्थात् विकार अवस्था। **मोह....** पहले मोह लिया है। यह मोह, मिथ्यात्व नहीं। मोह पद लिया है न? मिथ्यात्व नहीं। परतरफ की सावधानी। मोह, अर्थात् परतरफ की सावधानी, विकारी अवस्था। आहाहा! उसको धर्मी जीव, पर के लक्ष्य से जो उत्पन्न थी, उसको स्वभाव का आश्रय करके उपशम कर देते हैं।

यह पहली उपशम की स्तुति है। समझ में आया? आहाहा! उपशमश्रेणी, आठवें गुणस्थान से शुरु होती है न? यह धारा ली है। ज्ञानी को भी, आहाहा! सम्यग्दृष्टि को भी, जब तक उपशमश्रेणी न जाये (चढ़े), तब तक कर्म के निमित्त के लक्ष्य से भाव्य अर्थात् विकारी मोह दशा थी, चारित्र का दोष... आहाहा! उसको दूर से हटाकर - ऐसा आया है। दूर से हटाकर का अर्थ कि निमित्त की ओर का झुकाव ही छूट गया, फिर किया और छोड़ना - ऐसा नहीं। भावक - भावक — भावक क्यों कहा? कि निश्चय से विकार का कर्ता निमित्तरूप से वह कहा गया है। यह भाव्य है। आहाहा! इस भाव्य को दूर से — उत्पन्न नहीं होने देना, उत्पन्न ही नहीं होने देना - ऐसा है न? दूर से हटाकर है न? आहाहा!

यहाँ पहले यह आ गया है न **बलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके....** आहाहा!

यहाँ तो पर्याय में; द्रव्य में नहीं; द्रव्य तो पूर्ण अखण्डानन्द है। पर्याय में कमजोरी से भावक के लक्ष्य से विकारीभाव, मुनि को समकिती को, ज्ञानी को होता है, उस ओर का लक्ष्य छोड़कर.... छोड़कर तो एक अपेक्षा से कहना है, वरना तो इस ओर अनुसरण करके - स्वभाव का अनुसरण करके निमित्त का अनुसरण जो था, वह उपशम हो गया। चन्दुभाई! ऐसी बातें हैं बापू! आहाहा! अरे! कोई ऐसा कहता है कि ज्ञानी है, उसको राग और दुःख होता ही नहीं तो उसकी दृष्टि झूठी है। समझ में आया? उसका ज्ञान झूठा है। आहाहा! सम्यग्ज्ञान हुआ.... पर के साथ एकत्वबुद्धि कहो, संकरदोष कहो, एकत्वबुद्धि कहो, पहले में, हों! दूसरे में एकत्व नहीं संकर में-दूसरे में सम्बन्ध, दूसरी स्तुति में सम्बन्ध, पहली स्तुति में एकत्व का संकर।

श्रोता : संकर शब्द तो एक ही रहा तो फेरफार क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : फेरफार है। है न? जो संयोग था, संयोग मेरा है — ऐसी बुद्धि मिथ्यात्व है और वह छूटने के बाद संयोग में अस्थिरता हुई, वह चारित्रदोष है।

श्रोता : संकर शब्द से तो मिथ्या....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं... नहीं; यहाँ तो संकर शब्द से संयोग और सम्बन्ध। और पहला संयोग और सम्बन्ध पर के साथ एकत्वबुद्धि का; दूसरे में पर के साथ सम्बन्ध अपनी कमजोरी से निमित्त का सम्बन्ध करता था। बहुत सूक्ष्म बात है। बापू! गाथा बहुत अच्छी आयी है, भाई, हों! सुमेरुमलजी! ऐसी चीज है बापू! आहाहा!

यह तो तीन लोक के नाथ जिनेन्द्रदेव का फरमान है, उसे सन्त आड़तिया होकर बात करते हैं। आहाहा! अरे प्रभु! आहाहा! तेरे पूर्णस्वरूप की स्तुति करने के लिए प्रथम तो अपने शुद्धस्वभाव की स्तुति अर्थात् सत्कार और स्वीकार करना पड़ेगा। समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त गुण रत्नाकर-समुद्र, अनन्त गुण का — रत्नों का आकर/समुद्र भगवान का स्वीकार और सत्कार, वह सम्यग्दर्शन, वह भगवान आत्मा की पहली स्तुति है। समझ में आया? ऐसी बातें हैं भाई! यहाँ तो अपने दूसरी स्तुति चलती है।

भाव्यभावक भाव का संकर दोष-सम्बन्ध.... यहाँ यह सम्बन्ध लेना। संकर शब्द (से आशय) सम्बन्ध। समझ में आया? पहले में द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और भगवान, वह

परज्ञेय थे; स्वज्ञेय के साथ परज्ञेय का सम्बन्ध एकत्वबुद्धि / मिथ्यात्व था। आहाहा! समझ में आया? यह भावेन्द्रिय; शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रिय; भावेन्द्रिय खण्ड-खण्ड ज्ञान को बतलाती है वह; और इन्द्रिय का विषय सब परज्ञेय है, वह स्वज्ञेय नहीं है। समझ में आया? आहाहा! उस स्वज्ञेय को पर्याय में ज्ञेय बनाकर, परज्ञेय का लक्ष्य छोड़कर... आहाहा! ऐसी बहुत शर्तें बापू!

जो परद्रव्य की और राग की स्तुति करता था, वहाँ तो प्रभु की — स्व की अस्तुति थी। आहाहा! समझ में आया? पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अनन्त गुण का सागर, जिसके प्रदेश-प्रदेश में अनन्त गुणरत्न के कमरे-भण्डार भरे हैं। आहाहा! वह उसे पर्याय में परज्ञेय बनाकर जो अनादि से भटकता था। आहाहा! तो पर्याय का स्वभाव तो स्व-परप्रकाशक है। अत: वह ज्ञान की पर्याय, अज्ञानी की भी पर्याय हो तो भी, पर्याय का स्वभाव तो स्व-परप्रकाशक है; अत: अकेले पर-प्रकाशक — परज्ञेय को जानने में अटक गया तो मिथ्यात्व है। आहाहा! परन्तु उस पर्याय में पर का ज्ञान होने पर भी, जब स्व-तरफ का ज्ञान होता है, आहाहा! तब वह परज्ञेयरूप से जानने में आता है परन्तु परज्ञेय से मेरी चीज सम्बन्धवाली है - ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश लोगों को क्या हो? बापू!

इसमें यह मोह का नाम लिया है। **उसमें 'मोह' पद को बदलकर उसके स्थान पर राग....** लेना। है? धर्मी को भी, समकिती को भी, ज्ञानी को भी कर्म का — भावक का अनुसरण करके जो राग था, वह राग, स्वभाव का अनुसरण करके राग को उपशम कर दिया। क्षपक। (क्षय की बात) बाद में आयेगी। ऐसी शैली ली है। आहाहा! ऐसा **द्वेष,...** का ले लेना। समकिती को भी द्वेष का अंश आता है। आहाहा! मुनि को भी द्वेष का अंश आता है। यह नहीं, यह है, यह है - ऐसा विकल्प राग है और यह नहीं है — ऐसा विकल्प द्वेष है।

श्रोता : सत्य निरूपण करता है, द्वेष किसका?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प है, स्थापना करता है न? ज्ञाता, ज्ञानरूप कहाँ रहा वहाँ? ऐसा अंश आता है — १४३ (गाथा में) लिया है पीछे कर्ताकर्म में (यह बात है)। वह स्थापित करता है, वहाँ तक अभी द्वेष अंश है १४३ (गाथा) कर्ताकर्म (अधिकार)!

समयसार में तो सब है, बहुत भरा है, सारा समुद्र है। एक-एक पंक्ति और एक-एक गाथा! अजोड़ चक्षु!! भगवान के श्रीमुख से निकली हुई दिव्यध्वनि, यह सन्त उसके द्वारा बात करते हैं। आहाहा!

कहते हैं कि द्वेष, ऐसे **क्रोध,...** समकिती को जरा क्रोध भी आता है। एकत्वबुद्धि टूट गयी है परन्तु अस्थिरता का क्रोध आता है, वह भाव्य कहा जाता है। क्रोध का उदय है, वह भावक और उसके योग्य यह अपनी पर्याय अनुसरकर होता है, वह क्रोध, उसको उपशम करके स्वभाव की विशेष एकता करके-स्वभाव का विशेष अनुसरण करके (क्रोध को) दबा देना, वह दूसरी स्तुति है। वह भगवान आत्मा की स्तुति की अधिक दशा, वह दूसरी (स्तुति) है, दूसरे नम्बर की ऐसा नहीं, अधिक है। आहाहा! अरे! यह कहाँ बापू?

इसी तरह **मान,....** जरा मान भी आता है। समझ में आया? कल तो दृष्टान्त दिया था न, नेमिनाथ भगवान का? भगवान हैं, तीन ज्ञान के धनी हैं, क्षायिक समकिती हैं। योद्धाओं की सभा भरी हुई थी, उसमें चर्चा होते-होते कोई कहता है पाण्डव योद्धा है, कोई कहता है भीम ऐसा है, कोई कहता है अर्जुन ऐसा है, कोई कहता है अमुक ऐसा है, कोई ऐसे बोले सब है, किन्तु देखो! भगवान यहाँ गृहस्थाश्रम में विराजमान हैं, उनका बल दूसरे प्रकार का है — ऐसा बल किसी का नहीं है तो भगवान ने सभा में पैर नीचे रखा कि हिलाओ। कृष्ण आये, हिले कहाँ से? इतना मान! आहाहा! झूम गये पैर पर, परन्तु नहीं हिला। आत्मा के बल की तो क्या बात करना? आहाहा! तो ऐसा कोई मान आता है। मान का उदय भावक और उसके अनुसरण से होता है, उसको स्वभाव का विशेष अनुसरण करके दबा देना। समझ में आया? कहो रतिभाई! ऐसा है यह।

इसी तरह **माया,....** कपट। वहाँ माया का उदय भावक हो, उस ओर अनुसरण करके समकिती को ज्ञानी को भी जरा माया आ जाती है। माया शल्य नहीं। माया की अस्थिरता समकिती को ज्ञानी को (आ जाती है)। आहाहा! उसको पर के अनुसरण में जो था, वह यहाँ स्वभावसन्मुख अनुसरण बढ़ा देना उससे वह दब जाती है - माया उपशम हो जाती है।

श्रोता : मुनिदशा में माया किस प्रकार की होगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्थिरता की।

श्रोता : परन्तु किस प्रकार की ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्थिरता की। ऐसा कहा गया, दूसरा क्या कहें ? शल्य नहीं – मिथ्यादर्शन (शल्य), निदान शल्य, माया शल्य, यह शल्य नहीं परन्तु जरा माया का भाव आता है, वह भाव्य है। उसको निमित्त के अनुसरण करने के भाव में जो भाव्य/माया थी, उसे न होने देना और अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर विशेष-अधिक अनुसरण करना, यह दूसरे प्रकार की स्तुति है। यह तो भाषा में जो आता है, उसे भलीभाँति तोल-तोल कर समझना चाहिए; कुछ फेरफार नहीं होता। आहाहा! ऐसा मार्ग है! यह वहाँ ले जाना है न टेपरिकार्डिंग ? ऐसा सुना है, वे लोग... आहाहा!

इसी तरह लोभ... यह तो कल आ गया है। है! आसक्ति का थोड़ा लोभ भी है, तो वह जो भाव्य है, लोभकर्म का-भावक कर्म, उसका अनुसरण करके इतने सम्बन्ध में जो लोभ का भाव्य था, वह नहीं होने देना, उस ओर का अनुसरण छोड़ देना और स्वभाव की ओर का अनुसरण अधिक करना, उससे लोभ का उपशम हो जाता है, दब जाता है। समझ में आया ?

इसी तरह **कर्म....** आठों ही कर्म - कर्म के सम्बन्ध में — आठ कर्म के सम्बन्ध में जो कुछ भाव्यदशा होती थी... आहाहा! अभी तो है न, ज्ञानी को आठ कर्म निमित्त है न ? निमित्त के अनुसरण से अपनी पर्याय में विकृत अवस्था है; बिल्कुल न हो, तब तो वीतराग हो जाये। आहाहा! कर्म से नहीं परन्तु कर्म के निमित्तपने के लक्ष्य से जो विकृत अवस्था थी... आहाहा! वह कर्म का सम्बन्ध जितने अंश में छोड़ दिया.... कर्म मेरा है — यह दृष्टि तो पहले छूट गयी परन्तु इस कर्म के सम्बन्ध में जो कुछ आसक्ति (अस्थिरता) थी, आहाहा! वह भी अन्तरस्वभाव का अनुसरण करके, उस कर्म के सम्बन्ध की आसक्ति को दबा देता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा! भाषा तो सादी है प्रभु! समझ में आये ऐसी है। आहाहा!

नोकर्म - देव, गुरु, शास्त्र, शरीर, वाणी, मन - ये सभी सामान्यरूप से नोकर्म हैं। उनके सम्बन्ध में.... सम्बन्ध सर्वथा छूट गया हो, तब तो वीतराग हो जाये परन्तु कुछ ऐसे

सम्बन्ध में भाव होता है तो उस नोकर्म को जीत लिया। उस नोकर्म की ओर का भाव उत्पन्न न होने देना और स्वभाव का अनुसरण करके उस भाव को दबा देना। आहाहा! कितनी गम्भीरता! गाथा में कितनी गम्भीरता!! आहाहा!

मन.... मन का सम्बन्ध है न? मन की एकता टूट गयी, परन्तु रागादि उत्पन्न होते हैं तो मन का सम्बन्ध है। मन के सम्बन्ध की ओर का जो भाव उत्पन्न होता था, उसे अन्तरस्वभाव का विशेष अनुसरण उत्पन्न करके, उस सम्बन्ध का भाव दबा देना — उपशम कर देना। आहाहा! समझ में आया? यह तो धीर का काम है भाई! यह कोई... आहाहा!

वचन.... वाणी के साथ इतना सम्बन्ध है न? राग है, वचन के सम्बन्ध में वह भाव्य हुआ, उस भाव्य को स्वभाव का अनुसरण करके दबा देना। ऐसी बातें हैं। समाधिशतक में तो यहाँ तक कहा है कि उपदेश का विकल्प आता है... हम मुनि हैं, आनन्द है, ज्ञान है, शान्ति है परन्तु यह विकल्प आता है - इतना उन्माद है। मिथ्यात्व का उन्माद नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। वीतरागी बिम्ब प्रभु, जिनबिम्ब.... भगवान आत्मा तो जिनबिम्ब है, उसमें से विकल्प उठना... आहाहा! वह दोष है। समझ में आया? वचन के सम्बन्ध में अपने जो विकल्प उठते हैं, वह सम्बन्ध छोड़ देना। आहाहा! वचन का जो इतना अनुसरण भाव में करता था, वह अनुसरण (छोड़ देना)। भगवान! यह तो दूसरे नम्बर की ऊँची स्तुति है न? उपशमधारा की स्तुति है न? आहाहा!

काय.... इस काया के सम्बन्ध में जो ऐसा लक्ष्य जाता है, इतना राग है। उसको स्वभाव के आनन्द के नाथ का अन्तर-अनुसरण करके काया सम्बन्धी के अस्थिरता के भाव्य को दबा देना।

श्रोता : अस्ति का एक कथन करने के बदले यह नास्ति के पचास कथन करने से....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; सबका विस्तार है; भिन्न-भिन्न भाव होता है न, एक प्रकार नहीं होता। भिन्न-भिन्न भाव होता है — भिन्न-भिन्न भाव। अभी तो आगे लेंगे, विशेष लेंगे। असंख्य प्रकार का विभाव लेंगे अभी तो। सामान्य के लिये तो बात की। यह तो निर्जरा अधिकार में नहीं आता? सामान्य के लिये तो परिग्रह का त्याग किया। अब विशेष

के लिये एक-एक का त्याग कराते हैं। आता है? राग-द्वेष... आहार-पानी... यह तो अलौकिक बातें हैं। आहाहा!

यह ग्यारह सूत्र रखकर **ग्यारह सूत्र व्याख्यान करना....** है न? फिर यह समझने के लिए प्रत्येक की व्याख्या करना।

श्रोत्र.... श्रोत्र इन्द्रिय की तरफ का लक्ष्य होने से जो विकृत भाव्य होता था, आहाहा! उसे आत्मा का विशेष अनुसरण करके दबा देना, उपशम करना, यह दूसरे प्रकार की स्तुति है। आहाहा! सुनने में भी जो सुनने में राग आता है, उस राग की एकता तो पहले तोड़ दी है परन्तु सुनने के भाव में वाणी का राग आता है, उसे अपने स्वभाव का उग्र आश्रय लेकर दबा देना - ऐसी बातें हैं। तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि में यह आया है और (उसे) सन्त, जगत के समक्ष आड़तियारूप से प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! इसमें वाद और विवाद करते हैं। ऐसे **चक्षु...** आँख के सम्बन्ध में पर तरफ का लक्ष्य जाता है। आहाहा! इतना स्वभाव का आश्रय विशेष करके, उस भाव को उत्पन्न न होने देना, वह स्तुति है। इसी तरह **घ्राण...** घ्राण में जो सुगन्ध के भाव का लक्ष्य जाता है, वह स्वभाव का अनुसरण करके वह अस्थिरता का भाव उत्पन्न न होने देना, उपशम कर देना, वह दूसरी स्तुति है।

इसी तरह **रस**-रसनेन्द्रिय — ज्ञानी को भी रसनेन्द्रिय की ओर की वृत्ति में अस्थिरता होती है। समझ में आया? आहाहा! रात्रि को कहा था। एक-तीर्थंकर हो, चक्रवर्ती हो, कामदेव-सोलह, सत्रह, अठारह (शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ) उनका बत्तीस ग्रास का आहार है। ग्रास, तो एक-एक ग्रास की कीमत तो.... हीरे की भस्म हो, उसे घी में गरम करके, गेहूँ हो, उस घी में भस्म डालकर गेहूँ डालकर वह भस्म गेहूँ पी जाये... समझ में आता है? है करोड़ों रुपये की कीमत की वह गेहूँ की रोटी बनाते हैं। इसमें कहाँ तुम्हारी भस्म-बस्म आयी? आहाहा! तो जिसके बत्तीस ग्रास में एक ग्रास को छियानवें करोड़ सैनिकों को पाचन करने की शक्ति नहीं। छियानवें करोड़ सैनिक उसका एक ग्रास नहीं पचा सकते — रात्रि में तू था या नहीं? ऐ...? वह समकिती, क्षायिक समकिती तीन ज्ञान का धनी, वह बत्तीस ग्रास का खाने का विकल्प आता है, वह

आकुलता है, उस ग्रास को खाता नहीं; वह राग आया, उसका वेदन करता है। वह (ग्रास) तो जड़ की क्रिया है। बालचन्दजी! यह माल-माल की बात चलती है यहाँ। प्रभु तू कौन है? आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ से भरा है न तू! आहाहा! तू अनन्त महा गुण का गोदाम है न नाथ! आहाहा! उसका अनुसरण करके एकत्वबुद्धि तोड़ना और उसका अनुसरण करके अस्थिरता की पर्याय उत्पन्न न होने देना... आहाहा! ऐसी बातें हैं। पहले तो पकड़ में कठिन पड़ता है। हैं! आहाहा! भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा, आत्मा का स्वभाव जानना और जानने के बाद भी राग आता है, आहाहा! तो राग कहो या दु:ख कहो। समझ में आया? आहाहा!

रसन.... यह तो रसन आया न? समकिती, क्षायिक समकिती तीर्थंकर, दूसरे - चक्रवर्ती को भी होता है परन्तु यहाँ तो तीर्थंकर को तो ऐसा आहार होता है, तथापि नीहार नहीं होता। दूसरे चक्रवर्ती को ऐसा बत्तीस ग्रास का आहार होता है, नीहार होता है। आहाहा! यहाँ तो जरा एक रोटी अधिक पड़ जाये तो दस्त हो (जाते हैं।) वह बत्तीस ग्रास हीरे की भस्म, एक-एक दाने में करोड़ों हीरे की भस्म दाने में चढ़ गयी, उसकी रोटी बनायी, वह भी रसोईया, अधिकारी होता है; वह स्वयं नहीं बनाता, बारह महीने में उसकी तैयारी करता है। एक दिन की चक्रवर्ती की रसोई के लिये (बारह महीने तैयारी करता है)। भगवान के लिये तीर्थंकर के लिये... आहाहा! तैयारी करता है कि यह करना, यह करना, यह करना... बारह माह तक, तब एक बार हुक्म आता है, अमलदार रसोईया को कि आज यह रसोई बनाओ। ए चन्दुभाई!

श्रोता : सब पुण्य का प्रताप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वह बत्तीस ग्रास के आहार की क्रिया तो उससे होती है। मुनि को भी विकल्प आता है 'संयम के हेतु से योग प्रवर्तना' — आहारादि लेने का भाव आता है परन्तु वह भाव जरा शुभ है और यह जो संसार के लिये प्राणी आहार करते हैं, वह भाव अशुभ है। आहाहा! समकिती को भी भोग का भाव आता है। आहाहा! इतना दु:ख है। समकिती को भी पंचम गुणस्थान तक रौद्रध्यान होता है। आहाहा! इतना धर्मी जीव को भी दु:ख है। भगवान आनन्दस्वरूप से विरुद्ध रौद्रध्यान में गया। आहाहा! पंचम

गुणस्थानवाला, हों! चौथे गुणस्थान में ज्ञानी तो ठीक, पंचमवाले तक रौद्रध्यान है और छठवें तक आर्तध्यान है। वह आर्तध्यान दु:खरूप है या सुखरूप है? आहाहा!

यहाँ कहते हैं **रसन....** आहाहा! यह बत्तीस ग्रास का आहार लेने की वृत्ति उठती है, यह रसन का इतना सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध, भगवान अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ-अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन लेकर इस राग को दबा देता है। सच्चिदानन्द प्रभु, आहाहा! सत-शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का नाथ — भण्डार प्रभु, अपना अनुसरण करके एकत्वबुद्धि को तो तोड़ दिया है, वह तो पहली स्तुति है परन्तु दूसरी अस्थिरता की वृत्ति उत्पन्न न होने देना। आहाहा! इतनी स्वभाव की स्तुति / सत्कार / स्वीकार विशेष हो गया है। समझ में आया? ऐसी बातें हैं प्रभु! क्या हो? आहाहा! अभी तो बहुत फेरफार हो गया है। अभी तो चोर कोतवाल को दण्डे ऐसा हो गया है। अधिक चोर इकट्ठे हुए न! अरे प्रभु! आहाहा! '**रसन**' — यह तो रसन का उत्कृष्ट दृष्टान्त लिया है। तीर्थंकर क्षायिक समकिती तीन ज्ञान के धनी माता के गर्भ में आये हैं और फिर जन्म लेते हैं तो आहार का भाव तो आता है, परन्तु वह भाव, राग है। उस राग को स्वभाव का विशेष अनुसरण करके दूर से हटाना अर्थात् उत्पन्न नहीं होने देना। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! गाथा ऐसी आ गयी है। सुमेरुमलजी! ठीक! हैं? भाग्यशाली को काम में पड़े ऐसी बात है। आहाहा! आहाहा!

फिर **स्पर्शन....** स्पर्शन - स्पर्शन के सम्बन्ध में भी ज्ञानी को भी भोग का राग आता है। आहाहा! क्षायिक समकिती तीन ज्ञान के धनी तीर्थंकर - चक्रवर्ती छियानवें हजार स्त्रियों से विवाह करते हैं। भरतेश वैभव में कथा है, भरतेश वैभव में (कि) एक-एक दिन में सैकड़ों राजकुमारियों से विवाह करते हैं। आहाहा! है समकिती, यह राग इतना है। समझ में आया? उस राग की एकत्वबुद्धि तो तोड़ दी है परन्तु राग की अस्थिरता को स्वभाव के आश्रय से (तोड़ देते हैं)। उपशमश्रेणी! आगे लेते हैं न, अन्दर जाते हुए स्वसंवेदन बल में जाने पर वह उपशम हो जाता है। भोग का भाव, स्पर्श का भाव, उपशम हो जाता है। लो! यह चन्दुभाई...! इसलिए सब यहाँ नहीं आये, संक्षिप्त किया होता तो भी यह तो... लम्बा-लम्बा करते हैं। है?

इन पाँच के सूत्रों को इन्द्रियसूत्र के द्वारा अलग व्याख्यानरूप करना; इस

प्रकार.... अब अभी इतने से नहीं... **सोलह सूत्रों को भिन्न-भिन्न व्याख्यानरूप करना....** प्रत्येक का भिन्न-भिन्न व्याख्यान (करना)। **और इस उपदेश से अन्य भी विचार लेना....** आहाहा! असंख्य प्रकार का विभाव है, आहाहा! अनेक प्रकार हैं। समकिती को असंख्य प्रकार का विभाव है। आहाहा! तो ऐसे व्याख्यान करना। वह भाव्य है, उसको अपने स्वभाव का अनुसरण करके उत्पन्न न होने देना, वह अपनी स्तुति है। अपनी - भगवान की प्रशंसा है। ऐसा वहाँ सुना नहीं — सरदारशहर में कहीं नहीं। प्रभु! का मार्ग बापू! यह 'हरि का मारग है सूरों का, यह कायर का नहीं काम, जो न' — ऐसा आता है न? तुम्हारे 'यह हरि का मारग है सूरों का, कायर का नहीं काम जो न।' 'प्रथम-पहले मस्तक देकर, पीछे लेना हरि का नाम जो न' हरि अर्थात् यह भगवान। आहाहा! यह लोगों में ऐसा स्तुति में-भक्ति में आता है, हमारे तो उस ओर के पालेज में सभी ग्राहक थे - ऐसे सब। एक ब्राह्मण था हमारा ग्राहक उस समय था परन्तु वेदान्त का बड़ा और सबका गुरु था किन्तु हमारा ग्राहक था, उसके गाँव का नाम भूल गये हैं। मेहराज गाँव है। मेहराज और तिलोद दो गाँव में हमारी उगाही थी, उन दो गाँवों में अधिक थी, उनमें यह मेहराज का ब्राह्मण था, वह माल लेने आता, उसके भक्त हों वे उसके पैर पड़ते। हम उसके घर पैसे लेने जायें तो खाट डाल देता। मेहराज गाँव पालेज से तीन गाँव (दूर है)। यह तो सत्रह, अठारह, उन्नीस वर्ष की शरीर की आयु की बातें हैं। आहाहा! उस समय सब देखा-जाना, परन्तु यह नहीं। आहाहा!

एक तो दो बाबा आये थे, उस समय की बात है। ६५-६६ या ६७ की बात है। एक था वेदान्ती और एक था कबीर (पन्थी) और एक था ईश्वरकर्ता माननेवाला। दो बड़े साधु आये, वहाँ हमारे धर्मशाला है, वहाँ उतरे और हमें-जैनों को पता पड़ा कि ये लोग चर्चा करनेवाले हैं। हम सब गये। उसमें एक साधु ईश्वर कर्ता माननेवाला था — इस जगत का कर्ता ईश्वर है, हम जैन लोग सुनने गये तो वह सामने कहता है, कर्ता हो तो कहाँ खड़े रहकर ईश्वर ने (जगत को) बनाया? ईश्वर को किसने बनाया? और ईश्वर ने कहाँ खड़े रहकर जगत को बनाया? तो खड़े रहकर बनाया तो कोई चीज तो रही। समझ में आया? वह कबीर (पन्थी) हमारे सामने देखे - जैनियों के सामने - क्यों भाईयों! उसे पता है कि यह जैन है न! यह तो सत्तर-बहत्तर वर्ष पहले की बात है। ठीक है; ईश्वर हो तो कहाँ खड़ा

रहा और यह सब सामग्री कहाँ से लाया, कहाँ से यह बनाया? नहीं है, उसमें से बनाया? नहीं हो उसे बना सकते हैं? है उसको बनाना और न हो उसको बनाना-बिल्कुल झूठ है, बालचन्दजी! यह तो ७५ वर्ष पहले (की बात है।) आहाहा! एक था कबीर का साधु और वह था लट्ठ जैसा और अभिमानी — मेरा शिष्य हो तो समझाऊँ, अन्य को ऐसा कहा कबीर ने। यह कहे शिष्य भी पहला तू समझा तो सही कि ईश्वर तेरा है और ईश्वर ने यह बनाया तो ईश्वर कहाँ रहा था, कोई स्थान था या नहीं, उसने कोई स्थान बनाया? वैसे यह बात तो अलौकिक है बापू! असंख्य प्रकार की बात।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९४ गाथा ३२, ३३ दिनाङ्क २८-०९-१९७८ गुरुवार
भाद्र कृष्ण १२, वीर निर्वाण संवत् २५०४

गाथा का भावार्थ है। उसमें क्या कहा? - वह कहते हैं। प्रथम तो अपना शुद्धस्वरूप, परद्रव्य से भिन्न, राग से भिन्न, पर्याय से भी भिन्न है — ऐसे आत्मा का अनुभव हो, उसका नाम जितेन्द्रिय जिन कहा गया है। जो क्षयोपशम ज्ञान की पर्याय है, राग है या निमित्त है, वह सब परद्रव्य — परज्ञेय गिनने में आया है। ज्ञायकस्वभाव स्वज्ञेय, उस स्वज्ञेय का लक्ष्य करके — आश्रय करके पर से अपनी चीज को पृथक जानना, परिपूर्ण जानना, अधिक जानना, उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, यह पहली श्रेणी की स्तुति है — ऐसा है। दूसरी श्रेणी की इस (गाथा) ३२ में है।

भावार्थ : भावक मोह के अनुसार.... क्या कहते हैं? ज्ञानी को भी, समकिती को भी, मुनि को भी आत्मज्ञान के उपरान्त चारित्रदशा हुई है, उसको भी भावक जो कर्म - जड़, उसके अनुसार होनेवाला विकारी राग-द्वेष आदि भाव, वह भाव्य है। **भावक मोह के अनुसार....** है? स्वभाव के अनुसार नहीं। कर्म का निमित्त जो उदय में आया, वह स्वभाव की ओर का इतना आश्रय नहीं और पर का आश्रय करता है तो उसमें राग-द्वेष विकारी पर्याय, समकिती को भी—ज्ञानी को भी उत्पन्न होती है। आहाहा! उसको जीतना, अर्थात् **प्रवृत्ति करने से अपना आत्मा भाव्यरूप होता है....** आहाहा! बहुत

सूक्ष्म बातें हैं। **उसे भेदज्ञान के बल से....** अर्थात् निमित्त के अनुसार जो प्रवृत्ति हुई, उस अनुसार छोड़कर, स्वभाव के अनुसार विशेष उग्र आश्रय लिया। आहाहा! **भिन्न अनुभव करनेवाले जितमोह जिन हैं।** जितमोह; क्षीणमोह नहीं। क्षीणमोह का पाठ है न? पाठ है, तैंतीस में **जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो** — इसलिए कोई कहे कि इस जितमोह का अर्थ क्या? तो यहाँ (गाथा) ३३ में लिया है क्षीणमोह। पहले जो राग का — विकार का स्वभाव को अनुसरण करके उपशम करता था, उसको जितमोह कहा गया है। उपशमश्रेणी, हाँ! आठवें गुणस्थान में... आहाहा! सातवें तक अबुद्धिपूर्वक कर्म के भावक के अनुसार रागादि होते थे। समझ में आया? कर्म के भावक के अनुसार जो राग, द्वेष, पुण्य, पाप आदि विकल्प.... मोहभाव, वह पापभाव है। उसको जो निमित्त के अनुसार भाव्य था, वह नहीं होने देना... आहाहा! और ज्ञायकस्वरूप भगवान का उग्र आश्रय लेकर उस विकार को दबाना, उपशम करना, वह दूसरे प्रकार की - ऊँचे प्रकार की स्तुति (है)। आहाहा! ऐसी बातें अब इसमें लोगों को कहाँ (ख्याल आवे)। बापू! अन्दर मार्ग ऐसा है।

इस भावक मोह के अनुसार मुनि को भी सातवें गुणस्थान में मोहकर्म के निमित्त के अनुसार जो अबुद्धिपूर्वक राग-अन्दर विकार था, उसे स्वभाव का अनुसरण करके उस विकार को दबाकर उपशम करना। उपशमश्रेणी, श्रेणी की अपेक्षा से उपशम, यह लेंगे। भावार्थ में उपशम आदि करके शब्द है, जरा सूक्ष्म (है) बाद में अर्थ करेंगे।

आत्मा भाव्यरूप होता है उसे भेदज्ञान के बल से भिन्न अनुभव करनेवाले जितमोह जिन हैं।.... आहाहा! यह तो अभी (इस क्षेत्र में) हो नहीं सकते किन्तु वस्तुस्थिति बतलाते हैं। समझ में आया?

यहाँ ऐसा आशय है कि श्रेणी चढ़ते हुए.... देखो! आठवें में, आहाहा! **जिसे मोह का उदय अनुभव में न रहे....** आहाहा! इस वस्तु का ख्याल तो यह करे कि उपशमश्रेणी आठवें गुणस्थान में चलती है, वहाँ मोह का उदय अनुभव में नहीं रहे। आहाहा! भगवान आनन्द का नाथ अन्तर में विशेष झुक जाये; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो है परन्तु मोह के अनुसार सातवें गुणस्थान तक जो रागादि थे... आहाहा! छठवें गुणस्थान में तो बुद्धिपूर्वक राग था, अबुद्धिपूर्वक (भी था)। दोनों ही थे, सातवें में

बुद्धिपूर्वक राग नहीं था परन्तु भावककर्म के अनुसार राग-द्वेष — ऐसा परिणाम, भाव्य होता था। आहाहा! सातवें में। वह अन्दर में सीधे स्वभाव के अनुसार करके जो राग आत्मा में-पर्याय में था, उसको दबा देना, उपशम करना, वह दूसरे प्रकार की पहले से ऊँची स्तुति है। समझ में आया?

ऐसा आशय है कि श्रेणी चढ़ते हुए जिसे मोह का उदय अनुभव में न रहे.... आहाहा! **और अपने बल से....** अपने बल से स्वभाव के अनुसार में पुरुषार्थ करने से, आहाहा! **उपशमादि करके....** श्रेणी तो उपशम है परन्तु वहाँ राग का क्षयोपशम होता है थोड़ा अथवा ज्ञानावरणी का भी क्षयोपशम होता है। समझ में आया? आहाहा! उपशम आदि शब्द पड़ा है न? है, राग का उपशम करते हैं और दूसरे जो ज्ञानावरणी आदि हैं, उनका विशेष क्षयोपशम होता है। **वह उपशमादि करके....** है तो उपशमश्रेणी परन्तु उपशम आदि करके... आहाहा! ज्ञानावरणी आदि का उदय है तो उसके अनुसार जरा ज्ञान की हीनदशा होती थी। आहाहा! वह स्वभाव के अनुसार ज्ञान का क्षयोपशम हुआ। वहाँ ज्ञान का उपशम नहीं होता; उपशम तो मोह का होता है। यह तो बहुत सूक्ष्म बात भाई! आहाहा!

अपने स्वभाव का भान है, अनुभव हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, और स्वरूप का चारित्र-आचरण भी थोड़ा हुआ; पूर्ण आचरण हो, तब तो यथाख्यातचारित्र हो जाये। तब तो भावक के अनुसार भाव्य करना रहता नहीं। समझ में आया? पहले थोड़ा-थोड़ा अभ्यास होना चाहिए। यह तो कॉलेज है, आहाहा! वीतराग भगवान की कॉलेज है। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु का, पर्याय के प्रेम से हटकर, राग के प्रेम से हटकर, निमित्त के प्रेम से हटकर अपने ज्ञायक में एकाग्रता करके प्रेम लगा दिया। प्रेम का अर्थ एकाग्रता। उसका नाम प्रथम जितेन्द्रिय स्तुति - पहले प्रकार की; पहले नम्बर की नहीं, पहले प्रकार की (स्तुति) कहा जाता है। आहा!

अब, दूसरे प्रकार की ऊँची स्तुति — दूसरा प्रकार है परन्तु वह पहले नम्बर से ऊँची है। आहाहा! ज्ञानी को भी सातवें गुणस्थान तक भावक मोहकर्म के अनुसार.... समकिती है, अप्रमत्तदशा में भी अबुद्धिपूर्वक राग - भाव्य होता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। उसको पर के अनुसार का जो भाव है, पुरुषार्थ छोड़कर अन्दर में लगाना तो वह राग-

द्वेष पुण्य-पाप का भाव वह विकल्प है, उसे दबा देता है, दबा देता है और उपशमभाव प्रगट होता है तथा ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय, अन्तराय आदि का क्षयोपशम भाव होता है। समझ में आया? श्रेणी उपशम है परन्तु उपशम तो अकेले मोह का होता है तो साथ में शुद्धता बढ़ती है — ज्ञान की, आनन्द की, वीर्य की, यह सब शुद्धता बढ़ती है। समझ में आया? उस उपशमश्रेणी में यह क्षयोपशमभाव है — अब ऐसी बात कहाँ, उदय, उपशम और क्षयोपशम....

भगवान परमपारिणामिक स्वभाव, प्रभु परम स्वभावभाव का आश्रय लेकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्पन्न हुआ, वह पहली स्तुति है; फिर अस्थिरता में पर्याय अबुद्धिपूर्वक थी,.... छठवें (गुणस्थान) तक बुद्धिपूर्वक राग था, बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दोनों ही (प्रकार का राग था)। समझ में आया? वे देवकीनन्दन एक बड़े पण्डित थे, इन्दौरवाले थे, वे आये थे। उन्होंने पंचाध्यायी का अर्थ किया था कि छठवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक राग है और सातवें गुणस्थान में अबुद्धिपूर्वक है, तो उनको कहा (यह बात ठीक नहीं है)। वह तो कहते हम तो पण्डित हैं, ऐसा है नहीं। व्यक्ति सरल था, पण्डित था, देवकीनन्दन! पंचाध्यायी का अर्थ सुधारो कि छठवें गुणस्थान में भी ख्याल में आनेवाला, वह बुद्धिपूर्वक राग है और उसी समय ख्याल में नहीं आता, वह अबुद्धिपूर्वक है। अब ऐसी बातें.... और सातवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक - ख्याल में आता है ऐसी बात है नहीं परन्तु अबुद्धिपूर्वक है, क्योंकि उपयोग वहाँ लागू नहीं होता, परन्तु राग होता है, उस राग को भावक के अनुसार होता था, वह अपने भगवान की ओर का अनुभव होकर, यह स्तुति हुई। आहाहा! अरे! अब ऐसी बातें! उस राग को उपशम करना और दूसरी पर्याय को - क्षयोपशम की वृद्धि करना।

श्रोता : अकेले मोह में ही उस क्षयोपशम का, उपशम का कार्य होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोह का उपशम-क्षयोपशम होता है परन्तु मोह का उपशम लेना है। यहाँ उपशमश्रेणी लेनी है न! है तो क्षयोपशमदशा दशवें गुणस्थान तक, परन्तु यहाँ दबाया है; इसलिए उपशमश्रेणी लेना है। क्षयोपशम तो है परन्तु...

श्रोता : अकेले मोह का ही उपशम क्यों दूसरे कर्म का क्यों नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे कर्म का उपशम नहीं होता, बिल्कुल उपशम नहीं, उपशम एक मोह का (ही होता है)।

क्षायिक (छह) आठ का; उपशम एक का; उदय आठ का; क्षयोपशम चार का — ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय। सूक्ष्म बात भाई! आठ कर्म हैं तो उदय आठ का; अब उपशम अकेले मोह का; क्षयोपशम चार का — ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय। उपशमश्रेणी में मोह का उपशम है, यह दबाने की अपेक्षा से, वरना है क्षयोपशम।

श्रोता : ज्ञान का क्षयोपशम।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका भी क्षयोपशम है, दशवें गुणस्थान तक। उदय है न, इतना क्षयोपशम है परन्तु यहाँ यह अपेक्षा लेना है। अब ऐसी बातें हैं। मोह का भी क्षयोपशम होता है, मोह का उपशम होता है और मोह का क्षय होता है। ज्ञानावरणी का उदय होता है, क्षयोपशम होता है, क्षय होता है, उपशम नहीं। दर्शनावरणी का उदय होता है, क्षयोपशम होता है, क्षायिक (क्षय होता है) उपशम नहीं। अन्तराय का उदय होता है, क्षयोपशम होता है, क्षायिक होता है, उपशम नहीं। अब ऐसी बातें कहाँ? आहाहा! यहाँ तो समय-समय का हिसाब है। आहाहा!

जब तक उपशमश्रेणी तक न आवे, तब तक समकिती मुनि को सप्तम गुणस्थान तक, आहाहा! भावककर्म के अनुसार जरा अबुद्धिपूर्वक राग है। आहाहा! उसके समक्ष पुरुषार्थ को बढ़ाकर स्वभाव का विशेष अनुसरण करके, उस भावक के अनुसार राग था उसे दबा दिया, उपशम कर दिया — ऐसे राग-द्वेष आदि विशेष लेना, वे सोलह बोल हैं न? अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सोलह बोल - पाँच इन्द्रियाँ - ऐसे लिया है और अन्य भी विचार लेना - ऐसा लिया है — जयसेनाचार्य की टीका में ऐसे बोल लेकर अन्य असंख्य विभाव का व्याख्यान कर लेना - ऐसा (लिया है)। आहाहा! ऐसी बातें हैं। विकल्प के अनेक प्रकार हैं। अनेक प्रकार में से असंख्य प्रकार का विभाव है। आहाहा! तो जिस जीव को जिस प्रकार का विकल्प है, उसको स्वभाव के अनुसार दबा देना। आहाहा! 'उपशम आदि करके' शब्द में उपशम आदि करके (लिया है)। अकेले उपशम करके नहीं लिया,

श्रेणी उपशम है परन्तु क्षयोपशम साथ में है। आहाहा! अरे प्रभु! तू कौन है ? कहाँ है ? तेरी दशा में क्या होता है ? आहाहा! **आत्मानुभव करता है, उसे जितमोह कहा है। यहाँ मोह को जीता है; उसका नाश नहीं हुआ।....** क्षय नहीं किया है, दबा दिया है — ऐसी एक स्तुति का प्रकार लिया तो सबको उपशमश्रेणी आती है - ऐसा कुछ है नहीं। क्या कहा ? कि आत्मा का अनुभव हुआ और आगे बढ़कर सबको उपशमश्रेणी होती ही है — ऐसा नहीं है परन्तु उपशमश्रेणी होती है, उसे दूसरे प्रकार की स्तुति गिना जाता है इतना... क्या कहा ? कोई तो आत्मा का अनुभव करके आठवें गुणस्थान से क्षपकश्रेणी चढ़ते हैं, राग का नाश करके स्वभाव का अनुभव करते हैं - अन्दर चले जाते हैं। अतः सबको उपशम होता है - ऐसा नहीं है परन्तु यहाँ तो स्तुति के प्रकार का वर्णन करना है; अतः तीन प्रकार की स्तुति में दूसरी स्तुति में राग को उपशम करना — ऐसी एक स्तुति ली है परन्तु सबको (उपशम) होता ही है - ऐसा नहीं है। आहाहा!

श्रोता : सम्यग्दर्शन में प्रथम उपशम होता ही है — ऐसा चारित्र में नियम नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी यहाँ यह प्रश्न नहीं है। यहाँ तो श्रेणी की बात है। कहाँ उपशम होता है यह बात नहीं है, यहाँ तो श्रेणी की बात है। समकित का उपशम होता है, पहले वह यहाँ प्रश्न नहीं है, वह तो पहले उपशम हो गया। उपशम में से क्षयोपशम होकर क्षायिक हुआ, उसकी कोई बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो चारित्रमोह का जो उपशम है, उसकी बात है। मोह शब्द लिया है, वह चारित्रमोह है। मोह शब्द तो पाठ में है, वह चारित्रमोह का मोह है। दर्शन का मोह तो है नहीं, वह तो पहली श्रेणी में नाश कर दिया है। आहाहा! अरे! ऐसा सब जानपना रखना...।

श्रोता : पहले जानपना तो होना चाहिए न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चीज अन्दर की बात। थोड़ा समय लेना पड़ेगा प्रभु! तेरी चीज में क्या है और कैसा दर्शन होता है और कैसा उपशम चारित्र होता है और कैसे क्षपक चारित्र होता है, वह कैसी पद्धति है ? — यह जानना चाहिए। आहाहा! खीमचन्दभाई नहीं आये ? (श्रोता : दोपहर में आयेंगे।) ठीक, दोपहर में आयेंगे।

यहाँ 'अपने बल से' शब्द पड़ा है, वह कर्म का उदय घट जाये, इसलिए पुरुषार्थ

होगा — ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा में एक 'अभाव' नाम का गुण है। सैंतालीस गुण (शक्तियाँ) हैं न ? उसमें 'अभाव' नाम का एक गुण है। इस कर्म का अभाव हो तो अभाव गुण है — ऐसा नहीं है, अपना स्वभाव ही ऐसा है कि पर के अभाव से परिणमना - ऐसा अभाव गुण है। आहाहा ! समझ में आया ? भाई ! यह तो सर्वज्ञ वीतराग की शैली है, यह सब तो.... आहाहा ! अपने बल से उपशम आदि करके — यह कहने में ऐसा आशय है कि कर्म का उदय वहाँ मन्द हो गया; इसलिए यहाँ आत्मा की ओर झुका है - ऐसा नहीं है। आत्मा की ओर झुकने के बल से झुका है। आहाहा ! अपने बल से उपशम आदि करके आत्मानुभव करना, आत्मानुभव करता है, उसे जितमोह कहा जाता है। यहाँ मोह को जीता है, नाश नहीं हुआ है।

अत: कोई ऐसा कहे कि उपशम आदि निकाला कहाँ से ? कि क्षीणमोह कहते हैं न, ३३ वीं (गाथा में), तो वह जितमोह है, जितमोह अर्थात् मोह का नाश हो गया हो तो क्षीणमोह कैसे लिया ? तो यहाँ जितमोह का अर्थ (यह है कि) मोह को दबा दिया है। समझ में आया ? अरे ! ऐसी बातें हैं ! यहाँ तो स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ तो उसे राग होता ही नहीं - ऐसा नहीं है। राग कहो या दु:ख कहो या आकुलता कहो। आहाहा ! सातवें गुणस्थान में भी अबुद्धिपूर्वक आकुलता है। राग है न ? आहाहा ! और छठवें गुणस्थान में आत्मज्ञान के उपरान्त स्वरूप की रमणता में जम गया हो, उसको भी राग का व्यक्त-अव्यक्त दो प्रकार का है। गोम्मटसार में यह शब्द है। व्यक्त-अव्यक्त। छठवें गुणस्थान में जितना राग ख्याल में आता है, वह व्यक्त, उसमें उपयोग स्थूल है, तो ख्याल में नहीं आवे, उस राग को अव्यक्त कहते हैं, समझ में आया ? अत: राग व्यक्त-अव्यक्त दो प्रकार का, छठवें गुणस्थान में भी होता है। सातवें में बुद्धिपूर्वक राग नहीं है, अबुद्धिपूर्वक (है)। आहाहा ! वह भी इतना दु:ख है। समझ में आया ? इतना — 'राग आग दाह दहै सदा' वह राग भी आकुलता - कषाय है, अग्नि है। आहाहा ! शान्त... शान्त... प्रभु आनन्द के नाथ में राग होता है, वह दु:ख, अशान्ति, आकुलता है। आहाहा !

समयसार नाटक मोक्षअधिकार में तो ऐसा कहा (कि) छठवें गुणस्थान में आत्मज्ञान

के उपरान्त आनन्द की-चारित्र की धारा बहती है, उसको भी जो पंच महाव्रतादि का विकल्प उठता है, वह जगपन्थ है। राग, उदयभाव है, वह जगपंथ है, संसार है। आहाहा! समयसार नाटक में है न? पहले बताया था — समयसार नाटक, मोक्ष अधिकार, चालीसवाँ बोल है। आहाहा! मोक्ष-३४ आया सामने यह ४०। 'ता कारण जग पंथ एव, उत शिव मारग जो' आहाहा! आत्मज्ञानी अनुभवी क्षायिक समकिती हो और अन्दर भावलिंग मुनिदशा प्रगट हुई हो, उसको भी जो पंच महाव्रतादि, श्रवण का, कहने का विकल्प उठता है, वह जगपंथ है। आहाहा! वह इतना संसारमार्ग है! चालीसवाँ बोल है, मोक्ष अधिकार 'ता कारण जग पंथ एव, उत शिव मारग जो' और स्वभावसन्मुख में जितनी स्थिरता हो गयी, वह शिवमारग अप्रमत्तदशा है, वह शिवमारग है। आहाहा! 'परमादी जग को ढुके' छठवें गुणस्थान में मुनि, तीर्थंकर - छद्मस्थ हो, उनको छठवें गुणस्थान में जो विकल्प आता है, वह प्रमादी जगत की ओर ढुकते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है बापू! 'अप्रमादी शिव और' स्वरूप में अप्रमाद होकर स्थिर हो जाता है, वह शिवमार्ग है और जब तक प्रमाद का विकल्प है, मुनि को हो। आहाहा! तीर्थंकर छद्मस्थ है तब तक... आहाहा! छठवें-सातवें में झूलते हों प्रभु, उन्हें छठवें (में) विकल्प आता है, वह प्रमाद है। आहाहा! दोष है, दु:ख है, आकुलता है। आहाहा!

छठवें में व्यक्त-अव्यक्त आकुलता है; सातवें में अव्यक्त आकुलता है-ख्याल में नहीं आती है परन्तु अन्दर अबुद्धिपूर्वक आकुलता है। आहाहा! उसको मोहकर्म का भावक में वहाँ अनुसरण था जो अन्दर सातवें में भी... आहाहा! वह आगे बढ़कर अन्दर पुरुषार्थ का बल करके, वह रागभाव जो उत्पन्न होता था, उसे दबा देगा। आहाहा! ऐसा मार्ग है। बालचन्दजी! परिचय बिना समझ में आये ऐसा नहीं, बापू! आहाहा! ऐसा मार्ग है बापू! क्या कहें? आहाहा! अरे! यह ३२ गाथा हुई।

गाथा ३३

अथ भाव्यभावकभावाभावेन –

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हवेज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।।३३।।

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधो:।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भि:।।

इह खलु पूर्वप्रकान्तेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टम्भात्तत्सन्तानात्यन्तविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावक: क्षीणो मोह: स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं परमात्मानमवाप्त: क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुति:।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।

अब, भाव्यभावक भाव के अभाव से निश्चयस्तुति बतलाते हैं —

जित मोह साधु पुरुष का जब, मोह क्षय हो जाय है।
परमार्थविज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे ॥३३॥

गाथार्थ : [जितमोहस्य तु साधोः] जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के [यदा] जब [क्षीणः मोहः] मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट [भवेत्] हो [तदा] तब [निश्चयविद्भिः] निश्चय के जाननेवाले [खलु] निश्चय से [सः] उस साधु को [क्षीणमोहः] 'क्षीणमोह' नाम से [भण्यते] कहते हैं।

टीका : इस निश्चयस्तुति में पूर्वोक्त विधान से आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जो जितमोह हुआ है, उसे जब अपने स्वभावभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन करने से मोह की संतति का ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो — इस प्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो, तब (भावक मोह का क्षय होने से आत्मा के विभावरूप भाव्यभाव का अभाव होता है, और इस प्रकार) भाव्यभावक भाव का अभाव होने से एकत्व होने से टंकोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्मा को प्राप्त हुआ वह 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है। यह तीसरी निश्चय स्तुति है।

यहाँ भी पूर्व कथनानुसार 'मोह' पद को बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्श — इन पदों को रखकर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना और इस प्रकार के उपदेश से अन्य भी विचार लेना।

भावार्थ : साधु पहले अपने बल से उपशम भाव के द्वारा मोह को जीतकर, फिर जब अपनी महा सामर्थ्य से मोह को सत्ता में से नष्ट करके ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं तब वे क्षीणमोह जिन कहलाते हैं।

गाथा - ३३ पर प्रवचन

(गाथा) ३३। यह तीसरे प्रकार की स्तुति। (स्तुति का) नम्बर तीसरा परन्तु ऊँची स्तुति... आहाहा! कल तो सब बोल आ गये थे। **अब, भाव्यभावक भाव के अभाव (से निश्चयस्तुति बतलाते हैं —**) चार शब्द (आये) हैं, देखो! भाव्य, भावक भाव के अभाव... क्या कहते हैं? यह तो ध्यान रखकर समझे तो समझ में आये ऐसा है, यह कोई कथा-वार्ता नहीं है, यह तो प्रभु की भागवत् कथा है। आहाहा! नियमसार में आता है न भाई! अन्त में आता है, नियमसार (में) भागवत् कथा। भागवत् कथा लोग कहते हैं वह नहीं, आहाहा!

यह तो भगवान पूर्णानन्द के नाथ की कथा है। कहते हैं **भाव्यभावक....** यह

भावक जो कर्म का उदय सातवें में है, उसको भावक का भाव्य, जो अन्दर राग था, वह भाव्य, भावककर्म का भाव्य, वह भाव। चार बोल का अर्थ। सप्तम गुणस्थान में भी जो मोहकर्म का भावक था, उसमें अबुद्धिपूर्वक भाव्य अर्थात् राग था। उस भावक का भाव्य, वह भाव। समझ में आया? भाव्यभावक भाव अभाव। (गाथा) ३२ में अभाव नहीं था, सम्बन्ध का नाश – उपशम करके (ऐसी बात थी)। यह तो अभाव कर दिया (गाथा) ३२ में तो उपशम / दबा दिया था, यहाँ तो भाव्यभावक, अन्दर सातवें गुणस्थान में भी भावककर्म के अनुसार भाव्य अर्थात् राग था, उस भाव्यभावक भाव का अभाव। आहाहा! अब इस क्षीणमोह की स्तुति। आहाहा! है अभी स्तुति, केवलज्ञान अभी नहीं हुआ है, केवल (ज्ञान) तो उसका फल है, फिर वहाँ स्तुति नहीं है। समझ में आया? आहाहा! भगवान आनन्द के नाथ की तरफ की दृष्टि और अनुभव तो है परन्तु अस्थिरता में भावक कर्म के अनुसार जो भाव्य था, वह भावकभाव्य का भाव, उसे स्वभाव का उग्र पुरुषार्थ करके — अन्दर उग्र अवलम्बन से अभाव कर देना, उसका नाम तीसरी स्तुति है। इसमें तो शब्द याद नहीं रहते, वहाँ क्या कहते थे? परन्तु कहते थे भाव्य और भावक.... घर में बहनें पूछें — तुम क्या सुन करके आये हो? परन्तु भाई, कुछ कहते थे, भाव्य और भावक — ऐसा कुछ कहते थे। भाव्यभावक भाव का अभाव... आहाहा! भाई! यह तो भगवान की अमृतधारा, आहाहा! आहाहा! भाव्य (अर्थात्) सप्तम गुणस्थान में होनेवाली विकारी दशा; भावक (अर्थात्) कर्म का निमित्त, उसके आश्रय से इतना आश्रय यहाँ नहीं है, इतना आश्रय वहाँ है — ऐसा जो भाव उसका अभाव। पहले में यह था – भाव्यभावक संकरदोष था। भाव्यभावक भाव का अभाव नहीं था, सम्बन्ध का उपशम कर दिया था, यहाँ तो अभाव कर दिया। आहाहा! गाथा –

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हवेज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।।३३।।

नीचे हरिगीत —

जित मोह साधु पुरुष का जब, मोह क्षय हो जाय है।
परमार्थविज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे॥३३॥

गाथार्थ : जिसने मोह को जीत लिया है.... उपशम। **ऐसे साधु के....** देखो.... आहाहा! **जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो जाए....** आहाहा! पहले में तो उपशम कर दिया था, (अर्थात्) पानी में मैल है, उसे दबा दिया था; यहाँ तो मैल का नाश कर दिया। भगवान आत्मा अपना उग्र आश्रय लेकर, आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान में उसका — द्रव्य का आश्रय तो है परन्तु विशेष आश्रय लेकर। आहाहा! **मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो, तब निश्चय के जाननेवाले....** सन्त-मुनि — निश्चय के जाननेवाले मुनि उसे **निश्चय से उस साधु को 'क्षीणमोह' नाम से कहते हैं।....** निश्चय के जाननेवाले सन्त,.... वह राग का भावकभाव्य जो भाव था, उसे स्वभाव के अनुसार उग्र पुरुषार्थ करके नाश कर दिया, उसको क्षीणमोह कहा जाता है, उस जीव को क्षीणमोह कहा जाता है। आहाहा! अब इसमें ऐसी बातें! अन्य तो कहते हैं — दया पालो, एकेन्द्रिय (की दया) करो, यह करो, यह करो, लो! व्रत पालो अपवास करो,.... क्या था उसमें सुन न! वह तो राग है, यहाँ तो समकिती को मुनि को जो राग होता है। आहाहा! इतनी स्तुति कम है, जब राग होता है इतनी। उस राग को स्वभाव के बल के जोर से जीतमोह में जो बल था, उतना तो उपशम कर दिया था, यह तो उग्र पुरुषार्थ से.... आहाहा! अन्तर आनन्द के नाथ में उग्र पुरुषार्थ से जम जाते हैं। आहाहा! तब उस साधु को क्षीणमोह — मोह नाश हो जाता है। उसको ज्ञानी-क्षीणमोह कहा जाता है — ऐसी बातें हैं।

टीका - इस निश्चयस्तुति में.... 'इस' - है न? 'इस' निश्चयस्तुति में भगवान का — आनन्द के नाथ का आश्रय लेकर जो स्तुति अर्थात् प्रशंसा भगवान की हुई, अपने स्वरूप की (हुई)। आहाहा! **पूर्वोक्त विधान से आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके,....** तिरस्कार किया था - जीत लिया था। आया है न? अभाव नहीं किया था। आहाहा! **आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव के द्वारा....** पूर्व में कहा कि ज्ञानस्वभाव, भगवान ज्ञानस्वभाव, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु, उस **ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से....** अन्य द्रव्य से भिन्न अपनी आत्मा का अनुभव करने से **जो जितमोह हुआ है,....** यह तो ३२ की (बात) साथ में लेकर ३३ में लेते हैं - यह जितमोह हुआ है। **उसे जब....** उसे जब, उस जीव को **अपने स्वभावभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन....** करके, देखो! आहाहा! राग

का नाश करना है न? तो नाश कब हो? जीता था, उसमें तो उपशम बहुत था; नाश तो उसमें विशेष बल हो तब नाश होता है। समझ में आया? मुनि को भी राग-द्वेष, क्रोध, मान आदि स्वभाव के अनुसरण के पुरुषार्थ से दबा दिया था, उससे यह विशेष पुरुषार्थ है, मोह में से नाश होने का, भगवान आनन्द की ओर का उग्र पुरुषार्थ से.... है? **स्वभावभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन....** भलीभाँति-यथार्थ अवलम्बन लेकर। आहाहा! उपशमभाव में ऐसा अवलम्बन नहीं था। यह तो अन्दर उग्र अवलम्बन लिया। आहाहा! **ज्ञानस्वभाव की....** अपने ज्ञानस्वभाव की, देखो! (तीर्थंकर) भगवान का ज्ञानस्वभाव, वह नहीं। अपना जो भगवान (निजात्मा का) ज्ञानस्वभाव जो त्रिकाली है। आहाहा! **भावना का भलीभाँति अवलम्बन करने से....** उपशम में जो बल था, उससे इसमें विशेष बल है। आहाहा! अपने स्वभावसन्मुख की इतनी उग्रदशा है कि अवलम्बन कर, **मोह की संतति का....** मोह की संतति / उत्पत्ति का **ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो....** आहाहा! यहाँ तो ऐसी बात ली है।

मुनि को यह रागादि थे, वह आकुलता थी, दुःख था, उसको पहले उपशम पुरुषार्थ से — स्वभाव के मन्द पुरुषार्थ से रागादि को दबा दिया था। वह यहाँ त्रिकाली ज्ञानस्वभाव के भलीभाँति उग्र अवलम्बन से वह क्रोध, मान, और रागादि की पर्याय उदय में नहीं आती तो उसका नाश कर दिया।

श्रोता : ग्यारहवें में से बारहवें (गुणस्थान) में पहुँच गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो उपशमश्रेणी आठवें (गुणस्थान) में से बात है। उपशम में से क्षपक होता है — ऐसा नहीं है। यह तो स्तुति का दूसरा प्रकार वर्णन करते हैं कि जीव जब अपनी आत्मा का उग्र अवलम्बन लेता है — समकित है, ज्ञान है, चारित्र है, आनन्द है परन्तु अभी थोड़ा राग का दुःख है। आहाहा! आहाहा! सप्तम गुणस्थान में राग है, वह भावक की ओर का भाव्य / विकारी भाव है; वह स्वभावसन्मुख की दशा नहीं है। समझ में आया? ऐसी बात, आहाहा!

श्रोता : अपूर्व बात है!

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान आनन्द प्रभु, आहाहा! अमृत के आनन्द का सागर

नाथ, उसे पर से भिन्न करके अनुभव किया — ऐसा अनुभव होने पर भी, पर्याय में कर्म के उदय की ओर का झुकाव है, जुड़ान है; यदि न हो, तब तो वीतराग हो जाये। आहाहा! ऐसी गाथा आयी है! आहाहा! ३३ है न, दो तिक्के, नौ, नौ वीतरागभाव! नौ के अंक अफर होते हैं, नौ एकम नौ, नौ दूनी अठारह, एक और आठ नौ। नौ तीक्का २७, ७ और २ - नौ, नौ चौक ३६, ६ और ३ नौ, ९ पंजे ४५, ४ और ५ नौ, ९ छक्के ५४, ५ और ४ नौ, नौ सत्ते ६३, ६ और ३ नौ, ठेठ (तक) नौ-नौ... आहाहा! यहाँ क्षायिकभाव लेना है न? आहाहा! भगवान पूर्णानन्द के नाथ का उग्र अवलम्बन लेकर, भलीभाँति अवलम्बन लेकर, भलीभाँति, ठीक प्रकार से अवलम्बन लेकर ऐसा। आहाहा! वह राग का जो भाव, भाव्यरूप था, उसको नाश कर दिया; पर्याय में-उदय में आया ही नहीं। पर्याय में राग आया ही नहीं। आहाहा! यह स्थिति है - ऐसा पहले ज्ञान तो करे। समझ में आया?

ज्ञानस्वभाव की भावना का.... भावना शब्द से (आशय) अन्दर एकाग्रता,.... **भलीभाँति अवलम्बन करने से....** आहाहा! **मोह की संतति....** देखो! अभी सातवें (गुणस्थान) में मोह की संतति उत्पन्न होती है। ऐसा आया न भाई! **मोह की संतति....** यह मोह की संतति अर्थात् दर्शनमोह की बात नहीं है। मोह शब्द क्यों लाया गया है? कि पर तरफ की इतनी सावधानी है, कि राग आया, राग, तो वह तो परतरफ की सावधानी है — इस अपेक्षा से मोह कहा है। परतरफ के एकत्व का मोह तो पहले टूट गया है। समझ में आया? अरे भगवान! आहाहा! तेरा पूर्ण स्वभाव सामर्थ्यशक्ति — ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान में भान / अनुभव हुआ, तथापि पूर्ण पर्याय, पर्याय में प्रगट नहीं हुई, तब तक अपनी पर्याय में कमजोरी से भावक के अनुसार राग आदि होता है; आहाहा! कर्म से नहीं। कर्म का इतना अनुसरण है। अनुसरण का उसे कुछ पता नहीं है कि यह राग है परन्तु उस ओर का (स्वभाव सन्मुखता का) अनुसरण अपूर्ण है तो इस ओर का अनुसरण है — ऐसा कहा जाता है। आहाहा! **मोह की संतति....** आहाहा! मोह का परिवार। संतति है न? राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, आहाहा! यह सब मोह की संतति है। आहाहा! इच्छा उत्पन्न होना, सुनने की, कहने की (इच्छा होना), वह भी मोह की संतति है। आहाहा! **ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो....** (क्या कहा)? **ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो.....** आहाहा! क्षयधारा — स्वभाव की उग्रता के पुरुषार्थ से क्षयधारा प्रगट हुई, वह राग

को क्षय कर देती है। क्षय करूँ — ऐसा है नहीं परन्तु स्वभाव का उग्र पुरुषार्थ किया तो राग उत्पन्न नहीं हुआ तो उस राग का क्षय किया - ऐसा कहने में आता है। आहाहा! जो भाव्य होता था, वह स्वभाव के उग्र पुरुषार्थ से नहीं हुआ तो राग का क्षय किया, क्रोध का क्षय किया, मान का क्षय किया, जिस-जिस प्रकार के विभाव का विकल्प था, उसका क्षय किया। आहाहा!

फिर उसका उदय न हो — इस प्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो,.... आहाहा! भावकरूप मोह क्षीण हो। उदय नाश हो जाता है। आहाहा! **(तब भावक मोह का क्षय होने से आत्मा के विभावरूप भाव्यभाव का अभाव होता है,....)** आहाहा! तब आत्मा के विभावरूप भाव्यभाव का अभाव होता है। आहाहा! त्रिकाली आनन्द का नाथ प्रभु, उस ओर झुकाव तो था परन्तु अल्प झुकाव था; इस कारण पर के अनुसरण से जो राग आदि भाव्य था, वह उग्र पुरुषार्थ से — अन्दर अवलम्बन से राग का नाश-क्षय कर दिया, मोह की संतति का नाश कर दिया। आहाहा! अब केवलज्ञान लेकर ही रहेगा। आहाहा! ऐसी बात ली है। समझ में आया?

मुनिराज इसमें अपनी भी बात करते हैं। भविष्य में, हम अभी तो पंचम काल के सन्त हैं तो हमें पर्याय में राग तो है; वीतरागता भी है और थोड़ा राग भी है, पूर्ण वीतरागता नहीं है। इस राग के कारण पुण्यबन्ध हो जाता है और स्वर्ग में चले जायेंगे.... आहाहा! परन्तु वह राग दुःखदायक है। इस वर्तमान में तो हम उसका क्षय नहीं कर सकते परन्तु भविष्य में (क्षय होगा)। अभी तो कुन्दकुन्दाचार्य सन्त स्वर्ग में गये हैं। आहाहा! विकल्प रहा, निर्विकल्प नहीं हुए। वीतराग दशा (पूर्ण नहीं हुई), पुण्यबन्ध हो गया, स्वर्ग का बन्ध हो गया, स्वर्ग में गये हैं। अतः यह राग था, वह दुःख है और दुःख का फल स्वर्ग है। पुण्य है न वह? अब तो हम भविष्य में... आहाहा! कदाचित् उपशमधारा भी नहीं करें तो क्षायिकधारा तो करेंगे ही। आहाहा! समझ में आया? अपनी बात लिखकर जरा पुरुषार्थ की (कमी से) हमारा पंचम काल में जन्म हो गया... मुनिपना आया, आनन्द के नाथ का (अनुभव हुआ) परन्तु कमजोरी है, तो उस कमजोरी का नाश अभी नहीं कर सकते परन्तु हम स्वर्ग में जाते हैं, वहाँ से मनुष्य होकर जब हम मुनि होंगे, तब राग का जो भाव्य था, उसका स्वभाव के बल से नाश करेंगे। आहाहा! और उसी भव में हम केवल (ज्ञान) लेंगे,

अन्तिम शरीर होगा, चरम शरीर-अन्तिम शरीर छूट जायेगा अशरीरी भगवान अकेला परमात्मदशा रह जायेगी। समझ में आया?

'सादि अनन्त-अनन्त समाधिसुख में', अनन्त आनन्द की-सादि, उत्पन्न (हुआ) तो सादि हुई, अनादि की शक्ति थी वह पर्याय में नहीं था। इस पर्याय में अनन्त-अनन्त आनन्द पर्याय में उत्पन्न हुआ। अब 'सादि अनन्त-अनन्त समाधिसुख में, अनन्त दर्शन, ज्ञान अनन्त सहित जो, अपूर्व अवसर ऐसा कब आयेगा।' अपूर्व अवसर आता है न श्रीमद् में? 'अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा' इसका हिन्दी है, हिन्दी है। भोपाल में बनाया है। अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आयेगा — यह वहाँ लेकर अन्त में बनाया है।

'सादि' अनन्त हो, वहाँ है, यह कोई शब्द है अन्दर - लिया है। अनन्त-अनन्त अनुभवगोचर मात्र रहा, वह ज्ञान — हिन्दी बनाया है अपूर्व अवसर। वह क्षय ऐसा हो कि फिर से उदय न हो, **वह भाव्यभावकभाव का अभाव, एकत्व होने से टंकोत्कीर्ण** एकरूप दशा अन्दर हो गयी। जरा राग का अस्थिरता का द्वैत उत्पन्न था, वह छूटकर एकत्व हो गये। **निश्चल परमात्मा को प्राप्त हुआ, वह क्षीणमोह जिन कहलाता है। यह तीसरी स्तुति है।**

विशेष आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९५ गाथा ३३ दिनाङ्क २९-०९-१९७८ शुक्रवार
भाद्र कृष्ण १३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार! ३३ गाथा का अन्तिम है न? ३३ गाथा पूरी हुई। सूक्ष्म विषय है। आहाहा! **यहाँ भी पूर्व कथनानुसार....** क्या? कि जो प्रथम, आत्मा ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप, वह दृष्टि में लिया, अपनी जो ज्ञान की पर्याय है, उसमें ज्ञायकस्वभाव अतीन्द्रिय आत्मदल ज्ञान में लिया तो ज्ञानस्वभाव के साथ एकत्व हुआ तो वह प्रथम स्वभाव की स्तुति कही जाती है। केवली की स्तुति कहो या केवलज्ञानमय भगवान आत्मा, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त ईश्वरता आदि अनन्त गुण का पिण्डरूप प्रभु, उस ओर की दृष्टि करके राग की एकता तोड़ना, वहाँ स्वभाव की स्तुति हुई।

त्रिकाल ज्ञायक का सत्कार हुआ, आदर हुआ, उपादेय हुआ तो उस सम्यग्दर्शन में त्रिकाली भगवान का आदर हुआ तो वह परमात्मस्वरूप की, केवली परमात्मा — अपना स्वरूप, उसकी पहले नम्बर में स्तुति की गयी। आहाहा! ऐसी बात है। बाद में वैसा अनुभव हुआ तो भी, अभी पर्याय में राग-द्वेष मोह आदि का अस्थिरता का भाव, ज्ञानी को भी रहता है। आहाहा! वह अस्थिरता का भाव, वह कर्म का भावक भाव के अनुसार होता था, उसे अपने स्वभाव का उग्र आश्रय लेकर,.... वह राग-द्वेष आदि परिणाम, समकिती ज्ञानी को भी होते हैं। आहाहा! समकिती ज्ञानी को भी राग-दु:खभाव होता है, जब तक आनन्द पूर्ण नहीं है, आहाहा! तब तक धर्मी-आनन्द का अनुभवी परन्तु अल्प आनन्द का अनुभव है तो साथ में राग, द्वेष, चारित्र का दोष (है), दर्शन का दोष नहीं।

यह पुण्य और पाप का भाव उत्पन्न होता है, यह ज्ञानी को भी दु:खरूप है, क्योंकि पूर्ण आनन्द तो प्राप्त हुआ नहीं, आहाहा! तो यह राग, द्वेष, यह दु:खरूप दशा, कर्म / भावक के अनुसार होती थी, अपना इतना आश्रय कम था। सूक्ष्म बात है भगवान! मार्ग कोई सूक्ष्म है। इस अपने चैतन्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो हुआ परन्तु विषय और विशेष आश्रय से राग-द्वेष का परिणाम-भाव्य था, उसे दबा देना, उपशम करना, यह दूसरे प्रकार की स्तुति; दूसरे प्रकार की अर्थात् दूसरे नम्बर की नहीं; नम्बर तो उसका ऊँचा है। आहाहा!

आत्मा... आहाहा! 'मेरा नाथ मेरे आँगन में पधारा, पर्याय में भगवान पधारे।' सुमेरुमलजी! आहाहा! जिसकी प्रजा में प्रजावन्त बादशाह पधारे! आहाहा! ऐसा होने पर भी, धर्मी को बादशाह का अनुभव हुआ, फिर भी पर्याय में अभी कमजोरी से राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव - दु:खरूप भाव ज्ञानी को भी होते हैं। आहाहा! उस अतीन्द्रिय आनन्द भगवान का उग्र आश्रय लेकर, वह (राग-द्वेष) उत्पन्न था, उसे दबा दिया।

श्रोता : उत्पन्न हुआ, उसे दबाया या बाद में?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस उत्पन्न होने का अर्थ? उत्पन्न था पहले। यहाँ उत्पन्न हुए ही नहीं। उत्पन्न थे, उसे यहाँ आत्मा का आश्रय लिया तो उत्पन्न होने ही नहीं दिया। आहाहा! क्या करे? अरे, भगवान की वाणी कितना कहे। आहाहा! इस दबा दिया का अर्थ? पहले था परन्तु वह था, उस ओर का आश्रय-पर का लक्ष्य छोड़कर... आहाहा!

धर्मी / समकिती अनुभवी .ज्ञानी... आहाहा! वह भी (उसको भी) पर के आश्रय से पर्याय में राग-द्वेष-दु:खदशा उत्पन्न थी। आहाहा! उसे होने से पहले दूर से हटाकर — ऐसा आया है या नहीं? आहाहा! भगवान आनन्द प्रभुस्वरूप का उग्र आश्रय लेकर, वह भाव्यरूप राग उत्पन्न था, उसे उत्पन्न होने नहीं दिया; होने नहीं दिया, उसे उपशम कहते हैं, ऐसी बातें हैं। अरे..रे! भाई! तेरा मार्ग कोई (अचिन्त्य)! आहाहा! यह दूसरी स्तुति है। पहले में भावेन्द्रिय क्षयोपशम की पर्याय, राग और निमित्त - पर, उनकी एकत्वबुद्धि थी, वह संकरदोष / मिथ्यात्व दोष था; वह संकरदोष, स्वभाव की एकाग्रता से पर की भिन्नता करके मिथ्यात्वरूपी संकरदोष का नाश कर दिया — ऐसा होने पर भी, अभी अस्थिरता का सम्बन्धरूपी संकरदोष है। आहाहा! पण्डितजी को अभी ठीक नहीं है?

आहाहा! यह आत्मा (का) अनुभव हुआ, ज्ञानी हुआ, सम्यग्दृष्टि हुआ, अरे! भावलिंगी मुनि-सन्त हुआ, उसको भी भावककर्म के अनुसार राग-द्वेष, क्रोध-मान की पर्याय दु:खरूप होती थी। समझ में आया? उसने स्वभाव का आश्रय लेकर,... पुरुषार्थ की तीव्रता क्षय में चाहिए नहीं परन्तु पहले जो पुरुषार्थ था, उससे उग्र पुरुषार्थ करके-स्वभाव की ओर झुकने से वह राग-द्वेष की दु:ख की पर्याय दब जाती है, वह दूसरे प्रकार की स्तुति है।

तीसरे प्रकार की — **भाव्यभावक भाव का अभाव....** अरे! ऐसी बातें हैं। यह भावक जो कर्म जड़, उसके अनुसार अपनी पर्याय जो भाव्यरूप विकार होती थी — ऐसा जो भाव, उसका अभाव। आहाहा! वह क्षीण हुआ। आहाहा! अपने आत्मा में जो सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ था, तदुपरान्त स्थिरता का - उपशम का पुरुषार्थ था, तदुपरान्त उग्र पुरुषार्थ से... आहाहा! बात बहुत कठिन भाई! यह कभी अनन्त काल में किया नहीं, सुना नहीं। आहाहा! तो उस समकिती को भी, ज्ञानी को भी, अरे! मुनि को भी, भाव अन्तर जिसको प्रचुर स्वसंवेदन आनन्द का वेदन है, मुनि को-उसको भी अभी प्रमादभाव है। आहाहा! छठवें गुणस्थान में महाव्रत का भाव, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति की श्रद्धा, भक्ति का भाव आता है परन्तु है वह दु:खरूप। समझ में आया? उसे अपने भगवान आनन्द का नाथ प्रभु सच्चिदानन्द स्वभाव अनाकुल शान्तिरस का भण्डार प्रभु का उग्र आश्रय लेकर, भलीभाँति पुरुषार्थ

करके, आहाहा! उस भाव्यभावक भाव का अभाव कर दिया। यह तीसरे प्रकार की-तीसरे नम्बर की परन्तु ऊँचे प्रकार की स्तुति (है)। अरे..अरे! ऐसी बातें हैं! समझ में आया?

कोई ऐसा ही मान ले कि सम्यग्दर्शन और अनुभव हुआ तो अब उसको दुःख की दशा है ही नहीं — तो उसे सम्यग्दर्शन का पता नहीं है। समझ में आया? आहाहा! तो उसको अभी आत्मा क्या और दर्शन क्या, ज्ञान क्या? — उसका बिल्कुल पता नहीं है। आहाहा! अपनी पर्याय में जब तक श्रेणी का पुरुषार्थ न हो — क्षपकश्रेणी का-अन्तिम बात यह है न? तब तक पर्याय में भाव्य अर्थात् भावक कर्म के अनुसार, अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से जो भाव्य अर्थात् राग-द्वेषरूपी दुःखदशा उत्पन्न होती थी, आहाहा! उसको अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ में उग्र पुरुषार्थ करके विशेष झुकने से उस राग की-दुःख की पर्याय का क्षय होता है। समझ में आया? ऐसी बातें हैं बापू! अरे! मार्ग कोई अलौकिक है भाई! यह कोई पण्डिताई से समझ में आता है - ऐसी चीज नहीं है। शास्त्र के पठन से भी यह बात (समझ में नहीं आती।) आहाहा!

यह कहेंगे स्तुति में — स्तुति का ऐसा अर्थ किया है भाई! यह श्लोक आयेगा न? २७ — 'चित्स्तुत्यैवसैवं' तीसरे पद में है, उसमें अर्थकार ने अर्थ किया है, वह आयेगा अब बाद में, कि भगवान पूर्णानन्द के नाथ का कथन करना, स्मरण करना और उसका अनुभव करना, यह उसकी स्तुति है। समझ में आया? तीन बोल लिये हैं — कथन, स्मरण, अनुभव। आहाहा! यह चित्स्तुति शब्द है न? उसके अर्थ में, भाई! कलश टीकाकार (पण्डित) राजमल... आहाहा! तीसरे का अन्तिम — इस २७ में तीसरे पद का अन्तिम बोल, तीसरी लाईन का 'चित्स्तुत्यैवसैवं भवेत' है न? यह तो एक-एक शब्द की कीमत है न? यह तो मन्त्र है प्रभु! आहाहा! है? यह कोई वार्ता-कथा नहीं है, यह तो भगवत्स्वरूप-भागवत कथा है। आहाहा! नियमसार में अन्तिम गाथा में था। आहाहा!

वह यहाँ कहते हैं कि **(यहाँ भी) पूर्व कथनानुसार 'मोह' पद को बदलकर....** जैसे मोह शब्द से पर तरफ की, समकिती को भी-ज्ञानी को भी — अनुभवियों को भी, परतरफ के मोह अर्थात् सावधानपना आता था। वीतरागभाव नहीं तो कमजोरी से परतरफ का मोह... मोह शब्द से मिथ्यात्व नहीं, (परन्तु) अस्थिरता का भाव-मोह, वह दुःख का

भाव आता था, उसको स्वभावसन्मुख की उग्रता से क्षय कर दिया — तो ऐसा मोहपद जहाँ लिया था, वहाँ **राग....** ले लेना। है ? आहाहा! पहला बोल। भगवान आत्मा वीतराग आनन्दकन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का जिनबिम्ब वीतरागी आनन्द का उग्र आश्रय लिया तो राग उत्पन्न नहीं होता तो उसे नाश किया – ऐसा कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बातें! समझ में आया ?

राग-द्वेष.... समकिती ज्ञानी धर्मात्मा अनुभवी को भी – द्वेष का अंश तो आता है। आहाहा! और द्वेष का वेदन भी है परन्तु अब विशेष-ज्ञायकस्वभाव सन्मुख विशेष झुकने से द्वेष के वेदन का नाश कर देते हैं। आहाहा! ऐसी बातें अब, बापू! भगवान अन्दर त्रिलोकनाथ चैतन्य प्रभु परमेश्वर विराजता है। वह परमेश्वर है। आहाहा! उस प्रभु की ओर का पुरुषार्थ, वह अपने पाने का पुरुषार्थ है। उस प्रभु की ओर का विशेष पुरुषार्थ, विशेष आनन्द की प्राप्ति का उपाय है। वह क्षय (कहते हैं।) आहाहा! समझ में आया ? ऐसी बात कठिन पड़ती है; इसलिए लोग दूसरे रास्ते चढ़ गये हैं – व्रत करना, अपवास करना, यह करना, वह करना....

श्रोता : गुरु कहे ऐसा करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरु को भान नहीं होता और गुरु कहे। बालचन्दजी! ऊपर कहा ऐसा माना ––व्रत करो, अपवास करो, भगवान! वह तो अपवास है। अपवास अर्थात् राग का मन्दभाव है, वह आत्मा में अपवास-माठावास है; वह उपवास नहीं, उपवास नहीं। उपवास इसको कहते हैं, भगवान आनन्द के नाथ (में) उप अर्थात् समीप में जाकर अन्दर स्थिर होना, बसना। बालचन्दजी! इसका नाम उपवास है, बाकी तो लंघन है।

श्रोता : गुरु उसे लंघन कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लंघन है, कषाय है, विषय है 'आहारो त्यागो तज विजयते' इसमें राग और विषयवासना का त्याग और विशेष आनन्द की उत्पत्ति, उसे उपवास कहते हैं। 'शेषम् लंघन विधु' शेष को लंघन कहते हैं। आहाहा! भगवान तीन लोक का नाथ पूर्णानन्द प्रभु की सिद्ध पर्याय से भी अनन्त-अनन्त शक्ति का सागर भगवान पड़ा है। आहाहा! उसके समीप जाकर उसमें बसना, विश्राम लेना, उसका नाम तप और उपवास

कहते हैं। समझ में आया? जैसे स्वर्ण को गेरु लगाने से.... गेरु होता है न गेरु? स्वर्ण शोभित-सुशोभित होता है; वैसे भगवान आत्मा पूर्णानन्द के नाथ के अन्दर सन्मुख होकर उग्र आनन्द की दशा प्रगट करना, उसका नाम तप और उसका नाम संवर तथा निर्जरा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : आस्रव का निरोध तो भेदज्ञान से होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भेदज्ञान कहा न? राग से भिन्न होकर अपना अनुभव हुआ तो यह पहले प्रकार का भेदज्ञान, पश्चात् अस्थिरता का जो राग है, उसे भिन्न करके स्थिर होना, वह दूसरे प्रकार भेदज्ञान... आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : ऐसा स्पष्ट विवेचन कभी सुना ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं सुना है, बात ऐसी है भगवान! अरे! क्या कहें? प्रभु का विरह पड़ा, आहाहा! और भरतक्षेत्र साधारण-हल्का... ऐसा मार्ग अन्दर.... आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य को तो विरह था, वे तो गये, आहाहा! अन्दर गये और भगवान के पास भी गये। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि वर्तमान भगवान के पास जाने की तो योग्यता नहीं परन्तु अन्दर जाने की योग्यता तो तेरी है नाथ!

आहाहा! अन्तर्मुख भगवान अन्तर में विराजते हैं। इस पर्याय को अन्तर्मुख करना, सन्मुख करना, सत्... सत्... सत्... प्रभु के सन्मुख करना, आहाहा! और राग तथा निमित्त की पर्याय से विमुख करना। आहाहा! यह वर्तमान पंचम काल में भी हो सकता है। समझ में आया? ऐसा मार्ग! लोगों ने कुछ का कुछ करके कुचल डाला है। सत्यमार्ग को भी असत्य ठहराने लगे हैं। आहाहा!

श्रोता : बलवान का तो विरोध होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है, यह वस्तु है।

श्रोता : विरोध न हो तो बलवान नहीं कहलाता।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें उसके आत्मा की अन्दर विरोधता होती है, इसका उसे दुःख है (परन्तु) इसका उसे पता नहीं है। इस तत्त्व का विरोध, सत्य का (विरोध करे),

उसे अपनी पर्याय में दु:ख होता है और उसके फलरूप से निगोद आदि के दु:ख में जायेगा। प्रभु! ऐसे जीव का तिरस्कार कैसे किया जाये? उसके प्रति द्वेष कैसे किया जाये? आहाहा! आहाहा! भाई! उल्टी पर्याय से उसके परिणाम में-कुदरत के नियम में तो... आहाहा! 'निगोदं गच्छई' भगवान तो-कुन्दकुन्दाचार्य तो ऐसा कहते हैं — वस्त्र का एक टुकड़ा रखकर हम मुनि हैं — ऐसा मानें, मनावे, माननेवाले को अनुमोदन करे 'निगोदं गच्छई।' उस निगोद में, प्रभु! एक श्वाँस में अठारह भव, वह कितना दु:ख होगा? भाई! इसने कभी विचार में लिया नहीं — ज्ञान के ऊपर इस बात को लिया नहीं। आहाहा! विपरीतमान्यता का फल... आहाहा! प्रभु तो निगोद कहते हैं। आहाहा! अविपरीत दृष्टि का फल मोक्ष कहते हैं। बीच में शुभाशुभभाव से गति मिले, वह दूसरी चीज है। आहाहा! मार्ग बहुत कठिन है भाई! आहाहा! यह राग-द्वेष। **क्रोध,...** क्रोध की पर्याय भी उत्पन्न होती है। समकिती को, मुनि को भी हो थोड़ा, आहाहा! ज्ञानी को अनुभवियों को भी आहाहा! पूर्ण वीतरागभाव नहीं हुआ वहाँ जरा क्रोध का भाव.... झूठी प्ररूपणा करते हैं, उसे समझाते हैं अरे! यह नहीं भाई! तो वह भी एक ऐसा विकल्प/द्वेष है — ऐसा भाव आता है, उसको स्वभाव की उग्रता का आश्रय लेकर नाश कर देना। आहाहा!

क्रोध, मान.... थोड़ा मान भी आता है समकिती को अनुभवी को। बाहुबली और भरत दोनों ज्ञानी-समकिती, अनुभवी थे, युद्ध में चढ़े। आहाहा! है अनुभवी, समकिती परन्तु वह द्वेष का अंश आया, वह दु:खरूप आया। आहाहा! समकिती को भी दु:ख का अनुभव आता है। आहाहा!

श्रोता : ऐसे महापुरुष क्यों लड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़े! आया, चारित्र का ऐसा कोई (दोष) है। अन्दर में भान है कि यह दोष है और इससे तो मेरी चीज भिन्न है परन्तु मैं दोष के परिणाम में आ गया हूँ।

श्रोता : महापुरुष लड़े तो दूसरों का क्या बाधा?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कोई हो महापुरुष। यह तो ऐसा दृष्टान्त दिया है कि ऐसे एकावतारी — उसी भव में दोनों मोक्ष जानेवाले हैं। भगवान ने कहा ये दोनों चरमशरीरी हैं और समकिती आत्मज्ञानी हुए और दो भाई सहोदर, उन्हें पिताजी ने राज्य के भाग तो

कर दिये थे, फिर भरत चक्रवर्ती जब उनको आधीन करने गये तो बाहुबली ने कहा — भगवान ने तो दो भाग कर दिये हैं, अब तुम लेने को क्यों आये? देखो, यह समकिती, अनुभवी, ज्ञानी! आहाहा! राग है, क्रोध, मान – इतना मान है, जरा मान है। आता है न बाहुबलीजी ध्यान में थे, बेल लिपट गयी थी, परन्तु जरा ऐसा मान रहा कि यह जमीन भरत की है — ऐसा जरा मान रह गया। श्वेताम्बर में ऐसा कहते हैं कि उनकी बहिनें वहाँ आयीं, बाहुबली ध्यान में खड़े थे और थोड़े मान में थे, मुनि हैं — भावलिंगी सन्त हैं, अनुभवी, छठे गुणस्थान में आत्मज्ञानी, तदुपरान्त शान्ति परन्तु उनको भी जरा मान का अंश आ गया। आहाहा!

तब बहिनें ऐसा कहती हैं 'वीरा मोरा गज थकी उतरो' यह गज अर्थात् हाथी — मान का हाथी। यह सब सज्झाय बहुत देखी थी। हमने तो दुकान पर सज्झायमाला, चार आती है न? एक-एक सज्झायमाला में दो सौ, ढाई सौ श्लोक आते हैं। एक सज्झाय में पाँच, दस, पन्द्रह लाईनें आती हैं — दुकान पर सब देखा था। अठारह, उन्नीस, बीस वर्ष की उम्र में, सत्तर साल पहले की बात है, तो उसमें यह आता है। हम तो पहले श्वेताम्बर थे न, और वह पढ़ा तो उसमें यह आया था 'वीरा मोरा गज थकी उतरो रे' मुनि हैं आत्मज्ञानी अनुभवी (हैं) परन्तु जरा संज्वलन का मान रह गया, अन्दर खटक (रह गयी) 'गज थकी केवल न होय रे, वीरा मोरा गज थकी उतरो।' अपने यहाँ ऐसा आता है कि वे ध्यान में हैं। उसमें भरत आते हैं। उसमें – परमागम मन्दिर में है, भरत नमन करते हैं और जहाँ ऐसा देखा, ओहोहो! भरत को तो कुछ नहीं है, जहाँ भरत नमन करते थे, वहाँ उनका मान गल गया। आहाहा! और एकदम क्षपक श्रेणी लगाकर केवलज्ञान! यह क्षीणमोह.... आहाहा!

(यह क्षीणमोह दृष्टि) — भगवान को अच्छे पानी से तालाब भरा हो और बाहर निकालना हो तो जरा इतना करे, पानी का धोध निकलते, आहाहा! इसी प्रकार भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, केवलज्ञान का कन्द, उसमें जहाँ एकाग्र हुआ, उतना मान का अंश था, उससे हटकर.... आहाहा! अन्दर गये तो केवलज्ञान (हो गया)। जलहल ज्योति चैतन्य पर्याय में — भगवान पर्याय में पूर्णपने आ गया। आहाहा! अपने दिगम्बर में ऐसा है। भरत नमन करते हैं — ऐसा देखते हैं, उन्हें ऐसा लगता है कि इस भरत को कुछ दुःख हुआ होगा कि मैंने अनादर किया। चक्र चलाया था न! आहाहा! भरत ने चक्र चलाया था

परन्तु वह चक्र वापस घुमा कि चरमशरीरी और सहकुटुम्बियों को कोई चक्र मार नहीं सकता। आहाहा! कहो, समकिती को-भाई को चक्र मारने का भाव आया - राग। वह समकिती है, ज्ञानी अनुभवी (है), फिर भी ज्ञानी को भी उस दु:ख का अनुभव हुआ। आहाहा! वे अपने स्वभाव में जाते हैं, तल में महा भगवान विराजते हैं प्रभु! वह दृष्टि के विषय में तो आ गया था। अब, अन्दर स्थिरता में अन्दर गये। आहाहा! तो मान का नाश हो गया - ऐसी बात है भाई!

और अब **माया....** थोड़ा कपट भी होता है, समकिती को भी, आहाहा! अनुभवी को भी, ज्ञानी को भी थोड़ा कपट तो है। कपट कहो या दु:ख कहो। कषाय है न? कष अर्थात् संसार और आय अर्थात् दु:ख का लाभ। आहाहा! आहाहा! माया, **लोभ....** इच्छा होती है न वृत्ति में? अनुभव होने पर भी, सम्यग्दर्शन होने पर भी अनुभवी को राग की इच्छा - लोभ की इच्छा होती है, उसको स्वभाव का — निर्ग्रन्थस्वभाव जो भगवान आत्मा, उसका आश्रय लेकर लोभ का नाश कर देना — यह तीसरे प्रकार की ऊँची स्तुति है। अरे! अब ऐसा कहाँ याद रहे इसमें? आहाहा! **कर्म....** आठ कर्म। अभी समकिती को भी आठ कर्म हैं या नहीं? हैं? निमित्तरूप से कर्म है और उस ओर के झुकाव से जरा कमजोरी से विकार भी होता है; कर्म से नहीं, कर्म की ओर के झुकाव से। उसे अपने सन्मुख झुकाव करके, उस झुकाव का नाश कर देना। आहाहा! समझ में आया?

नोकर्म, मन, वचन, काय,.... देव-शास्त्र-गुरु, यह सब नोकर्म हैं। आहाहा! अनुभवी-समकिती को भी, नोकर्म के सम्बन्ध में जाते हैं तो वह भाव्य / विकारदशा होती है, दु:ख होता है; उसे अपने स्वभाव का अनुसरण करके दु:ख की उत्पत्ति नहीं होना, दु:ख का नाश करना, यह आत्मा की तीसरे प्रकार की स्तुति है। ऐसी स्तुति! यह तो भगवान को ऐसा कहे — हे भगवान! शिवपथ हमको देना रे, शिवमारग। भगवान कहते हैं शिवमारग तेरे पास है; मेरे पास तेरा मार्ग नहीं है। आहाहा! विकल्प आता है — ज्ञानी को भी समकिती को भी अनुभवियों को भी भगवान की भक्ति का राग आता है, परन्तु है दु:ख। आहाहा! समझ में आया? दु:ख क्यों आता है? कि कमजोरी से आता है परन्तु जानते हैं कि यह दु:ख है; मेरे आनन्द की चीज से विपरीत है। आहाहा! ऐसा धर्म!

ऐसे **मन, वचन, काय,....** मन, वचन, और काया की ओर का जरा सम्बन्ध है; बिल्कुल सम्बन्ध छूट गया हो तो सिद्ध हो जाये। आहाहा! मन, वचन, काया जो जड़ है, उसका अभी सम्बन्ध थोड़ा है, उसे स्वभाव का अनुसरण करके इतना सम्बन्ध तोड़ देना — नाश कर देना, यह तीसरी स्तुति है। आहाहा! **श्रोत्र,....** इन्द्रिय का भी सम्बन्ध है। अभी श्रवण करने का इतना सम्बन्ध है, इतना अभी दोष है। आहाहा! इस अन्तर के भगवान को भावेन्द्रिय से रहित, द्रव्येन्द्रिय से रहित, परइन्द्रिय से रहित-पर अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र और कुटुम्ब-परिवार — ऐसा भगवान का, भगवानस्वरूप में जाकर उसका — तीक्ष्ण चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन लेकर, उसका नाश करना। दूसरा कोई उपाय है नहीं। मालचन्दजी! ७७ वर्ष में वहाँ कहीं सुना नहीं होगा, है नहीं न वहाँ? कठिन काम बापू, बहुत काम... भाई!

अनुभव होने के बाद भी दुःख होता है — ऐसा कहते हैं। दुःख न हो तो पूर्ण आनन्द होना चाहिए। आहाहा! समकिती-ज्ञानी-अनुभवी जानते हैं कि मेरी पर्याय में दुःख है। मैं दुःख वेदता हूँ और उस दुःख का भोक्ता मैं हूँ। आहाहा! परन्तु अपने आनन्द का उग्र भोक्ता होकर, उस दुःख का भोक्ता का नाश कर देता है। समझ में आया? अब ऐसी बातें! घर से बहिनें सुनने न आवें और वे पूछें — क्या कहते थे कौन जाने - ऐसा कहते थे। तुम यह तो सुनो तो पता पड़े ऐसा मार्ग है प्रभु! क्या कहें? अलौकिक बातें बापू! आहाहा! लोकोत्तर! यह आयेगा यहाँ। शरीर और आत्मा एक, यह तो लोकाचार से कहा जाता है, यह श्लोक आता है न फिर। यह लौकिक से कहा जाता है। आहाहा! बाद में यह आयेगा।

यहाँ तो पाँच इन्द्रियाँ **श्रोत्र, चक्षु,....** अब, **चक्षु,...** चक्षु इन्द्रिय के सम्बन्ध में भी जब तक है, वह इतना भाव्य दोष है। आहाहा! उस दोष को - दुःख को भगवान का दर्शन करने में चक्षु इन्द्रिय का निमित्त है न बीच में? इतना सम्बन्ध हुआ न? और राग आया तो दुःख है। 'राग आग दाह दहै सदा, तातैं समामृत सैविये' आहाहा! अन्तर आनन्द का नाथ समभावी अमृत पड़ा है। आहाहा! जैसे पानी में डुबकी मारकर स्नान करते हैं, आहाहा! वैसे ही आनन्द के नाथ में अन्दर डुबकी मारकर.... आहाहा! डूबकी कहते हैं न?

श्रोता : डूबकी

पूज्य गुरुदेवश्री : हिन्दी-हिन्दी। हमारे उमराला में, उमराला जन्म गाँव है न ? बड़ी नदी है, कालूभार बड़ी (नदी है) तो एक कुँआ था, नदी में। हम तो बालक थे छोटी उम्र, १०-१२ वर्ष (की उम्र) देखने जाते थे तो जवान आदमी अन्दर पड़ते थे। उसे उभोकोसियो कहते हैं, जैसे कोश होता है न लोहे का। वैसे पानी में अन्दर सीधे पड़ते थे, पानी में-कुएँ में और जाकर नीचे से-तल से बालू-बालू बालू (रेत) लेकर अभी बाहर नहीं निकल सके परन्तु हाथ बाहर निकालते हैं कि देखो मैं तल में से रेत ले आया। कुएँ में - तल में जाकर हाथ ऊँचा करते हैं। देखा है, सब नजर से अभी दिखता है। इसी प्रकार यहाँ भगवान आत्मा चैतन्य सागर आनन्द का नाथ सागर, उसके तल में जाकर आनन्द की दशा का नमूना बाहर लाना - ऐसी बातें हैं।

यह **घ्राण,....** इतना जरा घ्राण इन्द्रिय का सम्बन्ध है न ? अत्यन्त अनीन्द्रिय न हो, तब तक घ्राण इन्द्रिय का सम्बन्ध है, इतना भाव्य / दोष उत्पन्न होता है, उसे अपने स्वभाव के अनुसार करके नाश करना। इसी प्रकार **रसन,....** आहाहा ! यह रसन का दृष्टान्त दिया था, परसों नहीं ? आहाहा !

भगवान तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव जब तक संसार में हैं — शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ — छह खण्ड, छियानवें हजार स्त्री और छियानवें करोड़ सैनिक, अड़तालीस हजार नगर, बहत्तर हजार.... अड़तालीस हजार पाटन, और उनका आहार बत्तीस ग्रास का, एक ग्रास अरबों की कीमत.... जिसका एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिक पचा नहीं सकें, वह समकिती-ज्ञानी-क्षायिक समकिती, तीन ज्ञान का धनी — मति, श्रुत, अवधि (का धनी), उसे खाने का भाव आता है। भाव है, वह दु:ख है - राग है। समझ में आया ? तीर्थंकर को.... आहाहा ! दुनिया को तो ऐसा लगता है ऐसा होगा ! भाई ! सुन तो सही ! वह पुण्यवन्त प्राणी है। अकेली हीरा की भस्म, पन्ना की भस्म... पन्ना आता है न पन्ना, नीला ! अपने पूनमचन्दजी हैं न ? एक पन्ना साफ करने की एक मशीन का (छह हजार) एक मुसलमान; ऐसे तो बहुत, उस पन्ने की भस्म करते हैं। आहाहा ! यहाँ तो अभी अधिक खीर खा ली जाये तो पचे नहीं। मैसूब... मैसूब — एक सेर चने के आटे में चार सेर घी (से) मैसूब (पाक) होता है न ! मैसूबपाक ! एक टुकड़ा पाव सेर-डेढ़ पाव सेर का पचता नहीं। आहाहा ! वह यह बत्तीस ग्रास... आहाहा ! विकल्प आता है। आहाहा !

विकल्प आता है — समकिती / क्षायिक समकिती, तीर्थंकर भगवान को भी इतना दुःख है। आहाहा! अनुभवी को भी दुःख है। आहाहा!

श्रोता : उसका अभाव कब होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस अन्तर में स्वभाव का साधन होकर जाये तब। यह बात तो चलती है। आहाहा! अनाहारी पद अन्दर प्रगट हुआ, तब आहार लेने का विकल्प नाश हो गया। फिर भगवान को आहार नहीं, केवली को आहार नहीं। समझ में आया ? श्वेताम्बर में कहते हैं, आहार लेते हैं — सब झूठ बात है। सर्वज्ञ परमात्मा जहाँ आत्मा अनाहारी स्वरूप है — ऐसी अनाहारी दशा प्रगट हो गयी; आहार नहीं, पानी नहीं, दवा नहीं, औषध नहीं, शरीर में रोग नहीं। आहाहा! परन्तु जब तक (पूर्ण) वीतरागता और अनाहारी पद प्रगट नहीं था, तब तक मुनिपद में भी, भगवान तीर्थंकर को भी मुनिपद में आहार की वृत्ति उठती थी। आहाहा! वह दुःख था। आहाहा! तो उसको जीतते हैं, उसको अपने स्वभाव का आश्रय करके नाश कर देते हैं – ऐसी बात है। **इन पदों को रखकर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना....** अमृतचन्द्राचार्य का इतना शब्द है। **और इस प्रकार के उपदेश से अन्य भी विचार लेना।** और जयसेनाचार्य की टीका में, इससे असंख्य विभाव का विचार करना, असंख्य प्रकार का (विभाव)। संस्कृत में है। समकिती को भी, अनुभवियों को भी आहाहा! असंख्य प्रकार के विभावरूपी दुःखदशा उत्पन्न होती है। आहाहा! तो उसको स्वभाव का आश्रय लेकर, उसका नाश करना — ऐसा व्याख्यान करना। आहाहा!

भावार्थ : साधु.... यहाँ साधु की बात पहले ली है। जिन-जितेन्द्रिय लिया न ? छठे गुणस्थान में साधु **पहले अपने बल से उपशमभाव के द्वारा....** समकित दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र भी है परन्तु अभी अस्थिरता का भाव है। मुनि को भी प्रमादभाव जो पंच महाव्रत का विकल्प है, वह भी जगपंथ-संसारपंथ-उदयपंथ है, उदयभाव है, दुःखरूप भाव है। आहाहा! उसको **अपने बल से उपशमभाव के द्वारा मोह को जीतकर,... दबाकर, फिर जब अपनी महा सामर्थ्य....** के बल से **मोह को सत्ता में से नष्ट करके....** आहाहा! महा सामर्थ्य पुरुषार्थ की उग्रता से अन्दर में जाने पर... आहाहा! सत्ता में से राग आदि यह जो सोलह पद कहे हैं अथवा असंख्य प्रकार का विभाव, उसको सत्ता

में से नाश करके **ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं....** भगवान अकेला ज्ञानस्वरूप है, जलहल ज्योति केवलज्ञान भगवान प्रगट होता है। आहाहा! अरिहन्त दशा — णमो अरिहन्ताणं कहते हैं। आहाहा! जिन्होंने अरि अर्थात् राग और द्वेषरूपी वैरी — अरि हन्त - णमो अरिहन्ताणं — जिन्होंने अरि का हनन किया।

श्रोता : अरिहन्त के धर्म में फिर हनन करने का आये?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ पर को कहाँ हनना है? यह तो उपदेश के वाक्य हैं। हनना भी नहीं है; वास्तव में तो स्वभाव के सन्मुख जाते हैं तो (राग-द्वेष) उत्पन्न नहीं होता तो हनन किया — ऐसा कहने में आता है - ऐसी बातें हैं। उन्हें हनन करना, तब तो अभी दृष्टि पर्याय पर रही है — ऐसा मार्ग बहुत... बापू! सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर का मोक्ष का पन्थ अलौकिक है! कहीं दुनिया के साथ मेल नहीं हो सकता। आहाहा! **(तब वे क्षीणमोह जिन कहलाते हैं।)**

कलश - २७

अब, यहाँ इस निश्चय-व्यवहाररूप स्तुति के अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥२७॥

श्लोकार्थ : [कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं] शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकत्व है [तु पुनः] किन्तु [निश्चयात् न] निश्चयनय से नहीं है; [वपुषः स्तुत्या नुः स्तोत्रं व्यवहारतः अस्ति] इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुष का स्तवन

व्यवहारनय से हुआ कहलाता है, [तत्त्वतः तत् न] निश्चयनय से नहीं; [निश्चयतः] निश्चय से तो [चित्स्तुत्या एव] चैतन्य के स्तवन से ही [चितः स्तोत्रं भवति] चैतन्य का स्तवन होता है। [सा एवं भवेत्] उस चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह - इत्यादिरूप से कहा वैसा है। [अतः तीर्थकरस्तवोत्तरबलात्] अज्ञानी ने तीर्थंकर के स्तवन का जो प्रश्न किया था उसका इस प्रकार नयविभाग से उत्तर दिया है; जिसके बल से यह सिद्ध हुआ कि [आत्म-अंगयोः एकत्वं न] आत्मा और शरीर में निश्चय से एकत्व नहीं है।

कलश - २७ पर प्रवचन

अब, यहाँ इस निश्चय-व्यवहाररूप स्तुति के अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥२७॥

आहाहा! '**कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं**' भगवान आत्मा और शरीर दोनों को व्यवहार अर्थात् लोक शब्द से लौकिक... द्रव्यसंग्रह में आया था न भाई? द्रव्यसंग्रह में। व्यवहारनय अर्थात् लौकिक कथन। वही इन्होंने यहाँ लिखा है। व्यवहार अर्थात् लौकिक कथन। प्रभु! द्रव्यसंग्रह में लिखा है...

शरीर और भगवान प्रभु भिन्न अन्दर अरूपी आनन्दघन और यह शरीर मिट्टी-पिण्ड, धूल, दोनों को **व्यवहारनय से एकत्व** कथनमात्र से है। लोकरूढ़ि से कहा जाता है। समझ में आया? **किन्तु निश्चयनय से नहीं है;....** यथार्थस्वभाव की दृष्टि से ये दोनों एक नहीं, अत्यन्त भिन्न हैं। राग और आत्मा भिन्न है तो देह की तो क्या बात करना? आहाहा! समझ में आया? '**वपुषः स्तुत्या नुः स्तोत्रं व्यवहारतः अस्ति**' **इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहलाता है,....** यह तो

कथनमात्र है। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। **'तत्त्वतः तत् न' निश्चयनय से नहीं;....** तत्त्व से नहीं शरीर और आत्मा की स्तुति एक वह तत्त्व से एक नहीं, कथनमात्र से-व्यवहार से कहा जाता है। आहा! यह गाँव मेरा, शरीर मेरा, राजकोट मेरा - यह तो कथनमात्र है। राजकोट कहाँ तेरा है ? आहाहा! समझ में आया ? इसी प्रकार शरीर और आत्मा एक है यह तो कथनमात्र है। व्यवहार / लौकिक रूढ़ी का कथन है। **'तत्त्वतः तत् न' निश्चयनय से नहीं; निश्चय से तो 'चित्स्तुत्या एव' चैतन्य के स्तवन से ही....** इस अर्थ में राजमलजी ने लिया है, भाई! चैतन्य के स्तवन में बारम्बार कहना कि भगवान पूर्णानन्द शुद्ध आत्मा चैतन्य है - ऐसा कहना, ऐसा स्मरण करना, इसका अनुभव करना, यह स्तुति-तीन बोल लिये हैं। आहाहा! चैतन्य का स्वामी, यह समझे **'चित्स्तुत्या'** — स्तवन के तीन भेद कहे न....

विशेष आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९६ श्लोक २७-२८ दिनाङ्क ३०-०९-१९७८ शनिवार
भाद्र कृष्ण १३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, २७ वाँ कलश है न ? फिर से - **'कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं'** काया शब्द से (आशय) शरीर, कर्म, राग-द्वेष आदि परिणाम, ये सब काया / शरीर में जाते हैं। समझ में आया ? फिर शब्द है **'आत्म-अंगयोः'** अन्तिम शब्द है न ? आत्म अंगयो — अंग शब्द से कलश टीका में कर्म की उपाधि ली है। एक ओर भगवान आत्मा तथा एक ओर शरीर, कर्म, कर्म की उपाधि अर्थात् पुण्य और पाप के भाव, कर्म, अंग काया शरीर में चले जाते हैं। यहाँ अन्दर में है **'कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं' शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकत्व....** कथनमात्र से, आहाहा! लोक रूढ़ि से, लोक में कहते हैं — इस अपेक्षा से कहा जाता है। **'निश्चयात् न' निश्चयनय से नहीं है;....** है ? भगवान आनन्दस्वरूप ज्ञायक, जिसका शरीर है — ज्ञायक ही जिसका शरीर है। आहाहा! वह और पुण्य तथा पाप के भाव ये सब काया / शरीर में जाते हैं (अन्तरगर्भित हैं)। एक ओर आत्माराम और एक ओर रागादि गाँव। आहाहा! **शरीर और आत्मा के व्यवहारनय**

से एकत्व है, किन्तु निश्चयनय से नहीं है; 'वपुषः स्तुत्या नुः स्तोत्रं व्यवहारतः अस्ति' इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुष का स्तवन.... आत्मा / पुरुष-भगवान का स्तवन **व्यवहारनय से हुआ कहलाता है,....** व्यवहारनय से... आहाहा! **'तत्त्वतः तत् न'** तत्त्व से वह नहीं। आहाहा! **निश्चयनय से नहीं; निश्चय से तो 'चित्स्तुत्या एव' चैतन्य के स्तवन से ही....** आहाहा! चैतन्य का स्तवन का अर्थ? चैतन्य के.... तीन बोल लिए, लेते हैं। चैतन्य के स्तवन से ही **'चितः स्तोत्रं भवति' चैतन्य का स्तवन होता है।** वह चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय आया, देखो! आहाहा! चैतन्य भगवान का स्तवन जितेन्द्रिय, राग, द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और शरीर आदि में देव-गुरु-शास्त्र आदि सब। आहाहा! एक ओर भगवान आत्मा और एक ओर राग से (लेकर) सब चीजें। आहाहा! उनको भिन्न करना, ज्ञान लक्षण से आत्मा का अनुभव करना, वह जितेन्द्रिय-चैतन्य की प्रथम स्तुति कही जाती है। आहाहा! ऐसी बात है।

दूसरी जितमोह, है? अपने आ गया है। ऐसा जितेन्द्रिय होने पर भी, सम्यग्दृष्टि हुआ, मुनिपना हुआ, आनन्द की धारा प्रगट हुई, तथापि अभी कर्म का जो उदय है, उस ओर का झुकाव भाव्य-विकारदशा ज्ञानी को भी होती है। आहाहा! राग-द्वेष आदि, ज्ञानी को - समकिती को - अनुभवी को, वह रागादिभाव, कर्म के अनुसरण... पूर्ण अनुसरण नहीं किया तथा भगवान का पूर्ण अनुसरण नहीं किया.... क्या कहा? यदि कर्म का पूर्ण अनुसरण हो, तब तो एकत्वबुद्धि पर में चले जाये। और आत्मा में पूर्ण अनुसरण हो तो पूर्ण वीतरागता हो जाये। आहाहा! अतः जब तक आत्मा ने अपना स्वरूप — राग-द्वेष, पुण्य-पाप और शरीर वाणी से, देव-गुरु से भिन्न — ज्ञानस्वरूपी प्रभु, राग से भिन्न का अनुभव हो तो वह चैतन्य का स्वीकार और स्तुति की, सत्कार किया। यह पहले नम्बर की, पहले प्रकार की स्तुति है। आहाहा! बाद में भी समकिती — अनुभवी को भी, कर्म के उदय का अनुसरण सर्वथा गया नहीं; सर्वथा गया हो तो सर्वथा आत्मा का आश्रय ले लिया हो, सर्वथा गया नहीं; इसलिए कर्म के निमित्त के लक्ष्य में राग-द्वेष दुःख आदि की दशा ज्ञानी को भी, समकिती को भी, अनुभवियों को भी, मुनियों को भी होती है। उसको अपने स्वभाव का उग्र अनुसरण करके उस रागादि-क्रोधादि को दबा देना, वह दूसरे प्रकार की स्तुति है।

यह चैतन्यस्तुति आया न, देखो, है? '**चित्स्तुत्या एव**' इसकी व्याख्या है। आहाहा! यह जितमोह, बाद में क्षीणमोह। अभी रागादि को उपशम कर दिया। अनुभवी जीव (ने) स्वभाव का आश्रय लेकर (उपशम कर दिया) परन्तु अभी उनका क्षय नहीं किया। अतः सत्ता में जो रागादि हैं, उनको स्वभाव का उग्र आश्रय लेकर राग की धारा का नाश करना और स्वभाव का उग्र आश्रय लेना, वह तीसरे प्रकार की ऊँची स्तुति है। समझ में आया? ऐसी कठिन बातें हैं। यह कहा न? '**सा एवं भवेत्**' सा अर्थात् वह स्तुति, **चैतन्य का स्तवन यहाँ 'एवं भवेत्' जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह इत्यादि रूप से कहा वैसा है।....** इत्यादि नाम, बाद में भी अनेक प्रकार के विकल्प आदि हैं। यहाँ धर्मी को असंख्य प्रकार के (विकल्प आदि हैं), अपने स्वभाव का अनुसरण करके उन्हें नाश करना, यह आत्मा के स्वभाव की प्रशंसा कहो, स्तुति कहो, अन्तर में उग्र एकाग्रता कहो। ऐसी बात है। वापस इत्यादि कहा न?

टीका में आया था न? सोलह सूत्र — पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, और काया इत्यादि का और इनके अतिरिक्त भी अन्य असंख्य प्रकार का विभाव - जयसेनाचार्य में है। अमृतचन्द्राचार्य में — उपदेश से अन्य भी विचार कर लेना इतना। आहाहा!

थोड़े में कितना समाहित कर दिया है, आहाहा! भगवान पूर्णानन्द के नाथ का दृष्टि में स्वीकार करना, अनुभव करना, वह आत्मा की स्तुति कही जाती है। आहाहा! उस स्तुति के तीन प्रकार लिये हैं न? जितेन्द्रिय, जितमोह, और क्षीणमोह इत्यादिरूप से कहा जाता है। '**अतः तीर्थंकरस्तवोत्तरबलात्**' **अज्ञानी ने तीर्थंकर के स्तवन का जो प्रश्न किया था....** कि तीर्थंकर का स्तवन करते हो तो शरीर का स्तवन करते हो, उनके अतिशय का करते हो, वह तो आत्मा है ऐसा हम मानते हैं। हम भी तीर्थंकर के शरीर, वाणी, ऐसे हैं, तुम्हारी वाणी ऐसी है, तुम ऐसे हो... **अज्ञानी ने तीर्थंकर के स्तवन का जो प्रश्न किया था उसका इस प्रकार नयविभाग से उत्तर दिया है;....** जो नयविभाग कहा था, वह व्यवहारनय से कहा था; परमार्थनय से नहीं। ऐसे नय के बंटवारे से — विभाग से यहाँ कहा था। आहाहा! अरे, आहा! ऐसा उत्तर दिया, है? **जिसके बल से यह सिद्ध हुआ कि 'आत्म-अंगयोः एकत्वं न'.....** पहले ऐसा लिया था '**कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं**'

— वह तो कथनमात्र से कहा था। समझ में आया ? यहाँ '**आत्म-अंगयोः एकत्वं न**' भगवान आत्मा आनन्द ज्ञायकस्वरूप और '**अंगयोः**' अर्थात् कर्म, शरीर और कर्म की उपाधि से अपने में उत्पन्न हुआ विकार। आहाहा! वह भिन्नः — निश्चय से दोनों का एकत्व नहीं है। समझ में आया ? आत्मा, आत्मा है न ? '**आत्म-अंगयोः**' अंगयो अर्थात् शरीर, आदि अर्थात् कर्म की उपाधि, कर्म, शरीर, और उसके निमित्त के अवलम्बन के आश्रय से जो विकार होता है, वह सब अंग में जाता है। आहाहा! है ? आत्मा से भिन्न अंग में जाता है। शरीर, शरीर... आहाहा! विकारीभाव है वह भी वास्तव में कार्मणशरीर है। भिन्न करना है न ? कर्म और निमित्त के अनुसरण से हुआ विकार, उस सबको शरीर और कर्म की उपाधि कहा गया है। भगवान उससे भिन्न है। आहाहा! ऐसा एकत्व नहीं है। आहाहा!

कलश - २८

अब, फिर इस अर्थ के जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है इस अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यंतमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव॥२८॥

एवमयमनादिमोहसन्ताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यन्तमप्रतिबुद्धोऽपि प्रसभोज्जृम्भिततत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसितिप्रतिबुद्धः (?) साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्माराम-स्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्यः-

श्लोकार्थ : [परिचित तत्त्वैः] जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को परिचयरूप

किया है ऐसे मुनियों ने [आत्म-काय-एकतायां] जब आत्मा और शरीर के एकत्व को [इति नय-विभजन-युक्त्या] इस प्रकार नयविभाग की युक्ति के द्वारा [अत्यन्तम् उच्छादितायाम्] जड़मूल से उखाड़ फेंका है — उसका अत्यन्त निषेध किया है, तब अपने [स्व-पर-रभस-कृष्टः प्रस्फुटन् एकः एव] निजरस के वेग से आकृष्ट हुए प्रगट होनेवाले एक स्वरूप होकर [कस्य] किस पुरुष को वह [बोधः] ज्ञान [अद्य एव] तत्काल ही [बोधं] यथार्थपने को [न अवतरित] प्राप्त न होगा ? अवश्य ही होगा।

भावार्थ : निश्चय-व्यवहारनय के विभाग से आत्मा और पर का अत्यन्त भेद बताया है; उसे जानकर, ऐसा कौन पुरुष है जिसे भेदज्ञान न हो ? होता ही है; क्योंकि जब ज्ञान अपने स्वरस से स्वयं अपने स्वरूप को जानता है, तब अवश्य ही ज्ञान अपने आत्मा को पर से भिन्न ही बतलाता है। कोई दीर्घ संसारी ही हो तो उसकी यहाँ कोई बात नहीं है ॥२८॥

इस प्रकार, अप्रतिबुद्ध ने जो यह कहा था कि — 'हमारा तो यह निश्चय है कि शरीर ही आत्मा है' उसका निराकरण किया।

इस प्रकार यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोह के सन्तान से निरूपित आत्मा और शरीर के एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, वह अब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति के प्रगट उदय होने से नेत्र के विकार की भाँति (जैसे किसी पुरुष की आँखों में विकार था तब उसे वर्णादिक अन्यथा दीखते थे और जब नेत्र विकार दूर हो गया तब वे ज्यों के त्यों-यथार्थ दिखायी देने लगे, इसी प्रकार) पटल समान आवरण कर्मों के भलीभाँति उघड़ जाने से प्रतिबुद्ध हो गया और साक्षात् द्रष्टा आपको अपने से ही जानकर तथा श्रद्धान करके उसी का आचरण करने का इच्छुक होता हुआ पूछता है कि 'इस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है ?' उसको आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि —

कलश - २८ पर प्रवचन

अब, फिर इस अर्थ के जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है.... यह जानने से आत्मा का अनुभव होता है। आहाहा! **इस अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं —**

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यंतमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव॥२८॥

२८! सन्तों की वाणी! कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। आहाहा! '**परिचित तत्त्वैः**' **जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को परिचयरूप किया है — ऐसे मुनियों....** अथवा सर्वज्ञों, 'परिचित' जिन्होंने तत्त्व का परिचय बहुत किया है — सर्वज्ञपना प्रगट हुआ है, अथवा मुनियों ने-भावलिंगी सन्त, जिन्होंने तत्त्व — आनन्द के नाथ भगवान का परिचय बहुत किया। आहाहा! समझ में आया? '**परिचित तत्त्वैः**' जिन्होंने वस्तु के.... तत्त्व अर्थात् वस्तु; परिचित अर्थात् स्वरूप का परिचय किया। आत्मा वस्तु शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द का जिनने 'परिचित'-समस्त प्रकार से परिचय किया तो सर्वज्ञ हुआ परन्तु उसकी निचली दशा में भी परिचय किया। आहाहा! तो मुनि हुआ। ऐसी बातें हैं! भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु का एकदम पूर्ण परिचय किया तो सर्वज्ञ हुआ और उसका सर्वज्ञ के अतिरिक्त अपनी योग्यता से जो अपना पूर्ण परिचय किया तो मुनिदशा हुई। आहाहा! कर्म का इतना परिचय छूट गया। समझ में आया? यह ऐसा कठिन मार्ग है बापू!

अरे! अनन्त काल से दुःख में जल रहा है, दुःख से जल गया है। कषाय की अग्नि से इसकी शान्ति जल गयी है, पर्याय में, हों! वस्तु तो है वह है, आहाहा! यह कषाय अग्नि से जला हुआ... आगे कहेंगे इसमें। '**नय-विभजन-युक्त्या आत्म एकताया**' आहाहा! उसमें - कलश टीका में ऐसा लिखा है भाई! कि भगवान आत्मा, राग और पुण्य व शरीर आदि के एकत्व से मरण को प्राप्त हो रहा है। आहाहा! कलश-टीका में उसका ऐसा अर्थ किया है। कलश-टीका है न? राजमलजी की, कितने में है? २८ वाँ कलश! आहा!

देखो, '**उच्छादितायाम्**' है न? आया न? '**नय-विभजन-युक्त्या**' जड़-मूल से उखाड़ फैंका है। है न? जड़-मूल से उखाड़ फैंका है - उसका अर्थ यहाँ किया है — जिस प्रकार ढँकी निधि को प्रगट करते हैं, उसी प्रकार जीवद्रव्य प्रगट ही है.. अन्दर भगवान प्रगट चैतन्य जलहल ज्योति (है) परन्तु कर्म संयोग से ढँका हुआ होने से राग

और पुण्य-पाप के भाव में ढँक गया। आहाहा! मरण को प्राप्त हो रहा था, मानो है ही नहीं। आहाहा! आहाहा! मानो कि शरीर और पुण्य-पाप और भाव वे ही हैं। आहाहा! ऐसे अस्तित्व में भगवान का पूर्ण अस्तित्व मरणतुल्य हो गया। बालचन्दजी! आहाहा! श्रीमद् में भी आता है न? सोलह वर्ष की उम्र (में) 'तू क्यों क्षण-क्षण भयंकर भावमरण प्रवाह में चकचूर है' श्रीमद् राजचन्द्र - सोलह वर्ष की उम्र में (लिखा है)। समकित तो बाद में पाया। इससे पहले देह के सोलह वर्ष, देह के न? आत्मा तो अनादि अनन्त है। वे ऐसा कहते हैं। 'बहु पुण्य पुंज प्रसंग से शुभदेह मानव का मिला तो भी अरे भवचक्र का फेरा नहीं एक ही टला' आहाहा! चौरासी के अवतार किये प्रभु! परन्तु यह मनुष्य का भव पाया और फेरा नहीं मिटाया।

'सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते, सुख जाता दूर है' पुण्य में सुख है, स्त्री में सुख है, इज्जत में सुख है, धूल में सुख है, बाहर में सुख है। सुख प्राप्त करने जाने पर सुख दूर होता है। भगवान आनन्द का नाश होता है, वहाँ 'तू क्यों क्षण-क्षण भयंकर भाव-मरण, प्रवाह में चकचूर है' फिर तो विशेष कहा है —

'लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये।
परिवार और कुटुम्ब है क्या? वृद्धिनय पर तोलिये॥
संसार का बढ़ना अरे! नर देह की यह हार है।
नहिं एक क्षण तुझको अरे! इसका विवेक विचार है॥'

आहाहा! सोलह वर्ष में, बालचन्दजी! (यह लिखा था।) बहुत क्षयोपशम लेकर पूर्वभव में से आये थे। आहाहा! यह कहते हैं कि प्रतिक्षण भयंकर भाव-मरण... प्रभु! यह पुण्य और पाप और इनके फल को अपना मानकर प्रतिक्षण तेरा भयंकर भावमरण हो रहा है; द्रव्यमरण तो जब शरीर छूटेगा तब होगा। आहाहा! जीवित ज्योत प्रभु अन्दर चैतन्यस्वरूप भगवान, उसके अस्तित्व की मान्यता (नहीं) स्वभाव का स्वीकार नहीं और यह रागादिक - पुण्यादिक फल आया यह पैसा-धूल, स्त्री, कुटुम्ब परिवार, उसका तुझे माहात्म्य... आहाहा! तेरे स्वरूप का भावमरण हुआ है, क्षण-क्षण में मृत्यु होती है प्रभु! आहाहा! 'तू क्यों क्षण-क्षण भयंकर भाव-मरण, प्रवाह में चकचूर है', यह राग और राग

के पुण्य-बन्धन और इनका फल संयोग, इसके प्रेम में प्रभु तू कहाँ रचपच रहा है, भाई! आहाहा! तेरी जीवित ज्योति चैतन्य का तू अनादर करके और मरणतुल्य कर दिया। सुमेरुमलजी! आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं **'उच्छादितायाम् अत्यन्तम्' जड़मूल से उखाड़ फेंका है....** उसके अर्थ में लिया है यहाँ। समझे? अत्यन्त निषेध किया था, किया है। क्या? राग और शरीर और पुण्य का फल मेरा है — ऐसी तेरी मान्यता में तेरा मरण हुआ था प्रभु! तेरी जीवित ज्योति का तूने तिरस्कार किया था। यह मैं हूँ, पुण्यवन्त हूँ, पापी हूँ, और शरीरवाला हूँ, स्त्री-परिवारवाला हूँ, बड़ी इज्जतवाला हूँ, लक्ष्मी, अधिकार बढ़ा, पचास-पचास हजार का वेतन महीने मासिक कितना बढ़ा,.... क्या बड़ा प्रभु! व्यापार में एकदम पाँच लाख की आमदनी, मासिक बढ़ गयी, बढ़ा गया? क्या बढ़ गया प्रभु! वह तो संसार बढ़ा है तेरा। यहाँ कहते हैं **'अत्यन्तम् उच्छादितायाम्'** भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, ज्ञानलक्ष्मी का भण्डार, आनन्दलक्ष्मी का भण्डार, उसे राग और शरीरादि से भिन्न निश्चयनय से कर दिया। **'उच्छादितायाम्'** जड़मूल से उखाड़ दिया। तेरे साथ राग का सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है। यह जो मरणतुल्य हुआ था... आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति महाप्रभु अपने चैतन्यस्वभाव से जीवित्त ज्योति से अन्दर जीता था, जीवत्वशक्ति आती है न पहली? ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि सत्ता से जीवित वह जीवन है, उसका जीवन। उस जीवन को न स्वीकार कर, बाहर के पुण्य और पाप के भाव और उनका फल बन्ध और उनका फल संयोग, उनके माहात्म्य में, प्रभु! तेरी चीज तो मरणतुल्य हो गयी। आहाहा! वह **'उच्छादितायाम्'** उसको छेद कर दिया। वह चीज तेरी नहीं। तू जिसको अपना जीवन मानता है, पुण्य से और पाप से और शरीर से, वह तेरा जीवन नहीं है, नाथ! प्रभु! तू भिन्न है न नाथ! आहाहा! इस रागादिकभाव को तो जड़मूल से उखाड़ दिया, मूल में से उखाड़ दिया। फिर उत्पन्न न हो - ऐसा उखाड़ दिया - ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि **उसका अत्यन्त निषेध किया है,....** आहाहा! **तब... तब अपने 'स्व-पर-रभस-कृष्टः प्रस्फुटन् एकः एव' निजरस के वेग से....** आहाहा! राग

के रस के वेग में जो तुम चले जा रहे थे, तब तेरी चीज मृत्यु को प्राप्त होती थी, तो तुमको बता दिया प्रभु! वह तेरी चीज नहीं, तुझमें नहीं; तू उससे भिन्न है। अतः ऐसे अन्तररस – **निजरस के वेग से आकृष्ट....** आहाहा! अपने आनन्दरस के वेग से **आकृष्ट हुए प्रगट होनेवाले एक स्वरूप होकर....** भगवान आत्मा! अनेकपने को अपना मानता था, उसे छोड़कर, अपना भेद बता दिया कि तुम यह नहीं तो एकरस से प्रगट होनेवाला आत्मा, आहाहा! यहाँ तो आचार्य जरा उलहाना देते हैं। **किस पुरुष को वह ज्ञान तत्काल ही यथार्थपने को प्राप्त न होगा?** अरे! किस आत्मा को ऐसा प्राप्त नहीं होगा? आहाहा!

भगवान! तुझको तेरी चीज बता दी; राग — दया, दान, व्रत, भक्ति, शरीर, कर्म आदि से भिन्न प्रभु! तेरा जीवत्व / जीवन है न अन्दर त्रिकाली, उसे भिन्न बता दिया तुझे। प्रभु! अब तुझको क्यों आत्मज्ञान न हो? आहाहा! रतिभाई! ऐसा मार्ग है। सन्तों की वाणी तो देखो! एक तो यह कि पर से एकत्व तो जड़मूल से उखाड़ दिया, जड़ में से निकाल दिया। आहाहा! अब कभी एकत्व नहीं होता। आहाहा! देखो, जोर तो देखो! कि भाई! समकित पाने के बाद गिर जायेगा, यह चीज यहाँ है ही नहीं। आहाहा! राग और उसका फल बंधन और उसका फल अच्छा संयोग – राग की सामग्री.... राग ग्राम कहा है न भाई! एक जगह कहते हैं, रागग्राम। यह रागग्राम अर्थात् राग और राग का समूह और उसका फल, यह सब रागग्राम। एक और आत्मगाँव और एक ओर रागग्राम। आहाहा!

उसको जड़मूल से निकाल दिया न नाथ! तुझको बता दिया न, तेरी चीज भिन्न है न अन्दर? आहाहा! कोई सम्बन्ध (नहीं है) राग और पर के साथ प्रभु! तेरा द्रव्यस्वभाव, जीवित ज्योति विराजमान है, शाश्वत् तत्त्व, ध्रुव तत्त्व (विराजमान है) आहाहा! तुझको भिन्न बताया है न नाथ! तुझको क्यों ज्ञान नहीं हो? आहाहा! एक तो क्यों ज्ञान न हो और जड़ मूल से निकाल दिया तो यह ज्ञान हो, इसके बाद एकत्वबुद्धि में नहीं आयेगा — ऐसा ज्ञान, प्रभु यहाँ कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! सन्तों ने तो अमृत का झरना बहाया है। आहाहा!

इसको निवृत्ति नहीं मिलती, फुर्सत नहीं मिलती, स्त्री-पुत्र और परिवार में धन्धे में मर गया है पूरे दिन। आहाहा! न हो तो किसी का लेकर फिर वापस उपाधि ओढ़ता है।

श्रोता : गोद लेता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वापिस गोद लेता है। आहाहा! क्या करना है प्रभु तुझे? आहाहा!

यहाँ कहते हैं सुन तो सही प्रभु! तेरी चीज तो सबसे भिन्न है न? भिन्न को तुझे एकत्व करना है? आहाहा! प्रभु कहाँ जाना है तुझे? आचार्य महाराज तो बहुत उल्हाना देते हैं। ठपका (इस गुजराती शब्द को) क्या कहते हैं? उल्हाना, उल्हाना कहते हैं न? उल्हाना... प्रभु! तेरी महासत्ता चैतन्य भगवान पूर्णानन्द प्रभु, रागादि से मूल से छेद करके-विच्छेद करके तुझको बतलाया है न प्रभु! आहाहा! तो किस आत्मा को आत्मज्ञान नहीं होगा? होगा ही – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

यह तो अभी पहले नम्बर की स्तुति का प्रश्न चलता है। समझ में आया? बाद में धर्मी को, ज्ञानी को, अनुभवी को राग तो रहता है परन्तु स्वभाव सन्मुख होकर उस राग को कौन नाश नहीं करेगा? आहाहा! **'एकः एव कस्य बोधः अद्य एव'** है? आज ही। आहाहा! प्रभु! तू अतीन्द्रिय आनन्द के मक्खन का दल पड़ा है न ऐसा! आहाहा! और रागादि आकुलता, यह सब चीज तो भिन्न है। भिन्न है तो भिन्न करके एकत्व स्वभाव को कौन नहीं प्रगट करेगा? आहाहा! समझ में आया? **तत्काल ही यथार्थपने को प्राप्त न होगा? अवश्य ही होगा।** आहाहा! कितनी बात करते हैं? आहाहा!

एक तो ऐसा कहते हैं कि उस विकल्प से... है? आदि (से लेकर) सब चीज, वह तेरी चीज में नहीं है और तू उसमें नहीं है, ऐसा तुझको पर के भाव को मूल में से उच्छेद कर दिया, उखाड़ कर निकाल डाला। आहाहा! गधा होता है न गधा? घास खाता है तो मूल में से उखाड़कर खाता है। गाय है घास खाती है तो ऊपर-ऊपर से खाती है, मूल को नहीं निकालती। इस कारण मुनि को गोचरी कहा है न? घास है (ऊपर से खाते हैं,) मूल सुरक्षित रखते हैं, फिर वापस उग सके।

इसी प्रकार यहाँ गधा शब्द से पण्डित, ज्ञानी, धर्मात्मा – वह गधा! यहाँ धर्मात्मा मूल में से राग का उच्छेद करके अपना अनुभव कौन नहीं करे? ऐसी बात है प्रभु! आहाहा! पश्चात् राग रहेगा,.... यह तो भिन्न बताया इतना.... परन्तु अस्थिरता का राग रहेगा, अस्थिरता का राग वहाँ आयेगा, ज्ञानी को-अनुभवी को भी दुःख होगा, वह भी

उसको भिन्न करके, अन्दर में एकाग्र होकर कौन उसका नाश नहीं करेगा? आहाहा! परन्तु वह भविष्य में नाश करेगा और केवलज्ञान पायेगा — ऐसा कहते हैं। आहाहा! रात्रि को कहा था न, नहीं? समकिती ज्ञानी, धर्मी, अनुभवी जीव को भी, मुनि को भी प्रतिक्रमण, परिहार — ऐसा शुभभाव आता है। सबेरे-शाम प्रतिक्रमण व्यवहार से, भगवान की प्रतिमा का दर्शन, राग से हटने का भाव, यह सब शुभ, यह ज्ञानी को-समकिती को भी आता है। मोक्ष अधिकार में-प्रतिक्रमण, परिहार, परिशरण, निन्दा, गर्हा, यह शुभभाव है तो जहर, आहाहा! समझ में आया? समकिती ज्ञानी-अनुभवियों को भी यह भाव आता है। जब तक वीतराग न हो, तब (तक) यह भाव शाम-सबेरे प्रतिक्रमण का विकल्प, है तो शुभ, है तो जहर, है तो दु:ख; अशुभभाव में तीव्र दु:ख है, शुभभाव में मन्द मगर दु:ख है, परन्तु दु:ख है, अत: उसे रात्रि में कहा था कि उसमें लिखा है कि क्यों उसको जहर-दु:ख कहा? कि वहाँ तो कर्तृत्वबुद्धि है अर्थात् करने योग्य (है ऐसी) बुद्धि वहाँ न लेना परन्तु वहाँ राग का परिणमन है। अभी मुनि को, ज्ञानी को, समकिती को भी राग का परिणमन है। एकत्वबुद्धि गयी, अनुभव हुआ, समकित हुआ — सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हुआ परन्तु सम्यक्चारित्र में कमी है। मुनियों को भी शाम-सबेरे शास्त्र कहे ऐसा व्यवहार प्रतिक्रमण का भाव आता है, है परन्तु है वह जहर का प्याला-विषकुम्भ है, राग है, आकुलता है, दु:ख है, आहाहा! अरे...रे! अत: उसको छोड़कर स्वरूप में-आनन्द में कौन नहीं रहेगा, कहते हैं? मुनि को भी कहते हैं। आहाहा! आनन्द का नाथ भगवान अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु अनाकुल आनन्द का सुखधाम 'स्वयं ज्योति सुखधाम' आनन्द का क्षेत्र है तो उसमें तो अतीन्द्रिय आनन्द पकता है - ऐसी चीज है।

आहाहा! आचार्य ने ऐसा कहा '**स्वरसरभस उग्र कृष्ट**' आहाहा! **आकृष्ट हुए प्रगट होनेवाले एक स्वरूप होकर....** आहाहा! किस आत्मा को ज्ञान तत्काल-आत्मज्ञान तत्काल उस यथार्थपने को प्राप्त नहीं होगा? अवश्य होगा। आहाहा! '**अद्य एव बोध:**' है शब्द? '**अद्य एव बोधं**' आज ही **तत्काल ही....** आहाहा! आहाहा! देखो, यह श्लोक तो देखो श्लोक! आहाहा! जड़मूल से उखाड़कर चैतन्य की भिन्नता का अनुभव किसे नहीं होगा? और फिर भी राग का भाव्य भाव ज्ञानी को होता है, उसको भी छोड़कर स्वभाव का अनुभव करके उसको नाश कौन नहीं करेगा? आहाहा! समझ में आया? मुनि

अपनी भी बात करते हैं। आहाहा! कि हमारे भी अभी जरा राग है, विकल्प आता है परन्तु हमको वह भिन्न अनुभव हुआ और अब उसको भिन्न करके नाश क्यों नहीं करेंगे? आहाहा! भविष्य काल में उसका नाश करूँगा, किन्तु यहाँ तो तत्काल नाश करूँगा – ऐसा लिया है। समझ में आया? 'दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण...' श्रीमद् में आता है — 'दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य समझा जा सकता है, श्वेताम्बर की शिथिलता के कारण रस ठण्डा पड़ जाता है।' श्वेताम्बर की लाईन विपरीत... विपरीतपणा श्रीमद् में आता है। श्रीमद् राजचन्द्र! ऐसी वाणी है सन्तों की। आहाहा!

'परिचित तत्त्वैः' जिन मुनियों ने अपने आनन्दस्वरूप भगवान तत्त्व का परिचय किया है। आहाहा! राग का परिचय छोड़ दिया है, थोड़ा परिचय अस्थिरता का है, उसको न गिनकर, अपना परिचय बहुत किया है, वे सन्त, जगत को जाहिर करते हैं कि हम जब राग और विकल्प से, भगवान निर्विकल्प आनन्दकन्द प्रभु भिन्न है और मूल में से उखाड़ कर राग का विच्छेद कर दिया, तेरी चीज में है ही नहीं, तेरी चीज उससे भिन्न है — तो ऐसा सुनकर, कौन प्राणी ऐसा होगा.... आहाहा! कि अपना आत्मज्ञान नहीं होगा? समझ में आया? झांझरीजी! देखो, यह दिगम्बर वाणी! आहाहा! कहीं है नहीं। श्वेताम्बर में भी यह चीज है नहीं तो अन्यमत में तो क्या कहना? आहाहा! तीन बात ली है — एक तो हमने जब तेरी चीज को काया और अंग अंगयो: आत्मा, आत्मा को अंग, अंग अर्थात् राग आदि सब चीज से जब भेद करके वस्तुस्थिति ऐसी है — ऐसा बताया और वह भी रागादि को मूल में से उखाड़कर नाश कर बताया, एक बात; तो उसको अन्तर में राग से भिन्न आत्मज्ञान का आत्मबोध क्यों नहीं होगा? होगा ही। आहाहा! अर्थकार ने लिखा है। नीचे है न? कोई दीर्घ संसारी हो वह बात यहाँ नहीं लेनी — भावार्थ में लिखा है। आहाहा! **तत्काल ही यथार्थपने को 'बोधं'** अर्थात् आत्मज्ञान, आत्मा का अनुभव.... आहाहा! दोनों का भिन्नपना बतलाया, और भिन्न है तो तेरी एकत्वबुद्धि पर से क्यों नहीं छूटेगी? और स्वरूप की एकत्वबुद्धि क्यों नहीं होगी? तत्काल होगी। आहाहा! ऐसी बातें! सूक्ष्म बहुत बापू! समयसार भरतक्षेत्र में अद्वैतचक्षु, अजोड़ चक्षु! ऐसा शास्त्र, सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा के मुख से निकली हुई वाणी यह है। आहाहा! तेरे माल की मौजूदगी विकार और

विकार के फल की मौजूदगी से भिन्न तुझे बताया न प्रभु! आहाहा! तो वह तत्काल ही, आज ही,... आहाहा!

भावार्थ - निश्चय-व्यवहारनय के विभाग से आत्मा और पर का अत्यन्त भेद बताया है; उसे जानकर, ऐसा कौन पुरुष है, जिसे भेदज्ञान न हो ?.... आहाहा! **होता ही है;....** पंचम काल है, ऐसा है और वैसा है, वह कुछ तुझे रोकता नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! **क्योंकि जब ज्ञान अपने स्वरस से स्वयं अपने स्वरूप को जानता है,....** देखो, यह आया। **'स्व-पर-रभस-कृष्टः'** आत्मा अपने स्वरस से; ज्ञान अर्थात् आत्मा; अपने स्वरस से अपने आनन्द के रस से स्वयं अपने स्वरूप को जानता है, राग के रस से नहीं, अपने आनन्द के रस से अपने को जानता है। आहाहा!

सच्चिदानन्द प्रभु अपना, आहाहा! राग से भिन्न आनन्दरस से अपने जानने में क्यों नहीं आता? आहाहा! अपने स्वरूप को जानता है। आहाहा! ज्ञान / आत्मा अपने स्वरस से, स्वरस से स्वयं पर की अपेक्षा बिना, आहाहा! राग की मन्दता थी तो यहाँ स्वरूप का अनुभव हुआ — यह अपेक्षा नहीं है। आहाहा! जब ज्ञान अपने स्वरस से — राग के रस से प्रभु तेरी चीज भिन्न अन्दर है न? ऐसा कहा तो अपने आनन्दरस से अपने को क्यों नहीं जानता? आहाहा! ऐसा कहकर अपने अनुभव में आनन्द आता है, आनन्द से आत्मा का ज्ञान हुआ। आहाहा! स्वयं अपने स्वरूप को जानता है, **अवश्य ही ज्ञान अपने आत्मा को पर से भिन्न ही बतलाता है।** आहाहा! **कोई दीर्घ संसारी....** वह कुछ नहीं, यहाँ वह बात नहीं, यहाँ वह नहीं। आहाहा!

देखो तो, आहाहा! यह कलश! देखो! जैसे मन्दिर के ऊपर स्वर्ण का कलश चढ़ाते हैं, वैसे यह टीका के ऊपर कलश चढ़ाया। प्रभु! तेरी चीज तो है न नाथ, जीवित ज्योति अपना ज्ञान और आनन्दस्वरूप से जीवितज्योति चैतन्य है। वह राग से जीता है और पर से जीता है — ऐसा नहीं है। अपना स्वरूप जीवन अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता से तेरा जीवन है न? आहाहा! ऐसे जीवन को कौन नहीं पकड़े - ऐसा कहते हैं। आहाहा! अरे! इसमें वाद-विवाद और झगड़ा को अवकाश कहाँ है? समझ में आया?

इस प्रकार, अप्रतिबुद्ध ने... अज्ञानी ने **जो यह कहा था कि — 'हमारा तो यह निश्चय है कि शरीर ही....** रागादि शरीर ही **आत्मा है'....** हमें तो यह रागादि शरीर (ही) आत्मा है। **उसका निराकरण किया।** (क्या कहा) ? उसका निराकरण कर दिया। आहाहा!

इस प्रकार यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोह के सन्तान से.... मोह की सन्तान — पुण्य-पाप, राग-द्वेष आदि (सहित) **निरूपित आत्मा और शरीर के एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था,....** देखो, कोई कहता है कि यह समयसार तो मुनियों के लिए है, यहाँ तो अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था। आहाहा! अरे! एकत्व के संस्कार से राग और शरीर... क्योंकि देखनेवाले ने देखनेवाले को देखा नहीं, जाननेवाले ने जाननेवाले को जाना नहीं, उसे (पर को) जानता है तो उसको यह संस्कार रह गया। राग को जाना, शरीर को जाना, वह मैं हूँ। समझ में आया ? परन्तु जाननेवाले ने जाननेवाले को नहीं जाना, जाननेवाले को नहीं जाना, देखनेवाले को नहीं देखा। आहाहा!

वह अब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति के प्रगट उदय होने से.... वह जब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति-भगवान आनन्द की चैतन्य ज्योति प्रगट उदय होने से.... **नेत्र के विकार की भाँति (जैसे किसी पुरुष की आँखों में विकार था, तब उसे वर्णादिक अन्यथा दीखते थे....)** आँख में विकार था, तब वर्णादिक अनेक प्रकार के दिखते हैं। पीलिया होता है न पीलिया, (तो) उस पीलिया में सब चीज पीली दिखती है। **(और जब नेत्र विकार दूर हो गया तब वे ज्यों के त्यों-यथार्थ दिखायी देने लगे,....)** आहाहा! **(इसी प्रकार) पटल समान आवरण कर्मों के भलीभाँति उघड़ जाने से....** रागादि की एकताबुद्धि का नाश करके। आहाहा! **प्रतिबुद्ध हो गया....** मिथ्याश्रद्धा में-मिथ्याज्ञान में परवस्तु अपनी है ऐसा दिखता था। जैसे पीलियावाले को सब पीला दिखता है, आहाहा! **पटल समान आवरण।** आहाहा! है ? विकार की भाँति, पटल समान आवरण के — कर्मों के भलीभाँति उखड़ जाने से प्रतिबुद्ध हो गया **और साक्षात् द्रष्टा आपको अपने से ही जानकर....** अपने से अपने को जानकर, यह आनन्द, ज्ञान, दर्शन पर्याय से अपने को जानकर। आहाहा! **तथा श्रद्धान करके....** अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, अनुभव...

उसी का आचरण करने का इच्छुक.... आहाहा! अभी अस्थिरता बाकी है। सम्यग्दृष्टि को, अनुभवी को भी अभी रागभाव बाकी है, दोष है, दु:ख है, अस्थिरता है। आहाहा! आहाहा! **श्रद्धान करके उसी का आचरण करने का....** अभी सम्यग्दर्शन हुआ परन्तु अभी अन्दर अव्रत का राग है, राग है शुभ का राग है, अशुभराग है। धर्मी को-अनुभवी को भी भोग की वासना का राग है। आहाहा! उसे छोड़कर स्वरूप का आचरण करने का इच्छुक। समझ में आया? आहाहा! **उसी का आचरण करने का** अर्थात् जैसा ज्ञानस्वरूप भगवान पर से भिन्न देखा, उसका **आचरण करने का अभिलाषी।** अभी उसका भान हुआ परन्तु अभी आचरण में राग — पुण्य-पाप का भाव आचरण में आता है। आहाहा! अनुभवी, समकिती, ज्ञानी को, क्षायिक समकिती को भी... आहा! समझ में आया? आहाहा! ज्ञानी जानता है कि अभी मेरी पर्याय में राग है, दु:ख है; मुझे यह दु:ख का आचरण छोड़कर आनन्द का आचरण करना है। आहाहा! क्या स्पष्टता! यह सम्यग्दर्शन हुआ, अनुभव हुआ तो भी (पूर्णता नहीं है)। उसी का आचरण करने का.... तो अभी आचरण नहीं हुआ अन्दर; चारित्र नहीं हुआ। प्रत्याख्यान लेना है। प्रत्याख्यान अर्थात् राग का अभाव होकर ज्ञानस्वरूप में ज्ञान रमे — ऐसी दशा अभी नहीं हुई। आहाहा! ओहोहो...! सन्तों ने तो अमृत बहाया है। आहाहा! क्या कहा? राग, शरीरादि से भिन्न भगवान आत्मा अनुभव में आया कि मैं ज्ञानानन्द हूँ — ऐसा समकित दर्शन हुआ, तथापि अभी पर्याय में राग का आचरण है, वह दु:खरूप आचरण है। यह अपना आचरण करनेवाला — वह अपने स्वरूप के आचरण का इच्छुक पुरुष पूछता है। आहाहा!

समकिती / ज्ञानी / अनुभवी भी अपने स्वरूप का आचरण अर्थात् स्वरूप में स्थिरता करना, प्रत्याख्यान करना। चारित्र नहीं है, पर्याय में राग है दु:ख है, अप्रत्याख्यान है, अव्रतभाव है। आहाहा! आहाहा! **आपको अपने से जानकर श्रद्धान करके...** ज्ञान और श्रद्धा दोनों हुए, सम्यग्ज्ञान भी हुआ, सम्यग्दर्शन भी हुआ। **अब उसी का आचरण करने का...** अभी उसमें चारित्र नहीं है, अचारित्रभाव है, अप्रत्याख्यानभाव है; प्रत्याख्यान नहीं है। स्वरूप में स्थिरता-राग को तजकर / छोड़कर / निराकरण करके अपने स्वरूप में रमना, वह नहीं है। आहाहा! तो वह पूछता है, समकिती पूछता है, धर्मी जीव से अनुभवी

है, वह पूछता है। आहाहा! उग्र पुरुषार्थ करना है न? **'इस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है ?'....** प्रभु! एकता तो टूट गयी है। हमको आत्मा का ज्ञान हुआ परन्तु राग का त्याग हमें नहीं है, तो राग का त्याग किस तरह से होता है?

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९७ श्लोक २८, गाथा ३४ दिनाङ्क ०१-१०-१९७८ रविवार
भाद्र कृष्ण १४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ३३ गाथा का अन्तिम है न? पढ़ा गया है परन्तु फिर से — **इस प्रकार यह अज्ञानी जीव....** यहाँ से है न? **अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोह के सन्तान से....** मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष-मोह के सन्तान से। आहाहा! **निरूपित आत्मा....** अथवा उसरूप माननेवाला आत्मा अथवा अज्ञानी; **आत्मा और शरीर के एकत्व के संस्कार....** भगवान ज्ञायक चैतन्यस्वभावी ज्ञायक सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु के साथ शरीर, कर्म और कर्म के निमित्त की उपाधि-शुभ-अशुभभाव आदि, उसके **एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था,....** अत्यन्त अज्ञानी था। अपना स्वरूप क्या है? गुण क्या है? पर्याय क्या है? राग क्या है? पर क्या है? — यह बिल्कुल नहीं जानता। आहाहा!

श्रोता : सभी जीव ऐसे हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि से सभी जीव इस प्रकार ही हैं। आहाहा! सर्वज्ञ स्वभावी ज्ञायक का अस्तित्व, विद्यमान चीज है, उसको न जानकर पुण्य और पाप के रागादि भाव तथा कर्म और शरीरादि ये मेरे हैं — ऐसा संस्कार; मेरा आनन्द और ज्ञान है, यह संस्कार नहीं। आहाहा! राग और पुण्य और पाप के विकल्प, ये मेरे हैं — ऐसा एकत्व संस्कार, इस कारण **अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था।** आहाहा!

वह अब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति के प्रगट उदय होने से.... आहाहा! प्रभु! तू तो राग और शरीर से भिन्न है न नाथ! आहाहा! तेरी चीज में तो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, पूर्ण पड़ी है न प्रभु! तू राग से और शरीर से भिन्न है — ऐसा सन्तों ने प्रसिद्ध

किया है। आहाहा! तब उसको अन्तर में जाकर आत्मा ज्ञायकस्वरूप चैतन्यबिम्ब, राग और पुण्य के विकल्प की दु:खदशा से भिन्न, आनन्दस्वरूप प्रभु... आहाहा! ऐसा तत्त्वज्ञान / भान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ। **तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति....** चैतन्यज्योति प्रगट हुई। आहाहा! जो पुण्य और पाप और रागादि संस्कार मेरा है — ऐसा प्रगट था, उसके स्थान में भगवान (आत्मा) राग से भिन्न मेरी चीज है — ऐसा तत्त्वज्ञान का स्वरूप प्रगट हुआ। आहा!

नेत्र के विकार की भाँति.... आँख में जैसे.... क्या कहलाता है? (पीलिया) पीलिया, हमारे (गुजराती में) कमलो कहते हैं। पीलिया के कारण जो सफेद चीज भी पीली दिखती थी, वह विकार नाश होने से, **तब वे ज्यों के त्यों यथार्थ दिखायी देने लगे....** जैसी चीज थी, वैसी देखने लगा। आँख का विकार नाश होने से.... इस प्रकार यह तो दृष्टान्त (हुआ)। **पटल समान आवरण कर्मों के भलीभाँति उघड़ जाने से....** आहाहा!

श्रोता : कर्म उघड़ जाए....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उघड़ जाते हैं अर्थात् नाश होता है। **कर्मों के भलीभाँति उघड़ जाने से प्रतिबुद्ध हो गया...** एकत्वबुद्धि का नाश हुआ, वह कर्म का था, आहाहा! ऐसा आत्मा प्रगट तत्त्वज्ञान से प्रगट हुआ, मैं तो आनन्द और ज्ञान हूँ। मुझमें अल्पज्ञता ही नहीं है और रागादि मैं नहीं — ऐसा अनुभव / दृष्टि में आया। है? **प्रतिबुद्ध हो गया....** ज्ञानी हो गया, सम्यग्दृष्टि हुआ। आहाहा! **और साक्षात् दृष्टा आपको अपने से ही जानकर....** साक्षात् प्रभु तो देखनेवाला दृष्टा है। रागादि पर चीज तो दृश्य है, मैं तो दृष्टा हूँ। रागादि, शरीर आदि परचीज तो ज्ञेय है, मैं तो ज्ञाता हूँ। आहाहा! **आपको अपने से ही जानकार....** देखो भाषा! भगवान ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप प्रभु, आप आपको अपने से अपने को अपने से अपनी ज्ञान आनन्द की पर्याय से अपने को जाना। आहाहा! राग से आत्मा जानने में आता है — ऐसा आत्मा है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। यह अपने से भगवान ज्ञान प्रवाह ध्रुव उस पर दृष्टि करने से जो ज्ञान की पर्याय निर्मल हुई, उसके द्वारा अपने को अपने से जाना। आहाहा!

श्रोता : इन्द्रियज्ञान और मन:पर्ययज्ञान का क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बाहर गया दूर। इन्द्रियज्ञान और शास्त्रज्ञान, वे सब दूर रह गये। ऐसी बात है प्रभु! आहाहा!

आपको अपने से ही जानकर.... अपना स्वरूप जाना, ज्ञान के साथ में जो राग-दु:ख भी बाकी है, वह भी ज्ञान ने जाना। पहले तो उसको भी नहीं जानता था और अपने को भी नहीं जानता था। आहाहा! **आपको अपने से जानकर....** अपना ज्ञानानन्दस्वभाव मैं हूँ — ऐसा जाना और उसमें रागादि बाकी हैं, दु:खरूप है (- ऐसा जानकर) भिन्न हो गया, परन्तु अस्थिरता बाकी रह गयी। आहाहा! तो सम्यग्ज्ञानी जीव, सम्यग्दृष्टि जीव अपने को अपनेरूप जाना-ज्ञान की पर्याय, आनन्द की पर्याय हुई, उसको उस पर्यायरूप जाना और राग बाकी रहा, वह दु:खरूप है, उसको भी जाना। आहाहा! मुझमें अभी दु:ख का त्याग नहीं है....

श्रोता : वेदन है या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वेदन है न प्रभु! इसके लिए तो कहते हैं — सम्यग्दृष्टि को दु:ख का वेदन है - ऐसा जाना। मैं आत्मा हूँ — ऐसा आनन्द का वेदन भी आया और साथ में राग-द्वेष परिणाम हैं, अव्रतभाव, अत्यागभाव, दु:खभाव, उसका वेदन मुझे आया, यह भी जाना। समझ में आया ? आहाहा!

मुझे आज सबेरे श्रीकृष्ण की बहुत बात आयी थी। वह तो तीर्थंकर का आत्मा है। श्रीकृष्ण, तीर्थंकर का जीव है। आहाहा! भगवान के समय में उसको आत्मज्ञान हुआ था, सम्यग्दर्शन हुआ था, नेमिनाथ भगवान के समय में, आहाहा! भान हुआ था (कि) मैं तो आत्मा हूँ; और मैं तो भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला है, आगामी चौबीसी में तेरहवें तीर्थंकर-भगवान होनेवाले हैं। परन्तु पहले (निज का) भान हुआ। आहाहा! और जब, जब द्वारिका नगरी सुलगती है, सोने के गढ़ और रत्न के कंगूरे देवताओं ने बनाये, वे लाखों राजकुमार, लाखों रानियाँ, वह द्वारिका सुलगी उसमें ***सर्रसर्रसर्रसर्र*** बलदेव वासुदेव महापुरुष, उत्तम पुरुष, वे पानी की बाल्टियाँ डालते हैं (अग्नि) बुझाने के लिये। वह पानी केरोसिन बन जाता है।

श्रोता : उस समय तो केरोसिन की शोध नहीं हुई थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : शोध नहीं थी परन्तु केरोसिन की तरह जलाये ऐसी ताकत पानी में होती है। जब पानी केरोसिन अन्दर में होता है न कुएँ में। पानी के बदले केरोसिन होता है, ऐसे पानी का केरोसिन हो गया। आहाहा!

यह लाखों रानियाँ और लाखों राजकुमार जलते हैं। अरे! मुझे बचाओ रे बचाओ, भाई! पिताजी! मुझे बचाओ! कौन बचाये? आहाहा!

श्रोता : गुरु बचाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अन्तर में शरण में जाये तो आत्मा बचाये; बाकी कोई नहीं। आहाहा! ये भाई सुलगते हैं। आहाहा! (द्वारिका) माता-पिता को रथ में बैठाकर बाहर निकालते हैं, माता-पिता को तो निकालें... आहाहा! बलदेव और वासुदेव बैल की तरह रथ को हाँकते हैं; पिताजी-माताजी बैठे हैं। जहाँ द्वारिका का अन्तिम द्वार-दरवाजा आया, ऊपर से स्वर्ग के देव का हुक्म आया-निकालना छोड़ दो, तुम्हारे माता-पिता नहीं बचेंगे, छोड़ दो। आहाहा! वे भाई वह राग छोड़ देते हैं, माता-पिता ऐसे सुलगते हैं-जलते हैं। आहाहा! ये ज्ञानी-धर्मात्मा हैं, आहाहा! परन्तु राग आता है। राग है न? अस्थिरता का राग, अभी दु:ख है। इस माता को देखकर... अर..र!

इन बलदेव को कृष्ण कहते हैं भाई! जिनकी आठ हजार देव सेवा करते थे, आहाहा! वे देव कहाँ गये? जिन्हें हजारों राजा चँवर ढोरते थे, वे कहाँ गये? आहाहा! भाई! हम कहाँ जायेंगे? श्रीकृष्ण कहते हैं। बलदेव कहते हैं, भाई! हम पाण्डवों के पास जायें। भाई! हमने पाण्डवों को देश से निष्कासित किया है न? भले ही देश से निष्कासित किया (परन्तु) वे सज्जन हैं, हम वहाँ जायेंगे। आहाहा! यह तो सर्वज्ञ से सिद्ध हुई वस्तु है। आहाहा! रास्ते में जाते हैं, वहाँ प्यास लगती है, तीर्थंकर का जीव और आत्मज्ञानी! आहाहा! प्यास लगती है, भाई! इस कौशम्बी वन में पैर नहीं भर सकता (चल नहीं सकता) भाई! मैं, मुझे बहुत प्यास लगी है, अब मैं एक कदम भी नहीं चल सकता। आहाहा! भाई! तुम यहीं रहो, मैं पानी लाता हूँ - बलदेव कहते हैं। वहाँ लोटा-लोटा कहाँ था? बड़ के पत्ते एकत्रित करके सली डालकर लोटा जैसा बनाया, बहत्तर कला के

जानकार बलदेव पानी लेने गये, कृष्ण यहाँ सो रहे थे, महा-उत्तम पुरुष हैं, पैर में पद्ममणि है, पैर में। उनका भाई-जरतकुमार बारह वर्ष से वन में रहता था। भगवान ने कहा था कि इस जरतकुमार के कारण कृष्ण का शरीर पड़ जायेगा। बारह वर्ष तक बाहर रहा। वह मानो कि यह हिरण है, ऐसा नजदीक आता है वहाँ प्रभु! आप यहाँ कहाँ से? मैं बारह-बारह वर्ष से जंगल में रहता था, यह क्या! आहाहा! रोता है। भाई! तू यहाँ से चला जा बापू! बलदेव अभी आयेंगे तो तुझे मारेंगे। भाई! मैं कहाँ जाऊँ। कौशतुभ मणि है, बहुत कीमती, अरबों... अरबों... अरबों रुपयों की कीमत का, अरबों में न मिले ऐसी। वासुदेव हैं और उत्तम पुरुष हैं। यह लेकर पाण्डवों के पास जा, बताना, वे तुझे रखेंगे। आहाहा! वह जाता है और जहाँ बलदेव आता है, वहाँ देह छूट जाता है। आहाहा!

'ए तरसे तरफडे त्रिक मो नहीं कोई पानी नो पानार' यह सज्झाय आती थी, हमारी दुकान में पढ़ते थे न जब। तरसे तरफड़े त्रिक मो.... समकिती ज्ञानी आनन्द में रहनेवाला भी अभी राग का-अस्थिरता का त्याग नहीं, इसलिए... आहाहा! 'नहीं कोई पानी नो पानार रे, सहजानन्दी रे आत्मा सूतो कईं निश्चिन्त रे, मोहतणा रे रणिया भ्रमें, जाग जाग मतिवन्त रे' ये सज्झाय आती थी। हमारे-श्वेताम्बर में चार सज्झायमाला है। एक-एक में २००-२५० श्लोक आते हैं। हमें निवृत्ति थी, पिताजी की दुकान थी, छोटी उम्र में सब १८-१९ वर्ष से हम तो यही करते थे, व्यापार भी करते थे। आहाहा! आहाहा! 'जाग जाग मतिवन्त! लूटे जगत ना जन्त' ये लुटेरे तुझे लूटते हैं, मैं तेरी स्त्री और मैं तेरा पुत्र और मैं तेरा बाप, आहाहा! 'नाखि वांक अनन्त' तब किसलिए विवाह किया था? युवा अवस्था में मुझसे विवाह किया तो वृद्धा से विवाह करना था न? भोग का त्याग करते हो तो... आहाहा! 'नाखि वांक अनन्त विरला कोई उगरंत' आहाहा!

यह शान्तिनाथ भगवान जब दीक्षित होते हैं - चक्रवर्ती, कामदेव, तीर्थंकर — छियानवें हजार स्त्रियाँ, एक-एक स्त्री की हजार देव सेवा करें, वहाँ उन्हें वैराग्य होता है.... अब यहाँ प्रत्याख्यान की बात चलती है न? आत्मज्ञान तो है, सम्यग्दर्शन है। आहाहा! अब राग के त्याग की बात! राग है, दु:ख है, ख्याल में आया है, सब ज्ञानी को। अब उस राग का त्याग करने का भाव आया। आहाहा! समझ में आया? जंगल में जाते हैं तो रानियाँ

आती हैं और बाल खींचती हैं। हे स्त्रियों! मैं रहा था वह तुम्हारे कारण नहीं रहा था; मैं राग के कारण रहा था। मैं समकिती हूँ, ज्ञानी हूँ परन्तु मुझमें राग था, मुझमें दुःख था, मुझे पता है भाई! आहाहा! हे रानियों! अब मेरा वह राग मर गया, अब तुम मुझे ललचा नहीं सकती हो, आहाहा! छोड़ दो, चली जाओ। मैं तो आत्मा के आनन्द में जाता हूँ। आहाहा! सम्यग्दर्शन तो है, तीन ज्ञान है, आहाहा! परन्तु अन्दर राग का भाव-पुण्य-पाप का भाव दुःखरूप था। वह ज्ञान में था कि मुझे दुःख है, मुझे इतना आनन्द नहीं आया; जैसा पूर्णानन्द का नाथ भगवान, उसके अवलम्बन से पूर्णानन्द होना चाहिए, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! मुझमें तो अल्प आनन्द आया और साथ में मुझे दुःख भी वेदन में दिखता है। आहाहा! ऐसा जीव... वह तो तीर्थंकर थे, उनकी तो बात कहाँ करना? परन्तु ऐसा जीव अपने को जानकर और श्रद्धान करके... आहाहा! **उसी का आचरण करने का इच्छुक....** आहाहा! वह जानता है कि मुझमें अभी राग-द्वेष-पुण्य-पाप का — दुःखरूप का आचरण मुझमें है तो अब उस स्वभाव का आचरण करने का इच्छुक समकिती... आहाहा! सब शून्य लगता है फिर उसे। मेरा नाथ भगवान आनन्द से भरपूर (है), वहाँ मैं जाऊँ। यह रागादि पुण्य-पाप का भोग का भाव, वह दुःखरूप मेरे वेदन में आता है। आहाहा! यह उसी का आचरण-राग का — पुण्यभाव का आचरण था। अभी समकिती ज्ञानी को भी, आहाहा! इतना शुभ-अशुभभाव का आचरण दुःखरूपमय वेदन में आता है, तो अब वह समकिती ज्ञानी कहता है, आहाहा! **आचरण करने का इच्छुक....** मेरे आनन्द के नाथ में मैं रमूँ, यह आचरण करने का इच्छुक। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्ज्ञान हुआ है, अनुभव हुआ है; वह गुरु के पास जाकर इच्छा करता है। आहाहा! अनुभवी है, ज्ञानी है, राग का और आनन्द का वेदनवाला है। आहाहा! वह अपने स्वरूप का आचरण करने का इच्छुक है। आहाहा! पाठ में है न? '**यैवानुचरितकुमाः**' संस्कृत में है। 'काम'। आहाहा! मेरा प्रभु आनन्दस्वरूप में मुझे भान हुआ है, मेरे आनन्द में रमने का -आचरण का अभिलाषी हुआ हूँ। आहाहा! समझ में आया? 'निजपद रमै सो राम कहिये' आहाहा! आनन्द के नाथ में रमने की इच्छा मुझे हुई है, प्रभु! आहाहा! आतमराम! आनन्द के झूले में झूलता प्रभु। आहाहा! मुझमें यह राग

और द्वेष का दु:ख है, यह मेरे आचरण में है, अव्रत का भाव (है) अब मैं तो अपने स्वरूप का आचरण करने का अभिलाषी हूँ, प्रभु ! आहाहा ! यह सम्यग्दृष्टि जीव तीन ज्ञान का धनी भी ऐसी (भावना भाते हैं) । आहाहा !

उसी का आचरण मैं आनन्द प्रभु, आहाहा ! सर्वज्ञस्वरूपी अनन्त आनन्द का नाथ स्वरूपी मैं – ऐसा मुझे ज्ञान हुआ, अनुभव हुआ, भान हुआ, परन्तु अभी मेरे आचरण में राग और द्वेष का आचरण है, वह मुझे दु:ख का आचरण है, प्रभु ! तो अब मेरे आनन्द का आचरण करने का मैं अभिलाषी हूँ; इस दु:ख के आचरण के दु:ख को छोड़ने का — त्यागने का मैं अभिलाषी.... आहाहा ! **होता हुआ पूछता है....** है ? सम्यग्दृष्टि ज्ञानी-धर्मात्मा को पूछते हैं । ओहोहो ! इतना तो विनय है । कामी तो है, इच्छा तो है, इच्छा उत्पन्न हुई, विकल्प तो है, आहाहा ! और गुरु की विनय करते हैं, वह भी विकल्प है, राग है, दु:ख है । आहाहा ! वह अपना आचरण करने का इच्छुक होता हुआ, उसी का नाम जिनको श्रद्धा-ज्ञान आत्मा का हुआ, उसका आचरण करने का अभिलाषी । अर्थात् अपनी पर्याय में राग और द्वेष का आचरण शुभाशुभ का है, अव्रतभाव है, अत्यागभाव है, अत्यागभाव का वेदन है । आहाहा ! वह अपने स्वरूप का आचरण करने का मैं अभिलाषी गुरु से पूछता हूँ । आहाहा ! सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ तो तुझे तो सब पता है ही । १७-१८ गाथा में आता है न ? सम्यग्दर्शन हुआ, मैं आत्मा आनन्द हूँ तो इस श्रद्धा में ऐसा आया कि मैं उसमें आचरण करूँगा तो कर्म का नाश होगा — ऐसा श्रद्धा में आया है । १७-१८ गाथा, समयसार में ऐसा आया है । आहाहा !

भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप का भाव हुआ । आहाहा ! समझ में आया ? अब वह अन्दर में जाने का अभिलाषी – स्वरूप में रमण करने का (अभिलाषी) आहाहा ! तो वह धर्मी / समकिती जीव, मुनि को पूछता है, श्रद्धा में तो आया है कि मैं जितना स्वरूप में अन्दर रहूँगा, उतना अशुद्धता का-कर्म का नाश होगा – ऐसा तो सम्यग्दर्शन में – श्रद्धा में आ गया है । यह १७-१८ गाथा में है । समझ में आया ? आहाहा !

मार्ग तो देखो ! आहाहा ! मेरी चीज, मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, अतीन्द्रिय अपरिमित सर्वज्ञस्वभावी.... ज्ञायकस्वभावी कहो, सर्वज्ञस्वभावी कहो, 'ज्ञ' स्वभावी कहो, ज्ञानस्वभावी

अकेला आत्मा — ऐसा मुझे भान हुआ है परन्तु प्रभु! मेरे आचरण में अभी राग और पुण्य-पाप का आचरण पर्याय में है, अव्रतभाव/अत्यागभाव है। समझ में आया? आहाहा! उस मेरे स्वरूप का आचरण करने का मैं अभिलाषी हूँ और यह रागादिक दुःख का आचरण छोड़ने का मैं अभिलाषी हूँ। आहाहा! वह पूछता है। पूछता है तो विकल्प है न? बालचन्दजी! गाथा बहुत अच्छी आ गयी है। आहाहा! आनन्द का नाथ अन्दर से जागकर उठता है। आहाहा! तब ऐसा कहता है कि प्रभु! मुझे तो अब मेरे स्वरूप का आचरण करने का मैं इच्छुक हूँ, मेरी पर्याय में अत्यागभाव, भोगभाव, रागभाव, पापभाव, पुण्यभाव का मेरी पर्याय में अव्रत का आचरण है, दुःख का आचरण है — ऐसा मेरे ज्ञान में आया है, मेरी प्रतीति में आया है, ज्ञान में आया, परन्तु अब मैं तो मेरे स्वरूप में आचरण करने का इच्छुक हूँ। आहाहा!

कहो, क्षायिक समकिती हो। आहाहा! श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती... आहाहा! परन्तु मृत्युकाल में देह छोड़ने का राग आ गया, आपघात किया, तथापि समकित में दोष नहीं और उस समय तीर्थंकर गोत्र बाँधें, उसमें अन्तर नहीं। आहाहा! ऐसे श्रेणिक राजा यहाँ भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं। अरेरे! तीर्थंकर के जीव की भी यह दशा! आहाहा! सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, ओहोहो! लड़का, पिताजी को बचाने आता है, मैंने पिताजी को जेल में डाला है, मेरी बड़ी भूल हुई, माताजी ने मुझे चेताया, भाई! तेरा जन्म हुआ था, तब मैंने तुझे कचरे के ढेर में डाल दिया था। वहाँ पिताजी आये, मुझे पूछा बालक कहाँ गया? मैंने डाल दिया है, अरेरे! क्यों डाल दिया? वह मेरे गर्भ में आया था, तब मुझे स्वप्न आता था कि आप का कलेजा खाऊँ; इस कारण मैंने बालक को छोड़ दिया। अरे! आहाहा! वे कचरे में से बालक को ले आते हैं, राजकुमार को (ले आते हैं)। आहाहा! कूकड़ा-कूकड़ा होता है न? कूकड़ा चोंच मारता है, राजकुमार का शरीर कोमल, पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा...., श्रेणिक वहाँ जाते हैं और (राजकुमार बालक को) उठा लेते हैं। भाई! तेरे पिता ने यह किया था और उनको तूने जेल में डाला, राज्य करने के लिए? अरे माता! मेरी बड़ी भूल हुई, मुझे पता नहीं था, मैं पिताजी को जेल में से निकालने को जाता हूँ। हाथ में बरछी लेकर गया, और वह (श्रेणिक) मानो कि यह (मुझे मारने आया...) है समकिती ज्ञानी, क्षायिक समकिती, तीर्थंकर का जीव, तीर्थंकर होनेवाला... आहाहा! उन्होंने देह छूटने के (समय) मरने को हीरा चूस लिया। यह भाव कैसा है? पाप है या नहीं? पाप

तो आया है, वेदन में पाप है। आहाहा! परन्तु सम्यग्दर्शन में दोष नहीं है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, आहाहा! क्या प्रभु का मार्ग! क्या वीतराग का पन्थ! मैं तो मेरे वीतरागस्वरूप भगवान का मुझे ज्ञान हुआ है; वर्तमान पर्याय निर्मल हुई है, उसका ज्ञान हुआ है; और वर्तमान मैं साथ में दुःख की दशा / अव्रत — अत्याग का भाव है, उस दुःख का ज्ञान भी मुझे हुआ है। आहाहा! समझ में आया? बापू! मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा! वह **इच्छुक होता हुआ पूछता है....** देखा? अब राग का-दुःख का त्याग नहीं किया (कहा) यहाँ तो स्वरूप का आचरण करने का इच्छुक होता हुआ - ऐसा शब्द लिया है। भाई! राग का अत्याग है, उसका मैं त्याग करूँ — क्या कहा? समझ में आया? मैं राग का त्याग करने का इच्छुक — ऐसा नहीं लिया। ऐसा शब्द नहीं लिया; मैं तो मेरा स्वरूप, आहाहा!

श्रोता : अस्ति से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्ति से लिखा है परन्तु मैं तो स्वरूप का आचरण करने का इच्छुक हूँ। सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्ज्ञानी है, स्व का अनुभव है। सब ज्ञान हुआ है, आहाहा! तो मेरे प्रभु! मेरे आनन्द के नाथ का आचरण, अल्प आचरण हुआ है, परन्तु विशेष आचरण नहीं है। अभी मुझ में अत्यागभाव है तो मैं मेरे स्वरूप में आचरण करने का इच्छुक (हूँ) आहाहा! वह पूछता है। देखो तो! शैली तो देखो! आहाहा!

अरे! जगत् को सत्य सुनने को नहीं मिलता, वह कब समझे प्रभु! और यह भव एक-एक समय चला जा रहा है। जिसकी कौस्तुभ मणि की कीमत से भी एक समय की कीमत कीमती है, मनुष्यभव में यदि यह नहीं किया तो उसने कुछ नहीं किया। आहाहा! यहाँ तो सम्यग्दर्शन हुआ और सम्यग्ज्ञान हुआ और भव का नाश हुआ, अनन्त का; अनन्त का हुआ, परन्तु अभी थोड़ा राग का अत्यागभाव है, राग का आचरण है तो प्रभु! गुरु के पास जाते हैं। प्रभु! परन्तु आपको तो सब ज्ञान है और समकित है और हमें पूछते हो? विनय से पूछते हैं। (गुरु बोले) तुमको तो सम्यग्दर्शन है तो ख्याल है कि स्वरूप में स्थिर रहूँगा, तब राग का त्याग होगा, वह तो तुम्हें पता है। परन्तु मैं तो प्रभु आहाहा... आहाहा! ऐसा आचरण करने का इच्छुक, उसी का आचरण करने का इच्छुक; राग का त्याग करने का इच्छुक — ऐसा नहीं लिया। समझ में आया? आहाहा!

मेरे आनन्द का नाथ अतीन्द्रिय प्रभु सागर, उसका मुझे ज्ञान हुआ है, प्रतीति हुई है, अनुभव हुआ है, परन्तु मेरे आचरण में कमी है तो मेरे स्वरूप में आचरण करने का मैं इच्छुक – अभिलाषी हूँ। आहाहा! है तो विकल्प, आहाहा! गुरु के पास–महासन्त मुनि के पास कहते हैं। प्रभु! आप समकिती हैं, ज्ञानी हैं, सब जानते हैं, मैं जानता हूँ प्रभु! परन्तु मेरी भावना अब अन्तरस्वरूप में रमने की हुई है, मेरी पर्याय में राग–द्वेष का आचरण का दुःख है, मेरे ख्याल में आ गया है परन्तु मैं अब तो मेरे स्वरूप में आचरण करने का अभिलाषी हूँ। आहाहा!

‘**इस आत्माराम को.....** पूछता है कि इस आत्माराम को, आतमराम प्रभु, चैतन्य के बाग में आत्मा रमता है, आहाहा! ऐसा आत्मा। आतमराम! जैसे बाग में फूल होते हैं, फूल वृक्ष में सुगन्ध देते हैं, वैसे ही भगवान में अनन्त गुण हैं, उस आतमबाग में आत्मा — ज्ञानी अन्तर में रमते हैं – आतमराम... आहाहा! ‘**इस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का (त्यागना) क्या है ?**’ प्रभु ? मैं मेरा आचरण करने का अभिलाषी, परन्तु अब राग का मैं त्याग करूँ ? है ? ‘**द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है ?**’ आहाहा! ऐसी बात है बापू! यह तो महा भगवान तीन लोक का नाथ, तीर्थंकर की वाणी और उसे इन्द्र सुनें — एकावतारी इन्द्र... एक भवतारी इन्द्र, शक्रेन्द्र है, देव है; वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है, वह समकिती है, शक्रेन्द्र है, सौधर्म देवलोक... वह इन्द्र जब सभा में आता है और भगवान यह बात करते हैं, वह बात कैसी होगी! हैं ? आहाहा! भव्य के भाग्य के योग से भगवान की वाणी निकलती है – आता है न ? ‘भविभागन वश जोगे...’

भाई! यहाँ तो अन्तर की बातें हैं नाथ... आहाहा! सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, अनुभव हुआ तो भी अब उसे स्वरूप का आचरण करने का अभिलाषी... यहाँ मेरी पर्याय में राग–द्वेष का–दुःख का आचरण है, प्रभु! तो अब तो मैं आनन्द का आचरण करने का इच्छुक (हूँ)। इस राग और दुःख का त्याग कैसे होता है ? ज्ञान तो है परन्तु स्थिरता के लिए प्रश्न करता है। आहाहा! ‘**इस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान...**’ रागादि का त्याग... राग तो अन्य द्रव्य है न ? दुःख की दशा अपने में है परन्तु है तो परवस्तु; वह अपनी चीज नहीं है। आहाहा! यह लोग सम्यग्दर्शन के बिना प्रत्याख्यान करे, वह तो

प्रत्याख्यान है ही नहीं; वह सब तो अज्ञान है। ऐ जयन्तीभाई! यह सब तुम सबने अभी तक क्या किया? अभी इनके भतीजे ने किया था न? आठ अपवास, यहाँ मूँगा दिया, था न तुमने क्या किया था? आठ अपवास या दस? आठ। जिमाया था न! परन्तु यहाँ यह नहीं बापू! आहाहा! यह आत्मज्ञान रहित त्याग, वह त्याग नहीं है, वह तो अन्दर मिथ्यात्वभाव है।

श्रोता : वह धर्म का त्याग नहीं हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव का त्याग हुआ। राग की क्रिया करते हैं और मैं धर्म करता हूँ (ऐसा मानते हैं), यह तो स्वभाव का त्याग हुआ। आहाहा! कहो छोटाभाई! यह ऐसी बात है। कलकत्ता में कहीं मिले — ऐसा नहीं है। सर्वत्र भटकने के रास्ते हैं। इसलिए उन लोगों को एकान्त लगता है, इसलिए बेचारे विरोध करते हैं। तो भी अभी बहुत हुआ, कलकत्ता से पत्र आया। भाई गये थे न ज्ञानचन्दजी। पाटनीजी! ज्ञानचन्दजी गये थे, तो पत्र आया लोग (व्याख्यान में) बहुत आते थे, और विरोधियों को भी जरा सा क्षमा का भाव, हमारी भूल थी भाई! सबने क्षमा की। कलकत्ता में, और अजमेर में.... अजमेर में तो कभी पचास वर्ष में ऐसा नहीं हुआ था। हुकमचन्दजी गये, हुकमचन्दजी (का) अभी बहुत क्षयोपशम बहुत! लोग कहते हैं ऐसी बात हमने पचास वर्ष में नहीं सुनी। इतनी लोगों की भीड़ अजमेर में, वरना तो वहाँ तो भागचन्दजी सोनी जरा मुनि-भगत तत्त्व का विरोध.... परन्तु वह माने कि हमारी दृष्टि ठीक है परन्तु वह सब लोग समाते नहीं थे। उनने भी कहा ऐसी बात हमने सुनी नहीं। पचास वर्ष से अजमेर में हमने ऐसी बात सुनी नहीं, कल पत्र आया है। आहाहा! थी कहाँ, वस्तु कहाँ थी? यह तो यहाँ से निकलने की बाद बात है, आहाहा! परन्तु इतना नरम होकर ऐसा, वरना तो अजमेर तो पूरा गाँव लगभग... अमुक भजनमण्डली या ऐसे कोई-कोई प्रेमी पूनमचन्द पहाड़िया (लुहाड़िया) लड़का है, दो भाई बहुत प्रेमी हैं। ऐसे थोड़े होंगे, बाकी अभी तो इतना रस जग गया है कि यहाँ शिक्षण-शिविर करो, पच्चीस हजार रुपये निकाले। इस प्रकार का शिक्षण-शिविर! आहाहा! जगत का भाग्य है न? ऐसी यह वस्तु प्रभु! यह शिक्षण-शिविर तो दूसरे प्रकार का है। आहाहा! आत्मज्ञान बिना, सम्यग्दर्शन बिना जो यह अपवास और त्याग और ऐसा माने कि हमने अपवास किया, यह सब मिथ्यात्व हठभाव है।

श्रोता : गुरु उसे लंघन कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे लंघन ही कहते हैं।'कषायविषाहारो त्यागो यत्र विधीयते, उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः।' राग का त्याग, इच्छा का त्याग आदि। आहाहा! वह त्याग हो, वहाँ उपवास होता है। वहाँ आत्मा के पास वसै, उपवासी, शेषं लघंनं - शेष लंघन है। आहाहा! वस्तुस्वरूप ऐसा है। आहाहा! कितनी बात लिखी है भाई! स्वरूप का ज्ञान हुआ, अनुभव हुआ - ज्ञान हुआ, वह प्रश्न करता है (कि) मेरे स्वरूप में आचरण करने का मैं इच्छुक हूँ। आहाहा! मेरी पर्याय में राग और द्वेष का अत्यागरूपी दुःख का वेदन है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि ज्ञानी.... प्रभु! इस वेदन का त्याग — मेरे स्वरूप में आचरण करने का अभिलाषी, इस दुःख के वेदन का त्याग क्या है? जानते हैं परन्तु गुरु के समीप विनय से (पूछते हैं)। आहाहा! नम्रता है न? आहाहा!

गाथा ३४

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।।३४।।

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम्।।

यतो हि द्रव्यान्तरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभावभावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे, ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे, न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेऽपि परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात् प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम्।

सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावों का करे।
इससे नियम से जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है।।३४।।

गाथार्थ : [यस्मात्] जिससे [सर्वान् भावान्] अपने 'अतिरिक्त सर्व पदार्थों को [परान्] पर हैं' [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [प्रत्याख्याति] प्रत्याख्यान करता है — त्याग करता है, [तस्मात्] उससे, [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [ज्ञानं] ज्ञान ही है, [नियमात्] ऐसा नियम से [ज्ञातव्यम्] जानना। अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं।

टीका : यह भगवान ज्ञाता-द्रव्य (आत्मा) है वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावों को,उनके अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने से पररूप जानकर, त्याग देता है; इसलिए जो पहले जानता है वही बाद में त्याग करता

है, अन्य कोई त्याग करनेवाला नहीं है — इस प्रकार आत्मा में निश्चय करके, प्रत्याख्यान के (त्याग के) समय प्रत्याख्यान करनेयोग्य परभाव की उपाधिमात्र से प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्व का नाम (आत्मा को) होने पर भी, परमार्थ से देखा जाये तो परभाव के त्याग कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है, स्वयं तो इस नाम से रहित है क्योंकि ज्ञानस्वभाव से स्वयं छूटा नहीं है, इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है — ऐसा अनुभव करना चाहिए।

भावार्थ : आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व है वह नाममात्र है। वह स्वयं तो ज्ञानसवभाव है। परद्रव्य को पर जाना, और फिर परभाव का ग्रहण न करना वही त्याग है। इस प्रकार, स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं है।

गाथा - ३४ पर प्रवचन

'इस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है ?' उसको आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि — (गाथा) ३४

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।।३४।।

सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावों का करे।
इससे नियम से जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है॥३४॥

आहाहा! गाथार्थ थोड़ा लेते हैं। **जिससे अपने 'अतिरिक्त सर्व पदार्थों को पर हैं' ऐसा जानकर....** राग — दया, दान का राग, भक्ति का, विनय का राग आता है परन्तु जानता है कि यह पर है; मेरी चीज नहीं। मेरी पर्याय में होता है परन्तु मेरी चीज नहीं। आहाहा! **ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है — त्याग करता है, उससे, प्रत्याख्यान ज्ञान ही है,....** अर्थात् जाना कि यह राग है — ऐसा जानकर ज्ञान में स्थिर हो गया, वह प्रत्याख्यान है। ज्ञानस्वरूपी भगवान ज्ञान में लीन हो गया, वह प्रत्याख्यान है। आहाहा!

आहाहा! बात तो बात, तीन लोक के नाथ की वाणी! सन्त उसे जगत को जाहिर

करते हैं – आड़तिया होकर प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा... आहाहा! प्रभु तो ऐसा कहते थे, प्रभु का मार्ग तो यह है। आहाहा! समझ में आया? किसका गर्व करना — किसका अभिमान करना? आहाहा! यश लेना, इज्जत लेना, भाई! क्या है तुझे? तुझे कहाँ जाना है नाथ? आहाहा! तेरे स्वरूप का आचरण करना, यह तेरा यश है। आहाहा! आहा! **ऐसा नियम से जानना।**

अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है,.... क्या कहते हैं? भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी का दृष्टि ज्ञान-अनुभव तो हुआ; अब ज्ञान, ज्ञान में रहता है, ज्ञान, ज्ञान में रमता है, उसका नाम प्रत्याख्यान है। आहाहा! यह कोई बाहर का त्याग किया, यह प्रत्याख्यान... यह प्रत्याख्यान नहीं है, बापू! यह तो अज्ञानभाव है। सुन तो सही! समझ में आया? जहाँ आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, सच्चिदानन्द प्रभु, उस-सत् शाश्वत् आनन्द और ज्ञान का सागर प्रभु, वह जहाँ भान में आया, ज्ञान हुआ कि मैं तो पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञानस्वरूप हूँ — ऐसा जीव, ज्ञान स्वभाव में स्थिर हो जाता है, वह प्रत्याख्यान है। आहाहा... आहाहा! वहाँ यह आनन्द की धारा विशेष बही। ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ। जिस ज्ञानस्वरूप का भान था, आंशिक आचरण था, एक अंश.... श्रद्धा थी समकित था, ज्ञान था और आंशिक आचरण भी था परन्तु यह तो विशेष ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में जहाँ लीन हुआ, आत्मा का आश्रय करके (लीन हुआ) तो वह ज्ञानस्वरूपी परिणमन आनन्दरूपी हुआ, वही प्रत्याख्यान है। आहाहा! ऐसा यह प्रत्याख्यान है। कहो, नौलमभाई! तुमने तो ऐसा सुना भी नहीं होगा, स्थानकवासी में तो यह करो और वह करो....

श्रोता : सच्चा स्थानक-वास अन्दर में होता है न? अन्य तो बनावटी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह स्थानक अन्दर है भगवान! कल आया था न? स्थायी... स्थायी इति... भगवान ध्रुव स्थान है, स्थान है। वहाँ बस न! वह स्थानक वासी है।

श्रोता : अन्य तो बाहर का....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अज्ञान है। आहाहा... आहाहा!

अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था अथवा अपने ज्ञान में राग के अभावरूप अवस्था,

अर्थात् आनन्द की उग्र अवस्था, वह प्रत्याख्यान है। आहाहा! यहाँ तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को भी राग का-दु:ख का वेदन है। आहाहा! कोई कहे कि ज्ञानी को दु:ख का वेदन ही नहीं- यह दृष्टि मिथ्यात्व है। वह कोई वस्तु को नहीं समझता है। समझ में आया? आहाहा! और दु:ख का वेदन करना, वह तीव्र कषाय है - ऐसा कहते हैं। वह अज्ञान है, मूढ़ है। अरे! छठवें गुणस्थान तक दु:ख का वेदन है, सातवें में भी अबुद्धिपूर्वक दु:ख का वेदन है। अरे! दशवें तक भी अबुद्धिपूर्वक दु:ख का वेदन है। भाई! तुझे पता नहीं। पूर्णानन्द जब तक प्रगट नहीं हो, तब तक दु:ख का अंश अन्दर है। आहाहा... आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म! आहाहा!

टीका : यह भगवान ज्ञाता.... भाषा देखो! भगवान ज्ञातादृष्टा आहाहा! **ज्ञाता-द्रव्य....** आहाहा! यह प्रभु आत्मा तो ज्ञायकद्रव्य है। सर्वज्ञ-सर्वज्ञ स्वभावी द्रव्य है — ऐसा न कहकर ज्ञायक कहा है। ऐसा कहकर ज्ञानस्वभावी ज्ञाता कहा। आहाहा! परन्तु भगवान आत्मा - भाषा ऐसी ली है। आहाहा! एक जगह बाहर बात गयी - आत्मा को भगवान कहते हैं। उसने कहा नहीं। नहीं। अभी भगवान नहीं होता। अरे सुन न प्रभु! कोई बाहर से आया था, अभी भगवान नहीं होता। अरे भगवान! तीनों काल आत्मा तो भगवान ही है। उसका स्वभाव तो भगवान ही है, पर्याय में भूल है। आहाहा! भगवानपना न हो तो पर्याय में भगवानपना आयेगा कहाँ से? कोई बाहर से आती है कोई चीज? प्राप्त की प्राप्ति है। भगवान - भग अर्थात् आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी; वान अर्थात् उसका स्वरूप। भगवान ज्ञान और आनन्द लक्ष्मीवान यह आत्मा है। आहाहा!

श्रोता : दो प्रकार की लक्ष्मी लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल की लक्ष्मी वह तो भटकने की है, मार डालने की। पैसा धूल, अजीव धूल, मिट्टी धूल। मैं लक्ष्मीवान हूँ, मैं लक्ष्मीपति हूँ, जड़पति हूँ। आहाहा! यहाँ तो दूसरी बात है बापू! वह लक्ष्मी-अजीव तो कहीं रह गयी परन्तु अन्दर में राग है, उसका मैं स्वामी हूँ, वह भी मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी को वेदन है परन्तु वह मेरी चीज नहीं। मेरे वेदन में आती है, इस अपेक्षा से मेरे मैं है परन्तु वह मेरी त्रिकाली चीज में नहीं। आहाहा! समझ में आया? अब एक अपेक्षा से ऐसा भी कहा; दूसरी अपेक्षा से प्रवचनसार

में नय अधिकार में ऐसा भी कहा कि ज्ञानी को आत्मज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, उसको भी जो राग आता है, दु:ख होता है, उसका वह स्वामी है। सैंतालीस नय में लिया है। समझ में आया ? क्योंकि उसकी पर्याय में होता है। किसी पर से होता और पर में होता है — ऐसा नहीं है। आहाहा! समकिती-ज्ञानी, परन्तु अपनी पर्याय में जो दु:ख की-इस अत्यागभाव की पर्याय होती है, उसका भी स्वामी तो मैं हूँ। आहाहा! परन्तु उसका अब मैं आचरण करने का अभिलाषी, वह स्वामीपना मेरी पर्याय में राग का है, दु:ख का है, उसका त्याग, प्रत्याख्यान कैसे हो ? इसकी बात विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९८ गाथा ३४ दिनाङ्क ०३-१०-१९७८ मंगलवार
आसोज शुक्ल १, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, गाथा ३४। शिष्य अपना स्वरूप गुरु-मुख से सुनकर अपना आत्मा, राग से भिन्न है — ऐसा आत्मा का अनुभव-सम्यग्दर्शन हुआ। ज्ञाता वस्तु, वह मैं हूँ - ऐसी दृष्टि में ज्ञातापने की प्रतीति की। आत्मा में आनन्द के अंश का वेदन भी आया, वह शिष्य अब। — ऐसा पूछता है कि सम्यग्दृष्टि है अनुभवी है, आहाहा! प्रभु! मेरे स्वरूप का आचरण किस प्रकार हो ? मेरे स्वरूप में आचरण-सम्यग्दर्शन है, अनुभव है, परन्तु अभी आचरण में शुभ-अशुभराग आचरण में पड़ा है। समझ में आया ? शुभ-अशुभराग-दु:ख, वह आचरण में है। शिष्य को सम्यग्दर्शन-अनुभव होने पर भी, रागादि आचरण में है, पर्याय में राग का — पुण्य-पाप का आचरण है, वह ऐसा कहता है कि प्रभु! मेरा स्वरूप मैंने जाना, उसका आचरण करने का मैं इच्छुक हूँ तो प्रभु! मैं आपको पूछता हूँ... आहाहा! सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी है। सब भान है तो भी प्रभु भगवन्त.... ऐसा कहते हैं प्रभु! मेरे आत्मा का आचरण किस प्रकार हो ? — ऐसा मैं पूछता हूँ। आहाहा!

उसका अर्थ ? — कि सम्यग्दर्शन-आनन्द का अनुभव हुआ होने पर भी, स्वरूप का आचरण अभी नहीं है — जो स्थिरता होनी चाहिए, वह नहीं है। इस कारण शिष्य को प्रश्न उत्पन्न हुआ। प्रभु! मुझे मेरे आनन्द के नाथ ज्ञातावस्तु में आचरण करने का मैं

अभिलाषी हूँ। आहाहा! तो इस रागादि आचरण का त्याग कैसे हो? आहाहा! ऐसा है। सम्यग्दृष्टि है-अनुभवी है। आहाहा! वह भी अपनी पर्याय में अव्रत का-राग-द्वेष का आचरण देखकर... आहाहा! मेरी पर्याय में, प्रभु! दुःख का आचरण है। आहाहा! ऐसा सम्यग्दृष्टि - ज्ञानी, गुरु से कहता है। आहाहा! प्रभु! तो उस मेरे स्वरूप में अब आचरण कैसे हो? यह राग, द्वेष और दुःख का आचरण है, उसका त्याग/अभाव कैसे हो? यह मैं पूछता हूँ प्रभु! आहाहा! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ तो उसको दुःख है ही नहीं... वह ज्ञान नहीं, मिथ्याज्ञान है, दृष्टि मिथ्यात्व है। ऐसी बहुत कठिन बातें हैं बापू! समझ में आया? क्योंकि भगवान आत्मा... आहाहा! ज्ञाता का नमूना सम्यग्दर्शन में हुआ। समझ में आया? मैं आनन्द हूँ, ज्ञान हूँ, मैं वीतरागमूर्ति प्रभु हूँ — ऐसी पर्याय में भी वीतरागी सम्यग्दर्शन वीतरागी सम्यग्ज्ञान; शास्त्रज्ञान नहीं, वीतरागी स्वरूप-आचरण का अंश प्रगट हुआ है, वह अब अपने शुद्ध स्वरूप में विशेष आचरण करने का इच्छुक... आहाहा! और राग तथा दुःख की पर्याय का त्याग करने का इच्छुक; परवस्तु का त्याग-ग्रहण तो यहाँ है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? मार्ग बहुत (अलौकिक है) भाई! आहाहा!

शिष्य को उत्तर देते हैं 'यतो हि' शब्द है न भाई? यतो हि का अर्थ 'यह' किया है न? यह 'यह' इसका अर्थ है न? गुजराती में 'आ' है? उसमें यह अर्थ तो 'हि' का ठीक है।

'यतो हि' संस्कृत में है न? 'यतो हि' संस्कृत है। यह है न? यह - यह संस्कृत में 'यतो हि' ३४ गाथा-टीका। शिष्य क्या कहते हैं, उसका उत्तर गुरु क्या कहते हैं? आहाहा! यह भगवान आत्मा, आहाहा! यह भगवान आत्मा 'यह' ऐसी दृष्टि में अनुभव में तो प्रत्यक्ष आया है। आहाहा! मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होकर यह आत्मा (शिष्य को) जानने में आया है। समझ में आया? यह भगवान आत्मा ज्ञाता... आहाहा! गुरु कहते हैं कि यह भगवान आत्मा.... आहाहा! इसे भगवन्त कहा 'भगवत ज्ञातृ द्रव्यं' संस्कृत, संस्कृत में 'यतो हि' 'भगवत ज्ञातृ द्रव्यं' पहला शब्द यतो हि लिया संस्कृत में से 'यह' — फिर अन्त में 'भगवत ज्ञातृ द्रव्यं' आहा! संस्कृत में है, उसकी टीका है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के श्लोक (गाथायें) हैं। उनकी अमृतचन्द्राचार्य टीका करते हैं, उसका यह हिन्दी

अनुवाद था। यह अनुवाद बाद में गुजराती हुआ। अभी अपने हिन्दी चलता है। आहाहा! '*यह*' **यह भगवान ज्ञाता-द्रव्य....** आहाहा! चाहे तो स्त्री हो, बालक हो, चाहे तो पुरुष राजकुमार हो, आहाहा! वह अपने आत्मा में आचरण करने का अभिलाषी, आहाहा! मेरा द्रव्य '*यह*' ज्ञाता भगवन्त, ज्ञाता द्रव्य, नजर में आया भगवन्त ज्ञाताद्रव्य। निमित्त मैं नहीं राग-द्वेष मैं नहीं पर्याय में नहीं, यह तो ज्ञाता, यह ज्ञाता। आहाहा! ज्ञाताद्रव्य अर्थात् आत्मा है। यह भगवान ज्ञाताद्रव्य प्रभु है — ऐसी बातें हैं। यह **यह भगवान ज्ञाता-द्रव्य (आत्मा) है...**

यह **वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावों को,....** आहाहा! कर्म के निमित्त से अपने में-पर्याय में होनेवाले अन्य समस्त परभाव-शुभाशुभभाव आस्रव, विकारीभाव... आहाहा। सम्यग्दृष्टि को भी विकारीभाव इस पर्याय में है — ऐसा बताना है। आहाहा! और उसे विकारी का वेदन भी है। आहाहा! तो कहते हैं कि **वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले....** यह पुण्य और पाप, काम और क्रोध जो विकल्प हैं, वह स्वद्रव्य का स्वभाव नहीं है। पर्याय में विभावरूप, अन्य द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला विभाव है। समझ में आया? **वह अन्य....** '*यह*' यह भी कहा, हों! '*यह*' है ऐसा, जैसे यह है, यह ज्ञाता भगवान द्रव्य है '*यह*' **अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले....** '*हैं*' ऐसा कहते हैं। पर्याय में, अवस्था में राग-द्वेष '*यह*' अन्य द्रव्य के निमित्त से होनेवाला भाव मेरी पर्याय में है। आहाहा! ऐसी बातें कठिन, अरे!

वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावों को,.... आहाहा! चाहे तो तीर्थंकर गोत्र बाँधे — ऐसा शुभभाव हो, आहाहा! परन्तु वह तो अन्य भाव-विभावभाव है। आहाहा! यह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाला (विभावभाव...) यहाँ द्रव्यस्वभाव नहीं है - ऐसा बताना है; पर्याय में होता है परन्तु अन्य के निमित्त के कारण होता है। है अपनी पर्याय में, अपने कारण से। परन्तु अपना स्वभाव है, यह विभावरूप परिणमन का कारण है ही नहीं। यहाँ '*यह*' लेना है न? वह स्वभाव जो भगवन्त ज्ञाताद्रव्य है, वह तो है। इसकी पर्याय में द्रव्यस्वभाव से यह (विभाव) परिणमन नहीं है, अन्य द्रव्य के स्वभाव से विकारी विभावभाव दुःखभाव मेरी पर्याय में है।

श्रोता : कौन कहता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : समकिती कहता है। यह गुरु इसे कहते हैं। समझ में आया?

इन परभावों को-पुण्य और पाप... जिस भाव से स्वर्ग मिले, जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधे, जिस भाव से आहारकशरीर आदि का बन्ध हो, वह सब भाव, परभाव, विभावभाव, दुःखभाव, आकुलतारूप भाव है। आहाहा! समझ में आया? **समस्त परभाव...** इसमें कोई बाकी नहीं, विकल्पमात्र चाहे तो तीर्थंकर गोत्र का भाव हो, वह भी विकार है, विभाव है, दुःख है, आहाहा! अपराध है। जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधता है, वह भाव अपराध है। षोड्श कारणभावना-यह आता है न? पुरुषार्थसिद्धियुपाय में लिखा है, वह अपराध है। आहाहा! वह अपना स्वभाव नहीं; अपराध उत्पन्न होता है पर्याय में। आहाहा! और अपराध का बन्ध होता है न? अपराध से भावबन्ध होता है न? अपराध के कारण (बन्ध होता है)। निरपराधी स्वभाव से बन्ध होता है? आहाहा! वह **अन्य समस्त....** अन्य समस्त-चाहे जितना विकल्प शुभ आदि हो, आहाहा! यह **अन्य समस्त परभावों को, उनके अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने से....** भाषा देखो! ऐसा कि अपना स्वभावभाव जो ज्ञाता-दृष्टा-आनन्द है — ऐसे स्वभाव से व्याप्त न होने से, इस अपने स्वभावभाव से विभावभाव ज्ञात न होने से... समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग भाई! साधारण प्राणी को कहाँ जाना बापू? इसके बिना जन्म-मरण नहीं मिटेगा भाई! आहाहा!

श्रोता : अपनी पर्याय में होता है, फिर भी व्याप्य-व्यापक नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपनी पर्याय में होनेवाला, पर से नहीं, पर के कारण से नहीं, परन्तु अपनी पर्याय में होनेवाला। है, उसको त्यागना है न? उसको छोड़ना है न? पर (चीज) छूटी हुई है, उसको छोड़ना क्या? अपनी पर्याय में राग-द्वेष आकुलता का भाव पर्याय में है परन्तु आत्मा अपने स्वभाव से परभावरूप व्याप्त न होने से — स्वभाव से विभावरूप नहीं होता। आहाहा!

देखो, यह आसोज शुक्ल एकम् है आज मंगल दिन है। आहाहा! रामचन्द्रजी जब रावण को मारते हैं, वह दशेरा, दशहरा कहते हैं न? सिर तो एक ही था परन्तु हार बहुत कीमती, बहुत अरबों रुपये की कीमत के हार के कारण दिखे ऐसे दस सिर दिखते... आहाहा! वह सीताजी को ले गया। सीताजी भी ज्ञानी समकिती; रामचन्द्रजी धर्मात्मा,

समकिती, आहाहा! वह सीताजी को लेने को गये, वहाँ रावण ने लक्ष्मण को विद्या लगायी, रावण ने विद्या (मारी)। आहाहा! अभी अव्रत है न, रागभाव है न? रामचन्द्रजी उस भव से मोक्ष जानेवाले हैं। गलीचा ऐसा पड़ा है रथ में, करोड़ों मनुष्य, क्या कहलाता है वह? लश्कर, बड़ा पण्डाल, करोड़ों मनुष्य। उसने (रावण ने) विद्या डाली है। आहाहा! देखो, सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी-अनुभवी, लक्ष्मण को कहते हैं... यह तो हम दुकान पर सब चलते थे, दुकान पर यह गाते थे — चौंसठ, पैंसठ, छयासठ की साल में — 'आव्या ता त्यारे तृण जणा णे जासु एकाएक' रामचन्द्रजी लक्ष्मण को कहते हैं, ज्ञानी हैं। गुजराती भाषा में है। 'आव्या ता त्यारे तृण जणां णे जासु एकाएक, ए माताजी खवरूँ पूछशे बंधव सु सु जवाब देइस, लक्ष्मण जागने ओ जीव, बंधव बोल दे एक बार रे।' सुमेरुमलजी! यह रामचन्द्रजी ज्ञानी-अनुभवी... आहाहा! परन्तु अभी गृहस्थाश्रम में हैं, राग है न? राग का वेदन है न? आहाहा! हे लक्ष्मण! प्रभु! हम तीन जनें आये थे वन में। वह सीता गयी और तू भी इस (मूर्च्छा में) पड़ा, भाई! मैं अकेला जाऊँगा तो माता पूछेगी — भाई! तुम तीन गये थे, तू अकेला वापस आया? हे बंधव! एक बार बोल, एक बार बोल। कहो बालचन्दजी! देखो यह समकिती अनुभवी... आहाहा! प्रत्याख्यान नहीं न? अभी स्वरूप का चारित्र नहीं। आहाहा!

और फिर भी लक्ष्मण जागते हैं, उस बाई (विशल्या) के कारण सचेत होते हैं। एक बाई है न? शास्त्र में बड़ा लेख है, विशल्या नाम की राजकुमारी है, वह पूर्व में चक्रवर्ती की पुत्री थी, फिर विद्याधर उसे (हरकर जंगल में ले गया था)। जंगल में उसको अजगर निगल गया था। अज अर्थात् बकरा, गर अर्थात् गले (निगले) वह अजगर। बकरा, अज अर्थात् बकरा। उसको अजगर कहते हैं न? अज अर्थात् बकरा - बकरे को निगले, वह अजगर लम्बा, २५ हाथ का लम्बा था। उस कन्या को विद्याधर ने जंगल में छोड़ दिया था। उसे अजगर निगल गया। थोड़ा (हिस्सा) बाकी रहा था मुँह, उसमें उसका पिता-चक्रवर्ती ढूंढ़ते-ढूँढते वहाँ आया। अरे! यह क्या? अजगर को मारने के लिए बाण उठाया। कन्या कहती है — पिताजी! मत मारो, मैंने तो आहार का त्याग कर दिया है। अजगर के मुख में है, थोड़ी बाहर थोड़ी अन्दर। आहाहा! पिताजी मत मारो, मैं निकलकर आहार नहीं ले सकती। मुझे तो आहार का त्याग है। आहाहा! उसकी देह छूट गयी, राजा की कुँवरी

रूप से विशल्या नाम की (पुत्री) हुई परन्तु उसको ऐसी लब्धि हुई, आहाहा! लक्ष्मणजी विद्या के वश हैं, कोई कहता है विशल्या को लाओ, वह विशल्या आयेगी तो जागृत हो जायेंगे। कहो, वह विशल्या जहाँ आती है, जहाँ पाण्डाल में प्रवेश करती है, वहाँ लाखों घायल जीव थे, घायल; ठीक हो जाते हैं। साझा (गुजराती शब्द) समझते हैं न? (श्रोता : हाँ, तैयार) जब वह लक्ष्मण के समीप आती है, ऐसे लक्ष्मण जाग जाते हैं और बोलते हैं — कहाँ गया रावण? रावण को मारने का विकल्प... कहाँ गया रावण? उठकर लड़ाई करते हैं। रावण को छेद डालते हैं। आहाहा! फिर भी वे रामचन्द्रजी और लक्ष्मण महापुरुष हैं न! आहाहा!

उसे मारकर मन्दोदरी — रावण की स्त्री (रानी) के समीप जाते हैं (और कहते हैं) बा, बहिन, माता! हम ऐसी वासुदेव और बलदेव की पदवी लेकर आये हैं; इस कारण यह हुआ है। मेरा कोई विरोधी नहीं था परन्तु इस पदवी के योग्य यह काम किया है। देखो! समकिती ज्ञानी! आहाहा! वह मन्दोदरी विधवा हो जाती है, इसलिए वहाँ जाते हैं। माता, बहिन! हम इस पदवीधर हैं, इस कारण यह काम हुआ, बहिन! आहाहा! माफ करना। आहाहा! वे भाई रावण को जलाने के लिए ले जाते हैं, प्रभु! रामचन्द्रजी और लक्ष्मण साथ में जाते हैं। ऐ सुमेरुमलजी! देखो तो सही इतिहास! आहाहा! समकिती ज्ञानी (को) ऐसा राग था और जब रावण को जलाते हैं, तालाब की पाल पर — बड़ी पाल है (स्वयं बैठते हैं) रामचन्द्रजी और लक्ष्मण। कहो! मार डाला, उसके प्रति भी फिर ऐसा भाव! समकिती है, अनुभवी है, यह जरा पदवी के योग्य राग आ गया, राग-दुःख का वेदन हुआ। आहाहा!

यह शिष्य यहाँ पूछता है प्रभु! आहाहा! मेरा नाथ आत्मा ज्ञाताद्रव्य प्रभु, मेरी दृष्टि में आया है, मेरा भगवान आत्मा मेरे अनुभव में, अनुभव में जो वस्तु अनन्त गुण का पिण्ड है, उसका अनुसरण करके अनुभव हुआ है प्रभु मुझे, परन्तु मेरे स्वरूप में आचरण करने का मैं अभिलाषी हूँ। आहाहा! मेरी पर्याय में राग-द्वेष का आचरण है, इसलिए प्रभु! उसका त्याग और स्वरूप का आचरण कैसे हो? तो गुरु कहते हैं। आहाहा! जब सीताजी को ले जाते हैं, रावण नजदीक आता है... दूर रहना, छह महीने मेरे सामने देखना नहीं, समकिती... ऐ सुमेरुमलजी! सीताजी ज्ञानी, आत्मज्ञानी... आहाहा! पतिव्रता, रामचन्द्रजी के अतिरिक्त विकल्प नहीं किसी पति का, चाहे जो हो, आहाहा! रावण आता है ऐसे....

मेरा नाथ छह महीने में मेरी सम्हाल लेने न आवे फिर तू विचारना,.... आयेंगे। आहाहा! देखो, यह समकिती का भी अन्दर का आचरण। आहाहा!

उसमें हनुमानजी, हनुमान राजकुमार हैं न, वह राजकुमार है, हों! वानर नहीं, हों! वानर का तो उनकी ध्वजा में चिह्न था, वानर नहीं थे, तीन खण्ड में तो उनके जैसा किसी का रूप नहीं था — हनुमान ऐसे कामदेव थे। आहाहा! वह रामचन्द्रजी की अँगूठी है न, उसे लेकर सीता के पास जाते हैं। देखो, यह समकिती के आचरण का राग का भाव। आहाहा! सीताजी अँगूठी ऐसे देखती हैं। 'वनचर वीरा रे वधामणी, हे वीरा क्यां थकी लाव्यो ए अंगूठी मारा नाथ नी' यह समकिती। रामचन्द्रजी की थी और उनके जैसा तो कोई पुरुष उस समय नहीं था, वे बलदेव पुरुष थे 'ए अंगूठी मारा नाथ नी ए वीरा क्यां थकी लाव्यो, वनचर वीरा रे वधामणी' यह बधाई, यह अँगूठी लेकर आया मुझे बधाई दी। अब भगवान आयेंगे, अब रामचन्द्रजी आयेंगे। आहाहा! देखो, यह राग के विकल्प, आहाहा! फिर तो रामचन्द्रजी वहाँ जाते हैं, और (रावण को) मारते हैं। आहाहा!

समकिती के भी आचरण में भी राग का आचरण होता है। आहाहा! अव्रतभाव है न? अचारित्रभाव है न? आहाहा! तो प्रभु! अब तो मुझे मेरा आचरण करना है न नाथ! आहाहा! मेरी पर्याय में परभाव का आचरण तो है। मेरा स्वभाव परभावरूप हो — ऐसा नहीं है परन्तु पर्याय में विभावरूप, परद्रव्य के निमित्त से मेरी पर्याय में है। आहाहा! तो कहते हैं प्रभु! शिष्य को गुरु कहते हैं कि तेरा द्रव्यस्वभाव तो उसमें व्याप्त न होने से,.... द्रव्यस्वभाव जो है, उससे तो विभावरूप परिणमन नहीं होता। भगवान आत्मा, आहाहा! ज्ञान और आनन्द और शान्तरस का समुद्र प्रभु, अकषायस्वभाव का सागर नाथ, वह अकषायस्वभावस्वरूप अपने स्वभाव से कषाय में परिणमन नहीं होता। द्रव्यस्वभाव से नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? यह बातें बापू! यह तो अन्तर की बातें हैं भाई! क्या हो? अभी तो सब (मार्ग) गुप्त हो गया है — फेरफार; इसलिए लोगों को सत्य बात भी खोटी लगती है। यह तो एकान्त है... अरे प्रभु! सुन तो सही नाथ! यह तेरे चैतन्य के चमत्कार की कोई अलौकिक बातें हैं। आहाहा!

भाई! शिष्य को गुरु कहते हैं — **उनके अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने से**

पररूप जानकर,.... समकित दृष्टि ज्ञानी अनुभवी, राग और दया, दान तथा अव्रत आदि के भाव हैं, वह विभाव है; वह अन्य द्रव्य के निमित्त से स्वभावरूप पर्याय में हुआ है। मेरे स्वभाव से नहीं। समझ में आया? आहाहा! अपने स्वभावभाव से... अपने स्वभाव ज्ञान, दर्शन, आनन्द — ऐसे स्वभावभाव से व्याप्त न होने से... आहाहा! उस विकारी भावरूप अपने स्वभावभाव से व्याप्त नहीं होता, द्रव्यस्वभाव से वह व्याप्त नहीं होता। आहाहा! **पररूप जानकर,....** सम्यग्दृष्टि ज्ञानी-धर्मात्मा, वह राग-पुण्य-पाप का भाव को पररूप जानकर, मेरे द्रव्यस्वभाव से मैं व्याप्त नहीं होनेवाला आत्मा हूँ। आहाहा! समझ में आया? उस विकारी (भाव), परद्रव्य के स्वभाव से परिणमन है, उसे पररूप जानकर, धर्मात्मा... आहाहा! देखो! यह ज्ञानी पररूप जानकर... वेदन में रागादि आता है परन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है। मेरी पर्याय में है परन्तु मेरा स्वभाव नहीं है। आहाहा! **पररूप जानकर त्याग देता है।**

यह राग और विकार मेरा स्वभाव नहीं है। मेरे स्वभाव से मैं विभावरूप नहीं हुआ। यह परभाव है, मेरी पर्याय में, पर्याय की कमजोरी से, परन्तु मेरे द्रव्यस्वभाव से मैं विभावरूप परिणमन नहीं होनेवाला.... आहाहा! ऐसा **पररूप जानकर, त्याग देता है;....** अर्थात् उस रूप परिणमता नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग बापू! आहाहा! देखो, यह प्रत्याख्यान! यह प्रत्याख्यान इसका नाम है। आहाहा! भाई! प्रत्याख्यान कोई अलौकिक चीज है, नाथ! आहाहा! प्रत्याख्यान, वह चारित्र की दशा है। उस अचारित्र की दशा का भाव, ज्ञानी ज्ञानपने में पररूप जानकर — यह पर है, मैं इसरूप नहीं परिणमता; इस प्रकार राग का अन्दर में त्याग करते हैं। आहाहा! **जो पहले जानता है....** कि पर है.... **वही बाद में त्याग करता है,....** पर है तो पररूप मैं नहीं होनेवाला। आहाहा! अरे ऐसी बात कहाँ? अन्दर अमृत का सागर उछलता है, उसमें से इसे अधिक अमृत के सागर के आचरण में जाना है न? जाना है न? उस शिष्य को यह कहते हैं। आहाहा!

आहाहा! देह कहाँ, वाणी कहाँ, मन कहाँ, कहीं वे तो पर में रह गये। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार तो कहीं पर में रह गये। यहाँ तो पर्याय में; द्रव्यस्वभाव से व्याप्त नहीं होनेवाला मैं, पर्याय में परद्रव्य के निमित्त से विभावरूप परिणमन होता है, यह मैं जानता हूँ कि यह राग

है, क्योंकि इस राग की दिशा परतरफ है, परतरफ के लक्ष्य से राग होता है; अपने लक्ष्य से राग नहीं होता। अत: यह राग है, वह परलक्ष्य में उत्पन्न होनेवाला विभाव, वह परभाव है — ऐसा जानकर ज्ञान में एकाग्र हो जाता है, राग छूट जाता है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा में स्थिर होते हैं। आहाहा! उस राग के आचरण में था, वह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ने जाना कि यह तो विभावरूप परभाव है, दु:खरूप दशा है, मेरी दशा नहीं; मेरे द्रव्यस्वभाव की दशा नहीं, आहाहा! परन्तु पर्याय में-मुझमें, आहाहा! आकुलता का वेदन है, परन्तु वह पर है। मेरे आनन्द के नाथ की-द्रव्यस्वभाव की वह चीज नहीं है। आहाहा! उसको जानकर, पर को पर जाना, उस समय ज्ञान (पर से) छूट गया। दृष्टि में से (पर से छूट गया) पर्याय में से और ज्ञानस्वरूपी भगवान ज्ञान में लीन हो गया। जो राग में जरा अस्थिरता थी, उस राग को छोड़कर स्थिर हो गया, इसका नाम प्रत्याख्यान है। ऐसी बात है।

बाहर से हाथ जोड़कर प्रत्याख्यान करो और यह करो... बापू! यह सब बातें झूठी हैं। भाई! तेरा मार्ग कोई अलग है। आहाहा! बाह्य से अपवास किया और यह किया, त्याग किया और यह हमारा त्याग है... अरे प्रभु! सुन तो सही! यह बाहर का त्याग तो अन्दर में है ही नहीं 'त्यागोपादान शून्यत्व शक्ति' क्या कहते हैं? भगवान आत्मा में अनादि से ऐसा एक गुण है कि पर का ग्रहण और त्याग तो उसमें है ही नहीं। रजकण, कर्म, परपदार्थ का ग्रहण और पर का त्याग, उससे तो प्रभु (आत्मा) शून्य है। समझ में आया? आहाहा! प्रभु! तेरा एक गुण ऐसा है 'त्यागोपादान शून्यत्व।' यह आहार-पानी का त्याग और आहार-पानी का ग्रहण, यह तेरी चीज में है ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! झाँझरीजी! ऐसा मार्ग है भगवान! आहाहा! परम सत्य है प्रभु! आहाहा! अरे! इसे लोगों ने गड़बड़ कर दिया और यह तो निश्चय की बातें हैं... परन्तु बापू! सत्य ही यह है। निश्चय अर्थात् सत्य, व्यवहार तो आरोपित कथन है। यह छोड़ा और यह त्यागी हुआ, यह तो व्यवहार का — असद्भूत व्यवहार का कथन है, परन्तु वास्तव में तो त्याग इसको कहते हैं, आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ में दृष्टि दी है, वहाँ आगे अन्दर स्थिरता करते, राग को जानते हुए कि यह राग तो पर है, इसरूप नहीं परिणमन करनेवाला मेरा द्रव्यस्वभाव है। आहाहा!

उस अपने स्वभाव में उग्ररूप से परिणमन करते हैं — स्वसंवेदन बल। स्वसंवेदन ज्ञान का वेदन, निर्विकल्प समाधि में होता है, उसका नाम प्रत्याख्यान कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

अब प्रत्याख्यान किसे कहते हैं? यह भी सुना न हो प्रभु! यह तो यह किया... यह किया... भगवान! आहाहा! भगवानरूप ही बुलाते हैं न? भगवान ज्ञाताद्रव्य कहा है न? (टीका का) पहला शब्द। आहा! जिसको पहले जाना वह त्याग देता है। त्याग देता है — ऐसा कहना भी निमित्त का कथन है। इसमें कर्तापना नहीं है, यह आगे कहेंगे। समझ में आया? आहाहा! राग का त्याग करता है, वह भी आत्मा में नाममात्र है। समझ में आया? वह रागरूप नहीं हुआ और आनन्दरूप हुआ, उसने राग का त्याग किया, यह तो कथनमात्र है; वस्तु में है नहीं। उस राग का त्याग क्या करना? राग को जानकर ज्ञान में स्थिर हुआ तो राग उत्पन्न नहीं हुआ, उसको राग का त्याग किया — ऐसा निमित्त से कथन है। आहाहा! यह कहेंगे।

इसलिए जो पहले जानता है.... आहा! एक दो लाईन में कितना अर्थ भरा है! और एक व्यक्ति कहता है — तुम समयसार की बहुत महिमा करते हो, मैंने तो पन्द्रह दिन में पढ़ डाला। बापू! पढ़ा भाई! पढ़ गया; मैं तो पढ़ गया था न! (समझ तो कहाँ?) तुम बहुत महिमा करते हो, बापू! इसकी एक-एक पंक्ति (अचिन्त्य)! आहाहा! वह समझने में बहुत कठिन लगे भाई! पर का अभ्यास और स्व का अनभ्यास अनादि का... यह कल आया था, अनादि का पर का अभ्यास, उसे मोड़ना वापस मुड़ना-गुलाँट खाना। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि होने के बाद प्रत्याख्यान कैसे होता है? उसकी बात है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि हुआ, इसलिए सर्व दोष का त्याग हो गया - ऐसा नहीं है। दृष्टि में सर्व दोष का त्याग है; पर्याय में सर्व दोष का त्याग नहीं है। आहाहा! वह सर्व दोष का त्याग,... वह सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, क्षायिक समकिती हो, आहाहा! भगवान तीर्थंकर हो, गृहस्थाश्रम में, वे भी जब णमो सिद्धाणं कहकर चारित्र अंगीकार करते हैं... वे पंच नमस्कार नहीं गिनते हैं। तीर्थंकर गृहस्थाश्रम में हैं, तब तक-वहाँ तक राग, पुण्य-पाप का आचरण, भोग का आचरण, राग का-दु:ख का आचरण है। आहाहा! यह भगवान जब चारित्र अंगीकार करते हैं, शास्त्र में

ऐसा लेख है, णमो सिद्धाणं, बस! णमो सिद्धाणं करके स्वरूप में अन्दर उतर जाते हैं। आहाहा! तब उनको — तीर्थंकर को भी प्रत्याख्यान अर्थात् चारित्रदशा होती है। आहाहा!

इसलिए जो पहले जानता था, पहले जानता था कि यह राग पर है, वह जाननेवाला जाने कि यह राग पर है, पहले जानता था **वही बाद में त्याग करता है,....** आहाहा! उसमें जुड़ता नहीं है, स्वरूप में लीन होता है। आहाहा! भगवान! जैसे वह बिजली ऊपर से गिरती है और ताँबे का वायर होता है और बिजली उतर जाती है। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा, अपना अनुभव और ज्ञान तो है, परन्तु गुरु कहते हैं — राग को तूने पर जाना, पर है तो स्वपने परिणमना और पररूप नहीं — ऐसा होकर ज्ञान, ज्ञान में परिणमता है तो राग छूट जाता है (उत्पन्न नहीं होता) और राग छोड़ता है — ऐसा कहना, वह भी तेरे लिए तो नाम कथन है। आहाहा!

देखो तो गाथा! यह नवरात्रि का पहला दिवस है, नवरता कहलाता है न? नवरता-नौरता, नहीं नवरात? आहाहा! यह भगवान के सामने लड़ाई चली, राम के सामने, आहाहा! रावण का जैसे सिर काट डाला लक्ष्मण ने, मूल तो लक्ष्मण ने। वासुदेव है और यह तो बलदेव है — रामचन्द्रजी तो बलदेव हैं, उनकी पदवी ऊँची है, वासुदेव की, संसार अपेक्षा से। आहाहा! यहाँ कहते हैं — आतमराम! भगवान जहाँ अपने स्वरूप का अनुभव हुआ, वह आतमराम अपनी रमणता में चढ़ता है (तो) राग की उत्पत्ति नहीं होती, उसका नाम प्रत्याख्यान है। आहाहा! अन्तर आनन्द में रमता है - भगवान आत्मा। वह (पहले) थोड़ा आनन्द था, उसमें रमता था। अब विशेष आनन्द प्रगट करके रमता है। आहाहा! रमे तब राग का-दुःख का भाव का त्याग हो गया। अभाव हो गया, उसे त्याग किया — ऐसा कहा जाता है।

आहाहा! वरना तो भगवान आत्मा में एक अभावभाव का स्वभाव है। अरेरे! आहाहा! क्या कहते हैं? सैंतालीस शक्ति हैं न? उसमें आत्मा में एक अभाव नाम का गुण अनादि-अनन्त है। उस अभाव-स्वभाव के कारण, राग के अभावरूप परिणमन हो गया है। समझ में आया? आहाहा! अभाव-राग के अभाव-स्वभावरूप अभाव (गुण) अपने में है। रागरूप नहीं परिणमित होना — ऐसा अभाव-स्वभाव अपने में है। आहाहा! अरे!

अब ऐसी बातें, इसमें कितनी याद रखना? एक दिन रामजीभाई नहीं कहते थे? प्रभु! तेरे मार्ग की रीति तो यह है भाई! आहाहा! यह जन्म-मरण के दुःख का नाश करने को प्रभु! आहाहा! 'भव भय से डरिचित्त' होकर। आहाहा!

भाई! कठिन परन्तु करना पड़ेगा नाथ! समझ में आया? आहाहा! जो जानता है, जाननेवाले ने-भगवान ने जाना कि यह राग पर है; जाननेवाला जाने और जाननेवाला पररूप न हो और पर के अभावरूप, स्वभावरूप परिणमित हो, इसका नाम त्याग और प्रत्याख्यान कहा जाता है - ऐसी बातें हैं प्रभु! क्या हो? आहाहा! परमसत्य परमात्मा ने इस प्रकार कहा है, बाकी सब फिर उल्टी दृष्टि से बातें करें, वे नहीं चाहे जो हो। अब एक व्यक्ति तो ऐसा कहता था — इन्द्रलालजी थे जयपुर में, जयपुर में न? इन्द्रलालजी, (वे कहते थे) दिगम्बर में जन्में वे सब भेदज्ञानी तो हैं ही; अरे प्रभु! क्या करता है तू? चले गये बेचारे! मर गये। (कहते थे) दिगम्बर में जन्में वे सब तो भेदज्ञानी हैं, उन्हें अब राग का प्रत्याख्यान करना और चारित्र लेना, बस यह करना है। अरे भाई! भगवान! तूने क्या किया? भाई! आहाहा!

दिगम्बर में (जन्मा) क्या परन्तु दिगम्बर साधु अनन्त बार हुआ 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ' परन्तु वह तो राग की क्रिया है। ऐसी क्रिया तो अभी है ही नहीं, ऐसी राग की क्रिया, शुभ। मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ परन्तु प्रभु! आत्मज्ञान बिना (लेश सुख न पायो)। भगवान आनन्द का नाथ प्रभु के सन्मुख तू नहीं हुआ; उससे विमुख होकर तूने राग की क्रिया की। समझ में आया? दिगम्बर में जन्म तो क्या, दिगम्बर साधु हो तो भी मिथ्यादृष्टि है, (यदि) राग की क्रिया को अपनी मानता है तो। पाटनी जी! ऐसी बात है प्रभु! आहाहा!

भगवान ज्ञाताद्रव्य... आहाहा! आचार्यों की भाषा तो देखो! **भगवान ज्ञाता-द्रव्य...** पहला शब्द यह लिया है न? यही 'भगवत् ज्ञातृद्रव्यं' आहाहा! पामर को भगवान मानना कठिन पड़ता है। यह भगवानस्वरूप जाना हुआ होने पर भी, जब तक पर्याय में पर का, विकार का परिणमन है, तब तक वह स्वरूप का आचरण नहीं है। सम्यग्दृष्टि को आंशिक स्वरूपाचरण हुआ है परन्तु जिसे चारित्र कहें, वैसा आचरण नहीं है। अतः जो

चारित्र शब्द कहे वह तो स्वरूप जो आनन्द का नाथ है, उसको जो जाना और माना, उसमें (उग्र रूप से) चरना-आनन्द में रमना। आहाहा! स्वसंवेदन में अतीन्द्रिय आनन्द का ग्रास लेना, अतीन्द्रिय आनन्द का ग्रास लेना। समझ में आया?

भाई ने दृष्टान्त दिया है न, सोगानीजी ने? गन्ने का रस (का दृष्टान्त दिया है) गटक गटक गटक... पीते हैं न? वैसे ही धर्मात्मा स्वरूप की दृष्टि के उपरान्त स्वरूप में स्थिरता करने को गटक-गटक आनन्द को पीते हैं। अरेरे! यह क्या बात! आहाहा! यह कहते हैं। जो जानता है, वही राग का त्याग करता है; **अन्य कोई त्याग करनेवाला नहीं है — इस प्रकार....** अभी तो इस प्रकार **आत्मा में निश्चय करके,....** देखो! आहाहा! यह क्या कहा? अभी तो प्रत्याख्यान अब होगा परन्तु इस प्रकार पहले निश्चय करते हैं कि मैं ज्ञाता-द्रव्यस्वभाव, इस विभावरूप स्वभाव से परिणमनेवाला नहीं हूँ। पर्याय में विभाव है तो वह तो पर के निमित्त के अवलम्बन से हुआ है, वह दुःखदायक है। मुझे तो मेरा आचरण करना है तो जिसे पर जाना,.... पर से पृथक् रहकर जाना, उस पर को पृथक् कर देता है। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसी बात!

अरे भाई! दुःखी, दुःखी, यह दुःखी प्राणी है, भाई! आहाहा! जिसके दुःख देखकर... शास्त्र में तो ऐसी बात है, आहा! तेरा मरण हुआ और तेरी माता की आँख में से आँसू आये, वे आँसू इतने हैं कि समुद्र भर जाये। बापू! तेरा दुःख देखा नहीं जाता, भाई! आहाहा! यह अभी एक बार कहा नहीं था? लाठी में एक बहिन-कन्या थी, अठारह वर्ष की उम्र लाठी! पूरे शरीर में शीतला,.... शीतला क्या कहते हैं? चेचक। दो वर्ष का विवाह, उसके पति को दूसरी, उसका पति पहली (से) विवाह किया तो वह मर गयी। इसे शीतला हुई और खाट में पड़ी थी और दाने-दाने कीड़े, कीड़े, दाने-दाने कीड़े-कीड़े... ऐसी करवट बदले, तब हजारों कीड़े ऐसे खिरें और दूसरी ओर घूमें तो ऐसे गिरें। मर जाये, नये उत्पन्न हों। उसकी माँ को (वह) कहती है - माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में नहीं किये, यह क्या आया? आहाहा! सहन नहीं किया जाता, खाट पर जलन-जलन, दाने-दाने कीड़े परन्तु वह पीड़ा भी नरक के समक्ष तो अनन्तवें भाग की है। लोगों को कहाँ पता है भाई! नरक की पीड़ा जो पहले नरक में है, उससे अनन्तवें भाग है। उसकी देह छूट गयी, रोते-

रोते (देह छूट गयी)। आहाहा! और पागल (पशु) काटता है न? पागल कुत्ता — क्या कहते हैं तुम्हारे? (श्रोता : पागल कुत्ता) पागल कुत्ता काटता है। एक कन्या को काटा था, बारह वर्ष की जवान कन्या, उसमें पागल कुत्ता... अपने प्रेमचन्दभाई हैं, लाठी-राणपुरवाले, उनके मित्र की लड़की थी, मित्र स्वर्गस्थ हो गये थे, भाईबन्धु की कन्या-काका मुझसे सहन नहीं होता। हवा करो तो सहन नहीं होता, सोना सहन नहीं होता, पानी पिया नहीं जाता, प्रभु! क्या वेदना? कुत्ता, पागल कुत्ता, पागल, बारह वर्ष की जवान लड़की और पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा। देह छूट गयी, बापू! इस पीड़ा से अनन्तगुनी पीड़ा तुझे नरक में हुई है। आहाहा! उस पीड़ा के परमाणु को छोड़ना हो तो नाथ! तो यह उपाय तुझे करना पड़ेगा। है? आहाहा!

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९९ गाथा ३४ दिनाङ्क ०४-१०-१९७८ बुधवार
आसोज शुक्ल २, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ३४ गाथा, टीका। फिर से — **यह भगवान ज्ञाता (-द्रव्य....) आत्मा,** भगवान ज्ञाता-आत्मा, वह तो जानन-देखन स्वभावस्वरूप प्रभु है, वह ज्ञाता जानन-देखन — ऐसा चन्द्र-सूर्य जैसा प्रकाशरूप, वह जड़ प्रकाश है, यह (आत्मा) चैतन्यप्रकाश है — ऐसा आत्मा **वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले....** कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में होनेवाले शुभ-अशुभराग / विभावभाव, **अन्य समस्त परभावों को,....** वह परभाव / विकारीभाव **उनके अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने से....** अपना ज्ञानानन्दस्वभाव, उस स्वभाव से विभाव में व्याप्त, अर्थात् परिणमन न होने से। आहाहा! **पररूप जानकर....** वह विभाव समकिती को ज्ञानी को पररूप जानकर, उसकी बात है। वह पुण्य और पाप का आचरण, अव्रत का आचरण है, उसे - समकिती को, ज्ञानी को (है) तो वह जानकर की यह तो राग है, विकार है, मेरे स्वभाव से मैं परिणमन करूँ - ऐसी चीज नहीं है। स्वभाव तो स्वभावरूप से परिणमे - ऐसी चीज है। अत: मेरा चैतन्य आनन्द ज्ञानस्वभाव उस अन्य भाव के परिणमने के योग्य नहीं है। आहाहा!

व्याप्त न होने से पररूप जानकर,.... सम्यग्दृष्टि जीव, धर्मी जीव अपने स्वभाव से विभावरूप न होने के योग्य मैं तो हूँ — ऐसा जानकर, आहाहा! **त्याग देता है;....** आहाहा! रागरूप जो अव्रत का आचरण था, वह मैं तो ज्ञाता हूँ-दृष्टा हूँ, इस मेरे स्वभाव से विभावरूप परिणमन का-व्याप्त होने को मैं योग्य नहीं हूँ। मेरा स्वभाव ऐसा है नहीं। आहाहा!

देखो, यह प्रत्याख्यान! यह **त्याग देता है। इसलिए जो पहले जानता है...** ज्ञानस्वभाव में पहले जानता है कि यह रागादि विकार, वह पर है। आहाहा! **वही बाद में त्याग करता है,...** जानता है, वही अपने में स्थिर हो जाता है। आहाहा! **अन्य कोई त्याग करनेवाला नहीं है....** जाना है कि यह राग है, अस्थिरता मुझमें है; मेरा स्वभाव रागरूप परिणमने के योग्य तो नहीं, तथापि परिणमन है, तो वह रागादि... यह प्रत्याख्यान की बात है न? त्याग करनेवाला दूसरा तो कोई नहीं। जाना है कि यह राग है, विकार है, विभाव है; बस, जाना तो अपने में स्थिर हो जाता है। ऐसा तो अभी निश्चय करता है - ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार आत्मा में निश्चय करके,.... इस प्रकार प्रथम आत्मा में निश्चय करके। **प्रत्याख्यान के (त्याग के) समय....** अपने स्वरूप में लीन - स्वसंवेदन होने के काल में। आहाहा! **प्रत्याख्यान करनेयोग्य....** राग का त्याग करने के योग्य। अरे! ऐसी बातें! **परभाव की उपाधिमात्र से....** जो विकारभाव है, वह तो परभाव की उपाधि है। उसके **प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्व का नाम....** वह विकार का त्याग, मैं करता हूँ — यह तो नाममात्र (कथनमात्र) है। अपने स्वरूप में स्थिर होता है, वहाँ राग का त्याग हो जाता है, उसको (राग का) त्याग किया - ऐसा कथनमात्र है। आहाहा! ऐसी व्याख्या लोगों को कठिन पड़ती है। ऐसा कि पाठ में तो इतना है। **सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई** परभाव का प्रत्याख्यान किया अर्थात् यह बाहर से करते हैं न! इसलिए ये लोग ऐसा कहते हैं कि इन टीकाकारों और विद्वानों ने वस्तु को गहरी, गम्भीर बना दिया परन्तु यह टीका की है, परन्तु यह पाठ में है न '**पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं**' चौथा पद है या नहीं? **णाणं** अर्थात् आत्मा; ज्ञान शब्द से यहाँ आत्मा। पाठ है न?

णाणं णियमा मुणे टीका के करनेवाले तो ऐसा कहते हैं, यह बात तो अत्यन्त सरल थी, १५५ (गाथा) का प्रश्न हुआ था, वहाँ दिल्ली है न १५५ ? '**जीवादि सद्दहणं**' ऐसा कि वहाँ तो '**जीवादि सद्दहणं**' इतना है परन्तु उसका अर्थ क्या हुआ उसमें ? कि जीवादिक की श्रद्धा, अर्थात् प्रतीति मात्र विकल्प से-ऐसा नहीं। वह जीवादिक की श्रद्धा (अर्थात्) उसरूप आत्मा ज्ञानरूप, अर्थात् आत्मारूप परिणमन होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। तब उन लोगों को ऐसा लगा कि यह शास्त्र की व्याख्या गहरी कर डाली। सीधी बात थी कि '**सव्वे भावे पच्चखाई**', '**जीवादि सद्दहणं**' समकित, परन्तु '**जीवादि सद्दहणं**' समकित कहना किसे ? समझ में आया ?

यह तो श्वेताम्बर में ऐसा कहते हैं 'भावेणं सद: अंत:तत्त्व' नव तत्त्व को भाव से-अन्त:करण से श्रद्धे, वह समकित है परन्तु वह भाव क्या ? अट्ठाईसवाँ अध्ययन है — मोक्षमार्ग, उत्तराध्ययन श्वेताम्बर, हमारे तो सब व्याख्यान में चल गया न, सम्प्रदाय में, बोटाद में, हजारों लोग आते थे, सभा में। वहाँ यह कहा अन्त:करण से परन्तु अन्त:करण अर्थात् क्या ? आहाहा ! अन्तर आत्मस्वभाव का परिणमन करके श्रद्धा करना, समकित करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा ! यहाँ भी १५५ में यह कहा '**जीवादि सद्दहणं**' ज्ञानरूप अर्थात् आत्मा, वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसरूप से उसका श्रद्धारूप परिणमन हो जाना, निर्विकल्प शान्तिरूप आंशिक परिणमन हो जाना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा !

यहाँ - प्रत्याख्यान में यह कहा, ऐसा कि पाठ तो इतना था। '**सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई**' परन्तु इसका अर्थ क्या ? अर्थ तो पाठ में दिया है न ? '**णाणं णियमा मुणेदव्वं**' आत्मा निश्चय से जानना... प्रत्याख्यान को यह आत्मा निश्चय से जानना - ऐसा है या नहीं ? तो उसका अर्थ करना पड़ेगा या नहीं ? समझ में आया ? कि आत्मा — अपने स्वरूप का अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मा के आनन्दरूप ज्ञानरूप परिणमन हुआ, वह तो सम्यग्दर्शन (है)। अब उस सम्यग्दर्शन में ज्ञान तो साथ में है तो वह जानता है कि मुझमें अभी अव्रत का, अत्याग का, रागभाव का परिणमन मुझमें है। अब, उस राग का त्याग करना है तो क्या ? जो ज्ञानस्वभावी भगवान.... यह राग है — ऐसा जाना, जानकर ज्ञान में रह गया — स्थिर हो गया, वह प्रत्याख्यान है। आहाहा ! इसे तो ऐसा कि

प्रत्याख्यान, अर्थात् सर्वभाव का प्रत्याख्यान, उसमें ऐसी प्रत्याख्यान की व्याख्या ? टीकाकार ने – विद्वानों ने (अर्थ) दुरुह कर डाला। अरे बापू ! ऐसा नहीं है, उसका स्पष्टीकरण किया है। आहाहा ! कि प्रत्याख्यान इसको कहते हैं। प्रत्याख्यान कहो या चारित्र कहो, प्रत्याख्यान — राग का त्याग कहो या चारित्र कहो। १५५ गाथा में आता है न भाई ? **'जीवादि सद्दहणं सम्मत्त जीवादि ज्ञानम्'** जीवादि पदार्थ का-जीव का-ज्ञानस्वरूप का ज्ञान, उस ज्ञानरूप परिणमना, वह ज्ञान और चारित्र रागादि वर्जन ज्ञान में, रागादि वर्जन ज्ञान में — यह चारित्र (है) तो उसका यह (अर्थ यहाँ हुआ कि) जो राग है, वह जाना कि यह राग है, है साथ, परतरफ का परिणमन छूट गया और ज्ञान, ज्ञानरूप परिणमन हुआ, उसका नाम प्रत्याख्यान है।

इसलिए लोगों को ऐसा (लगता है) कि पाठ ऐसा सरल है, उसमें भी टीकाकार ने इसे ऐसा (दुरुह) कर डाला है। अभी अर्थ आया है न समयसार का, बस गाथा का अर्थ-साधारण शब्दार्थ। अरे भाई ! इस गाथा में जो भाव है, उसका ही स्पष्टीकरण किया है। गाय और भैंस के स्तन में जो दूध है, स्तन में दूध (है) तो उसमें से निकालते हैं, वह जो है, उसमें से निकालते हैं; वैसे ही गाथा में (जो) भाव है, वह टीकाकार ने तर्क से उसका स्पष्टीकरण किया है। समझ में आया ? लोगों को बाहर के आचरण की श्रद्धा और ज्ञान-शास्त्र का ज्ञान और यह व्रत आदि नियम, बस यही मोक्ष का मार्ग है (परन्तु) यह तो बन्ध का मार्ग है। आहाहा !

यहाँ तो भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी मुक्तस्वरूप प्रभु का राग से पृथक् होकर अपने आत्मा की प्रतीति-निर्मल सम्यग्दर्शन-वीतरागी पर्याय से प्रतीति करना; राग के अभावरूप वीतरागी सम्यग्दर्शन पर्याय से प्रतीति करना, आहाहा ! उसका नाम सम्यग्दर्शन है। और राग के त्यागरूप आत्मा का ज्ञानरूप परिणमन होना, वह ज्ञान है और आत्मा का, राग का जानना हुआ, जानकर उसमें परिणमन नहीं हुआ और अपने में (ज्ञान में) स्थिर हुआ, उसका नाम प्रत्याख्यान — ज्ञान प्रत्याख्यान है, यह आया है न ? चौथा पद। टीका में है, पाठ में यही है — ज्ञान प्रत्याख्यान 'ज्ञान' शब्द से (आशय) आत्मा।

भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप का भान है और फिर रागादि का आचरण पर्याय

में है, वह ज्ञान जानता है, मेरी पर्याय में दुःख / आकुलता / राग / अत्याग है। यह जाना और जानकर ज्ञान, ज्ञान में रह गया। ज्ञान (का) राग में परिणमन नहीं हुआ, वह ज्ञानस्वरूपी आत्मा, ज्ञान में रह गया, उसका नाम प्रत्याख्यान है। '**णाणं णियमा**' – ऐसा आया न! '**णाणं णियमा मुणेदव्वं**' यह आत्मा निश्चय से चारित्र और प्रत्याख्यान है। ऐसा कठिन पड़ता है, इसलिए लोगों को ऐसा (लगता है) कि ऐसा सीधा-साधा अर्थ था, उसमें ऐसा गम्भीर अर्थ निकाला। यह अर्थ ही गम्भीर है। है? यह तो स्पष्टीकरण है, भाई! तुझे प्रत्याख्यान कब होगा? कैसे होगा? – उसका स्पष्टीकरण है। भले उसे अभी प्रत्याख्यान न हो, परन्तु प्रत्याख्यान हो तब कैसे होगा? आहाहा!

भगवान (निज आत्मा) ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु, वह अपने ज्ञानस्वभावी भगवान के प्रति ज्ञान की प्रतीति-सम्यग्दर्शन की प्रतीति, वह पूरे स्वरूप की प्रतीति निर्विकल्प, वह आत्मा की परिणमन दशा है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है और वह आत्मा का ज्ञान, ज्ञानस्वरूपी भगवान का ज्ञान; शास्त्रज्ञान, वह ज्ञान नहीं। आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूपी, ज्ञान प्रधान अनन्त गुण का पिण्ड परन्तु ज्ञान प्रधान कथन चलता है न? कल आया था। ज्ञान प्रधान अनन्त गुण का पिण्ड... दोपहर को आया था। आहाहा! ऐसे भगवान ज्ञान प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु! अपने में जानने में आया कि यह राग है, यह जाना और रागमय जानकर अंश में परिणमन नहीं हुआ और ज्ञान (का) ज्ञानरूप परिणमन हुआ, उसका नाम प्रत्याख्यान / चारित्र है। आहाहा! यह स्वसन्मुख में स्थिर हुआ, स्वसन्मुख दृष्टि-ज्ञान तो है परन्तु अब स्वसन्मुख अन्तर में (एकाग्रता) करके स्थिर हो गया, जम गया। ज्ञान, ज्ञान में जम गया; आत्माराम आत्मा में रम गया। आहाहा!

ऐसी बातें! इसलिए लोगों को अर्थ दूसरा किया और ऐसा किया – ऐसा कहते हैं। अरे भगवान! तुझे बात न जँचे, इसलिए दूसरा अर्थ किया – ऐसा कहलायेगा?

श्रोता : आचार्यों ने दूसरा अर्थ किया ऐसा कहना कहीं योग्य है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह ऐसा ही कहते हैं, भाषा ऐसी है। आते हैं न विद्यानन्दजी, का। उसमें पण्डित बलभद्र ने यह लिखा है परन्तु उनका कहना है, इसलिए लिखा है। आहाहा! ऐसा कि '**जीवादि सद्दहणं सम्मत्तं**' अर्थात् जीवादि की श्रद्धा, वह समकित

परन्तु फिर उसकी व्याख्या कहते हैं — आत्मा ज्ञानस्वरूप, उसरूप परिणमे कहना, वह समकित और यह सब लम्बा किया।

श्रोता : ज्ञान, ज्ञानरूप परिणमे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा, आत्मारूप परिणमे — ऐसा उनका कहना है? और तब सम्यग्दर्शन है न? एकत्वबुद्धि में रागरूप परिणमता था, तब तक तो मिथ्यात्व था। समझ में आया? आहाहा! राग, विकार और स्वभाव दोनों भिन्न हैं, तथापि इस रागरूप मैं हूँ — ऐसी एकत्वबुद्धि थी, तब तो मिथ्यात्व है। अब इस मिथ्यात्व का त्याग... ज्ञान, ज्ञानरूप परिणमे और रागरूप न हो, भले राग हो परन्तु राग की एकत्वबुद्धि न हो, न हो और आत्मा, आत्मारूप हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। भगवान तेरी बात तो ऐसी है प्रभु! परन्तु अब लोगों ने क्या कर डाला है? यह सब फेरफार कर डाला है। आहाहा!

वह यहाँ (कहते हैं) **इस प्रकार आत्मा में निश्चय करके,....** देखो! **प्रत्याख्यान के समय....** जब प्रत्याख्यान — स्वरूप का शुद्धरूप परिणमन होने के काल में, आहाहा! **प्रत्याख्यान करने योग्य....** राग **परभाव की उपाधि....** यह रागादि है, वह पर की उपाधि है। उसका त्याग वह तो नाममात्र कथन है। यह ज्ञान-भगवान, ज्ञान में जम गया; आतमराम, आत्मा में रम गया, बस! वह प्रत्याख्यान है। आहाहा! लोगों को ऐसा है कि बाहर से प्रत्याख्यान किया, इसलिए प्रत्याख्यान हो जाता है - ऐसा मनवाना है। ऐसा नहीं होता।

श्रोता : सत्य समझने का प्रयत्न नहीं करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भाई! प्रत्याख्यान अर्थात् पच्चखाण; पच्चखाण, अर्थात् रागादि की अस्थिरता का त्याग। यह त्याग कहना, कहते हैं वह भी नाममात्र है, यहाँ तो। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी आनन्द, सच्चिदानन्द प्रभु, यह आत्मा, आत्मा के आनन्द में रम गया (जम गया)। ज्ञान, अर्थात् आत्मा; आत्मा, आत्मा में लीन हो गया। यह जो राग में लीन था, उसे छोड़कर (आत्मा में लीन हो गया)। यह तो पर है, मेरी चीज में यह नहीं — ऐसा जानकर ज्ञानस्वरूप, ज्ञान में रम गया, उस काल में प्रत्याख्यान कहा जाता है। आहाहा! ऐसी चारित्र की व्याख्या....

अब यहाँ तो पंच महाव्रत का परिणाम, वह चारित्र है (आहा) वह चारित्र,

व्यवहारचारित्र से निश्चयचारित्र होगा (– ऐसा नहीं है)। अरे भगवान! अरे...रे भाई! प्रभु! तू लुट गया है। तू ऐसी मान्यता से लुट गया है। भगवान तो ऐसा कहते हैं प्रभु! तेरी चीज तो अन्दर इन शुभ–अशुभराग के विभाव से तेरी चीज / स्वभाव भिन्न है; उस स्वभाव का जिसे सम्यक् ज्ञान हुआ, अनुभव हुआ, उसको भी रागभाव रहता है, होता है परन्तु मेरे स्वभाव से मैं रागरूप परिणमूँ — ऐसी चीज नहीं है। आहाहा!

मेरा प्रभु ज्ञान और आनन्दस्वरूपी प्रभु, वह रागरूप हो – ऐसा नहीं है। ऐसा जानकर, राग का अभाव होकर स्वभाव की शुद्धता का परिणमन प्रत्याख्यान है, उसका नाम चारित्र और प्रत्याख्यान कहते हैं। अरेरे! क्या हो? आहाहा! सम्यग्दर्शन हुआ और सम्यग्ज्ञान हुआ तो चारित्र क्यों नहीं लेते? – ऐसा कहते हैं। भाई! चारित्र ऐसा कहीं... आहाहा! भाई! चारित्र तो भगवान पूर्णानन्द का नाथ...

श्रोता : चारित्र लेना, अर्थात् भगवान हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे, वह तो भगवान हो गया। चारित्र अर्थात् आहाहा! पंच परमेष्ठी–आचार्य, उपाध्याय, साधु। आहाहा! यह कोई बाहर की चीज नहीं है, यह तो अन्तर आनन्द–स्वरूप में आनन्द की उग्रतारूप परिणमित होना, इसका नाम साधु, आचार्य और उपाध्याय है। बाहर का नग्नपना और वह कोई चीज नहीं है। आहाहा!

अलिंगग्रहण (प्रवचनसार, गाथा १७२) में ऐसा कहा है — यति की बाह्य क्रिया का जिसमें अभाव है... यह पंच महाव्रत का विकल्प आदि या नग्नपना, इस स्वभाव में तो उसका अभाव है। अलिंगग्रहण में आता है न भाई? यति की बाह्यक्रिया... आहाहा! परन्तु क्या यति की बात! यह पंच महाव्रत आदि क्रिया के विकल्प नग्नपना, वस्त्ररहितपना– इस स्वभाव में तो उसका अभाव है। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा अलिंगग्रहण (अर्थात्) राग से और पर से पकड़ में नहीं आता, क्योंकि वह महाव्रतादि का राग और नग्नपने का तो स्वभाव में अभाव है। अतः स्वभाव में अभाव है तो उससे पकड़ने में आता है? अलिंगग्रहण। लिंग अर्थात् रागादि से ग्रहण में नहीं आता। आहाहा! लोगों को ऐसा कठिन पड़ता है बापू! मार्ग तो यह है भाई!

श्रोता : अनभ्यास से कठिन पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यास नहीं और इस प्रकार का सुनने को मिलता नहीं। आहा! बाहर का सुनने को मिलता है – यह करो और वह करो। करना वह कहता है तो वह विकल्प है, राग है। राग का करना, इसे (आत्मा को) स्वभाव को सौंपना, वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा! चक्रवर्ती महाराज को ऐसा कहना कि इस महल में से कचरा निकाल दो, आहाहा! समझ में आया? यह भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव को विभाव का करना सौंपना, वह मिथ्यात्वभाव है। (राग) होता है परन्तु मैं करूँ, करने योग्य है — ऐसी वह चीज नहीं है। आहाहा! अनन्त आनन्द का बादशाह प्रभु, अनन्त गुण का बादशाह, स्वामी, वह अपने गुणरूप परिणमित हो... समझ में आया? इस रागरूप परिणमना, (पर्याय में) भले ही परिणमे, वह ज्ञान जानता है परन्तु परिणमना वह मेरी चीज है, मेरे परिणमन के योग्य मैं हूँ – ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी अद्भुत बातें!

परभाव की उपाधिमात्र से प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्व का नाम (आत्मा को) होने पर भी,.... क्या कहते हैं? भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु, अपने में जाना कि यह रागादि है... मुझमें समकित तो है, ज्ञान है, आंशिक स्वरूप का आचरण भी है परन्तु चारित्र नाम धराये ऐसा आचरण नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

वह जब अन्तरस्वभाव से राग पर है — ऐसा जाना तो सम्यग्दर्शन में आया है पहले, परन्तु जाना उसी समय उसरूप न होना और ज्ञान-आनन्दरूप होना, उसका नाम चारित्र और प्रत्याख्यान है। अरे! इसकी विधि का पता नहीं पड़ता। आहाहा!

शीरा / हलुवा होता है तो पहले आटा, घी पी जाता है, आटा, घी; बाद में गुड़-शक्कर का पानी डालते हैं न? तो यह (आटा, घी) पी जाता है तो हमें महंगा पड़ता है। अत: क्या करना है? कि पहले गुड़ के पानी में आटा सेंको, फिर डालो घी-वह (हलुवा तो) नहीं बनेगा (परन्तु) लेई भी नहीं बनेगी, है! आहाहा! महंगा पड़े परन्तु यह करने से ही छुटकारा है।

इसी प्रकार, ऐसा प्रत्याख्यान? हाँ, ऐसा प्रत्याख्यान। समझ में आया? भगवान आत्मा शुद्धस्वभाव का परिणमन श्रद्धाज्ञान का है। आंशिक स्थिरता भी है परन्तु विशेष अस्थिरता बहुत है। आहाहा! तो जब यहाँ प्रत्याख्यान के समय उसको जाना कि यह है

और जानकर वहाँ से हटकर ज्ञान में स्थिर हुआ, उसका नाम प्रत्याख्यान है। अब ऐसी व्याख्या। आहाहा! भाषा तो सादी परन्तु प्रभु, भाव तो है वह है। आहाहा!

आहा! **परभाव की उपाधिमात्र से प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्व का नाम (आत्मा को) होने पर भी,....** नाममात्र है। **परमार्थ से देखा जाये तो परभाव के त्याग कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है,....** इस राग का त्याग आत्मा करता है - ऐसा है ही नहीं, क्योंकि वस्तु, वस्तुरूप जहाँ है, वहाँ स्थिर हुए, वहाँ राग छूट गया तो राग का त्याग किया, यह तो नाममात्र कथन है। आहाहा! अब ऐसी बातें! इसे प्रत्याख्यान कहना, इसको त्याग-चारित्र कहना, इसको निश्चयव्रत कहना, निश्चयव्रत! स्वरूप, स्वरूप में रम गया और आनन्द का नाथ भगवान, वह आनन्द में रम गया-लीन हो गया। आहाहा! ऐसी व्याख्या!

श्रोता : ऐसी ही व्याख्या होती है, दूसरी होती ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तुस्वरूप ही ऐसा है न भाई! महंगा पड़े परन्तु विधि तो यह है। आटे को (घी में) सेंकने पर घी पी जाये, इसलिए आटे को पहले पानी में सेंकना फिर घी डालो - तेरे तीनों जायेंगे। आटा, घी, और शक्कर, तीनों नष्ट होंगे। सीरा / हलुवा नहीं होगा; इसी प्रकार भगवान आत्मा को पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान में प्रतीति में अन्तरसन्मुख होकर लेना पड़ेगा, महँगा पड़े परन्तु वस्तु तो यह है; और फिर राग के त्याग के लिए, वस्तु के स्वभाव में राग, पर है — ऐसा जाना, ऐसा जानकर ज्ञान, ज्ञान में जम गया। आत्मा, आत्मा में जम गया, यह '**णाणं मुणेदव्वं**' यह ज्ञान, अर्थात् आत्मा प्रत्याख्यान है। आहाहा! ऐसी बातें अब सुनने को मिले नहीं, क्या करे प्रभु? ऐसा अवसर मिला, मनुष्यपने का — अन्यत्र कहीं सुनने को मिले नहीं।

श्रोता : मिले वहाँ विपरीत मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : विपरीत मिले। आहाहा! मार्ग कठिन लगे, दुर्लभ लगे, परन्तु मार्ग तो यह है। आहाहा! 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ', ओहोहो! सन्तों ने क्या करुणा करके टीका की है! आहाहा!

भगवन्त! कल आया था, भगवत्स्वरूप नहीं? भगवानस्वरूप ज्ञान, भगवान ज्ञाता

द्रव्य — संस्कृत में भगवत् ज्ञातृ-द्रव्य, आहाहा! वह जब अपने ज्ञान-स्व को ज्ञेय बनाकर, परज्ञेय का जो ज्ञान करता था, उस पर्याय में स्वज्ञेय का ज्ञान किया, तब उसको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ। तब अब चारित्र कब होता है ? वह ज्ञान स्वरूप का ज्ञान हुआ, ज्ञानस्वरूप की प्रतीति हुई, अनुभव (हुआ), वह ज्ञान और आत्मा राग को अपने स्वभाव से रागरूप होना, वह मेरी चीज नहीं, मेरा स्वभाव नहीं — ऐसा स्वभाव जानकर, स्वभाव में स्थिर हो जाना, स्थिर हो जाना, जम जाना। जैसे पानी है, वह बर्फरूप होकर जम जाता है, बर्फ... वैसे भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु आनन्दस्वरूपी भगवान, उस आनन्द में जम जाना, रम जाना, लीन हो जाना, आहाहा! उसका नाम राग का त्याग नाममात्र है। वस्तु तो वस्तु में स्थिर हो गयी है। पाटनीजी! ऐसी बातें हैं भाई! लोगों को न बैठे, इसलिए फिर विरोध करते हैं। क्या करें बापू ? भाई! तुझे तेरी पद्धति का पता नहीं है। आहाहा!

सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की परिणति की पद्धति का प्रभु, तुझे पता नहीं है। इस कारण तू विरोध करता है कि यह व्रत है और यह क्रिया है, वह चारित्र नहीं... ? अरे प्रभु! सुन तो सही! व्रतादि का भाव तो राग है। आहाहा! इस ज्ञान ने जाना कि यह राग है — ऐसा ज्ञान, ज्ञान में यह पर है — ऐसा जानकर, ज्ञान स्वघर में जम गया, परघर में परिणति नहीं गयी। आहाहा! यह पहले ज्ञान तो करे कि यह चीज ऐसी है। आहाहा!

यहाँ तो भगवान ऐसा कहते हैं सन्त (कहते हैं) कि **परभाव के त्याग कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है,....** आहाहा! है ? राग का त्याग आत्मा में है ही नहीं, क्योंकि आत्मा आनन्दरूप रहा, वहाँ त्याग हो गया। राग का त्याग किया — ऐसा तो है ही नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें समझना!

अरे! आठ वर्ष के बालक भी चारित्र ग्रहण करते हैं। आहाहा! राजकुमार, जिनका स्वर्ण जैसा शरीर, आहाहा! भरत चक्रवर्ती के पुत्र १०८ (पुत्र) मणिरत्न के गिल्ली और डण्डे से खेलते थे, इतने में जयकुमार का सुना — जयकुमार पूरे (सैन्य का) सेनापति का नायक, एक व्यक्ति निकला था, (वह कहता है) जयकुमार ने दीक्षा ली है। ओहो! सेनापति-९६ करोड़ सैनिकों का नायक, उसने चारित्र ग्रहण किया, स्वरूप में रमणता

प्रगट की। आहाहा! वे बालक छोटी-छोटी उम्र के — १५, १६, १८-१८ वर्ष की उम्र के १०८ बालक खेल रहे थे। मणिरत्न के गेंद से, अरे! आहाहा! उनकी माता ने सिपाही को-व्यक्ति को भेजा (बालकों का) ध्यान रखना।

अब इन्हें क्या करना? यदि ऐसा कहे कि हमें भगवान के पास दीक्षा लेने जाना है तो साथ में वह सिपाही था। वह ऐसा कहे भाई! चलो हम भगवान के दर्शन करेंगे। ऐसा करके भगवान के पास गये। आहाहा! १८-१८ वर्ष के राजकुमार, स्वर्ण के पुतले जैसे! रत्नमणि की कान्ति का पार नहीं ऐसे पुत्र! प्रभु को कहते हैं प्रभु! हमें चारित्र ग्रहण कराओ, आहाहा! यह कहते हैं कि प्रभु, जहाँ आते हैं, वहाँ अन्दर स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं। आहाहा! चारित्र, अर्थात् राग से रहित स्वरूप में रमणता, चरना, रमना, जमना, आनन्द का भोजन करना। आहाहा! पशु चारा चरते हैं न? तो कोई वस्तु हो, उसका चारा चरते हैं न? हरी घास होती है; वैसे ही भगवान आनन्द का नाथ अन्दर अपने आनन्द का चारा चरता है, आनन्द का भोजन करता है, अन्दर आनन्द का ग्रास लेता है, उसका नाम चारित्र है। आहाहा! धन्य अवतार! और यह किये बिना मुक्ति नहीं है। समझ में आया?

अकेले सम्यग्दर्शन, ज्ञान से कहीं मुक्ति नहीं होगी। साथ में चारित्र आयेगा, तब मुक्ति होगी। आहाहा!

श्रोता : सम्यग्दर्शन हो तो चारित्र आये बिना रहता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : रहता ही नहीं, परन्तु यह तो चारित्र होगा, तब ऐसी स्थिति होगी - ऐसा। सम्यग्दर्शन ज्ञान होने पर भी, जो अचारित्र का-विभाव का परिणमन है, उसको ज्ञान जानता है, प्रतीति करता है कि यह मेरी चीज नहीं, मेरा भाव नहीं, परभाव है, उपाधिभाव है — ऐसा जानकर, निरुपाधिस्वरूप अपने स्वभाव में जम जाना। आहाहा! आनन्द का उग्र अनुभव होना, उसका नाम चारित्र है। चरना, अन्दर चरना... गाय चरती है न! वैसे आत्मा में-आनन्दस्वरूप जो क्षेत्र (स्वक्षेत्र) पड़ा है, उसकी अनुभव-दृष्टि तो है; अब उसका अनुभव चरते हैं। आहाहा! आनन्द में-झूले में अन्दर में चरते हैं, उसका नाम प्रत्याख्यान और चारित्र है, प्रभु! आहाहा!

परभाव के त्याग कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है, स्वयं तो इस नाम से

रहित है.... आनन्दस्वरूप भगवान की प्रतीति और ज्ञान हुआ परन्तु विशेष आनन्द जब अन्तर में रमता है, तब विशेष आनन्द आया तो आनन्द में (रमता है तो) राग का अभाव हो गया; यह राग का त्याग किया – ऐसा नाममात्र है। यह वस्तु (आत्मवस्तु) ज्ञानरूप हुई, यह रागरूप हुई ही नहीं। हुई ही नहीं, फिर त्याग किया कहना ? आहाहा ! त्याग किया वह कथनमात्र है। ऐसा मार्ग !

कायर का कलेजा काँप जाये ऐसा है। मार्ग ऐसा है, ऐसा पहले ज्ञान में इसका निर्धार तो कर। आहाहा ! फिर त्याग के समय में ज्ञानस्वरूपी भगवान जो आनन्ददल, ज्ञानदल, स्वभावदल, वीतरागदल (है), उस वीतरागभावरूप जम जाये, वह राग का त्याग किया, यह तो नाममात्र है। यह अन्दर जम गया, राग रहा नहीं तो त्याग किया, यह नाममात्र कहा जाता है। आहाहा ! पर के त्याग की तो यहाँ बात है ही नहीं; शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार — इस पर का त्याग और ग्रहण तो आत्मा में है ही नहीं परन्तु उस राग का त्याग भी नाममात्र है। आहाहा ! गजब बात है ! मालचन्दजी ! यह तो इसमें थोड़ी अन्दर बुद्धि चाहिए। आहाहा !

यह भगवान आत्मा, आनन्द का सागर प्रभु — ऐसा भान और ज्ञान हुआ, फिर जहाँ आनन्द की दशा की रमणता में कमजोरी के कारण राग का-दुःख का वेदन है। वह दुःख का वेदन है, वह आनन्द के समय जाना कि, आनन्द के साथ ज्ञान ने जाना कि यह दुःख का वेदन है, यह परभाव है। मेरी चीज नहीं है। आहाहा !

जब अपने आनन्द में जम जाता है-रम जाता है, तब राग आया नहीं तो राग का त्याग किया — ऐसा कथनमात्र है। यह तो रागरूप हुआ ही कहाँ है ? यह तो आनन्दरूप हुआ है। स्वभाव रागरूप हुआ और फिर छोड़ता है, यह बात भी नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसा मार्ग है, इसलिए लोगों को यह एकान्त है... एकान्त है... ऐसा, प्रभु ! करते हैं, हों !

श्रोता : इस बात का पता नहीं पड़ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू, मार्ग तो यह है भाई ! एकान्त है... ऐसा कि यह व्यवहार, दया, दान, व्रत, भक्ति करते हैं, उससे भी निश्चय हो – ऐसा नहीं मानते हैं। अरे प्रभु ! वह

एकान्त तो मिथ्या एकान्त है – मिथ्या अनेकान्त है। आहाहा! सम्यक् एकान्त तो यह है (कि) रागरूप न होना और स्वभाव, स्वभावरूप परिणमन कर जाना। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन ज्ञान–चारित्र की परिणति, मोक्षमार्ग है, बाकी सब बातें हैं। आहाहा! किसी शास्त्र में — ग्रन्थ में ऐसा आया हो कि दया, वह धर्म है परन्तु वह तो व्यवहार की बात है। वरना पर की दया का भाव.... वह तो उसकी टीका करते हैं, पुरुषार्थ सिद्धियुपाय में लिखा है कि पर की दया का भाव वह राग है और राग है, वह स्वरूप की हिंसा है (यह सुनकर) लोग चिल्लाते हैं।

भगवान ज्ञानस्वरूप में राग आया तो राग तो स्वरूप की हिंसा हुई, इतनी अस्थिरता हुई। आहाहा! अब यह कहता है — दया को तो धर्म कहा है और तुम कहते हो राग है, वह हिंसा है। अरेरे प्रभु! तू क्या करता है।

'अहिंसा परमो धर्मः' यह तो राग की उत्पत्ति न होना और वीतरागस्वभाव की उत्पत्ति होना वह 'अहिंसा परमो धर्मः' आहाहा! **परमार्थ से देखा जाये तो परभाव के त्याग कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं....** आहाहा! यह रागरूप हुआ ही नहीं न फिर? पहले था, वह जाना, जानकर स्वरूप में स्थिर हो गया और रागरूप हुआ ही नहीं तो राग का त्याग किया, यह नाम कथन है। आहाहा! अरेरे! इस चारित्र की विधि तो यह है। प्रत्याख्यान कहो, पच्चखाण कहो, राग का अभाव–स्वभावरूप कहो, चारित्र कहो, मोक्ष के मार्ग में चारित्र कहो, वह यह है। अरे! ऐसे चारित्र का पता भी नहीं पड़ता। आहाहा!

स्वयं तो इस नाम से रहित है.... भगवान तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान स्वरूप हो गया, उसमें राग के त्याग का नाममात्र... उसमें है नहीं। आहाहा! जैसे प्रज्ञाब्रह्म प्रभु — प्रज्ञा, अर्थात् ज्ञान और ब्रह्म, अर्थात् आनन्द। स्वरूप जैसा है, वैसा हो गया — स्थिरता, उसने राग का त्याग किया, यह तो कथनमात्र है। आहाहा! सुमेरुमलजी! गाथा बहुत अच्छी आयी है — ३१-३२-३३-३४ – तुम आये न ३१ गाथा शुरु हुई, बड़ी अच्छी आयी है। भगवान! आहाहा! राग और शरीर से भिन्न भगवान आनन्द का नाथ विराजता है न! आहाहा!

'कहे विचिक्षण पुरुष सदा में एक हूँ अपने रस से भर्यो अनादि टेक हूँ'

मेरे ज्ञान और आनन्द के वीतरागी स्वभाव से भरा पड़ा हूँ अनादि से, आहाहा! 'मोहकर्म मम नाहीं' कर्म नहीं, हों! राग। राग 'मोह मम नाहीं, नाहीं भ्रमकूप है' परन्तु यह विकार भी भ्रम का कुआँ है, मैं 'शुद्ध चैतनासिन्धु हमारो रूप है' आहाहा! बहिन में (बहिनश्री के वचनामृत में) नहीं आया था? – राग मर्यादित है, मर्यादित है, इसलिए वहाँ से छूटना होगा; अमर्यादित भगवान आत्मा को–स्वरूप को अन्दर पकड़ेगा तो वहाँ से (स्वरूप से) छूटना नहीं होगा। आहाहा! अरेरे! **स्वयं तो इस नाम से रहित है....** इतनी लाईन में कितना भरा है! आहाहा! एक 'जगत' शब्द हो तो इस 'जगत' शब्द में कितना भरा है? सारा लोक! अक्षर तीन ज-ग-त एकाक्षरी कोई काना मात्रा, बिन्दी कुछ नहीं — 'ज ग त' — ऐसा कहने में क्या आया? सारा लोक आ गया। आहाहा! इसी प्रकार इस 'आत्मा' अक्षर में सारा भाव आ गया अन्दर में। दर्शन, ज्ञान, चारित्र का क्या स्वरूप है? वह इसमें आ गया। आहाहा! थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिए। विशेष बड़े-बड़े पूछल्ले — लम्बे-लम्बे लगा दे जानपने के और धारणा के... आहाहा! वैसे तो ग्यारह अंग अनन्त बार कण्ठस्थ किये, उसमें क्या आया? आहाहा! भगवान ज्ञान का पाताल कुआँ अनन्त स्वभाव का ज्ञान से भरा, उसका ज्ञान करना, उसकी प्रतीति करना और उसमें रमना, उसका नाम दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। आहाहा! कहो, झांझरीजी! ऐसी बात है भाई! आहा! विमलचन्दजी हैं या नहीं? हाँ, है। ऐसा है।

क्योंकि ज्ञानस्वभाव से स्वयं छूटा नहीं है,.... और जहाँ परिणमन हुआ, वहाँ राग में तो आया ही नहीं न! आहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान पूर्णानन्द प्रभु में दृष्टि और ज्ञान तो था परन्तु अन्दर में रम गया — अन्दर स्वरूप में घर में (रम गया); पर घर में आया ही नहीं और निजघर में रम गया तो परभाव का त्याग तो नाममात्र है-कथनमात्र है। परघर में गया कहाँ है? आहाहा! कहो, नवरंगभाई! इसका नाम प्रत्याख्यान! आहाहा! धन्य काल! धन्य अवसर!! आहाहा! जिस समय प्रत्याख्यान की दशा.... उसको पहले प्रतीति में तो ले कि मार्ग तो यह है। समझ में आया? भले ही कर सके नहीं परन्तु करने योग्य तो यह है। आहाहा!

ज्ञानस्वभाव से स्वयं छूटा नहीं है, इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है.... आया,

चौथा पद। है न चौथा पद ? '**णाणं णियमा मुणेदव्वं**' चौथा पद। **इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है....** ज्ञान, अर्थात् आत्मा। यहाँ ज्ञान शब्द से आत्मा लिया है। सारा भगवान निर्मलानन्द वीतरागमूर्ति प्रभु जिनबिम्ब, यह आत्मा ही प्रत्याख्यान है। आहाहा! समझ में आया ?

इसलिए प्रत्याख्यान.... अर्थात् चारित्र अथवा प्रत्याख्यान (अर्थात्) राग का अभाव स्वभावरूप प्रत्याख्यान वह ज्ञान, वह आत्मा ही है। ज्ञान शब्द पड़ा है न ? आहाहा! और १५५ में भी यही लिया है। '**जीवादि सद्दहणं**' आत्मा जो ज्ञानस्वरूप है, उसका परिणमन होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। तब ये लोग कहते हैं — इतना सब कठिन कर डाला है। अरे! कठिन नहीं, जैसा उसका स्वरूप है, वैसा ही कहा है भाई! आहाहा! पुण्य को विष्टा कहा, वहाँ शोर मचा देते हैं परन्तु भगवान ने तो पुण्य को जहर कहा है। विष्टा तो अभी सूअर खा सकता है, जहर तो मार डालता है। आहाहा! व्रत का परिणाम-शुभभाव, वह जहर है। आहाहा!

श्रोता : कोई उसे धर्म कहे और आप जहर कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे, क्या हो भाई! यह व्रत करते-करते सातवाँ (गुणस्थान) हो जायेगा ? अरे! व्रत वह व्यवहार है, छठवें गुणस्थान तक व्यवहार है और सातवें में व्यवहार छूट जाये.... अरे भाई! तुझे पता नहीं है बापू! पहले तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो, फिर मुनिपना आने में पहले तो सातवाँ गुणस्थान आता है, पहले छठवाँ नहीं आता। आहाहा! सातवाँ आता है, फिर विकल्प आता है तो छठवें में आ जाता है। यह विकल्प तो आस्रव है, राग है, और उसमें आया तो अबुद्धिपूर्वक राग है परन्तु बुद्धिपूर्वक छूट गया तो इतना निरास्रव हो गया। आहाहा! चारित्र है, तीन कषाय का अभाव है, फिर भी मुनि को भी राग आता है, वह कलुषित है। अमृतचन्द्राचार्य ने तीसरे श्लोक में कहा है न ? ओहो! आत्मज्ञान-सम्यग्दर्शन के उपरान्त छठवें गुणस्थान के योग्य जो चारित्रदशा हुई है परन्तु यह राग आया है, वह दुःखरूप है '**कलमाषितायं**' कलुषित भाव है। आहाहा! अतः मैं अपने शुद्ध चैतन्य का ध्येय रखकर टीका करूँगा और ध्येय के जोर से यह कलमाषित जो अशुद्ध परिणमन, वह छूट जाओ। आहाहा! और मैं शुद्धरूप परिणमन हूँ, वह मेरी भावना है, मुनि ऐसा कहते हैं। आचार्य (ऐसा कहते हैं।)। आहाहा!

ऐसा अनुभव करना चाहिए।.... देखा ? इसलिए प्रत्याख्यान आत्मा ही है। ज्ञान शब्द से आत्मा लिया है। **ऐसा अनुभव करना चाहिए,** ऐसा अनुभव करना चाहिए। आहाहा ! भगवान पूर्णानन्द के अनुसरण से स्थिरता का अनुभव करना चाहिए। निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान का अनुभव करना चाहिए, उसका नाम चारित्र है। आहाहा ! अरे ! धन्य भाग्य ! यह प्रत्याख्यान और चारित्र, बापू ! आहाहा ! वह मोक्ष के आँगन में आ गया, आँगन में आ गया, अन्दर प्रवेश करेगा तब मोक्ष होगा। आहाहा !

भावार्थ विशेष आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १०० गाथा ३४-३५ दिनाङ्क ०५-१०-१९७८ गुरुवार
आसोज शुक्ल ३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

---

३४ गाथा का भावार्थ है न ? **आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व है, वह नाममात्र है।...** क्योंकि ज्ञानस्वरूप है, उसे राग का त्याग करता है, वह तो नाममात्र है, रागरूप, ज्ञानस्वरूप होता ही नहीं, था ही नहीं। वह ज्ञानस्वरूप, उसे राग के त्याग का कर्तापना नाममात्र है, **वह स्वयं तो ज्ञानस्वभाव है।....** ज्ञानस्वभाव में जो राग का परिणमन था, उसरूप परिणमन न हुआ और ज्ञानरूप रहा, इसका नाम प्रत्याख्यान है। आहाहा ! **परद्रव्य को पर जाना,....** रागादि परद्रव्य को ज्ञान में पर जाना, **फिर परभाव का ग्रहण न करना....** उस रागरूप परिणमन नहीं... ग्रहण नहीं, अर्थात् रागरूप परिणमन नहीं। **वही त्याग है....** आहाहा ! बाहर के त्याग की तो क्या बात करना ? आहाहा ! परन्तु भगवान ज्ञानस्वरूप प्रभु, उस पर-रागरूप था, रागरूप पर्याय थी, वह ज्ञानस्वभावरूप रहकर और रागरूप नहीं हुई, इसका नाम प्रत्याख्यान है। आहाहा ! ऐसी बात है। फिर परभाव का परिणमन न हुआ, वह त्याग है। आहाहा !

इस प्रकार, स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है,.... यह स्पष्टीकरण। ज्ञानस्वरूप भगवान जो राग में अस्थिररूप परिणमन था, वह स्वभाव स्वयं पररूप परिणमने के योग्य नहीं है, फिर भी पर्याय में था; द्रव्यस्वभाव में नहीं। (क्या कहा) ? द्रव्यस्वभाव नहीं आहाहा ! परन्तु पर्याय में राग का परिणमन था। यह ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा जानकर अन्दर

स्थिर हुआ। वह पर है, वह पर है; मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसा जानकर अन्दर स्थिर हुआ, वह प्रत्याख्यान। आहाहा! ऐसे प्रत्याख्यान की व्याख्या ऐसी है। इस चारित्र की यह व्याख्या! आहाहा!

ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं है। ज्ञानस्वभाव, ज्ञानस्वभावरूप स्थिर हुआ, वह प्रत्याख्यान है, वह चारित्र है, वह वीतरागपर्याय है। आहाहा! जो राग, स्वभावस्वरूप–रागरूप, स्वभाव व्याप्त न होने योग्य था – राग से व्याप्त होनेवाला नहीं – ऐसा जानकर ज्ञानस्वभाव, जो रागरूप परिणमन था, वह परिणमन नहीं किया, और ज्ञानरूप रहा, उसका नाम प्रत्याख्यान और चारित्र है। कठिन बात बापू! आहाहा! कितनी ही बार सुना हो परन्तु यह बात अलग प्रकार की है भाई! आहाहा! आहा!

गाथा ३५

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्त इत्यत आह–

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी।।३५।।

यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुञ्चति ज्ञानी।।

यथा हि कश्चित्पुरुषः सम्भ्रान्त्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालम्ब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति तच्चीवरमचिरात्, तथा ज्ञातापि सम्भ्रान्त्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात्।

अब, यहाँ यह प्रश्न होता है कि ज्ञाता का प्रत्याख्यान, ज्ञान ही कहा है, तो उसका दृष्टान्त क्या है? उसके उत्तर में दृष्टान्त-दार्ष्टांतरूप गाथा कहते हैं —

ये और का है जानकर, परद्रव्य को को नर तजे।
त्यों और के हैं जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे ॥३५॥

गाथार्थ : [यथा नाम] जैसे लोक में [कः अपि पुरुषः] कोई पुरुष [परद्रव्यम् इदम् इति ज्ञात्वा] परवस्तु को 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तो ऐसा जानकर [त्यजति]

परवस्तु का त्याग करता है, [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुष [सर्वान्] समस्त [परभावान्] परद्रव्यों के भावों को [ज्ञात्वा] 'यह परभाव है' ऐसा जानकर [विमुञ्चति] उनको छोड़ देता है।

टीका : जैसे कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी (- यह वस्त्र दूसरे का है ऐसे ज्ञान से रहित) हो रहा है; (किन्तु) जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर (पल्ला) पकड़कर खींचता है और उसे नग्न कर कहता है कि — 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले में आ गया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे', तब बारम्बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह, (उस वस्त्र के) सर्व चिह्नों से भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है' ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुआ, उस (दूसरे के) वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है। इसी प्रकार — ज्ञाता भी भ्रमवश परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपने में एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है; जब श्री गुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तव में एक (ज्ञानमात्र) ही है, (अन्य सर्व परद्रव्य के भाव हैं),' तब बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य को सुनता हुआ वह, समस्त (स्व-पर के) चिह्नों से भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह परभाव ही हैं, (मैं एक ज्ञानमात्र ही हूँ)' यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है।

भावार्थ : जब तक परवस्तु को भूल से अपनी समझता है तभी तक ममत्व रहता है और जब यथार्थ ज्ञान होने से परवस्तु को दूसरे की जानता है तब दूसरे की वस्तु में ममत्व कैसे रहेगा ? अर्थात् नहीं रहे यह प्रसिद्ध है।

गाथा - ३५ पर प्रवचन

अब, यहाँ यह प्रश्न होता है कि ज्ञाता का प्रत्याख्यान, ज्ञान ही कहा है,.... भगवान आत्मा जाननेवाला, देखनेवाला स्वभाव, उसका प्रत्याख्यान, अर्थात्

चारित्र ज्ञान ही कहा। **उसका दृष्टान्त क्या है ? उसके उत्तर में दृष्टान्त-दार्ष्टांतरूप गाथा कहते हैं—**

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी।।३५।।

ये और का है जानकर, परद्रव्य को को नर तजे।
त्यों और के हैं जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे॥३५॥

आहाहा! **टीका - जैसे, कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है....** आहा! यह दृष्टान्त, हों! **और अपने आप ही अज्ञानी....** अपने आप अज्ञानी, आहाहा! हो रहा है **(- यह वस्त्र दूसरे का है - ऐसे ज्ञान से रहित) हो रहा है;....** तब **जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर (पल्ला) पकड़कर खींचता है और उसे नग्न....** उघाड़ा करता है। आहाहा! और **कर कहता है कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले में आ गया है,.....'** यह वस्त्र मेरा है, तेरा नहीं। आहाहा! तेरे वस्त्र के बदले मेरा वस्त्र तुझे अज्ञानपने अनजानपने आ गया है। **'यह मेरा है सो मुझे दे दे'.....,** आहाहा! **तब बारम्बार कहे गये....** एक बार नहीं कहा, आहाहा! बारम्बार कहा गया। **इस वाक्य को सुनता हुआ वह, (उस वस्त्र के) सर्व चिह्नों से भलीभाँति परीक्षा करके,....** वस्त्र के चिह्नों की परीक्षा करके कि यह वस्त्र मेरा नहीं है। आहाहा! **'अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है'.....** इस प्रकार ओढ़े हुए होने पर भी, आहाहा! उसके लक्षण देखे कि मेरे वस्त्र में तो ऊपर यहाँ नाम था, मेरा अंग्रेजी नाम, इसमें तो है नहीं, इसमें तो दूसरे का नाम है। आहाहा! लिखते हैं न कोट के पीछे नाम लिखते हैं। आहाहा! **शीघ्र त्याग देता है।** भलीभाँति परीक्षा करके, अवश्य यह वस्त्र मेरा नहीं है यह जानकर-पर का जानकर **ज्ञानी होता हुआ,....** उस वस्त्र को (पर का) जानकर इतना ही ज्ञानी।

बारम्बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ, भलीभाँति परीक्षा करके,.... अवश्य यह वस्त्र मेरा नहीं है ऐसा — **ज्ञानी होता हुआ, उस (दूसरे के) वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है।** अर्थात् ओढ़े हुए होने पर भी, अब यह वस्त्र मेरा नहीं है - ऐसा

हो गया। आहाहा! ज्ञानस्वरूप से जाना कि यह वस्त्र के चिह्न तो मेरे नहीं हैं। इसलिए अन्दर ओढ़े हुए होने पर भी वह पर का होकर रहा है अब, आहाहा!

उसी प्रकार.... यह दृष्टान्त हुआ। **ज्ञाता भी....** जाननेवाला भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु, **भ्रमवश परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके,....** रागादि पुण्य-पाप के भाव, वह परद्रव्य के भाव हैं; वह स्वद्रव्य के भाव नहीं हैं। द्रव्य के भाव नहीं हैं, पर्याय में भले हो परन्तु वे परद्रव्य के भाव हैं - ऐसा कहते हैं। आहाहा! पुण्य और पाप का भाव, राग-द्वेष का भाव, पर का (भाव उसे) **अपना जानकर,....** परद्रव्य के भावों को (निज) जानकर, ग्रहण करके अपने जानकर... क्योंकि वहीं दृष्टि थी। ज्ञायकस्वरूप पर दृष्टि नहीं थी। आहाहा! राग और द्वेष और विकल्प के परिणाम पर वहाँ दृष्टि थी। उसे अब जाना, यह है न? आहाहा!

उन्हें अपना जानकर, अपने में एकरूप करके सो रहा है.... राग-द्वेष विकल्प, अपना ज्ञानस्वरूप भिन्न है-ऐसा जाना नहीं और ये रागादि मेरे हैं - ऐसा करके अज्ञानरूप से सो रहा है **और अपने आप अज्ञानी हो रहा है;....** कर्म के कारण नहीं। आहाहा! इन राग-द्वेष के कारण नहीं। अपने आप राग-द्वेष के भाव मेरे नहीं हैं - ऐसा नहीं जानकर, मेरे हैं - ऐसा जानकर, अज्ञानी हो रहा है। आहाहा! **जब श्रीगुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके.....** आहाहा! उसे राग से भिन्न बताकर, प्रभु! यह राग के लक्षण, वह तेरे नहीं हैं। आहाहा! यह तो वहाँ ऐसा कहा कि अपने आप नहीं, उसे गुरु मिले, भेदज्ञान बतलानेवाले (गुरु मिले) इतनी बात, अपने आप नहीं जगा ऐसे जगा है - ऐसा कहते हैं।

श्रोता : गुरु ने उपदेश दिया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उपदेश इसने लिया न-ग्रहण किया न? राग से भिन्न करने का इसने ज्ञान किया न? तब गुरु ने उपदेश दिया - ऐसा निमित्त कहा जाता है। ऐसी बात है। आहाहा!

आत्मा ज्ञानप्रमाण... रात्रि में नहीं कहा था? भगवान आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान, ज्ञेयप्रमाण है, और ज्ञेय लोकालोक है। इस प्रकार जहाँ ज्ञान में-प्रमाण में ज्ञान, आत्मा प्रमाण

है, और उस ज्ञान की पर्याय भले श्रुतज्ञान की हो (परन्तु) यह रागादि हैं, वे ज्ञेय हैं और वह ज्ञान की वर्तमान पर्याय आत्मा में व्यापक है और वह ज्ञान की पर्याय ज्ञेयप्रमाण है, अर्थात् जो रागादि वस्तु है, उसका ज्ञान करने के योग्य वह है। आहाहा! उसे अपने मानने के योग्य वह नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इस ज्ञान की एक समय की पर्याय, आत्मा में व्यापक है, वह पर्याय, द्रव्य को जानती है; वह पर्याय, गुण को जानती है; वह पर्याय, अनन्त दूसरी पर्यायों को जानती है; वह पर्याय, पर्याय को जानती है; वह पर्याय, ज्ञेय जो राग आदि अनन्त, आहाहा! वे अनन्त ज्ञेय यह ज्ञान की पर्याय ज्ञेयप्रमाण है, अर्थात् जो अनन्त ज्ञेय हैं, उन्हें करने योग्य नहीं, जानने के योग्य हैं। आहाहा! ज्ञेय प्रमाण होने लायक नहीं, जानने के लायक है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसी जो ज्ञान की पर्याय, उसने अपने लक्षण से स्वरूप को जाना, उसे रागादि के लक्षण, वे परज्ञेय के हैं (यह जाना)। वह मेरे ज्ञान की पर्याय में उस रूप होना, वह मेरा द्रव्य स्वभाव ही नहीं। आहाहा! पर्याय में है, परन्तु मेरा द्रव्यस्वभाव उस रूप होने का नहीं है। आहाहा! ऐसा जानकर, उस ज्ञान की पर्याय से राग के लक्षण पर हैं, ऐसा जानकर... आहाहा! वे ज्ञेयरूप हैं। चैत्य-चेतक की निकटता के कारण - ऐसा लगता है कि यह ज्ञेय का ज्ञान है; वस्तुतः तो वह ज्ञान, ज्ञान का है; ज्ञेय का ज्ञान नहीं, ज्ञेय तो पर है। आता है न? चैत्य-चेतक (गाथा २९४)। आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूप से चेतनेवाला और रागादि वे ज्ञेय / चैत्य ज्ञात होने योग्य है, बस! अपना होने योग्य नहीं है। आहाहा! रात्रि में तो बहुत कहा था न? यह तो आवे तब आवे न... समझ में आया?

उस ज्ञान-पर्याय में स्वयं अपने लक्षण से जाना कि मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ और राग के लक्षण से जाना कि वह तो पर है - (ऐसा) जानकर ज्ञान, ज्ञानरूप रहा और ज्ञेयरूप परिणमन पर्याय में नहीं हुआ, इसका नाम प्रत्याख्यान कहा जाता है। ऐसी बात है। यहाँ तो अभी प्रत्याख्यान / बाह्य त्याग किया - प्रतिज्ञा ले ली, बापू! यह सब तो विकार की - बाहर की बातें हैं। आहाहा! यहाँ तो ज्ञान की एक समय की पर्याय ऐसी स्वयं राग के लक्षण को परद्रव्य के भावरूप से और स्वद्रव्य का स्वभाव नहीं - ऐसा (लक्षणभेद) जानकर उस ज्ञान की पर्याय की ताकत, एक-एक पर्याय की ताकत में अनन्त सप्तभंगी उठती है। आहाहा!

वह ज्ञान की एक समय की पर्याय, पर्यायरूप से है, वह राग-ज्ञेयरूप नहीं। वह पर्याय, पर्यायरूप से है और दूसरी पर्यायरूप से नहीं। आहाहा! ऐसा गम्भीर सागर है, भगवान स्वभाव!

श्रोता : दो बोल हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो बोल हुए, ऐसे अनन्त बोल ले लेना।

एक-एक पर्याय, आहाहा! तब ज्ञान की एक समय की पर्याय स्वद्रव्य को जाने, अनन्त गुण को जाने इसके अतिरिक्त अनन्त पर्यायें जिनका पार नहीं... पार नहीं, आहाहा! उन पर्यायों को भी वह पर्याय जाने, अनन्त-अनन्त पर्याय, जिस पर्याय में यह अन्तिम है -ऐसा कोई छोर ही नहीं... आहाहा! ऐसी अनन्त संख्या में जो पर्यायें, उन्हें भी यह पर्याय जानती है। आहाहा! ऐसी ही पर्याय श्रद्धा की, ऐसी अनन्त-अनन्त स्वज्ञेय और परज्ञेय, उन्हें वह श्रद्धती है। आहाहा! मेरे रूप नहीं परन्तु श्रद्धती है कि यह पर है और यह मैं हूँ। आहाहा! उस श्रद्धा में भी अनन्त ताकत है। आहाहा!

रागरूप नहीं होना, और उसे दूसरी पर्यायरूप भी नहीं होना। आहाहा! ऐसी अनन्त स्वज्ञान और ज्ञेय का ज्ञान है, उसे वह प्रतीति करती है। आहाहा! उस प्रतीति की पर्याय भी अनन्त-अनन्त माहात्म्यवाली है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय, स्वज्ञान और परज्ञेय - सिद्ध, अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद के जीव, अल्पज्ञ पर्यायवाले अनन्त जीव, गुणों से पूर्ण, ऐसे सर्वज्ञ पर्यायवाले अनन्त जीव, उन्हें भी वह ज्ञान की पर्याय अपने में रहकर (जानती है)। पर का अस्तित्व है, इसलिए नहीं। अपनी ताकत से स्व-पर को जानने की ताकतवाला है। आहाहा! कहो, नवरंगभाई! ऐसी बातें हैं। रात्रि को थे न? तब बहुत निकला था भाई! यह तो स्वयं के कारण निकलता है, निकले तब होता है। आहाहा!

यहाँ तो क्या कहना है कि ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, उस राग को पररूप-पर को ज्ञेयरूप जानने का स्वभाव है, ऐसा जिसने जाना, यह जाना कि रागरूप नहीं हुआ और ज्ञानरूप रहा, उसका नाम राग का त्याग नाममात्र कथन है। आहाहा! वरना ज्ञानस्वभाव भगवान, रागरूप हुआ ही नहीं स्वभाव। पर्यायरूप हुआ है तो उसे जाना कि यह तो पर है। आहाहा! मैं तो उसका, मुझसे, उसके अस्तित्व बिना जानना मेरा स्वभाव है, आहाहा!

उसका रागादि अस्तित्व है; इसलिए उसे मैं जानने के स्वभाववाला होता हूँ – ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी वस्तु है।

ऐसी एक-एक पर्याय अनन्त सामर्थ्यवाली है। स्वरूप की स्थिरता की पर्याय भी अनन्त सामर्थ्यवाली है। आहाहा! रागरूप न होकर स्थिररूप हो, वह भी पर्याय की अनन्त ताकत है। आहाहा! एक ही पर्याय में भी स्थिर की पर्याय में अनन्त सप्तभंगी... आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा का ज्ञान-पर्यायस्वरूप, श्रद्धा-पर्यायस्वरूप, आनन्द-पर्यायस्वरूप उससे जाना कि रागादि मेरे द्रव्यस्वभाव से पूर्ण व्याप्त होना, वह वस्तु (स्वरूप) नहीं है, पर्याय में निमित्त के लक्ष्य से परिणमन हुआ परन्तु मेरा द्रव्यस्वभाव उसरूप व्याप्त हो – ऐसा नहीं है। ऐसे द्रव्यस्वभाव को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय... आहाहा! राग को पररूप से जानने के स्वभाववाली पर्याय, रागरूप न होकर ज्ञानरूप, ज्ञानरूप स्थिर रही, यह उसका नाम यहाँ त्याग कहा है, वह नाममात्र है। आहाहा! इतनी शर्तें और इतनी जवाबदारी। कहो, नवरंगभाई!

रात्रि को तो बहुत कहा था, आहाहा! यह तो सब... यहाँ तो यह आया न, यहाँ कि गुरु ने परम विवेक करके उसे बताया तो उसने किया। आहाहा! भाई! रागादि तेरी चीज नहीं हैं; परिणमन में भले हो परन्तु तेरे द्रव्यस्वभाव की वह चीज नहीं है। आहाहा! समझ में आया? राग, चाहे तो दया, दान, भक्ति आदि का हो, चाहे तो सूक्ष्म राग का विकल्प हो, वह भी परभाव है। मैं तो उसका मुझमें रहकर जाननेवाला, उसे स्पर्श किये बिना, उसके अस्तित्व के कारण मैं उसका ज्ञान करता हूँ – ऐसा भी नहीं (परन्तु) मेरे ज्ञान की पर्याय का ही इतना स्वभाव है कि पर को और स्व को जानने में रहना, यही मेरी स्थिति है। आहाहा! कहो, हीराभाई! ऐसा आया है।

ऐसा जानकर, जाना, जाना कि यह पर है; मैं नहीं – ऐसा जो ज्ञानस्वरूप ज्ञान में स्थिर हुआ, ज्ञान में स्थिर हुआ, उसने राग का त्याग किया, यह नाममात्र कथन किया है, स्थिर हुआ वही – प्रत्याख्यान है। अब यह प्रत्याख्यान और चारित्र की व्याख्या! राग के अभाव, स्वभावरूप होना वह यह! राग के स्वभावरूप न होना और द्रव्य के स्वभावरूप होना, उसका नाम यहाँ प्रत्याख्यान और चारित्र है। आहाहा! यहाँ तो बाहर के कुछ व्रत

लिये और अमुक किया (तो मान लेते हैं) हो गया चारित्र। यह द्रव्यचारित्र। आहाहा! भाई! बड़ी भूल है, प्रभु! इस पर्याय का फल तुझे कठिन पड़ेगा प्रभु! आहाहा! राग की क्रिया को चारित्र की क्रिया मानना, वह दु:ख तुझे कठिन पड़ेगा, प्रभु! आहाहा! यहाँ तो रागरूप न होना, आहाहा! और राग है, इसलिए ज्ञान में स्थिर हुआ – ऐसा नहीं है। राग है, इसलिए राग का यहाँ ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है। राग है, इसलिए यहाँ ज्ञान में उसकी श्रद्धा हुई – ऐसा नहीं है। श्रद्धा की पर्याय स्वतन्त्ररूप से ज्ञेय और ज्ञान को श्रद्धे-प्रतीति करे – ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! ऐसा स्वरूप, अब लोगों को (कठिन लगता है) इस चारित्र की यह व्याख्या है। वे बेचारे कल प्रसन्न हुए थे, दोपहर को आये थे।

ओहो! गजब प्रत्याख्यान। मैंने कहा – यह दोपहर में २९५ में आनेवाला है – ऐसा कि ज्ञानी को भी दु:ख का वेदन है-आनन्द का वेदन है। २९५ (वचनामृत में) आनेवाला है। वह दु:ख का-राग का परिणाम मेरे द्रव्यस्वभाव से हो – ऐसा तो मैं नहीं परन्तु यहाँ तो चारित्र की व्याख्या लेनी है न? आहाहा! वह राग का परिणाम का मेरे द्रव्यस्वभाव का वह परिणमन नहीं है। इस कारण वह राग का परिणाम परभाव है – ऐसा जिसने अन्दर ज्ञानस्वभाव में उसका मलिन और दु:खस्वभाव से जानकर, मेरा भगवान तो ज्ञान और आनन्दस्वभाव है। ऐसे राग को दु:ख के भावरूप जानकर और उस ज्ञान के स्वभाव में दु:ख के भाव का (अभाव है) वहाँ उस दु:ख का भाव है, इसलिए हुआ ऐसा भी नहीं है। आहाहा! उस ज्ञान की पर्याय का स्वभाव ही स्व और पर को स्वत: पर की अपेक्षा बिना जानना, वह उसका स्वभाव है। आहाहा! अब ऐसा कहाँ पकड़ना; निवृत्ति नहीं मिलती, फुरसत नहीं मिलती – ऐसी बात है प्रभु! यह तो प्रत्याख्यान आया न? आहाहा!

फिर इसमें कहा न कि राग को राग के लक्षण से जानकर और उसे उसरूप न परिणमन कर ज्ञान जाननेवाला है – ऐसे ज्ञान, ज्ञानरूप स्थिर हुआ; सम्यग्दर्शन ज्ञान तो है तदुपरान्त जब राग की अवस्था को परभावरूप से ज्ञान में पृथकरूप से भेद से जानकर और जाननेवाला जाननेवाले में स्थिर हुआ, आहाहा! उसका नाम प्रत्याख्यान और चारित्र है। प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है, परन्तु वह राग का त्याग भी नाममात्र है यहाँ तो कहते हैं।

आहाहा! क्या शैली! 'स्व-परप्रकाशक शक्ति हमारी, तांतैं वचन भेद भ्रम भारी,

स्वशक्ति स्वज्ञेय प्रकाशी, परशक्ति परज्ञेय' आहाहा! भगवान का ज्ञानपर्याय का स्वभाव... यह तो सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित की बात है न? और ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वज्ञेय का स्वभाव, आहाहा! और परज्ञेय को परज्ञेयरूप से अस्तित्व होने पर भी, ज्ञान की पर्याय उसकी अपेक्षा बिना उसे और स्व को जानते हुए, अन्दर स्थिर हो और रागरूप न हो, उसे राग का त्याग कहना, वह नाममात्र है, वह भी ज्ञानरूप से ज्ञान स्थिर हुआ। आहाहा! अन्दर जमा, भाई! कहते हैं न, नहीं? चन्दुभाई - जमा, कहते हैं न? तुम्हारे चन्दुभाई डॉक्टर! आहाहा!

इसकी प्रथम पहचान तो यह करे कि यह वस्तु का स्वरूप ऐसा है। समझ में आया? आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूप प्रभु अपने लक्षण को जानता हुआ ज्ञानी हुआ परन्तु अब चारित्र.... शिष्य ने ऐसा पूछा है न कि मुझे श्रद्धा-ज्ञान तो हुआ है, प्रभु! परन्तु अब मेरे आचरण के लिए, मेरे आचरण करना है, क्योंकि मेरे आचरण में अभी राग का आचरण है, भले मेरी दृष्टि के विषय में नहीं परन्तु मेरे परिणमन में होता है, तो मुझे मेरा आचरण करना है तो उस राग के त्याग की विधि क्या? राग का त्यागरूपी प्रत्याख्यान किस प्रकार हो? आहाहा! तो गुरु ने कहा कि जैसे धोबी के घर से पर का वस्त्र लाकर और निज मानकर सो रहा था, उसे दूसरे ने जगाया कि भाई! इस वस्त्र का लक्षण तो देखो! यह तेरा कोट नहीं है, यह कोट लम्बा, (तेरा नहीं है।) इसके लक्षण देख तो सही! आहाहा! ऐसा जानकर, ओढ़े हुए है फिर भी पररूप से दृष्टि में आ गया और स्थिरता में भी यह मेरा नहीं है - ऐसा हो गया। आहाहा!

इसी प्रकार भगवान आत्मा, राग के विकल्प को अपना मानकर सो रहा था, वह तो जगा है अब, परन्तु जो अस्थिरता में था - ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो एक साथ सब बात लेते हैं। मिथ्यात्व से लेकर सब। अस्थिरता में भी मिथ्यात्व और राग का त्याग करके प्रत्याख्यान - ऐसा बतलाते हैं, भाई! जयसेनाचार्य की टीका में तो मिथ्यात्व और रागादि अव्रत आदि सब लिया है। सबकी बात उसकी शुरुआत में ही सीधे उठायी है। आहाहा!

'राग आग दाह दहै सदा' - ऐसे राग के-परभाव के लक्षण जानकर और ज्ञानस्वभाव में ज्ञान स्थिर होता है और परभावरूप से वह ज्ञानस्वभाव उस परज्ञेयरूप से परिणमित नहीं

होता, स्वज्ञेय के ज्ञान की स्थिरतारूप परिणमता है, उसे राग के त्यागरूपी चारित्र कहा जाता है। आहाहा! वह रागवर्जन यह आया है न भाई? १५५ 'जीवादि सद्दहणं' आहाहा! **जब श्रीगुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्मभावरूप करते हैं.....** दृष्टि तो थी परन्तु तदुपरान्त वापस विशेष (स्थिरता) करायी है। राग तेरा नहीं है, तेरा स्वभाव यह (ज्ञान) है, ऐसा साथ में लेकर स्थिरता कराते हैं। **आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग,.....** शीघ्र जाग; धीरे-धीरे जागूँगा – ऐसा नहीं। आहाहा! **सावधान हो,....** भगवान तू सावधान हो। राग में सावधान है, उसे जाननेवाला तू अब सावधान हो। आहाहा! अब ऐसी बात समझने में कठिन पड़ती है न? इसलिए लोग इसे निश्चय कहकर निकाल देते हैं। यह व्यवहार करो भाई! यह व्यवहार तो अज्ञान है भाई! आहाहा!

एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग,.... भाई! तू जाग न! यह राग का लक्षण भिन्न है और तेरा लक्षण भिन्न है – ऐसे जाग! भले सम्यग्दृष्टि पूछता है, उसे भी वापस इस प्रकार कहा। आहाहा! सम्यग्दृष्टि पूछता है न? कि मुझे श्रद्धा-ज्ञान हुए हैं परन्तु अब मुझे मेरा आचरण करना है, उसे पर का त्याग करना है, वह किस प्रकार हो? आहाहा! आहाहा! पर का त्याग अर्थात् क्या? स्वयं पररूप नहीं हुआ, इसलिए उसे पर का त्याग नाममात्र है। हुआ है स्वयं ज्ञान, ज्ञानरूप रहा, जाननेवाला जाननेवाले में रहा, जाननेवाला ज्ञेय के रागरूप नहीं हुआ। आहाहा! उसके ज्ञानरूप हुआ और होकर (ज्ञान) स्थिर हुआ। आहाहा! वह ज्ञान जमा, अन्दर में आनन्द की दशा लेता हुआ जमा। आहाहा! उसे यहाँ चारित्र और प्रत्याख्यान कहते हैं, उसने राग का त्याग किया – ऐसा नाममात्र कथन किया जाता है। आहाहा! पर के त्याग की तो यहाँ बात है ही नहीं। आहाहा! यह स्त्री, पुत्र छोड़ा और गृहस्थाश्रम छोड़ा.... यह चीज तो ग्रहण अथवा छोड़ी ही कब है? उसे ग्रहण भी नहीं किया है और छोड़ा भी नहीं है। यह ग्रहण-त्याग रहित तो आत्मा अनादि-अनन्त है। आहाहा! मात्र राग को ग्रहण किया था अपने स्वरूप के भान बिना, उसे अपने रूप से ग्रहण किया था कहो, या परिणमन किया था कहो। आहाहा! अब उसका त्याग करना है, अर्थात् कि आहाहा! भगवान! तू जागती ज्योत है न? **सावधान हो,...** आहाहा!

'जाग कर देखूँ तो जगत दिखे नहीं' – आहाहा! जहाँ चैतन्यस्वभाव को जागकर

देखा, तब राग के भाव को पररूप से जाना। आहाहा! वह तो मेरी ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय है, पर है। आहाहा! मेरे स्वरूप में वह परज्ञेय नहीं है, मेरे द्रव्य का स्वभाव पररूप होना, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! पर्यायरूप जो अस्थिरता थी, उसे द्रव्यस्वभावरूप से आत्मा को जाना और उस रागरूप नहीं हुआ, परन्तु यह जाना है कि यह पर है – ऐसा जानकर वहाँ से लक्ष्य छोड़ दिया और स्वरूप के लक्ष्य में स्थिर हुआ। आहाहा! भगवन! तेरी व्याख्या तो देखो! यह चारित्र! आहाहा! भगवत्स्वरूप तो पहले से कहा था न? भगवान ज्ञाताद्रव्य, भगवन्त ज्ञाताद्रव्यं – संस्कृत टीका में भगवत् ज्ञातृद्रव्यं – वह जहाँ जगकर, राग को पररूप से लक्षण से देखा–जाना। आहाहा! एकत्व तो छूट गया था, परन्तु यहाँ फिर से विशेष बात ली गयी है। समझ में आया? आहाहा! जो अस्थिरतारूप था... आहाहा! उसे पररूप के लक्षणों को ज्ञान ने जाना और वह ज्ञान, पररूप नहीं हुआ और उस काल में वह ज्ञान, स्थिररूप हुआ, उसे यहाँ प्रत्याख्यान / चारित्र कहते हैं। आहाहा!

लोग कुछ का कुछ मानते हैं, प्रभु! भाई! उस विपरीत मान्यता का फल, बापू! वह वर्तमान दुःख है, भाई! तुझे इसका पता नहीं है और उसके दुःख के फल, तत्त्व की विराधना का फल तो निगोद है। आहाहा! तत्त्व की आराधना का फल तो मोक्ष है। आहाहा! बीच में शुभाशुभभाव, वह चारगति का कारण है। समझ में आया?

तेरा यह आत्मा वास्तव में एक ही है.... एक ज्ञानमात्र ही है.... ऐसा गुरु ने कहा है। जो अनेकरूप दिखता है, वह तू नहीं है। राग के विकार के परिणमनरूप दिखता है, वह तू नहीं है। वह तू नहीं है, उसका तो पता था परन्तु वापस विशेष कराया। आहाहा! वह वास्तव में तो एक ही है। भगवान तो ज्ञानस्वरूपी एक ही है, उसमें जो यह राग–द्वेषादि, दया, दान आदि के भाव अनेक उत्पन्न होते हैं, वे एकस्वरूप की चीज नहीं है। आहाहा! ऐसी गम्भीर चीज एक–एक श्लोक में! आहाहा! पूरा समुद्र भरा है।

यहाँ यह कहा कि एक... एक ही है, तू एक ही है। ज्ञान आनन्दादि स्वरूप तू एक ही है। अनेकरूप जो ज्ञान, राग और पुण्य तथा दया–दान के विकल्परूप दिखता है, उस अनेकरूप तू नहीं। आहाहा! उस अनेकरूप जो पर्याय में होता था, वह तू नहीं – ऐसा कहकर ज्ञान को राग से परान्मुख किया और ज्ञान, ज्ञान में स्थिर होता है। आहाहा! **(अन्य**

सर्व परद्रव्य के भाव हैं),.... वे सर्व अन्य हैं। राग आदि का भाव – चाहे तो महाव्रत का हो, वह सब पर है। आहाहा! यहाँ ऐसा कहते हैं कि महाव्रत का परिणाम करते-करते, वह द्रव्यचारित्र है (उससे) भावचारित्र होगा... अरे भगवान प्रभु! तू क्या करता है भाई!

श्रोता : तत्त्वार्थसूत्र में तो आस्रव कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आस्रव है, यह भले कहा वहाँ, परन्तु वहाँ उसे लाभ कहा है, वापस ऐसा कहा है। दूसरे ग्रन्थ में कहा है कि वह धर्म है, पुण्य, वह धर्म है। यह तो व्यवहारधर्म की व्याख्या है, जिसे आत्मा, आत्मा में अनुभव से स्थिर हुआ, वह निश्चयधर्म यह है और जो राग आदि आता है, तब उसे (राग) व्यवहारधर्म का आरोप दिया है। निश्चय तो अधर्म ही है, अचारित्र है, चारित्र का दोष है। आहाहा! वास्तव में आत्मा एक ही है, ज्ञानमात्र ही है। आहाहा! उस रागरूप यह आत्मा नहीं है। आहाहा!

(अन्य सर्व परद्रव्य के भाव हैं), ' तब बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य.... यहाँ देखो! आहाहा! पंचम काल, इसलिए जीवों को यह बात ली है, उसे बारम्बार सुनने में मिला, अच्छा (चौथा) काल में तो एक बार सुने और एकदम उतर जाये – ऐसा कहते हैं। आहाहा! यहाँ तो पंचम काल है न? समझ में आया? तब बारम्बार कहे गये... बारम्बार कहे गये अर्थात्? गुरु ने तो एक बार कहा था परन्तु शिष्य ने बारम्बार याद किया। अड़तीस गाथा में आता है न, आहाहा! बारम्बार... उसे राग से भिन्न (समझाया) राग से भिन्न – ऐसा जानने में विवेक किया, आहाहा! मेरा प्रभु ज्ञायक है और राग से भिन्न है – ऐसा बारम्बार अन्दर में विवेक किया; इस कारण उसे गुरु ने बारम्बार कहा, ऐसे सुनने में विवेक किया। आहाहा! अब ऐसी बात को मसकरी करके निकाल डालते हैं, वह मानो कोई चीज ही नहीं है। आहाहा!

दृष्टि में मिथ्यात्व का त्याग हुआ – ऐसा कहना, वह भी कहते हैं नाममात्र है। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द प्रभु का जहाँ दृष्टि में स्वीकार होकर सृष्टि हुई – सम्यग्दर्शन की (सृष्टि हुई) आहाहा! उसमें सब पूरी चीज पूर्ण है, वह प्रतीति में आ गयी और उसमें मैं रागरूप नहीं हूँ, यह भी उसमें आ गया और उस श्रद्धा में ऐसा भी आया कि अब मैं उसमें जितना स्थिर होऊँगा उतनी अस्थिरता (और) कर्म का नाश होगा। आहाहा! श्रद्धा में भी

ऐसा आया। आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु में मैं स्थिर होऊँगा, आहाहा! ऐसा श्रद्धा में आया कि उसमें मैं जितना स्थिर होऊँगा, उतना अस्थिरता का और कर्म का नाश होगा। वह यहाँ स्थिरता की बात अब ली है। आहाहा! समझ में आया? वहाँ भी ऐसा आता है न? श्रद्धा में ऐसा हुआ और फिर आचरण करता है (समयसार) १७-१८ गाथा! उस राजा को पहचानकर, फिर श्रद्धा करके और आचरण करके... इसी प्रकार आत्मा को पहचानकर और श्रद्धा करके और फिर उसी का आचरण करके.... आहाहा! चारों ओर से देखो तो वस्तु को एक ही प्रकार से सिद्ध करते हैं। आहाहा! भिन्न-भिन्न पहलुओं से। अनन्त द्रव्य और राग के मध्य में प्रभु, परन्तु तू अकेला ज्ञानस्वरूप भिन्न है - ऐसा इसे गुरु ने बारम्बार कहा, अर्थात् बारम्बार कहा हुआ याद किया, स्मरण में लिया। आहाहा! कि परसन्मुख के लक्ष्यवाला विकार, वह मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसा भान तो हुआ था परन्तु भान में अब विशेष स्थिरता की, आहाहा! उसरूप होना, यह मेरा द्रव्यस्वभाव नहीं, ऐसा आया न? पहले आ गया है, द्रव्यस्वभाव से रागरूप व्याप्त होना, वह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा!

मेरा प्रभु ज्ञान, आनन्द और शान्ति का स्वभाव द्रव्य का, उस द्रव्यस्वभावरूप है; विभावरूप होना, वह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! द्रव्यस्वभावरूप, विभाव का व्याप्य और स्वभाव का व्यापक (- ऐसा नहीं है)। आहाहा! पहले आ गया था, कल आया था। आहाहा! अलौकिक बातें हैं, बापू! आहाहा! प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं है, और पामरता में रुक गया, प्रभु! आहाहा! उस पामरता को छोड़ने के लिए भी कहते हैं कि उसका त्याग करना, वह भी एक नाममात्र है। आहाहा! प्रभु! तू प्रभुपने से छूटा नहीं है, आहाहा! प्रभु, प्रभुरूप रहा है, वही उसका नाम प्रत्याख्यान और चारित्र है। आहाहा! अब ऐसी व्याख्या भी सुनने को नहीं मिलती, अब वह कब समझे बापू! आहाहा!

श्रोता : अनादि का संसार शान्त हो जाये - ऐसी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है बापू! भगवान तेरा स्वरूप ही - प्रभु का (स्वरूप ही) ऐसा है। आहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, वह द्रव्यस्वभाव से दया, दान के रागरूप होना, यह इसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! वह व्यापक भगवान का व्याप्य विकार, वह उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु का

स्वभाव, निर्मलपर्यायरूप व्याप्य और व्यापक होना, वह उसका स्वभाव है। आहाहा! अरे! कहाँ यह देखने को निवृत्त नहीं होता, अन्दर प्रभु! आहाहा! जिसकी शक्ति का पार नहीं है, ऐसी शक्ति का नाथ भगवान आत्मा, आहाहा! उसे पररूप होना, रागरूप (होना), वह द्रव्य का-वस्तु का स्वभाव नहीं है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करके और फिर जब चारित्र लेता है, प्रत्याख्यान करता है, तब उस अस्थिरता के रागरूप मैं न होऊँ - ऐसा मेरा स्वभाव है और मेरा स्वभाव तो स्थिररूप ज्ञान की शान्तिरूप होना - ऐसा मेरा स्वभाव, ऐसा होकर आनन्द में स्थिर होता है प्रभु, और रागरूप नहीं होता, उस दशा को प्रत्याख्यान और चारित्र कहते हैं। आहाहा!

श्रोता : अमृत वाणी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वाणी ऐसी है बापू! आहाहा!

बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य.... आगम का वाक्य, देखा? यह क्या कहते हैं? पहले गुरु ने कहा था, वह आगम ऐसा कहता है। गुरु वाक्य से भी आगम ऐसा कहता है। गुरु के वाक्य ऐसे होते हैं कि राग से तेरी चीज भिन्न है। ये दया, दान, और व्रत, भक्ति के परिणाम जो राग हैं, उनसे भी तू भिन्न है - ऐसे आगम का वाक्य और गुरु के वाक्य हैं। आहाहा! समझ में आया? दो बात रखी थी - एक तो गुरु ने भेद कराया और यह आगम का वाक्य है - वापस ऐसा कहा। आहाहा! क्या शैली! गजब शैली!! आहाहा! भगवान! तू अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है न भाई! तुझे पता नहीं। इस तेरी प्रभुता में तो अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान और अनन्त शान्ति पड़ी है, नाथ! आहाहा! उसका जिसे भान हुआ और जब रागादि — दया, दान के विकल्प हैं, वह विकार और दुःखरूप है, उसका मेरे स्वभावरूप होना - ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार अन्दर जानकर... आहाहा! वह आत्मा, आत्मारूप रहता है; ज्ञान, ज्ञानरूप अर्थात् यह आत्मा, आत्मारूप रहता है, स्थिर होता है और रागरूप नहीं होता, इसका नाम यहाँ भगवान ने प्रत्याख्यान और भगवान को चारित्र कहा गया है। अरेरे! यह व्याख्या, अब ऐसी बात! ऐसा स्वरूप है, भाई! इसे अनन्त-अनन्त काल में यह चौरासी के अवतार में भटककर मरा है, भाई! यह दुःखी है, दुःखी, इसे भान नहीं है। मैं दुःखी हूँ - ऐसा भी भान इसे नहीं है। आहाहा! अरबोंपति और

बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस हजार का महीने का वेतनदार, ये सब प्राणी बेचारे दु:खी हैं। उन्हें भगवान आनन्द के नाथ स्वभाव का पता नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो समकिती भी, आहाहा! अपना आचरण करने का इच्छुक-इस दु:ख के आचरण को दु:खरूप जानता है। इस अव्रत के भाव को, रागभाव को दु:खरूप जानता है। मेरा नाथ तो आनन्दस्वरूप प्रभु विराजमान है। आहाहा! अरे रे! वह आनन्द का नाथ भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, इस राग के लक्षण को पररूप से दु:खरूप से जानकर और आनन्द का नाथ, दु:खरूप परिणमे - वह मेरा स्वभाव नहीं है। आहाहा! वह तो पर्याय में कमजोरी के कारण, समकिती को भी रागादि-दु:ख की पर्याय होती है। आहाहा! परन्तु अब तो मुझे स्वरूप का आचरण करना है। उस स्वरूप के आचरण के लिए मेरा स्वभाव आनन्द और अतीन्द्रियज्ञान की महिमावाला प्रभु, उस दु:ख की पर्यायरूप नहीं होता - ऐसा तो मेरा स्वभाव है। इस प्रकार स्वभाव को जानकर और राग के दु:ख के परिणामरूप नहीं हुआ, इसका नाम अन्दर में स्थिर हुआ और इसका नाम चारित्र तथा प्रत्याख्यान है। विशेष व्याख्यान हो गया। लो नौ हो गये नौ।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १०१ गाथा ३५, श्लोक २९ दिनाङ्क ०६-१०-१९७८ शुक्रवार
आसोज शुक्ल ४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार! ३५ गाथा, फिर से। वस्त्र का दृष्टान्त दिया है। **इसी प्रकार....** यहाँ से.... **ज्ञाता भी....** यह तो बीच में भाषा आयी है। जाननेवाला भी.... प्रश्न तो शिष्य का यह था — मुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो हुआ है, मैंने जाना है (कि) रागादि पर है परन्तु मुझे अन्दर आत्मा का आचरण कैसे करना? मेरे स्वरूप में आचरण कैसे करना? यह आचरण जो राग का है, उससे मेरे स्वरूप में आचरण कैसे करना? यह प्रश्न था। तो गुरु ने मूल से-पहले से बात की है। आहाहा!

ज्ञाता भी भ्रमवश.... यहाँ से शुरु किया है। **परद्रव्य के भावों को....** ये कर्म के निमित्त से होनेवाले शुभाशुभराग, इन परभावों को अपना जानकर **ग्रहण करके, उन्हें**

अपना जानकर, अपने में एकरूप करके सो रहा है.... इस प्रकार लिया है। यह राग और पुण्य-पाप के भाव अपने में मानकर स्वयं सो रहा है - ऐसे जीव को यहाँ तो लिया है। आहाहा! दूसरी दृष्टि से कहें तो वह पर्यायदृष्टि में पड़ा है। शुभ-अशुभराग, वह मेरा है - ऐसा मानकर अज्ञानी सो रहा है, अर्थात् अज्ञान में पड़ा है। आहाहा! **और अपने आप अज्ञानी हो रहा है;....**

शिष्य ने प्रश्न ऐसा किया था कि मेरे स्वरूप में आचरण कैसे करना? यहाँ पहले से शुरु किया है। आहाहा! वस्तु द्रव्यस्वभाव, शुद्ध वीतरागस्वभाव के साथ राग — दया, दान, काम, क्रोधादि के भाव, वे परभाव हैं। उस त्रिकाली वीतराग स्वभावस्वरूप वे नहीं हैं; इस कारण उन्हें अपना मानकर सो रहा अज्ञानी, जब श्रीगुरु परभावों का विवेक कराकर... कराकर का अर्थ यह भेद कराते हैं, अर्थात् भेदज्ञान कराते हैं। शरीर, वाणी, मन, वे तो पर हैं, उनकी तो यहाँ बात नहीं है, है नहीं। उससे शुभ-अशुभभाव से उसे भेदज्ञान कराते हैं, भाई! शुभ-अशुभभाव तेरी चीज नहीं है।

एक आत्मभावरूप करते हैं.... उससे ऐसा कहते हैं कि तू आत्मा ज्ञानस्वभावस्वरूप है, वह तू। रागादि भाव से-परभाव से उसे विवेक कराते हैं। देखो, यह प्रत्याख्यान और चारित्र की यह दशा! आहाहा! **जब श्री गुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्मभावरूप करते हैं....** अर्थात् उसे बतलाते हैं कि भाई! तेरी दृष्टि जो राग और पुण्य-पाप के ऊपर है, वे भाव तेरे नहीं हैं। उनसे तेरी चीज भिन्न एक ज्ञानस्वभावरूप है। अनेक पुण्य और पाप के विकृतभाव से तेरी एकरूप ज्ञानस्वभाव चीज भिन्न है। आहाहा! **और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग,....'** तुझे यह कहा परन्तु अब शीघ्र जाग! आहाहा! राग और स्वभाव दोनों भिन्न हैं - ऐसे शीघ्र जाग। बहुत धीरज की बातें हैं बापू! आहाहा! **'सावधान हो,....'**

इस शैली से, इस प्रकार बात उठायी है न? आहाहा! यह दृष्टिसहित की स्थिरता उठायी है। आहाहा! भ्रान्ति के त्यागसहित की राग के त्याग की दशा ली है। आहाहा! सूक्ष्म बात है बापू! यह तो समयसार है। यह तो भव के अभाव की बातें हैं प्रभु! आहाहा! भगवान आत्मा का एक ज्ञानस्वभाव, एक आनन्दस्वभाव, एक शान्तस्वभाव, एक

प्रभुत्वस्वभाव - यह सब एकरूप स्वभाव है। इसमें यह पुण्य और पाप के भाव जो अनेकरूप दिखायी देते हैं, वे परभाव हैं; स्वभाव में एकरूपता में वह वस्तु नहीं है। आहाहा! क्या टीका! गजब बात करते हैं न?

वह वास्तव में ज्ञानमात्र है। '**यह तेरा आत्मा वास्तव में एक (ज्ञानमात्र) ही है,....**' आनन्दमात्र; ज्ञान, अर्थात् जाननेवाला ज्ञायकमात्र; आनन्दमात्र, शान्त... शान्त... शान्त... अकषायस्वभावमात्र तेरा आत्मा है प्रभु! आहाहा! एक स्वभावमात्र ही है, ज्ञानमात्र अर्थात् ज्ञानस्वभाव; अकेला ज्ञान आनन्द, शान्ति आदि स्वभावमात्र एकरूप तू है। '**(अन्य सर्व परद्रव्य के भाव हैं),**'.... आहाहा! होते हैं अपनी पर्याय में, परन्तु वे द्रव्य के स्वभाव की शाश्वत् चीज वह नहीं है। आहाहा! भगवान ज्ञान और आनन्दस्वभाव में वे भाव नहीं हैं, उस द्रव्य के स्वभावभाव वे नहीं हैं। आहाहा! देखो, चारित्र प्रगट करने की विधि तो देखो! आहाहा!

भगवान! तू तो एक ज्ञान-आनन्दस्वरूप एकरूप है न! ज्ञायकभाव, आनन्दभाव, वीतरागभाव, शान्तस्वभाव, एकरूपभाव (है न)। यह अन्यभाव सब परभाव हैं। आहाहा! **तब बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य को....** अर्थात् गुरु ने कहा था, वह आगम का वाक्य है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह आगम को कहते हैं; वह घर की बात नहीं है। आहाहा! आगम ऐसा कहता है। गुरु कहते हैं, वह आगम का वाक्य है। आहाहा! भाई! आगम से उसने सुना कि जो यह तेरा स्वरूप है, वह एकरूप है। उसमें अनेकपने के जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे अन्य के-परद्रव्य के भाव हैं। भाई! तेरी चीज नहीं है। आहाहा!

उस चारित्र अधिकार में आता है न भाई? वहाँ ऐसा आता है — भेद-अभ्यास करने से चारित्र प्रगट होता है। आहाहा! भाई! पीछे-पीछे कलश में आता है, यहाँ इस प्रकार विधि है। आहाहा! आत्मा ज्ञान आनन्द एकरूप वीतरागस्वभाव स्वरूप एकरूप है। उसे आत्मारूप करते और बताते हैं और उसकी पर्याय में जो विकार पुण्य-पाप के रागादि... आहाहा! यहाँ तो महाव्रत का विकल्प उठता है, वह भी परभाव है, राग परभाव है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

उसे आगम का वाक्य ऐसा कहते हैं, उसे आगम ऐसा कहते हैं अर्थात् कोई कहे

कि गुरु ने ऐसा कहा तो सिद्धान्त का उस प्रकार वाक्य है ? कि वह सिद्धान्त का ही वाक्य है। गुरु ने ऐसा कहा और सिद्धान्त भी ऐसा ही कहता है। आहाहा! और देव की तथा सर्वज्ञ की वाणी में भी वही आया है। आहाहा!

प्रभु! तू आनन्द और ज्ञानस्वरूप है न एकदम, आहाहा! तुझे जो यह पुण्य और पाप का भाव-परभाव की तुझे मिठास लगी है, मेरापन मानकर, यह भ्रम हुआ है प्रभु! आहाहा! यहाँ तो भव के अभाव की बातें हैं। हमारे पाटनीजी कहते हैं न कि यहाँ भव के अभाव की बातें हैं, प्रभु! आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्द, वीतरागस्वभाव से एकरूप वस्तु है, उसकी पर्याय में निमित्त के वश हुए जो पुण्य-पाप के भाव (हैं), भगवन्त! वे परभाव हैं; वे तेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा!

यह आगम का वाक्य सुन तो गुरु ने कहा परन्तु साथ में आगम में भी ऐसा कहा है, यह सिद्ध करना है – ऐसा कि सिद्धान्त जो सर्वज्ञ का आगम है, वह ऐसा ही कहता है– ऐसा कहते हैं भाई! सर्वज्ञ कथित जो आगम है, अर्थात् सर्वज्ञ से कहा हुआ वह आया, उनकी वाणी में भी आया और गुरु ने भी ऐसा कहा। आहाहा! प्रभु! यह तो मार्ग – अन्दर की बातें हैं, प्रभु!

श्रोता : मार्ग तो अन्तर में ही होता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे पहले ज्ञान तो करना पड़ेगा न प्रभु! आहाहा!

शिष्य ने तो ऐसा कहा था कि मेरा मिथ्यात्व का पटल छूट गया है। जैसे आँख में विकार हो तो वस्तु को दूसरे प्रकार से देखता है, पीलियावाला सफेद को पीली देखता है। इसी प्रकार मेरी दृष्टि में विपरीतता थी, मैं राग को मेरा मानता था, वह विपरीतता अब मिट गयी है। आहाहा! (परन्तु) अब प्रभु मुझे आत्मा का आचरण कैसे हो ? आहाहा! कितने विनय से पूछता है! सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी-अनुभवी है। गुरु के पास, निर्ग्रन्थ सन्त के पास... आहाहा! अरे! सर्वज्ञ के पास भी ऐसा आता है। चारित्र अंगीकार करते हैं, साधु, सर्वज्ञ के पास जाये तो ही चारित्र अंगीकार करते हैं। आहाहा! तो यह तो सुना, आगम का वाक्य तो (सुना), उसका अर्थ यह हुआ कि सर्वज्ञ ने भी यही कहा है और आगम भी यही कहता है। सर्वज्ञ की वाणी, वह आगम है और गुरु, वह आगम का वाक्य इसे कहते हैं।

श्रोता : तीनों एक ही प्रकार कहते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तीनों ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु! तुझे तीनों ही ऐसा कहते हैं - देव-गुरु और शास्त्र... आहाहा! कि तेरा भगवान एकस्वरूप है न प्रभु! उसमें अनेकपने के विकल्प-राग, आहाहा! वे सब परभाव हैं न प्रभु! तेरा भाव हो तो कायम रहे। वे तो क्षणिक-नाशवान हैं। आहाहा! उन परभावों से भिन्न करके बतलाते हैं। इसने देखा तो है परन्तु यह तो विशेष स्पष्ट करते हुए पहले से ही शुरुआत की है। आहाहा! प्रवीणभाई! यह सब दूसरे प्रकार की है। तुम्हारे थाने की गद्दी की अपेक्षा यह बातें दूसरी है भगवान! आहाहा! दुनिया का पूरा रस उड़ा देने की बातें हैं। यहाँ तो इसे भगवान आत्मा का रस चढ़ा देना। समझ में आया ? आहाहा! प्रत्याख्यान, अर्थात् चारित्र, अर्थात् राग के अभावस्वरूप परिणमन - इस स्थिति से बतलाते हैं, देखो! आहाहा!

अब ऐसी स्थिति पड़ी है न प्रभु! अन्दर से कुछ का कुछ करते हैं। आहाहा! यह तो सम्यग्दृष्टि सहित है, इसे भी इस प्रकार कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ?

आगम के वाक्य को सुनता हुआ.... परन्तु वह बारम्बार कहा गया, हाँ! इतना अर्थात् इसने बारम्बार विचार में लिया। ऐसे गुरु ने तो भले एक बार कहा- यह तो ३८ गाथा में आता है न ? गुरु ने बारम्बार कहा ऐसा अन्त में आता है। उसका (अर्थ) बारम्बार गुरु कहाँ फुरसत में थे ? इसने स्वयं ने ही बारम्बार उसका विचार मन्थन चलता है। है न अपने ३८ वीं में, आ गया है। ३८ में आता है, ३८-३८... 'विरक्त गुरु द्वारा निरन्तर समझाये जाने पर....' ऐसी भाषा है; निरन्तर, निरन्तर.... गुरु फुरसत में हैं ? इसका अर्थ ही यह (कि) महा निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनि-सन्त आनन्द में झूलनेवाले, आहाहा! धर्मपिता, धर्मगुरु, वे इसे निरन्तर... विरक्त गुरु, विरक्त गुरु का अर्थ निर्ग्रन्थ गुरु।

श्रोता : रागरहित।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग से रहित हो गये हैं और स्वरूप में रक्त, रक्त हो गये हैं। राग से विरक्त हैं और स्वरूप में रक्त हैं। आहाहा! ऐसे गुरु द्वारा निरन्तर समझाये जाने पर... निरन्तर का अर्थ कि इसने गुरु का वाक्य ऐसे का ऐसा घोलन में धुन लग गयी। आगम का वाक्य सुनते हुए धुन लग गयी, धुन। आहाहा! राग से भिन्न... राग से भिन्न...

राग से भिन्न... राग से भिन्न... आहाहा! ऐसे निरन्तर अन्तर में भिन्न की धुन लग गयी। आहाहा! अरे! अब ऐसी बातें!

इसी प्रकार यहाँ आगम का वाक्य बारम्बार कहा हुआ – ऐसा लेना, उसका अर्थ यह। आहाहा! जब कहे तब यही कहे – ऐसा उसका अर्थ है – दूसरे प्रकार से कहें तो। समझ में आया? बारम्बार का अर्थ? जब गुरु कहे आगम का वाक्य, तब यही कहे। किसी समय कुछ और किसी समय कुछ – ऐसा नहीं। आहाहा! **तब बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य....** क्या गम्भीर टीका! गजब बात! अभी भरतखण्ड में ऐसी टीका कोई है नहीं। साक्षात् सर्वज्ञ भगवान की वाणी सीधी रखी है। आहाहा! जिसने सर्वज्ञ का विरह भुला दिया है। आहाहा!

कहते हैं **बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य को सुनता हुआ वह, समस्त (स्व-पर के) चिह्नों से भलीभाँति परीक्षा करके,....** स्व-पर के चिह्नों से — मेरा लक्षण तो ज्ञान (स्वभाव है), राग का लक्षण तो बन्ध स्वभाव है। मेरा स्वरूप तो अबन्धस्वरूप है, और यह राग है, वह बन्धस्वरूप है। मेरा स्वरूप तो अहिंसक वीतरागी दशा है, यह स्वरूप तो – राग तो हिंसक दशा है। आहाहा! इस प्रकार दोनों की बारम्बार परीक्षा करके, ओहोहो! **(स्व-पर के) चिह्नों से....** चिह्न अर्थात् लक्षण। मेरा भगवान ज्ञानलक्षण, आनन्द लक्षण। आहाहा! ज्ञानलक्षण क्यों कहा मुख्यरूप से? कि ज्ञान की पर्याय प्रगट है न, इस अपेक्षा से ज्ञान पूरा स्वरूप है – ऐसा वहाँ से कहा है। अज्ञानी को आनन्द की पर्याय प्रगट नहीं है। आहाहा! इसलिए ज्ञानलक्षण से और उसके साथ आनन्द की पर्याय से लक्ष्य से आत्मा को पकड़ा है। आहाहा! समझ में आया?

भलीभाँति परीक्षा करके,.... ऐसा का ऐसा मानकर नहीं – ऐसा कहते हैं। गुरु ने कहा, इसलिए ऐसा का ऐसा मान लिया – ऐसा भी नहीं। स्वयं स्वतः परीक्षा की है, आहाहा! समझ में आया? गुरु ने कहा कि प्रभु! तेरा आत्मा तो अन्दर वीतरागमूर्ति एकस्वरूपी है न! त्रिकाल एकस्वरूपी प्रभु है, एक स्वभावी है, उसमें यह अनेकपने के विकल्प और विकार, वह तो परद्रव्य के भाव हैं, उनसे भेदज्ञान कराकर और आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा उसे बताया। समझ में आया? आहाहा! अरे! स्व-पर के चिह्नों से-

भगवान आत्मा का लक्षण और रागादि के लक्षण दोनों की भलीभाँति परीक्षा करके, आहाहा! भगवान अनाकुल आनन्दस्वरूप और यह राग, आकुलता / दु:खस्वरूप-ऐसे दोनों की भिन्न लक्षणों से परीक्षा करके, आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का! '**अवश्य यह परभाव ही हैं,....**' अवश्य मेरा लक्षण ज्ञान और आनन्द और वीतरागस्वरूपी प्रभु मैं हूँ। आहाहा! अत: अवश्य मेरे स्वभाव के लक्षण से इस राग के लक्षण और चिह्न अत्यन्त भिन्न है। आहाहा !वह तो आकुलता उत्पन्न करानेवाला और भगवान तो अनाकुल आनन्दस्वरूप है - ऐसे दोनों को भलीभाँति, परभाव को भलीभाँति जानकर... आहाहा! ज्ञान और आनन्दस्वभाव में यह रागादिस्वभाव भिन्न है, परभाव है; इस प्रकार दोनों के भिन्न लक्षण जानकर '**अवश्य यह परभाव ही हैं,....**' राग आदि परभाव है। आहाहा!

'**(मैं एक ज्ञानमात्र ही हूँ)**'.... आहाहा! मूल तो ज्ञान शब्द से पूरा आत्मा। पूर्णानन्द का नाथ वीतरागस्वरूपी प्रभु मैं तो एक स्वरूप हूँ। आहाहा! **यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ,.....** अर्थात् परभाव और परभाव का जाननेवाला होता हुआ, आहाहा! स्वभाव और स्वभाव का जाननेवाला होता हुआ। आहाहा! क्या टीका! क्या टीका! गजब बात भाई! आहाहा! इसका एक-एक श्लोक, सन्तों की वाणी-दिगम्बर सन्तों की यह वाणी है, भाई! आहाहा! वे ऐसा कहते हैं कि प्रत्याख्यान कब होता है ? राग का अभाव कब होता है ? कि स्वभाव में राग नहीं है, वह राग परभावस्वरूप है - ऐसा जानकर, अपना स्वभाव ज्ञान एकरूप है - ऐसा चिह्न से जानकर उस ज्ञानरूप में स्थिर होता है, वहाँ से हटकर स्वभाव में स्थिर होता है, उसे चारित्र और प्रत्याख्यान होता है। आहाहा! यह कोई विद्वतता की चीज नहीं कि बहुत पढ़ गया और बहुत वाँचन कर लिया, इसलिए उसे यह (स्वानुभूति) हो जाये। आहाहा! कहो, इसका नाम चारित्र और प्रत्याख्यान है। आहाहा! **यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ,....** सम्यग्दृष्टिरूप से ज्ञानी तो था परन्तु यहाँ अब ज्ञानी होता हुआ, अर्थात् ज्ञानस्वभाव में स्थिर होता हुआ, आहाहा! **सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है।** आहाहा! धन्य काल! आहाहा! उन परभावों को परभावरूप से जानकर, अपने आनन्द-ज्ञानस्वभाव को स्वभावरूप से जानकर और ज्ञानी, अर्थात् स्वरूप में स्थिर होता हुआ... ज्ञानी, अर्थात् ज्ञानस्वभाव में स्थिर होता हुआ... आहाहा! **सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है।** ऐसा निमित्त से कथन है, वरना छोड़ता है - ऐसा नहीं, छूट जाते

हैं। आहाहा! स्वरूप में ज्ञानी स्थिरता करता हुआ, उसे राग का परिणाम जो पर्याय में था, वह उत्पन्न नहीं हुआ, वह स्वरूप में स्थिर हुआ, उसने परभाव का त्याग किया – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा!

अरे! ऐसी बातें प्रभु! मीठी–मधुरी आनन्ददायक बात है प्रभु! आहाहा! भले ही कर न सके परन्तु वस्तु ऐसी है; इस प्रकार उसका पहले सम्यग्दर्शन तो करे।

श्रोता : श्रद्धा तो करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रद्धा तो करे।

श्रोता : ऐसा है ऐसी श्रद्धा तो करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे कहाँ जाना भाई! परभाव को अपना मानकर प्रभु, इसे कहाँ जाना है? इसे अचारित्र और अज्ञानभाव से चार गति में भटकना है। आहाहा! अनजाने क्षेत्र में, अनजाने द्रव्य में जाकर इसे भटकना है। आहाहा! परिचित भगवान को इसने छोड़ दिया। आहाहा!

इसने यह तो परिचित भगवान को जान लिया, जान लिया, तदुपरान्त राग को पर जानकर, स्वयं ज्ञानी हुआ तो स्थिर हुआ। आहाहा! यह चारित्र। कहो छोटाभाई! ऐसी बात है भाई! आहाहा! क्या टीका! क्या उसके कहे हुए वाच्य! वह ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुआ, अर्थात् ज्ञानस्वरूप में स्थिर होता हुआ, जो अस्थिरता में था, उसे पर जानकर अपने में स्थिर होता हुआ... आहाहा! वह चारित्र को प्राप्त करता है, वह प्रत्याख्यान को प्राप्त करता है, यह विधि! कहो, गोविन्दरामजी! आहाहा! अरे! ऐसे स्वरूप को विकृत कर डालना और जगत को बतलाना कि यह भी चारित्र है, भाई! आत्मा को दु:ख होगा भाई! आहाहा! और उसके दु:ख के परिणाम में भविष्य में भी कुछ गति होगी। आहाहा! उसका विचार कर प्रभु! आहाहा! और भ्रम छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो, उसे यहाँ प्रत्याख्यान कहते हैं। आहाहा! भाषा–टीका तो वैसे सादी है, भाव बहुत गम्भीर है। आहाहा!

ज्ञानी होता हुआ अर्थात्? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, यह तो जाना था परन्तु अब ज्ञानस्वरूप में स्थिर होता हुआ, ज्ञानी होता हुआ। वह रागी होता हुआ जो अस्थिरता का भाव था, आहाहा! उसे छोड़कर; ज्ञानी स्वरूप में–ज्ञानस्वरूप में स्थिर होता हुआ आहाहा! पर को

छोड़ता है – ऐसा कहा जाता है। आहाहा! इसका नाम प्रत्याख्यान! यह पचक्खाण और प्रत्याख्यान, व्रत और नियम करते हैं न? व्रत का प्रतिज्ञा दो परन्तु बापू! यह व्रत अर्थात् क्या? यह पचक्खाण अर्थात् क्या? भाई! समझ में आया? आहाहा!

यह बाह्य से है, वह तो विकल्प–शुभराग है, वह कोई प्रत्याख्यान नहीं है। आहाहा! प्रत्याख्यान तो भगवान पूर्णानन्द प्रभु! एक स्वरूपी – ऐसी दृष्टि हुई और उसमें परभाव की अनेकता पररूप है – ऐसा जानकर वहाँ से हट गया और इस शुद्धात्मा में लीन हुआ, उसे यहाँ प्रत्याख्यान / पचक्खाण, राग के त्याग की दशा... आहाहा! ऐसा कहा जाता है। बहुत बात... आहाहा!

भावार्थ : जब तक परवस्तु को भूल से अपनी समझता है.... पहले से शुरु किया है न? **तभी तक ममत्व रहता है....** आहा! अपनी जानता है, इसलिए ममत्व ही रहता है, यह मेरी है ऐसा। आहाहा! **और जब यथार्थ ज्ञान होने से परवस्तु को दूसरे की जानता है....** आहाहा! उस कोट को भी पर का जानता है, उसके लक्षण से (जानता है), छोड़ देता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा शुभ–अशुभभाव के परभाव को जाने और अपना स्वभाव वीतरागी ज्ञान–आनन्दस्वरूप जाने, **तब दूसरे की वस्तु में ममत्व कैसे रहेगा?....** यह पुण्य और पाप में अस्थिरता कैसे रहे – ऐसा कहते हैं। आहाहा! **अर्थात् नहीं रहे, यह प्रसिद्ध है।** आहाहा!

कलश - २९

अब, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव॥२९॥

श्लोकार्थ : [अपर-भाव-त्याग-दृष्टान्त-दृष्टिः] यह परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि, [अनवम् अत्यन्त-वेगात्-यावत् वृत्तिम् न अवतरित] पुरानी न हो इस प्रकार अत्यन्त वेग से जब तक प्रवृत्ति को प्राप्त न हो, [तावत्] उससे पूर्व ही [झटिति] तत्काल [सकल-भावैः अन्यदीयैः विमुक्ता] सकल अन्यभावों से रहित [स्वयम् इयम् अनुभूतिः] स्वयं ही यह अनुभूति तो, [आविर्बभूव] प्रगट हो जाती है।

भावार्थ : यह परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा, उस पर दृष्टि पड़े उससे पूर्व, समस्त अन्य भावों से रहित अपने स्वरूप का अनुभव तो तत्काल हो गया; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तु को पर की जान लेने के बाद ममत्व नहीं रहता।

कलश - २९ पर प्रवचन

अब, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं — २९ (वाँ कलश)

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव॥२९॥

आहाहा! '**अपर-भाव-त्याग-दृष्टान्त-दृष्टिः**' **यह परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि, 'अनवम् अत्यन्त-वेगात्-यावत् वृत्तिम् न अवतरित'....** यह परभाव की दृष्टि जहाँ है, कहते हैं कि प्रगट हुई वहाँ वह **पुरानी न हो इस प्रकार अत्यन्त वेग से जब तक प्रवृत्ति को प्राप्त न हो,....** अरे! राग को पावे ही नहीं। आहाहा! सुना कि रागादि पर है, यह वस्त्र के दृष्टान्त आदि से। यह दृष्टान्त जहाँ सुना, वहाँ तुरन्त ही राग की प्रवृत्ति में नहीं रहे। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि यह सुना और **अत्यन्त वेग से....** प्रवृत्ति को प्राप्त न हो, **उससे पूर्व ही तत्काल....** राग की प्रवृत्ति को प्राप्त नहीं हो – दृष्टान्त दिया कि भाई! रागादि पर है, ऐसा जो दृष्टान्त कहा, उस दृष्टि को प्राप्त न हो, अर्थात् प्रवृत्ति को प्राप्त न हो, वहाँ एकदम अन्दर स्थिर हो गया। आहाहा!

परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि, पुरानी न हो.... अर्थात् ऐसी ताजा रहे।

सुनने के साथ एकदम अन्दर स्थिर हो गया। आहाहा! उसे देर लगे, सुनने की चीज को और पृथक् पड़ने में देरी लगे, ऐसा नहीं – ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या सन्तों की वाणी तो देखो! कहते हैं कि उसे जहाँ ऐसा दृष्टान्त दिया कि भाई! यह वस्त्र जो पर का है, उसके चिह्न जाने और उसने सुना, वहाँ वह बात उससे छूट गयी, तुरन्त ही छूट गयी। इसी प्रकार भगवान आत्मा में शुभाशुभभाव दृष्टान्त की दृष्टि की अपेक्षा बात की, वह बात पुरानी न हो, अर्थात् उस बात को देर न लगे। आहाहा!

पाँचवीं गाथा में कहा है न कि मैं एकत्व–विभक्त को तुझे कहूँगा प्रभु! परन्तु यदि दिखाऊँ तो प्रभु! प्रमाण करना, हों! आहाहा! **'जदि दाएज्ज'** यदि मैं दिखाऊँ – राग से विभक्त, स्वभाव से एकत्व तो – यह बात दिखाऊँ तो प्रभु, हाँ करना, इतना ही नहीं कहा। आहाहा! ऐसा है या नहीं ? कहते हैं, उस अनुसार है या नहीं ? – उसका प्रमाण अनुभव से करना। आहाहा! यहाँ यह कहा कि इस दृष्टान्त की दृष्टि जहाँ पुरानी न पड़े और देर न लगे... लोग नहीं कहते, तुम्हारे आने से पहले ही यह काम हो गया। यह तू आया, यह काम हुआ, तू आया। उससे पहले ही हो गया, पहले नहीं, परन्तु वह आया तब हुआ – परन्तु आया उससे पहले हो गया – ऐसा कहते हैं न ? आहाहा! तुम्हारा काम था भाई! परन्तु तुम्हारे आने से पहले तुम आये, साथ में हो गया, तो आने से पहले हो गया – ऐसा। हुआ है तो तब।

श्रोता : समय भेद नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समय भेद नहीं है। आहाहा!

इसी प्रकार जहाँ भगवान सन्तों ने आगम से, सर्वज्ञ के आगम से और सन्तों ने स्वयं कहकर कहा उसे यह... आहाहा! कि प्रभु! परभाव से तेरी चीज तो भिन्न है और तेरी चीज से परभाव भिन्न है। आहाहा! ऐसा जहाँ सुनने में आया और वह बात पुरानी न रहे, अर्थात् देर न लगे। आहाहा! क्या वाणी! दिगम्बर सन्तों की शैली तो देखो, आहाहा! प्रभु! वहाँ तो तू सुख के धाम में अन्दर पौड़ गया, कहते हैं। आनन्द के नाथ में अन्दर चला गया, कहते हैं। तुझे कहा कि राग भिन्न–राग परभाव है, यह बात पुरानी न हो, वहाँ तो तू पर से भिन्न पड़ गया। आहाहा! (यत्क्षणं दृश्यते शुद्ध तत्क्षणं गतविभ्रमः)

यह तीन लोक के नाथ क्या करते होंगे, दिव्यध्वनि द्वारा, वह कैसी होगी? जहाँ तीन ज्ञान के धनी इन्द्र एकावतारी भी जिनकी बात सुनकर डोलते हैं, आहाहा! साक्षात् प्रभु तो विराजते हैं, वहाँ आहाहा! ऐसी यह टीका, गजब टीका है। साक्षात् आगम वाणी–सर्वज्ञ की वाणी – गुरु की वाणी! आहाहा! इस आगम के नाम से, जो तुझे राग से लाभ होता है – ऐसा कहते हैं, वह आगम ही नहीं है, वे गुरु नहीं है और उस देव ने ऐसा कहा नहीं है। आहाहा! आगम–गुरु और देव ने ऐसा कहा प्रभु, कि जो परभाव है, उससे तू भिन्न पड़ तो तुझे लाभ होगा, तो एकपने का लाभ होगा। इस प्रकार आगम के वाक्य, गुरु के वाक्य, वीतराग के वाक्य यह हैं। आहाहा! क्योंकि वीतराग की वाणी और गुरु की वाणी में वीतरागता प्रगट करने की बात है। आहाहा! अतः वीतरागता कैसे प्रगट हो? – कि राग को पररूप से जानकर स्वरूप में स्थिर हो, तब वीतरागता प्रगट होती है – यह बात वीतराग ने कही है और आगम ने यह कही है। आहाहा! इसलिए कोई ऐसा कहे कि प्रत्याख्यान की विधि यह है – तो वह आगम का वाक्य है, गुरु का वाक्य है, और वीतराग का कथन है? कि यह कथन वीतराग का है। आहाहा! दूसरा कोई ऐसा कहे कि यह प्रत्याख्यान ऐसा किया और राग ऐसा किया और राग है, विकल्प है, वह त्याग है – तो वह वीतराग की वाणी नहीं, वह गुरु की वाणी नहीं, सर्वज्ञ का वह कथन नहीं। आहाहा! समझ में आया?

साधारण प्राणी को कठिन लगता है परन्तु मार्ग तो यह है बापू! आहाहा! भगवन्त तेरा स्वरूप ही ऐसा है। यह तो आया था न पहले 'भगवत् ज्ञातृद्रव्य' भगवान ज्ञाताद्रव्य जाननद्रव्य, ज्ञाताद्रव्य, आहाहा! वह ज्ञाता को ज्ञातारूप से जानकर, राग के विकल्प की वृत्तियों को परभावरूप से जानकर, उसमें नहीं प्रवर्तकर और उन्हें छोड़कर स्वरूप में प्रवर्तता है, उसे प्रत्याख्यान और राग के त्यागरूप भाव कहने में आता है। आहाहा! कितनी शर्तें!

श्रोता : एक ही शर्त.....

पूज्य गुरुदेवश्री : तू दूसरे प्रकार से माने कि हमने यह व्रत लिये और तप किया, इसलिए यह संवर–निर्जरा है, यह चारित्र है... भगवान! ऐसा नहीं है भाई! आहाहा! भगवान ने ऐसा नहीं कहा और आगम का यह वाक्य नहीं है, गुरु ने ऐसा उपदेश दिया नहीं है। आहाहा!

पुरानी न हो (दृष्टि) इस प्रकार अत्यन्त वेग से जब तक प्रवृत्ति को प्राप्त न हो,.... रागरूप परिणमे नहीं, उससे पहले आता है और उसे दूर से छोड़कर... स्तुति में आया था, उदय की ओर का अनुसरण है, उसे इस प्रकार दूर से छोड़कर अर्थात् ऐसा अनुसरण नहीं करता और ऐसे अनुसरण करता है - स्व के आश्रय का अनुसरण करता है। आहाहा! यह उसकी अभी ज्ञान और श्रद्धा तो करे कि मार्ग यह है। ऐसे का ऐसा मानकर बैठ जाये, बापू! प्रभु! तुझे लाभ नहीं होगा। तू माने और दुनिया माने अर्थात् लोग सर्टीफिकेट दें कि तुम गजब मुनि... भाई! ऐसा नहीं होता। आहाहा!

'अनवम् अत्यन्त-वेगात्' यह कान में शब्दों की दृष्टि पड़ी, वह पुरानी न हो, तुरन्त ही अन्दर राग से भिन्न भगवान अन्दर जाग उठा... आहाहा! अन्दर में भनकार बजे। ज्ञाताद्रव्य चैतन्य-सिन्धु, यह चैतन्य-सिन्धु हमारा रूप है; रागादि हमारा रूप नहीं है। आहाहा! **उससे पूर्व ही.... तत्काल 'झटिति'.....** है न? **'सकल-भावैः अन्यदीयैः विमुक्ता' सकल अन्यभावों से रहित,....** कहते हैं कि रागादि परभाव हैं, उनके लक्षण भिन्न हैं, तेरे स्वभाव के लक्षण भिन्न हैं - ऐसी जहाँ दृष्टि जहाँ कान में पड़ी-यह दृष्टान्त कान में पड़ा-कान में पड़ा और पुराना न हो, वहाँ तो तुरन्त ही राग से भिन्न पड़ गया, भगवान... आहाहा!

सकल अन्यभावों से रहित.... देखा! शुभाशुभभाव विकार है। आहाहा! अन्य भाव है। **सकल अन्य भावों से रहित....** आहाहा! तत्काल **स्वयं ही यह अनुभूति तो, प्रगट हो जाती है।** आहाहा! सम्यग्दर्शन की अनुभूति तो थी ही परन्तु यह चारित्र की अनुभूति प्रगट हुई। आहाहा! भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति को अनुसरण करके अनुभूति हुई, जो निमित्त को अनुसरण करके राग होता था, उसे ऐसा कहा कि यह राग लक्षण तो पर है और तेरा स्वरूप पर है - यह बात जहाँ कान में पड़ी और पुरानी न हो 'अनवम्', पुरानी न हो, ताजा रहे, वह पृथक् पड़ गया। आहाहा!

कहते हैं वहाँ स्वयं ही अनुभूति तो प्रगट हो गयी है। **'स्वयम् इयम् अनुभूतिः'** अर्थात्? रागरूप नहीं हुआ, इसलिए ऐसा हुआ ऐसा है? वह तो स्वयं अनुभूति प्रगट हो गयी है। रागरूप नहीं हुआ वह तो फिर अपेक्षा हो गयी। आहाहा! आहाहा! अन्दर भगवान

आनन्द के नाथ की वीणा बजी। वह अनुभूति, स्वस्वभाव को अनुसरण करके परस्वभाव की प्रवृत्ति से परिणमने से पहले, अर्थात् वह परिणमा नहीं, उससे पहले यह (अनुभूति) हो गयी – ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यह समयसार तो भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान का सूर्य है, अजोड़ चक्षु है। आहाहा! भाई! इसे समझना अलौकिक बात है। आहाहा!

अन्यभावों से रहित, दृष्टान्त सुने और पुराना न हो, वहीं, पहले फिर ऐसा पहले का अर्थ तत्काल। आहाहा! आनन्द का नाथ भगवान ऐसा मैं, परभावरूप नहीं होऊँ, मेरा स्वभाव स्वभावरूप हो, परभावरूप न हो – ऐसा अन्तर जानकर जहाँ स्वभावरूप स्थिर हुआ, तब अनुभूति तुरन्त ही प्रगट हो गयी। आनन्द का अनुभव, प्रत्याख्यान अर्थात् चारित्र, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव प्रगट हो गया। उसे यहाँ प्रत्याख्यान और चारित्र कहते हैं। आहाहा!

अरेरे! लोगों को कठिन पड़ता है। वे लोग ऐसा कहते हैं कि इस पाठ में तो इतना भरा है और ऐसा अर्थ कहाँ से? कितने ही ऐसा कहते हैं। अरे प्रभु! ऐसा कि यहाँ तो इतना कहा है **जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि। तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी॥** सर्व परभावों को छोड़ा है, उसमें इतनी बात में लम्बी-लम्बी बातें... बापू! उसमें कहे हुए भावों की गम्भीरता का यह अर्थ है। कितने ही लोग ऐसी आलोचना करते हैं न? भाषा तो सरल है, उसमें इतनी सब गम्भीरता निकालकर टीकाकारों ने विद्वानों ने (दुरुह कर दिया है)। अरे भगवान! ऐसा रहने दे प्रभु! तू ऐसा करना (छोड़ दे) आहाहा! उसमें ही यह आया **जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं** परद्रव्य है – ऐसा जाना चयदि। तो आ गया न अन्दर में, यह तो उसका स्पष्टीकरण है। आहाहा! पुण्य-पापभाव-विकारभाव वह सब परद्रव्य है, परभाव है – ऐसा जाना, वहाँ मेरा स्वभाव नहीं तो वहाँ परिणम जाता है तो राग को यद्यपि ऐसे छोड़ता है – ऐसा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

बापू! ये तो वीतराग का पन्थ है नाथ! इसमें कोई राग का रस इसमें है नहीं। आहाहा! आहाहा! वह कहते हैं कि यह शब्द थोड़े हैं और साधारण, उसमें बड़ी-बड़ी

लम्बी बातें कि परभाव को परभाव जाना, रागादि को.... स्वयं को स्वयं जाना और उस रागरूप नहीं हुआ और वीतरागरूप हुआ – यह तो उसका स्पष्टीकरण है प्रभु! तू ऐसा मत कर, भाई! उसका स्पष्टीकरण किया तो कहता है गहरा कर डाला, गूढ़ कर डाला। अरे भगवान! उसमें जो था, उसे खोलकर स्पष्ट किया है। आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्य भगवान स्वरूप (पंच) परमेष्ठी में आचार्य पद पर हैं। आहाहा! भाई! इस गाथा के भाव में बहुत गम्भीरता थी, उसे टीका करके स्पष्ट कर दिया है। टीका अर्थात् नहीं कहते कि मेरी टीका करता है। उसमें जो था, उसकी टीका की है, विस्तार किया है, स्पष्ट किया है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु इसमें ऐसा प्रत्याख्यान महँगा लगता है न, इसलिए ऐसा कहते हैं कि ऐसी टीका करके प्रत्याख्यान ऐसा कर डाला। करे क्या भाई! भगवन्त! तेरी चारित्रदशा ऐसी होगी, तब मुक्ति होगी। तू ऐसा जाने कि खा-पीकर लहर करें और हो... सम्यग्दर्शन अकेला हो और ज्ञान हो तो भी मुक्ति नहीं होगी। आहाहा! उसे इस प्रकार चारित्र की परिणति प्रगट करेगा, आहाहा! तब वह मुक्ति का कारण होगी। समझ में आया? आहाहा! उसके लिए कहा न अन्त का, अन्तिम शब्द था न, ३४ में 'इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है।' टीका (गाथा) ३४ में था न – ऐसा अनुभव, ऐसा करना, है न? ३४ की अन्तिम लाईन। इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है – ऐसा अनुभव करना, ३५ में यह लिया कि 'स्वयं ही अनुभूति तो प्रगट हो गयी' आहाहा! है न अन्तिम शब्द ३४ का, वह यहाँ अनुभूति करके कहा। आहाहा!

भाई! कठिन लगे... यह तो अपूर्व बातें हैं प्रभु! कठिन शब्द न करके यह अपूर्व है, कभी किया नहीं – ऐसी अपूर्व बात है, भाई! आहाहा! इस कारण तुझे कठिन लगे परन्तु है अपूर्व प्रभु! पूर्व में अनन्त काल में एक सैकेण्डमात्र भी नहीं किया। आहाहा! यह तो दृष्टान्त कहकर कहा कि यह दृष्टान्त कहा है, वहाँ सुनने से पहले तो पृथक् हो गया – ऐसा कहा है, ऐसा कर डाला अर्थात् इसका अर्थ कि दृष्टान्त सुना, इसलिए पृथक् पड़ा – ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसका भावार्थ आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १०२ श्लोक २९, गाथा ३६ दिनाङ्क ०७-१०-१९७८ शनिवार
आसोज शुक्ल ६, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ३५ गाथा का कलश है न, २९ कलश, उसका भावार्थ। **यह परभाव के त्याग का दृष्टान्त....** क्या कहा? कि धोबी के यहाँ कोई वस्त्र अपना नहीं परन्तु पर का लेकर सो गया था, तो जिसका वस्त्र था, वह आया, उसको जगाया कि यह वस्त्र मेरा है, तेरा नहीं तो उसने वस्त्र दृष्टि में से छोड़ दिया (कि) यह वस्त्र मेरा नहीं है, वैसे ही धर्मात्मा सन्तों ने-ज्ञानियों ने... क्या कहते हैं? समझ में आया? आहा! उस वस्त्र के दृष्टान्त से - वस्त्र मेरा है, तेरा नहीं - ऐसा कहा तो उसने वस्त्र को छोड़ दिया। दृष्टि में से मेरा नहीं (ऐसा छोड़ दिया)। इसी प्रकार ज्ञानी-धर्मात्मा ने ऐसा कहा कि तेरी चीज जो आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसमें तुम पुण्य और पाप का भाव 'मेरा' होकर - मानकर सोते थे। अज्ञानी (थे), वह तेरी चीज नहीं। आहाहा! समझ में आया?

अपना आत्मा... सन्तों ने मुनियों ने, दिगम्बरों ने, अथवा केवलियों ने... यहाँ तो सन्त छद्मस्थ, पंचम काल की बात है न? भावलिंगी सन्त दिगम्बर मुनि, (ने) उसको ऐसा कहा कि तुझमें जो यह शुभ-अशुभराग उत्पन्न होता है — दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग हिंसा, झूठ, चोरी का राग, वह तेरी चीज नहीं है, वह तो कर्म के भावक से उत्पन्न हुआ भाव्य-विकारदशा है, तेरी चीज तो उससे भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सुनकर... यहाँ तो यह कहते हैं कि **परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा, उस पर दृष्टि पड़े उससे पूर्व,....** अर्थात् ज्ञानी ने कहा - भगवान! तेरी चीज अन्दर पुण्य और पाप के राग से भिन्न है — ऐसा कहा तो कहते हैं उसको सुनकर भेदज्ञान हुआ या नहीं? यह वाणी आयी, इससे पूर्व तत्काल भेदज्ञान हो गया, उसका अर्थ यह है। आहाहा! यह वाणी सुनी, उससे पहले यह भेदज्ञान हुआ - इसका अर्थ यह। आहाहा! वाणी सुनी, उससे भेदज्ञान नहीं हुआ, उसका अर्थ यह। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! यह मार्ग बहुत सूक्ष्म है, सूक्ष्म है। अनन्त काल से कभी इसकी दरकार की ही नहीं। आहाहा! सन्तों ने ऐसा कहा कि तेरी चीज अन्दर जो है, उसमें जो शुभ-अशुभराग उत्पन्न होता है,

वह तेरी चीज नहीं है। वह तो कर्म के भावक की उपाधिभाव है – ऐसा कहा तो यहाँ तो कहते हैं कि कहने से पहले ही भेदज्ञान हो गया। उसका अर्थ? कि सुनने से नहीं हुआ – ऐसा कहते हैं। भाई! आहाहा! अन्तर में भगवान आत्मा, राग और पुण्य-पाप का भाव, वह विकृत-पर है, मैं तो ज्ञान-दर्शन-ज्ञाननेवाला आत्मा हूँ – ऐसा जहाँ अन्तर में भेदज्ञान हुआ, तब वह सुनने से पहले हो गया – ऐसा कहा। इसका अर्थ यह कि सुनने से नहीं हुआ, ऐसा। आहाहा! समझ में आया? अन्दर भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु है, उसको जाना कि सन्तों ने तो ऐसा कहा कि रागादि – दया, दान, व्रत, भक्ति का राग भी विकार है, वह मेरी चीज में नहीं है। यह कर्म, निमित्त भावक है, उसका वह भाव्य है। आहाहा! वह भाव्य मेरी चीज नहीं, मेरा तो ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वभाव, उसरूप मैं हूँ, वह मेरा भाव्य और मेरा भावक मैं हूँ। आहाहा! बहुत कठिन बातें, बापू! कहो, नवरंगभाई!

यह प्रत्याख्यान-पचक्खाण, इसका नाम पचक्खाण, पचक्खाण का अर्थ? अन्दर जो रागभाव था, वह मेरी चीज नहीं है; मैं तो ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप हूँ – ऐसा राग से पृथक् अपना शुद्धस्वरूप का परिणमन – स्वसंवेदन हुआ, उसका नाम प्रत्याख्यान कहा जाता है। आहा! उसका नाम चारित्र कहा जाता है, उसका नाम राग का त्याग कहा जाता है। निमित्त से (कहा जाता है)। आहाहा! है?

परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा, उस पर दृष्टि पड़े उससे पूर्व,.... इसका अर्थ यह। यहाँ दृष्टि पड़ी उससे पहले। पूर्व अर्थात् यह हुआ तो उससे अन्दर भेदज्ञान नहीं हुआ – ऐसा कहा। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! सम्यग्दर्शनपूर्वक प्रत्याख्यान, पचक्खाण... प्रत्याख्यान उसको कहते हैं, जहाँ यह वाणी सुनी, उससे अन्दर गये नहीं। आहाहा! मेरा स्वभाव आत्मा आनन्द ज्ञानस्वरूप-दर्शन उपयोगस्वरूप और राग में जो उपयोग जाता है, वह उपाधिभाव है, वह उपाधिभाव पर का है – ऐसा जानकर, अपना ज्ञानस्वभाव ज्ञान में रहा और राग में जुड़ान न हुआ, वह राग का त्याग हुआ, वह स्वरूप (में) स्थिर हुआ, उसको प्रत्याख्यान / चारित्र, संवर और निर्जरा धर्म कहते हैं – ऐसी बात है, भाई! समझ में आया?

अरे! यह तो अनन्त बार सुना है परन्तु अन्तर्दृष्टि नहीं की – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यहाँ तो सुना तो सही परन्तु सुनने से नहीं हुआ – ऐसा कहते हैं। आहाहा! मैं तो आनन्द ज्ञानस्वरूप प्रभु आत्मा हूँ। यह पर्याय में जो रागादि होते हैं, वह मेरी चीज नहीं है – ऐसा जहाँ सम्यग्दर्शन में भान हुआ, वहीं तत्काल राग में न जुड़कर, स्वरूप में स्थिर हुआ – ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात है भाई! बापू! मार्ग कोई अलग प्रकार का है। आहाहा! समझ में आया? यह तत्काल हो गया। **क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तु को पर की जान लेने के बाद ममत्व नहीं रहता।** मैं तो आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ – ऐसा राग से भेद करके सम्यग्दर्शन हुआ और राग से पृथक्‌पने का परिणमन करके, राग से पृथक्‌पने का परिणमन करके अन्तर में प्रत्याख्यान अर्थात् चारित्र हुआ। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो ऐसी बात है, भाई! इसलिए लोग यह विवाद करते हैं न कि दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम हो, उससे सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है, उससे चारित्र होता है – तो यहाँ तो यह कहते हैं कि जो व्रतादि का विकल्प राग है, वह पृथक् है, मेरी चीज नहीं और उसरूपमय मैं परिणमित नहीं होता, तब उसका नाम चारित्र और प्रत्याख्यान कहा जाता है। ऐसी बात है, भाई! क्या हो? जगत् अनादि से हैरान हो गया है। आहाहा! समझ में आया?

यह प्रसिद्ध है कि वस्तु को पर की जान लेने... ये शब्द भले हों परन्तु उसका भाव क्या है? आहाहा! सन्तों ने तो कहा, प्रभु! तू आत्मा तो ज्ञान-दर्शन और आनन्दस्वरूप है न प्रभु! यह राग का परिणाम आदि जो व्रत, शुभ-अशुभ होता है, वह तो द्रव्यस्वभाव का भाव नहीं है, वह वस्तु के स्वभाव का भाव नहीं है, वह भावक होकर भाव हुआ, वह नहीं है, वह तो कर्मनिमित्त भावक होकर भाव हुआ है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। इसलिए लोगों को कठिन पड़ती है और इस कारण व्यवहार से होता है, व्यवहार से होता है – ऐसा चलाते हैं और लोगों को (कुछ) पता नहीं पड़ता बेचारों को। यहाँ तो व्यवहार के राग से मैं पृथक् हूँ – ऐसा भेदज्ञान पहले किया, फिर राग में परिणमन नहीं किया, और स्वरूप में स्थिर हुआ, तब उसे चारित्र अर्थात् प्रत्याख्यान – राग का त्यागरूप

परिणमन उसको कहते हैं। आहाहा! **वस्तु को पर की जान लेने के बाद ममत्व नहीं रहता।** आहाहा!

लड़के का विवाह हो और उसकी बारात चलती है न, क्या कहते हैं? बारात, तो कोई गृहस्थ के गहने लावे और पहने परन्तु वह जानता है कि यह मेरा नहीं है, दो दिन तक विवाह के लिये रखा है। कोई गृहस्थ हो, कोई कुटुम्बी करोड़पति हो, पाँच हजार-दस हजार का हार लिया हो तो हार पहनता है परन्तु उसके ख्याल में है, यह चीज मेरी नहीं है। मेरी लक्ष्मी में उसकी गिनती नहीं गिनी जाती है, मेरी लक्ष्मी है, उसमें यह गिनने में नहीं आता। आहाहा! वैसे ही भगवान आत्मा के आनन्द और ज्ञानस्वरूप का भान हुआ, वहाँ राग है, वह पर है - ऐसा भान हुआ तो थोड़ा राग रहा तो भी वह मेरा है - ऐसा नहीं है। फिर जब स्थिरता हुई, आहाहा! आहाहा! आत्मा, आत्मा में स्थिर हो गया... राग में परिणमन का भेदज्ञान तो पहले था, तदुपरान्त उसमें जुड़ान नहीं हुआ और आत्मा का उग्र आश्रय लेकर आत्मा में स्थिरता शान्ति, आनन्दादि उत्पन्न हुआ, उसका नाम प्रत्याख्यान, चारित्र, धर्म कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? कठिन बापू! इसकी एक लाईन भी समझना... यह तो सिद्धान्त-वीतराग की वाणी है, यह कोई साधारण नहीं है। आहाहा! इन्द्र भी जिसे सुनने को आते हैं, सिंह भी सुनते थे भगवान की वाणी को। आहाहा! वह वाणी कोई अलौकिक है, उस वाणी में यह कहा है। कल कहा था न भाई! नहीं?

आगम, देव और गुरु। गुरु ने ऐसा कहा, सन्त-मुनि भावलिंगी आनन्द का वेदन भावलिंग में उत्कृष्ट भाव का बहुत वेदन है। सम्पूर्ण उत्कृष्ट नहीं परन्तु उसकी दशा को योग्य प्रचुर स्वसंवेदन है - आनन्द का वेदन है, वह मुनि। उन गुरु ने इसको सुनाया, बारम्बार कहा - प्रभु! यह राग और पुण्यभाव तेरा नहीं, तुझमें नहीं; यह तो उपाधिभाव, दुःखरूप भाव (और) तुम आनन्दरूप भाव, नाथ! वह आनन्दरूपी भाव, दुःखरूप परिणमे, वह तेरी चीज नहीं है। आहाहा! गुरु ने कहा तो फिर ऐसा लिया कि आगम वाक्य सुनकर, उसका अर्थ यह कि वाणी है, आगम है, परमागम है, वह सर्वज्ञ भगवान की वाणी और गुरु की वाणी है, वह सर्वज्ञ की वाणी है अर्थात् देव की वाणी आयी, गुरु की वाणी आयी, और शास्त्र आये। आहाहा! तीनों की यह आज्ञा है कि भगवन्त! तेरा स्वरूप पुण्य-

पाप के भाव – राग और विकार है, उससे तेरी चीज भिन्न है तो उसमें जा और राग में मत रुक। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं।

लोगों को कठिन पड़े, इसलिए लोगों को बेचारों को दूसरे रास्ते चढ़ा दिया। अज्ञान के रास्ते (कि) यह करो... यह करो... यह करो... भक्ति करो, पूजा करो, दान करो, व्रत करो,... यह सब तो राग है। आहाहा! ऐसा करते-करते कल्याण हो जायेगा, राग करते-करते अर्थात् जहर पीते-पीते.... लहसुन खाते-खाते कस्तूरी का (अमृत का) डकार आयेगा... आहाहा! ऐसा है नहीं। आहाहा! भाई! जगत में अनेक प्रकार हैं।

वस्तु को पर की जान लेने के बाद.... यह पुण्य और पाप का भाव मेरा नहीं है, नवतत्त्व हैं न? तो नौ तत्त्व में जो शरीर, वाणी, मन आदि वह तो अजीवतत्त्व है, और दया, दान, व्रत का परिणाम, वह पुण्यतत्त्व है और हिंसा, झूठ, चोरी – वह पापतत्त्व है, दोनों मिलकर आस्रवतत्त्व है; मेरा आत्मा तो भिन्न ज्ञायकतत्त्व है। आहाहा! वरना नव तत्त्व, नौ नहीं रहेंगे। आहाहा! ऐसा जानकर, रागरूप परिणमन की ममता थी, (वह) ममता छूट गयी। आहाहा! और आत्मा आनन्द में-ज्ञान में स्थिर – जम गया। इसका नाम प्रत्याख्यान, उसका नाम चारित्र, वह 'चारित्तं खलु धम्मो' वह धर्म है। समझ में आया? अब यह ३५ वें गाथा के कलश की बात हुई।

गाथा ३६

अथ कथमनुभूते: परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेक-प्रकारमाह-

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति।।३६।।

नास्ति मम कोऽपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेक:।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति।।

इस खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्य-मानष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थत: परभावेन भावयितुमशक्यत्वा-त्कतमोऽपि न नाम मम मोहोऽस्ति। किंचैतत्स्वयमेव च विश्वप्रकाशचंचुरविकस्व-रानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेक: तत: समस्तद्रव्याणं परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वात् मज्जितावस्थायामपि दधिखण्डावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थिततत्वात्। इतीत्थं भावकभावविवेको भूत:।

अब, 'इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान कैसे हुआ?' ऐसी आशंका करके, पहले तो जो भावकभाव-मोहकर्म के उदयरूप भाव, उसके भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं—

कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं।
इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, मोहनिर्ममता कहे॥३६॥

*गाथार्थ : [बुध्यते] जो यह जाने कि [मोहः मम कः अपि नास्ति] 'मोह मेरा कोई भी (सम्बन्धी) नहीं है, [एकः उपयोगः एव अहम्] एक उपयोग ही मैं हूँ' — [तं] ऐसे जानने को [समयस्य] सिद्धान्त के अथवा स्व पर स्वरूप के [विज्ञायकाः] जाननेवाले [मोहनिर्ममत्वं] मोह से निर्ममत्व [ब्रुवन्ति] कहते हैं।

टीका : निश्चय से, (यह मेरे अनुभव में) फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होनेवाले पुद्गलद्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से पर के भाव द्वारा भाना[1] अशक्य है। और यहाँ स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर और विकासरूप ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्ति मात्र स्वभावभाव के द्वारा, भगवान आत्मा ही जानता है कि परमार्थ से मैं एक हूँ इसलिए, यद्यपि समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाह का (- एकक्षेत्रावगाह का) निवारण करना अशक्य होने से मेरा आत्मा और जड़, श्रीखण्ड की भाँति, एकमेक हो रहे हैं तथापि, श्रीखण्ड की भाँति, स्पष्ट अनुभव में आनेवाले वाद के भेद के कारण, मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ; क्योंकि सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है। (दही और शक्कर मिलाने से श्रीखंड बनता है उसमें दही और शक्कर एक जैसे मालूम होते हैं तथापि प्रगटरूप खट्टे-मीठे स्वाद के भेद से भिन्न-भिन्न जाने जाते हैं; इसी प्रकार द्रव्यों के लक्षण भेद से जड़-चेतन के भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण ज्ञात होता है कि मोह कर्म के उदय का स्वाद रागादिक है वह चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से भिन्न ही है।) इस प्रकार भावकभाव जो मोह का उदय उससे भेदज्ञान हुआ।

भावार्थ : यह मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है; उसका उदय कलुष (मलिन) भावरूप है; वह भाव भी, मोहकर्म का भाव होने से, पुद्गल का ही विकार है। यह भाव का भाव जब चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है, तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखायी देता है। जब उसका भेदज्ञान हो कि 'चैतन्य की

*इस गाथा का दूसरा अर्थ यह भी है कि - किंचित्मात्र मोह मेरा नहीं है, मैं एक हूँ ऐसा उपयोग ही (-आत्मा ही) जाने, उस उपयोग को (आत्मा को) समय के जाननेवाले मोह के प्रति निर्मल (ममता रहित) कहते हैं।

१. भाना = भाव्यरूप करना; बनाना।

शक्ति की व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोगमात्र है और यह कलुषता राग-द्वेषमोहरूप है वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गलद्रव्य की है, ' तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव उससे अवश्य भेदभाव होता है और आत्मा अवश्य अपने चैतन्य के अनुभवरूप स्थित होता है।

गाथा - ३६ पर प्रवचन

अब, 'इस अनुभूति से...' आत्मा ज्ञायकस्वरूप चैतन्य प्रभु की अनुभूति हुई, सम्यग्दर्शन हुआ, अनुभूति-आत्मा आनन्दस्वरूप — ऐसे आनन्द के अनुसरण करके, अपनी दशा में आनन्द की-ज्ञान की अनुभूति हुई, शुद्धस्वभाव आंशिक चारित्र की दशा हुई, यह अनुभूति, वीतरागी पर्याय है। आहाहा! यह प्रत्याख्यान, वीतरागी पर्याय है – ऐसे यहाँ अनुभूति, वीतरागी पर्याय है, उसकी बात विशेष करते हैं। आहाहा! आहाहा! **'इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान कैसे हुआ ?'....** है अन्दर टीका में **अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य,** आशंका, हों! शंका नहीं। आहाहा!

'इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान कैसे हुआ ?' पुण्य और पाप का भाव-विकार और उससे भगवान भिन्न — ऐसी अनुभूति कैसे हुई ? आहाहा! बताया तो है, विशेष स्पष्ट विशेष करना है। प्रत्याख्यान के उपरान्त अन्दर स्थिरता विशेष बढ़ाना है। आहाहा! **ऐसी आशंका करके....** आशंका अर्थात् समझने की अभिलाषा; शंका नहीं। तुम कहते हो, वह झूठ है — ऐसा नहीं, परन्तु तुम कहते हो, वह मेरी समझ में नहीं आया। तुम क्या कहते हो ? इस पुण्य-पाप के भाव से भगवान भिन्न (ऐसा) भेदज्ञान हुआ और अनुभूति हुई – क्या कहते हैं आप ? मुझे समझ में नहीं आया, प्रभु! आहाहा! शंका नहीं करता है। शंका का अर्थ (यह है कि) तुम कहते हो, वह झूठ है (किन्तु यहाँ) ऐसा नहीं है परन्तु तुम कहते हो, वह मेरी समझ में नहीं आया, उसका नाम आशंका है। आहाहा! शिष्य की मर्यादा कितनी ली है, देखो! आहाहा! **ऐसी आशंका करके, पहले तो जो भावकभाव-मोहकर्म के उदयरूप भाव,....** भावक का अर्थ समझे ? भावक अर्थात् जो कर्म है न मोह, वह भावक। उसके लक्ष्य से-उसके निमित्त के वश से जो विकार

पुण्य-पाप का भाव होता है, वह भावक का भाव है, ज्ञायक का भाव नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म! प्रवीणभाई! वहाँ थान-वान में मिले नहीं, लादी में मिले वैसा नहीं - ऐसी बात है, बापू! जिसे जन्म-मरण का अन्त लाना हो, आहाहा! तो कहते हैं प्रभु! मेरी आशंका है कि इस अनुभूति से पर का भेदज्ञान कैसे हुआ? आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु का अनुभव हुआ, उस अनुभूति से राग का भेदज्ञान कैसे हुआ? उसमें राग भिन्न कैसे पड़ गया? आहाहा! समझ में आया? **भावकभाव-मोहकर्म के उदयरूप भाव, उसके भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं—**

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति।।३६।।

कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं।
इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, मोहनिर्ममता कहे॥३६॥

पहले गाथार्थ लेते हैं। **जो यह जाने कि...** जो आत्मा ऐसा जाने कि '**मोह मेरा कोई भी (सम्बन्धी) नहीं है,....**' आहाहा! मोह शब्द से परसन्मुख की सावधानी का विकारभाव, वह मेरा नहीं है। आहाहा! मेरी ओर की सावधानी का भाव शुद्धता आनन्द आदि - वह मेरा भाव है। आहाहा! समझ में आया? **जो यह जाने कि मोह मेरा कुछ भी नहीं,** कुछ भी नहीं, राग का विकल्प चाहे तो दया, दान का, अरे! भक्ति का या तीर्थंकर गोत्र बाँधे ऐसा भाव भी (हो), वह मेरा नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह तो राग है, बन्ध का भाव, वह कोई धर्म नहीं है, बन्ध का कारणरूप भाव वह तो विकार है। आहाहा! वह भावक का भाव है, मेरा नहीं। आहाहा! मैं भाव-ज्ञायकस्वरूप भावक होकर पर्याय होती है, यह वह नहीं, वह तो कर्म का भावक होकर भाव हुआ है, वह मेरी चीज नहीं है। अरे! इतना सब भरा है।

यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन-ज्ञान में ऐसा भेदज्ञान होता है। आहाहा! समझ में आया? **जो यह जाने कि 'मोह मेरा कोई भी (सम्बन्धी) नहीं है, एक उपयोग ही मैं हूँ'....** मैं तो जानन-देखन, ज्ञाता-दृष्टा, वह उपयोग ही मैं हूँ। आहाहा! धर्मी को ऐसा भेदज्ञान होता है। सम्यग्दृष्टि को-ज्ञानी को ऐसा भेदज्ञान होता है (कि) मैं तो जानन-देखन

उपयोगस्वरूप हूँ, यह परतरफ का जितना भाव होता है, (पर की) सावधानी में (जितना भाव होता है) वह मेरा नहीं। मेरे स्वभाव की सावधानी से जो भाव हुआ, वह मैं हूँ। आहाहा! समझ में आया?

'एक उपयोग ही मैं हूँ'.... भाषा देखो! **'उपयोगः एव'** है न? **'उपयोगः एव'** निश्चय, सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा में जानन-देखन हूँ वही मैं हूँ। यह राग और द्वेष का विकल्प जो उत्पन्न होता है, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का राग जो उत्पन्न होता है — देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान का विकल्प उस ओर का और छह काय की दया के भाव का विकल्प। आहाहा! वह सब मेरी चीज नहीं है। मैं तो ज्ञान-दर्शन उपयोग ही मैं हूँ, वह ज्ञान-दर्शन उपयोग 'ही' मैं हूँ। कथंचित् यह हूँ और कथंचित् यह हूँ - ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? उपयोग ही मैं हूँ। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि - धर्म की पहली शुरुआतवाला, धर्म की पहली सीढ़ी प्रगट करनेवाला ऐसा जानता है कि जानन-देखन उपयोग वह मैं हूँ, वही मैं हूँ। राग भी मैं हूँ और यह भी मैं हूँ - ऐसा नहीं — यह अनेकान्त है। आहाहा! यह हूँ। आहाहा! और **ऐसे जानने को सिद्धान्त के अथवा स्व पर स्वरूप के जाननेवाले मोह से निर्ममत्व कहते हैं।....** जानते हैं। ऐसे जीव को मोह से ममत्वरहित जानते हैं। किसको? कि जो कोई अन्तर में अपने ज्ञान-दर्शन-उपयोगस्वरूप मैं हूँ, जो ऐसा जानकर अन्दर रहता है, उसको मुनि-सन्त, मोह से निर्ममत्व कहते हैं। वे ज्ञानी उसको मोह से निर्ममत्व कहते हैं - ऐसी बात है यह। बापू! कठिन बात भाई! ग्यारह अंग तो अनन्त बार पढ़ गया परन्तु उसमें कुछ हुआ नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं आहाहा! ऐसे जानने का **सिद्धान्त का या स्व-पर स्वरूप के 'समयस्य'** है न? **'समयस्य'** — समय अर्थात् सिद्धान्त अथवा समय अर्थात् स्व-पर स्वरूप को जाननेवाले सन्त, मोह से निर्ममत्व जानते हैं, कहते हैं। आहाहा! जिसने अपना स्वभाव जानन-देखन शुद्ध उपयोग मैं हूँ — ऐसा आया, फिर राग मेरा नहीं है, वह तो अन्दर आ गया। ऐसा जो हुआ, उसे सन्त, मोह से निर्ममत्व कहते हैं। आहाहा! यह तो इतना यहाँ आया कि मैं एक उपयोग ही हूँ, मैं यह नहीं हूँ - ऐसा पहले नहीं आया।

परन्तु ऐसे जानने को — ऐसे जाननेवाले जीव को, सिद्धान्त स्व-पर जाननेवाले सन्त-दिगम्बर मुनि... आहाहा! भावलिंगी सन्त ऐसा कहते हैं कि जो कोई आत्मा, मैं जानन-देखन ही हूँ - ऐसे उपयोग में रहा, उसे ज्ञानी-सन्त मोह से निर्ममत्व कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। अद्भुत एक-एक गाथा! परन्तु लोग जरा शान्ति से सुने तो उन्हें.... ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा! अभी तो प्रथम सम्यग्दर्शन और ज्ञान प्रगट करने के लिए और उसके साथ फिर प्रत्याख्यान प्रगट हो, उसकी विशेषता... उस अनुभूति का वर्णन विशेष करते हैं। ३६, ३७, ३८ में पूरा कर देंगे। आहाहा!

टीका - निश्चय से, (यह मेरे अनुभव में) फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर.... पाठ में तो ऐसा इतना लिया है कि मैं तो ज्ञान उपयोग हूँ। अब टीकाकार विशेष स्पष्ट करते हैं।

श्रोता : मोह मेरा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इसका ही अर्थ विशेष किया है। पाठ में तो इतना लिया। समझे? **णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।** उपयोग ही मैं हूँ — ऐसा आया। **णत्थि मम को वि मोहो** यह विशेष स्पष्टीकरण टीका में करते हैं। आहा! यह तो पहले आ गया न कि मेरा कोई सम्बन्धी, यह तो आ गया। रागादि मेरे कोई सम्बन्धी नहीं, यह तो ठीक - गाथार्थ में आ गया। मैं तो ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप ही हूँ; मैं यह नहीं, यह पहले आ गया। आहाहा! परतरफ का जो विकल्प-वृत्तियाँ उठती हैं, वह मैं नहीं; चाहे तो शुभ हो या अशुभ हो, वह मैं नहीं हूँ, बस इतना वहाँ! अब मैं क्या हूँ? मैं तो ज्ञान-दर्शन-उपयोग ही मैं हूँ। आहाहा! जानना-देखना उपयोग ही मैं हूँ। आहाहा! ऐसे जीव को मोह निर्ममत्व कहते हैं।

अब टीका **निश्चय से, (यह मेरे अनुभव में) फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होनेवाले पुद्गलद्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता,....** आहाहा! मोहकर्म जड़ है, उससे रचित विकारभाव और वह मेरे अनुभव में फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर.... आहाहा! मेरी पर्याय में भी भावककर्म से विकारभाव फलदान मेरी पर्याय में आता है। आहाहा! वह **पुद्गलद्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं है।**

आहाहा! वह तो कर्म से रचित है, आत्मा से रचित नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञायक चैतन्य-आनन्दस्वरूप की रचना से विकार नहीं। कर्म अर्थात् भावक से उत्पन्न हुआ, मेरी पर्याय में (उत्पन्न हुआ) फलदान शक्ति विकार, मोह वह उसका-भावक का भाव है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है भाई! यों तो साधारण पढ़ जाये और सब बातें करे परन्तु अन्दर क्या लगाना, कठिन है भाई... आहाहा!

धर्मी, ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, भेदज्ञानी को ऐसा अनुभव में आता है कि जो इस पर्याय में फलदान सामर्थ्यरूप से प्रगट होकर भावकरूप पुद्गल से रचित मोह है, वह मेरा कुछ भी नहीं लगता - राग के साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, मेरा सम्बन्ध तो ज्ञायकभाव के साथ सम्बन्ध है। आहाहा! वह चाहे तो दया, दान, व्रतादि का राग, वह राग है; उस राग के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी भी सादी भाषा है, गुजरातीवालों को समझ में आये ऐसी है। आहाहा! भावकभाव होनेवाला पुद्गलद्रव्य से रचित, उस जड़ से रचित आहाहा! स्वभाव से रचित नहीं, भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु से रचित तो आनन्द आता है। तो यह तो जड़कर्म से रचित विकार-विकृतभाव... आहाहा! **मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता,....** मोह के साथ मुझे कोई भी सम्बन्ध नहीं है - ऐसा। कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

पुद्गलद्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावभाव का.... क्यों? मैं तो टंकोत्कीर्ण चैतन्य अनघड़ित घड़तर, आहाहा! चैतन्यज्योतिस्वरूप भगवान टंकोत्कीर्ण, जैसे टाँकी से खोदकर चीज निकाले ऐसी चीज मैं अन्दर हूँ। शाश्वत् ज्ञायक चैतन्यमूर्ति मैं हूँ — ऐसे धर्मी अपने स्वभाव को **एक ज्ञायकस्वभावभाव** देखो, एक ज्ञायकस्वभाव भाव, विकारभाव था, वह भावक का अनेकरूप उपाधिभाव था। आहाहा! **टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव भाव,** ज्ञायकस्वभाव भाव, ज्ञायकस्वभाव भाव। वह भावक का विकारी भाव - पुण्य-पाप का भाव, भावक का विकारी भाव। परन्तु मेरा स्वभाव **ज्ञायकस्वभाव भाव का परमार्थ से पर के भावों द्वारा भाना अशक्य है।** भाव्यरूप करना / बनाना... देखा, है? आहा! इस मेरी पर्याय में भाव्यरूप बनाना अशक्य है। आहाहा!

कर्म भावक है, उसके (निमित्त से) उत्पन्न होता विकारी पुण्य-पाप का भाव होता है, वह भाव्य, तो मेरा उस भाव्यरूप होना अशक्य है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़ता है इसलिए क्या करें? **एक ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से पर के भावों द्वारा....** ये पर के भाव हैं। आहाहा! उसे भाना **एक ज्ञायकस्वभावभाव के द्वारा पर का भाव द्वारा भाव्यरूप होना अशक्य है।**

फिर, धर्मी जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान के काल में अन्तर में एक स्वभाव-ज्ञायक स्वभावभावरूप में, इस भावक का जो विकारी भावरूप भाव्य मेरे में हो, (यह) अशक्य है। आहाहा! है? यह तो अध्यात्म शब्द है बापू! यह कोई कथा-वार्ता नहीं है, यह तो परमात्मस्वरूप की कथा... आहाहा! धर्मी, भेदज्ञान के काल में... यह तो समझावे तब तो ऐसा समझावे न, वह कहीं मैं ऐसा हूँ, ऐसा हूँ... यह तो विकल्प है। अन्दर ऐसा होता है। **एक ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से पर के भाव द्वारा भाना अशक्य है,** वह भी विकल्प है, अन्दर होता है भाव, मेरा स्वभावभाव है, वह पर के कारण से भाव्य होता है, वह भाव्य मेरा नहीं। इतना ज्ञान में-अनुभव में आता है, बस! यह बात करते हैं तो भेद और विकल्प से करते हैं। आहाहा! भेदज्ञान के काल में यह मैं और यह मेरा नहीं; यह मैं यह मेरा नहीं, यह भी एक विकल्प है। आता है न भेदज्ञान में आता है, कलश में, भेदज्ञान भी विकल्प है, केवल ज्ञान की भाँति नहीं, कलश में आता है परन्तु यहाँ समझाने में क्या समझाये? किस प्रकार समझाये? परन्तु इसे अन्तर में ज्ञायकभाव भगवान आत्मा की ओर का झुकाव, वह मैं हूँ — ऐसा अनुभव में आया बस। अब यह विशेष समझाया कि इस काल में भावकर्म के भावक से भाव्य होने में मेरी शक्ति अशक्य है, मेरा स्वभाव असमर्थ है। विकाररूप होना, यह मेरा स्वभाव अशक्य है, मेरे स्वभाव में ऐसी सामर्थ्य नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है। अरे...!

परमार्थ से पर के भाव द्वारा भाना अशक्य है।.... आहाहा! मैं तो समकिती ज्ञानी, भेदज्ञानी, अन्तर में भावरूप परिणमते हैं तो ऐसा कहते हैं कि मैं तो एक स्वभावभाव - ज्ञायकभाव से राग के भावरूप परिणमना, वह अशक्य है। मैं तो मेरे ज्ञायकभाव स्वभावभावरूप परिणमूँ, वह मेरा शक्य है। आहाहा!

श्रोता : अशक्य है या असम्भव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; परिणमते ही नहीं। सम्यग्दृष्टि की यहाँ चारित्र की बात लेना है न? सम्यग्दर्शन में परिणमते थे, जब सम्यग्दर्शन था तब पर्याय में, परन्तु वह पर्याय है, वह भावक का भाव्य है। अब यहाँ आगे जाना है न? आहाहा! आहाहा! यहाँ तो प्रत्याख्यान और भेदज्ञान बताना है न! परद्रव्य से **णत्थि मम को वि मोहो** ऐसा बताना है न! **मोहणिम्ममत्तं** बताना है न, आहाहा! धीरे से समझना भाई! यह तो अन्दर की चीज है। यह तो कहीं बाहर से मिले, ऐसी चीज नहीं है। आहाहा! बाहर में है ही नहीं। जहाँ अन्दर में है, वहाँ बाहर में कहाँ है? यहाँ तो राग और पुण्य के परिणामरूप भी मेरा भाव परिणमे, वह अशक्य है। आहाहा! ऐसा होकर – मोह के प्रति निर्ममत्व होकर, स्वभाव के प्रति सावधान होकर स्थिर होता है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है। साधारण लोगों को तो पकड़ में नहीं आवे कि यह क्या कहते हैं? दूसरा तो समझ में आवे – लो, व्रत करो, भक्ति करो, यात्रा करो – ऐसा समझ में तो आता है। क्या समझना उसमें? वह तो राग है, राग करो, राग करो... करो... करो... उसमें क्या है? उसमें तो मरो है। आहाहा!

भाषा कैसी है देखो? **पुद्गलद्रव्य से रचित मोह....** पर्याय में रागादि है, पुद्गल द्रव्य से – जड़द्रव्य से रचित मोह। आहाहा! क्योंकि मोहभाव, वह जड़ है; चैतन्य नहीं। विकारी मोहभाव, वह जड़ है, जड़कर्म से रचित मोहभाव, आहाहा! **मेरा कुछ भी नहीं लगता,....** आहाहा! **क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से....** वास्तव में, परमार्थ से द्रव्यस्वभाव से, **पर के भाव द्वारा भाना अशक्य है।....** आहाहा! नीचे जरा अर्थ किया है न? दूसरा जरा। इस गाथा का दूसरा अर्थ यह भी है। शब्दार्थ है न – ***किंचित्मात्र मोह मेरा नहीं है, मैं एक हूँ, ऐसा उपयोग ही (आत्मा ही) जाने....*** आत्मा ही जाने कि **आत्मा को – समय के जाननेवाले** ऐसे आत्मा को, आत्मा के जाननेवाले ***मोह के प्रति निर्ममत्व कहते हैं।*** ऐसा गाथा का अर्थ इस प्रकार भी होता है। आहाहा!

एक ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से पर के भाव द्वारा भाना अशक्य है।.... आहाहा!

श्रोता : अशक्य या असम्भव।

पूज्य गुरुदेवश्री : अशक्य कहो या असम्भव कहो। नहीं है, वह कहो तो एक की एक बात है, यह तो शब्द में अन्तर पड़ा। मेरा ज्ञायकस्वभावभाव विकाररूप होने में असम्भव है-अशक्य है, अलायक है, अयोग्य है (सभी एकार्थ हैं।) समझ में आया? यह तो स्थिरता की बात करना है न? प्रत्याख्यान का-भेदज्ञान का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं, अनुभूति का विशेष-भेदज्ञान का स्पष्टीकरण करते हैं। आहाहा! यह आया न? पहले आया न? **इस अनुभूति से....** आया न? **परभाव का भेदज्ञान कैसे हुआ?** ऐसा प्रश्न हुआ है न? आहाहा! **यहाँ स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर....** आहाहा! मैं, मैं, मेरी चीज विश्व को प्रकाशित करने में चतुर **और विकासरूप.... ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्ति मात्र स्वभावभाव के द्वारा,....** अपनी बात करते हैं न? भगवान आत्मा तो समस्त को जानने-देखनेवाला है। सर्वज्ञ हुआ वह यहाँ नहीं; यहाँ तो आत्मा सर्व को जानने-देखनेवाला है, बस इतना।

स्वयमेव अपने से। यह विश्व है इसलिए ऐसा नहीं। **विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर और विकासरूप ऐसी,....** आहाहा! **निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है;....** विकासरूप ऐसी निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है, **ऐसा चैतन्यशक्तिमात्र....** आहाहा! ऐसा मेरा चैतन्यशक्तिमात्र, आहाहा! कैसी चैतन्यशक्ति है? कि **स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर और विकासरूप ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्तिमात्र स्वभावभाव के द्वारा,....** ऐसा स्वभावभाव चैतन्यशक्तिमात्र, चैतन्य स्वभाव का स्वभाव द्वारा, चैतन्यशक्ति के स्वभाव द्वारा **भगवान आत्मा ही जानता है....** आहाहा! देखो! भगवान आत्मा ही जानता है। **कि परमार्थ से मैं एक हूँ....** यहाँ सर्वज्ञ की बात नहीं है। यह आत्मा सर्व विश्व को जानने-देखने की शक्तिवाला है।

ऐसे चैतन्यशक्तिमात्र, ऐसे चैतन्यशक्तिमात्र, उसमें रागादि कुछ नहीं, ऐसा स्वभावभाव के द्वारा **भगवान आत्मा ही जानता है....** आहाहा! **कि परमार्थ से मैं एक**

हूँ.... ऐसा समझ में आये, मैं परमार्थ से मैं एक हूँ, ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं है, परन्तु समझावे तब क्या करे ? समझाना किस प्रकार ? वह अन्दर में परमार्थ एकरूप ज्ञायक चैतन्यशक्ति ऐसा स्वभाव, विश्व की सारी चीज-लोकालोक, सबको जानने-देखनेवाला मैं, ऐसी मेरी शक्ति। आहाहा!

ऐसा चैतन्यशक्तिमात्र स्वभावभाव के द्वारा, भगवान आत्मा ही जानता है.... ऐसा चैतन्यशक्तिमात्र स्वभावभाव के द्वारा, भगवान आत्मा ही जानता है। आहाहा! इन्द्रियों से और मन से जानता है, वह नहीं - यहाँ ऐसा कहते हैं। **चैतन्यशक्तिमात्र स्वभावभाव के द्वारा भगवान आत्मा ही जानता है।** आहाहा! चैतन्यशक्ति स्वभावभाव जो सर्व-समस्त वस्तु / विश्व का जानने-देखनेवाला, ऐसा मेरा चैतन्यशक्तिमात्र स्वभाव के द्वारा **भगवान आत्मा ही जानता है कि परमार्थ से मैं एक हूँ....** मैं तो एक स्वरूपी ज्ञाता-दृष्टा एक ही हूँ। दूसरे का कोई सम्बन्ध मुझमें नहीं है। आहाहा!

इसलिए, यद्यपि समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाह.... एक क्षेत्र में रहते हैं, एक क्षेत्र में जहाँ भगवान आत्मा है, वहाँ धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, पुद्‌गल भले ही, एक ही क्षेत्र में छह द्रव्य रहे हैं थोड़े, पूरा द्रव्य भले ही नहीं धर्मास्ति (आदि)। जहाँ चैतन्यशक्ति स्वभावभाव, वहाँ दूसरे द्रव्य एक क्षेत्र में हैं, अनन्त परमाणु हैं, धर्मास्तिकाय के असंख्य प्रदेश, अधर्मास्तिकाय के असंख्य प्रदेश, असंख्य कालाणु, आकाश पूरे लोक के असंख्य भाग में... एक परस्पर साधारण अवगाह, एक क्षेत्रावगाह, साधारण अवगाह, **निवारण करना अशक्य होने से....** यह निवारण करना अशक्य है, एक ही क्षेत्र में जहाँ भगवान चैतन्यशक्तिमात्र भगवान आत्मा जानने-देखने के भाववाला है, उसी क्षेत्र में दूसरे पदार्थ भी हैं, तो उसका अभाव करना अशक्य है, निवारण करना अशक्य है।

देखो, उसमें ऐसा कहा था कि विकारपने परिणमना मुझमें अशक्य है और एक क्षेत्र में दूसरी चीज है तो उसको हटा देना अशक्य है। हो, आहाहा! टीका तो टीका है न! एक क्षेत्र में होने पर भी, मैं तो ज्ञायकस्वभाव एकरूप मैं, चैतन्यवाला मैं। यह वहाँ है, उसको भी जानने-देखनेवाला मैं और एक क्षेत्र है तो उसे दूर करना - ऐसा अशक्य है। सभी है,

हो। आहाहा! फिर शब्द क्या लिया है? **यद्यपि समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाह....** आत्मा है, वहाँ पर है और पर है, वहाँ आत्मा है। है न? परस्पर अवगाह हो एक क्षेत्र में... आहाहा! देखो! यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ऐसी बात है नहीं। जाननेवाला-देखनेवाला एक स्वरूप, वहीं दूसरा द्रव्य है, एक क्षेत्र में। आहाहा! **समस्त द्रव्यों के....** अनन्त द्रव्य... आहाहा! जहाँ भगवान आत्मा है, वहाँ अनन्त-अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध-ऐसे अनन्त स्कन्ध हैं। एक-एक प्रदेश में अनन्त परमाणु के स्कन्ध, ऐसे अनन्त स्कन्ध हैं, ऐसे असंख्य प्रदेशी भगवान हैं, वहाँ अनन्त-अनन्त परमाणु के स्कन्ध, ऐसे अनन्त स्कन्ध एक क्षेत्रावगाह है, एक क्षेत्र के अवगाहना में है। अरे! ऐसी बातें हैं! तो भी उसका अभाव करना अशक्य है परन्तु उसे अपने में रहकर स्वयं को जानना, उस जानने में वह जानना आ जाये और रागरूप होना, वह अशक्य है परन्तु वह जाननेवाला स्वयं को जानते हुए एक क्षेत्रावगाह में है, उन्हें जाने यह तो मेरा स्वभाव है। समस्त विश्व को जानना यह तो मेरा स्वभाव है। आहाहा! **अवगाह का (- एकक्षेत्रावगाह का) निवारण करना अशक्य होने से मेरा आत्मा....** अब मेरा आत्मा क्या है - यह बात विशेष आयेगी। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १०३ गाथा ३६ दिनाङ्क ०८-१०-१९७८ रविवार
आसोज शुक्ल ७, वीर निर्वाण संवत् २५०४

---

३६ वीं गाथा। यहाँ तक आया है। **भगवान आत्मा ही जानता है कि...** यहाँ से लेना। सूक्ष्म बात है, भाई! प्रचलित बात से अलग प्रकार है। आहा!

श्रोता : सत्य बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा ज्ञायकस्वरूप चिद्घन — ज्ञान और आनन्द का घन प्रभु यह आत्मा, बाकी पुण्य और पाप के विकल्प - राग उठे, वह सब कर्म के निमित्त से हुए, उस कर्म के हैं; मेरा स्वभाव नहीं - ऐसे इस जीव अधिकार में चलता है न? धर्मी जीव उसे कहते हैं। आहाहा! कि यह आत्मा है, वह आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, वह आत्मा ऐसा जानता है। है? **कि परमार्थ से मैं एक हूँ....** आहाहा! यह पर्याय में जो विकार

— दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध जो होता है, वह मैं नहीं हूँ; वह तो भावक-कर्म का वह भाव (है), मेरा भाव नहीं। आहाहा! **यद्यपि समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाह....** यद्यपि भगवान आत्मा जहाँ हैं, वहाँ दूसरे द्रव्य भी हैं, एक जगह रहने में निवारण नहीं किया जा सकता, कर्म के रजकण, धर्मास्तिकायादि के प्रदेश.... कि जो जीव पात्र हैं, उन्हें ज्ञानी ने ऐसा बतलाया कि भगवन्त! तेरा स्वरूप, शरीर और वाणी की क्रिया से तो भिन्न है परन्तु अन्दर जो पुण्य-पाप का शुभ-अशुभभाव होते हैं, उनसे भी तेरा स्वरूप भिन्न है। आहाहा! ऐसा उसने सुना - जाना और अन्दर में विवेक किया कि मैं तो आत्मा एकरूप स्वरूप हूँ, शुद्धचैतन्य आनन्दकन्द प्रभु... आहाहा! सम्यग्दर्शन की चीज है, बापू! सूक्ष्म बहुत! आहाहा! मैं तो जो सर्वद्रव्य हैं, **परस्पर साधारण अवगाह का निवारण करना अशक्य होने से....** मेरा आत्मा और जड़; मैं भगवान आत्मा और जड़... **श्रीखण्ड की तरह एकमेक होकर रहे हैं,...** एकमेक हो रहे हैं। श्रीखण्ड में दही और खाण्ड मानो एकमेक होकर रहे हैं, वैसे यह आत्मा-भगवान आत्मा और कर्म आदि के परमाणु और पुण्य-पाप के भाव... यहाँ वास्तव में तो पुण्य-पाप के भाव लेना है। वे दो अनादि से एक जैसे ज्ञात होते हैं। अरे! यह तो देखने को कहाँ निवृत्त हो?

यहाँ कहते हैं कि जैसे श्रीखण्ड में दही और खाण्ड का स्वाद भिन्न है, तथापि एक स्थान में, एक भाववाले हों, ऐसा इसे अनादि से दिखता है; वैसे ही भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप प्रभु में शुभ और अशुभभाव वे एकमेक हों - ऐसा इसे अनादि से दिखता है, मानो एक हो गये हों, तो भी **श्रीखण्ड की तरह स्पष्ट अनुभव में आनेवाले स्वाद के भेद के कारण,** आहाहा! परन्तु मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप, उसका स्वाद पवित्र और आनन्द का स्वाद है, वह मैं। है? **स्पष्ट अनुभव में आनेवाले....** आहाहा! **स्वाद के भेद के कारण, मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ;....** क्योंकि कर्म के निमित्त के संग से हुए शुभ-अशुभ — दया, दान, व्रत, भक्ति या काम क्रोध के भाव का स्वाद राग का कलुषित (आकुलित है)। आहाहा! मेरा-चैतन्यस्वभाव का स्वाद उससे पृथक् है, ऐसा धर्मी जीव प्रथम धर्म प्राप्त करते हुए, प्रथम धर्म प्राप्त करते हुए, उसे राग का स्वाद भिन्न दिखता है। आहाहा! और आत्मा का स्वाद भिन्न दिखता है। जैसे श्रीखण्ड के स्वाद में दही का और खाण्ड का स्वाद भिन्न है, वैसे मेरा स्वाद, मैं आनन्दस्वरूप प्रभु का स्वाद-चैतन्य का

स्वाद, और दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के परिणाम जो राग हैं, उनका स्वाद दही की तरह खट्टा है अर्थात् कलुषित है, मेरा स्वाद-आनन्द का (स्वाद) भिन्न है। आहाहा!

अरे...रे! कब करे? भव का अन्त लाना हो, उसकी बातें हैं यहाँ तो, बापू! भव कर-करके अनन्त काल से मर गया है, नरक के, स्वर्ग के, मनुष्य के, अनन्त-अनन्त भव किये हैं, परन्तु इसने आत्मज्ञान नहीं किया। उसके बिना इसका परिभ्रमण नहीं मिटा। आहाहा! जिसे यह परिभ्रमण मिटाना है, वह आत्मा के और राग के स्वाद को भिन्न जानेगा तो मिटेगा। देखो, यह वाणी! आहाहा! अरे, यह बात! शरीर, वाणी, मन, जड़ और स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, वे तो पर हैं, उनका तो आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है - ऐसे जड़कर्म के निमित्त से होनेवाले शुभाशुभभाव जो रागादि का स्वाद है, वह जड़ का स्वाद है। चैतन्यज्ञायक मेरा स्वरूप, उसका स्वाद चैतन्य का आनन्द है। अरे! यह फिर... यह स्वाद कैसा होगा? यह दूधपाक का स्वाद और मौसम्बी का स्वाद - ऐसा लोग तो मानते हैं। धूल में भी स्वाद नहीं है, सुन न अब! वह तो जड़ है, जड़ का स्वाद तुझे आता है? जड़ का स्वाद तो जड़-रूपी है। वह खाने से तुझे उसका स्वाद नहीं आता। उसके प्रति राग होता है, उस राग का स्वाद इसे आता है।

अरे...रे! इसे कहाँ पता है? अनादि से बेखबर अज्ञानी, मूर्ख, आहाहा! अपनी जाति को जाना नहीं और रागादि परजाति है, उसे मलिनरूप से जाना नहीं। कनूभाई! ऐसी बात है यहाँ तो! करोड़पति व्यक्ति हो तो.... वह करोड़पति व्यक्ति है। आहाहा! और मानो हम सुखी हैं... धूल में भी नहीं सुखी। आहाहा! है? स्वाद के भेद के कारण श्रीखण्ड की तरह दही और खाण्ड के स्वाद के भेद की तरह **स्पष्ट अनुभव में आनेवाले स्वाद के भेद के कारण,....** आहाहा! **मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ;....** यह रागादिभाव है, वह मेरा नहीं है, मैं उसके प्रति निर्मम हूँ। आहाहा! शरीर, वाणी, मन वह तो कहीं रह गये बाहर, धूल। आहाहा! परन्तु अन्दर की पर्याय में कर्म के निमित्त से होनेवाले विकारीभाव का स्वाद भिन्न है; इसलिए उसके प्रति मैं निर्मम हूँ, आहाहा! ऐसी बात है।

वीतराग जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं। जिनेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं कि प्रभु! तेरा स्वरूप अन्दर चैतन्य की

जाति के आनन्द का है न? आहाहा! उस आनन्द का स्वाद, वह तेरा और बीच में जो रागादि का स्वाद तुझे उपयोग में ज्ञात होता है, वह मलिन उपयोग होकर ज्ञात होता है, वह स्वाद तेरा नहीं है। आहाहा! राग के स्वाद को और चैतन्य के स्वाद को भिन्न करना, वह कोई साधारण बात है? अनन्त काल से एक सैकेण्ड भी किया नहीं। आहाहा! धर्म के नाम पर भी दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा — इस राग के भाव को करके मर गया है। आहाहा! यह राग का साथ तो जड़ का है। आहाहा! स्त्री के शरीर के भोग समय शरीर का इसे अनुभव नहीं, प्रभु! तुझे पता नहीं, वह तो मिट्टी है, वह तो धूल है, रूपी का इसे अनुभव नहीं परन्तु उसके प्रति राग होता है कि यह ठीक है, ऐसे राग का अज्ञानी को अनुभव है। मानता है कि इस शरीर को मैं भोगता हूँ। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि यह राग का स्वाद, वह जड़ का है, तेरा स्वरूप नहीं, प्रभु! आहाहा! ऐसा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की पुकार है, यह जीव ने कभी सुनी नहीं है। आहाहा!

यह स्वाद में आने पर भेद के कारण मोह के प्रति निर्मम ही हूँ.... मेरा भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूपी, का जो अतीन्द्रिय आनन्द स्वाद और मोहकर्म के निमित्त से हुआ विकृतभाव - उसका स्वाद अत्यन्त भिन्न है, इसलिए उसके प्रति धर्मी - सम्यग्दृष्टि धर्म की पहली शुरुआतवाला ऐसा कहता है-मानता है कि राग के प्रति मैं निर्मम हूँ। आहाहा!

यह सुनना कठिन पड़े ऐसा है, प्रवीणभाई! यह तुम्हारे पैसे और लादी को धूल-धाणी को पाँच-दस लाख की आमदनी हो तो मानो, ओहोहो! हम कहीं बढ़ गये हैं, दो-पाँच-दस करोड़ रुपये हों तो मैं चौड़ा और गली सँकरी हो गयी है इसे। समझ में आया? यहाँ तो यह बात है प्रभु! तीन लोक के नाथ की पुकार-वीतराग की (पुकार) यह है। यह बात तो अभी सम्प्रदाय में है ही नहीं। सम्प्रदाय में तो यह करो और यह करो, यह करो और राग की क्रिया, उसे धर्म मानते हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मी जीव उसे कहते हैं कि राग के स्वाद के प्रति जो निर्मम है और अपने स्वभाव के प्रति अहंपना-मम है, यह मेरा है। आहाहा! दूसरे प्रकार से आया कि राग के स्वाद के प्रति धर्मी निर्मम है और निज स्वाद के प्रति मम है, मम। यह मम नहीं, लड़के खाते? आहाहा! अरे... अरे...! ऐसी बातें हैं। धर्मी मम करता है, मम, मम खाता

है। मम अर्थात् अपनी चीज जो आनन्द है, उसे अनुभव करता है, यह निर्मम है, यह मम है। आहाहा!

चौरासी का अवतार कर-करके मर गया है और अभी जब तक यह राग, वह मैं — ऐसी मान्यता पड़ी है, यह मिथ्यात्व की, इसमें अनन्त भव करने की ताकत है, नरक और निगोद के भव करने की इसमें ताकत है। आहाहा! ये सब अरबोंपति और करोड़पति मरकर यहाँ से पशु में जानेवाले हैं। आहाहा! क्योंकि वहाँ राग, जो तिरछा स्वभाव है, जो अपना स्वरूप नहीं है, उसके स्वाद में स्वयं मानता है कि वह मैं हूँ। उस मिथ्यादृष्टि... आहाहा! जीव ने वक्रता कर डाली जीव में। जीव का जो रागरहित स्वभाव है, ऐसा न जानकर यह दया, दान, राग के परिणाम का स्वाद वह मेरा है, ऐसी जिसने अन्तर में वक्रता की है, वह मरकर तिर्यंच / तिरछा, ऐसा तिरछा शरीर है, ऐसा होगा। यह मनुष्य खड़ा है... ऐसी बात है बापू यहाँ तो, आहाहा!

तिर्यंच है न? यह तिर्यंच कहते हैं न प्रभु, उसे तिर्यंच कहते हैं न - ऐसा तिरछा, मनुष्य ऐसा खड़ा है और गाय-भैंस, बकरा, गिलहरी के शरीर ऐसे आड़े हैं, तिरछे हैं। वे तिरछे क्यों हुए? कि उन्होंने पूर्व में वक्रता / तिरछापन बहुत किया था। शराब, माँस का भोजन हो, तब तो मरकर नरक में जाता है परन्तु वह न हो किन्तु ऐसे राग के तीव्र भाव को अपने में स्वादरूप जानकर, भगवान को तिरछा कर डाला, उल्टा कर डाला, आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं, वे जीव मरकर तिरछे, तिर्यंच होंगे — गाय, भैंस और बकरा होंगे। आहाहा! अनन्त बार इस प्रकार हुआ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं एक बार जिसने अपने आनन्द के स्वाद को लेकर स्व-सन्मुख होकर... भगवान आनन्दस्वरूप से जो विमुख था, जो शुभाशुभभाव को मानकर स्वाद लेकर मेरा है — ऐसा मानता था, वह स्वभाव से विमुख था। वह स्वभाव के सन्मुख हुआ प्रभु, आहाहा! मेरा स्वरूप तो चैतन्यस्वरूप, चैतन्य का स्वाद वह मैं - ऐसा जिसने मम किया — आनन्द का स्वाद लिया, आहाहा! उसे उस स्वाद के समक्ष, चाहे तो दया, दान, व्रत का राग हो परन्तु वह राग कलुषित जड़ का स्वाद है। अरे! यह कैसे जमे? आहाहा! कहाँ भटकता-भटकता परिभ्रमण करता इसे कहाँ (यह) बात जमे? सुनने को मिलता नहीं बेचारे को। आहाहा!

ऐसी बातें हैं प्रभु! क्या कहें ? भगवान की पुकार है, सीमन्धरभगवान के पास से यह सब बात आयी है, प्रभु विराजमान हैं। महाविदेह में प्रभु विराजते हैं, सीमन्धरभगवान! आहाहा! वहाँ से आयी हुई यह बात है।

कहते हैं कि **स्वाद के भेद से....** मेरा प्रभु तो चैतन्यस्वभावी स्वादिष्ट है, आहाहा! अनाकुल आनन्द के स्वादवाला, वह मैं और यह राग का स्वाद जो मोह का स्वाद है, वह कलुषित, उसके प्रति मैं निर्मम हूँ, वह मेरा नहीं है। जीव अधिकार है न ? इस राग को अजीव और जड़ कहकर जीव से भिन्न बताया है। आहा! मैं निर्मम हूँ। यह निर्मम ही हूँ, राग का कण भी जो अन्दर हो, आहाहा! आवे, परन्तु मैं निर्मम ही हूँ। शरीर, वाणी, मन, स्त्री, पुत्र तो कहीं (दूर) रह गये, धूल, वह तो कहीं रह गये, इसके थे ही कहाँ ? आहाहा! परन्तु धर्मी जीव तो, वे मेरे हैं ये तो बात गयी परन्तु राग मेरा है, यह बात (गयी), तब धर्मी होता है, तब वह सम्यग्दृष्टि, धर्म की शुरुआतवाला, प्रथम श्रेणी का (होता है)। आहाहा! अरेरे! ऐसी बातें यह क्या हैं ? यह ऐसा वीतराग का मार्ग होगा ? वीतराग मार्ग में तो दया पालना, व्रत पालना, कन्दमूल नहीं खाना, रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, छह परखी आहार करना – ऐसा तो हम सुनते हैं भाई! आहाहा! यह मार्ग नहीं प्रभु! यह जैनमार्ग नहीं, यह तो रागमार्ग है।

भगवान आत्मा ही जानता है। आत्मा ही जानता है कि मैं जहाँ हूँ, वहाँ दूसरे द्रव्य... भगवान ने तो छह द्रव्य देखे हैं न ? सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर ने छह द्रव्य देखे हैं, तो मैं जहाँ हूँ, वहाँ दूसरे द्रव्य हैं, दूसरे आत्मा वहाँ हैं, यहाँ आत्मा के प्रदेश के समीप, अनन्त परमाणु पड़े हैं, धर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं, आकाश के हैं, काल के हैं, परन्तु **एकक्षेत्रावगाह का निवारण करना अशक्य होने से...** उन्हें क्षेत्र से पृथक् किया जा सके ऐसा नहीं है परन्तु राग के भाव की मलिनता को भाव से भेद करके, भाव से पृथक् किया जा सकता है। आहाहा!

ऐसी बातें हैं प्रभु! फिर सोनगढ़ के नाम से चाहे जो कहें, लोग। कहते हैं बेचारे, उन्हें पता नहीं न! सोनगढ़ निश्चय की बातें करता है और वीतरागता की बातें करता है। हमारी दया और व्रत (हम) पालन करते हैं, उन्हें धर्म नहीं कहता ऐसा कहते हैं, बेचारे क्या करें ? यह पता नहीं।

श्रोता : ज्ञायक के स्वाद से अनजान हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनजान हैं। अन्दर जाननस्वरूप भगवान, वह चैतन्यस्वभावी प्रभु है, उसके स्वाद में तो चैतन्य का आनन्द स्वाद होता है, भाई! उसे — धर्मी जीव को उसके ख्याल में अपनापन भासित होता है। अन्दर राग आता है, उसे कर्म की ओर का जड़ का विकार, वह कर्म का है; उसका स्वाद कलुषित जहर जैसा दुःखरूप स्वाद है। आहाहा! अरेरे! चैतन्यस्वभाव वस्तु भगवान त्रिकाली अविनाशी वस्तु है। आत्मा कोई साधारण चीज नहीं है। आहाहा! उसकी पर्याय में-वर्तमान अवस्था में उसकी क्रीड़ा (विकार में) अनादि की है परन्तु उस पर्याय के समीप पूरा तत्त्व महाप्रभु, चैतन्यतत्त्व है, उसका इसे पता नहीं है। आहाहा! यह जहाँ इसे पता पड़ता है... आहाहा! कि मैं तो आत्मा ही एक हूँ, उसमें जो अनेकपना विकृत अवस्था दिखायी देती है, वह मेरा स्वाद नहीं है, मैं उसके प्रति निर्मम हूँ। आहाहा! और मेरा चैतन्य का स्वाद, रागरहित स्वाद, शान्ति और आनन्द का प्रभु, स्वभाव का स्वाद... अरे! यह... ऐसा आत्मा और क्या कहते हैं यह? पागल जैसा लगे - ऐसा है यह। बापू! जिसने सुना नहीं, भाई! तूने पचास-साठ वर्ष सब अज्ञान में-मूढ़ता में निकाले हैं। आहाहा! यह बात सुनी नहीं है, भाई! यह पागल नहीं? (होता) तू पागल है, इसलिए तुझे भासित नहीं होता। आहाहा! वीतराग की वाणी औषध है, राग का विरेचन करानेवाली (दवा है)। आहाहा! राग का विरेचन हो जाये और चैतन्य की निरोगता, चैतन्य की दृष्टि में आवे, आहाहा! यह वीतरागवाणी कहती है। समझ में आया?

क्योंकि सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से मैं या सभी पदार्थ.... एकत्व में प्राप्त होने से समय (अर्थात्) आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ **ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है।....** परमाणु लो तो भी परमाणु यह जड़, यह अंगुली तो अनन्त रजकण का पिण्ड है, इसका अन्तिम पाइन्ट है, टुकड़ा है, वह भी स्वयं में स्थित है। परमाणु, परमाणु में स्थित है। परमाणु को आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह मिट्टी है, देखो यह, (शरीर)। लोग भी ऐसा कहते हैं परन्तु उन्हें भान नहीं है, बोलते अवश्य हैं कि यहाँ चोट लगे तो कहते हैं, मेरी मिट्टी पकाऊ है, पानी छूने नहीं देना, बोलते अवश्य हैं भान बिना, बोलते अवश्य हैं मेरी मिट्टी पकाऊ है। मिट्टी तो जड़-धूल की है, यह कहाँ तेरी मिट्टी थी?

यह तो पुद्गल है। कील लग गयी हो तो पानी छूने नहीं देना, पानी की पट्टी नहीं बाँधना, मेरी मिट्टी पकाऊ है। मिट्टी कहे और फिर मेरी कहे! पागल के कोई दूसरे लक्षण होंगे? समझ में आया? आहाहा!

यह मिट्टी इसकी चीज नहीं, यह तो भिन्न है, एक जगह रहने पर भी (भिन्न है) परन्तु अन्तर में राग होता है - शुभ-अशुभराग, वह भी विकृत - कलुषित स्वभाव, वह मेरे चैतन्य का स्वाद नहीं। आहा...हा...! अरे...रे! कब करे और कब इसके भव का अन्त आवे? यह (समझे) बिना इसके भव का अन्त आवे ऐसा नहीं है। मर जाये न क्रिया कर-करके। आहाहा! वह तो सब राग की क्रिया है और राग तो कलुषित-मलिन, जड़ का स्वभाव है। अरे...रे! गजब बातें यह!

सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से (आत्मपदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है। कोष्ठक में बतलाते हैं। **(दही और शक्कर मिलाने से श्रीखंड बनता है...)** दही और शक्कर **(उसमें दही और शक्कर एक जैसे मालूम होते हैं,... श्रीखण्ड में तथापि प्रगटरूप खट्टे-मीठे स्वाद के भेद से....)** दही खट्टा है और शक्कर मीठी है, दोनों के स्वाद के भेद से **(भिन्न-भिन्न जाने जाते हैं;....)** आहाहा!

शास्त्र में तो ऐसा एक लेख है कि शराब पिये हो तो उसे श्रीखण्ड खिलाओ तो उसे गाय के दूध जैसा लगता है। जिसने शराब पी है, उसे यदि श्रीखण्ड दो तो गाय का दूध पीता हूँ, ऐसा लगता है। उसे स्वाद का पता नहीं। इसी प्रकार जिसने मिथ्यात्व की शराब पी ली है, विपरीत श्रद्धा की शराब पी है। आहाहा! उसे राग का स्वाद मेरा है - ऐसा भासित होता है। आहाहा! ऐसी बात है। प्रभु का स्वरूप ऐसा है, भाई! आहाहा!

इसी प्रकार द्रव्यों के लक्षण भेद से जड़-चेतन के भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण.... यह रागादि जड़ का स्वाद है, क्योंकि राग स्वयं जानता नहीं कि मैं कौन हूँ। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प - राग हो, उस राग में जानने की ताकत नहीं है। वह तो अचेतन है। आहाहा! राग स्वयं जानता नहीं कि मैं कौन हूँ? तथा राग के साथ चैतन्य भगवान है, उसे (राग) जानता नहीं तथा वह राग चैतन्य द्वारा ज्ञात होता है, इसलिए वह जड़ है। आहाहा!

अरेरे! जैसे इस श्रीखण्ड में शक्कर और दही का स्वाद भिन्न है, एक जैसे दिखने पर भी (भिन्न है); वैसे ही भगवान आत्मा का-चैतन्य का स्वाद और राग का (स्वाद) जड़, इस लक्षण भेद से दोनों के लक्षण भेद है, दोनों के लक्षण भिन्न हैं। जैसे दही का स्वाद खट्टा और शक्कर का स्वाद मीठा - ऐसे लक्षण भेद है। वैसे राग का स्वाद जड़ - कलुषित; भगवान का स्वाद चैतन्य और आनन्द, दोनों के लक्षण से दोनों के भेद हैं। आहाहा! समझ में आया? कुछ समझ में आया क्या कहा यह? समझ जाये तो अलग बात है, परन्तु किस पद्धति से कहा जाता है, वह शैली पकड़ में आती है? ऐसा।

अरेरे! जिनदेव का मार्ग ऐसा होगा! यहाँ तो भाई! ऐसा सुना था, कहे - दया पालो, व्रत करो, जीव को न मारो, छह काय की दया पालो, गौशाला में मदद करो, भेड़ को चारा डालो, आहाहा! प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, सामायिक करो... किसका प्रौषध? तुझे भान नहीं कि आत्मा कौन है, उसका भान नहीं (तो) प्रौषध किसका? अज्ञान का-मिथ्यात्व का प्रौषध है। वह तो मिथ्यात्व को पोषता है। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावी आनन्द प्रभु, उस आनन्द का स्वाद वह चैतन्य का स्वाद है और यह राग जो राग-विकल्प, हों! आहाहा! चाहे तो पंच महाव्रत के परिणाम हों, वह राग है, भाई! तुझे पता नहीं, वह तो वृत्ति का उत्थान है। उस राग का स्वाद कलुषित है। तुझे पता नहीं है। आहाहा! इस जड़ और चैतन्य के स्वाद की भिन्नता के कारण, भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण (भिन्न) ज्ञात होते हैं। आहा! इसमें कितनी धीरज चाहिए? आहाहा! **(कि मोह कर्म के उदय का स्वाद रागादिक है...)** राग, द्वेष, हर्ष-शोक, यह सब भाव, मोहकर्म के उदय का यह स्वाद है। आहाहा!

प्रसन्न हो जाता है, ऐसे पैसे पाँच-पच्चीस लाख मिलें और दो लाख की मासिक आमदनी हो तो मानो... ओहोहो! कौन जाने क्या बढ़ गया? उसकी प्रसन्नता वह राग के जहर का स्वाद है। आहाहा! है?

श्रोता : हलुवा और लापसी बनावे, आप उसे जहर का स्वाद कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री - दो लाख की आमदनी हो तो कहे आज लापसी करो। धूल में भी नहीं। अब सुन न! यह सब पैसेवाले बैठे, करोड़ोंपति!

श्रोता : आप इनकार करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं, यह रहे यह 'घीया', करोड़पति है यह। हमारे प्रवीणभाई, वे तो फिर बहुत करोड़ हैं ऐसा कहते हैं। एक व्यक्ति हमसे कहता था। हमने तो सुनी हुई बात है, हों! एक व्यक्ति ऐसा कहता था छहों लड़कों के पास एक-एक करोड़ है - ऐसा कहता था। कोई समझदार व्यक्ति। नाम नहीं दिया जाता... और उसके पिता के पास अलग पचास-साठ लाख, मर गये तब उत्तराधिकार में बाईस लाख तो सरकार को देना पड़े। इनके पिता के पैसे के लिये बाईस लाख देना पड़े। कहो, यह तो सच्ची बात है न? क्योंकि इसके पिता का अलग था न! छह ब्लाक अलग-अलग पाँच-पाँच लाख के, वहाँ छह लड़कों के, पिता का अलग ब्लाक सातवाँ, पाँच-पाँच लाख के और इसकी पूँजी अलग। क्योंकि सरकार का क्या कहलाता है वह? (श्रोता : इनकम टैक्स) इनकम टैक्स। इसलिए उसके कारण बनिये भाग पाड़ते हैं। आहा! इसका पिता मर गया और अलग था, बाईस लाख सरकार को भरना पड़े। बाईस लाख तो अकेले इसके पिता के पैसे के भरने पड़े, इसके पैसे के अलग। यह सुखी होगा न?

यह जो प्रसन्नता मानता है, वह दुःख है। आहाहा! वह राग का स्वाद है, प्रभु! तुझे पता नहीं। आहाहा! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की पुकार है, जगत के समक्ष... आहाहा!

श्रोता : जगत बहुत बहरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! सत्य बात सुनने को मिले नहीं, बेचारा कहाँ जाये? सिद्धान्त में तो इसे भिखारी कहा है, वरांका! आहाहा! यहाँ तो अपने दरबार आये थे न? अपने भावनगर! करोड़ का तालुका, भावनगर दरबार आये थे। यहाँ तो बहुत आते हैं। बड़े सेठ-राजा आते हैं, आये थे, दो-तीन बार आये थे। मन्दिर के समय आये थे, मानस्तम्भ के समय आये थे तो उनसे कहा था, हमारे तो क्या राजा हो या रंक हो... कहा राजा! दरबार! एक महीने में लाख माँगे, वह छोटा भिखारी; पाँच लाख माँगे, वह बड़ा भिखारी; और करोड़ रुपये माँगे वह भिखारी का भिखारी - बड़ा भिखारी है, कहा भिखारियों! आत्मा अन्दर अनन्त आनन्द की लक्ष्मी का भण्डार, उसे देखता नहीं, उसे मानता नहीं और यह बाहर की धूल... ऐ अजितभाई! यह सब पैसेवाले हैं, साठ-सत्तर लाख रुपये, धूल... धूल, हों! सब। आहाहा!

श्रोता : यहाँ तो धूल कहते हो, वहाँ रुपया कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नैरोबी में तो सब बहुत पैसेवाले हैं, अपने साठ घर हैं न ? श्वेताम्बर थे, दिगम्बर हो गये। अभी सब बीस-पच्चीस वर्ष से नैरोबी (में हैं)। वहाँ भाई ! ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस से पन्द्रह लाख के मन्दिर का खात-मुहूर्त उन लोगों ने एकत्रित होकर किया है।

श्रोता : अब वहाँ आपको जाने की तैयारी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अब माँगे तब। अब शरीर को ८९ वर्ष हुए, शरीर को ८९ वर्ष हुए। अब यह दिखाव ठीक, परन्तु अन्दर अब ८९ वर्ष हुए, खुराक का ठिकाना नहीं होता, नींद का ठिकाना नहीं होता, दिखाव अच्छा लगता है। माँग तो आयेगी, क्यों अजितभाई ! पन्द्रह लाख का मन्दिर बनायेंगे, नैरोबी ! वहाँ साठ घर हैं, श्वेताम्बर, सब दिगम्बर हो गये और सात-आठ घर तो करोड़पति हैं, बाकी सब घर कोई साठ लाख कोई सत्तर लाख, कोई चालीस लाख, कोई पचास लाख, बीस लाख, दस लाख ऐसे सब हैं। धूल.. धूल.. सब, हों ! ऐई !

जिसने वास्तु... क्या कहलाता है वह ? खात-मुहूर्त किया ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस को (खात-मुहूर्त किया) यह रामजीभाई बैठे, उनका भानेज है, उसने दो लाख दो हजार दिये। यह रामजीभाई बैठे, मनसुखभाई के पीछे। दो लाख दो हजार... मात्र मन्दिर के खात-मुहूर्त में दिये। परन्तु यहाँ तो पहले से कहते हैं तेरे दो लाख क्या पन्द्रह लाख या करोड़ खर्च न, उसमें राग मन्द करे तो पुण्य है, परन्तु धर्म नहीं।

श्रोता : फिर भी लोग बनाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जो क्रिया होने की हो, वह उसके कारण होती है। वह मन्दिर क्या आत्मा से बनता है ? यह मन्दिर क्या रामजीभाई ने बनाया है यह ? प्रमुख तो यह थे।

श्रोता : आपके पुण्य से हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! बापू ! यह पत्थर-परमाणु तो अजीव हैं, भाई ! तुझे पता नहीं। इस अजीव की पर्याय जिस क्षण में होनेवाली है, वह उससे होती है; दूसरा कहे कि मुझसे बना, मूढ़ है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं बापू !

बैंगलोर में भी बारह लाख का मन्दिर हुआ है। मुमुक्षुओं ने बनाया है, बैंगलोर... बारह लाख... पन्द्रह लाख, अभी पन्द्रह लाख हो गये। देखो तो, हो गया है और यह तो होना है। एक व्यक्ति ने आठ लाख दिये, भभूतमल! श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी, आठ लाख और एक जुगराजजी स्थानकवासी करोड़पति... वह (दो करोड़वाला) यह करोड़वाला स्थानकवासी... मुम्बई में महावीर मार्केट... इसने चार लाख दिये। बारह लाख का मन्दिर... कहा - बापू! तू बारह लाख खर्च करे, इसलिए धर्म हो, इस बात में माल नहीं है। यह राग की मन्दता - शुभभाव करेगा (तो) पुण्य होगा। आहाहा! ऐसी बातें हैं। इन लोगों ने अभी यहाँ ढाई लाख-तीन लाख यहाँ दिये न? यहाँ पोपटभाई ने उनके पिता की तरफ से... नया विश्राम गृह पाँच लाख का होनेवाला है। यहाँ लोग इतने आते हैं कि जगह नहीं रहती। दो सोसाइटी तो हो गयीं, अब तीसरी सोसाइटी उनकी तरफ से होनेवाली है। पाँच लाख, ढाई लाख उनके और ढाई लाख, जो प्लाट ले, उसे पाँच हजार देना पड़े, दस हजार का प्लाट बनायेंगे, पाँच-पाँच हजार देना है, तीन महीने रहेंगे, तीन महीने रहने का उन्हें। बहुत लोग यहाँ - बहुत लोग आते हैं। अब जगह में समाते नहीं इतने आते हैं। तीन-तीन हजार, पाँच-पाँच हजार लोग। अभी बहिन के उसमें (जन्मदिन में) तीन हजार लोग, श्रावण कृष्ण दूज, कहीं समाते नहीं, परन्तु यह भी यह सब वस्तु बननेवाली है, उसके कारण बनती है।

श्रोता : आपके उपदेश से बनती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बिल्कुल हराम बात है। यह सब निमित्त की बातें हैं। आहाहा!

यहाँ तो बनानेवाले का भाव, बना सकता हूँ - यह तो न हो परन्तु भाव जो है, वह शुभ है, पुण्य है, उसमें धर्म नहीं। वह पुण्य है, वह राग का-मैल का-राग का स्वाद है। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! है?

जड़-चेतन के भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण ज्ञात होता है,.... ज्ञात होता है। **कि मोह कर्म के उदय का स्वाद....** राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि है। आहाहा! रागादि है न? आदि है न? राग-द्वेष-अरुचि, आहाहा! बिच्छु काटे, वह बिच्छु काटे उसका नहीं, उसकी ओर द्वेष है, उस द्वेष का इसे स्वाद है। आहाहा! यह रागादि, द्वेषादि, हर्षादि। आहाहा!

यह हर्ष जीमन (प्रीतिभोज) करते हैं न अपने बनियों में दशाश्रीमाली! हर्ष जीमन करते हैं, सात टंक था अब तो बहुत अन्तर पड़ गया। पहले सात टंक था और हर्ष जीमन करे तो नवटंक होते थे। अब यह तो साठ–सत्तर वर्ष पहले की उमराला की बात है। यहाँ तो जन्मस्थल की बातें जानने में आयी हो न, वे जानते हैं। हर्षजीमन करे तब। आहाहा! बारातवाला एक दिन जीमावे, फिर सब जीमें, वह हर्षजीमन, हर्षजीमन अर्थात् राग का जीमन। आहाहा! हर्ष अर्थात् राग; हर्ष अर्थात् दु:ख। यह दु:ख, कर्म के उदय के स्वाद का भाव है, कहते हैं। अरेरे! इतना सब बंटवारा... अब तो निवृत्त कहाँ बेचारा? आहाहा!

वह चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से भिन्न ही है। है? आहा! जो राग–शुभराग, अशुभराग, अरुचि – द्वेष, प्रसन्नता राग, प्रसन्नता रति, अप्रसन्नता अरति, शोक ये सब भाव, कर्म के निमित्त से होनेवाले विकारी भाव, उसका स्वाद है। अरे! इतना सब ले जाना अब अन्दर! अभी तो शरीर मेरा नहीं, ऐसा मानने में पसीना उतरे! यह शरीर मेरा नहीं तो किसका है यह? यह तो मिट्टी जड़ है। इसे अन्दर में पुण्य–पाप के भाव से भिन्न जानना, आहाहा! ऐसा है प्रभु, आहाहा!

यह रागादि है, मोहकर्म के उदय का स्वाद तो राग–द्वेष, पुण्य–पाप, प्रसन्नता, रति–अरति, शोक आदि है; वे चैतन्य के निज स्वभाव के स्वाद से भिन्न ही है। आहाहा! आहाहा! राग का स्वाद है, (वह) आकुलता दु:खरूप है। आहाहा! भगवान आत्मा का स्वाद, वह अनाकुल आनन्दरूप है। ऐसा जो (स्वाद) भेद करे, उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! चारित्र तो कहीं रह गया, बापू! किसे कहें यह तो अभी लोगों ने सुना नहीं। यह तो अभी सम्यग्दर्शन की बात – पहली ईकाई की बात है। आहाहा! समझ में आया? **वह निजस्वभाव के स्वाद से....** निज अर्थात् भगवान आत्मा, स्वयं का उसका स्वभाव; स्व–भाव, अपना जो ज्ञान आनन्द, शान्त वीतरागता ऐसा जो भाव। आहाहा! उसका स्वाद अलग है, उसके स्वाद से राग का स्वाद (अलग है) अरे!... इतना सब... आहाहा!

इस प्रकार भावकभाव जो मोह का उदय... क्या कहा यह? भावक अर्थात् कर्म – जड़ है, मोहनीय कर्म आदि आठ कर्म हैं न? जड़–जड़, उन्हें यहाँ भावक कहा है। भावकभाव के भावक से हुआ पुण्य–पाप के रागादि भाव, वह भावक का भाव है – ऐसा कहा है। वह भगवान आत्मा का भाव नहीं है। आहाहा!

छोटी उम्र में पढ़ते थे, तब एक भावसार था, हमारे विद्यालय में साथ में, जन्म तो उमराला में था और तेरह वर्ष वहाँ रहे। नौ वर्ष पालेज, दुकान है न वहाँ, नौ वर्ष, वहाँ पाँच वर्ष दुकान चलायी थी, अभी दुकान चालू है, बड़ी दुकान है, पैंतीस-चालीस लाख रुपये हैं, वह दुकान है, तीन-चार लाख की आमदनी है, पालेज! तुम्हारे चित्तल में विवाहा है न हमारे मनहर, मनहर क्या ? मनसुख - मनसुख लालचन्दभाई की लड़की है न वहाँ ? मैं वहाँ था, तब सगाई की थी, मैं वहाँ अमरेली का चातुर्मास करके चित्तल आया, तब आणंद थी मेरे साथ थे। आणांदजी उनके काका का लड़का, वह कहे कि हमारे सगाई करनी है। लालचन्दभाई की लड़की, इस हिम्मतभाई की बहिन, उस दिन मैं वहाँ था, उपाश्रय में व्याख्यान चलता था न। तब उसने प्रश्न किया, हमारे आणंदजी था न, मर गया, वह सगाई करने वहाँ आया, महाराज! यह लड़की कहाँ की, यह मनुष्य (लड़का) कहाँ का, ये क्या होता होगा, यह कुछ पूर्व का कोई सम्बन्ध होता होगा ? ऐसा प्रश्न किया। वह अमरेली का चातुर्मास था न, (संवत्) ८६-८७ की बात है यह। ८७ के कार्तिक कृष्ण एकम, चित्तल के उपाश्रय में उसने प्रश्न किया। क्योंकि उसकी सगाई करने आये, लड़का नहीं लाये। लड़की यहाँ की हिम्मतभाई की बहिन। मैंने कहा पूर्व के सम्बन्ध हों ऐसा कुछ नहीं, एक हो बबूल में, एक हो थोर में ये दोनों होकर एकत्रित हुए हों, उस दिन कहा था, हों! बावल समझते हैं ? बबूल, एक जीव बबूल में हो आकर लड़की हुई हो और एक थोर में हो, वह आकर लड़का हुआ हो, उन्हें कहाँ सम्बन्ध ? भटकते जीव। उन्हें यह सम्बन्ध हो जाता है एक दूसरे को मेल हो कर्म का योग्य, यह तो उस दिन बात की थी, हों! चित्तल के उपाश्रय में। हमारे आणंदजी था हमारे कुंवरजी के काका का लड़का, हिस्सेदार था, गुजर गया। बहुत सारे गुजर गये, अब तीन लड़के हैं। आहाहा!

ये लोग प्रतिदिन वाँचन करते हैं, पालेज में मन्दिर बनाया है। पैंतालीस हजार का, भक्ति, वंदन, वांचन, फिर जाते हैं दुकान पर। भाई! यह तो बापू! धूल तो हुआ ही करे, यह क्या है ? इसका तो करो अब मर गये, इसी इसी में।

यहाँ कहते हैं - भावकभाव! यह क्या कहा ? जो कर्म जड़ है, उसे यहाँ भावक कहा है; भाव (अर्थात्) भाव को करनेवाला भावक, किसका ? कौन से भाव ? यह पुण्य

और पाप, दया, दान, व्रत और भक्ति के जो भाव हैं, वे भाव राग हैं। उस भाव को (करनेवाला) भावकभाव। भावक अर्थात् कर्म का भाव है, वह आत्मा के स्वभाव का भाव नहीं। आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! भाव भले चाहे कितने हों, भाषा तो सादी हुई है।

श्रोता : भाव तो गहरे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव गहरे परन्तु वस्तु तो यह है। जब इसे करना होगा, तब इसी प्रकार करना पड़ेगा तो भव का अन्त आयेगा। (वरना) मर जाये तो भी नहीं आयेगा। भटक मरेगा चौरासी के अवतार में। आहाहा! समझ में आया? आहा!

क्या कहा यह? ऊपर आया न, वह ज्यों का त्यों स्थित रहता है। उसके बाद यह है, भाई! वह तो (था) **अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है।** उसके बाद यह है, वह तो कोष्ठक में (था) ऐसा का ऐसा स्थित रहता है। इस प्रकार भावकभाव जो कर्म जड़-मिट्टी है, आठ कर्म रजकण है-मिट्टी धूल है, इस शरीर की जैसी धूल है, इसके जैसी बारीक धूल है। आहाहा! उसके भावक का भाव, यह राग और पुण्य-पाप का भाव, आहाहा! यह दया का भाव, यह पर की दया का भाव, यह राग, यह भावक का भाव; जीव का भाव नहीं। आहाहा! चिल्लाते हैं बेचारे, बहुत विरोध करते हैं। करो, करो, प्रभु! तुम्हें पता नहीं। आहाहा! अरे! यह तो पर की दया को राग कहते हैं, हिंसा कहते हैं...

श्रोता : सुनने आता नहीं न, बैठे-बैठे लिखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया इस रूप पड़ी है, बेचारा क्या करे? मूढ़ रूप से पड़े हैं, इस प्रकार कहे। 'जामै जितनी बुद्धि है इतनो दियो बताय, बाको बुरौ न मानिये और कहाँ से लाये' आहाहा!

यहाँ कहते हैं, यह ऊपर आया था न, **सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है। इस प्रकार,...** वह तो कोष्ठक में था। भावक भाव जो मोह का उदय (उससे भेदज्ञान हुआ)। लो, मोहकर्म जड़ है, उसका उदय पुण्य-पाप के रागादिभाव। आहाहा! यह लोग कहते हैं कि दया पालो, दया पालो। 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान। अनन्त जीव मुक्ति गये'... दया से! अरे! सुन न अब!

कौन सी दया ? यह पर की दया तो राग है; स्व की दया, राग के भाव से भिन्न, मेरी जीवन ज्योति भिन्न है, उसे — चैतन्य को चैतन्यरूप से रखना, अनुभव में लेना, वही अपनी दया है। आहाहा! समझ में आया ? वह यहाँ कहते हैं।

इस प्रकार भावकभाव.... अर्थात् ? **मोह का उदय, उससे भेदज्ञान हुआ।** उससे भिन्न किया, बताया – भेदज्ञान! समझ में आया ? कहो, धीरूभाई! ऐसी बातें हैं। नये लोगों को तो ऐसा लगे कि यह क्या है ? यह जैनधर्म की बात होगी या यह नया पंथ, नया मार्ग निकाला होगा ? अरे भाई! तुझे पता नहीं, प्रभु! आहाहा! त्रिलोकनाथ जिनेश्वर परमेश्वर ने यह कहा कि धर्मी जीव होने पर उसे कर्म के निमित्त से होनेवाले विकारी भावकभाव का स्वाद भिन्न जानकर, आहाहा! और अपना स्वाद भिन्न जानता है। आहा! तब उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-धर्म की शुरुआत होती है। आहाहा! **(उदय) उससे भेदज्ञान हुआ।** यह टीका की बात की। भावार्थ कहा जायेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १०४ गाथा ३६, श्लोक ३० दिनाङ्क १०-१०-१९७८ मंगलवार
आसोज शुक्ल ९, वीर निर्वाण संवत् २५०४

भावार्थ है, जरा सूक्ष्म बात है थोड़ी। **यह मोहकर्म....** एक जड़ मोहकर्म है। आत्मा के क्षेत्र में; जहाँ आत्मा है, वहाँ एक क्षेत्रावगाही मोहकर्म जड़ है। वह **जड़ पुद्गलद्रव्य है;...** वह मोहकर्म, आत्मा है, वहाँ एक क्षेत्र में रहनेवाला मोहकर्म जड़ है। **उसका उदय कलुष (मलिन) भावरूप है;....** अर्थात् मोहकर्म का उदय है, वह तो जड़ की पर्याय भले, परन्तु आत्मा में उसका दिखाव होता है – उपयोग में, वह मलिन परिणाम है। आहा! चाहे तो शुभ-अशुभभाव हो, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव हो या दया, दान का भाव हो परन्तु वह भाव, मोहकर्म के फलरूप मलिनभाव है – ऐसी बात है। आहा!

है ? वह मलिनभाव है। **वह भाव भी, मोहकर्म का भाव होने से,....** जड़ कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में यह शुभ-अशुभभाव जो मलिनभाव, वह जड़ कर्म का भाव होने से वह जड़ का है; आत्मा का नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम। विकार, वह भावक का

भाव है। जड़कर्म है, वह भावक — भाव करनेवाला और शुभ-अशुभभाव, वह भाव, मलिनभाव, यह भावक का भाव है, कर्म का भाव है, जड़ का भाव है; चैतन का स्वभाव नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है, बापू!

यह मोहकर्म का भाव, पुद्गल का ही विकार है, **यह भावकभाव जब चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है,....** चैतन्य जो शक्ति है, वह तो ध्रुव त्रिकाल है परन्तु उसकी व्यक्ति जो प्रगट ज्ञान; जैसे कर्म के निमित्त का व्यक्तपना मलिनता है, वैसे भगवान चैतन्यशक्ति का प्रगटपना जानन-देखन पर्याय है। सूक्ष्म विषय है, भाई! जैसे, इस जड़कर्म का फल मलिन भाव है, वह जड़ का व्यक्तभाव है; वैसे भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप की व्यक्ति (अर्थात्) जानने-देखने की मति-श्रुत की पर्याय व्यक्त पर्याय है, उसके उपयोग के अनुभव में आता है, जब यहाँ चैतन्य के उपयोग में अनुभव में आता है। आहाहा! अर्थात्? जानन-देखन जो शक्ति की व्यक्ति / प्रगटदशा, उसके उपयोग में जब मलिनभाव आता है, आहाहा! ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है।

साधारण लोगों को तो पता ही नहीं पड़ता! भक्ति करो, और व्रत करो, पूजा करो, हो जायेगा धर्म! वहाँ धूल में भी नहीं है... आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करो, बस! वह तो राग है। राग तो कर्म के निमित्त का-भावक का भाव है; वह तेरा भाव नहीं है। आहाहा!

श्रोता : राग तो जीव की पर्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय है परन्तु वह द्रव्य का स्वभाव नहीं... द्रव्य का-चैतन्य का वह स्वभाव नहीं। चैतन्य शक्ति का व्यक्तपना तो जानना-देखना, वह उसका व्यक्तपना है। उसका व्यक्तपना, राग का व्यक्तपना हो - ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा!

श्रोता : स्वरूप न हो तो होवे कैसे?

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है, वह कहा न? वह पर्याय में होता है, वह पर के कारण होता है, पर का लक्ष्य लेता है, जानने-देखने के उपयोग में, वह विकार-कर्म का, भावक का भाव परन्तु उपयोग वहाँ है; इसलिए वहाँ मलिन उपयोग दिखता है।

श्रोता : दिखता है या होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दिखता है, वास्तव में वस्तु कहाँ होती है ?

श्रोता : द्रव्य तो नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में दिखता है परन्तु पर्याय में दिखता है, वह जड़ का भाव दिखता है, वह चैतन्यस्वभाव का भाव नहीं। सूक्ष्म बात है बापू!

श्रोता : दिखता है और उसका भाव नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; उसका नहीं। जैसे चैतन्य जाननस्वभाव-देखनस्वभाव का व्यक्तपना तो जानने-देखने का उसका व्यक्तपना है। उसका व्यक्तपना, विकार का व्यक्तपना (नहीं होता)। सूक्ष्म बात, भाई! सूक्ष्म मार्ग, बापू! आहा!

वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म बात है। आहाहा! यहाँ दो प्रकार कहे हैं। कहते हैं देखो! **उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखायी देता है।** देखा ? भगवान आत्मा!... भाई! यह तो जैनधर्म, यह वस्तु का स्वभाव (है)। आहाहा! इसे समझने के लिए तो अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। आहाहा! यह कोई साधारण रीति से मिल जाये ? आहाहा! यह क्या कहते हैं ? **चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है, तब उपयोग भी विकारी होकर....** देखा ? पर्याय विकारी होकर, **रागादिरूप मलिन दिखायी देता है।** पर्याय में मलिनता है - ऐसा दिखायी देता है। वास्तव में इस चैतन्यशक्ति की व्यक्तता का वह भाव नहीं है। कर्म के उदय की व्यक्तता का वह भाव मलिन है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ ? फुर्सत कहाँ लोगों को! कौन है और क्या है ?

एक ओर भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, ज्ञान और दर्शन के स्वभाव से भरपूर भण्डार, उसकी व्यक्तता,... वह कहते हैं देखो! इस चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति (प्रगटता) विकारी दिखती है। **जब उसका भेदज्ञान हो...** देखा ? क्या भेदज्ञान हो अर्थात् ? चैतन्य, वह ज्ञान-दर्शन स्वभाववन्त परिपूर्ण प्रभु, उसकी व्यक्तता तो जानना-देखना, ऐसी उसकी व्यक्तता-प्रगटता हो, तब यह पर्याय में कर्म के निमित्त के संग से जो मलिनता हो-भाव, वह भावक का भाव है, वह चैतन्य के स्वभाव का भाव नहीं है। आहा! अब ऐसा कहाँ समझना ? ऐसा है प्रभु!

श्रोता : अपूर्व है!

पूज्य गुरुदेवश्री : अपूर्व है, भाई! आहा! इसने कभी किया नहीं। आहाहा! अनन्त काल... अनन्त काल.. व्यतीत हो गया, भाई! आहा! परन्तु एक ओर भगवान, आहाहा! कलश में कहेंगे 'शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है।' आत्मा तो शुद्ध चैतन्य ज्ञान-सिन्धु सागर भरा है, आहाहा! उसकी व्यक्तता — वह कहते हैं, देखो! **'चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति'....** चैतन्य ज्ञान और दर्शन और ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से भरपूर भगवान, उस चैतन्य की शक्ति, उसकी व्यक्ति, उसकी विशेष प्रगट दशा तो **ज्ञानदर्शनोपयोगमात्र है....** धीरे से समझना, भाई! यह तो अनन्त काल में नहीं की हुई बात है। यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! यह बहुत धीरज से समझ में आये ऐसी चीज है। आहाहा! क्या कहा?

श्रोता : समझ में आ जाये ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, समझ में आये ऐसी ही चीज है। बराबर! यहाँ दो प्रकार वर्णन किये। एक ओर भगवान चैतन्यस्वरूप परमात्मस्वरूप विराजमान है। चैतन्यशक्ति कहो, परमात्मस्वरूप कहो, ज्ञान और दर्शन के स्वभाव से भरपूर भगवान आत्मा की व्यक्ति अर्थात् प्रगटता, पर्याय में जानने-देखने के उपयोग की पर्याय, वह उसकी व्यक्तता है और कर्म जो है, जड़-भावक, उसकी व्यक्तता अर्थात् पुण्य-पाप का मलिनभाव। आहाहा! गजब बातें हैं, भाई! यह कर्म के भावक का भाव! इस चैतन्य की शक्ति का जानना-देखना उपयोग, वह उसका भाव, परन्तु अनादि से... आहाहा! इस जानन-देखन उपयोग में यह मलिनता, मन का भाव अन्दर जो उपयोगरूप दिखता है, वह उसका नहीं है। आहाहा!

श्रोता : होता है उसकी पर्याय में।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में होता है, तथापि वह उसके स्वभाव में से हुआ नहीं है, उसकी शक्ति के सत्व में से हुआ (भाव) नहीं है, ऐसा है भगवान! सूक्ष्म बातें बहुत, बापू! मार्ग ऐसा सूक्ष्म! आहाहा! गाथा ऐसी आ गयी न, आहाहा!

श्रोता : भाग्यशाली को तो सुनने को मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिले, ऐसा। बात तो ऐसी है, बापू! आहाहा! क्या कहें? ओहो!

भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वभावी, ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वभावी प्रभु, उसकी व्यक्तता

– प्रगटता तो जानन-देखन उपयोग और आनन्द पर्याय, वह उसकी प्रगटता होती है। आहाहा! उसके बदले कर्म जो भावक-जड़कर्म, उसका व्यक्तपना जो पुण्य-पाप और मलिन भावक का भाव, वह (आत्म) द्रव्यस्वभाव का भाव नहीं है। आहाहा! पाटनीजी! समझ में आवे ऐसा तो है, बापू! प्रभु! यह तेरे घर की बात है न, नाथ! आहाहा! यह जानक स्वभाव भगवान का प्रगटपना तो जानने-देखने का उपयोग है। उसमें यह कर्म के भावक का भाव, उपयोग वहाँ जुड़ने से मलिन दिखता है। आहाहाहा!

ऐसा उपदेश अब यह कहाँ! ऐसा कहते हैं कि भगवान की भक्ति करो, गुरु की भक्ति करो, तब तो समझ में आये, अब भक्ति-भक्ति करे, वह सब तो राग है। सुन न अब!

श्रोता : कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, वह सब राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग है, वह कर्म के भावक का भाव है, भाई! तुझे पता नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम, बापू! आहा! गाथा बहुत सरस! चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति... भगवान सामर्थ्य तो उसका – आत्मा का चैतन्य सामर्थ्य ज्ञान-दर्शन सामर्थ्य है। उसकी व्यक्ति-प्रगटता ज्ञान-दर्शन-उपयोगमात्र है। उसकी प्रगटता तो जानना-देखना उपयोगमात्र उसकी प्रगटता है। आहाहा! उसके उपयोग की प्रगटता में रागरूप उपयोग हो, ऐसा उसका उपयोग ही नहीं है। आहाहा! यह चैतन्यस्वरूप भगवान ज्ञान का सागर प्रज्ञाब्रह्म प्रभु की प्रगटता को जानने-देखने के उपयोग की प्रगटता है; उसकी प्रगटता शुभ-अशुभभाव, वह उसकी प्रगटता नहीं है। आहाहा! क्योंकि उसकी (आत्मा की) खान में वह विकार भरा नहीं है कि जिसका विकारपना भावक-भाव्य हो — वह भावक जीव का भाव हो। आहाहा! कठिन बात बापू! अरे! धर्म क्या चीज है!

यह कलुषता राग-द्वेष-मोहरूप है.... है? आहाहा! भगवान चैतन्य शक्ति अर्थात् जानने-देखने की सामर्थ्यवाला वह तत्त्व है। भगवान आत्मा तो जानने-देखने के स्वभाव की सामर्थ्यवाला वह तत्त्व है। उसके सामर्थ्य में से प्रगट हो तो जानने-देखने की व्यक्त पर्याय-उपयोग प्रगट हो; उसमें से मलिन पर्याय उपयोग में प्रगट हो – ऐसा है नहीं। आहाहा! परन्तु उस उपयोग में कर्म के निमित्त से हुआ भावक का भाव — पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत-भक्ति आदि का भाव... आहाहा! वह उसके उपयोग में मलिनरूप दिखाई

देता है। उसकी वस्तु पर्याय और गुण कोई मलिन नहीं। पुण्य-पाप के मलिनभाव पर्याय में इसे दिखाई देते हैं, आहाहा! वह पर का भाव है, पर के संग से हुआ है। पर की शक्ति की व्यक्तता प्रगट होने से वह मलिनभाव हुआ है। भगवान की (आत्मा की) शक्ति से प्रगट होने पर वह मलिनभाव हुआ नहीं, उसकी प्रगटता में तो जानने-देखने की पर्याय, वह उसकी प्रगटता है। आहाहा! उस जानने-देखने की प्रगट पर्याय उपयोग में कर्म के भावक का भाव मलिनरूप दिखाई देता है। आहाहा! है? वह द्रव्यकर्म का जड़-पुद्‌गल द्रव्य का भाव है। कलुषितता कहा है न? **वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्‌गलद्रव्य की है,...** आहाहा! ऐसा है। क्योंकि जो शुभ-अशुभभाव है, वह अचेतन है-जड़ है, उसमें चैतन्य के प्रकाश की कोई पर्याय (किरण) उसमें नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। सम्प्रदाय में पड़े हुए को यह बात कठिन लगती है। मार्ग ऐसा सूक्ष्म है।

बापू! मार्ग तो यह है, भाई! आहाहा! कहते हैं कि **यह कलुषता राग-द्वेष-मोह...** पुण्य-पाप और मिथ्यात्वरूपी भाव **वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्‌गलद्रव्य की है,...** आहाहा! इतना धीरजवान हो, तब उसके उपयोग में मलिनता है - ऐसा दिखे। आहाहा! वह मलिनता मेरी चीज नहीं। आहाहा! भगवान की भक्ति करे, देव-गुरु की भक्ति करे, वह सब रागभाव (है)। आहाहा! गजब बात है! वह भावककर्म का भाव है। जीवशक्ति का वह भाव नहीं। उसके स्वभाव में वह भरा नहीं; स्वभाव में तो जानना-देखना और आनन्द भरा है। उसकी प्रगट दशा हो तो जानना-देखना और आनन्ददशा हो। आहाहा! ऐसा है! तो भी फिर लोग बेचारे कितने ही... एक भव्यसागर है, (उन्होंने) बहुत प्रसन्नता बतायी। आहाहा! बहिनश्री के वचनामृत हमें... दिगम्बर साधु है, बीस वर्ष की दीक्षा... आहाहा! हमने कभी ऐसी बात सुनी नहीं। हमें पता नहीं ऐसा। हम मुनि नहीं, बापू! मुनि किसे कहते हैं? आहाहा!

कल दो पत्र आये थे, इससे पहले आये थे। आहाहा! लोग ऐसा कि माँग बहुत करते हैं। बहिन की पुस्तक की; स्थानकवासी लोग आते हैं, वे भी माँग करते हैं। परन्तु अपने आप पकड़ना कठिन। आहाहा!

भगवान आत्मा, वह तो चैतन्य अर्थात् जानना-देखना जिसका त्रिकाली स्वभाव,

वह उसकी सामर्थ्य है। उसमें राग करना, ऐसी सामर्थ्य उसमें नहीं है। यह पुण्य-पाप, दया, दान का भाव करना, यह कोई जीव के स्वभाव की सामर्थ्य नहीं है। आहाहा! यह भाव तो जड़कर्म-भावक जो जड़ है... यह कर्म सिद्ध किया। एक ओर भगवान सिद्ध किया, दो। भावक का भाव उसकी पर्याय मलिन है, ऐसा भी सिद्ध किया। यह भावक जो ज्ञायकभाव है, उसका भाव जानना-देखना उपयोग, वह सिद्ध किया। आहाहा! अब उस उपयोग में जो वह मलिनता दिखती है, कहते हैं। आहाहा! वह **पुद्गलद्रव्य की है,...** आहाहा! इसमें से निकाले कि यह पर्याय है, वह जड़ के कारण होती है, वह आत्मा की नहीं। किस अपेक्षा? अभी द्रव्यस्वभाव की बात चलती है। जो द्रव्यस्वभाव है - वस्तु का - भगवान आत्मा का, उस स्वभाव में से व्यक्तता (प्रगटता) कोई राग की होगी? उसके स्वभाव के भण्डार में कोई विकार भरा है? उसके स्वभाव के भण्डार में तो निर्विकारी शक्तियाँ भरी हैं। आहाहा! ऐसी बात है। कहो, शान्तिभाई! ऐसा कलकत्ता में कहीं मिले ऐसा कहीं नहीं है।

श्रोता : कलकत्ता में मिले वह यहाँ नहीं मिलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कलकत्ता में पैसे मिलते हैं, कहते हैं। ऐसा जो यहाँ मिलता है। धूल में क्या? यह हमारे रहे अजितभाई, वहाँ नैरोबी में बहुत पैसा मिलता है। आहाहा! यह कहते हैं, पैसा यहाँ नहीं मिलता, वहाँ पैसा मिलता है - ऐसा कहते हैं, भाई! यह पैसा किसे मिलता है? कहाँ मिलता है?

श्रोता : किसी को नहीं मिलता?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे मिले प्रभु! पैसा तो पैसे में रहा। किसे मिले? आहाहा! आत्मा भगवान आत्मा है वहाँ अन्दर पैसा आता है? वहाँ घुस जाता है? पैसा, वह जड़ की दशा जड़ में रहती है। भगवान आत्मा की दशा में भी वह नहीं आता तो उसके द्रव्य-गुण में तो कहाँ से हो? आहाहा!

यहाँ तो पर्याय में आती है, वह चीज क्या है? वह वस्तु तो आती ही नहीं। यहाँ तो पर्याय में शक्ति की व्यक्तता जो उपयोग है, उसके उपयोग में जो जड़कर्म के भावक का भाव मलिनरूप दिखायी देता है, उसका भेदज्ञान करना। आहाहा! भाई! भगवान सर्वज्ञ

जिनेश्वरदेव परमात्मा का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई! यह **कलुषितता जो राग-द्वेष-मोहरूप है, वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्‌गलद्रव्य की है।** यहाँ द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से बात चलती है। द्रव्य का स्वभाव है, वह तो ज्ञान चैतन्यशक्ति... चैतन्यशक्ति, ज्ञानसिन्धु – ज्ञान-दर्शन का सिन्धु, समुद्र, सागर, भगवान (आत्मा) है। उसमें से लहर का उछाला आवे, वह उछाला आवे तो उसमें से क्या आवे? यह जानने-देखने की पर्याय का उछाला आवे। आहाहा! उसमें से उसके उपयोग में जो यह कर्म का भावक का पुण्य-पाप का जो मलिनभाव है, पुद्‌गल का भाव है, उसके स्वभाव का वह भाव है; जीव के स्वभाव का वह भाव नहीं है। आहाहा! वह पुद्‌गलद्रव्य का है।

तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह का भाव, भावकर्म, उसका भाव शुभ-अशुभराग है, वह द्रव्यकर्मरूप मोह का भाव है। **उससे अवश्य भेदभाव होता है,** क्योंकि वह पर का है, इसलिए भेदभाव होता है – ऐसा कहा है। वह स्व का नहीं, इसलिए भेदभाव होता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग और ऐसा उपदेश! क्या कहते हैं, अभी यह पकड़ना कठिन पड़ता है। आहाहा! अरे! भटकते हुए अनन्त काल गया, इसे सत्य मिला नहीं। सत्य मिले तब इसे (समझने की) दरकार की नहीं। आहाहा! यह **भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप जो मोह का भाव, उससे अवश्य भेदभाव होता है,** क्योंकि उसके स्वभाव में और उसके स्वभाव की व्यक्तता में यह विकार नहीं है। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव का सागर है। उसमें व्यक्तता होवे तो उसके स्वभाव की शक्ति की व्यक्तता हो परन्तु पुण्य और पाप के मलिनभाव की व्यक्तता इस (आत्म) शक्ति की व्यक्तता नहीं है, वह द्रव्य के स्वभाव की व्यक्तता नहीं है। आहाहा! वह कर्म के भावक का भाव का भाव है इसलिए है? **उससे अवश्य भेदभाव होता है।** इस कारण उससे भेदभाव होता है — ऐसा कहते हैं। यह क्या कहा? भगवान आत्मा चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... सिन्धु सागर! यह खारा समुद्र हो, उसकी लहरें खारी होती हैं, मीठा समुद्र हो उसकी लहरें मीठी होती हैं; वैसे भगवान तो आनन्द और ज्ञानसागर का सागर भरा है। उसकी लहरें जो व्यक्तता होवे तो उपयोग-ज्ञान-दर्शन के उपयोग की उसकी व्यक्तता होती है। उस उपयोग में जो कर्म के भावक का भाव दिखता है, वह

जड़कर्म का भाव है, इसलिए उससे पृथक् हो सकता है। आहाहा! ऐसी बात है। ओहो! क्या आचार्यों ने काम किया है! दिगम्बर सन्तों ने! हम तो उनके दास हैं! आहाहा! और यह तो क्या बात की, क्या कहें प्रभु! तू कौन है? कहाँ है? मैं तो ज्ञान-दर्शन स्वभाव से भरपूर तत्त्व वहाँ मैं हूँ और वहाँ मैं हूँ, ऐसा जिसने माना, उसकी शक्ति में से व्यक्तता तो जानने-देखने और आनन्द की होती है। आहाहा! ऐसे जानने-देखने के भाव में जो मलिनता दिखती है, वह जड़कर्म के भावक का भाव है, वह तेरे स्वभाव का भाव (नहीं)। आहाहा!

श्रोता : वह जड़कर्म की दोस्ती का भाव...

पूज्य गुरुदेवश्री : दोस्ती स्वयं ने की है, उस ओर के झुकाव में उपयोग में मलिनता होती है, वह चैतन्य का उपयोग नहीं है। आहाहा! वह जड़कर्म के भाव का भास अन्दर होता है, वह मलिनभाव है। जिससे वह जड़कर्म का भावक का भाव ज्ञात हो, वह चैतन्य के स्वभावभाव में से नहीं आया; इसीलिए चैतन्य के स्वभाव की व्यक्तता को लक्ष्य में लेने से अथवा द्रव्य को कायम लक्ष्य में लेने से वह मलिनभाव पृथक् पड़ जाता है – ऐसा है। आहा!

सम्प्रदाय में यह चलता है कि यह सामायिक करो, प्रतिक्रमण करो, यह करो और वह करो। भक्तिवाले को यह आवे कि भक्ति करो देव-गुरु की। बापू! मार्ग अलग है, भाई! आहाहा!

श्रोता : सब परसन्मुखता के भाव है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव परसन्मुखता का भाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग है, वह परसन्मुख है, वह वास्तव में भावक का भाव है; इस चैतन्यद्रव्य के स्वभाव का वह भाव नहीं है। आहाहा! भगवान सिन्धु चैतन्य, चैतन्य सिन्धु-यह आयेगा इस कलश में। आहाहा! चैतन्य का सिन्धु का ज्वार पर्याय में आवे, तब तो ज्ञान-दर्शन और आनन्द का आवे, भाई! आहाहा! और भावककर्म है, उसका भाव तो मलिनभाव, वह उसका ज्वार है परन्तु यहाँ ज्ञान के उपयोग में ज्ञात होने पर, लक्ष्य वहाँ है, इसलिए मलिनता दिखाई देती है। आहाहा! परन्तु लक्ष्य को बदल डाल! भगवान

ज्ञानसिन्धु है, उस पर लक्ष्य कर तो इस राग की भिन्नता का तुझे अन्दर भास होगा। आहाहा! कहो, ऐसा है।

श्रोता : आपने बहुत माल निकाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी वस्तु है। आहाहा!

इसे पहले समझ में तो बात को ले, पहले ज्ञान में इसका निर्णय तो करे कि मेरा प्रभु शुद्ध चैतन्यशक्ति के स्वभाव से भरपूर भगवान में मलिनता के परिणाम कहाँ से आये? आहाहा! आहाहा! शक्कर के परिणाम पतले पड़ें परन्तु कहीं रागरूप हो? चिरायतेरूप हो? वह शक्कर का पानी पतला पड़े तो भी मीठा रहता है। है? आहाहा! वैसे भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप-जानन-देखन-आनन्द आदि शक्ति की सामर्थ्यवाला प्रभु है, उसकी पर्याय में लहर आवे तो निर्मल ज्ञान-दर्शन आनन्द की आवे, भाई! आहाहा! इस द्रव्य का जिसे लक्ष्य हो, उसे पर्याय में आनन्द और ज्ञान की पर्याय की व्यक्तता / लहर आवे। आहाहा! परन्तु इसे द्रव्यस्वभाव का लक्ष्य नहीं, इसलिए द्रव्य की जो व्यक्तता है, ज्ञान-दर्शन उपयोग की (उसकी) उसे खबर नहीं है। इसलिए उसके जानने-देखने के उपयोग में भावक का भाव भासित हो, वह मैं हूँ — ऐसा मानकर वहाँ अटक गया है। आहाहा!

बहिन की पुस्तक की माँग बहुत आती है। अब जगत का भाग्य, आहाहा! अवसर पर आया, आहाहा! अवसर पर आया, बापू! भाई! परन्तु समझना महापुरुषार्थ है। यह कोई भगवान की भक्ति कर दे या देव-गुरु-शास्त्र की प्रशंसा.... आहाहा! ऐसा किया... आहाहा! इसलिए वह समझ में आ जाये — ऐसी वह चीज नहीं है। आहाहा! बड़े गजरथ निकाले-पाँच-पाँच लाख का खर्च करके रथयात्रा निकाले, पच्चीस-पच्चीस, पचास-पचास घोड़े... ऐसे इक्कीस-इक्कीस हाथी... हमारे हुआ था न? जब जयपुर में भगवान की रथयात्रा निकली, मैं वहाँ था और भगवान के रथ में बैठा था। इक्कीस हाथी, चालीस हजार लोग साथ में और चालीस हजार लोग साथ में तथा गाँव के तो लाखों लोग ऊपर से देखें... क्या है यह कोई? कोई राजा आया है? जयपुर, इक्कीस-इक्कीस हाथी, सामने शृंगार किये हुए और हजार-हजार लोगों के बाद एक-एक बैण्डबाजा, बड़ा

लश्कर, देखने निकले लोग-गाँव-दिगम्बर साधु, देखने निकले परन्तु यह क्या है प्रभु! यहाँ यह सब तो बाहर की चीज है। यह तो जड़ की क्रिया-बाहर की है और उसमें भाव होवे तो कदाचित् राग की मन्दता हो तो वह शुभ है और वह शुभ भी मलिनभाव है। आहाहा! ऐसा! वह भी भावक का भाव है, ज्ञायक का भाव नहीं। ज्ञायक का भाव नहीं, भावक का भाव है।

तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव, उससे अवश्य भेदभाव होता है.... क्योंकि भावक का भाव है, वह द्रव्यस्वभाव-ज्ञायक का भाव नहीं। आहाहा! क्या शैली! गजब शैली है! ऐसी टीका अभी भरतक्षेत्र में कहीं नहीं है। दिगम्बर धर्म के सिवाय ऐसी बात कहीं नहीं है। आहाहा! और उसका आत्मा जरा सा मध्यस्थ हो जाये तो उसे स्वीकार आवे कि बात तो यही है। आहाहा! **भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव, उससे अवश्य भेदभाव होता है और आत्मा अवश्य अपने चैतन्य के अनुभवरूप स्थित होता है।** आहाहा! यह मलिनभाव, यह भावक का भाव, ज्ञायक का नहीं है - ऐसा भेद करने पर ज्ञायकभाव की परिणति शुद्ध हो जाती है। आहाहा! इस राग से भिन्न पड़ने पर द्रव्यस्वभाव की शक्ति पर दृष्टि पड़ने से पर्याय में ज्ञानी के ज्ञान का अनुभव होता है। इसका नाम धर्म है! अब ऐसी व्याख्या! समझ में आया? कहो, बाबूभाई! ऐसा सुना नहीं कहीं, वहाँ मांगरोल में! ऐसी बातें, बापू! आहाहा! मीठी मधुर वीणा बजती है। आहाहा!

यह ज्ञायकभाव... इसमें पुनरुक्ति लगे ऐसा नहीं है। आहाहा! यह ज्ञायकभाव भगवान, इसका व्यक्त भाव-प्रगट भाव तो ज्ञायक की परिणतिरूप भाव होता है, यह जानना-देखना, आनन्द आदि... और उस भावक का भाव विकार है, वह पर्याय में ऐसा दिखता है, वह भिन्न है — ऐसा जिसने भेदज्ञान किया, आहाहा! उसे ज्ञान में स्वभाव की अनुभूति रही, जो राग का-मलिनता का अनुभव था, उससे भेद किया तो अराग का अनुभव हुआ। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति हुई। आहाहा!

अरे! लोग बेचारे विरोध करते हैं। बापू! माफ करना भाई! मार्ग तो यह है। तुम्हें दुःख लगे तो क्या करें, भाई! आहाहा! आहाहा! वस्तु तो यह है। तीन काल तीन लोक में यही वस्तु की स्थिति है। इसे दृष्टि में न लेकर जो मलिन परिणाम-जो भावक का भाव,

उसे दृष्टि में लेना, वह तो मिथ्यात्वभाव — संसारभाव है। आहाहा! परन्तु उससे भिन्न पड़कर... क्योंकि वह पर का भाव है, स्व का भाव नहीं, इसलिए भिन्न हो सकता है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! उपयोग में यह झलक दिखती है, वह तो शुद्ध उपयोग, उपयोग की चीज ऐसी है। (मलिन) भी दिखती है परन्तु वह है परभाव, उसे भिन्न पाड़कर प्रभु चैतन्य के स्वभाव सन्मुख होना, उसे ज्ञान की और शान्ति की अनुभूति हो, उसे परमात्मा यहाँ धर्म कहते हैं। ऐसी धर्म की शर्त है, बापू! आहाहा! यह भावार्थ हुआ।

कलश - ३०

अब, इस अर्थ का द्योतक कलशरूप काव्य कहते हैं —

(स्वागता)

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

श्लोकार्थ : [इह] इस लोक में [अहं] मैं [स्वयं] स्वतः ही [एकं स्वं] अपने एक आत्मस्वरूप का [चेतये] अनुभव करता हूँ, [सर्वतः स्व-रस-निर्भर-भावं] जो स्वरूप सर्वतः अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए भाववाला है; इसलिए यह [मोहः] मोह [मम] मेरा [कश्चन नास्ति नास्ति] कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। [शुद्ध-चिद्घन-महः-निधिः अस्मि] मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजःपुंज का निधि हूँ। (भावभावक के भेद से ऐसा अनुभव करे।)

इसी प्रकार गाथा में जो 'मोह' पद है, उसे बदलकर, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन — इन सोलह पदों के भिन्न-भिन्न सोलह गाथासूत्र व्याख्यान करना, और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना।

श्लोक - ३० पर प्रवचन

कलश ३०

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३० ॥

इसका हिन्दी बनाया है न, भाई! इस कलश में, बनारसीदासजी ने।

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं। अपने रससौं भर्‌यौ अनादि टेक हौं॥
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है। सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है॥३३ ॥

यह मलिनता का परिणाम तो भ्रम का कुँआ है, आहाहा! जबकि मैं 'सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है।' 'सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है।'

भाषा कैसी की है? 'मोहकर्म मम नाहीं नाहीं भ्रमकूप है।' यह भ्रम भी मर्यादित कुँए जैसी है। आहा! आहा! परन्तु शुद्ध चेतना सिन्धु हमारा रूप है। आहाहा! यह है देखो! **इस लोक में मैं....** श्लोक का (हरिगीत) बनारसीदास ने बनाया। इस जगत में अर्थात् जगत् सिद्ध किया। **मैं स्वतः...** स्वयं अपने से ही अर्थात् कोई उपदेश मिला, इसलिए पाता हूँ – ऐसा नहीं। आहाहा! भगवान और गुरु का उपदेश मिला, इसलिए मैं स्वयं अनुभवरूप होता हूँ ऐसा नहीं। ऐसा है। देशनालब्धि मिली, इसलिए मैं होता हूँ? कि नहीं। आहाहा! स्वयं से ही, स्वयं है न? मैं तो मेरे स्वरूप से ही प्रकाशित हूँ। **एकं स्वं।**

श्रोता : यह अपने से तो ठीक है परन्तु 'ही' कहाँ से निकाला?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह 'ही' निकाला वह स्वयं से 'ही' पर से नहीं — ऐसा सिद्ध करने को निकाला (कहा)। **'स्वयं एकं स्वं'** ऐसा आया न, देखो न! एकं स्वं **अपने एक....** स्वरूप को, भिन्न रागादि को नहीं, भिन्न भाव को नहीं। आहाहा!

मेरा प्रभु! एक आत्मस्वरूप प्रभु है। आहाहा! चैतन्यबिम्ब परमात्मस्वरूप मैं आत्मस्वरूप, मैं एकरूप हूँ। भिन्न-भिन्न प्रकार जो है, उन रूप मैं नहीं हूँ। आहाहा! ऐसा कठिन लगता है। भाई! आहाहा! अरे! सुनने को मिले नहीं वे बेचारे कब विचारे और कहाँ जायें! अरे! उनकी भटकन कैसे मिटे? आहाहा! **इस लोक में मैं...** अर्थात् क्या? जगत

का अस्तित्व है, उसमें मेरा अस्तित्व स्वयं से **अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ,...** आहाहा! मैं मेरे आनन्द का सागर नाथ, चैतन्यस्वभावी भगवान को पर के अवलम्बन और अपेक्षा बिना मेरे स्वभाव को मैं एकरूप अनुभव करता हूँ। मैं आनन्द हूँ, ज्ञान हूँ, शान्ति हूँ, स्वच्छ हूँ, प्रभु हूँ। आहाहा! यह जीव अधिकार है न? इसलिए जीव का स्वरूप पृथक् करके जीवपना यह है – ऐसा बतलाया है। आहा! इसलिए राग को अजीव कहा, जड़ कहा; चैतन्यस्वरूप नहीं, इसलिए जड़। आहाहा! क्योंकि राग है वह — चाहे तो भगवान की भक्ति हो या गुरु की भक्ति हो परन्तु राग है, वह अचेतन है। राग में स्वयं को जानने की ताकत नहीं (क्या कहा)? राग में स्वयं को जानने की ताकत नहीं; राग पर द्वारा-आत्मा द्वारा जानने में आता है, इसलिए वह राग अचेतन और जड़ है। आहाहा! कहो ईश्वरलालजी! ऐसी ईश्वरता है। आहाहा!

अब लोग बेचारे क्या करें? विरोध करें। भगवान! तत्त्व का विरोध करते हैं, प्रभु! तेरा तत्त्व ही ऐसा है। भाई! तुझे एकान्त लगे कि यह तो व्रत, नियम, तप, और भक्ति के भाव को राग कहकर उड़ा देते हैं। आहाहा! भाई! तुझे पता नहीं। तेरा चैतन्य भगवान अकेले ज्ञान-दर्शन आनन्द के स्वभाव से भरपूर प्रभु है, उसके उपयोग में राग कहाँ से आवे? (नहीं आवे)।

त्रिकाली उपयोगस्वरूप... उपयोग में उपयोग है। संवर (अधिकार) में आया है न, भाई! आहाहा! अर्थात्? निर्मल उपयोग परिणति में आत्मा है; राग में आत्मा नहीं। आहाहा! गजब शैली! दिगम्बर सन्तों की बातें परमात्मा को जाहिर / प्रसिद्ध करके पुकार करती है। ढ़िढ़ोरा पीटकर पुकारती है। दुनिया मानो या न मानो, समाज में संगठन रहो या न रहो! ये नागा बादशाह से आघा... आहाहा! आहा! दिगम्बर सन्त पुकार करते हैं ऐसे। आहाहा!

यह स्वयं से ही 'एक' और 'स्वं' एक, एक रूप में भेद भी नहीं; राग तो नहीं परन्तु पर्याय का भेद भी नहीं ऐसा एक स्वं, एक स्वं, एक स्वं, एक हूँ, एक स्वयं, एक स्वयं, आहाहा! है न? एक अपना... एक और स्वं का अर्थ आत्मस्वरूप, एकरूप स्वं। एक अर्थात् अपना एक और स्वं अर्थात् अपना स्वरूप 'आत्मस्वरूप'। आहाहा! भाग्यशाली को कान में पड़े, ऐसी बात है बापू! रामजीभाई कहते हैं न... आहाहा! ऐसी बात है, भाई!

श्रोता : अब भाग्य लेकर आये हैं....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो इसे करना है न?

श्रोता : यह तो करना तो स्वयं को ही होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा था यहाँ, स्वयं एकं एवं करता है, बताया इसलिए करता है – ऐसा नहीं है। आहाहा!

श्रोता : गुरु तो बताकर निर्लिप्त रहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा क्या करे? वस्तु तो यह है। गति तो इसे करनी है न? चलना तो इसे है न? दूसरा मार्ग बतावे कि देखो, यह मार्ग है, यहाँ से जा। इन दो बाड़ के बीच से, परन्तु चलना तो इसे है न? कोई साथ आयेगा? और साथ आवे तो भी चलना तो स्वयं को है न? आहाहा!

मैं, 'कहे विचच्छन पुरुष', विचच्छन अर्थात् ज्ञानी, उसे विचच्छन कहते हैं। जगत के चतुर, वे सब पागल जैसे हैं।

श्रोता : पागल ही हैं, पागल जैसे ऐसा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जगत के सब वकील और... यह बड़े वकील थे, तीस वर्ष पहले दो सौ रुपये लेते थे, बड़े पागल — एल.एल.बी. वाले बड़े पूंछडे लगाये हों वकालात के... हजार-हजार रुपये दिन के लेते हों... बड़े पागल हैं। आहाहा!

यहाँ तो विचच्छन उसे कहते हैं कि जिसने राग से भिन्न पड़कर, मेरा चैतन्यस्वरूप शुद्ध है — ऐसा अनुभव हुआ, उसे विचच्छन और चतुर कहते हैं, बाकी सब पागल हैं। आहाहा! जिसके फल में चार गति मिले-भटकना (मिले), वह क्या चीज है, बापू? आहाहा! अरे...रे! भवभ्रमण करता कहाँ भव जाये... अरे...रे! एक सबेरे उस दिशा को जाते हैं और वहाँ रखते हैं, क्या कहलाता है? प्रकाश, हों! बैटरी रखते हैं, वहाँ एकदम छोटे जीव ऐसे आते हैं छोटे जीव, जंगल में। बेचारे चौइन्द्रिय लगते हैं। ऐसा छोटा शरीर, ऐसे हों ऐसे हों, उन्हें कुछ पता नहीं। कहाँ क्या करते हैं? कौन हैं यह? अरे! कब मनुष्य हो, इन्हें ऐसा सुनने कब मिले और सुनने के बाद भी भेद कब करे? आहाहा! बहुत दुर्लभ वस्तु, भाई! आहाहा!

इस लोक में मैं सम्यग्दृष्टि जीव, धर्मी जीव ऐसा अपने को मानता है कि मैं स्वयं से ही एक 'स्वं' एक **'स्वं' आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ...** पर के कारण नहीं, उपदेश के कारण नहीं, राग के कारण नहीं — ऐसा कहते हैं। मेरा नाथ भगवान चैतन्यस्वरूपी, उसे मैं एकरूप हूँ, उसे मैं अनुभव करता हूँ। आहाहा! इसका नाम विचच्छन और सम्यग्दृष्टि! आहाहा!

'सर्वतः स्व-रस-निर्भर-भावं' जो स्वरूप... मेरा। **सर्वतः...** चारों ओर से **अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए....** आहाहा! मेरा प्रभु तो शुद्ध चैतन्यसिन्धु - सागर, बड़ा सागर, आहाहा! ज्ञानादि गुणों का तो गोदाम,... मेरा नाथ तो ज्ञानादि गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर (है)। आहाहा! ऐसा जो स्वरूप **सर्वतः अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से....** अर्थात् स्वभाव से यहाँ बात है। स्वभाव पूर्ण भरपूर भाववाला है। परिणमन शब्द अर्थात् पारिणामिक स्वभाव से भरपूर परिपूर्ण है। परिणमन अर्थात् पर्याय नहीं लेना। समझ में आया? आहाहा!

अरे! समय चला जा रहा है। बिजली की चमक सी आयु पूर्ण हो जायेगी, भाई! यह चमक चली जायेगी। आहाहा! उसमें यह मोती पिरो ले। आहाहा! बिजली की चमक में मोती पिरो ले तो पिरो ले। आहाहा! मेरा नाथ चैतन्यस्वरूप एक स्वरूप से विराजमान है। **निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए भाववाला है;....** मैं ज्ञान-दर्शन आनन्द के भाव से पूर्ण भरपूर हूँ। विकार तो नहीं परन्तु अल्पज्ञपना भी नहीं। आहाहा!

इसलिए यह मोह मेरा.... कश्चन अस्ति-नास्ति कुछ भी नहीं लगता.... आहाहा! यह शुभाशुभ रागादिभाव... यह मोहभाव क्योंकि यह परतरफ की सावधानीवाला भाव (है), मेरे स्वरूप के सावधानी के भाव से यह भिन्न भाव है। **इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है।** आहाहा! चैतन्य के स्वभाव से भरपूर मैं, उसे यह राग जो पर तरफ का मोहभाव, वह मेरा कुछ नहीं। **नास्ति, नास्ति कश्चन** अर्थात् कुछ भी नहीं लगता। **इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है।** नास्ति, नास्ति दो बार है न? कुछ भी नहीं कोई भी नहीं... मेरे और इसके... आहाहा! आहाहा!

तब अस्ति क्या है अब? मेरा अस्तित्व मेरा प्रभु, उसका अस्तित्व क्या है? इसकी

(मोह की) तो मुझमें नास्ति है; अस्तित्वरूप मेरी अस्ति चीज प्रभु है, वह क्या है? **'शुद्ध-चिद्घन-महः-निधिः अस्मि'** आहाहा! **मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप....** है? **'शुद्ध-चिद्घन' समूह... 'महः-निधिः' तेजः पुंज का निधि हूँ।** महः अर्थात् तेज। आहाहा! मैं तो शुद्ध चिद्घन चैतन्य का समूह, चैतन्य का समूह भगवान तो मैं हूँ। आहाहा! एक बात। तेजपुंज की निधि। महः-निधि, महः अर्थात् तेज; निधि अर्थात् समुद्र; अस्मि अर्थात् मैं हूँ। आहाहा! ऐसी बात है। भावकभाव के भेद द्वारा ऐसा अनुभवन करे, तब उसे सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहने में आता है, बापू! आहाहा! समझ में आया? विशेष कहा जायेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १०५ श्लोक ३०, गाथा ३७ दिनाङ्क ११-१०-१९७८ बुधवार
आसोज शुक्ल १०, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, कलश ३० का विस्तार है न, ३० में ऐसा आया कि इस जगत में मैं एक आत्मा अपने सर्वस्व स्वभाव के रूप से भरपूर पदार्थ हूँ। जीव का स्वरूप है न, अन्तिम अधिकार है न। **इस लोक में मैं स्वतः ही अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ,....** मेरे अनुभव के लिये मुझे किसी उपदेश की जरूरत नहीं है तथा अपने अनुभव के लिये किसी राग की मन्दता के विकल्प की भी जरूरत नहीं है। आहाहा!

श्रोता : तो किसकी जरूरत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरूरत, अपने स्वभाव सन्मुख होकर अनुभव करना वह, आहाहा! ऐसा है। जन्म-मरण रहित होने का उपाय यह है। बाकी तो जन्म-मरण करके अनन्त काल से दुःखी है। लोग कहते हैं न कि यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम हों तो अन्दर आत्मा का कल्याण हो। यह बात एकदम मिथ्या बात है। आहाहा!

स्वयं से अनुभव करता हूँ, स्वरूप सर्वतः निजरसरूप चैतन्य के भाव से पूर्ण भरा हुआ हूँ। मैं चैतन्यलोक हूँ।

श्रोता : इसमें परिणमन है अर्थात्... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभावभाव। कल कहा था – पारिणामिक स्वभावभाव। परिणमन (अर्थात्) पर्याय नहीं। चैतन्य के इस स्वभावभाव से भरा हुआ भगवान मैं हूँ। आहाहा! चैतन्यलोक! कल दोपहर में आया था न ? चैतन्यलोक! जिसमें अनन्त गुण... 'लोकयन्ते' (अर्थात्) ज्ञात हों, ऐसा यह चैतन्यलोक है। आहाहा! इस चैतन्यलोक में – अनुभव में जाने पर मेरा कोई भी राग–मोह लगता नहीं है। मोह में आया है न कल ? परतरफ की सावधानी का जो विकल्प है, उसे और मेरे स्वभाव को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूह की निधि हूँ, चैतन्यलोक के स्वभाव का मैं तो सागर / निधि / सिन्धु हूँ।

श्रोता : यह तो त्रिकाली स्वरूप की बात आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु यही है परन्तु अनुभव करती है, वह पर्याय, किन्तु है ऐसा। आहाहा! चैतन्यलोक परमात्मस्वरूप मेरा; उसे मैं पर के सम्बन्ध बिना, मोह के सम्बन्ध बिना, मेरे स्वरूप का मैं अनुभव करता हूँ। इसका नाम आत्मा का ज्ञान और आत्मदर्शन कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात है। जो आज दशहरा है न ? राम, लक्ष्मण ने, राम ने रावण का सिर तोड़ा था और विजयादशमी है। भरत चक्रवर्ती ने आज विजय विजय की थी। आहाहा! बाहर की, छह खण्ड की यह विजय है और आसोज महीने का विजय माह कहलाता है। विजयादशमी, एक तो रावण को मारा आज, वे महापुरुष थे, तो भी मारा।

श्रोता : मारा वे परिणाम कैसे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मारा, वे दुःखदायक परिणाम थे परन्तु दूसरा कोई उपाय नहीं। उस भूमिका– वासुदेव की बलदेव की भूमिका... भाव में अन्दर खेद हुआ है। आहाहा! रावण को मारा, रावण की देह छूट गयी, वह यह दिवस है। फिर भी उसकी (रानी) मन्दोदरी के पास दोनों गये।

श्रोता : मारने के बाद गये न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मारने के बाद गये... परन्तु यह तो मेरी पदवी के योग्य था, वह हुआ, बा! माता! मैं किसी का वैरी नहीं, आहाहा! आहाहा! देखो तो!! उत्तम पुरुष,

सम्यग्दृष्टि हैं... मैं तो आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ। अन्दर यह राग आया, उसे और मेरे कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु आया। आहाहा! और द्वेष आया है, उसे और मेरे स्वरूप को कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु अस्थिरता से यह काम हो गया, माता! आहाहा! रावण की स्त्री से कहते हैं बा! माफ करना, मुझसे – हमसे यह हुआ। हम यह पदवीधर, इसलिए यह हुआ, दूसरा क्या हो? आहाहा! उसके शमशान में साथ गये। आहाहा! यह कोई ढोंग किया होगा? उन्हें पदवी प्रमाण वह द्वेष आ गया और वह स्थिति बन गयी। उन्हें वासुदेव-बलदेव की पदवी है... आहाहा! साथ गये, ऐसे जलाते हैं; तालाब की पाल पर राम और लक्ष्मण बैठते हैं। आहाहा! वे पुरुषोत्तम पुरुष राम, उन्हें यह देखते हैं कि आहाहा! यह स्थिति! अन्दर जो आया द्वेष, उसे और मेरे कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु वह अस्थिरता से आया। आहाहा! वह यह दिन है, आहाहा! उस लंका में रामचन्द्रजी ऐसे बैठे होंगे, तालाब की पाल पर... आहाहा!

इसी तरह भरत चक्रवर्ती को आज छह खण्ड को साधने का अन्तिम दिन था। छह खण्ड साधकर आज पूर्ण हुआ। परन्तु वे भी सम्यग्दृष्टि थे। आहाहा! छह खण्ड को साधने का विकल्प भी आया है, परन्तु मेरे स्वरूप को और उसे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! आहाहा! ऐसा जानकर राग से भिन्न होकर, मोह से भिन्न होकर, भगवान आत्मा के स्वरूप को – चैतन्यलोक महाप्रभु के स्वरूप को अनुभव करते हैं। आहाहा! **इस प्रकार गाथा में मोह पद है, उसे बदलकर राग शब्द लेना।** मोह है न, उसके बदले राग... राग को और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। राग को और मुझे कोई नाता नहीं है, मेरी जाति का नहीं है। आहाहा! मैं चैतन्यलोक-आनन्दस्वभाव से भरपूर लोक, उसे और राग को कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरी जाति का नहीं, इसलिए मेरा नाता नहीं। आहाहा! मेरी जाति का नहीं, इसलिए मुझे उसका सम्बन्ध नहीं। आहाहा! उसके सम्बन्ध से रहित मेरी चीज परिपूर्ण भगवान है। जीवस्वरूप चैतन्य लोक हूँ। आहाहा! मैं उसे अनुभव करता हूँ। इस ज्ञानस्वरूपी भगवान को और राग को कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिए भगवान आत्मा राग के रसरहित और चैतन्य के रसवाला प्रभु... आहाहा! उसे मैं अनुभव करता हूँ। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को ऐसा अनुभव होता है। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म, कठिन (है), बापू!

यह तो लोग कहते हैं – लोक की सेवा करो, भक्ति करो, पूजा करो, व्रत पालो, यह सब तो राग की क्रिया, प्रभु! राग के कारण आत्मा का अनुभव हो, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा!

यह **द्वेष...** द्वेष आया, जरा रावण को मारने का... भरत चक्रवर्ती को छह खण्ड साधने का.. परन्तु आहा! उस द्वेष को और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा भगवान आत्मा की जाति सिद्धस्वरूप की जाति को और इस द्वेष के अंश को कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! मैं तो मेरे स्वभाव से भरपूर भगवान को जानता और अनुभव करता हूँ। आहाहा! इसका नाम आत्मज्ञान और आत्मदर्शन कहा जाता है। आहाहा!

फिर उसका भेद **क्रोध...** क्रोध पर के प्रति जरा अरुचि आ जाये, उसे और मेरे चैतन्य शुद्धस्वरूप को कोई सम्बन्ध नहीं है, वह मेरी जाति का नहीं है। वह कजात का क्रोध है। आहाहा! मेरी जाति तो आनन्द और ज्ञान से भरपूर प्रभु, उसकी जाति को और क्रोध को कोई सम्बन्ध नहीं है – ऐसा कहकर अपने चैतन्यस्वरूप से भरपूर भगवान को पर्याय में सन्मुख होकर अनुभव करता हूँ, वह मैं हूँ, वह मैं आत्मा हूँ। आहाहा!

इसी प्रकार **मान...** जरा मान का भाव आवे, कहे कि मेरी जाति से भिन्न जाति, कजाति है। आहाहा! वह चाण्डालिन का पुत्र है, वह विभाव का पुत्र है, वह मेरा स्वभाव नहीं। मेरे भगवान को तो मानरहित के सम्बन्धवाला मैं जानता है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, हीराभाई! ऐसी बात है। आहाहा! **मान।**

माया... आहाहा! माया, जरा कपट की पर्याय, वह मेरे स्वभाव की जाति नहीं है, प्रभु! मैं तो भगवान की जाति का, भगवान की बिरादरी का हूँ। आहाहा! मेरा कुल तो भगवान की बिरादरी का है। आहाहा! समझ में आया? मेरा कुल तो भगवान की बिरादरी और जाति का है। उसमें यह माया मेरी नहीं, मुझे और इसके कोई सम्बन्ध नहीं। आहाहा! मैं तो मायारहित चैतन्यस्वभाव से भरपूर भगवान को अनुभव करता हूँ। आहा! कहो, छोटाभाई! यह मोटाभाई की बात है! यह शान्ति... शान्ति... शान्ति आत्मा... आहाहा! मेरा नाथ तो शान्ति का सागर है। अकषायस्वभाव से शान्ति... शान्ति... शान्ति... और वह मेरा स्वभाव है। यह माया तो अशान्ति (है)। आहाहा! मेरी शान्ति की जाति की यह नहीं है। बापू! यह सब तो धीरजवान का काम है।

धर्म कोई बाहर की प्रवृत्ति करे, व्रत पाले और भक्ति करे तथा पाँच महाव्रत के परिणाम, वे कोई धर्म नहीं है। आहाहा! यहाँ तो इस प्रकार का **लोभ** — महाव्रतादि की इच्छा आयी कि अरे... ! आहाहा! ऐसी इच्छा को तथा महाव्रत के परिणाम को और मेरे स्वभाव को कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

कल दोपहर को तो आया नहीं था ? चैतन्यलोक! जिसमें अनन्त.. अनन्त... बादशाह भगवान, उसमें अनन्त गुण की प्रजा अन्दर पड़ी है। आहाहा! ऐसा मेरा चैतन्यलोक असंख्य प्रदेशी मेरा स्वदेश, आहाहा! उसमें मेरे अनन्त ज्ञान आदि वीतरागी स्वभाव से भरपूर मैं हूँ। आहाहा! और उस मेरी सम्पदा में न्यूनता नहीं है। आहाहा! तथा प्रभु में - सम्पदा में रमणीयता भरी है। मेरे प्रभु में तो रमणीयता भरी है। आनन्द और शान्ति में रमण हो, ऐसी रमणता भरी है। आहाहा! उसमें से निकलना मुझे कैसे रुचे ? कहते हैं। आहाहा! शशिभाई! आहा... मेरा नाथ आनन्द और शान्ति से भरपूर प्रभु मैं मेरी रमणता... यह लोभ की रमणता मेरी नहीं। आहाहा! समझ में आया ? उस रमणता में से निकलना रुचता नहीं परन्तु पुरुषार्थ की मन्दता से जरा राग-लोभ आ जाता है। मेरे और उसके कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

इसी तरह **कर्म....** आठ **कर्म** को और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा! जीव को कर्म न हो, तब किसे जड़ को होंगे ? अरे! सुन न भाई! आठ कर्म हैं, वे तो अजीवतत्त्व, जड़तत्त्व हैं, प्रभु! वह तो जड़ लोक है। आहाहा! एक एक परमाणु में अनन्त-अनन्त गुणों का वह जड़ लोक है। आहाहा! ऐसे अनन्त परमाणुओं का पिण्ड जो आठ कर्म, वह जड़ लोक मेरा नहीं है; मेरा तो चैतन्य लोक है! आहा! मेरे भगवान ने तो आनन्द आदि, शान्ति आदि स्वभाव के सागर भरे हैं। आहाहा! ऐसा वीतरागस्वरूप परमात्मा... आहाहा! यह दया, दान, व्रत का विकल्प उठे, वह भी कर्म की जाति है, मेरी जाति नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भाई! आत्मधर्म, सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा ने कहा वह बापू! कोई अलौकिक है प्रभु! आहाहा! उसमें आज विजयदशमी का दिन है। आहाहा! आत्मा की विजय कर, प्रभु! आज। आहाहा!

श्रोता : आपका आशीर्वाद चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! उसे काल और राग, कर्म कुछ बाधक नहीं, प्रभु! आहाहा! यह कर्म मेरी बिरादरी नहीं, जाति नहीं, यह तो अजीव है; मैं तो चैतन्य लोक भगवान हूँ – ऐसा अनुभव कर, प्रभु! तुझे आत्मा में आनन्द आयेगा। आहाहा! तुझे उसमें से सिद्ध की बानगी मिलेगी। आहाहा! भगवान आत्मा सिद्धस्वरूपी प्रभु, वह मैं हूँ – ऐसा जानते-अनुभव करते हुए सिद्ध की बानगी, आनन्द की बानगी मिलेगी। आहाहा!

भाई! स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ, अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ है भाई! क्योंकि अनन्त गुणों को स्वीकार करना और राग की विकल्पदशा कर्म की, सम्बन्ध तो भी नहीं स्वीकार करना, आठ कर्म का सम्बन्ध है तो भी नहीं स्वीकार करना और स्वभाव अनन्त गुण है, उसे स्वीकार करना, यह बापू। आहाहा! ऐसा मैं आत्मा (हूँ), मुझे और कर्म को कोई सम्बन्ध नहीं है।

मन... यहाँ यह मन है, आठ पंखुड़ी के अनन्त परमाणुओं से बना हुआ, वह जड़ है, उसे और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। अरे! अन्दर मानसिक भावमन जो संकल्प-विकल्प, उसे और मेरे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसे धर्मी सम्यग्दृष्टि को ऐसा अनुभव होता है। आहाहा! समझ में आया? **मन...** मन जो है, उसे और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा स्वभाव का सम्बन्ध है, उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है – ऐसा धर्मी ज्ञानी जीव अपने आत्मस्वरूप को सम्पूर्ण पर के सम्बन्धरहित इस आत्मा का अनुभव करे वह आत्मा, उसे आत्मा कहते हैं, उसे जीवतत्त्व कहते हैं। आहाहा!

इसी तरह **वचन...** यह वचन है, उसके और मेरे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो जड़ है। आहाहा! यह वाणी है, वह मैं बोल सकता हूँ... प्रभु! यह तुझमें नहीं है, भाई! आहाहा! यह भाषावर्गणा में से उठता है वचन — भाषा, उसको और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा! मैं बोलता हूँ – ऐसा है ही नहीं। आहाहा! कौन बोले प्रभु? बोले वह दूसरा, वह भगवान (आत्मा) नहीं। आहाहा! उपदेश में विकल्प आवे परन्तु मुझे और उसके कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि, जीवतत्त्व को इस प्रकार जानता और अनुभव करता है। आहाहा! वाणी का प्रयोग हो, वह मेरा नहीं। अब यह लोग कहते हैं – तो फिर उपदेश किसलिए देते हो? आहाहा! कौन करे, प्रभु? सुन, भाई!

श्रोता : यह बड़ा प्रश्न है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम कहते हो कि परद्रव्य का कर सकता नहीं तो फिर यह मन्दिर और यह उपदेश क्यों करते हो ? प्रभु ! सुन भाई ! इस वाणी को कौन करे ? नाथ ! तुझे पता नहीं। ज्ञानस्वरूप, वाणी से भिन्न गुप्त है। आहाहा !

अमृतचन्द्राचार्य ने नहीं कहा ? कि वाणी से तो मेरा चैतन्यस्वरूप भिन्न है, गुप्त है; इसीलिए मैंने यह टीका की, ऐसा मत मानना, नाथ ! आहाहा ! आहाहा ! और मेरी टीका से तुम्हें समझ में आयेगा, ऐसा मत मानना प्रभु ! आहा !

श्रोता : टीका पुद्गल ने की है...

पूज्य गुरुदेवश्री : (टीका) पुद्गल ने की है, भाई ! आहाहा ! उस समय जो शब्द की पर्याय का – परमाणु के उत्पन्न का काल था, भाई ! इस वचन में परमाणु–जड़ भाषा में उस समय वचनरूप परिणमित होने का जन्मक्षण था; इसलिए वह भाषा है, प्रभु ! उसे और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा ! गले उतरना (कठिन पड़ता है)। बाहर के व्यवहार की प्रवृत्ति में पड़े और मनवावे धर्म ! आहाहा ! कठिन बातें हैं, भाई ! आहाहा !

यह महीना भी विजयदशमी है, आसोज माह का नाम विजया माह है, विजया माह है शास्त्र भाषा से। आहाहा ! कहते हैं कि कर्म को और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा ! तब जड़ के साथ सम्बन्ध है कर्म को ? यह कर्म जड़ का ही स्वरूप है। आहाहा ! अभी की प्रवृत्ति जगत की इतना अधिक फेरफार है। आहाहा ! साधु और बड़े पण्डित ऐसी ही बातें किया करते हैं – ऐसा करो, ऐसा करो, व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो... आहाहा ! साधु को दान दो – यह तो सब, प्रभु ! राग की क्रिया है, भाई ! आहाहा ! इसे और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए कर्म का भावक, उससे हुआ भाव; वह मुझे और उसके कोई सम्बन्ध नहीं है। सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं। उसे सन्त जगत को आड़तिया होकर, आहाहा ! जगत को जाहिर करते हैं, प्रभु ! एक बार सुन न प्रभु ! आहाहा ! तेरी प्रभुता ! वचन से बोला जाये उसे कर्म (के साथ) सम्बन्ध है, वह तेरी प्रभुता नहीं; तेरी प्रभुता तो कर्म के सम्बन्धरहित हूँ, वह तेरी प्रभुता है।

आहाहा! कर्म के सम्बन्ध में हूँ, वह तो पामरता है। आहाहा! इस कर्म के सम्बन्धरहित तेरा तत्त्व है, वह प्रभुत्वतत्त्व है। आहाहा! अभी (प्ररूपणा में) बदलाव बहुत हो गया है। क्या हो? आहाहा!

काय... इस काया को और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तो जड़ की दशा, यह हिले, रहे यह सब जड़ की क्रिया है। मैं इसे हिलाऊँ, यह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! 'काया की विसारी माया, स्वरूप में समाये ऐसे, निर्ग्रन्थ का पन्थ भव अन्त का उपाय है' आहाहा! काया-परमाणु-मिट्टी-धूल इसे सुन्दर लगती है, लगे कि यह सुन्दर, वह मिट्टी है, प्रभु! आहाहा! वह जड़ है, अजीव है, वह अजीवतत्त्व है। आहाहा! उसे और मेरे जीवतत्त्व को कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! शास्त्र में तो ऐसा आता है कि जीव को पाँच शरीर हैं - औदारिक, तैजस, कार्मण तीन शरीर है। रास्ते में (विग्रहगति में) कार्मण और तैजस दो हैं और तीन हैं नारकी को - तैजस, कार्मण, वैक्रिय तीन हैं। कोई मुनि आदि किसी को तो फिर आहारक और - ये होते हैं। आहारक शरीर होता है। आत्मा को यह शरीर होता है, या जड़ को? कि यह शरीर ही आत्मा को नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! लोगों को फेरफार लगता है (किन्तु) वस्तुस्थिति यह है।

शरीर की क्रिया जो क्षण-क्षण में यह हिले-चले, यह होंठ हिले - यह सब जड़ की पर्याय है। आत्मा उसे नहीं करता और आत्मा को तथा उसको कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह देह जो ऐसी हिलती है, कहते हैं कि इस आत्मा को और हिलने की क्रिया को कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसे देह का पैर जो ऐसे फिरता है, उसे और जमीन को भी कोई सम्बन्ध नहीं है। जमीन परद्रव्य है, यह शरीर परवस्तु है। जो यह पैर नीचे जमीन को छूता है - शरीर? नहीं। आहाहा! ऐसी बात है - कहते हैं।

श्रोता : पाँच हजार धनुष ऊँचे रहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह फिर अलग, उसके साथ क्या सम्बन्ध है? यहाँ तो हिलने पर भी छूता नहीं, यह बात करनी है, उसकी बात है। वह बात कुछ और यह बात कुछ है। है? समझ में आया? आहाहा! पाँच सौ धनुष ऊँचे हैं तो भी वहाँ आकाश को छूते नहीं। यहाँ सम्बन्ध है - ऊँचे हैं, इसलिए छूते नहीं ऐसा सिद्ध हो वैसा है? नहीं, नहीं। सब

फेरफार बहुत है, सब ख्याल में है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! शरीर ऐसा चलता है पैर, यह जमीन को स्पर्शता नहीं – ऐसा कहना है। जमीन को स्पर्श कर पैर चलता है – ऐसा नहीं है। वह पैर अपने कारण के–करण के सम्बन्ध से ऐसा चलता है। अपने आधार से चलता है। इस शरीर को और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है – ऐसा कहते हैं। जबकि उसके साथ सम्बन्ध नहीं है, आहाहा! यहाँ तो ऐसा कहना है। भगवान आत्मा चैतन्यरस आनन्दस्वभाव से भरपूर मैं, मुझे और शरीर को कोई सम्बन्ध नहीं है। तब कितने ही लोग ऐसा कहते हैं, ठीक! शरीर की क्रिया चाहे जिस प्रकार हम करें और वह शरीर की है – ऐसा मानें... कर सकता ही नहीं, फिर प्रश्न कहाँ है? आहाहा! शरीर जड़ है, अजीव है, पुद्गल की पर्यायवाला तत्त्व है। उसे जीव की पर्याय के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है, द्रव्य–गुण के साथ तो है नहीं। आहाहा! है भाई! वस्तु ऐसी है। आहाहा! शरीर को कोई सम्बन्ध नहीं।

श्रोत्र... इस श्रोत्र इन्द्रिय को और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा! कान, अन्दर वह तो जड़ की पर्याय है, वह तो मिट्टी–धूल की है, उसे और मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! श्रोत्र इन्द्रिय से सुनता है और जानता है न? नहीं; वह तो ज्ञान से जानता है, श्रोत्र इन्द्रिय से नहीं और वह भी शब्द आये, इसलिए शब्द से जानता है – ऐसा नहीं है। आहाहा! शब्द को और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर शब्द आये, इसलिए जाना है – ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसा है उथल–पुथल! जगत से अलग बात है, भाई! वीतराग परमेश्वर जिनेश्वर देव का पन्थ तो कोई अलौकिक है। आहाहा!

श्रोत – यह कहते हैं न कि यह सुनने का मिला न, इसलिए इतने ऊँचे आये न, निमित्त है और एकेन्द्रिय में से... परन्तु वह शब्द सुनने की क्रिया (होती है) परन्तु वह कान ही जीव का नहीं, फिर मिला कहाँ से यह कहा? एकेन्द्रिय में नहीं था और यहाँ मिला, इतना साधन तो ऊँचा आया न? साधन नहीं, भाई! आहाहा! कठिन काम है, यह इन्द्रिय ही आत्मा नहीं। आहाहा!

चक्षु... आँख को और आत्मा को कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। वह तो मिट्टी–धूल अजीव। आँख अजीव की–मिट्टी की पर्याय है। प्रभु! तू अरूपी आत्मा तो उससे भिन्न है। उसे और आँख को कोई सम्बन्ध नहीं है। आँख द्वारा ज्ञात होता है न? नहीं; जाननेवाला

तो ज्ञान द्वारा जानता है। आहाहा! वह चक्षु आत्मा की नहीं, उसे और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो जड़, मिट्टी, पुद्गल है।

स्पर्श... शरीर का स्पर्श, उसे और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! **इन सोलह पदों के भिन्न-भिन्न सोलह गाथासूत्र व्याख्यान करना,....** व्याख्यान करना अर्थात् स्पष्ट करना - ऐसा कहते हैं। आहाहा! **और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना।** टीका में तो जयसेनाचार्य ने तो ऐसा लिया है कि इससे असंख्य प्रकार हैं, असंख्य प्रकार के विभाव जो विकल्प हैं - अनेक प्रकार के; उन्हें और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं हैं। यह चैतन्य से भरपूर भगवान, ऐसे जड़ का कोई भी सम्बन्ध में कुछ भी नहीं आता। आहाहा!

गाथा ३७

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह –

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति।।३७।।

नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति।।

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तराणि स्वरसविजृम्भितानिवारित-प्रसरविश्वघस्मरप्रचण्डचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यन्तमन्तर्मग्नानीवात्मनि प्रकाश-मानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतोऽन्तस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम सन्ति। किंचैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं कलयन् भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसंवलनेऽपि परिस्फुट-स्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवान्तराणि प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समस्यैवमेव स्थितत्वात्। इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः।

अब, ज्ञेयभाव के भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं —

धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूँ।
इस ज्ञान को, ज्ञायक समय के धर्मनिर्ममता कहे ।।३७।।

***गाथार्थ :** [बुध्यते] यह जाने कि [धर्मादिः] 'यह धर्म आदि द्रव्य [मम

** इस गाथा का अर्थ ऐसा भी होता है — 'धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं एक हूँ' ऐसा उपयोग ही जाने, उस उपयोग को समय के जाननेवाले धर्म प्रति निर्मम कहते हैं।*

नास्ति] मेरे कुछ भी नहीं लगते, [एकः उपयोगः एव] एक उपयोग ही [अहम्] मैं हूँ' [तं] ऐसा जानने को [समयस्य विज्ञायकाः] सिद्धान्त के अथवा स्वपर के स्वरूपरूप समय के जाननेवाले [धर्मनिर्ममत्वं] धर्मद्रव्य के प्रति निर्ममत्व [विंदंति] जानते हैं-कहते हैं।

टीका : अपने निजरस से जो प्रगट हुई है, जिसका विस्तार अनिवार है तथा समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का जिसका स्वभाव है ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति के द्वारा ग्रासीभूत किये जाने से, मानो अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों-ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों, इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव — ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः अन्तरंगतत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने के लिए असमर्थ हैं (क्योंकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते) और यहाँ स्वयमेव, (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त और परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ, इसलिए ज्ञेयज्ञायकभावमात्र से उत्पन्न परद्रव्यों के साथ परस्पर मिलन होने पर भी, प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ; क्योंकि सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्म पदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है; (अपने स्वभाव को कोई नहीं छोड़ता)। इस प्रकार ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ।

गाथा - ३७ पर प्रवचन

अब, ज्ञेयभाव के भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं — ३७ (गाथा)। वह भावकभाव की बात की, कर्म है, वह भावक है, उससे यह भाव्यभाव-यह सब दशायें, उनसे भिन्न बताया। अब, ज्ञेय, आत्मा जाननेवाला है और यह देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार, छह द्रव्य, यह सब ज्ञेय-जाननेयोग्य है। आहाहा! उन्हें, और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं

है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध व्यवहार है, बाकी वह चीज इसकी नहीं। आहाहा! आगे कहेंगे।

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति।।३७।।

धर्मास्तिकाय है। काय है, हों! धर्म अर्थात् धर्म नहीं परन्तु धर्मास्तिकाय नाम का भगवान ने एक द्रव्य देखा है, छह द्रव्य भगवान ने-धर्मास्ति-अधर्मास्ति, आकाश, काल, जीव और पुद्गल - छह द्रव्य भगवान ने देखे हैं। तो धर्म आदि, आदि अर्थात् छहों द्रव्य।

धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूँ।
इस ज्ञान को, ज्ञायक समय के धर्मनिर्ममता कहे॥३७॥

आहाहा! यह गाथार्थ, लो! धर्मी ऐसा जानता है कि यह धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्य, इनमें देव-गुरु और शास्त्र भी आ गये, वे परद्रव्य हैं। आहाहा! वे मेरे कुछ भी नहीं लगते। आहाहा! वे परजीव जो हैं, उन्हें और मुझे कुछ नहीं लगता। आहाहा! परमेश्वर सर्वज्ञदेव हैं, गुरु निर्ग्रन्थ आदि हैं, उन्हें और मेरे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! मुझे और उन्हें कुछ लगता नहीं है, एक उपयोग - एक उपयोग है, वह ही मैं हूँ। आहाहा! जानने-देखने का उपयोग, वह मैं हूँ, ऐसा जो जानना, उसे सिद्धान्त के, स्व-पर के स्वस्वरूपरूप समय के जाननेवाले धर्मात्मा मुनि, धर्मद्रव्य के प्रति निर्ममत्व कहते हैं। धर्म, अधर्म आदि छहों द्रव्य के प्रति, परजीव के प्रति, सिद्ध के प्रति, आहाहा! पंच परमेष्ठी के प्रति (निर्ममत्व कहते हैं)। वे परजीव हैं, मुझे और उनको क्या सम्बन्ध? आहाहा!

टीका : अपने निजरस से जो प्रगट हुई है,.... भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभाव के अनुभव से प्रगट हुई है। **जिसका विस्तार अनिवार है....** चैतन्यरसवाला प्रभु, उसकी शक्ति की व्यक्तता जो प्रगट हुई, आहाहा! वह प्रगट हुई है; पर के कारण नहीं, वह अपने निजरस से ही जो प्रगट हुई है। आहाहा! पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, वह निजरस से प्रगट हुआ है। किसी निमित्त के सम्बन्ध के कारण प्रगट हुआ है - ऐसा नहीं है। आहाहा! गुरु के उपदेश से प्रगट हुआ है - ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें! मेरा प्रभु

निजरस से भरपूर है और निजरस से प्रगट होता है। अपने स्वभाव की सामर्थ्य से पर्याय में प्रगट सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि होते हैं। आहाहा!

जिसका विस्तार अनिवार है.... जिसकी निजरस की शक्ति की प्रगटता.... भगवान आत्मा की... उसे जगत में कोई रोक नहीं सकता - ऐसा जिसका विस्तार है। भगवान चैतन्यस्वभाव सागर है, समुद्र है, वह पर्याय में स्वयं रस से उछलता है। आहाहा! इस चैतन्य सरोवर भगवान समुद्र की वर्तमान पर्याय में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय निजरस से विस्तरित है। आहाहा! पर के कारण नहीं। व्यवहार था, इसलिए निजरस से विस्तरित है, यह नहीं। अरेरे! ऐसी बात है। अभी तो लोगों का यही शोर है, बस! व्यवहार करो तो निश्चय होगा, व्यवहार करो तो निश्चय होगा - ऐसी प्ररूपणा, वह मिथ्या प्ररूपणा है। आहाहा! समझ में आया?

निजरस से प्रगट हुई है... भगवान आत्मा, आहाहा! क्या कहा समझ में आया? आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप का सागर, आहाहा! उसके सन्मुख होकर-आश्रय लेकर निजरस से पर्याय प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो आनन्दस्वरूप, वह निजरस से प्रगट होती है। किसी व्यवहार से होती है और निमित्त से होती है - ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

नीचे (फुटनोट में) कहा है जरा '**धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं एक हूँ' ऐसा उपयोग ही जाने, उस उपयोग को, समय के जाननेवाले धर्म प्रति निर्मम कहते हैं।** यह दूसरा अर्थ जरा बताया परन्तु वास्तव में तो आत्मा ही आत्मा को जानता है, बस! आहाहा! आत्मा उपयोग से जानता है - ऐसा भी भेद है। वह तो आत्माराम, आत्माराम, आत्मा में रमता हुआ जानता है। आहाहा!

समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का.... कहते हैं, अपने ज्ञानस्वभाव का जो रस पर्याय में प्रगट हो, उसे सर्व पदार्थों को ग्रसित करने का, जानने का उसका स्वभाव है। आहाहा! जैसे ग्रास अन्दर डूब जाता है; वैसे छह पदार्थ जो पर हैं-अनन्त तीर्थंकर, अनन्त सिद्ध, पंच परमेष्ठी, अनन्त परमाणु, अनन्त परद्रव्य - इन सबको जानने का अर्थात् ग्रसित करने का स्वभाव है। आहाहा! **जिसका स्वभाव है,....** भगवान आत्मा का - ज्ञानस्वभाव

में से प्रगट हुई पर्याय, उस पर्याय को सभी अनन्त परद्रव्यों को ग्रसित करना – जान लेना – ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा!

ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति के द्वारा.... देखा! ऐसी **प्रचण्ड....** तीव्र **चिन्मात्रशक्ति द्वारा ग्रासीभूत किये जाने से,...** ऐसी चैतन्यमात्र की शक्ति द्वारा वह तो छह द्रव्यों को ग्रासीभूत कर गया। आहाहा! ग्रासीभूत है न? ग्रास, ग्रास – चैतन्य शक्ति भगवान आत्मा के स्वभाव का विस्तार होने पर, वह सर्व जगत को ग्रासीभूत कर जाता है, ग्रासीभूत कर जाता है। आहाहा! उसने जान लिया (सब)। अब ऐसी भाषा! ऐसा सुनने को मिले नहीं और बाहर की सब बातें करे – व्रत करो, तपस्या करो, यह करो, वह करो, दान करो, देश की सेवा करो,... अरे! भगवान की सेवा करो, प्रतिमा की (सेवा करो), यह सब राग है। आहाहा!

चिन्मात्रशक्ति के द्वारा ग्रासीभूत किये जाने से, मानो अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों.... भगवान ज्ञानस्वभावी प्रभु में से प्रगट हुई ज्ञानदशा, उसे छह द्रव्य तो मानो अन्तर्मग्न हो गये हों, छह द्रव्य अन्दर आ गये हों। प्रवचनसार में आता है न? आहाहा! उसकी पर्याय का इतना स्वभाव, भगवान का–आत्मा का है कि अनन्त सिद्ध और अनन्त निगोद के जीव, या अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध, उन्हें एक समय में एक क्षण में जानने का, ग्रासीभूत कर जाने का, ग्रासीभूत करने का जिसका स्वभाव है। आहाहा! मानो कि छह द्रव्य ज्ञान में प्रविष्ट हो गये हों!! उसका ज्ञान हुआ न, ऐसा। आहाहा!

अरेरे! ऐसी चीज जगत को कठिन पड़ती है। कुन्दकुन्दाचार्य तो यह फरमाते हैं। यह उसकी टीका अमृतचन्द्राचार्य करते हैं, वे भी ऐसा फरमाते हैं। आहा! दिगम्बर सन्तों की तो यह बात है। इससे आगे-पीछे करे, वह सब विपरीतदृष्टि है। आहाहा! और व्यवहार करो, व्रत पालो, अपवास करो, भक्ति करो, मन्दिर बनाओ... आहाहा! देश की सेवा करो, दु:खी के आँसू पोंछो, इससे तुझे लाभ होगा, यह तो मिथ्यादृष्टि की प्ररूपणा है। आहाहा! कठिन लगे ऐसा है। क्या हो, भाई! प्रभु! तेरे हित की बात है न नाथ! तू पर के सम्बन्धरहित और पर के कार्य को तू करे और करावे – ऐसा मानता है, प्रभु! उसमें तेरा हित क्या आया? आहाहा!

ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों,.... आहाहा! क्या? छह द्रव्य। अपने सिवाय अनन्त निगोद के जीव, अनन्त सिद्ध के जीव, पंच परमेष्ठी और शास्त्र के, शास्त्रों के, शास्त्र जो बारह अंग लिखे-पढ़े हों, आहाहा! वे ज्ञान की पर्याय में अन्दर ग्रासीभूत हो गये हों, आहाहा! डूब गये हों, ज्ञान में अन्दर छह द्रव्य डूब गये हों, अर्थात् उनका ज्ञान हो गया हो, ऐसा। आहाहा! ऐसा है यह।

एक-एक गाथा समयसार! अर्थात् गजब बात है, भाई! साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि-तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है। आहाहा!

कहते हैं, प्रभु तू कौन है? कि मैं तो चैतन्यलोक हूँ न नाथ! उसमें - चैतन्यलोक में तो चैतन्यशक्ति भरी है न! और चैतन्यशक्ति की भरी हुई पर्याय में यह चैतन्यशक्ति प्रगट-स्वयं से प्रगटती है न! आहाहा! यह प्रगटती है, उसमें छह द्रव्य मानो डूब गये हों, ग्रासीभूत-ग्रास कर गये हों। आहाहा! ऐसा है। निगल गया हो, निगल-निगल गया हो मानो। अर्थात्? ग्रास तो छोटा और ऐसा मुँह तो बड़ा है; वैसे ज्ञान की पर्याय तो महा बड़ी है, उसमें छह द्रव्यों का तो कहीं ग्रास कर गया, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भगवान चैतन्यरस का सागर, उस चैतन्य की पर्याय में उछलता है, प्रगट होता है। यह उसके द्रव्य-गुण और पर्याय तीन हो गये। उस पर्याय में मानो छह द्रव्य निगल जाता है, जान लेता है, डूब गये हैं, ग्रासीभूत कर गया है - ऐसा उसका - पर्याय का स्वरूप है। भाई! कठिन पड़े!

इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान.... है। कौन? **यह धर्म,....** धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है। जड़-चैतन्य को गति करने पर उन्हें निमित्तरूप हो, ऐसा एक तत्त्व है। उससे गति होती है - ऐसा नहीं। आहाहा! वैसे निमित्त को धर्मास्तिकायवत् कहा है। यहाँ जीव और जड़ (परमाणु) गति करे, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त है। वैसे ही प्रत्येक पर्याय स्वयं से परिणमे, तब उसे निमित्त दूसरी चीज को कहा परन्तु परिणमती है, वह निमित्त से परिणमती है - ऐसा नहीं है। यह निमित्त और व्यवहार के बड़े झगड़े हैं। यह निमित्त और उपादान, निश्चय और व्यवहार, उसमें क्रमबद्ध एक नहीं डाला... चार कारण सर्वत्र वर्णन करते हैं परन्तु यह क्रमबद्ध साथ में डालना चाहिए न? यहाँ से विरुद्ध चार

या चार लेते हैं परन्तु क्रमबद्ध नहीं और क्रमबद्ध का निर्णय करने जाये तो सारा फेरफार उड़ जाता है। आहाहा!

द्रव्य की जिस समय जो पर्याय अपने से होने योग्य हो, वह होती है। वह उसका जन्मक्षण है। दूसरे निमित्त के कारण से वह होती है - ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं है। निमित्त हो, परन्तु उससे होती है। उसमें हुई, उस समय की वह वह द्रव्य की, उस ज्ञेय का ऐसा स्वभाव, ऐसा वर्णन किया है। प्रवचनसार में (किया है) जितने ज्ञेय हैं, उनका ऐसा स्वभाव है कि जिस समय में जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह उसका जन्म का क्षण है, उत्पत्ति का वह काल है। उस उत्पत्ति के काल में भले निमित्त हो परन्तु निमित्त से उत्पत्ति काल हुआ है - ऐसा नहीं है। आहाहा! यह बड़ा झगड़ा! अभी हस्तिनापुर में यहाँ के विरोध में शिक्षण शिविर चलायेंगे। उपादान में निमित्त हो तो होता है, निश्चय भी व्यवहार होवे तो होता है (ऐसा वे कहते हैं) अरे! भगवान सुन न भाई! ऐसी तेरी बातें साधारण... आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, वे छह द्रव्य उस जानने के स्वभाव में तदाकार हो गये हों... ज्ञानरूप तदाकार हों, वस्तु कोई आती नहीं यहाँ। आवे कौन? **धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय,** वह जगत में एक द्रव्य है, भगवान ने देखा हुआ (द्रव्य है) गति करते हुए पदार्थ स्थिर हो, तब अरूपी अधर्मास्तिकाय है, वह निमित्त है। **आकाश...** (अखण्ड एक)। **काल** असंख्य हैं। **पुद्गल** अनन्त हैं **और अन्य जीव...** अन्य जीव में स्त्री, कुटुम्ब और परिवार भी आये और देव-गुरु तथा शास्त्र भी आये। शास्त्र अजीव में जाते हैं, देव-गुरु जीव में जाते हैं। आहाहा! देव-गुरु-धर्म (शास्त्र) से भी लाभ न हो, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहाहा!

तेरा भगवान जीवस्वभाव अन्दर उछलता है, वहाँ तुझे पर का क्या काम है - ऐसा कहते हैं। **ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं;...** वे सभी परद्रव्य हैं। अनन्त सिद्ध परद्रव्य हैं, पंच परमेष्ठी परद्रव्य हैं। मेरे भगवान को (निजात्मा को) और उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? वे परद्रव्य, सर्व परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं। क्यों नहीं है? यह विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १०६ गाथा ३७ दिनाङ्क १२-१०-१९७८ गुरुवार
आसोज शुक्ल ११, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ३७ गाथा। **टीका – अपने निजरस से जो प्रगट हुई है,....** क्या कहते हैं ? कि यह आत्मा जो चैतन्यशक्ति, चैतन्यलोक, उसमें से अपनी योग्यता से-निजरस से सम्यग्ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई। ३७ गाथा है न अन्तिम ! **अपने निजरस से जो प्रगट हुई है,....** कौन ? **प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति....** आहाहा ! भगवान आत्मा चैतन्यज्योति के आश्रय से पर्याय में-अवस्था में चैतन्यशक्ति की व्यक्तता प्रगट हुई, उसे चैतन्यशक्ति कहा गया है। चैतन्यस्वरूप भगवान में से अपने रस से-अपनी शक्ति से, अपने अवलम्बन से, अपने से सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट हुई। **जिसका विस्तार अनिवार है....** जो ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, उसका विस्तार अनिवार है, विशाल है, वह ज्ञान की दशा विशाल है। आहाहा ! **तथा समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का जिसका स्वभाव है...** आहाहा ! भगवान आत्मा अपना ज्ञान, ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि करके जो पर्याय में सम्यग्ज्ञान की धारा प्रगट हुई, उसकी शक्ति कितनी है ? **समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का जिसका स्वभाव है...** आहाहा ! अपने अलावा सर्व पदार्थ — अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद के जीव, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, (एक)-एक धर्म, अधर्म और आकाश, इन सब पदार्थों को जानने की-ग्रसित करने की शक्ति है, ग्रहण करने की शक्ति है। उसका ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं। **समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का...** ग्रसित-ग्रास कर जाता है। अन्दर मानो ग्रास... आहाहा ! ग्रास !

कहो, (जीव अधिकार में) अन्तिम गाथा है ३७-३८। जो भावेन्द्रिय है, एक-एक विषय को जानती है, वह तो खण्ड-खण्ड ज्ञान है, वह तो अज्ञान है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। आहाहा ! भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव के प्रवाह का धोध, ध्रुव सागर के आश्रय से – दृष्टि से उसको अपना जाना तो अपनी पर्याय में ज्ञान की धारा शुद्धपर्याय इतनी प्रगट हुई कि सारे लोकालोक को ग्रसित-ग्रास कर जाये – ऐसी शक्ति प्रगट हुई है। अरे ! ऐसी बातें हैं। सर्व ज्ञेय को, ज्ञान की प्रगट पर्याय – सम्यग्ज्ञान सबको ग्रासीभूत कर जाये, ग्रसित कर जाये, ऐसी शक्ति है। आहाहा !

ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति.... ऐसी प्रचण्ड उग्र, चिन्मात्रशक्ति पर्याय में, हों! आहाहा! राग नहीं। उस चैतन्यमात्र शक्ति की प्रगटता... आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! जीव -आत्मा उसने जाना कि जिसने आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, उस पर दृष्टि लगाकर आत्मा का अनुभव किया तो पर्याय में, अवस्था में ज्ञान की इतनी शक्ति प्रगट हुई कि सारे अनन्त पदार्थों को ग्रसित कर डालती है, जान लेती है – ऐसी शक्ति है। आहाहा! यह शरीर, वाणी, मन, आदि परपदार्थ, आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र भी परपदार्थ, लोकालोक, अपनी ज्ञान की पर्याय के अतिरिक्त जितनी चीज है, वह सब उसको तो ज्ञेय (जाना)। यहाँ ज्ञेय को ज्ञान करने की शक्ति है। यह ज्ञेय मेरा है – ऐसा उसमें है नहीं। आहाहा! अरे! देव-गुरु और शास्त्र भी मेरे हैं – ऐसा ज्ञान की पर्याय में है नहीं। आहाहा! वह तो भगवान आत्मा अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त ज्ञान का सागर प्रभु, वह जब अपने स्वरूप का- आत्मा का अनुभव हुआ तो पर्याय में ज्ञानदशा ऐसी प्रगट हुई, इसको आत्मा की उस पर्याय में समस्त पदार्थ को जानने की, ग्रसित करने की, ग्रास करने की शक्ति है। आहाहा!

बहुत सूक्ष्म बात, भाई! जगत को निवृत्ति नहीं और यह पूरा तत्त्व निवृत्तिमय तत्त्व है। आहाहा! **...किये जाने से, मानो अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों....** क्या कहते हैं? यह छद्मस्थ के ज्ञान की पर्याय-सम्यग्दृष्टि की ज्ञान की पर्याय... आहाहा! धर्मी सम्यग्दृष्टि हुआ, चैतन्यस्वरूप पूर्णानन्द मैं हूँ – ऐसा भान होकर पर्याय में जो सम्यग्ज्ञान हुआ, उसकी ऐसी ताकत है कि अत्यन्त अन्तर्मग्न हुआ, मानो सब पदार्थ अन्दर घुस गये हों। अन्तर्मग्न हो रहा। अपनी पर्याय में, ऐसा जानने में आया कि मानो वह चीज अपनी में आ गयी हो। वह चीज आती नहीं परन्तु उस चीज सम्बन्धी अपना ज्ञान अपने में हुआ, उसमें जानने में आता है। अरे! ऐसी कठिन बातें हैं।

अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों.... देखो भाषा! **मानो अत्यन्त अन्तर्मग्न...** (हो रहे हैं)। भगवान ज्ञानस्वरूप... जैसे दर्पण में सामने चीज हो तो उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है न? वह प्रतिबिम्ब उस चीज का, चीज नहीं; वह तो दर्पण की स्वच्छता है, वह स्वच्छता है परन्तु उस स्वच्छता में मानो परचीज प्रविष्ट हो गयी हो – ऐसा दिखता है। वैसे भगवान आत्मा... आहाहा! एक ओर राम और एक ओर गाँव। एक ओर भगवान आत्मा का

सम्यग्ज्ञान जहाँ हुआ तो उस पर्याय में सारा लोकालोक-अनन्त केवली और अनन्त सिद्ध जिसमें अन्तर्मग्न हैं, उनका ज्ञान हो गया, अन्तर्मग्न हो गये हों – ऐसे दिखते हैं, कहते हैं। धीरजवान का काम है, भाई! आहाहा!

यह चैतन्यलोक, जिसमें अनन्त-अनन्त गुणशक्ति पड़ी है, उसमें से एक ज्ञान, इस ज्ञायक का ज्ञान-स्वरूप का ज्ञान, ऐसा पर्याय में प्रगट हुआ कि जिसमें लोकालोक-अन्य पदार्थ मानो निमग्न हो गये हों, उसका ज्ञान हुआ है, वह मानो निमग्न हुए हों। आहाहा! **ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों,....** आहाहा! जैसे दर्पण में सामने अग्नि और सर्प हो तथा दिखते हैं, वे मानो अन्दर वह चीज अन्दर है – ऐसा लगता है। है नहीं, है तो वह दर्पण की स्वच्छता; वैसे ही भगवान आत्मा अपने ज्ञान की सम्यक् पर्याय की स्वच्छता में लोकालोक-अनन्त द्रव्य मानो कि अन्तर्मग्न हो गये हों; उनका ज्ञान हुआ तो मानो अन्तर्मग्न हुए – ऐसी बात है।

यह ज्ञान की सम्यक्पर्याय स्व को जाने, गुण को जाने, लोकालोक को जाने, अनन्त पर्याय को जाने, मानो एक समय की पर्याय ही सर्वस्व है। आहाहा! समझ में आया? वह एक समय की ज्ञान की सम्यक्पर्याय मानो वह सर्वस्व हो। लोकालोक को जाने, द्रव्य को जाने, गुण को जाने, अनन्त पर्याय (को जाने)। आहाहा! एक समय की पर्याय में... उसके उपयोग में लोकालोक मानो अन्तर्मग्न हो गया हो, मानो ग्रास हो गया हो, ग्रासीभूत कर लिया। आहाहा! बाकी भी बहुत रहा। यह सबको जाना परन्तु ग्रास में ग्रास छोटा और मुँह बड़ा; वैसे ही ज्ञान की पर्याय की इतनी ताकत की लोकालोक मानो वह तो कवल-ग्रास हो गया।

श्रोता : कितने लोकालोक....

पूज्य गुरुदेवश्री : इससे अनन्तगुना हो तो भी जान सके – ऐसी ताकत है। ग्रास कहा न? आहाहा!

प्रभु! तेरे द्रव्य-गुण की तो क्या बात करना! आहाहा! भगवान ज्ञायकस्वभाव, यह उसके गुण ज्ञान आदि, उनकी तो क्या बात करना, प्रभु! आहाहा! परन्तु उसका ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय में इतनी ताकत है कि सारा आत्मा तो जानने में आया, परन्तु वह पर्याय,

भिन्न जो पदार्थ अनन्त हैं, आहाहा! अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद के जीव, जिनकी संख्या का पार नहीं, आहाहा! वह संख्या और उनके गुण की संख्या का पार नहीं, यह सब ज्ञान के एक समय के उपयोग में... आहाहा! यह सब जानने में आ गया, ग्रास हो गया। मानो लोकालोक ज्ञान में अन्तर्मग्न हो गया – ऐसी बात है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान, स्वरूप की प्रतीति अखण्डानन्द प्रभु के समक्ष ये सब पदार्थ तुच्छ हैं। ये सब पदार्थ अपने ज्ञान की पर्याय में ऐसे जानने में आते हैं, मानो कि ग्रासीभूत हो गये हों, मानो सब अन्तर्मग्न हो गये हों, आहाहा! और मैं यही एक हूँ। आहाहा! 'अहं एको' है न? आगे आयेगा, अन्तिम ३८ वीं गाथा में आयेगा न? आहाहा!

ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों, इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान.... देखो, वहाँ चितशक्ति कही थी न, परन्तु वह यहाँ प्रकाशमान पर्याय ले लेना। आत्मा में प्रकाशमान **यह धर्मास्ति,** धर्मास्तिकाय है न। चौदह ब्रह्माण्ड में एक धर्मास्ति द्रव्य / तत्त्व है कि जड़ चेतन गति करें तो उसमें निमित्त कहने में आता है। वह धर्मास्तिकाय यहाँ घुस गया – यहाँ उसका ज्ञान आ गया। ज्ञेय है न! तो अपने ज्ञान की पर्याय में धर्मास्तिकाय का ज्ञान हो गया। आहाहा! समझ में आया? धर्मास्ति नाम का पदार्थ है तो यहाँ आत्मा ज्ञायकस्वरूप का जहाँ ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय में धर्मास्तिकाय ज्ञेय है, उसका ज्ञान हुआ तो धर्मास्तिकाय पदार्थ मानो अन्दर आ गया, अन्तर्मग्न हो गया, उसका ज्ञान है। आहाहा! आहाहा! और उस धर्मास्तिकाय में भी अनन्त गुण, आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण, अनन्त-अनन्त गुण, वह सब मानो ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय होकर आ गया। आहाहा!

वैसे ही अधर्मास्ति, **अधर्म** एक द्रव्य है। जड़ और चेतन गति करते हुए स्थिर रहें तो स्थिर में निमित्त एक अधर्मास्तिकाय नामक एक तत्त्व है। वह तत्त्व भी सम्यक्ज्ञायक स्वभाव का ज्ञान हुआ तो उस ज्ञायक पर्याय में अधर्म तत्त्व मानो अन्दर घुस गया हो, उसका ज्ञान हुआ। ज्ञायक और ज्ञेय के सम्बन्ध में ज्ञेय का ज्ञान हुआ। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

आकाश... ओहोहो! आकाश जिसका अन्त नहीं और जिसके गुण का भी अन्त नहीं, आहाहा! ऐसा आकाश नाम का द्रव्य (है)। ज्ञायकस्वभाव का ज्ञान होने में, उस

पर्याय में उस आकाश का ज्ञान हो गया। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! एक आकाश में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... प्रदेश, जिसका अन्त नहीं और एक आकाश में अनन्त गुण, जिसका अन्त नहीं, वह आकाश नाम का पदार्थ। आहाहा! भगवान ज्ञायकस्वभाव का ज्ञान हुआ, उसमें इस आकाश का ज्ञान हो गया क्योंकि पर्याय का स्वभाव अपने से स्व-पर प्रकाशक है। वह पर का प्रकाशक अपने से है। वह पर है तो जाना - ऐसा भी नहीं। आहाहा!

अपना ज्ञायक भगवान चैतन्यस्वरूप प्रभु अकेला चैतन्य लोक! आहाहा! उसका जहाँ लोकान्त ज्ञान हुआ तो उस ज्ञान में इतनी ताकत है कि आकाश के प्रदेश का-क्षेत्र का अन्त नहीं, गुण का (अन्त) नहीं, उसका भी ज्ञान हो गया। आहाहा! यह तो अभी मति-श्रुतज्ञान की पर्याय की बात चलती है। आहाहा!

श्रोता : मति-श्रुत में तो परोक्ष ज्ञान होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परोक्ष भले हो परन्तु जानने की शक्ति उसमें अपने से हो गयी है। परोक्ष और प्रत्यक्ष में इतना अन्तर है परन्तु है ठीक जैसा केवली जानते हैं, वैसा ही श्रुतज्ञानी जानते हैं। आहाहा!

जिसके द्रव्य-गुण का-शक्तियों का तो पार नहीं, भगवान आत्मा। जिसका ज्ञान हुआ, वह ज्ञेय... ज्ञेय... ज्ञेय बनाकर - स्व को ज्ञेय बनाकर सम्यक् ज्ञान हुआ, उसमें पर ज्ञेय का ज्ञान ऐसा आ गया मानो, अन्तर्मग्न हो गया हो। आहाहा! ऐसा मार्ग है। आकाश आया न?

काल असंख्य कालाणु हैं। एक-एक कालाणु में अनन्त-अनन्त गुण हैं। वे असंख्य कालाणु संख्या से असंख्य हैं परन्तु उनके गुण की संख्या अपार है। ऐसे काल पदार्थ का भी... ओहोहो! प्रभु! तेरी ज्ञानपर्याय, स्व के जानने में आया तो स्व-पर प्रकाशक पर्याय हुई, उसमें काल का ज्ञान आ गया।

श्रोता : काल तो उपचारिक द्रव्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वास्तविक, ज्ञान है, काल है। वह उपचारिक श्वेताम्बर कहते हैं, झूठ है। आहाहा! काल नामक पदार्थ असंख्य, नित्यानित्य है। पर्याय से अनित्य है, वस्तु से काल नित्य है। उस काल में अनन्त-अनन्त गुण हैं। जितने गुण भगवान आत्मा

में है, जितने आकाश में है, उतने ही गुण एक कालाणु में हैं। अरे! आहाहा! यह असंख्य कालाणु, अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ, स्व-परप्रकाशक पर्याय में स्व को जानता है, तब तो पर प्रकाशक का ज्ञान यथार्थ हुआ। आहाहा!

पुद्‍गल.... आत्मा की अनन्त संख्या से पुद्‍गल परमाणु अनन्तगुने हैं। वे अनन्तगुने परमाणु और एक-एक परमाणु में, आत्मा में जितने गुण हैं उतने गुण, इसमें-जड़ में हैं-एक-एक परमाणु (में है)। ऐसे अनन्त परमाणु जो आत्मा की संख्या अनन्त से अनन्तगुने हैं, ऐसे पुद्‍गल का ज्ञान की पर्याय हो, प्रभु! तुझे तेरी शक्ति का जहाँ ज्ञान हुआ, इस ज्ञायक का ज्ञान हुआ, स्वद्रव्य का ज्ञान हुआ तो इस पर्याय में ऐसे अनन्त-अनन्त पुद्‍गल के परमाणु और उस परमाणु में अनन्त गुण, सबका ज्ञान हो गया। कठिन बात है प्रभु! आहाहा! तेरे द्रव्य-गुण की तो क्या कहना। परन्तु उस द्रव्य-गुण का ज्ञान हुआ, उस पर्याय में इतनी ताकत है, मानो कि वह पर्याय एक ही वस्तु हो, बस! इसमें स्वभाव का ज्ञान आ गया - ऐसा सम्यक्ज्ञान, स्वज्ञायक का ज्ञान होने से पर का-ज्ञेय का ज्ञान अन्दर आ गया। आहाहा! समझ में आया? (ऐसी) बातें, बापू!

भगवन्त! यह तेरी बातें अलग हैं, भाई! आहाहा! यह बाहर की चीजें, चमक लगे वह तो सब जड़ है-धूल है। वे सब पदार्थ जड़ हैं, उनका यहाँ ज्ञान आ गया - ऐसा कहते हैं। आहाहा!

श्रोता : उनका ज्ञान या उन सम्बन्धी अपना ज्ञान?

पूज्य गुरुदेवश्री : उन सम्बन्धी का अपना ज्ञान अपने में आ गया, उन सबका, आहाहा! इसलिए कहा कि मानो वे सब पदार्थ यहाँ घुस गये हों। पदार्थ आये नहीं परन्तु पदार्थ सम्बन्धी अपना जो ज्ञान है, उसमें जानने में आ गये। अरे! अब ऐसी बातें!

भावेन्द्रिय तो खण्ड-खण्ड ज्ञान, वह अज्ञान है। आहाहा! उसमें-उस ज्ञान में स्व को जानने की ताकत नहीं। खण्ड-खण्ड ज्ञान में मात्र पर जाना। आहाहा! वह खण्ड-खण्ड ज्ञान परवश है, दुःखरूप है... आहाहा! और भगवान आत्मा ज्ञायक का ज्ञान पूर्ण है, स्ववश है, सुखरूप है, आहाहा!

चैतन्य ज्ञायकस्वभाव भगवान आत्मा का ज्ञान होने से, उस द्रव्यस्वभाव का ज्ञान

होने से उस ज्ञान की पर्याय में.... आहाहा! अनन्त... अनन्त... अनन्त... शरीर, अनन्त निगोद के जीव, और एक-एक निगोद को दो-दो शरीर-तैजस और कार्माण, अंगुल के असंख्य भाग में अनन्त आत्मायें, एक-एक आत्मा में तैजस-कार्माण शरीर, एक-एक कार्माण शरीर में अनन्त स्कन्ध, एक-एक स्कन्ध में अनन्त परमाणु और एक-एक परमाणु में अनन्तगुने गुण। आहाहा! इन सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह कौन कहे ? और यह (जानना) तेरा स्वभाव है - ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भगवान! तू ज्ञाता-दृष्टा है न ? तेरी चीज तो ज्ञाता-दृष्टा प्रभु है न ? उस ज्ञाता-दृष्टा का ज्ञान हुआ। आहाहा! स्व स्वरूप का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय में जितने परज्ञेय और गुण हैं, सबका ज्ञान आ जाता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म गाथा है, बापू! आहाहा! वस्तुस्थिति यह है। आहाहा!

इस परमाणु के तो अनन्त लड्डू, अनन्त मैसूबपाक, आहाहा! अनन्त रसगुल्ला आदि परमाणु के पिण्ड हैं। आहाहा! यह अनन्त रजकण का पिण्ड शरीर है, अनन्त रजकण का पिण्ड कार्माण और तैजस शरीर है, एक-एक रुपये और पाई में अनन्त परमाणु हैं, नोट अनन्त परमाणु का स्कन्ध है। इसमें अनन्त परमाणु हैं, एक-एक परमाणु में अनन्त गुण हैं। इन सब पुद्गल का ज्ञान, आहाहा! भगवान आत्मा का ज्ञान होने से स्व-लक्ष्य में से ज्ञान आया। आहाहा! तो इस ज्ञान की पर्याय में अनन्त स्कन्ध, यह शरीरादिक का ज्ञान (सभी का) ज्ञान हो जाता है। मेरा है - ऐसा उसमें है नहीं। आहाहा! ऐसा है प्रभु!

तेरे द्रव्य का तो क्या कहना! गुण का तो क्या कहना! परन्तु उसकी एक ज्ञान की एक पर्याय की बात ऐसी है। आहाहा! भले उपयोग असंख्य समय में लागू पड़ता है परन्तु उसकी एक पर्याय में ही यह सब होता है। आहाहा! ऐसा ज्ञान हो, वहाँ आनन्द साथ होता है। आहाहा! यह ज्ञान होने पर स्व-वशता होती है। यह ज्ञान होने पर, निरालम्बी परिणति प्रगट होने पर... आहाहा! अनन्त-अनन्त परमाणु, पूरा लोक परमाणु से ठसाठस भरा है। यहाँ अंगुल के असंख्य भाग में अनन्त स्कन्ध हैं; एक-एक स्कन्ध में अनन्त परमाणु हैं; एक-एक परमाणु में अनन्त गुण हैं; अनन्त गुण की अनन्त पर्याय है। आहाहा! इन सबका ज्ञान, प्रभु! तेरा ज्ञान होने से (होता है)। कितनी ताकत है, देख तो सही! पर का ज्ञान तो अनन्त

बार किया, कहते हैं। आहाहा! वह वास्तविक ज्ञान ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

पुद्गल... पुद्गल में क्या बाकी रहा? यह फर्नीचर, मकान, महल, और अनन्त-अनन्त पैसे और रुपये, वह तो ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, उसमें जानने में आ गया, बस! आहाहा!

श्रोता : ज्ञान न हो, तब तक मालिकी का प्रश्न नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मालिक धूल भी नहीं। मालिक... मालिक मानता है, अज्ञानी मूढ़ है। परज्ञेय का मालिक हूँ - ऐसा माननेवाला मूढ़ है। आहाहा! स्वज्ञेय का मालिक हुआ, अपनी चैतन्यज्योति ज्ञान का परिपूर्ण भण्डार, ऐसे तो अनन्त गुण प्रभु में (आत्मा में हैं)। ऐसे ज्ञायक चैतन्य के आश्रय से... आहाहा! उसके लक्ष्य से जो ज्ञानदशा हुई... हुई, उस ज्ञान में अनन्त पुद्गलों को स्पर्श किये बिना, छुये बिना, आहाहा! उन अनन्त पुद्गलों में वर्तमान ज्ञान की पर्याय प्रवेश किये बिना (जान लेती है)।

वह भावसार याद आया। अरे भगवान! वेदान्ती, (संवत्) ८४ में राणपुर में पूछा था। अरे भगवान! ऐसा नहीं। कहा, भाई! अनन्त को एक मानना है न, इसलिए फिर ज्ञान प्रवेश करे, तब एक हो जाता है। अरे...! ऐसा नहीं, भाई! वेदान्त ने पर्याय नहीं मानी है। निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। भले वह आत्मा की बातें करे। आहाहा!

यहाँ तो भगवान ज्ञायक का पिण्ड प्रभु, उसके स्व-लक्ष्य से जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय में इतनी ताकत है कि अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... द्रव्य और एक-एक द्रव्य में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त - अन्त न आवे इतने गुण, उन्हें उनमें प्रवेश किये बिना, उन्हें छूए बिना अथवा उनका अस्तित्व है, इसलिए यहाँ ज्ञान होता है - ऐसा भी नहीं। आहाहा! ज्ञान की एक समय की पर्याय ही इतनी ताकतवाली है। अपनी पर्याय का अस्तित्व इतना है। आहाहा! अरे! ऐसे तत्त्व की बात छोड़कर बाहर में व्रत किये और उपवास किये और अज्ञानी ने उनमें धर्म माना। भटककर मरेगा। आहाहा!

यह अनन्त पुद्गल परावर्तन किये, उनका भी पर्याय में ज्ञान होता है, कहते हैं - ऐसा कहते हैं। आहाहा! अनन्त पुद्गल में है न? अनन्त पुद्गल परावर्तन किये। आहाहा! उसका यहाँ, अनन्त पुद्गल परावर्तन का जिसमें अभाव है, जिसमें राग का और शरीर का

अभाव है, जिसमें एक समय की पर्याय का भी अभाव है – ऐसे द्रव्य का ज्ञान और श्रद्धा होने पर... आहाहा! उस पर्याय में, अनन्त पुद्गल परावर्तन किये, उसका ज्ञान होता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह कहेंगे – अन्तरंग तत्त्व तो मैं यह हूँ। आहाहा! सूक्ष्म पड़े, प्रभु! परन्तु सत्य तो यह है। आहाहा! **अन्य जीव....** अब अनन्त सिद्ध, आहाहा! अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय, साधु; जो केवली हैं अनन्त सिद्ध, लाखों केवली हैं, ये सब जीव अन्य (हैं)। उनका स्वज्ञेय का ज्ञान होने पर, भगवान आत्मा स्व-पर प्रकाशक का पिण्ड प्रभु का ज्ञान होने पर उस ज्ञान की पर्याय में अनन्त पंच परमेष्ठी.... आहाहा! णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं – ये तीनों काल के अरिहन्त, आहाहा! तीनों काल के सिद्ध, तीनों काल के आचार्य, उपाध्याय, साधु, और इससे अनन्तगुने दूसरे-निगोद के जीव... आहाहा! यह सब अन्य जीव इस ज्ञान की पर्याय में ज्ञात होते हैं, कहते हैं। आहाहा! यह भूत और भविष्य के काल में हो गये और होंगे – तीर्थंकर! आहाहा! इस चैतन्य के महाप्रभु का ज्ञान होने पर इन तीन काल के अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, आहाहा! काल आ गया न? इसलिए काल में रहे हुए भी सब आ गये। इस ज्ञान की पर्याय में उनका ज्ञान होता है।

अनन्त तीर्थंकर, सन्त-मुनि होंगे; अनन्त हो गये और अनन्त सिद्धरूप में हैं, बाकी सब संख्यात है। उनका ज्ञान, भगवान! तेरी ज्ञान की पर्याय स्व के जानने में इतनी ताकत है कि इन सबको एक समय में जान लेती है। आहाहा! अब ऐसी बातें! समझ में आया? यह क्या होगा और धर्म में ऐसी बात होगी? भगवान! तेरा धर्म ज्ञानस्वभाव और उस ज्ञानस्वभावी भगवान का ज्ञान होने पर... आहाहा! उस ज्ञान की पर्याय में अनन्त जीव जो अन्य-स्वजीव से अन्य (है), उनका ज्ञान एक समय की पर्याय में आ जाता है। समझ में आया? आहाहा!

अन्य जीव.... अब इसमें देव-गुरु भी आये, अरहन्त-सिद्ध भी आये; इनसे आत्मा को लाभ हो, यह बात नहीं रहती – ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो आ गया था, नहीं? स्वयमेव — पर की अपेक्षा बिना, स्वयमेव ज्ञान स्वयं से होता है। आहाहा! उपदेश बिना! उपदेश मिला, इसलिए होता है – ऐसा नहीं। आया था? आहाहा! जिसे स्वज्ञान होने

में उपदेश की भी अपेक्षा नहीं। आहाहा! तथापि देशनालब्धि होती है परन्तु वह होने पर भी, स्व के ज्ञान होने में उसकी अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

अरे! तू कितना बड़ा? तेरी पर्याय की महिमा का तो पार नहीं, प्रभु! द्रव्य-गुण की तो क्या बात करना! वह तो महाप्रभु आनन्द का भण्डार, ज्ञान का भण्डार, श्रद्धा का भण्डार, ईश्वरता का भण्डार, अनन्त-अनन्त शक्ति का भण्डार प्रभु; ऐसी अनन्त शक्ति के भण्डारवाला तत्त्व का ज्ञान होने पर... आहाहा! भावेन्द्रिय से ग्यारह अंग का ज्ञान हुआ, वह अज्ञान और स्व-ज्ञायक के आश्रय से जो ज्ञान हुआ, वह अनन्त जीवों को जाने ऐसा ज्ञान, आहाहा! कान में पड़ना भी मुश्किल पड़े ऐसी (बात) है, बापू! तेरी महिमा की क्या बात करना! तुझे यह बात जमती नहीं, पामररूप से माना है न! आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूपी प्रभु, अकेला ज्ञायकस्वभाव ध्रुव चैतन्य का ज्ञान होने से... पर की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो स्व का ज्ञान होने से उस पर्याय में पर का ज्ञान सहज हो जाता है। सूक्ष्म बात है, भाई! जीव अधिकार है न! जीव अधिकार की ज्ञान की पर्याय का अधिकार, धर्म समझा, सम्यग्दर्शन पाया... भगवान पूर्णानन्द के नाथ को प्रतीति में लिया। आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय की यह बात चलती है। आहाहा! मानो कि अनन्त जीव-सिद्ध हैं, मानो उन्हें ग्रासीभूत कर गया, प्रभु! आहाहा! ऐसे ज्ञान की पर्याय, वह स्व के ज्ञान के लक्ष्य से वस्तु के तत्त्व में जिसमें ज्ञायकपना भरा है, आहाहा! उसके आश्रय से-लक्ष्य से जो ज्ञान सम्यक् हो, उस पर्याय में अनन्त सिद्ध ज्ञात हो जाते हैं। आहाहा! उन्हें जानने के लिये अलग उपयोग देना नहीं पड़ता। स्व को जानने का उपयोग हुआ, उसमें उन्हें जानने के लिये अलग उपयोग नहीं रखना पड़ता। आहाहा! देखो, यह भगवान आत्मा के ज्ञान की पर्याय! इसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आहाहा!

भाई! मार्ग तो अलौकिक है, आहाहा! तेरी चीज ही अलौकिक है, लोकोत्तर... लोकोत्तर! आहाहा! अनन्त जीव आये। **ये समस्त परद्रव्य....** यह समस्त परद्रव्य - अरिहन्त परद्रव्य, सिद्ध परद्रव्य, साधु-आचार्य परद्रव्य, यह मेरी चीज नहीं है। आहाहा! आहाहा! तो फिर यह लड़के लड़कियाँ, स्त्री-पुत्र मेरे... मूढ़ है, बड़ा मूर्ख है।

श्रोता : अन्य जीव में सब आ गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब आ गये। आहाहा!

श्रोता : कौन बाकी रहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह स्त्री का आत्मा, पुत्र का आत्मा... इस स्व का ज्ञान होने पर उस ज्ञान में उनका ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय में वे ज्ञात हो गये, वे अपनी पर्याय में से ज्ञात हो गये, उनके कारण नहीं। आहाहा! ऐसा है। आहाहा!

श्रोता : ऐसा जाननेयोग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तु है, बापू! दुनिया कहीं भटककर पड़ी है। एक तो संसार के पाप पूरे दिन - स्त्री-पुत्र, धन्धा, पाप, पाप और पाप। अब उसमें एक घण्टा मिले और सुनने जाये, वहाँ तत्त्व की बातें नहीं मिलें और विपरीत बातें... आहाहा! अपवास करो, भगवान के दर्शन करो, मूर्ति बनाओ, मूर्ति एक इतनी भी स्थापित करे तो उसके पुण्य का पार नहीं... परन्तु उससे क्या हुआ? यह धर्म कहाँ आया उसमें? आहाहा! इस जगत की मूर्तियाँ जो अनन्त मन्दिर... अरे! चैतन्य की शाश्वत् प्रतिमा, उनका यहाँ ज्ञान, स्व का ज्ञान होने पर उस पर्याय में उनका ज्ञान आ जाता है। आहाहा! वह उनका अर्थात्? उन सम्बन्धी का अपना ज्ञान इसमें वह ज्ञात हो जाता है। अरे! अब ऐसी बातें। समझ में आया? सूक्ष्म है इसमें। शान्तिभाई! वहाँ कलकत्ता में कहीं मिले ऐसा नहीं है। वहाँ भटकने का है, वहाँ सब। पैसा मिले तो मानो, ओहोहो! उसमें पाँच-पच्चीस लाख...

श्रोता : यह पैसा जिसे मिले उसे....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी पैसा मिला नहीं इसे। इसके पास कहाँ आये? यहाँ तो पैसे का... सम्यक्ज्ञान होने पर पैसे का ज्ञान यहाँ होता है। पैसे मिले - ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि, पाखण्डी की-अज्ञानी की है। आहाहा!

श्रोता : ज्ञान न हो, तब तक तो मिले कहलाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मूरख मानता है।

ज्ञानी जहाँ आत्मस्वरूप से भगवान ज्ञानलोक, उसे लोकान्ते देखा, प्रभु को, आहाहा! और जो ज्ञान पर्याय प्रगट हुई, उसमें वे अनन्त परमाणु नोट और पैसे, हीरे-माणिक, उनका यहाँ ज्ञान होता है। वह पर है, उनका यहाँ ज्ञान स्वयं से होता है। आहाहा!

श्रोता : उनमें से कितने ही हमारे पास आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं आते इसके पास। कौन इसके पास, कहाँ आते हैं ? इसके पास तो मुझे पैसे मिले – ऐसी ममता इसके पास आयी। धूल कहाँ आयी ? धूल तो धूल है, वह कहाँ आत्मा में आती है ? आहाहा ! ऐसी बातें हैं, प्रभु ! वीतरागमार्ग, सर्वज्ञ तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का पंथ कोई अलग प्रकार का है। आहाहा ! दुनिया के साथ कहीं मेल खाये – ऐसा नहीं है। अभी तो सम्प्रदाय के साथ मेल खाये – ऐसा नहीं है। आहाहा ! कठिन बात है प्रभु ! दूसरे को दुःख लगे उसके लिए यह बात नहीं है, भाई ! तेरा सुधार इस प्रकार माना है, उस प्रकार नहीं सुधर सकता। भाई ! व्रत पाले हैं और शास्त्र का ज्ञान किया है और यह व्रत पाले, वह चारित्र। आहाहा ! और हम आत्मा की–खण्ड–खण्ड ज्ञान की श्रद्धा करते हैं... अखण्ड ज्ञान है, उसका तो कहाँ पता है ? खण्ड–खण्ड ज्ञान की श्रद्धा है वह मिथ्यात्व है, भाई ! वह मिथ्यात्व है, वह अज्ञान है, वह मिथ्या आचरण है, उसे तुझे धर्म मनवाना है ? और दूसरे को उस प्रकार धर्म मनवाना है ? प्रभु ! बहुत उत्तरदायित्व कठिन है, नाथ ! आहाहा ! यह कठिन दुःख नहीं सहे जायेंगे, भाई ! आहाहा !

यहाँ तो प्रभु कुन्दकुन्दाचार्य, त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव की वाणी... उसे प्रवचन, स्वयं की वाणी द्वारा बात करते हैं। आहाहा ! वह ऐसा कहते हैं कि यह वाणी मेरी नहीं। वाणी का मेरी पर्याय में, मेरा ज्ञान हुआ वहाँ वाणी का ज्ञान हुआ, बस इतना ! आहाहा ! अरे ! राग आया तो राग मेरा नहीं, परन्तु राग का ज्ञान भी राग है तो हुआ है – ऐसा नहीं है। मेरी ज्ञान की पर्याय की ताकत इतनी है कि स्व को जाननेवाला ज्ञान, राग आदि अनन्त–अनन्त पदार्थों को जाने, वह मैं हूँ। आहाहा ! आहाहा ! दया, दान का विकल्प वह राग है, वह भी मेरा नहीं और मेरी ज्ञान की पर्याय में उसका ज्ञान, वह है तो होता है – ऐसा भी नहीं। आहाहा !

भगवान आत्मा ज्ञायक चैतन्य ज्योति, जलहल ज्योति प्रभु को ज्ञान ज्ञेय बनाकर जहाँ हुआ तो स्व–पर्याय में परज्ञेय तो सहज जानने में आता है – ऐसा पर्याय का स्वभाव है। आहाहा ! उस परद्रव्य के समीप जाना नहीं (पड़ता), पर का ज्ञान अरिहन्त अनन्त, सिद्ध हुए उनका ज्ञान उनके पास गये बिना और वे ज्ञेय यहाँ आये बिना... नजदीक ज्ञेय है, तो ज्ञान होता है और दूर ज्ञेय है तो नहीं होता है – ऐसा है नहीं। यहाँ तो नजदीक हों,

कर्म के रजकण और दूर हों अनन्त आकाश के प्रदेश, आहाहा! और एक-एक प्रदेश में अनन्त गुण का अंश है। आहाहा! अनन्त-अनन्त प्रदेश में सारे अनन्त गुण हैं - आकाश, उसके भी इस स्वभगवान आत्मा स्व का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय में वह परज्ञेय जानने में आ जाता है, बस! आहाहा! ऐसा है।

तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव जैन परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं। समझ में आया?

श्रोता : जैन परमेश्वर है, दूसरे अजैन परमेश्वर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अजैन, दूसरे लोग मानते हैं। हम परमेश्वर हैं और हम... आहाहा! ब्रह्मा, विष्णु और महेश? हम कर्ता हैं। धूल भी नहीं। आहाहा! स्वयं ही भगवान आत्मा ब्रह्मा, विष्णु और महेश (है) आहाहा! जिसकी पर्याय की उत्पत्ति, वह ब्रह्मा; व्यय-नाश (पर्याय का), वह शंकर; ध्रुव रहा, वह विष्णु - ऐसा जो यह चैतन्य भगवान, जिसने तीन काल और तीन लोक को एक समय में ग्रासीभूत कर जाये, ऐसी पर्याय की ताकत है, भगवान की (आत्मा की)। आहाहा! उसने आत्मा जाना कहलाता है। आहाहा! उसे सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी कहा जाता है, प्रभु! ऐसी बातें हैं, भाई! आहाहा! हंसमुखभाई नहीं आये न? नहीं आये। कल आये थे, उन्हें रस है परन्तु भावनगर रह जाते हैं न? आहाहा!

परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं;... है? उन सिद्धों को और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, कहते हैं। आहाहा! अरिहन्त भगवान हुए, उन्हें और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, वे तो परद्रव्य हैं। गुरु को और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, वे तो परद्रव्य हैं। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

वीतराग परमेश्वर जिनेश्वर का ज्ञान, उन द्वारा कहा गया मार्ग कोई अलौकिक है, भाई! अरे! इसे जाने बिना चौरासी का अवतार कर रहा है। आहाहा! देखो न! इस शरीर में वाय हो, आहाहा! आहाहा! जड़, जड़ है यह तो। रोग है वह जड़ है। इस आत्मा को एक बार इस पर दृष्टि होती है न, हिला डाले। आहाहा! अरेरे! मुझे यह हुआ, अरेरे! मुझे यह हुआ... परन्तु बापू! मुझे अर्थात् क्या? तू तो आत्मा है, उसमें यह हुआ, वह तुझे कहाँ हुआ? तुझे क्या हुआ है? आहाहा! ऐसा उपदेश! प्रभु! तीन लोक के नाथ का-जिनेश्वरदेव

का यह कथन है, भाई! जैन में जन्मे, उन्हें इसका पता नहीं पड़ता। बाड़े में जन्में (मान लेते हैं कि) हम जैन, परन्तु जैनपना क्या है? – इसका पता नहीं। आहाहा!

जैन तो इसको कहते हैं, आहाहा! कि जिनस्वरूपी भगवान आत्मा पूर्ण स्वरूप का लक्ष्य करके, दृष्टि करके जो सम्यग्दर्शन हुआ, उसे जैन कहते हैं। उस जैन की पर्याय में इतनी ताकत है। आहाहा! अनन्त जीव मानो अन्दर प्रविष्ट हो गये हों (तो भी) मेरे नहीं हैं। यहाँ तक तो कल आया था। अब कल बात। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १०७ गाथा ३७, श्लोक ३१ दिनाङ्क १३-१०-१९७८ शुक्रवार
आसोज शुक्ल १२, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ३७वीं गाथा चलती है। यहाँ तक आया है। इस जगत में... **इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान....** आत्मा में अनन्त परद्रव्य प्रकाशमान हैं, जानने में आते हैं – ऐसे **यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव — ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं;...** मेरे ज्ञान में जो अनन्त-अनन्त परमाणु, अनन्त जीव, जानने में आते हैं, तथापि मेरे और उनके कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

श्रोता : जानने में आवे, इतना तो सम्बन्ध हुआ न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जानने में आया है, वह अपना स्वरूप। परन्तु यह जानने में आया, यह व्यवहार कहा।

श्रोता : यह भी व्यवहार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध, यह व्यवहार है।

श्रोता : व्यवहार सम्बन्ध तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार अर्थात्? सामने निमित्त है इतना! व्यवहार अर्थात् क्या? जानने में स्वयं से जाना है, ज्ञान के स्वभाव में स्व परप्रकाशक की सामर्थ्य से प्रकाशमान सभी द्रव्य जाने, परन्तु उसे अपनी स्वशक्ति से जानता है। इसने पर जाने – ऐसा कहना यह व्यवहार है। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध इतना बतलाया।

तथापि.... आहाहा! मेरा भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव के साथ उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है। **क्योंकि....** यहाँ तक तो कल आया था। सूक्ष्म बात है प्रभु! ओहोहो! एक-एक परमाणु में अनन्त-अनन्त गुण, जिनका पार नहीं। ऐसे अनन्त-अनन्त परमाणु; एक-एक आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण, जिनका अन्त नहीं। आहाहा! ऐसे अनन्त आत्माएँ और अनन्त परमाणु मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं, ज्ञात होते हैं। आहाहा!

श्रोता : वे ज्ञात होते हैं या उन सम्बन्धी का अपना ज्ञान ज्ञात होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जानता है – ऐसा कहना है न अभी तो! जानता है अपनी पर्याय परन्तु वे ज्ञात होते हैं, ज्ञात होते हैं – ऐसा। आहाहा! कितने भी पदार्थ, ऐसा। भाई! सूक्ष्म बात है, भाषा से पार पड़े ऐसा नहीं है। ऐसी वस्तु ऐसी है। आहाहा!

भगवान आत्मा की ज्ञान की पर्याय में अनन्त-अनन्त.... यहाँ अंगुल के असंख्य भाग यहाँ लो तो उसमें अनन्त आत्माएँ हैं और अनन्त स्कन्ध हैं। अनन्त तैजस और कार्मणशरीर है। आहाहा! ऐसा पूरा लोक भरा है, तथापि मेरे ज्ञान में वे प्रकाशमान-ज्ञात होते हैं। यह है – ऐसा ज्ञात होता है इतना! बाकी मुझे और उनके कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब और परिवार.... ज्ञानी ऐसा जानता है कि मेरे ज्ञान में वे हैं – ऐसा ज्ञात होता है; मेरे हैं – ऐसा नहीं। आहाहा! देव-गुरु और शास्त्र; देव — अनन्त सिद्ध, लाखों अरिहन्त, करोड़ों, आदि आचार्य, उपाध्याय और साधु ये सब परद्रव्य में अनन्त-अनन्त गुणसहित, ऐसे अनन्त आत्माएँ और अनन्त रजकण मेरे प्रकाशमान में प्रकाशित होते हैं, बाकी उनके और मुझे कोई सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! अन्तिम की गाथा है न?

श्रोता : धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को पहले क्यों लिया?

पूज्य गुरुदेवश्री : चार नाम दिये। छह द्रव्यों को – सब जगह ऐसा आता है न? धर्मास्ति से-आदि से छह नाम आवे, तब इस प्रकार ही शास्त्र में आते हैं। गति में निमित्त (धर्मास्ति) स्थिरता में निमित्त अधर्मास्ति, काल, आकाश। आकाश के एक प्रदेश (क्षेत्र) में अनन्त आत्माएँ और अनन्त रजकण है। वे सूक्ष्म होकर आवें तो एक प्रदेश में समा जायें, इतनी तो आकाश के एक प्रदेश की अवगाहन शक्ति है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! एक आकाश के प्रदेश में, यह यहाँ से जो अंगुल यहाँ

असंख्य अनन्त आत्माएँ और अनन्त रजकण हैं, ऐसा पूरा लोक भरा है। यह जो सूक्ष्म होकर एक प्रदेश में आवे तो समा जाये, ऐसी एक प्रदेश की अवगाहनशक्ति है।

इसी तरह एक कालाणु की इतनी शक्ति है कि अनन्त पुद्‌गल-जीव यदि एक स्थान में आवे तो सबको परिणमन में निमित्त हो, ऐसी ताकत है। धर्मास्तिकाय के एक-एक प्रदेश में इतनी ताकत है कि अनन्त आत्मा और परमाणु उस समय गति हो तो उसमें निमित्तपना हो, ऐसी उसकी ताकत है। अधर्मास्तिकाय के एक-एक प्रदेश में इतनी ताकत है कि अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु उस स्थान में गति करके स्थिर हो तो उसमें निमित्त की शक्ति अनन्त की है। आहाहा! धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, और काल। एक परमाणु में ऐसी ताकत है कि अनन्त-अनन्त गुण (का) जिसमें पार नहीं, माप नहीं की यह गुण, यह वर्ण, रस, गंध, स्पर्श करते-करते, करते-करते यह-यह यह अन्तिम गुण-यह इतना ही द्रव्य है - ऐसा न देखो, वह जड़स्वभावी वस्तु है कि जिसके अन्तर में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... के अनन्तगुणा गुण, तथापि पार न आवे। एक परमाणु में इतने गुणों का स्वभाव है और इतनी उनकी पर्यायें हैं। आहाहा! ऐसे अनन्त आत्माएँ और अनन्त रजकण, उनके अनन्त गुण, उनकी अनन्त पर्यायें - भगवान आत्मा ऐसा जानता है, पर्याय में, हों! जानता है तो पर्याय में न? कि यह सब चीजें मुझमें प्रकाशमान होती है - ज्ञात (होती है)। मैं तो जाननेवाला हूँ। है? आहाहा! **मेरे सम्बन्धी नहीं हैं;....** इनके साथ, आहाहा! कितनी गहरी-गहरी शक्ति जगत की। आहाहा! उसे आत्मा ऐसा जाने कि मेरी ज्ञान की पर्याय में, एक गुण की एक पर्याय में... आहाहा! यह सब अनन्तायें प्रकाशमान होती हैं — ऐसा मेरा स्वभाव है। आहाहा!

ऐसी एक समय की ज्ञान की पर्याय की इतनी ताकत! ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों में इतनी ही सब ताकत!! आहाहा! ऐसी समस्त पर्याय को जाननेवाली मेरी पर्याय, वह ऐसा जानती है कि **टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः अन्तरंगतत्त्व तो मैं हूँ....** जानती है वर्तमान पर्याय; वह पर्याय ऐसा जानती है कि प्रगट पर्याय (जानती है) कि टंकोत्कीर्ण ऐसा का ऐसा चैतन्यस्वभाव एक ज्ञायकस्वभाव — एक ज्ञायकस्वभाव... पर्यायें भले अनेक हों, गुण अनेक हों परन्तु वस्तु है वह तो एकरूप ज्ञायकभाव, एक

ज्ञायकस्वभावभाव, **स्वभावत्व से परमार्थतः अन्तरंगतत्त्व तो मैं हूँ....** आहाहा! वह पर्याय ऐसा जानती है कि मैं अन्तरंग तत्त्व तो, इस पर्याय में जो सब ज्ञात होता है, उसकी – जाननेवाले की मेरी पर्याय में प्रकाशमान है। ऐसी पर्याय यह जानती है कि मैं तो टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव अन्तरंग तत्त्व हूँ। आहाहा! ये सब ज्ञात होते हैं, एक पर की (परलक्ष्यी) पर्याय में, उतना ही मैं नहीं हूँ। आहाहा! भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

यह ज्ञानपर्याय, ऐसे अनन्त द्रव्यों को एक समय में, उनके गुणों को प्रकाशित करने में, स्वयं से प्रकाशित करने में समर्थ है, वह पर्याय ऐसा कहती है, आहाहा! कि मैं तो एक ज्ञायकस्वभावपने से.... मेरा तो त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव भरपूर है, एक समय की पर्याय जितना नहीं। आहाहा!

श्रोता : अकेला ज्ञायकस्वभाव कहे या अनन्त गुण साथ में आ जाते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ज्ञायकस्वभाव कहते ही अनन्त गुण, परन्तु यहाँ ज्ञान की प्रधानता से वर्णन लेना है न? क्योंकि ज्ञानपर्याय जानती है न? इतना ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव है – ऐसा लेना है, वरना तो अनन्त स्वभाव हैं परन्तु अनन्त स्वभाव को जाननेवाला तो ज्ञान है न? और ज्ञान की प्रधानता है न? दूसरे हैं, उनकी उन्हें खबर नहीं। दूसरे अनन्त गुण हैं, उस गुण को गुण का पता नहीं। आहाहा!

श्रोता : यह कहाँ आवश्यक है गुण को स्वयं गुण कहना यह....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ये ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञान को उसके स्वभाव का पता है। आहाहा!

एक ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः... वास्तव में **अन्तरंगतत्त्व....** अर्थात् उस पर्याय में सब प्रकाशित होता है, इतना भी मैं नहीं; मैं तो परमार्थ से पूर्ण अन्तरंगतत्त्व (हूँ) आहाहा!

श्रोता : बहुत स्पष्ट।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड ज्ञायकभाव त्रिकाल, आहाहा! एक ज्ञायकस्वभावपना, ज्ञायकस्वभाव है, उससे वास्तव में

अन्तरंग तत्त्व तो मैं हूँ। ऐसे ज्ञान की वर्तमान पर्याय ऐसा जाने और निर्णय करती है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म पड़े परन्तु प्रभु! यह जानने से ही छूटकारा है, भाई! भव भ्रमण का फेरा कर-करके मर गया है। वहाँ किसी की सिफारिश काम नहीं करती। आहाहा! ऐसा जो यह भगवान, एक समय में अनन्त-अनन्त द्रव्य और प्रत्येक द्रव्य के अनन्त गुण, जिनका पार नहीं, वे सब मेरी पर्याय में प्रकाशमान होते हैं। मेरी पर्याय उन्हें बराबर जानती है - ऐसा कहते हैं। तथापि पर्याय ऐसा कहती है कि वास्तव में तो मैं अन्तरंग तत्त्व ज्ञायकस्वभावरूप मैं एक हूँ। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

श्रोता : पर्याय, अन्तरंग तत्त्व से अलग नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय निर्णय करती है। अन्तरंग तत्त्व ज्ञायकभाव पूरा, पूर्ण। वह पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं अन्तरंग परमात्मतत्त्व ज्ञायकभाव वह मैं हूँ। ज्ञायकतत्त्व जो ज्ञायक ध्रुव है, वह कहाँ निर्णय करता है? निर्णय करना है, वह तो पर्याय में है। यह तो विशिष्टता तो यह है कि ये सब गाथायें अलौकिक गाथायें हैं। आहाहा!

यहाँ तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... द्रव्य और उनके अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण, मेरी प्रगट पर्याय में प्रकाशमान हैं परन्तु मुझे और उनके कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी जो पर्याय एक समय की ज्ञान की, ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायें शक्तिवाली है, क्योंकि एक समय में ज्ञान की है, वैसी श्रद्धा की, स्थिरता की, वैसी वीर्य की, वैसी अनन्त ताकतवाली (पर्यायें हैं) परन्तु यह ज्ञान की पर्याय... उसे जानना है न? आहाहा! मेरा प्रभु तो अन्दर अन्तरंग तत्त्व, वह मैं एक हूँ - ऐसे सब पर्यायों के अनन्त भेद या गुणभेद वह नहीं; मैं तो एक हूँ। आहाहा! सूक्ष्म है प्रभु! अभी यह चलता नहीं, इसलिए लोगों को दूसरा लगता है। मूल चीज यह है और यह मूल चीज जाने बिना इसे सम्यग्दर्शन होता नहीं और इसका आगे बढ़ने का चारित्र आदि हो सकता नहीं।

आहाहा! क्योंकि टंकोत्कीर्ण ऐसा का ऐसा मानो अन्दर भगवान ऐसा, अदबदनाथ! है न यहाँ पालीताणा में? मूल में से टांकी से खोद-खोदकर अन्दर से निकाला है, वह। ऐसा यह मैं तो अन्दर में टंकोत्कीर्ण, अर्थात् पूर्ण अखण्डानन्द प्रभु ज्ञायकस्वभावत्व के कारण - इसके कारण मैं परमार्थ से अन्तरंग तत्त्व, वह मैं हूँ। आहाहा! परमार्थ से अन्तरंग तत्त्व तो मैं हूँ।

और ये परद्रव्य.... अनन्त सिद्ध, अनन्त जीव निगोद के, अनन्त परमाणु, आकाश, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, कालाणु, **मेरे स्वभाव से भिन्न....** मेरे स्वभाव से भिन्न – ये सिद्ध भी मेरे स्वभाव से भिन्न हैं। आहाहा! मेरा स्वभाव है, उससे सिद्ध अनन्त, परन्तु मेरे स्वभाव से वे भिन्न हैं। आहाहा! **वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से....** मेरे स्वभाव से भिन्न, परन्तु स्वभाववाले होने से। आहाहा! मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं। वे हैं तो भिन्न स्वभाववाले, परन्तु मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं। परमाणु, सिद्ध अरिहन्त, अनन्त निगोद के जीव, अनन्त परमाणु के स्कन्ध, अचेतन महास्कन्ध पूरा एक है, वह **मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले....** है। आहाहा!

परमार्थ से जैसे अन्तरंग तत्त्व मैं हूँ, वैसे **परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने के लिए असमर्थ हैं....** आहाहा! जैसे मैं ज्ञायकभाव एकरूप परमार्थ अन्तरंग तत्त्व हूँ; आहाहा! जिसकी दृष्टि का विषय जो ज्ञायक त्रिकाल वह मैं हूँ और मेरे स्वभाव से ये सब भिन्न स्वभाववाले, वे भी परमार्थ बाह्यपने को छोड़ने में असमर्थ हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! सन्तों ने अमृत बहाया है! दिगम्बर मुनियों ने तो... आहाहा! अमृत का प्रपात बहाया है। आहाहा! भगवान! तेरी एक समय की ज्ञान की एक गुण की एक पर्याय में इतने-इतने अनन्त भिन्न स्वभाववाले, तेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले प्रकाशित हों, तथापि तू ऐसा कहता है कि मैं तो इतना ही नहीं; मैं तो अन्तरंग ज्ञायकभाव त्रिकाल, ज्ञायकभाव वह मैं परमार्थ तत्त्व हूँ। आहाहा! समझ में आये उतना समझना, प्रभु! यह तो पार नहीं पड़े, भाई! आहाहा!

वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले.... आहाहा! वे सिद्ध भी मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले। यह स्वभाव वहाँ नहीं न? आहाहा! **होने से परमार्थतः....** परमार्थतः उसमें भी आया था। परमार्थतः अन्तरंगतत्त्व ज्ञायकभाव वह मैं हूँ। **परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने के लिए असमर्थ हैं....** अर्थात् कि मुझे ज्ञानपर्याय में वे भिन्न स्वभाववाले प्रकाशित होने पर भी, वे ज्ञेयपना छोड़ते नहीं और ज्ञेयपना छोड़कर मेरी पर्याय में आ नहीं जाते। आहाहा! **(क्योंकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते)....** अर्थात् क्या? क्यों कहा यह? कि मेरे प्रभु की पर्याय में – ज्ञान प्रकाश में वे सब प्रकाशित हों, तथापि उस प्रकाश में वे ज्ञेय मेरी ज्ञान की पर्याय में आते

नहीं। आहाहा! उनमें रहकर मेरे ज्ञान की पर्याय में प्रकाशित होते हैं; मुझमें आकर प्रकाशित होते हैं – ऐसा नहीं है। आहाहा! वे मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं। परमार्थतः उस बाह्यपने का मेरी पर्याय में उसका जानना होता है, इसलिए वे बाह्यपना छोड़कर मुझमें आते हैं – ऐसा नहीं है। बाह्यपने-बाह्यपने रहकर मेरी पर्याय उन्हें प्रकाशती है। आहाहा! **(क्योंकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते)....** आहाहा!

मेरी पर्याय में प्रकाशित होते हैं, इसलिए वे स्वभाव छोड़कर यहाँ आ जाते हैं (ऐसा नहीं है)। आहाहा! क्या टीका तो टीका! गजब बात! ऐसी टीका भरतक्षेत्र में अन्य कहीं है नहीं बापू! आहाहा!

परमार्थतः एक... आहाहा! वह यहाँ कहा था असमर्थ है। **और यहाँ स्वयमेव, (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त....** स्वयंमेव नित्य उपयोग, स्वयं के कारण स्वयंमेव नित्य उपयोग। वह चीजें ज्ञात होती हैं, उसके कारण यहाँ शुद्ध उपयोग हुआ है – ऐसा नहीं है। आहाहा! भाग्यवान के कान में पड़े यह ऐसी बातें हैं। आहाहा! प्रभु! आहाहा! **यहाँ स्वयमेव, (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त...** यह जानने का नित्य उपयोग, कायमी उपयोग, और पर्याय में भी ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते। मेरे उपयोग में तो आते नहीं, आ जाते नहीं; उन सम्बन्धी का मेरा ज्ञान मुझमें आता है परन्तु वह चीज नहीं आती। आहाहा! वह चीज तो उसकी सत्ता में रहना, उसका अस्तित्व वहाँ रहता है। आहाहा! समझ में आया? अरेरे! आहाहा! ऐसा तत्त्व! अब साधारण, जहाँ जानकर अभिमान हो जाये उन्हें... आहाहा! मुझे आता है। बापू! यह बात बहुत कठिन है, भाई! आहाहा! कोई शास्त्र की जानकारी हो और मुझे आता है, इसका अन्दर अभिमान हो जाये... आहाहा!

श्रोता : अटक जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अटक गया, अटक जाता है, भाई! आहाहा! यह तो शास्त्र का ज्ञान खण्ड-खण्ड ज्ञान (है)। यह भगवान तो अखण्ड वस्तु (है)। उसकी ओर से हुआ ज्ञान, उस ज्ञान में सब ज्ञात हों, तथापि वे यहाँ आते नहीं और वह पर्याय परमार्थ से अन्तरंग तत्त्व से भिन्न है और परमार्थतः बाह्य तत्त्व से वह उसके स्वभाव को छोड़े बिना वह भिन्न है। आहाहा! कहाँ गये छोटाभाई? ऐसी बातें हैं यह सब। कलकत्ता में पैसे का ढेर हो, पाप का। आहाहा!

श्रोता : प्रथम पाप का उदय है, अकेला पाप ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसे पैसे मिले वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। अरे, भगवान! तीन लोक का नाथ तू इतने में प्रसन्न हुआ! क्या हुआ, तुझे प्रभु! आहाहा! तेरी पर्याय में अनन्त ज्ञात हों और वह पर्याय ऐसा कहे कि मैं तो अन्तरंग तत्त्व अखण्ड आनन्द हूँ, उसके बदले वहाँ प्रसन्न न होकर यहाँ प्रसन्न होता है ? आहाहा!

और यहाँ स्वयमेव, (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त.... कायम उपयोग मेरा त्रिकाली स्वभाव है। आहाहा! **और परमार्थ से एक,....** आहाहा! **अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान....** आहाहा! वह तो प्रकाशकत्व अन्तरंग तत्त्व एक हूँ परन्तु अब मैं तो मेरी पर्याय में अनाकुल आनन्द का अनुभव करता हुआ – ऐसा कहते हैं। आहा! **परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ....** आहाहा! आनन्दस्वरूपी आत्मा को मैं वेदता-अनुभव करता हुआ। आहा! ऐसा **भगवान आत्मा ही जानता है कि....** आहाहा! पाठ में उपयोग है, **उवओग एव अहमेक्को** अर्थात् एक अर्थ किया था न नीचे (फुटनोट में) ? उपयोग जानता है – टीका में ऐसा द्रव्य लिया, इसलिए दूसरा अर्थ करना पड़ा। आहाहा!

धर्मी ऐसा कहता है कि मेरी पर्याय में अनन्त-अनन्त प्रकाशित होते हैं, तथापि उनका स्वभाव वे छोड़ते नहीं और मैं, वे प्रकाशित होते हैं, उतनी पर्यायवाला नहीं। आहाहा! मैं तो अन्तरंग तत्त्व ज्ञायकभाव स्वभाववाला हूँ और वे मेरी पर्याय में प्रकाशित होते हैं, उनके साथ मैं अनाकुल आनन्द के अनुभव को अनुभव करता हूँ। आहाहा! वे सब प्रकाशित होते हैं; इसलिए वहाँ आकुलता होती है (– ऐसा नहीं है) आहाहा! ज्ञान का स्वभाव वर्णन किया, साथ ही आनन्द का वर्णन करते हैं। साथ में जहाँ हो वहाँ ज्ञान और आनन्द दो रखते हैं। मेरा प्रभु मेरी पर्याय में अनन्त द्रव्य के स्वभाव को, उन्हें स्पर्श किये बिना जानता है, उनको स्वभाव को छोड़ता नहीं, तथापि मैं उस पर्याय जितना नहीं। मैं तो अन्तरंग पूर्णानन्द ज्ञायक भाव हूँ, उसके कारण जैसे प्रकाश में अनन्त को प्रकाशित करता हूँ, अपनी पर्याय के बल से, वैसे मेरे आनन्द की पर्याय से मैं मेरे आत्मा को अनाकुल अनुभव करता हूँ। आहाहा!

स्वयमेव, नित्य उपयुक्त और परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ.... आहाहा! ऐसा **भगवान आत्मा ही जानता है....** आहाहा! अर्थात् कि वह जानता है, वह अनाकुलता आनन्द को अनुभव करता हुआ जानता है। जानते हुए उसे दु:ख होता है या आकुलता है या विकल्प है... आहाहा! ऐसा नहीं है।

यह ज्ञायकभाव अन्तरंग तत्त्व, वह मैं हूँ और पर्याय में यह सब प्रकाशित होता है, उस पर्याय जितना मैं नहीं हूँ। इतना तो प्रकाशता हूँ परन्तु उसके साथ मेरा भगवान अनाकुल आनन्दस्वरूप है, इसलिए वर्तमान में भी मैं अनाकुल आनन्द का अनुभव करता हूँ। ऐसा जो भगवान आत्मा, आहाहा! वह जानता है कि **अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ....** ऐसा **भगवान आत्मा ही जानता है कि...** आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

धन्य भाग्य ऐसी वस्तु रह गयी! परमार्थ और केवली का विरह पड़ा परन्तु विरह भूलावे ऐसी बातें हैं। आहाहा! मैं आत्मा, मेरी पर्याय में - एक ज्ञान की पर्याय में अनन्त-अनन्त द्रव्यस्वभाव जो हैं, वे मेरा स्वभाव छोड़े बिना मुझे प्रकाशित करते हैं, उनके साथ मेरा भगवान आत्मा एकरूप है उसे अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ... आहाहा! अनन्त को जाना तब कहलाता है कि जिसके साथ आनन्द का अनुभव हो - ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या शैली! गजब नाथ! उन अनन्त को जानने की प्रकाश की पर्याय, उसे... उसे... उसे... तब कहते हैं... आहाहा! कि एकरूप अनाकुल भगवान आत्मा का अनुभव (ज्ञान और आनन्द) दो साथ में... आहाहा! **भगवान आत्मा ही जानता है कि....** आहाहा! अनाकुल आत्मा के आनन्द को... आहाहा! **अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि....** यह टीका! आहाहा! **मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ,....** आहाहा!

मैं प्रगट.... व्यक्त, **प्रगट निश्चय से एक ही हूँ,....** आहाहा! उन अनन्त को जानने पर भी मैं अनेक नहीं हो जाता और पर्याय में अनेकपना होने पर भी, द्रव्य अनेक नहीं हो जाता; द्रव्य तो एकरूप ही रहता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! मैं प्रगट वास्तव में एक ही हूँ। **इसलिए ज्ञेयज्ञायकभावमात्र से उत्पन्न परद्रव्यों के साथ परस्पर मिलन....** मेरे और ज्ञेय और ज्ञायकभावमात्र से, मेरे ज्ञायकभावमात्र से और ज्ञेय के साथ

जानने का उत्पन्न हुआ, तथापि **प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण.....** आहाहा! मेरे उन ज्ञेय को जानने का मेरा स्वभाव होने पर भी, मेरा स्वाद अनाकुल आनन्द और उसकी चीज का स्वाद अलग, आहाहा! **होने पर भी, प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण....** इन छह द्रव्यों का स्वभाव... अरे! अनन्त सिद्धों का स्वभाव, उनके स्वाद का भाव उसके पास, अनन्त निगोद के स्वाद का आकुलता का भाव उसके पास, मैं उन्हें प्रकाशित करता होने पर भी, आहा! मेरे स्वाद के भेद के कारण **धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ;....** आहाहा! वे मेरे हैं – ऐसा नहीं। मैं तो निर्मम हूँ। आहाहा! सिद्ध मेरे हैं, अरिहन्त मेरे हैं, गुरु मेरे हैं – ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब तो कहीं रह गया। आहाहा! अनन्त सिद्ध मेरी पर्याय में प्रकाशित होते हैं तो भी ज्ञेय-ज्ञायकभावपने के भाव के कारण मेरे स्वाद से वह चीज भिन्न है, आहाहा। इसलिए उसके प्रति निर्मम हूँ। आहाहा!

सबको प्रकाशित करने की पर्याय में इतनी ताकत होने पर भी, अन्तरंग तत्त्व, वह एक मैं हूँ और उस तत्त्व अनाकुल आनन्द का वर्तमान में मैं अनुभव करता हूँ। अकेला जानना हुआ है – ऐसा नहीं, यह कहते हैं। आहाहा! मेरा स्वाद भी बदल गया। आहाहा! प्रकाशित करने में आये और मेरा अनाकुल आनन्द का स्वाद भी साथ में आया। आहाहा! ऐसे अनाकुल आनन्द के स्वाद से दूसरों के स्वाद के तत्त्व भिन्न हैं – ऐसा मैं जानता हूँ। आहाहा! क्या टीका, यह गजब बात है न! अरे! एक-एक श्लोक! यह बात कहीं दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं नहीं है। लगे, दुःख लगे दूसरे को कि तब हमारा यह सम्प्रदाय खोटा? बापू, भाई! है वह है, बापू! आहाहा! **प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण....** अर्थात् अनाकुल आनन्द तो मैं हूँ परन्तु उसकी पर्याय में भी प्रगट स्वाद आता है। आहाहा! समझ में आया? **प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण....** स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण। आहाहा! **धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ;....** आहाहा! वे मेरे नहीं हैं। मेरे स्वाद में आता हुआ मेरा प्रभु, आहाहा! वह वे दूसरे मेरे नहीं है। आहाहा! ज्ञान और आनन्द की मुख्यता दो की वर्णन की, है तो अनन्त गुण परन्तु प्रकाश-असाधारण ज्ञानस्वभाव और उसके साथ आनन्दस्वभाव इन्हें... आहाहा! इन्हें दो रूप वर्णन किया, भाई! अनन्त तो साथ है।

क्योंकि सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से.... मेरा प्रभु सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से... एकत्व में प्राप्त है; द्वैतपना उसमें होता ही नहीं। आहाहा! **सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है;....** आहाहा! मैं सबको प्रकाशित करता हूँ, तथापि मेरे अनाकुल स्वभाव के स्वाद से दूसरों को जानता हूँ, तो भी उनके प्रति निर्मम हूँ और वह मेरा आत्मा ज्यों का त्यों स्थित रहता है। आहाहा! द्रव्यरूप से, गुणरूप से, और पर्यायरूप से आनन्द को प्रकाशित करता हुआ ज्यों का त्यों ही स्थित है। आहाहा! उनके और मेरे कोई सम्बन्ध दूसरों को हैं नहीं। आहाहा! कहो, रामजी, गोविन्दरामजी नहीं, हम रामजी कहेंगे, राम है न आत्मा! आहाहा!

श्रोता : गोविन्द और राम दोनों एक ही होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : गोविन्द और राम, आहाहा! आहाहा! क्या भाषा में भाव भरे हैं, आहाहा! अब तो सन्त जब टीका करते होंगे... आहाहा! उनकी दशा में भले ही विकल्प उत्पन्न हुआ, तथापि उसे और सबको जानता हुआ प्रकाशमान ऐसा मेरा अन्तरंग तत्त्व... आहाहा! उस दूसरे के स्वभाव से भिन्न है और मेरे स्वभाव से दूसरे स्वभाववाले भिन्न हैं। आहाहा!

ऐसा मेरा प्रगट प्रभु... आहाहा! है? **सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से....** अनेक अनन्त को जानने पर भी मैं एकपने में हूँ, अनन्त को जानते हुए मैं एकपने में हूँ; अनेक को जानते हुए मैं अनेकरूप हो नहीं गया। आहाहा! कितनी धीरज चाहिए, बापू! आहाहा! मेरा आत्मा और दूसरे तो ज्यों के त्यों स्थित रहते हैं। आहाहा! **(अपने स्वभाव को कोई पदार्थ नहीं छोड़ता)। इस प्रकार ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ।** आहाहा! ज्ञेय भी उसके स्वभाव में स्थित एकरूप रहते हैं। मैं भी मेरे स्वभाव में एक हूँ। आहाहा! **इस प्रकार ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ।** आहाहा! ज्ञेयों से मेरा ज्ञायकभाव भिन्न है - ऐसा यहाँ भेदज्ञान किया। आहाहा!

कलश - ३१

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१ ॥

श्लोकार्थ : [इति] इस प्रकार पूर्वोक्तरूप से भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर जब [सर्वैः अन्यभावैः सह विवेके सति] सर्व अन्यभावों से भिन्नता हुई तब [अयं उपयोगः] यह उपयोग [स्वयं] स्वयं ही [एकं आत्मानम्] अपने एक आत्मा को ही [बिभ्रत्] धारण करता हुआ, [प्रकटितपरमार्थैः दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिः] जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शनज्ञानचारित्र से जिसने परिणति की है ऐसा [आत्म-आरामे एव प्रवृत्तः] अपने आत्मारूपी बाग (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता।

भावार्थ : सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना तब उपयोग के रमण के लिये अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा। इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप हुआ वह आत्मा में ही रमण करता है - ऐसा जानना।

श्लोक - ३१ पर प्रवचन

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं — (कलश ३१)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।

प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

आहाहा! **इस प्रकार पूर्वोक्तरूप से भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर....** पहले ३६ (गाथा) में भावकभाव का कहा था। कर्म जो भावक है, उससे पर्याय में भाव / भाव्य विकार हो, वह भावकभाव उससे भेद है। भावककर्म के निमित्त से होनेवाला विकारी भाव्य (अवस्था), उस भाव्य और भावक से भगवान भिन्न है – ऐसा बतलाया। आहाहा! उस विकारी पर्याय से भी भगवान भिन्न है। वह विकारी पर्याय तो भावक का भाव है, उससे भगवान आत्मा भिन्न है – ऐसा बतलाया। आहाहा!

यहाँ ज्ञेय भावों से भेद है – ऐसा बतलाया (गाथा) ३७ में (बतलाया) अनन्त सिद्ध हैं, अरिहन्त हैं, उनसे भी यह प्रभु तो भिन्न है। आहाहा! **'सर्वैः अन्यभावैः सह विवेके सति' सर्व अन्यभावों से जब भिन्नता हुई तब....** विवेक, विवेक अर्थात् भिन्न, भिन्नता। **सह** साथ में **विवेके** विवेक अर्थात् भेद, भेदज्ञान हुआ। **सर्व अन्यभावों से जब भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्मा को ही धारण करता हुआ,....** भेद से बात की है। उपयोग है, वह स्वयं अपने एक आत्मा को ही धारण करता हुआ।

'प्रकटितपरमार्थैः दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिः' जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है – ऐसे दर्शनज्ञानचारित्र से जिसने परिणति की है.... आहाहा! जिसने ऐसा अन्तरंग तत्त्व, ऐसे भगवान दृष्टि में लेकर परिणमित हुआ, उसे दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों परिणमित हुए हैं, कहते हैं। आहाहा! वापस वहाँ उपयोग शब्द लिया न! पाठ में आत्मा लिया। उपयोग है, वह ही मैं हूँ। फिर टीका में आत्मा लिया न! भाई! यहाँ उपयोग लिया, आत्मा लिया परन्तु यह उपयोग, आत्मा, यह भेद – ऐसा भी नहीं। वह तो आत्मा ही पूरा, उपयोग वह आत्मा ऐसा भेद डालने की अपेक्षा उपयोगस्वरूप ही भगवान आत्मा अभेद है। आहा!

धारण करता हुआ,.... भगवान आत्मा अपने स्वभाव को धारण करता हुआ — दर्शन-ज्ञान और चारित्ररूप परिणमता हुआ... आहाहा! भावकभाव से भिन्न हुआ, ज्ञेयभाव से भिन्न हुआ; अब स्वयं अपने स्वभाव को धारण करता हुआ.... आहाहा! अब ऐसी बातें!

यह तो मन्त्र हैं! आहाहा! **जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है....** परमार्थ अर्थात् भगवान आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं। आहाहा! अन्तरंग तत्त्व वह मैं - ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन; अन्तरंग तत्त्व, वह मैं, उसका ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान; अन्तरंग तत्त्व में रमणता, वह चारित्र (है)। आहाहा! ऐसे जो स्वभाव में दर्शन-ज्ञान-चारित्र थे, वे पर्याय में प्रगट हो गये हैं। आहाहा! समझ में आया? प्रगट कहा न? आहा! '**प्रकटितपरमार्थै:**' ऐसा है न पाठ? परमार्थ-परमदर्शन, ज्ञान और चारित्र। मैं ज्ञायकभाव, वह मैं हूँ - ऐसी प्रतीति हुई, वह सम्यग्दर्शन प्रगट; ज्ञायकभाव, वह मैं हूँ — ऐसा ज्ञान वह प्रगट, वह पर्यायज्ञान और उस ज्ञान-दर्शन में स्थिरता हुई, वह प्रगट दर्शन-ज्ञान और चारित्र। आहाहा! शक्तिरूप से तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र थे। समझ में आया? वे दो किये — ज्ञान प्रकाश, आनन्द और अनुभव तथा यह तीसरा अब यहाँ चारित्र, वह आनन्द के साथ लिया। ज्ञानप्रकाश था न? ज्ञान के दो भेद किये। अब यहाँ दर्शन और ज्ञान दो, प्रतीति और ज्ञान; चारित्र में आनन्द आया। आहाहा! '**प्रकटितपरमार्थै: दर्शनज्ञानवृत्तै:**' देखो! यह वृत्ते शब्द पड़ा है, वह व्रत नहीं अर्थात् चारित्र के स्वरूप की रमणता, वह **वृत्तै:**।

श्रोता : परिणमन....

पूज्य गुरुदेवश्री : परिणमन, स्थिर। आहाहा!

जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है.... परमार्थ प्रगट हुआ है। परम पदार्थ तो अन्तरंग तत्त्व तो है, उसे अब परमार्थ प्रगट हुआ है। आहाहा! दर्शन-ज्ञान और चारित्र जिसे प्रगट हुए हैं। **जिसने परिणति की है - ऐसा अपने आत्मारूपी बाग में प्रवृत्ति करता है,....** आहाहा! आत्मारूपी बाग में है न? '**आत्म-आरामे**' — प्रवृत्ति करता है। आत्मा अपने स्वरूप में प्रवृत्ति करता है। आहाहा! आत्मारूपी आराम! आरामस्थल! विश्रामस्थल में आराम में रमता है। आहाहा! **अन्यत्र नहीं जाता।** वह राग में और पर में नहीं जाता। आहाहा! उसे यहाँ आत्मा को जीव कहा जाता है। जीव अधिकार है न? आहाहा! लोगों को-उस व्यवहार की क्रिया के रसवालों को यह ऐसा लगता है कि यह क्या है? कैसा यह? बापू! मार्ग यह है, भाई! वह क्रिया का राग है, वह तो भावक का भाव है। क्रिया का जो राग है न — दया, दान, व्रत वह तो भावक का भाव है; वह स्वभावभाव नहीं। आहाहा!

उससे भी यहाँ तो भेद बतलाकर... आहाहा! वह जाननेवाला भगवान प्रकाशित होता है और अनाकुल आनन्द के स्वाद में रहता हुआ प्रगट हुआ है। आहाहा!

यह महामांगलिक है। आहाहा! **अपने आत्मारूपी (क्रीड़ावन) में....** आत्मा में प्रवृत्ति करता है। टीका में लिखा है, टीका करके उसमें कहते हैं — आत्मा, उपयोग है — ऐसे दो भाग मत करो। आत्मा, आत्मा में है। निश्चय से अभेद रखो, भेद डालकर कथन मत करो – ऐसा लिखा है। कलश-टीका में, उस कलश-टीका में, हों! अध्यात्म तरंगिणी में।

भावार्थ : सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से.... उनसे उत्पन्न हुए भावों – विकार आदि **जब भेद जाना....** सर्व परद्रव्यों से और उनसे उत्पन्न हुए भावों, अर्थात् परद्रव्य, वे ज्ञेय और यह भावकभाव – उत्पन्न हुए भाव तो **जब भेद जाना तब उपयोग के रमण के लिये अपना आत्मा ही रहा,....** आहाहा!

जब राग और परज्ञेय से भगवान को भिन्न जाना, तब उसके रहने का स्थान, रमने का (स्थान) तो आत्मा रहा। आहाहा! जो पर में रमता था, उससे भेद किया; इसलिए उसे अब आत्मा में रहने का रहा। आहाहा! **उपयोग के रमण के लिये अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा।** आहाहा! **इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप हुआ....** जीव अधिकार की अन्तिम ३८वीं गाथा कहनी है... **दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप हुआ....** पर्याय में.... **वह आत्मा में ही रमण करता है.... हुआ वह आत्मा में ही रमण करता है – ऐसा जानना।** आहाहा!

अब यह ३८ (गाथा) का उपोद्घात है। **अब, इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप परिणत आत्मा को स्वरूप का संचेतन कैसा होता है....** उसे वेदन कैसा होता है? **यह कहते हुए आचार्य इस कथन को समेटते हैं —** ३८ गाथा कहकर जीव का अधिकार पूरा करते हैं।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा ३८

अथैव दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यास्यात्मन: कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेद -यन्नुपसंहरित -

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि।।३८।।

अहमेक: खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमय: सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किञ्चिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि।।

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यन्तमप्रतिबुद्ध: सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमान: कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकराव-लोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूत: स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योति:, समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानव्यावहारिकभावै: चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेक:, नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जरा-बन्धमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्य: टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेनात्यन्त-विविक्तत्वात् शुद्ध:, चिन्मात्रतया सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शन-ज्ञानमय:, स्पर्शरसगन्धवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेऽपि स्पर्शादिरूपेण स्वयम-परिणमनात् परमार्थत: सदैवारूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमान: प्रतपामि। एवं प्रतपश्च मम बहिर्विचित्रस्वरूपसम्पदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न किंचनाप्यन्यत्पर-माणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्-भावयति, स्वरसत एवापुन:प्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात्।

अब, इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप परिणत आत्मा को स्वरूप का संचेतन कैसा होता है, यह कहते हुए आचार्य इस कथन को समेटते हैं —

मैं एक , शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे!॥३८॥

गाथार्थ : दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि — [खलु] निश्चय से [अहम्] मैं [एकः] एक हूँ, [शुद्धः] शुद्ध हूँ, [दर्शनज्ञानमयः] दर्शनज्ञानमय हूँ, [सदा अरूपी] सदा अरूपी हूँ; [किंचित् अपि अन्यत्] किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य [परमाणुमात्रम् अपि] परमाणुमात्र भी [मम न अपि अस्ति] मेरा नहीं है, यह निश्चय है।

टीका : जो, अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर जो किसी प्रकार से समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोने को देखे, इस न्याय से, अपने परमेश्वर (सर्व सामर्थ्य के धारक) आत्मा को भूल गया था उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके (- उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि - मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता, इसलिए मैं एक हूँ; नर, नारक आदि जीव के विशेष; अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं उनसे, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायस्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिए मैं शुद्ध हूँ; चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता, इसलिए मैं दर्शनज्ञानमय हूँ; स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण जिसका निमित्त है, ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं हुआ, इसलिए परमार्थ से मैं सदा ही अरूपी हूँ। इस प्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। इस प्रकार प्रतापवंत वर्तते हुए

ऐसे मुझे, यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि, कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर पुनः मोह उत्पन्न करे; क्योंकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़कर - पुनः अंकुरित न हो इस प्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

भावार्थ : आत्मा अनादि काल से मोह के उदय से अज्ञानी था, वह श्री गुरुओं के उपदेश से और स्व-काललब्धि से ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ। ऐसा जानने से मोह का समूल नाश हो गया, भावकभाव और ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूपसंपदा अनुभव में आयी; तब फिर पुनः मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है ? नहीं हो सकता है।

प्रवचन नं. १०८ गाथा ३८ दिनाङ्क १४-१०-१९७८ शनिवार
आसोज शुक्ल १३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, गाथा ३८ है। उसका श्लोक

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि।।३८।।

नीचे हरिगीत

मैं एक , शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे!॥३८॥

टीका : जो,.... यह आत्मा **अनादि मोहरूप अज्ञान से...** अनादि काल का आत्मा है, वह अनादि से राग-द्वेष आदि विकार परिणाम, उसके मोह में - उसकी एकताबुद्धि में अज्ञान था। अनादि से अपने स्वरूप चिदानन्द प्रभु को भूलकर, आहाहा! **मोहरूप अज्ञान से.. मोहोन्मत्त...** मूल तो मोह का अर्थ अज्ञान किया, मोह का। आहाहा! अपना स्वरूप क्या है, उसको भूलकर अनादि से यह शुभ-अशुभराग, यह शरीर मेरा है - ऐसा

मूढ़ मिथ्यादृष्टि अनादि से परिभ्रमण ऐसे भाव से करता है। आहाहा! **अज्ञान से उन्मत्तता के कारण....** पागल हुआ है पागल। आहाहा!

अपना भगवान, चीज, सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर ने जो आत्मा कहा, वह आत्मा तो सच्चिदानन्द शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु शुद्ध चैतन्य है। उसे न जानकर अनादि से रागादि परचीज में मोह से गहल-पागल होकर... आहाहा! **अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था....** अत्यन्त अज्ञानी था, अप्रतिबुद्ध था। वस्तु का कुछ भान नहीं था। आहाहा! चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते-करते अपनी चीज को भूलकर पागल हो गया। आहा! शरीर यह जड़ मिट्टी धूल है, इसे अपनी चीज है — ऐसा माना। अन्दर जो शुभ-अशुभराग आता है — हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग वासना, वह राग है, दु:ख है और अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव आता है, वह शुभराग है, दु:ख है, आकुलता है, परन्तु उस चीज को अपनी मानकर... आहाहा! जो अपने में है नहीं और परवस्तु है, उसको अपनी मानकर... सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! अप्रतिबुद्ध **अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था...** कोई कहते हैं कि यह समयसार तो मुनि को समझाना है, तो यहाँ तो कहते हैं — अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, उसको यह समयसार समझाते हैं। अत्यन्त अज्ञानी है, उसको समझाते हैं। आहाहा!

अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, अनाकुल आनन्द का नाथ आत्मा अन्दर पड़ा है। उसको भूलकर शरीर या राग आदि के प्रेम में पागल हो गया है, मूढ़ हो गया है, कहते हैं। आहाहा! अप्रतिबुद्ध है, कुछ भान नहीं, कुछ ज्ञान नहीं, अज्ञान में पागल हो गया। आहाहा! लक्ष्मी, जड़ मिट्टी, धूल तो कहे मेरी है। स्त्री का शरीर और आत्मा पर, तो कहता है कि मेरी है। पैसा, इज्जत पर — तो कहता है मेरी है। अन्दर में पाप का परिणाम होता है, वह विकार और दु:ख है, तो कहता है मेरा है। पुण्य का परिणाम जो दया, दान, व्रत आदि का विकल्प उठता है, वह राग है, दु:ख है, तो अज्ञानी उसको अपना मानता है। आहाहा! ऐसा **अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था,** अत्यन्त मूढ़ था। आहाहा!

अनादि काल से अपना स्वरूप भूलकर, अपने परमेश्वर, अपना परमेश्वर चिदानन्द प्रभु आत्मा, अपना परमेश्वर, उसको भूलकर पर में ईश्वरता, बड़प्पन की महिमा की। राग - पुण्य का भाव और उसका फल, उसकी महिमा आ गयी, वह अप्रतिबुद्ध अज्ञानी मूढ़

है। उसको **विरक्त गुरु से....** अब क्या कहते हैं? उसको सन्त, गुरु जो उसको समझाया। कैसा गुरु? विरक्त गुरु। जिसे राग और पर में से रक्तपना उड़ गया है और अपने आनन्दकन्द में जिसकी रक्तता उत्पन्न हुई है। आहाहा!

गुरु कैसा होता है? जिसको शुभ-अशुभराग में लीनता-रक्तता छूट गयी है, विरक्त हो गयी हैं। आहाहा! और अपना आनन्दस्वरूप प्रभु, अनाकुल शान्ति और आनन्द का कन्द प्रभु आत्मा में जिसकी रक्तता / लीनता है। राग से-पर से विरक्तता है, अपने स्वभाव में रक्तता है। आहाहा! ऐसे गुरु निर्ग्रन्थ मुनि, सन्त, आहाहा! उन्होंने उसे समझाया – अज्ञानी को समझाया, भाई! प्रभु! तू क्या है? आहा! अरे! तू क्या करता है, अनादि से, है?

विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर.... उसके गुरु ने कहा – प्रभु! तुम राग से, शरीर से भिन्न है प्रभु! तेरी चीज में तो अतीन्द्रिय आनन्द भरा है नाथ! तू सुख का सागर है और यह रागादि दुःख का बीज-सब संसार का बीज है। आहा! उससे तेरी चीज भिन्न है न प्रभु! ऐसा विरक्त गुरु से निरन्तर समझाया का अर्थ? निर्ग्रन्थ गुरु सन्त आत्मज्ञानी अनुभवी – जिनको अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन वर्तता है, वे कहीं निरन्तर समझाने को निवृत्ति-फुर्सत उनको नहीं है परन्तु गुरु ने जो उसे कहा – प्रभु! भगवन्त आत्मा! आहाहा! तेरी चीज जो राग में मूर्त हो गयी है, वह चीज तू नहीं है। आहाहा! तुझमें तो आनन्द और शान्ति पड़ी है, प्रभु! उसकी दृष्टि कर न! यह क्या किया तूने? पुण्य और पाप के फल में मोहित हुआ पागल हो गया है प्रभु तू! आहाहा! अतः एक बार कहा परन्तु वह समझनेवाला, उसने निरन्तर विचार किया तो निरन्तर समझाये जाने पर – ऐसा कहने में आया। समझ में आया? उन्होंने एक बार कहा, किसी समय विशेष भी-बारम्बार भी आते हैं परन्तु वे बारम्बार समझावे, कहने पर इसने बारम्बार अन्दर में निरन्तर उसको विचार में लिया। ओहो! मैं तो सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा (हूँ)। यह राग आदि विकल्प और शरीरादि तो पर हैं, मुझमें नहीं; मुझमें है, उसको मैंने मेरा माना नहीं, मुझमें नहीं है, उसको मुझमें माना — ऐसी विचारधारा श्रोता ने बारम्बार विचारधारा अन्दर में चलायी। आहाहा! फुर्सत कहाँ परन्तु यह, आहाहा!

निरन्तर समझाये जाने पर.... उसका अर्थ यह है। एक बार भी हमने कान में डाला, डाल दिया प्रभु! तू ज्ञायकस्वभाव है न, नाथ! तू शुद्ध है, ध्रुव है, पवित्रता का पिण्ड है; यह राग आदि और शरीरादि तेरी चीज नहीं है। आहाहा! ऐसे समझाये जाने पर बारम्बार उसका विचार करने पर... आहाहा! रटन लगायी, ओहो! मैं आनन्दस्वरूप; राग नहीं, पुण्य नहीं, पाप नहीं, शरीर नहीं, कर्म नहीं — ऐसे अन्दर में लगन लगायी। आहाहा! किसने ? श्रोता ने। अज्ञानी था, उसे गुरु ने समझाया तो वह समझाने पर उन्होंने जो कहा था, उसका बारम्बार घोलन किया। ओहो! मैं तो ज्ञायकभाव हूँ, जानन... जानन... जानन... जानन... ज्ञातादृष्टा स्वभावस्वरूप मैं हूँ; जो राग आदि विकल्प है, वह मैं नहीं हूँ, वह दु:खरूप दशा है; मैं तो आनन्दरूप हूँ। आहाहा! शरीर आदि मिट्टी, यह जड़ धूल है, वह मैं नहीं; मैं तो शरीररहित अशरीरी चैतन्यस्वरूप हूँ। आहाहा! ऐसा बारम्बार गुरु ने समझाया का अर्थ — बारम्बार उसने विचार का घोलन किया। आहाहा!

किसी प्रकार से समझकर,.... स्वयं बोध से या उपदेश से समझकर। आहाहा! किसी प्रकार से लिया न ? आहाहा! अन्तर आत्मा 'सिद्ध समान सदा पद मेरौ' इस आत्मा का स्वरूप अन्दर सिद्धसमान है — ऐसा बारम्बार विचार के घोलन में लिया।

चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्धसमान सदा पद मेरौ।
मोह महातम आतम अंग, कियौ परसंग महा तम घेरौ॥

आहाहा! '**ज्ञान कला उपजी मौकूं**' यह राग और विकल्प जो शुभ-अशुभराग है, वह मैं नहीं। आहाहा! ऐसी अपनी ज्ञान की कला जगी, '**ज्ञान कला उपजी अब मौकूं कहूँ गुण नाटक आगम केरौ, तासु प्रसाद सधे शिवमारग वेगी मिटे घटवास बसेरो**' हड्डियों के, चमड़ी के, मांस के पिण्ड में रहना, यह शीघ्र मिट जायेगा। यदि इस प्रकार मैंने भेदज्ञान में रमण किया तो घट में रहना छूट जायेगा। मैं सिद्ध हो जाऊँगा। आहाहा! समझ में आया ? यह ऐसी बात है, भाई! आहाहा! **किसी प्रकार से समझकर, सावधान होकर,....** सावधान! सावधान! सावधान! मैं - मेरी चीज अन्दर आत्मतत्त्व सिद्धसमान स्वरूप में सावधान हुआ। जो ऐसे (पर में) सावधान था-राग और राग के फल, पर आदि शरीर आदि में सुन्दर आदि देखकर आकर्षित होता था। अरेरे! धूल में यह

तो मिट्टी है भाई! मांस और हड्डियाँ हैं। यह आकर्षित... आत्मा के आनन्द में आकर्षित हो गया। सावधान हुआ न? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

आत्मज्ञान होता है तो कैसे होता है? — यह बात कहते हैं और आत्मधर्म - सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र का परिणमन उसे किस प्रकार होता है, यह बात चलती है। आहाहा! तो गुरु ने उससे कहा कि तेरी चीज तो अन्दर आनन्दकन्द प्रभु, तू सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् अर्थात् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का पिण्ड प्रभु तू है। आहाहा! यह पुण्य और पाप, दया और दान, काम और क्रोध के विकल्प उठते हैं, प्रभु! वह तू नहीं, वह तो दुःख है, आकुलता है। आहा! शरीर आदि, कर्म आदि तो भिन्न अजीवतत्त्व है, वह तो तेरी पर्याय में भी नहीं, तेरी पर्याय में जो पुण्य और पाप का शुभाशुभ विकल्प / राग उठता है, वह भी तू नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई!

सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज है और उस चीज के बिना यह व्रत, तप, भक्ति आदि करे, वह सब निरर्थक है। संसार के खाते - भटकना है। आहाहा! यहाँ कहते हैं, प्रभु! तुम एक बार सुन, सावधान हो जा! कहते हैं। देखो! आया न? समझकर सावधान हो गया। अरे! मैं चीज क्या हूँ? अरे! यह राग और पुण्य-पाप की विकल्प की वृत्तियाँ हैं, वे तो दुःखरूप-पर हैं, मेरी चीज नहीं। मैं तो ज्ञाता, ज्ञायकस्वभाव, शुद्धस्वभाव, ध्रुवस्वभाव परमपारिणामिकस्वभाव, सहज स्वभावभाव, वह मैं हूँ — ऐसे सावधान हो गया। अरे! ऐसी बात है। अप्रतिबुद्ध था, वह सावधान हो गया — ऐसा कहते हैं। है? आहाहा! **अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था....** आहाहा! चैतन्य की चीज क्या है? उसको कुछ जरा पता नहीं और विकार तथा पुण्य-पाप के फल में एकाकार... आहाहा! पर में सुखबुद्धि, शरीर में सुखबुद्धि, पुण्य-पाप के भाव में सुखबुद्धि, पैसा, इज्जत, कीर्ति, स्त्री, परिवार में सुखबुद्धि... मूढ़ है। सुख तो भगवान आत्मा में अन्दर है, उसका तो पता नहीं और पर में सुख की मूढ़ता - ऐसा अप्रतिबुद्ध था। उसको गुरु ने समझाया। आहाहा! समझाने पर निरन्तर मनन में ले लिया - सावधान हुआ। आहाहा! अरे! मैं कौन हूँ? - यह कहते हैं। देखो! **जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठी में रखे हुए....** मुट्ठी, वह दातून-वातून करते हैं न, तो सोने का दाँत हो या ऐसा कोई निकालकर रख दिया, (दाँत)। भूल गया। मुट्ठी में सोना था, वह भूल गया।

कहाँ... कहाँ है ? वह अंगूठी निकालकर रखते हैं न। **जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो....** सोने को भूल गया। सोना – सोना मुट्ठी में था, आहाहा! आहाहा! **और फिर स्मरण करके....** फिर याद आया कि अरे! यह रहा सोना। था तो सही मुट्ठी में, परन्तु भूल गया। कहाँ रखा ? यह तो दाँतून करते हुए सोने की अँगूठी हो जरा ताक हो या जरा लकड़ी के दरवाजे पर रखा हो, जरा भूल गया। कहाँ रखा ? फिर याद आवे। ओहोहो! यहाँ रखी। आहाहा! ऐसे **फिर स्मरण करके उस सोने को देखे....** सोने को। **इस न्याय से,....** यह न्याय – यह दृष्टान्त भगवान ने दिया। आहाहा! ऐसी बातें भाई! बहुत कठिन। आहाहा! अन्तर वस्तु भगवान ज्ञायकभाव से भरी पड़ी प्रभु है। आहाहा! उसमें राग और द्वेष के विकल्प की गन्ध नहीं है। आहाहा! अरे! पर्याय में अपूर्णता है, वह भी उसमें नहीं है। आहाहा! ज्ञाता-दृष्टा भगवानस्वरूप प्रभु मैं हूँ; मैं यह नहीं — ऐसे गुरु से समझाये जाने पर अपने विचार की धारा में समझ गया। आहाहा! समझ में आया ? ऐसी बात है। भाई! आहाहा!

यह शरीर... कहा था न एक बार ? एक बाई / लड़की, अठारह वर्ष की लड़की थी, उसके पति को दूसरी थी, उसका पति पहला विवाह किया तो वह गुजर गयी, विवाह हुआ और इसे यहाँ शीतला निकली। शीतला क्या कहते हैं ? (श्रोता : चेचक) इतने दाने निकले कि दाने-दाने में कीड़े, यह जीव-जीव क्या कहते हैं ? (श्रोता : कीड़े) कीड़े। सुन्दर शरीर था गोरा, हमने उसे देखा था, फिर कीड़े पड़ गये। बिस्तर पर सुलावे, करवट ऐसे बदले तो हजारों कीड़े गिरें, गद्दे में सुलावें, करवट ऐसे बदले तो हजारों कीड़े इस ओर गिरें, ऐसे फिर तो इस ओर... वह कहे, बा, माता! मैंने ऐसे पाप इस भव में किये नहीं मेरी तो अभी उम्र अठारह वर्ष की है, दो वर्ष का विवाह है, यह कहाँ से आया ? यह क्या हुआ ? आहाहा! वह दाने.. दाने... दाने होते हैं न ? छिद्र और उसमें यह कीड़े। आहाहा! काटते हैं। बा! मैंने ऐसे पाप किये नहीं यह तो.... आहाहा! रोवे, उस बिस्तर पर ठीक नहीं लगे कहीं सोवे, ऐसे सोवे या ऐसे सोवे, ठीक नहीं लगे। क्योंकि उसमें सब कीड़े सड़ गये। ऐसे यह शरीर, यह मिट्टी का शरीर – 'सलिये पडमं विध्वसणं' यह जैसा मिट्टी का पिण्ड। आहाहा! आहाहा! यहाँ कहते हैं कि मैं शरीर हूँ – ऐसा माना था। आहाहा! प्रभु! शरीर तो

मिट्टी, धूल, पुद्‌गल की चीज है और यह तो जड़ है। आहाहा! अरे! अन्दर में तेरे पुण्य-पाप का भाव होता है न, प्रभु! वह तो विभाव है, दुःख है। वस्तु है तो विभाव से मुक्त है। आहाहा! ऐसा गुरु ने सुनाया। आहाहा! कठिन काम भाई! धर्म कोई ऐसी चीज है कि साधारण यह दया पाली और व्रत किया और यात्रा की, भक्ति की और धर्म हो गया... हराम धर्म हो तो वहाँ, वह सब तो राग की क्रिया है। आहाहा! समझ में आया?

अपना चैतन्यप्रभु आनन्द का दल, आहाहा! इस तरफ सावधान होकर अपने परमेश्वर... जैसे अपनी मुट्ठी में सोना था, भूल गया; वैसे **अपने परमेश्वर आत्मा....** आहाहा! अनन्त अनन्त ईश्वर शक्ति में भरा पड़ा प्रभु, भगवान! तुझमें तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द अनन्त शक्ति, वह अनन्त शक्ति... गुण कहो या शक्ति कहो, उसमें प्रत्येक में ईश्वरता भरी है। आहाहा! ऐसे अनन्त गुण का धारक परमेश्वर तू है। आहाहा! अरे! कैसे जँचे? कभी अभ्यास नहीं, निवृत्ति नहीं, फुर्सत नहीं! आहाहा! तुझमें तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता - ऐसे अनन्त गुणों में प्रत्येक गुण में प्रभुता भरी है। ऐसे अनन्त-अनन्त ईश्वरता के धनी तुम परमेश्वर है न नाथ! आहाहा! उसकी तू रक्षा कर न! आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई! वीतरागमार्ग अलौकिक है।

लोगों ने अनन्त काल में किया तो नहीं परन्तु यथार्थरूप से सुना भी नहीं। आहाहा! यहाँ तो जन्म-मरणरहित होने की चीज की बात है। जन्म-मरण करेगा एकाध भव तो उस भव में से दूसरा भव नरक और निगोद का होगा। आहाहा! यहाँ तो आचार्य महाराज कुन्दकुन्दाचार्यदेव दिगम्बर सन्त, संवत्‌ ४९ में हुए, भगवान के पास गये थे, सीमन्धर भगवान विराजते हैं, पाँच सौ धनुष का देह, करोडपूर्व की आयु है, विराजते हैं, वहाँ गये थे। दो हजार वर्ष पहले संवत ४९ में वहाँ आठ दिन रहे थे, सदेह गये थे। कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त संवत ४९ - २००० वर्ष हुए। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया है। आहाहा! इस शास्त्र में भगवान ने ऐसा कहा - अरे! तुम 'अहं एको' यह द्विधा, द्विधा — राग और शरीर की द्विधा तुझमें कहाँ से आ गयी? आहाहा! पहला शब्द है न 'अहं एको' इसका आ गया। अर्थ आ जायेगा। आहाहा! यह तो धीरज की बातें हैं, बापू! धर्म कोई ऐसी चीज नहीं है कि पैसा देने से हो जाये, मन्दिर बनाने से

हो जाये, गजरथ बनावे और यात्रा कर दे और सम्मेदशिखर की तथा गिरनार की यात्रा हो जाये; इसलिए धर्म हो जाये यह धर्म ऐसी चीज है ही नहीं। उसमें राग हो तो पुण्य हो जाये, पुण्य, वह संसार है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **सावधान होकर, जैसे.... अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था....** जैसे वह सोना मुट्ठी में था, उसे भूल गया था। याद आया कि अरे! यह रहा! ऐसे परमेश्वर अन्दर था, उसको भूल गया था। मैं कहाँ हूँ? कहाँ हूँ? मैं कहाँ हूँ? मैं राग में हूँ, पुण्य में हूँ, शरीर में हूँ, लक्ष्मी में हूँ? आहाहा! मैं बाप का बेटा हूँ? आहाहा! मैं लड़के का बाप हूँ? अरे! कहाँ गया प्रभु? समझ में आया? अपना परमेश्वर भिन्न है, उसको भूल गया था। यह सब यादगीरी हो गयी — यह मेरी स्त्री है और यह मेरा पुत्र है, और यह मेरा पैसा है, और यह मेरा मकान है, महल-मकान है। पाँच-पच्चीस लाख का... अरे प्रभु! वह तो परचीज है न नाथ! है?

श्रोता : बम्बई में सत्तर लाख के मकान में आप उतरे थे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उतरे थे न! अपने एक दिगम्बर है, आमोद, आमोद गुजरात में है न? हमारे पालेज में रहते थे न? हम तो भरूच और बडोदरा के बीच में पालेज, वहाँ दुकान है न, वहाँ हम नौ वर्ष रहे, दुकान चलायी थी, पाँच साल, छोटी उम्र की बात है। सत्रह से बाईस — पाँच वर्ष। यहाँ तो ८९ वर्ष हुए। बड़ी दुकान चलती है तो वहाँ आगे नजदीक में आमोद है तो हम आमोद के पास से निकले थे तो हमारे भागीदार कुँवरजी भाई थे न, दर्शन करने आये थे। अन्त में वहीं थे, फिर गुजर गये। तो उस आमोद के अपने गृहस्थ हैं। पाँच-छह करोड़ रुपये... दिगम्बर गुजराती (हैं) तो वहाँ उतरे थे न, बम्बई, समुद्र के किनारे... सत्तर लाख का तो एक मकान है। सत्तर लाख का एक मकान, बहुत नरम व्यक्ति है। क्या नाम उनका? (श्रोता : रमणीकभाई!) रमणीकभाई, उनकी माँ वृद्ध है, दोनों को बहुत प्रेम बेचारों को बहुत (प्रेम) परन्तु एक मकान सत्तर लाख का ऐसे तो बहुत मकान, दिगम्बर जैन हैं गुजराती (हैं) वे हमारे पालेज-भरूच और बड़ोदरा के बीच समीप में आमोद है, तो वहाँ हम उतरे थे। कौन सा वर्ष था? ८७ वाँ, ८७ वर्ष और शरीर की उम्र ८७ वर्ष थी जन्म-जयन्ती थी तो उनके मकान में उतरे थे। मैंने तो उसको कहा

भईया! यह क्या है यह ? इस समुद्र में क्या बगुले उड़ते हैं ? बगुला समझते हो, बगुला कहते हैं न ? अरे! वह तो मछली मारते हैं तो यह बगुला कहाँ तक जाते हैं, भईया! मुझसे कहा महाराज! बीस-बीस मील तक बगुले ऐसे ऊपर चले जाते हैं परन्तु मछलियों को-आहार को लेकर, वृक्ष नहीं, पान नहीं, आहाहा! अरेरे! यह बगुला इस मछली को खाकर, मरकर नरक में जायेगा। मरकर नरक में जाना - ऐसे अनन्त-अनन्त भव किये, भाई! तुमने आत्मा का भान किये बिना (अनन्त भव किये) आहाहा! उन गुरु ने समझाया। आहाहा! तो सत्तर लाख का मकान वह धूल का मकान था। आहाहा! यह छब्बीस लाख का है। यह रहा न, देखो न! यह भगवान का मन्दिर। महावीर भगवान (का मन्दिर)। यह छब्बीस लाख का है। अकेला संगमरमर पत्थर, संगमरमर परन्तु वह तो जड़ है। आहाहा! आत्मा का मकान जो अन्दर है, वह तो चैतन्यस्वरूप-परमेश्वरस्वरूप है। आहाहा! आहाहा!

अनन्त-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त प्रभुता, अनन्त स्वच्छता... प्रभु! तेरा तुझे पता नहीं। भाई! तेरी ईश्वरता, परमेश्वरता का तुझे पता नहीं। आहा! वह यहाँ सावधान होकर जाना। **अपने परमेश्वर को भूल गया था....** आहाहा! **उसे जानकर,....** जैसे मुट्ठी में सोना था और भूल गया था न, याद आ गया। अरे! यह रहा! वैसे भगवान आत्मा तो यहीं था। आत्मा परमात्मस्वरूप ही है। आहाहा!

यह आ गया न, उस ३२० गाथा में। नहीं, ३२० गाथा ? संस्कृत टीका जयसेनाचार्य दिगम्बर सन्त... अन्दर भगवान आत्मा वस्तु जो द्रव्य है - पदार्थ (है) वह सकल निरावरण, सकल सम्पूर्ण निरावरण भगवान आत्मतत्त्व है। जिसको जीवतत्त्व-आत्मतत्त्व कहते हैं। द्रव्य-द्रव्य अर्थात् वस्तु तो सकल निरावरण है, उसमें आवरण कुछ है नहीं और वह तो अखण्ड एक है। आहाहा! पर्याय का भेद भी नहीं है, वह तो अखण्ड एक है। आहाहा! प्रत्यक्ष प्रतिभासमय मेरी ज्ञान की पर्याय में प्रत्यक्ष भास होता है - ऐसा मैं हूँ। आहाहा! राग से नहीं परन्तु मति-श्रुतज्ञान की निर्मल प्रत्यक्ष पर्याय से प्रत्यक्ष होनेवाला मैं हूँ। अविनश्वर हूँ, कभी मेरा नाश हुआ नहीं। मैं तो ऐसा का ऐसा ध्रुव सदा टिक रहा हूँ। आहाहा! अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण सहज स्वभावभाव परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ। निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ। यह परमेश्वर

कहा न... आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को ऐसा मानता है। आहाहा। मैं तो निज परमात्मा हूँ। अपना परमात्मस्वरूप भगवान अन्दर... आहाहा! देह-देवल में विराजमान आत्मा भिन्न है, वह मैं हूँ। मैं शरीर नहीं, मैं राग नहीं, मैं पुण्य नहीं, मैं पाप नहीं, पुण्य का फल पैसा आदि मैं नहीं। आहाहा! ऐसा जब आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, तब धर्म की दशा उसको हुई। उसमें ऐसा भान हुआ। **समझकर सावधान होकर....** भूल गया था उसको जानकर, जाना (कि) अरे! यह तो ज्ञायकस्वरूप जाननस्वभाव का पिण्ड प्रभु! अकेला ज्ञाता-दृष्टा ज्ञानस्वभाव का सागर, ऐसा यह मैं - ऐसा धर्मी जीव-सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा समझकर / जानकर, है ? **उसका श्रद्धान कर....** जानकर-श्रद्धान कर। वह चीज ज्ञान की वर्तमान पर्याय / दशा में यह जाना कि यह वस्तु अखण्ड ज्ञायकस्वरूप चैतन्य है — ऐसा जाना तो प्रतीति हुई, श्रद्धा हुई। जाने बिना उस चीज की प्रतीति क्या ? जो चीज़ पर्याय में जानने में नहीं आयी, उस चीज की प्रतीति करना, (यह बात) कहाँ से आती है ? आहाहा!

मैं तो भगवान.... आठ वर्ष की बालिका हो परन्तु यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त करती है तो ऐसे प्राप्त करती है। आहाहा! सीताजी, देखो! आहाहा! सम्यग्दृष्टि ज्ञानी थी। भले ही रावण (हरण करके) वहाँ ले गया परन्तु अन्दर में तो मैं आनन्दकन्द हूँ, मेरी दृष्टि मुझे कोई उठा सके या ले सके (ऐसा) है नहीं। आहाहा! जरा थोड़ा अस्थिरता का राग था। चारित्र नहीं था और सम्यग्दर्शन-ज्ञान था। आहाहा! तो राम ने जहाँ हनुमान को भेजा... हनुमान आये, हनुमान थे न ? अगूँठी लेकर, अगूँठी! अरे वीरा! आहाहा! राग आया न अस्थिरता का ? सम्यग्दर्शन है; जानते हैं कि यह विकल्प मेरी चीज नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! 'वीरा मोरा वधामनी कहाँ से लाया ? यह वधामनी कहाँ से लाया वीरा.... प्रभु, यह अगूँठी मेरे नाथ की; मेरे प्रभु रामचन्द्र मेरे एक पति; दूसरा कोई पति है नहीं। अरे! अगूँठी मेरे नाथ की, यह वीरा कहाँ से लाया ? वीरा रे वीर वधामनी' आहाहा! राग है, अन्दर भान है, हों! यह राग मेरी चीज नहीं है, पति मेरी चीज नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! ऐसी चीज है, भाई!

यह वनचर कहते थे न, वे लोग ऐसा कहते हैं न ? वे तो उन्हें वनचर कहते हैं। वे

वनचर नहीं थे। हनुमान तो कामदेव-राजकुमार थे। लोग उन्हें पूँछ बतलाते हैं, वह मिथ्या बात है। हनुमान तो एक राजकुमार कामदेव पुरुष, छह खण्ड में उनके जैसा सुन्दर रूप नहीं – ऐसे थे। तो अन्य (उन्हें) पूँछ लगाकर 'वनचर वीरा रे वधामनी' उसमें ऐसा आता है। वन में चरनेवाला – बन्दर... यह वधामनी कहाँ से आयी। वे तो राजकुमार थे, कामदेव पुरुष थे। आहाहा! आहाहा!

सीताजी (को) अन्दर में आत्मा का भान है – सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, मैं तो आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ, मुझको कोई ले जाये या मुझे देखकर कोई राग में आ जाये, वह मैं नहीं। आहाहा! वह यहाँ कहते हैं कि **सावधान होकर, जानकर,....** अपना प्रभु 'रिद्धि सिद्धि वृद्धि दिसै घट में प्रगट सदा' अपनी रिद्धि-सिद्धि भगवान आत्मा में पड़ी है।'रिद्धि सिद्धि वृद्धि दिसै घट में प्रगट सदा, अन्तर की लक्ष्मी से अयाची लक्षपति है, अन्तर में अन्तर की लक्ष्मी से अयाची लक्षपति है।' अन्तर आनन्द की लक्ष्मी के भानवाला धर्मी अयाची लक्षपति है। कोई याचते नहीं है। लक्ष्मी अन्दर है अन्दर। आहाहा! बाहर की लक्ष्मी की इच्छा धर्मी को होती नहीं। अस्थिरता होती है परन्तु वह दृष्टि में नहीं होती है। आहाहा! समझ में आया? वह यहाँ कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव-धर्म की पहली सीढ़ीवाला-धर्म के पहले सोपानवाला.... पगथिया कहते हैं न? (हमें) हिन्दी बहुत नहीं आती, मेरी भाषा तो गुजराती है न! यह थोड़ी-थोड़ी हिन्दी... यह तो भोपालवाले आये हैं न? समझ में आया? आहाहा!

भगवान अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान से ओपित, शोभित... जैसे स्वर्ण को गेरु लगाने से स्वर्ण ओपित और शोभित – चमक... चमक... चमक... होती है, वैसे भगवान आत्मा में ज्ञान और आनन्द की चमक होती है। आहाहा! समझ में आया? वह चैतन्य चमत्कार भगवान त्रिलोकनाथ सम्यग्दृष्टि में जान लिया। आहाहा! भले गृहस्थाश्रम में हो परन्तु जाना कि मैं तो परमेश्वरस्वरूप चिदानन्द परमात्मस्वरूप हूँ। आहाहा! मुझमें विकार तो नहीं मेरा शरीर तो नहीं परन्तु मुझमें अल्पज्ञता और अपूर्णता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है प्रभु! इन दिगम्बर सन्तों की यह वाणी है। ऐसी अन्यत्र कहीं है नहीं। आहाहा! यह वस्तु भगवान त्रिलोकनाथ ने कही, वह सन्त कहते हैं। सन्त आढ़तिया होकर माल देते हैं कि मेरे भगवान यह कहते हैं। आहाहा!

उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर.... जाना कि भगवान ज्ञायक... ज्ञायक... जाननेवाला परिपूर्ण — प्रभु ऐसा जानकर, श्रद्धान किया। जानकर श्रद्धान किया। जाना कि यह आत्मा ऐसा पूर्ण - पूरा है — ऐसा जान करके श्रद्धान / समकित किया। समझ में आया? आहाहा!

और उसका आचरण करके.... तीनों बोल लेना है न! स्वरूप अन्तर आनन्दस्वरूप का ज्ञायकस्वरूप का भान हुआ, ज्ञान हुआ और ज्ञान होकर श्रद्धा हुई और श्रद्धान होकर उसका आचरण करके। वह स्वरूप जो आत्मा आनन्दकन्द का ज्ञान हुआ, श्रद्धा हुई - समकित, फिर उसमें आचरण, आनन्दकन्द प्रभु में रमना, आनन्द के नाथ में रमना, आचरण करना, आहाहा! वह चारित्र। चारित्र कोई देह की क्रिया और पंच महाव्रत का परिणाम, वह कहीं चारित्र नहीं है। भगवान अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ की श्रद्धा और ज्ञान करके, उस अन्तर में-आनन्द में रमना। आहाहा! अरे.. अरे! व्याख्या एक-एक में अन्तर - समकित में अन्तर, ज्ञान में अन्तर और चारित्र में अन्तर, यह तो व्रत-तप करे और हो गया चारित्र.... वह धूल भी नहीं है। समझ में आया? आहा!

उसका आचरण करके.... उसका आचरण करके है न? अर्थात् उसमें तन्मय होकर। जैसे अज्ञान में यह दया, दान के विकल्प में तन्मय था, वैसे यह वस्तु जानी और श्रद्धा हुई तो उसमें तन्मय होकर आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्द में लीन होकर... यह चारित्र / यह आचरण, यह आत्मा का आचरण... आहाहा! शुभाशुभभाव, वह आत्मा का आचरण नहीं। आहा! वह तो विकार का आचरण है।

भगवान आत्मा अपना ज्ञायकस्वरूप, ज्ञायक - ऐसा जानकर उसमें प्रतीति की, श्रद्धा-समकित किया और फिर ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द में आचरण किया। ओहोहो! स्वरूप आनन्द में रमण किया, उसका नाम आत्मा का आचरण, उसका नाम आत्मा का चारित्र। आहाहा! **आचरण करके जो सम्यक् प्रकार से....** सच्चे प्रकार से **एक आत्माराम हुआ,....** सम्यक् प्रकार से अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप होकर सम्यक् प्रकार से... अकेले धारणा में जान लिया कि आत्मा ऐसा है और ऐसा है - ऐसा नहीं। आहाहा!

सहजानन्दी प्रभु को जानकर, प्रतीति करके, उसमें आचरण करके... उसमें आचरण

किया। आहा! ऐसे सम्यक् प्रकार से सत्य दृष्टि से, सत्य ज्ञान से, सत्य आचरण से **एक आत्माराम हुआ,....** आत्माराम। 'निज पद रमै सो राम कहियै' आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप में रमे, वह आत्माराम है; राग में रमे, वह हराम है। आहाहा! वह आत्मा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अभी इसे सच्चा ज्ञान ही नहीं होता, उसे जाना कहाँ भाई? आहाहा! कहते हैं **सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ,...** देखा? एक आत्माराम हुआ। उन राग और पुण्यरूप था, वह अनेकपने, वह नहीं; छूट गया। आहाहा!

ज्ञायक ध्रुव शुद्ध का ज्ञान करके, उसकी प्रतीति करके, उसमें रमणता की – ऐसे तीनों लिये न! ३८ गाथा है न, यह अन्तिम गाथा है। यह आत्मा की तीनों दशा प्रगट हुई। आहाहा। **उसका आचरण करके (– उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ....** आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा कहता है कि धर्मी धर्म का परिणमन करनेवाला ऐसा जानता, कहता है–जानता है। मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि... मैं ऐसा अनुभव करता हूँ। आहाहा! जैसे चैतन्यस्वभाव समुद्र उछलता है, जैसे समुद्र में बाढ़ आती है; वैसे भगवान आत्मा चिदानन्द की प्रतीति और ज्ञान हुआ, स्थिर हुआ... पर्याय में शान्ति की बाढ़ आयी, आनन्द की–स्वच्छता की (बाढ़ आयी)। आहाहा! ऐसी बात कहाँ? मुश्किल है बापू! वीतराग का मार्ग! यह दिगम्बर धर्म, यह जैनधर्म कोई अलौकिक वस्तु है। यह वह नग्न हो और वस्त्र छोड़कर हो गये दिगम्बर,... ऐसा दिगम्बर है नहीं। आहाहा! है!

श्रोता : गाथा अलौकिक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गाथा अलौकिक है। ऐ... निरंजन! तुम्हारे चिरंजीवी को भी इसमें प्रेम है। आहाहा! बापू! करने योग्य यह। समझे तो सही, पहले समझ तो करे। आहाहा!

जैसे सूई में सूत का डोरा पिरोवे तो वह नहीं खोती। खोती कहते हैं न? खोती नहीं। वैसे भगवान आत्मा का सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरावे तो आगे जाकर चारित्र को पाकर मुक्ति पायेगा, परन्तु सम्यग्ज्ञान नहीं है, उसको तो कोई चारित्र नहीं आयेगा और चार गति में भटकेगा। आहाहा! सूत रहित सुई, धागे बिना की सुई तो खो जायेगी परन्तु धागा पिरोयेगा, पिरोया होगा तो चकली माला में ले जाये तो यह मेरी सुई है... वैसे सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा

यदि पिरोया होगा तो चार गति में नहीं भटकेगा। आहाहा! समझ में आया?

यह सम्यक्ज्ञान... मैं चिदानन्द ज्ञायकस्वरूप हूँ, मुझमें राग और पुण्य नहीं, मेरी अल्पज्ञता में अल्पज्ञता भी मैं नहीं। आहाहा! ऐसा पूर्णानन्द के नाथ का ज्ञान करके, प्रतीति की और तदुपरान्त यहाँ तो आचरण भी लिया। आहाहा! चारित्र... तो यह चारित्रवन्त-दर्शन-ज्ञान और चारित्रवन्त ऐसा कहते हैं। **मैं ऐसा अनुभव करता हूँ....** सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानकर, प्रतीति कर, आचरण किया। वह जीव ऐसा जानता है कि मैं ऐसा अनुभव करता हूँ। **मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ....** ओहोहो! गाथा अलौकिक है! मैं तो चैतन्यमात्र ज्योति हूँ। 'स्वयं ज्योति सुखधाम' श्रीमद् में आता है न? 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम।' शुद्ध कहो या पारिणामिक स्वभाव कहो या ज्ञायक कहो या ध्रुव कहो। शुद्ध-बुद्ध ज्ञान का पिण्ड मैं तो ज्ञान का पिण्ड, ज्ञान अकेला ज्ञान के रस का पिण्ड मैं हूँ। शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन असंख्य प्रदेशी चैतन्यघन हूँ। स्वयं ज्योति, अपने से चैतन्य प्रकाशमय ज्योति हूँ। किसी कारण से नहीं। सुखधाम - मेरा आत्मा आनन्द का स्थान है, अतीन्द्रिय आनन्द का धाम है। आहाहा! ऐसे आत्मा हुआ **मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि - मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ....** चैतन्य - जानन-देखनमात्र ज्योति, चैतन्यज्योति, चैतन्यमात्र ज्योति; राग आदि तो बिल्कुल नहीं। आहाहा! चैतन्यमात्र ज्योति जानन-देखन स्वभावमात्र ज्योति आहाहा! ऐसा जो आत्मा, वह मैं हूँ। आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव अपने को ऐसा मानते हैं। जो धर्मी - सम्यग्दृष्टि हुआ वह (ऐसा मानता है)। जिन्हें भान नहीं, वह तो अनेक प्रकार है, राग और पुण्य की क्रिया से धर्म होगा और ऐसा मानते हैं, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ.... मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ। मैं रागरूप, शरीररूप, वाणीरूप, मैं कर्मरूप - ऐसा नहीं। आहाहा! मैं तो चैतन्यमात्र चैतन्यप्रकाश का पुंज प्रभु... जैसे सूर्य के प्रकाश का पुंज सूर्य है, वह जड़ का प्रकाश है। यह चैतन्य प्रकाश के नूर का पूर का तेज मैं आत्मा हूँ। आहाहा! यह तो ऐसी बात, लोगों को फुर्सत कहाँ, भटकने के कारण निवृत्त नहीं होता, पूरे दिन पाप, और फिर कुछ थोड़ा सा पुण्य थोड़ा करे वहाँ वह... आहाहा! सुई का दान और क्या कहा? ऐरण की चोरी। ऐरण होती

है न सोने की-सोनी की। उसकी चोरी करे और सुई का दान। अब पूरे दिन पाप, पाप किया करे, उसमें कभी यात्रा, भक्ति, व्रत आदि पूजा का भाव शुभ हो, वह सुई का दान है। आहाहा! अब ऐसी बातें हैं।

यहाँ तो कहते हैं - धर्मी अपने को ऐसा जानता है कि **मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ....** ज्योतिरूप आत्मा; ज्योतिवाला ऐसा भी नहीं। चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा। आहाहा! ज्योतिस्वरूप आत्मा; ज्योतिवाला आत्मा, ऐसा नहीं (क्योंकि) वह तो भेद है। यह चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा। आहाहा! वह निकलता है न क्या, प्रकाश नहीं? बाहुबलीजी नहीं, बाहुबली में है? (श्रोता : सर्च लाईट) सर्च लाईट, दूर से ऐसे (प्रकाश... प्रकाश... प्रकाश...) वैसे यह आत्मा चैतन्य ज्योति की सर्च लाईट है। आहाहा! बाहुबली में है न, बाहुबली में है। दो सर्च लाईट सामने और दो सर्च लाईट सामने (आमने-सामने)। वैसे भगवान आत्मा चैतन्यज्योति की सर्च लाईट अन्दर है, प्रकाश का पुंज-चैतन्य के प्रकाश का पुंज आत्मा है।

यह कैसे जँचे? बीड़ी पीना चले नहीं, और तम्बाकू बिना चले नहीं, अब इतने तो अपलक्षण! दो बीड़ी-सिगरेट ठीक से पीवे तब तो भाई को पाखाने में दस्त आवे, उतरे। पाखाने में दस्त उतरे। इतने तो अपलक्षण। अब उसे ऐसा (आत्मा) कहना, ऐसा आत्मा कैसे जँचे? आहाहा! यह तो जिसे समझ में आवे उसकी बात है। आहाहा! **मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है;....** आहाहा! मेरे अनुभव में प्रत्यक्ष जानने में आता है - यह तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! ज्ञान की पर्याय में प्रत्यक्ष जानने में आता है, परोक्ष नहीं। इस श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा, वह तो प्रत्यक्ष पूर्ण सर्वज्ञ नहीं, इस अपेक्षा से (कहा है), वरना यहाँ तो प्रत्यक्ष कहा है। समझ में आया? यह मेरे अनुभव में प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। आहाहा! और 'शुद्धो', शुद्धो है न? अहं एक्को यहाँ तक का अर्थ हुआ है। शब्द है न? अहं एक्को है न मूल गाथा में? अब 'एक्को' का (स्पष्टीकरण)।

चिन्मात्र आकार के कारण.... मैं तो ज्ञानस्वरूपी भगवान ज्ञाता की ज्योतिस्वरूप आत्मा के कारण। **समस्त क्रमरूप....** नरकगति, मनुष्यगति आदि क्रम से मिलती है, वह

नहीं। मनुष्यगति, तिर्यंचगति, देवगति, पर्याप्त-अपर्याप्त क्रम से होती है, वह नहीं। **तथा अक्रमरूप....** एक साथ योग, लेश्या, कषाय, एक साथ होते हैं, वे अक्रम। एक साथ होते हैं, वह भी मैं नहीं। आहाहा! इसमें भी कितने ही घोटाला करते हैं देखा? यह क्रम-अक्रम कहते हैं परन्तु कुछ क्रम-अक्रम क्या कहा है? यह तो क्रम अर्थात् एक के बाद एक गति होती है। उसको गति को क्रम कहते हैं और एक साथ योग, लेश्या, कषाय एक साथ हैं उन्हें अक्रम कहते हैं। तो **क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान....** वर्तमान-वर्तमान वर्तते नरकगति आदि और राग आदि **प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता....** ऐसे व्यवहारभाव से मैं भेद (रूप) नहीं हूँ। आहाहा! यह सूक्ष्म बात है। मेरी चीज तो ज्ञायकस्वरूप भगवान... धर्मी जीव सम्यग्दृष्टि प्रथम धर्म की शुरुआतवाला अपने को ऐसा जानता है। मैं तो ज्ञायकमात्र ज्योतिस्वरूप इन क्रम से होनेवाली गति आदि मेरे में नहीं है! **भेदरूप नहीं होता।** इन व्यवहारिक से-क्रम से गति आदि में, अक्रम से योग, कषाय आदि भेदरूप नहीं होता। **इसलिए मैं एक हूँ;....** अब यहाँ एक आया। आहाहा! 'अहं एक्को' आहाहा! अब यहाँ एक आया। 'अहं एक्को' की व्याख्या हुई। एक अक्षर की व्याख्या। अब शुद्ध की व्याख्या लेंगे!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १०९ गाथा ३८ दिनाङ्क १५-१०-१९७८ रविवार
आसोज शुक्ल १४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

---

३८ वीं गाथा, टीका, फिर से, कल तो हिन्दी में चला था न!

यह ३८ गाथा, जीव अधिकार की पूर्णता की गाथा है। यह जीव अधिकार यहाँ पूर्ण होता है। अर्थात्? कि जीव का कथन जो सर्वज्ञ ने, सन्तों ने कहा, ऐसा जिन्होंने अन्दर जाना, अनुभव किया और दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन हुआ, वह जीव कैसा है? उसका यहाँ वर्णन है।

अब इसमें - पाठ में तो यह है 'अहं' परन्तु 'अहं' पहले यह जो 'अहं' नहीं समझा

था, वह कैसा था? अहं शब्द है न? तो अहं तो स्वयं निर्णय करता है कि मैं यह हूँ। परन्तु यह कौन? कि पहले तो अज्ञानी था, उसकी यहाँ बात की है। यह उसमें से 'मैं' में से निकाला है।

(टीका) **जो, अनादि मोह....** मोह से कहो या अज्ञान से, यह दोनों एक ही है। **मोहरूप अज्ञान से...** ऐसा। **उन्मत्तता के कारण....** पागल था, पागल। आहाहा! जो यह शरीर है, वह मैं हूँ; पाप के परिणाम हैं, वह मैं हूँ। शुभराग जो दया, दान का विकल्प जो शुभराग है, वह मैं हूँ — ऐसे मोह से पागल हो गया था। मोह शब्द से (अर्थात्) अज्ञान से, स्वरूप का भान नहीं होता; इस कारण उस विकारी परिणाम को अपना मानता था, शरीर को निज मानता था। उसके कारण वह **अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था....** अत्यन्त मूढ़ – अज्ञानी था। आहाहा! देखो, उसे यहाँ समझाते हैं।

जिसे आत्मा अन्दर शुद्ध चैतन्यमूर्ति कौन है? उसकी (मुद्दे की) खबर नहीं और इन पुण्य-पाप के भाव, शरीर, पर में मोह के कारण-अपना मानकर पागल उन्मत्त हुआ है। आहाहा! वह **अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था....** अत्यन्त अज्ञानी था – ऐसा कहते हैं।

उसे **विरक्त गुरु से....** निर्ग्रन्थ अथवा राग से रक्तरहित, स्वभाव में रक्तवाले सन्तों से। आहाहा! पुण्य और पाप का भाव-राग, उससे विरक्त है और स्वरूप आनन्दमूर्ति प्रभु में जो रक्त है, ऐसे सन्त, मुनि — ऐसे गुरु ने उसे समझाया, भाई! प्रभु! तू कौन है? **निरन्तर समझाये जाने पर....** इसका अर्थ यह कि समझाया तो भले एक बार या दो बार परन्तु इसने बारम्बार (उसका ही) घोलन किया कि ओहो! यह गुरु तो ऐसा कहते हैं कि बहिर्मुख की जो वृत्तियाँ पुण्य-पाप की है, वह तू नहीं है। तेरी चीज अन्दर से अलग है, भाई! आहाहा!

उसे बारम्बार समझाने पर अथवा बारम्बार समझ कर राग से भेद करने के अभ्यास से आहाहा! **जो किसी प्रकार से समझकर,...** है? **सावधान होकर,....** समझा, सावधान हुआ। जो पर में – राग और पुण्यादि भाव में सावधान था, वह गुलाँट खाकर स्वरूप में सावधान हुआ। आहाहा! वहाँ मोह कहा था न? मोह अर्थात् पर में सावधान था। आहाहा! वह जीव, 'अहं' मैं कौन हूँ? इसकी व्याख्या फिर लेंगे।

जो किसी प्रकार से समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो... हाथ में सोना हो और भूल जाये, फिर याद करे, आहाहा! कि सोना तो हाथ में है। कहीं अन्यत्र रखा हो, यहाँ तो मुट्ठी में लिया है न? उसे **फिर स्मरण करके उस सोने को देखे....** कि स्वर्ण तो यह रहा, मेरे हाथ में सोना है। **इस न्याय से, अपने परमेश्वर....** आहाहा! परम ईश्वर, परमेश्वर, ज्ञानेश्वर, दर्शनेश्वर, चारित्रेश्वर, वीर्येश्वर, शान्ति ईश्वर, ज्योति ईश्वर, कर्ताकर्मकरणादिश्वर – ऐसी–ऐसी अनन्त ईश्वर की शक्तिवाला भगवान (निजात्मा) आहाहा! अपना परमेश्वर अर्थात् स्वयं का परमेश्वर, ऐसा कि दूसरे भगवान का परमेश्वर नहीं। आहाहा!

अपने परमेश्वर को भूल गया था.... आहाहा! **उसे जानकर....** जिसे भूला था, उसे जानकर... आहाहा! रागादि अपने मानकर भगवान को (निजात्मा को) भूल गया था। अपना स्वरूप परमेश्वर को भूल गया था। **उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर....** ज्ञान की पर्याय में उस ज्ञायक परमेश्वर को जाना कि यह तो परमानन्दमूर्ति प्रभु पूर्ण प्रभु है – ऐसा जिसने–समकिती ने ज्ञान की पर्याय में जाना, उसका उसने श्रद्धान किया। आहाहा! जाने हुए का श्रद्धान होता है, जाने बिना की श्रद्धा,... वह जाना नहीं (जाने बिना) उसकी श्रद्धा क्या? जानने में आया कि भगवान आत्मा शुद्ध परमेश्वर आनन्दस्वरूप मैं हूँ, **उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके....** यहाँ तो तीनों पूर्ण करने हैं न यहाँ तो? **उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर....** और उस भगवान आत्मा का आचरण करके... आहाहा! आनन्द के सागर का आचरण करके, आनन्द में अन्दर से क्रीड़ा की, आहाहा! जिसने अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ को जाना, अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ को जानकर प्रतीति की; जो राग में भटकता और रमता था, वह अब आनन्द में रमने लगा। आहाहा! यह चारित्र! अरेरे! लोग कुछ का कुछ करते हैं – शुभयोग ही होता है, सब संयम और चारित्र... प्रभु... प्रभु... प्रभु! भाई! यह आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतीन्द्रिय (है)। इसका शुद्धोपयोग में ज्ञान हो, इसकी श्रद्धा समकित में हो, इसका आचरण आनन्द की रमणता में हो। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप हूँ, उसका ज्ञान हो; ज्ञान होकर उसकी प्रतीति हो; प्रतीति हुई और वह ज्ञान में आनन्द में रमे। आहाहा! यह बात है। यह आत्मा का आचरण, इसे चारित्र कहा जाता है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द में रमे,

उसे यहाँ आत्मा का आचरण, आनन्द का आचरण, चारित्र का आचरण कहने में आता है। आहाहा!

(- उसमें तन्मय होकर).... आचरण करके - इसका अर्थ यह किया। **जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ,....** सम्यक् प्रकार से, सच्चे प्रकार से, जैसा था वैसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में आत्माराम हुआ। आहाहा! आत्मा, आत्माराम हुआ। आत्मा जो राग में हरामपने रमता था, वह आत्मा, आत्मा में रमने लगा। आहाहा! यह अभी 'अहं' अहं की व्याख्या है। है न? 'अहं' 'एक्को' बाद में। अहं - मैं कैसा हूँ, उसकी पहली व्याख्या। यह तो उसमें भी आता है न भाई! (समयसार गाथा) ७३ में आता है। 'अहमेक्को खलु सुद्धो' वहाँ यह लिया है - अनादि-अनन्त चैतन्यमूर्ति भगवान प्रत्यक्ष प्रतिभासमय वह मैं हूँ। ७३ (गाथा में) वहाँ भी 'अहमेक्को' वहाँ भी एक्को है - एक हूँ। षट्कारक के परिणमनरहित हूँ, पर्याय में। आहाहा! मेरा 'अहं' का अस्तित्व, शुद्ध चैतन्यघन का ज्ञान, उसका श्रद्धान, उसका आचरण, ऐसा आत्माराम हुआ। आहाहा! **सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ,....** शास्त्र की बात सुनी थी, धारण की थी कि आत्मा ऐसा है, इससे कोई वह सम्यक् प्रकार से आत्माराम नहीं हुआ। आहाहा! यह शास्त्र के पठन से तो इसे आ गया था, ग्यारह अंग पढ़ा है, उसमें तो यह आया था कि भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति प्रभु... परन्तु वह धारणा में था; इसलिए वह कोई वस्तु नहीं। आहाहा! यह तो सम्यक् प्रकार से आत्माराम हुआ। सच्चे प्रकार से आत्मा का ज्ञान और आत्मा का श्रद्धान और आत्मा की रमणता हुई। आहाहा!

श्रोता : सच्चा प्रकार क्या और खोटा प्रकार क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : खोटा तो कहा न पहले! यह शास्त्र सुनकर धारणा की थी, वह आत्माराम खोटा था। आहाहा! यह तो बात की। शास्त्रज्ञान से सुनकर जाना कि आत्मा ऐसा है और भगवान ऐसा है। यह तो धारणा का ज्ञान, वह कहीं सच्चे प्रकार से आत्माराम नहीं हुआ। आहाहा! यह तो सम्यक्प्रकार से आत्माराम हुआ।

जैसा भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है, उसे ज्ञान में ज्ञेय बनाकर और उसकी प्रतीति करके तथा उसमें रमने लगा, वह सच्चे प्रकार से आत्माराम हुआ। आहाहा! 'निज

पद रमै सो राम कहिये।' आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा... ३८ गाथा है न! जीव अधिकार की अन्तिम, पूर्णता की गाथा। आहाहा!

आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ.... है न? 'अहं' का अर्थ है, 'अहं' की बात है, अकेले 'अहं' का अर्थ है। आहाहा! 'अहं' मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि **मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ....** आहाहा! मैं एक चैतन्यमात्र भगवान, चैतन्यज्योति जलहल ज्योति, चैतन्य के तेज के नूर का पूर ऐसी ज्योति मैं आत्मा हूँ। आहाहा! मैं तो एक जानन-देखन, दृष्टा ज्ञाता, ऐसी जो चैतन्यज्योति, वह मैं हूँ; मैं राग भी नहीं, पुण्य भी नहीं, पर्याय जितना भी नहीं। आहाहा! 'मैं' 'अहं' मैं एक, मैं चैतन्यमात्र, चैतन्यमात्र, जिसमें राग की गन्ध नहीं, जिसमें शुभराग आदि का असर नहीं, आहाहा! ऐसा भगवान चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ। **चैतन्यमात्र ज्योति...** अग्नि की ज्योति है, वह तो ऊष्ण ज्योति है। यह चैतन्यमात्र ज्योति जानन-देखन चैतन्य ज्योतिस्वरूप। आहाहा! इस प्रकाश की — चैतन्य प्रकाश की जलहल ज्योतिस्वरूप वह मैं, वह आत्मा। है? आहा! चैतन्यमात्र ज्योति आत्मा हूँ, वह मैं आत्मा हूँ। ऐसा सम्यग्दृष्टि ने अन्तर में इस प्रकार जाना है। जो अज्ञानरूप से अप्रतिबुद्ध था, उसे समझाया गया, तब वह इस प्रकार समझा! आहाहा!

अरेरे! यह इस आत्मा को जाना, वह शुभभाव से ज्ञात होता होगा? अरे! भगवान क्या करता है, प्रभु! क्या करता है भाई! आहाहा! शुभराग तो विकार और आस्रव है। वहाँ ऐसा कहा है न? ७३ गाथा में 'अहमेक्को' आस्रवों से कैसे निवृत्तता है? ऐसा शब्द है न? ७३ में, वहाँ शीर्षक ऐसा है कि आस्रवों से कैसे निवृत्ते? कि इस प्रकार - मैं अनादि-अनन्त चैतन्यमात्र ज्योति हूँ। मेरी पर्याय में राग का परिणमन तो नहीं, परन्तु षट्कारक (का) निर्मल परिणमन है, उससे मेरी अनुभूति-तत्त्व भिन्न है, वह मैं हूँ। ७३ (गाथा) यह गाथा तो भाई ने ली है - उसने देवचन्दजी ने! देवचन्दजी श्वेताम्बर हैं न, उन्होंने ७३ गाथा ली है। उनका एक आगम है न, पहले पढ़ा था। (संवत) ७०-७१ (१९७०-७१) उनका क्या कहलाता है? आगमसार। है यहाँ है, उसमें यह गाथा ली है। कहाँ से ली है ऐसा उन्होंने नहीं लिखा। है समयसार की, वहाँ उसमें कहाँ था?

आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, आहाहा! **कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात**

होता है;.... मैं प्रभु चैतन्यमात्र प्रकाश की जलहल ज्योति, चैतन्य ज्योति के नूर के तेज का पूर – ऐसा मैं आत्मा, वह मेरे अनुभव से ज्ञात होता है। आहाहा! है? **कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है;....** वह राग से नहीं। मैं ऐसा जो चैतन्यमात्र ज्योति हूँ, उस चैतन्यमात्र ज्योति की परिणति से मैं ज्ञात होता हूँ। **मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है;....** आहाहा! यहाँ तो मति और श्रुतज्ञान को भी प्रत्यक्ष गिन दिया है। आहाहा! जिसे आत्मा को जानने के लिये मति-श्रुतज्ञान की अपेक्षा है परन्तु इसके अतिरिक्त राग और मन की भी जिसे अपेक्षा नहीं है। आहाहा! अरेरे!

मेरे ही अनुभव से.... यह शब्द पड़ा है – 'ही' पड़ा है। मेरे ही अर्थात् चैतन्यमात्र ज्योति के स्वभाव की परिणति से ही मुझे मेरा अनुभव है। आहाहा! **मेरे ही...** है? **अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है;....** आहाहा! यह तो धीरजवान के काम हैं बापू!

मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है;.... आहाहा! मेरे आत्मा का शान्त और वीतरागी पर्यायरूप अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। ऐसी बात है प्रभु! आहाहा!

यह कल तो लिया था, फिर से लिया जा रहा है। यह 'अहं' की व्याख्या है। 'अहं' की यह व्याख्या है। 'एक्को' की बाद में आयेगी। आहाहा! समझ में आया? वहाँ 'अहं' की व्याख्या की है (समयसार गाथा) ७३ में। 'अहं' मैं यह प्रत्यक्ष अनादि-अनन्त चैतन्य प्रत्यक्ष ज्योतिमात्र हूँ। आहाहा! वहाँ ऐसा लिया है। आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्य की टीका... गजब है! सन्तों ने गजब काम किया है!! आहाहा! दिगम्बर सन्त, हों! आहा!

श्रोता : दूसरे कौन सन्त हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे कोई है ही नहीं। आहाहा! सादी भाषा, सादा भगवान रागरहित, उसे समझाया है, प्रभु! तू कौन है भाई! आहाहा! बालक हो या स्त्री हो या पुरुष हो, यह तो देह के नाम हैं सब। भगवान, अन्दर जो भगवान है, वह बालक कहाँ और वृद्ध कहाँ, युवा कहाँ और स्त्री कहाँ, पुरुष कहाँ; आहाहा! वह तो चैतन्यमात्र ज्योति, वह आत्मा मैं हूँ, यह मेरे अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह मेरी वीतरागी

अनुभवदशा, उससे मैं प्रत्यक्ष ज्ञात होता हूँ। आहाहा! ऐसी बात है प्रभु! ऐसा मार्ग है। इसे सुनने को मिलता नहीं, भाई! इसे कब विचार करे? क्या करे? आहाहा! अभी ऐसी दुर्लभ चीज हो गयी है। अभी तो यह शुभयोग है, वही सब है, अभी यह शुद्धोपयोग और ऐसा है ही नहीं... अरे भगवान! यह पंचम काल के सन्त, पंचम काल के श्रोता को कहते हैं और पंचम काल का श्रोता इस प्रकार समझता है। पंचम काल का श्रोता है न यह? आहाहा!

मैं मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; वह मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा - ज्योतिस्वरूप आत्मा; ज्योतिवाला भी नहीं। **चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ....** आहाहा! **जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है;...** आहाहा! मेरी निर्मल पर्याय से - मेरे स्वभाव की निर्मल पर्याय से मुझे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। आहाहा! मैं जो हूँ निर्मल पर्यायवाला, उस निर्मल पर्याय से मैं ज्ञात होता हूँ। राग और निमित्त से तथा विकल्प से नहीं। आहाहा! नहीं न कहा, अस्ति से बात की है। आहाहा!

बापू! यह तो भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव के ये कथन हैं। ये सन्त जगत को उन्हें प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! भाई! परमेश्वर त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं कि जिसे आत्मा ज्ञात हुआ, वह अपने स्वरूप से ज्ञात होता है। आहाहा! उसका स्वरूप वह राग और पुण्य-पाप इसका स्वरूप नहीं है। आहा! उसका स्वरूप तो चैतन्यमात्र ज्योतिस्वरूप (है) तो उस चैतन्यज्योति की जो परिणति है, उससे वह ज्ञात होता है। आहाहा!

अमृत बहाया है। आहाहा! अरे! लोगों को कठिन लगे, बापू! क्या हो भाई? मार्ग ही यह है। वहाँ उसे पहले श्रद्धा में तो निर्णय करे, भले बहिर्लक्ष्यी श्रद्धा, उसमें निर्णय तो करे कि आत्मा तो अपने स्वरूप से ही ज्ञात हो, ऐसी चीज है। वह गुरु से नहीं, देव से नहीं, शास्त्र से नहीं, राग से नहीं, मन से नहीं। आहाहा!

मेरे ही.... मेरे 'ही' एकान्त कर दिया है। अनेकान्त ऐसा नहीं कि राग से भी ज्ञात हो, मन से भी ज्ञात हो, विकल्प से भी ज्ञात हो, देव से भी ज्ञात हो, इससे भी ज्ञात हो और उससे भी ज्ञात हो — इसका नाम अनेकान्त? यह अनेकान्त नहीं है प्रभु! आहाहा! मैं तो मेरा स्वभाव-चैतन्यज्योति, जलहल ज्योति-जलहल ज्योति, ऐसी चैतन्य की परिणति निर्मल वीतरागी - ऐसी परिणति से मैं ज्ञात होऊँ — ऐसा आत्मा मैं हूँ, उससे मैं

अनुभव करता हूँ - ऐसा कहते हैं। आहाहा! छोटाभाई! ऐसी बातें हैं। कहाँ गये शान्तिभाई? ऐसी बातें हैं। यह कलकत्ता में कहीं मिले ऐसा कहीं नहीं है, वहाँ पैसा मिले, धूल! आहाहा!

अरे! यह तत्त्व की बात भी भाई! आहाहा! वस्तु है न, वस्तु - प्रभु! है न! वह ज्ञायक है न, वह निष्क्रिय-पर्याय से भी रहित निष्क्रिय है न! वह ध्रुव है न! वह सामान्य है न! उस वस्तु को जहाँ दृष्टि में लेता है। आहाहा! वह मेरे अनुभव की पर्याय से मैं ज्ञात होऊँ ऐसा हूँ। आहाहा! दूसरे प्रकार से नहीं, ऐसा इसमें आ गया। आहाहा!

मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है;.... यह वचन है, प्रत्यक्ष, लो! अभी तो केवल (ज्ञान) हुआ नहीं, तो भी कहते हैं, प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। आहाहा! मेरा भगवान चैतन्यज्योतिस्वरूप है, उसे मेरी शुद्ध परिणति से मैं जानता हूँ। वह प्रत्यक्ष ज्ञात होता है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! मेरी नजर में दूर रहता है — ऐसा नहीं है। मेरी नजर में वह प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। शास्त्र से ज्ञात होता हूँ, यह भी नहीं है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! शास्त्र का ज्ञान हुआ - ग्यारह अंग का (ज्ञान हुआ), इसलिए मैं ज्ञात होता हूँ — ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

मैं तो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता हूँ — ऐसा मैं हूँ। आहाहा! यहाँ तक 'अहं' का आया। क्या? यहाँ तक 'अहं' 'अहं' की यह व्याख्या हुई। यह मैं... यह मैं... यह मैं... आहाहा!

अब 'एक्को' एक की व्याख्या अब। आहाहा! यह एक्का नहीं होता, उसे एक बैल होता है, क्या समझ में आया? गाड़ी को दो बैल होते हैं, एक्का समझ में आता है? उसमें एक बैल होता है, हमारे एक्का बहुत बार उमराला में गारियाधार जाना होता न, बाहर गाँव, तब तो कहाँ थी रेल और कुछ, मोटर और रेल, घोड़ागाड़ी तब। प्लेग था तो दोनों भाई जाते वह एक्का लेकर जावें। गारियाधार! बाहर गाँव सबेरे से शाम पहुँचे, सबेरे से चले तो शाम को पहुँचें, बाहर गाँव। बारह आना मिले उसे दे। भाई! उसे एक्का कहते हैं। एक्का कहते हैं न?

श्रोता : एक बैल साथ में...

पूज्य गुरुदेवश्री : बैल होवे एक्का को, वह तो बहुत बार जाते थे एक्का में, उमराला से गारियाधार जाते और हमारी बहन वहाँ थी। तब प्लेग था, यह तो अन्तिम वहाँ गये थे, अन्तिम बराबर याद है। आहाहा! एक्का में बैठे, अंधेरा, सबेरे मेरी माँ ने कहा भाई कन्नू! बहिन को याद कहना - सायं कहना, सायं कहना — ऐसा आता है। क्या कहलाता है ? सायं कहना — ऐसा कहा साता! यह ऐसा सायं कहना, बहिन को सायं कहना, बस! यह अन्तिम शब्द इसके बाद गुजर गयी। प्लेग था, आहाहा! शाम को वहाँ पहुँचे बाहर गाँव अमुक दिन बाद सुना कि (माँ) गुजर गयी। वहाँ थे हम गारियाधार.... यह (संवत्) ५९ (१९५९) की बात है, तुम्हारे जन्म के पहले, ५९।

श्रोता : ७५ वर्ष हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : ७५ वर्ष पहले, इतने वर्ष हुए, पौने सौ वर्ष हुए परन्तु ताजा ही ऐसा दिखता है, हाँ! आहाहा!

माँ ऐसी कहती - भाई! बहिन को सायं कहना और वहां... आहाहा! बड़े भाई यहाँ थे खुशालभाई, अकेले। वे भी गुजर गये। अरेरे! आहाहा! यह एक्को! एक्को भगवान, जैसे एक बैल से चले, वैसे अकेला एक से चले ऐसा आत्मा! आहाहा!

चिन्मात्र आकार के कारण मैं.... चिन्मात्रस्वरूप, आकार अर्थात् स्वरूप। ज्ञानमात्र स्वरूप के कारण.... ज्ञानमात्र अर्थात् इसमें जो क्रम या अक्रम के जो भेद हैं, वे इसमें नहीं हैं। **चिन्मात्र आकार के कारण मैं....** मैं यह बाद में आया परन्तु चिन्मात्र आकार के कारण मैं, ज्ञानस्वभाव, ज्ञानमात्र। आहाहा! यह... यह... भाग्य, भाग्य, बापू! आहाहा! ऐसी चीज रह गयी है। जगत का भाग्य भाई! आहाहा!

मैं तो ज्ञानमात्र आकार के कारण... चित् अर्थात् ज्ञानमात्र, उसमें दर्शन आ गया। **मैं समस्त क्रमरूप....** यह क्रमबद्ध की यहाँ अभी व्याख्या नहीं है। यहाँ तो क्रम-क्रम से नरकगति, मनुष्यगति, देवगति क्रम-क्रम से होती है। ऐसे क्रमरूप से भी मैं निराला हूँ **तथा अक्रमरूप...** अर्थात् पर्याय अक्रम से है, यह बात यहाँ नहीं है। पर्याय अक्रम है ही नहीं। आहाहा! यहाँ तो अक्रम अर्थात्... क्रम अर्थात् मनुष्यगति, देवगति, एक के बाद एक — ऐसे क्रमरूप और अक्रमरूप - एकसाथ जो योग, लेश्या, कषाय, एकसाथ होते

हैं, वे अक्रम हैं। क्रम गति आदि और अक्रम योग, लेश्या आदि। ऐसे भाव से... आहाहा! **क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों....** आहाहा!

श्रोता : पर्यायभावों....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में जो गति आदि के एक अनेक, आहाहा! ऐसे व्यवहारिक भाव... व्यवहारिक तो नव तत्त्व में भी आयेगा परन्तु यह व्यवहारिकभाव शब्द है उसमें। व्यवहारिक नव तत्त्व आयेंगे, शुद्ध में (शुद्ध के बोल में) आहाहा! ऐसा है। **समस्त क्रमरूप...** इसमें से कितने ही निकालते हैं, देखो! क्रम-अक्रम दोनों हैं... परन्तु किसकी बात है यह?

श्रोता : पर्याय की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो पर्याय में गति आदि हों, वे एक के बाद एक क्रम में और एक साथ हों - योग, कषाय, लेश्या वे अक्रमरूप, उनकी बात है। पर्याय में यह होते हैं। समझ में आया? आहाहा! दीपक जैसा तो लिखा है अन्दर। आहाहा!

श्रोता : दीपक जैसा तो लिखा है परन्तु आँख खोले तब न?

पूज्य गुरुदेवश्री : मैं.... अब एक लेना है न? अहं पहले लिया, वह हो गया। अब 'एक' लेना है। आहाहा! ज्ञानमात्र प्रकाशमात्र चैतन्यचन्द्र-चैतन्य शीतल चन्द्र मात्र। आहाहा! स्वरूप के कारण **आकार...** अर्थात् स्वरूप **मैं समस्त क्रमरूप....** गति-मनुष्य की, एक के बाद एक, देवगति आदि इनसे भी निराला... **अक्रम...** एक साथ योग, लेश्या, कषाय, **अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों....** ये भेदरूप भाव। आहाहा! इन **व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता....** आहाहा! **इसलिए मैं एक हूँ;....** यह एक की व्याख्या। आहाहा! समझ में आया? बापू! यह तो धीरजवान की बातें हैं भाई! यह कहीं कोई बड़े भाषण और ऐसा नहीं यह। यह तो तत्त्व की बात है, भाई! आहाहा! इसे धीरजवान होकर, मध्यस्थ होकर सुने तो यह बात जमे (समझ में आये) ऐसी है। आहाहा!

समस्त क्रमरूप.... समस्त क्रमरूप — एक के बाद एक होनेवाली सब दशायें **अक्रम...** एक साथ होनेवाली सब दशायें, आहाहा! ऐसे **भावों से भेदरूप नहीं होता,**

इसलिए मैं एक हूँ;.... वस्तु अभेद (है) आहाहा! ऐसे अनेक क्रमरूप या अक्रमरूप भावों से भेदरूप नहीं होता; इसलिए मैं एक अभेद हूँ। आहाहा! आहाहा! ऐसे आत्मा का ज्ञान हुआ, वह ऐसा स्वयं को अनुभव करता है। आहा! समझ में आया? आहाहा! मैं एक हूँ।

अब, शुद्ध का तीसरा बोल। अहं, एक्को, शुद्धो। अब तीसरे बोल की व्याख्या है। आहाहा! **नर,....** मनुष्य, **नारक आदि जीव के विशेष;....** देखो! इस जीव के यह विशेष, जीव की पर्याय... नवतत्त्व में जब भेदरूप लेना हो, तब उसकी पर्याय जो विशेष है, उसे जीव लेना, जीवद्रव्य नहीं लेना। समझ में आया? आहाहा! **नारक आदि जीव के विशेष;....** जीव की विशेष पर्यायें, यह एक बोल। जीव की पर्याय का एक बोल। **अजीव....** पर्याय में अजीव का ज्ञान हो, वह अजीव। जीव कहीं अजीव नहीं होता। **पुण्य....** दया, दान आदि का शुभभाव, लो! यहाँ तो शुभभाव... आहाहा! अरे भगवान! शुभभाव; **पाप....** अशुभभाव, दोनों होकर **आस्रव....** नये आवरण का कारण; **संवर....** पर्याय की संवरदशा... आहाहा! पर्याय की निर्मल संवरदशा; **निर्जरा....** शुद्धि की वृद्धि, और **बन्ध....** राग में अटकना और **मोक्ष...** शुद्धि की पूर्णता। यह **व्यावहारिक नव तत्त्व....** आहाहा! यह पर्याय के व्यावहारिक नव भाव; व्यावहारिक नव तत्त्व, है न? उसमें व्यावहारिक भावों से था, पहले में। इन व्यावहारिक नव तत्त्वों से... आहाहा! इन पर्यायों से, आहाहा! **टंकोत्कीर्ण....** एकरूप स्वरूप। टंकोत्कीर्ण अर्थात् जैसे टांकी से निकाला हो न, एकाकार ऐसा शाश्वत् एक ज्ञायकस्वभाव... **एक ज्ञायकस्वभावरूप....** आया अब यहाँ। आहाहा! उसमें चैतन्य ज्योति लिया, यहाँ ज्ञायकस्वभाव लिया। **एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा.... एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा....** ये व्यवहारिक पर्यायें, जीव की पर्यायें और रागादि समस्त भेदों से भिन्न हूँ। आहाहा! ऐसी गम्भीर बातें! यह ऐसा का ऐसा पढ़ जाये और मान ले... अरेरे! यहाँ तक बात, कल तो आयी थी। लो!

श्रुतसागर ने लिखा है कि अभी तो शुभयोग ही होता है, शुभ उपयोग ही होता है। शुद्ध-शुद्ध होता नहीं। अरे...अरे प्रभु, प्रभु! भाई! अभी आत्मा ज्ञात नहीं होता, ऐसा इसका अर्थ हुआ।

श्रोता : यह सब इस काल का लिखा हुआ है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचम काल के प्राणी को कहते हैं और पंचम काल का प्राणी अनुभव करता है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! अरे प्रभु! कोई ऐसा कहता है कि ऐसा करके लिखा है, रात्रि को नहीं पढ़ा?

यह मुमुक्षु ऐसा कहते हैं ऐसा वे लिखते हैं कि शुद्धोपयोग पहले हो और फिर समकित हो, भाई! ऐसा किसने कहा? ऐसा लिखा? परन्तु उस शुद्ध उपयोग से समकित हो, शुभ से (होता होवे तो) शुभ तो आस्रव है। आहाहा! अरे प्रभु! क्या करता है? लोगों में बाहर के त्याग की महिमा, नग्नपना और उसमें अब... आहाहा! लोग उसमें झुक जाते हैं... परन्तु प्रभु! प्रभु! तेरा मार्ग अलग है भाई!

श्रोता : लोग भी वेष में झुकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वेष में झुकते हैं। अरेरे! आहाहा! परन्तु वेष तो तेरा एक ज्ञायकदेव है न, प्रभु! आहाहा!

श्रोता : वह तो निश्चय से, यह तो व्यवहार से।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका तुझे पता नहीं भाई! आहाहा! यह सब पर्याय के भाव, मोक्षादि सब वेष कहे हैं न, तो इसका अकेला ज्ञायक वेष है। चैतन्य ज्योति जलहल ज्योति प्रभु ज्ञायकभाव वह तेरा वेष है। यह पर्याय का वेष भी (तेरा) नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहाहा!

प्रभु! यह तो सत्य की बात है प्रभु! यह लोगों को ऐसा लगता है कि हमको अब साधु मानते नहीं, इसलिए अब इस प्रकार चलाया। अरे भाई! ऐसा रहने दे बापू!

श्रोता : दूसरे साधु माने या न माने उसमें उन्हें क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें वस्तु क्या है ऐसा बापू! समझ न भाई! आहाहा! यहाँ तो परमात्मा द्वारा कथित तत्त्व की बात, श्रोता ने अपने स्वभाव को जाना है, वह यहाँ कहता है। पंचम काल का प्राणी ऐसा कहता है। पंचम काल के सन्तों ने, पंचम काल के श्रोता को कहा था। वह श्रोता इस प्रकार अनुभव करता है। आहाहा! यहाँ चौथे काल की बातें हैं ही कहाँ? आहाहा! है?

टंकोत्कीर्ण.... वे पर्याय के नौ भेद हैं न! जीव की विशेष दशायें, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष पर्यायें हैं न? आहाहा! उनके भेदभावों से— व्यवहारिक नौ तत्त्वों से, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव, वह तो ऐसा का ऐसा भगवान अदबदनाथ ज्ञायकस्वभाव से भरपूर प्रभु अकेला, आहाहा! उसके द्वारा, **अत्यन्त भिन्न हूँ....** इन पर्यायों से अत्यन्त भिन्न हूँ। आहाहा! नारकी आदि और संवर-निर्जरा की पर्याय से भी अत्यन्त भिन्न हूँ। आहाहा! मोक्ष की पर्याय से भी भिन्न, मुक्तस्वरूप हूँ। मेरा स्वरूप ही मुक्त है। पर्याय से मुक्ति, यह भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? बद्ध से तो रहित हूँ, आस्रव के राग से तो रहित हूँ परन्तु मोक्ष की पर्याय जो एक समय की निर्मल (है), उसमें मैं नहीं आता; मैं तो उससे भिन्न हूँ। आहाहा!

मैं एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव द्वारा, **एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न हूँ....** अत्यन्त भिन्न हूँ। आहाहा! यह आस्रव-पुण्य-पाप की पर्याय और संवर-निर्जरा तथा मोक्ष की निर्मल पर्याय... आहाहा! मेरा भगवान द्रव्यस्वभाव तो इनसे अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! यह साधक की पर्याय और सिद्ध की पर्याय से भी भिन्न हूँ — ऐसा कहते हैं। संवर-निर्जरा यह साधक की पर्याय; आस्रव, पुण्य-पाप बाधक की पर्याय; मोक्ष साध्य पर्याय। आहाहा! आहाहा! इनसे भी अत्यन्त भिन्न हूँ। आहाहा! आहाहा! ऐसी बातें हैं।

तब इसने आत्मा जाना — ऐसा कहा जाता है - यह कहते हैं। पर्याय के - नौ के भेद से भी अत्यन्त भिन्न हूँ, **वह मैं शुद्ध हूँ।** है? **इसलिए मैं शुद्ध हूँ।** यह शुद्ध की व्याख्या की। उसमें ७३ (गाथा में) शुद्ध की व्याख्या यह की है कि पर्याय में जो षटकारक का परिणमन है, यह जो संवर, निर्जरा आदि कहे, इन षट्कारक का परिणमन शुद्ध है। इसके परिणमन से भी मेरी अनुभूति अर्थात् वस्तु है, वह अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वह ऐसा जानती-अनुभव करती है पर्याय। आहाहा! परन्तु कहते हैं कि इस अनुभव की पर्याय से मैं अत्यन्त भिन्न हूँ। आहाहा! इस पर्याय में पूरी चीज नहीं आती। पूरी चीज का ज्ञान आता है परन्तु वह चीज जो पर्याय से भिन्न है। वह पर्याय-निर्णय करनेवाली पर्याय में वह चीज नहीं आती। आहाहा! आहाहा! क्या शास्त्र! यह समयसार!

ऐसे नव तत्त्व के पर्याय के भेद अर्थात् व्यावहारिक नौ तत्त्व, ये पर्यायें व्यवहार हुई। नौ हुए न! नौ व्यवहारिक नौ तत्त्वों से... आहाहा! संवर, निर्जरा और मोक्ष भी पर्याय है तो वह व्यवहार हो गया। आहाहा! आज रविवार है न? आये हैं न, हमारे चिमनभाई कहते हैं कि रविवार को सब अच्छा आता है। यह ऐसा मार्ग है। आहाहा! आहाहा!

आहाहा! उसमें (एक के बोल में) ऐसा कहा था — क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता। यहाँ ऐसा कहा कि पर्यायों आदि के व्यावहारिक नव तत्त्वों से मेरा एक स्वभावरूप भाव अत्यन्त भिन्न है। आहाहा!

श्रोता : वह भिन्न ही है!

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! उसमें आया है न मिट्टी का, सैंतालीस नय में। मिट्टी के बर्तन की पर्याय से देखो तो वह अशुद्धता है, कहते हैं। मिट्टी में मिट्टीरूप देखो तो वह शुद्ध है; वैसे भगवान आत्मा को, आहाहा! उसकी पर्याय से देखो तो वह अशुद्ध कहलाता है। आहाहा! १६वीं (गाथा) में आ गया है – मेचक। आहाहा! कैसी शैली तो देखो!

इस ज्ञान, दर्शन, चारित्र की पर्याय से देखो तो मलिन कहलाता है – व्यवहार कहलाता है। आहाहा! भेदरूप पर्याय को व्यवहार और मलिनता कहने का व्यवहार है, कहते हैं। आहाहा! कहो, १६ वीं में यह कहा, और इन नयों में यह कहा, चारों ओर से देखो तो वस्तु पूर्वापर विरोधरहित सिद्ध करते हैं – ऐसी शैली दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

'अहमेक्को खलु सुद्धो।' यह शुद्ध की व्याख्या हुई। शुद्ध उसे कहते हैं कि पर्याय के भेदों से भिन्न, उसे शुद्ध कहते हैं। पर्याय से सहित यदि उसे कहो, तब तो वह अशुद्धता है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! आहाहा!

अब **दंसणणाणमइओ** वहाँ भी (७३ गाथा में) ऐसा है। **णाणदंसणसमग्गो** ७३ में है। ७३ में **दंसणणाण समग्गो** है क्योंकि वहाँ आस्रव को नाश करने का उपाय बतलाना है। उसे अर्थात् मैं ऐसा हूँ — ऐसा जानकर आस्रव का क्षय करता हूँ – ऐसा वहाँ ७३ (गाथा में है) यहाँ तो ऐसा हूँ — यह जानकर पर्याय के भेद मुझमें नहीं है। आहाहा! अब वहाँ ७३ में **णाणदंसणसमग्गो** था, यहाँ **दंसणणाणमइओ** है।

चिन्मात्र होने से.... भगवान ज्ञायकस्वरूप, ज्ञायकस्वरूप, चिन्मात्र ज्योति, चैतन्य ध्रुव ज्योति, ऐसे अनन्त-अनन्त गुणों का भण्डार भगवान, ऐसा चिन्मात्र ज्योति के कारण, आहाहा! **सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता.....** सामान्य अर्थात् दर्शन, विशेष अर्थात् ज्ञान। है न? पाठ में ही है न 'दंसण णाण' दंसण अर्थात् सामान्य और ज्ञान अर्थात् विशेष - दो है न? इसलिए पहले सामान्य-विशेष लिया।

एक चैतन्यमात्र भगवान आत्मा प्रकाश की मूर्ति, चैतन्य चन्द्र, शीतलता का पिण्ड प्रभु और अकेला ज्ञानमूर्ति प्रभु, आहाहा! उसके कारण सामान्य-विशेष — ऐसा जो उपयोगपने का उल्लंघन नहीं करता। मेरा स्वभाव दर्शन और ज्ञान है, उसे उल्लंघन नहीं करता। आहाहा! रागादि इसका (आत्मा का) स्वभाव नहीं और इसके स्वरूप में भी नहीं। आहाहा! यहाँ तो संवर, निर्जरा, और पर्याय का भेद भी जिसके स्वरूप में नहीं है। आहाहा! अरे प्रभु! आहाहा! इसका अर्थ यह कि संवर, निर्जरा के लक्ष्य से मोक्ष नहीं होता; द्रव्य के लक्ष्य से होता है। आहाहा! आहाहा!

चिन्मात्र होने से.... यह चौथा बोल। **सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता....** के कारण... सामान्य-विशेष का — जानने-देखने के व्यापारपने के कारण **उल्लंघन नहीं करता...** उसके कारण उल्लंघन नहीं करता। **इसलिए मैं दर्शनज्ञानमय हूँ;....** आहाहा! ऐसी पर्याय की अनुभवदशा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? सामान्य-विशेष चिन्मात्र होने से, मेरे देखने-जानने के उपयोगपने को नहीं छोड़ता, उल्लंघन नहीं करता। **इसलिए मैं दर्शनज्ञानमय हूँ;....** मैं दर्शन-ज्ञानवाला हूँ — ऐसा भी नहीं; दर्शनज्ञानमय हूँ। आहाहा! ऐसी टीका तो हजारों वर्ष से है, यह कहीं नयी है? अमृतचन्द्राचार्य! यह श्लोक और गाथा 2000 वर्ष पहले की और टीका हजार वर्ष पहले की है। आहाहा!

चैतन्यसूर्य को प्रकाशित करने में टीका उसकी स्पष्टता करती है टीका से। आहाहा!

'सदारूवी' स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण जिसका निमित्त है ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी.... क्या कहते हैं? मेरा ज्ञान स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण को जाननेरूप परिणमित होने पर भी, आहाहा! स्पर्श, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि, ऐसे वे जड़ जिसमें निमित्त हैं.... स्पर्श, रस, गन्ध आदि हैं; ऐसे संवेदनरूप परिणमना, वह मेरा उपादान।

उसके जाननेरूप-वेदनरूप परिणमा ऐसा मैं, ऐसा (होने) पर भी, आहाहा! **स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं हुआ....** इस स्पर्श, गन्ध, रसरूप आत्मा नहीं होता। आहाहा! ये स्पर्श गन्ध, रूप, रस, स्पर्श इनमें जिसमें मेरा ज्ञान के वेदन में ये निमित्त हैं और इस निमित्त का जिसे वेदन है, वह निमित्त का नहीं; वेदन मेरा है, उसमें वे निमित्त हैं, तथापि वह उनरूप परिणमित नहीं होता। आहाहा!

रूपी पदार्थ के ज्ञानरूप परिणमित मैं; उस रूपीरूप मैं नहीं होता। **इसलिए मैं अरूपी हूँ।** आहाहा! समझ में आया? रूपी पदार्थ को जानने पर भी, वेदनरूप परिणमा होने पर भी, उस रूपी में स्वयं परिणमित नहीं हुआ, रूपीपने परिणमित नहीं हुआ, रूपी के अपने ज्ञानरूप परिणमित हुआ है। आहाहा! **इसलिए परमार्थ से मैं सदा ही अरूपी हूँ।** परमार्थ से मैं त्रिकाल सदा ही अरूपी हूँ। आहाहा! विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ११० गाथा ३८ दिनाङ्क १७-१०-१९७८ मंगलवार
आसोज कृष्ण १, वीर निर्वाण संवत् २५०४

३८ गाथा। यहाँ तक आया है। **परमार्थ से मैं सदा ही अरूपी हूँ।** यहाँ आया है न? मैं एक हूँ, इसकी व्याख्या आ गयी; शुद्ध हूँ, इसकी आ गयी; ज्ञान-दर्शन मैं हूँ, (इसकी) आ गयी। सदा ही अरूपी हूँ। अब यह कहते हैं।

अनादि का अप्रतिबुद्ध अज्ञानी था, जिसे आत्मा का ज्ञानस्वरूप क्या है — इसका बिल्कुल पता नहीं था और विरोध / अज्ञान था। आहाहा! उसे भी गुरु द्वारा यह समझाने पर, यह बारम्बार उसका रटन करते हुए, वह अन्दर से समझ गया। अरे! मैं तो परमेश्वर स्वरूप हूँ। जैसे मुट्ठी में सोना हो और भूल जाये, वैसे भगवान अन्दर है, उसे मैं भूल गया था। आहाहा! वह मैंने अब याद किया कि ओहो! चैतन्यस्वरूप परमात्मस्वरूप भगवान परमेश्वर आत्मा वह मैं — ऐसा एक और शुद्ध (हूँ)।

इस प्रकार सबसे भिन्न.... वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श का ज्ञान होने पर भी उनसे वह

भिन्न (है।) वह चीज यहाँ नहीं आती तथा इसका ज्ञान चीज में नहीं जाता। वे रूपी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श को अपनी संवेदन शक्ति से जानने पर भी, आत्मा उनरूप नहीं होता और वह ज्ञेय, ज्ञान में नहीं आता। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा धर्मी जीव अपने लिये ऐसा निर्णय करके अनुभव करता है, यह कहते हैं। आहाहा! उसे - यहाँ तो तीनों को साथ लिया है न - दर्शन, ज्ञान और चारित्र? आहाहा! आत्मा शुद्ध चैतन्य परमेश्वररूप का ज्ञान, उसकी प्रतीति और उसमें आचरणरूप रमणता ये तीन हुए। ये जीव की पूर्णता को प्राप्त हुआ। आहाहा! जैसा इसका पूर्ण स्वरूप है, वैसा ही प्रतीति ज्ञान-रमणता में आया। आहाहा!

इस प्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ.... पर से बिल्कुल भिन्न, ऐसा मैं आत्मा, शुद्ध चैतन्यघन... आहाहा! उसे — स्वरूप को अनुभव करता हुआ, पर्याय में प्रकाश में उसे अनुभव करता हुआ, आहाहा! मेरी जो पर्याय है, उसमें उस स्वरूप को अनुभव करता हुआ। आहाहा! उसका नाम आत्मा जाना, माना और अनुभव किया - ऐसी बात है।

यद्यपि अनुभव करता हुआ यह मैं मेरे स्वरूप को शुद्ध चैतन्य, राग से भिन्न, रूपी चीज को-रूपी को-जानने पर भी भिन्न और राग को जानने पर भी राग से भिन्न — ऐसा जो मेरा भगवान स्वभाव, उसे अनुसरण करके अनुभव करता हुआ, सन्मुख होकर — ऐसा शब्द है न? भाई! अभिगच्छदि... नहीं! अभिगच्छदि... अभिगच्छदि... शब्द है पहले।

शुद्ध चैतन्य द्रव्य वस्तु को मैं, मेरी पर्याय में परसन्मुखता की जो धरा थी, वह मिथ्यात्व था। उस ज्ञान की वर्तमान पर्याय को अभिगच्छदि - स्वरूप के सन्मुख की है। कहाँ है शब्द अभिगच्छदि? कहीं आया तो था, अब वह तो पहले आया था, अभिगच्छदि (श्रोता : नौवें में)। ९ वें में न, अभिगच्छदि। (जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तुं केवलं सुद्धं), हाँ, बस यह। गाथा ९ वीं का पहला पद, देखो! ९ वीं गाथा। जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तुं केवलं सुद्धं - है? क्या कहा? मेरे भाव श्रुतज्ञान द्वारा अभिगच्छदि- वस्तु के सन्मुख होकर... आहाहा! अप्पाणमिणंतुं यह आत्मा केवल शुद्ध है — ऐसा मैं जानता हूँ। आहाहा! अभिगच्छदि शब्द है न?

छठवीं गाथा में, प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं — ऐसा मैं ज्ञायक हूँ। ग्यारहवीं में भूतार्थ

ज्ञायक, भूतार्थ-सत्यार्थ वह मैं हूँ, उसका आश्रय... यहाँ ऐसा कहा कि मेरे भावश्रुतज्ञान द्वारा भगवान के समीप होकर मैं अनुभव करता हूँ। आहाहा! यहाँ यह कहते हैं, स्वरूप का अनुभव करता हुआ,... यह तो इसके ऊपर जरा (वजन देना है)। जो वस्तु है पर से भिन्न राग से, रूपी से (भिन्न) ऐसा पूर्ण स्वरूप आनन्द प्रभु को मैं मेरे स्वरूप का अनुभव करता हुआ 'यह, यह' प्रत्यक्ष है, कहते हैं। ज्ञान की पर्याय में 'यह' 'मैं' **प्रतापवन्त हूँ....** आहाहा! वह शक्ति निकाली (कही है) न प्रभुत्व? प्रभुत्व शक्ति, वह इसमें से। वहाँ ऐसा कि जिसका प्रताप अखण्डित है, ऐसा स्वतन्त्रता से शोभायमान मेरा प्रभु, जिसका प्रताप अखण्ड है, जिसे कोई खण्ड कर सके — ऐसी ताकत किसी में नहीं है। आहाहा!

देखो! जिसका - प्रभु का प्रताप,... उसमें प्रभुत्व नाम का गुण है। भगवान आत्मा में ईश्वर-प्रभुता नाम का गुण है। उस गुण के धारक को भगवान आत्मा को जाना, वह कहता है कि मेरा प्रताप अखण्डित है। इस मेरे प्रताप को स्वतन्त्रता से शोभायमानपना है। आहाहा! ऐसा मैं आत्मा प्रतापवन्त रहा — ऐसा कहते हैं। देखा! आहाहा! **अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ।...** आहाहा! अलौकिक बातें हैं बापू! समयसार ने तो केवली का विरह भुलाया है। आहाहा! धीरे से, शान्ति से, सुने-समझे तो इसे पता पड़े। आहाहा!

इस प्रकार मैं '**दंसणणाणमइओ सदारूवी।**' मैं एक शुद्ध ऐसा पर से सर्वथा पृथक्, ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ **सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ....** आहाहा! यह 'मैं' यह ज्ञायक चैतन्य ज्योति प्रभू... आहाहा! जिसकी ज्ञान की पर्याय में प्रत्यक्ष हुआ। आहाहा! समझ में आया?

यह मैं आत्मा, यह मैं, आहाहा! प्रतापवन्त रहा। 'यह' 'मैं' मेरे अखण्ड प्रताप से स्वतन्त्ररूप से शोभायमान रहा। आहाहा! देखो! यह आत्मा का ज्ञान! आहाहा! यह मैं भगवान आत्मा, इन **सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ।...** मेरा (स्वभाव) प्रतापवन्त मैं हूँ। आहाहा! मेरे प्रताप को कोई खण्डन नहीं कर सकता। ऐसा मैं स्वतन्त्रता से शोभायमान... आहाहा! ऐसा मैं प्रतापवन्त यह रहा, इतना लिया। अब **इस प्रकार प्रतापवंत वर्तते हुए ऐसे मुझे,....** आहाहा!

यह पंचम काल के मुनि! वे अपनी दशा वर्णन करते हुए जगत को इस प्रकार का

उपदेश देते हैं। आहाहा! दिगम्बर मुनि हैं! अन्तर अनुभव में दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अनुभव करते हैं। मेरे स्वरूप को मैं अनुभव करता हूँ। यह शुभयोग होगा? प्रभु... प्रभु... प्रभु... क्या करता है नाथ?

शुभयोग से भी मैं सर्वथा पृथक्... आहाहा! क्रमरूप और अक्रमरूप में नहीं आया था? और तत्त्व के नौ भेद, उनसे भी पृथक्। है? आहाहा! मेरा प्रभु पर से पृथक् — ऐसे मेरे स्वरूप को, धर्मी ऐसा जानता है, अनुभव करता है। आहाहा! कि यह मैं प्रतापवन्त रहा, यह मैं प्रतापवन्त रहा। आहाहा! मेरे प्रताप को कोई खण्डित कर सके — ऐसी किसी की जगत में ताकत नहीं है। आहाहा! मेरे प्रताप की स्वतन्त्रता से शोभायमान... उसकी स्वतन्त्रता की अशोभा कोई कर सके? आहाहा! गजब है टीका! आहाहा! वस्तु को स्पष्ट व्यक्त करने की सिद्धि! आहाहा! ऐसे यह मैं प्रतापवन्त रहा अर्थात् अस्ति की बात की।

अब **इस प्रकार प्रतापवंत वर्तते हुए ऐसे मुझे,....** इस प्रकार मैं प्रतापवन्त वर्तता हूँ, ऐसे मुझे। आहाहा! **यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकार की....** पहले कहा था न, कि सदा ही पृथक्, सर्व से पृथक् ऐसे मेरे स्वरूप को अनुभव करता हुआ... अब मेरे ऐसे स्वरूप से बाहर... है न? **अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा....** यह भी अनेक प्रकार की स्वरूप की सम्पदावाला जगत है। अनन्त आत्माएँ, अनन्त रजकण हों जगत में, कहते हैं। आहाहा! **अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं....** सभी अनन्त द्रव्य हैं, अस्ति रखते हैं, स्फुरायमान हैं, प्रगट हैं। आहाहा!

अनन्त आत्माएँ, अनन्त रजकण, असंख्य कालाणु, धर्मास्ति, अधर्मास्तिकाय, और आकाश, यह मेरे स्वरूप से, पृथक् स्वरूप की सम्पदा को धारण करते हुए... आहाहा! आहाहा! ये भी अस्तिरूप बाह्य पदार्थ अपनी सम्पदा द्वारा शोभायमानपने रहे हुए हैं। आहाहा! उन्हें कोई मेरी जरूरत नहीं, उनकी मुझे जरूरत नहीं। आहाहा!

ऐसा मेरा भगवान प्रतापवन्त रहता हुआ, प्रतापवन्त वर्तता हुआ। आहाहा! **मुझे, यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा....** उनकी स्वरूप की लक्ष्मी-परमाणु के स्वरूप की लक्ष्मी, आत्मा के स्वरूप की लक्ष्मी, सिद्धों के स्वरूप की लक्ष्मी, अनन्त निगोद के जीवों के स्वरूप की लक्ष्मी, उसके **(द्वारा) समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं....** उनकी सम्पदा द्वारा वे स्फुरायमान हैं। आहाहा!

मेरे द्वारा वे नहीं, तथा ईश्वर कर्ता है, इसलिए वे शोभायमान हैं, ऐसा नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! वे भी अपने स्वरूप की सम्पदा द्वारा... आहाहा! समस्त **समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि, कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं,** कहते हैं। आहाहा! धर्मी जीव को, सम्यग्दृष्टि जीव को। आहाहा! मेरे स्वरूप के प्रतापवन्तपने रहा, और प्रतापवन्त वर्तते ऐसे मुझे, बाहर के समस्त परद्रव्य उनकी सम्पदा से स्फुरायमान हैं, अस्ति है; जैसे मैं स्वयं अस्ति हूँ, वैसे वे भी अस्ति हैं, तथापि आहाहा! **कोई भी परद्रव्य...** कोई भी परद्रव्य — सिद्ध हो या निगोद हो या रजकण हो या अचेतन स्कन्ध हो। आहाहा! स्त्री हो या उसका शरीर हो या पंच परमेष्ठी हो। आहाहा! वे उनके स्वरूप की सम्पदा से स्फुरायमान हैं। आहाहा!

मुझे — मैं एक आत्मा भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, आहाहा! मेरी स्वरूप की सम्पदा को अनुभव करते हुए, सभी सम्पदा से स्फुरायमान वे तत्त्व हैं, उनमें कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी, एक राग का कण और रजकण का पदार्थ... आहाहा! मुझरूप भासित नहीं होता।

देखो! यह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के आत्मा के अनुभव के लक्षण! आहाहा! यहाँ भले तीनों ही साथ में लिये हैं। तीनों साथ में, सम्यग्दर्शन में भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र में तीनों शामिल हैं, यहाँ पूर्ण लिया है। समझ में आया? आहाहा!

धर्मी जीव, पहले अज्ञानी था। आहाहा! उसे गुरु ने समझाने पर वह अपने रटन में गया-आया और उसमें स्वरूप की सम्पदा का अनुभव किया। आहाहा! अरे! मैं तो मेरे परमेश्वर को भूल गया था। आहाहा! मेरा प्रभु तो पूर्णानन्द से अन्दर विराजमान है। आहाहा! उसे मैंने याद करके, स्वरूप की स्मृति करके। आहाहा! याद किया कब हो? कि उसका अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा हुई हो तब याद किया हो। आहाहा! ऐसा जो मैं, उसे (ऐसे मुझे) यद्यपि मुझसे बाहर परमाणु आदि अनेक प्रकार की स्वरूप की सम्पदा द्वारा प्रकाशित हैं परन्तु मुझरूप (मुझे) भासित नहीं होते। **कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं....** आहाहा! ३८ गाथा! गजब काम है!

मुझरूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप.... कर्म भावक और उसके

निमित्त से होनेवाला विकार भाव्य, वह मेरे हैं, यह अब मुझे भासित नहीं होता। आहाहा! आहाहा! देखो यह सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी और आचरणवाला! आहाहा! यह इन पंचम काल के सन्तों ने, पंचम काल के श्रोताओं को कहकर... श्रोता जाग उठा उसकी बात है। हें! आहाहा! विशेष तो अब आता है।

मुझरूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर.... यह भावकरूप नहीं और ज्ञेयरूप नहीं। ज्ञेय है परन्तु मुझरूप भासे, ये भगवान हैं वे मेरे हैं — ऐसा भासे, अब ऐसा है नहीं — ऐसा कहते हैं। आहाहा!

अमृत बरस्या रे पंचम कालमां! ऐसी बात कहाँ है प्रभु! आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य हैं न! आहाहा! अभी तो अधिक आता है – अलौकिक बातें! आहाहा! **मुझे भावकरूप....** जिसे आत्मा सम्यग्दर्शन में भासित हुआ, सम्यग्ज्ञान में आत्मा भासित हुआ... आत्मा पूर्णानन्द का नाथ! आहाहा! वह समकिती ऐसा कहता है कि मेरे स्वरूप को अनुभव करता हुआ, यह मैं प्रतापवन्त रहा। मेरे प्रतापवन्त वर्तते ऐसे मुझे, समस्त परद्रव्यों में कोई भी चीज मेरी है — ऐसा मुझे भासित नहीं होता। आहाहा! पंच परमेष्ठी हों तो भी वे मेरे हैं — ऐसा मुझे भासित नहीं होता, कहते हैं। आहाहा! यह तो ठीक, अभी आता है।

भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर पुनः मोह उत्पन्न करे;... आहाहा! मुझे जो मोह का–मिथ्यात्व का नाश हुआ है, वह फिर से अब मोह आवे, यह मुझे अब नहीं रहा। आहाहा! यह पंचम काल के सन्त और श्रोता ऐसे होते हैं — ऐसा कहते हैं। गजब बात करते हैं प्रभु! आहाहा! पंचम काल के सन्त हैं, दिगम्बर सन्त कहते हैं। हमने जो इस मोह का नाश किया, वह फिर से उत्पन्न नहीं होगा... परन्तु प्रभु तुम केवली हो? तुम्हें केवलज्ञान है? तुम केवली के पास गये भी नहीं, अभी कुन्दकुन्दाचार्य तो गये थे। आहाहा!

मेरा नाथ अन्दर परमेश्वर विराजता है और मैं वहाँ गया था। आहाहा! और मेरी पुकार है। जगजाहिर पुकार है कि मुझे जो इस मिथ्यात्व का–मोह का नाश हुआ, भले चारित्र से अस्थिर होऊँगा, दर्शन–ज्ञान–चारित्र से परिणमित हुआ है, इसलिए स्वर्ग में जायेंगे इस कारण चारित्र से अस्थिर होंगे परन्तु जो मोह का नाश हुआ है, वह फिर से होगा, यह नहीं – ऐसा कहते हैं। आहाहा!

श्रोता – अप्रतिहतभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री – अप्रतिहतभाव है बापू! आहाहा! आहाहा!

श्रोता – अब पड़ने की बात नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री – द्रव्य क्या पड़े? और जिसकी दृष्टि द्रव्य की हुई, वह क्या पड़े? ऐसा कहते हैं। आहाहा! हमें तो जो कोई मिथ्यात्व का-मोह का नाश किया और जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान उत्पन्न किया, वह मोह फिर से उत्पन्न होगा? हम पंचम काल के सन्त कहते हैं, और सन्त के श्रोताओं को अनुभव हुआ, वह ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसकी बात ली है न? अनादि (अज्ञानी था वह) समझा, उसकी बात है न? आहाहा!

प्रभु! परन्तु तुम्हें केवलज्ञान भी नहीं और इतना अधिक जोर? कि हम अब आत्मज्ञान पाये हैं, अनुभव हुआ है और मिथ्यात्व का नाश किया है, वह मिथ्यात्व अब हमें होनेवाला नहीं है। आहाहा!

अब हम सादि-अनन्त सम्यग्दर्शन में रहनेवाले हैं। आहाहा! आहाहा! गजब काम किया है! मुनि स्वयं तो कहते हैं परन्तु जिसे समझ में आया वह (श्रोता) ऐसा कहता है। ऐसा है न भाई! आहाहा! इस पंचम काल का श्रोता। आहाहा! जिसे इस गुरुगम से यह वाणी मिली... आहाहा! और वह समझा। आहाहा! वह ऐसा कहता है कि हम तो यह प्रतापवन्त रहे और प्रतापवन्त वर्तते मुझे कोई मेरे प्रताप को कोई मोह उत्पन्न करके खण्ड करे ऐसा अब नहीं है। फिर से मोह उत्पन्न हो, यह मुझे है ही नहीं। आहाहा! ओहोहो! हमें जो दृष्टि और दृष्टि का विषय मिला, वह दृष्टि अब गिरे, तीन काल में नहीं, कहते हैं। आहाहा! अप्रतिहत! आहाहा! यह लोग कहे — पाँचवाँ काल ऐसा है और उसमें शुभयोग ही होता है... अरे प्रभु! क्या करता है भाई!

श्रोता – अभी शुद्ध उपयोग नहीं होता, पाँचवें काल में शुभभाव से धर्म होता है, शुभ से ही होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – उसे पता नहीं, और पता नहीं इसे। आहाहा! भाई! तेरी स्वरूप की सम्पत्ति का प्रभु, आहाहा! पता नहीं, इस कारण पंचम काल में शुभयोग ही होता है...

प्रभु! यह क्या कहते हैं ये मुनि? अरे! मुनि तो ठीक, परन्तु उन्हें सुननेवाले ऐसे होते हैं – ऐसा कहते हैं। आहाहा!

श्रोता – श्रोता भी ऐसे हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री – आहाहा! ऐसे ही श्रोता थे और हमारी वाणी 'यह है' और जिसके कान में पड़े... और जो समझे, वह भी अप्रतिहतवाला जीव है। ले! ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु! आहाहा! ऐसी बातें हैं बापू! जगत् के साथ मेल मिलना बहुत कठिन भाई!

श्रोता – दीपावली के दिनों में तो ऐसा ही होवे न।

पूज्य गुरुदेवश्री – ऐसा ही होवे, बापू! सत्य बात है। आहाहा! जहाँ अन्दर से झपकारा जगा प्रभु! आहाहा!

श्रोता – प्रकाश... प्रकाश... प्रकाश...

पूज्य गुरुदेवश्री – प्रकाश का पुंज जहाँ जगा अन्दर प्रकाश। कहते हैं (कि) अब हम वापस गिरेंगे और हमें मिथ्यात्व फिर से उत्पन्न होगा, ऐसा हमारे नहीं रहा। हम पंचम काल के श्रोता और पंचम काल के गुरु! आहाहा! पण्डितजी! आहाहा! यह तो समझा वह ऐसा कहता है न? '**अहमेक्को खलु सुद्धो**'। आहाहा!

प्रभु! आहाहा! और पाँचवीं गाथा में ऐसा कहा न प्रभु ने – कुन्दकुन्दाचार्य ने '**तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण। जदि दाएज्ज पमाणं**' आहाहा! अन्तर के अनुभव से प्रमाण करना प्रभु! आहाहा! भगवान... भगवान... भगवान... सब विराजते हैं आहाहा! कहते हैं। आहाहा!

भगवान को पहचानकर स्वीकार करना। आहाहा! पाटनीजी! देखो! यह बात नहीं सुनी कहीं, यह तो स्वयं ही कहते हैं न भाई! बापू! ऐसी बात है भाई! आहाहा! आहाहा! हमारा जो मिथ्यात्व-अनन्त संसार... आहाहा! यह गया, वह गया अब, कहते हैं। आहाहा!

श्रोता – जल गया वह वापस आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री – आहाहा! ऐ रतिभाई? यह रति अन्दर में उत्पन्न हुई, कहते हैं। वह अब जानेवाली नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु, प्रभु! आहाहा!

यह मोह... यह गजब किया है न? मेरे साथ ज्ञेय होकर, ज्ञेय पर है न, वे मेरे होकर भावकभाव से मेरे होकर, एक होकर फिर मोह उत्पन्न करे, यह मुझे नहीं रहा। आहाहा!

क्योंकि निजरस से ही.... आहाहा! मिथ्यात्व, मोह को क्यों उत्पन्न न करे? कि मेरे निजरस से — आत्मा के आनन्द के रस से... आहाहा! मेरी निजशक्ति की सामर्थ्य से, मेरा भगवान निजरस की सामर्थ्य से, आहाहा! **मोह को मूल से उखाड़कर....** मोह को दबाया है-उपशम किया है — ऐसा भी नहीं। यहाँ तो **मोह को मूल से उखाड़कर....** आहाहा! जैसे गधा मूल से उखाड़कर खाता है, वैसे ज्ञानी, राग को मिथ्यात्व को मूल से उखाड़ डालता है। आहाहा! आहा! गजब गाथा है। क्योंकि मैंने मेरे आत्मा के रस से - स्वभाव के रस की सामर्थ्य से मोह को, **निज रस से ही....** ऐसा कहा है। देखा? कोई कर्म मन्द पड़ा और अमुक हुआ, ऐसा नहीं परन्तु मैंने मेरे निजरस से ही... आहाहा! मेरा भगवान आत्मा, निजरस — आनन्द के रस से, मेरी सामर्थ्य से-ऐसा कहते हैं। निजरस से 'ही', दूसरा कोई अन्दर आशय - राग नहीं। आहा! आहाहा! **मोह को मूल से उखाड़कर....** मूल में से खोद निकालकर। आहाहा! मूल तोड़ दिया है, कहते हैं। **पुनः अंकुरित न हो....** आहाहा! आहाहा!

ओहोहो! क्या समयसार के कर्ता! क्या उसके टीकाकार!! क्या उसके श्रोता!!! आहाहा! यहाँ उसकी व्याख्या है न भाई! जिसे सुनाया है, वह समझा है, वह ऐसा कहता है कि, आहाहा! **मेरे निजरस से ही...** मेरा वीतराग स्वभावरस, आहाहा! पूर्ण स्वभाव में सावधानी के रस से ही मोह को मूल से उखाड़ दिया। आहाहा! मोह को दबाया, उपशम किया — ऐसा भी नहीं। आहाहा! ओहोहो! अरे कुन्दकुन्दाचार्य! अमृतचन्द्राचार्य! चलते सिद्ध! और इस भाव से सिद्ध होनेवाले!! आहाहा!

मोह को मूल से उखाड़कर - पुनः अंकुरित न हो.... आहाहा! मिथ्यात्व का अंकुर न उपजे, अंकुर जरा भी न उपजे। आहाहा! पूर्ण तो नहीं, आहाहा! परन्तु मिथ्यात्व का अंकुर भी जरा भी न उपजे। आहाहा! **इस प्रकार नाश करके,...** आहाहा! गजब किया है न? भगवान को भगवान का साक्षात्कार अन्तर में हुआ, वह कहते हैं, अब जाये नहीं। आहाहा! मेरा नाथ पूर्णानन्द का प्रभु का जहाँ साक्षात्कार हुआ, अब वियोग नहीं होगा, कहते हैं। आहाहा! आहाहा!

पुनः अंकुरित न हो.... देखा! **'स्वरसत एवापुनः प्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्यं'** – ऐसा है न? मूल सहित मोह को उन्मूल्यं – मूल से उखाड़ दिया। आहा! **महतो 'ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्त्वात्' पुनः अंकुरित न हो इस प्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश....** महान ज्ञानप्रकाश, चैतन्यज्योति जलहल ज्योति, जलहल ज्योति... शीतल चन्द्र प्रकाश का ऐसा मेरा प्रभु चन्द्र, आहाहा! उसका ज्ञानप्रकाश। **महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।** आहाहा! देखो! यह दिगम्बर सन्तों की वाणी! आहाहा!

श्रीमद् कहते हैं — दिगम्बरों के तीव्र वचनों के कारण रहस्य समझा जा सकता है। यह कहना चाहते हैं। आहाहा! श्वेताम्बर की शिथिलता के कारण रस शिथिल हो गया। बहुत कठिन काम, दुःख लगे दूसरे को, क्या हो? अरे! यह एक कड़ी है, ऐसे बत्तीस सूत्रों में यह बात मिले ऐसी नहीं है। आहाहा!

श्रोता – बत्तीस और तेरह – पैंतालीस में भी नहीं मिलती!

पूज्य गुरुदेवश्री – पैंतालीस तो छोटा–साधारण, यह बत्तीस और सब देखे हैं। ७६ के साल में ये ४५ सूत्र पाँच महीने में देखे थे। ७६, ७६ (संवत् १९७६)।

श्रोता – ५८ वर्ष हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री – ५८ वर्ष पहले। बत्तीस सूत्र और इनके तेरह सूत्र, ४५ सूत्र और उनकी टीकाएँ पाँच महीने में, चातुर्मास दामनगर में था। पाँच महीने में ४५ सूत्र पढ़े थे। यहाँ तो एक ही धन्धा किया है न! ५८ वर्ष पहले... गजरथ पण्णित्ति – सूर्य पण्णित्ति सब पढ़े थे।

यह बात... आहाहा! (विक्रम संवत्) ७८ में समयसार हाथ में आया, आया और अन्दर से कहा, आहाहा! सेठ सम्प्रदाय का आग्रही था, परन्तु उस समय तो (हम स्थानकवासी सम्प्रदाय में) थे न! कहा – सेठ! यह पुस्तक अशरीरी है, सिद्ध होने को और अशरीरी होने को–शरीररहित होने को यह पुस्तक है, कहा, पाटनीजी! ७८ (विक्रम संवत् १९७८) दामनगर, दामोदर सेठ थे और अभी पैसे बढ़ गये परन्तु तब तो साठ वर्ष पहले दस लाख, दस लाख रुपये और चालीस हजार की आमदनी और दृष्टि बहुत विपरीत थी परन्तु उस समय तो उसमें था, इसलिए वह नहीं लगा। आहाहा! इसकी एक कड़ी, ३८वीं

गाथा की (एक कड़ी) आहाहा! बारह अंग में जो कहना है 'अनुभूति' यह उसकी बात यहाँ है। आहाहा!

मोह का 'अंकुर' शब्द है आहा! है न? आहाहा! है न! आहाहा! **'स्वरसत' एवापुनः प्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य** – ऐसे मूल में से मोह का उन्मूलं आहाहा! फेंक दिया है या नाश कर दिया। आहाहा! मेरा प्रभु ज्ञानस्वरूपी चैतन्य-ज्योति जलहल ज्योति का प्रकाश मुझे हुआ है, कहते हैं। आहाहा! अरे! तुम पंचम काल के जीव, भगवान तो नहीं यहाँ न, भगवान विराजते हैं वहाँ महाविदेह में विराजते हैं, प्रभु भगवान सीमन्धर भगवान! बापू! हमारा भगवान हमारे पास है, यह हमारी पुकार है, कहते हैं। पाव घण्टा है। आहाहा! आहाहा!

इस प्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश.... महान ज्ञानप्रकाश! द्रव्यस्वभाव का जो ज्ञानस्वभाव, ज्ञायकस्वभाव महान ज्ञानप्रकाश, आहाहा! **मुझे प्रगट हुआ है।** वाह प्रभु! ३८ गाथा में तो हद कर दी है!

श्रोता – जीव अधिकार पूरा हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री – हाँ पूरा किया न... जीव अधिकार पूरा हो गया। जीव का अधिकार आ गया। उसका जो अधिकार था, उतना आ गया। आहाहा!

श्रोता – आत्मा का अनुभव हो, तब अधिकार पूरा होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री – अरे! लोग कहाँ फँसे हैं – बाहर की क्रिया, यह व्रत करो और अपवास करो और तप करो और... अरे! यह तो राग की क्रिया है, आस्रव है। वहाँ कहाँ धर्म था। अरे भगवान! जहाँ भगवान (निजात्मा) पड़ा है, वहाँ तू एक बार देख न! आहाहा! धर्मी ऐसा भगवान, उसमें अनन्त-अनन्त धर्मस्वभाव हैं। ऐसे स्वभाव के सन्मुख देख न, आहाहा! तुझे धर्म प्रगट होगा। यह धर्म ऐसा प्रगट होगा, आहाहा! कि पुनः मिथ्यात्व नहीं आवे – ऐसा प्रगट होगा। आहाहा!

उन्मूलन नहीं, इसलिए अंकुर शब्द अन्दर से निकाला। इसमें अन्दर अंकुर शब्द नहीं है।

श्रोता – प्रादुर्भाव कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री – प्रादुर्भाव, बस इतना, फिर इसका अर्थ किया। आहाहा! कहो, यह... ऐसा सर्व से पृथक्, ऐसा पाँच लाईन में इतना सब भरा है। आहाहा!

आचार्य, मुनि स्वयं ऐसा कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य तो भगवान के पास गये थे। कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त, संवत् ४९ (में) भगवान त्रिलोकनाथ सीमन्धर प्रभु विराजमान हैं, महाविदेह में, वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। वे तो कहते हैं परन्तु यह तो उनके टीकाकार पुकार करते हैं, आहाहा! अरे! टीकाकार कहते हैं कि हमने जिससे कहा उसकी पुकार 'यह' है। भले ही वह भगवान के पास न गया हो। आहाहा! परन्तु उसका भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसके पास वह गया है न? आहाहा! कहो, अजितभाई! इस पैसे-वैसे में नहीं यह कुछ, धूल में नहीं वहाँ। यह है माल।

श्रोता – इसलिए तो ये यहाँ आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री – आहाहा! कठिन लगता है, लोगों को बाह्य प्रवृत्ति में चढ़ा दिया है न? उपवास करो, व्रत करो, तप करो और अपवास, ये अब राग की क्रियाओं में चढ़ा दिया, धर्म एक ओर रह गया। आहाहा!

श्रोता – अजैन को जैन मनवा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री – अजैनपने में जैन (पना) माना है। आहाहा!

यह तो वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ! इन परमेश्वर ऐसा ही – आत्मा का पूर्ण वीतरागस्वरूप परमेश्वर, उसे पर्याय में जहाँ उसका भान होता है, तब कहता है कि यह जो मेरी पर्याय जो निर्मल प्रगट हुई; अब मुझे मिथ्यात्व का उदय हो और मलिन हो, मुझे ऐसा रहा नहीं। गिरनेवाले, गिरे — ऐसा शास्त्र में लिखा है, आता है या नहीं? 'शुद्धनय परिच्युता' यह तो जानने के लिये है, मेरे लिये यह नहीं... आहाहा! आस्रव (अधिकार) में आता है। शुद्धनय 'परिच्युता' (परिच्युता) नय परिच्युता है? नय का अर्थ शुद्धनय, क्योंकि नय वही नय है; व्यवहार (नय) तो कथनमात्र नय है। आहाहा! नय है, उसका विषय है, परन्तु वह तो साधारण-कथनमात्र! नय परिच्युता का अर्थ ही ऐसा

किया। पाठ तो नय है मात्र, उसका अर्थ ऐसा किया कि 'शुद्धनय परिच्युता', नय ही उसे कहते हैं। आहाहा!

जो शुद्धभगवान पूर्णानन्द का आश्रय लिया है, ऐसा जो शुद्धनय, उससे जो च्युत होता है, यह तो जगत को ज्ञान कराया है। यहाँ तो कहते हैं कि जो... आहाहा! जिसने शुद्धनय का अन्तरआश्रय लिया और जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि प्रगट हुए, वह अब मिथ्यात्व को प्राप्त हो या गिरे — ऐसा रहा नहीं। आहाहा! गजब बात है।

महान ज्ञानप्रकाश.... अर्थात्? आहाहा! शास्त्रज्ञान तो अनन्त बार हुआ था, ग्यारह अंग और नौ (पूर्व का) शास्त्रज्ञान, वह नहीं; यह तो महान ज्ञान, ज्ञान का भण्डार/सागर प्रभु, उसमें से ज्ञान प्रगट हुआ है। आहाहा! मेरी पर्याय में महान ज्ञान परमात्मस्वरूप जो प्रगट आ गया है। आहाहा!

अब इसमें वाद-विवाद करे, वह कहाँ पार पड़े ऐसा है, भाई!

श्रोता - इसीलिए तो कुन्दकुन्दाचार्य ने वाद-विवाद से इंकार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री - इंकार किया है। अन्य कहते हैं तुम इंकार करते हो तो तुम्हें आता नहीं, तुम पीछे हट गये, इसलिए तुम इंकार करते हो, ऐसा कहते हैं। कहे बेचारे कहे उनकी... और तुम चर्चा करने आओ, भाई! चर्चा तो हो गयी है, यहाँ खानिया में, वहाँ अधूरी रही है अन्तिम हमें पूछना चाहिए, वह बाकी रख दिया है, तुमने पूछा उसका जवाब हमारा अन्त का आया, अरे प्रभु! यह करने से पार नहीं पड़ता बापू!

यह चीज, वह कहाँ भाई? यह शास्त्र के पठन से भी वह मिले ऐसा नहीं है। आहाहा! क्या हो? **महान ज्ञानप्रकाश मुझे....** जीव अधिकार का अन्तिम साराँश... जीव का जैसा अधिकारपना था, वैसा प्रगट हुआ, यह जीव अधिकार पूरा हुआ। आहाहा!

भावार्थ : आत्मा अनादि काल से मोह के उदय से अज्ञानी था,.... मिथ्यादृष्टि था। दर्शनमोह का उदय और उसमें जुड़ान। इस स्वभाव की ओर जुड़ान होना चाहिए, उसे छोड़कर इसने भावक जो मोह, उसकी ओर जुड़ान करके भाव्य जो मिथ्यात्वभाव, वह उसके कारण अज्ञानी था। आहाहा!

वह श्री गुरुओं के उपदेश से.... आहाहा! यह तो उसमें आया है न? जीव मरणतुल्य हो गया है। वहाँ ऐसा आया है। जीव को मरणतुल्य कर डाला है, कहते हैं। दया, दान, व्रत के परिणाम, राग से मुझे लाभ हो, यह जीव को मार डाला है, कहते हैं। मरणतुल्य किया है, उसमें है। उसमें वापस ऐसा कहा है तीर्थंकर के उपदेश से यह समझाया है, ऐसा है। समझ में आया?

श्रोता - २८

पूज्य गुरुदेवश्री - २८, २८ (कलश) शुरुआत, शुरुआत। यह रहा देखो! २८ - 'परन्तु कर्म संयोग से ढँका हुआ होने से मरण को प्राप्त हो रहा था।' भगवान जीवित ज्योत अन्दर ज्ञान और आनन्द के नूर के प्रकाश के पुंजवाला, परन्तु उसे मोह में राग मेरा और पुण्य मेरा और ऐसे भाव से उसे मार डाला अर्थात् मानो मैं हूँ ही नहीं, अजीव ही है। मुझे तो दूसरा कहना था, यहाँ गुरु का उपदेश है न!

यह भ्रान्ति परमगुरु श्री तीर्थंकर का उपदेश सुनने से मिटती है। यहाँ तो यह... आहाहा! गुरु भी तीर्थंकर का उपदेश है, वही कहते हैं। आहाहा! भगवान जीवित ज्योति चैतन्य जागृत अवस्था से भरपूर भगवान को मैंने राग और दया, दान के विकल्प से और निमित्त से मुझे लाभ होता है, ऐसा करके अपने जीवत्व की ज्योति को इसने हनन कर डाला। आहाहा! ऐसी जो मिथ्यात्वदशा, वह भ्रान्ति / मिथ्यात्व अर्थात् भ्रान्ति परम गुरु श्री तीर्थंकर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का उपदेश सुनने से मिटती है। आहाहा! समझ में आया?

यह यहाँ कहा — **गुरुओं के उपदेश से और स्व-काललब्धि से ज्ञानी हुआ....** इससे पुरुषार्थ करने पर काललब्धि पक गयी। आहाहा! **तथा अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना....** अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना। वैसे तो स्वरूप तो शास्त्र के पठन में आया था इसे, अनन्त बार परन्तु यह परमार्थ से नहीं जाना था। आहाहा! सम्यग्दर्शन क्या चीज है? इसकी महिमा का लोगों को पता नहीं है.... इनने तो साधारण कर दिया कि हो गया — देव-गुरु की श्रद्धा करो... व्रत करो, तप करो, अपवास करो... मर गया कर-करके यह तो!

श्रोता - फिर कहता है डरो मत-डरो मत।

पूज्य गुरुदेवश्री – हाँ; यह तो फिर भद्रिकरूप से कहे। बाहर में व्रत ले लो, और वस्त्र छोड़ दो और...

(अपने स्वरूप को) परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ,.... मूल पाठ है न ? **शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ,....** ये तीनों ही ले लिये और **दर्शनज्ञानमय हूँ।...** गाथा का भाव लिया। **ऐसा जानने से....** ऐसा जानने से...

श्रोता – स्वसन्मुख होकर जानने से।

पूज्य गुरुदेवश्री – **मोह का समूल नाश हो गया,....** मोह का 'समूल' नाश हुआ, मूल में से मिथ्यात्व का नाश हुआ। आहाहा!

श्रोता – नाश हुआ, यह हुआ क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री – **भावकभाव और ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ,....** भावकभाव अर्थात् कर्मभावक और उसके निमित्त से होती विकारी पर्यायें राग–द्वेष की, मिथ्यात्व आदि ऐसा भावकभाव और ज्ञेयभाव अर्थात् परज्ञेय, उनसे भेदज्ञान हुआ। राग से और ज्ञेय से पृथक् पड़ा। आहाहा! **अपनी स्वरूपसंपदा...** अपनी स्वरूपसम्पदा... इनसे भिन्न पड़ा तब हुआ क्या ? **अपनी स्वरूपसंपदा अनुभव में आयी;....** आहाहा! भगवान अनन्त आनन्द की लक्ष्मी अतीन्द्रिय आनन्द का ज्ञान, अतीन्द्रिय श्रद्धा, अतीन्द्रिय शान्ति इत्यादि अन्तर इसके अनुभव में आये। आहाहा! यह अपनी लक्ष्मी की सम्पदा अनुभव में आयी। आहाहा! यह दया, दान की वृत्ति तो राग है, वह अपनी सम्पदा नहीं थी, वह तो विकार / विभाव है। आहाहा! कठिन काम!

श्रोता : स्पष्ट काम।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस कारण ये लोग बेचारे ऐसा कहते हैं — ऐई! सोनगढ़वालों ने तो व्यवहार उड़ा दिया। व्यवहार से होता है, यह नहीं रखा। भगवान! व्यवहार तो राग है बापू! आहाहा! राग से तो यहाँ पृथक् पड़ा तब लाभ हुआ। जिससे भिन्न पड़ना है, उससे लाभ होगा ?

बहुत कठिन काम! अभी प्ररूपणा बहुत बदल गयी है, उपदेश बदला... बनियों

को निवृत्ति नहीं मिलती, बनिये निवृत्त (नहीं होते) । पूरे दिन व्यापार । ऐई ! छोटाभाई ! पूरे दिन स्त्री-पुत्र और धन्धा, इसमें समय नहीं मिलता। घण्टे भर मिले तब सुनने जाये, मस्तिष्क नहीं, जो मिलता वह कहे - जय नारायण !

श्रोता - बनिया होशियार कहलाता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री - सब समझने जैसे होशियार हैं । आहाहा ! संसार के चतुर हों, बड़ी बातें करनेवाले, धन्धे के और ऐसे बड़े उद्योगपति और ऐसे के ऐसे । मूर्खता में ये सब बड़े हैं । आहाहा ! कहो, चन्द्रकान्तभाई !

लो, ये सब बनिये ढाई-ढाई हजार के वेतन को ऐसो... ऐसो ऐसो में हैं न ये ? यह कम्पनी बदल गयी, एसपी । सरकार की बदल गयी । आहाहा !

यहाँ अपने स्वरूप की सम्पदा अनुभव में आयी, **तब फिर पुनः मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है ? नहीं हो सकता है ।** यह सब टीका और भावार्थ पूरा हुआ । हो गया समय, लो !

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

कलश - ३२

अब, ऐसा जो आत्मानुभव हुआ उसकी महिमा कहकर आचार्यदेव प्रेरणारूप काव्य कहते हैं कि - ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में समस्त लोक निमग्न हो जाओ —

(वसन्ततिलका)

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ॥३२ ॥

श्लोकार्थ : [एषः भगवान् अवबोधसिन्धुः] यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा [विभ्रम तिरस्करिणीं भरेण आप्लाव्य] विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डुबोकर (दूर करके) [प्रोन्मग्नः] स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; [अमी समस्ताः लोकाः] इसलिए अब समस्त लोक [शांतरसे] उसके शान्त रस में [समम् एव] एक साथ ही [निर्भरम्] अत्यन्त [मज्जन्तु] मग्न हो जाओ जो शान्त रस [आलोकम् उच्छलति] समस्त लोक पर्यन्त उछल रहा है।

भावार्थ : जैसे समुद्र के आड़े कुछ आ जाये तो जल दिखायी नहीं देता और जब वह आड़ दूर हो जाती है, तब जल प्रगट होता है; वह प्रगट होने पर, लोगों को प्रेरणायोग्य होता है कि 'इस जल में सभी लोग स्नान करो', इसी प्रकार यह आत्मा विभ्रम से आच्छादित था, तब उसका स्वरूप दिखायी नहीं देता था; अब विभ्रम दूर हो जाने से यथास्वरूप (ज्यों का त्यों स्वरूप) प्रगट हो गया; इसलिए 'अब उसके वीतराग विज्ञानरूप शान्तरस में एक ही साथ सर्व लोक मग्न होओ' इस प्रकार आचार्यदेव ने प्रेरणा की है। अथवा इसका अर्थ यह भी है कि जब आत्मा का अज्ञान दूर होता है, तब केवलज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञान प्रगट होने पर समस्त लोक में रहनेवाले पदार्थ एक ही समय ज्ञान में झलकते हैं, उसे समस्त लोक देखो।

प्रवचन नं. १११ गाथा ३८ का श्लोक ३२ दिनाङ्क १८-१०-१९७८ बुधवार
आसोज कृष्ण २, वीर निर्वाण संवत् २५०४

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ॥३२॥

यह जीव अधिकार का अन्तिम कलश है न? **'एषः भगवान् अवबोधसिन्धुः'** एषः यह चैतन्य प्रत्यक्ष भगवान आत्मा। एषः यह चैतन्यप्रत्यक्ष, चैतन्य लोक, ऐसा भगवान अवबोध सिन्धु... भगवान अर्थात् आत्मा। है न भगवान आत्मा, ज्ञानसमुद्र अवबोध सिन्धु, यह तो ज्ञानसिन्धु है, ज्ञान का पात्र है, ज्ञानस्वरूप ही है। एष प्रत्यक्ष प्रभु, चैतन्य

भगवान आत्मा ज्ञानसमुद्र है, ज्ञानसमुद्र है। आहाहा! **'विभ्रम तिरस्करिणीं भरेण आप्लाव्य'** यह विभ्रमरूपी आड़ी चादर थी; जैसे बड़े समुद्र में किनारे एक चादर हो, चार हाथ की, तो मनुष्य उस समुद्र को नहीं देख सकता, क्योंकि स्वयं चार हाथ का ऊँचा हो और चार हाथ की चादर आड़ी हो; वैसे भगवान आत्मा, विभ्रमरूपी आड़ी चादर थी – राग और पुण्य आदि मेरे हैं — ऐसे मिथ्यात्वरूपी परिणमन की आड़ इसे थी। आहाहा! **विभ्रमरूपी आड़ी चादर...** इसे यह भ्रम था।

जो बहिर्लक्ष्यी रागादि भाव है, वे मेरे हैं और वही मेरा अस्तित्व है – ऐसा जो विभ्रम – मिथ्यात्व का परिणमन था। यहाँ कर्म की बात नहीं है; स्वरूप से विपरीत दृष्टि जो राग और पुण्य आदि के विकल्प एक समय की पर्याय जितनी बुद्धि थी, वह विभ्रम था, मिथ्यात्वरूपी आड़ी चादर थी; इसलिए भगवान ज्ञानसमुद्र दिखता नहीं था। आहाहा!

उस विभ्रम, आड़ी चादर को **'भरेण आप्लाव्य'** समूलतया डुबोकर। आहाहा! इसने नाश कर डाला। विभ्रम और मिथ्यात्वरूपी परिणाम का व्यय करके। **'प्रोन्मग्नः'** प्र – उन्मग्न, प्र – उन्मग्न – प्रकष्टे उन्मग्न; जैसा स्वरूप है, वैसा उन्मग्न, पर्याय में बाहर उछला। आहाहा! क्या कहते हैं? भगवान आनन्दस्वरूप ज्ञानसिन्धु, इस विभ्रम की आड़ी चादर के कारण ज्ञात नहीं होता था, उस विभ्रम की चादर को / भ्रम को डुबो दिया, व्यय कर दिया; जो ऐसा उत्पाद था, आहाहा! उसका व्यय कर दिया। आहाहा! स्वयं ही उत्पाद हुआ था, ऐसा अब कहना है। **'प्रोन्मग्नः' स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है;...** आहाहा! क्या शैली!

स्वरूपनाथ चिदानन्द भगवान परम परमेश्वर स्वरूप ही आत्मा (है)। उसे विभ्रम — राग, पुण्य, दया, दान, विकल्प आदि मेरे हैं — ऐसा जो विभ्रम / मिथ्यात्वरूप परिणमन... आहाहा! उसे व्यय करके, नाश करके और **'अवबोधसिन्धुः'** ज्ञान का समुद्र प्रभु, वह पर्याय में, प्र उन्मग्नः — पर्याय में प्रकृष्टरूप से उन्मग्न / बाहर आया। आहाहा! जैसा इसका भगवान-आत्मा का स्वभाव था... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय शान्ति के आश्रय की शरण लेने पर विभ्रम की चादर नाश हो गयी और स्वयं पर्याय में प्र उन्मग्न, प्र – विशेष, उन्मग्न – उत्पाद उछला। आहाहा! शान्ति और

आनन्द की दशा, प्र विशेष, उन्मग्न-प्रगट हुई। वस्तु तो वस्तु – ध्रुव थी, उस ध्रुव की दृष्टि से विभ्रम का नाश हुआ और जैसा उसका स्वरूप था, वैसा पर्याय में प्र-उत्कृष्ट उन्मग्न आया। वह नदी नहीं आती – उन्मग्न-निमग्न नदी ? वैशाख पर्वत में एक नदी ऐसी है निमग्न, उसमें जो कोई चीज पड़े उसे नीचे ले जाती है और एक नदी ऐसी है कि जो कोई चीज पड़े, उसे ऊपर लाती है। आहाहा!

इसी प्रकार भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसकी जहाँ दृष्टि हुई, तब इस विभ्रम का नाश हुआ और पर्याय में प्रकृष्टपने उन्मग्न, उछला। उत्कृष्टरूप से परिणमित हुआ, ऐसा। उछला अर्थात् '**प्रोन्मग्नः**' आहाहा! उछलंती – फिर आयेगा, परन्तु यहाँ प्रगट हुआ। अतीन्द्रिय आनन्द और चैतन्यसिन्धु प्र-उन्मग्न, अकेला उन्मग्न नहीं, विशेष उन्मग्न। आहाहा! पर्याय में मिथ्यात्व की पर्याय का व्यय होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट हुई, वह आत्मा अन्दर से उछला। आहाहा! ऐसी बातें! अधिकार पूरा होता है न ? वह जैसा स्वरूप है वैसी पूर्ण प्राप्ति, उसका अधिकार पूर्ण होता है। आहाहा! लिखने में यह पूरा होता है और भाव में यह पूरा होता है। आहाहा!

सर्वांग प्रगट हुआ है;.... असंख्य प्रदेश में जो पूर्ण स्वरूप था। आहाहा! उस स्वरूप के पूर्णानन्द के नाथ की दृष्टि करने पर वह सर्वांग पर्याय में पूर्ण प्रगट हो गया। आहाहा! ऐसी बातें हैं! यहाँ व्रत पालते और दया, दान करते और तप करते और उपवास करते प्रगट होता है — ऐसा नहीं कहा। वह सब तो राग की क्रिया है। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्ण '**अवबोधसिन्धुः**' अवबोधसिन्धु-ज्ञान का समुद्र 'शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है' आहाहा! ऐसा जो शुद्ध चैतन्यसमुद्र, वह पर्याय में ज्वार आकर उछला – उत्पाद हुआ। आहाहा! विभ्रम का व्यय हुआ, यहाँ तो विभ्रम को ही पृथक् किया है, नहीं तो तीन की यहाँ पूर्णता की है।

यह क्या कहा ? वहाँ तो दर्शन-ज्ञान प्राप्त था, उसने पूछा कि अब आचरण कैसे हो, उसकी पूर्णता प्रगट कैसे हो – यह था। परन्तु वापस यहाँ उठाया है वहाँ से-पहले से। आहाहा! चैतन्यसिन्धु अथवा चैतन्य का पात्र अर्थात् जिसमें चैतन्यपना ही रहा है। आहाहा! भगवान आत्मा में चैतन्यपना ही है, वह चैतन्य का पात्र है, वह राग का पात्र नहीं

है। आहाहा! ऐसा चैतन्यसिन्धु... विभ्रम का नाश करके स्व के तीव्र आश्रय से, आहाहा! पर्याय में उछला-प्रगट हुआ। आहाहा! व्यय हुआ, प्रगट हुआ; ध्रुव तो है। चैतन्यपात्र, ज्ञान के स्वभाव का धारक चैतन्य तो है। आहाहा! ऐसा उपदेश जगत को सूक्ष्म पड़ता है, क्या हो? मार्ग-वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! वह यहाँ सर्वांग प्रगट हुआ।

'**अमी**' अरे! यह समस्त भव्य जीवों... अध्यात्मतरंगिणी में भव्य जीव लिये हैं। वरना यहाँ अमी अर्थात् सब, परन्तु सब अर्थात् अभव्य जीव कोई प्राप्त नहीं कर सकते। आहाहा! **अमी** - यह, भव्य लोक, हे भव्य जीवों! आहाहा! समस्त भव्य जीवों! सामूहिक निमन्त्रण है। आहाहा! 'अमी' यह प्रत्यक्ष जीव जो भव्य हैं, वे '**समस्ताः लोकाः**' समस्त लोक पूरा... भगवान चैतन्यसिन्धु ज्ञान का पात्र और ज्ञानस्वरूप ही जिसमें है, उसमें आकर आओ, सब आओ भगवान! आहाहा! सब भव्य जीव आओ। सामूहिक निमन्त्रण समझते हो, पाटनीजी? तुम्हारी भाषा में कुछ होगा।

श्रोता : सिगरी निमन्त्रण अर्थात् सबको निमन्त्रण।

पूज्य गुरुदेवश्री : सामूहिक, यह सबको हमारे यह भाषा है। पूरे घर को। कोई बीमार हो और न आ सके वह अलग बात है परन्तु सबको जिमने का। ऐसे कोई अभव्य हो तो भले न आवे। आहाहा! क्या सन्तों का धारावाही उपदेश! आहाहा!

वहाँ तो कहा था न, ३८ में? अबुध जो अप्रतिबुद्ध था, अनादि-अज्ञानी था। उसे गुरु ने उपदेश से समझाया और वह समझ की रटन में लगा, ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... आहाहा! और वह समझा। आहाहा! सम्यग्ज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ। यहाँ तो पूर्ण अधिकार है न? उसका जो अधिकार का स्वभाव जितना था, वैसा ही उसकी पर्याय में आचरणरूप हो गया। आहाहा! श्रोता को कहा, वह श्रोता ऐसा हो गया - ऐसा कहते हैं। आहाहा! पंचम काल के सन्त, पंचम काल के श्रोता को (ऐसा कहते हैं।) आहाहा! भव्य जीवों की / योग्यतावाले जीवों को कहते हैं कि प्रभु! तुम परिणमित हो जाओ, हों! आहाहा! आहाहा! चैतन्य का समुद्र-सिन्धु, चैतन्यस्वरूप ही जिसके पात्र अर्थात् जिसके स्थान में चैतन्यस्वरूप ही है। पुण्य और पाप के विकल्प आदि उसके स्थान में नहीं है। आहाहा! जो व्यवहार कहलाता है, उस चैतन्य के पात्र में उसके स्वरूप में उसके स्थान

में नहीं है। आहाहा! ऐसे चैतन्यस्वरूप को, जिसने ज्ञान-दर्शन और चारित्र में प्राप्त किया है, उसे यह कहते हैं। आहाहा! यहाँ मुनि लिये हैं? अरे! **समस्ताः लोकाः** अरे प्रभु! पता नहीं इसे? कि भव्य जीव हैं, उसके अनन्तवें भाग में ही मोक्ष जाते हैं, परन्तु यहाँ यह बात नहीं। यहाँ तो प्रभु! आओ न... आहा!

श्रोता - आमन्त्रण तो सबको है।

पूज्य गुरुदेवश्री - आहाहा! आमन्त्रण सबको है, भव्य जीव को। आहाहा! प्रभु अन्दर तेरे स्थान में आनन्द है न! तू आनन्द का पात्र है; दुःख का-राग का पात्र नहीं। आहाहा! प्रभु! तू शान्ति का पात्र है न? तुझमें शान्ति बसी हुई है। प्रभु! तू पूर्ण प्रभुता का पात्र है न? आहाहा! प्रभु! तुझमें पूर्णता - प्रभुता बसी है। आहाहा! उसका वह पात्र अर्थात् स्थान ही वह तू है। आहाहा! वहाँ नजर करके वहाँ स्थिर हो न प्रभु! आहाहा! ऐसा अधिकार है।

लोग बेचारे बाहर में पड़कर ऐसे के ऐसे अज्ञान में जिन्दगी निकालते हैं। यह व्रत करना, तप करना और उपवास करना... अरे प्रभु! सुन न भाई! विकल्प है, यह तो तेरे स्वरूप में-स्थान में नहीं है। तू ज्ञानपात्र है, आनन्दपात्र है, शान्ति का पात्र है, उसमें रहा हुआ है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! जगत को मान छोड़कर... यहाँ पहले प्रभु है, वहाँ आ जा न! आहाहा! जहाँ तेरा स्थान है, पात्र है। आहाहा! वहाँ आ जा! राग और पुण्य-पाप के स्थान में से छूट जा। आहाहा!

'**समस्ताः लोकाः**' यह '**अमी**' यह भव्य जीव... यह '**अमी**' अर्थात् 'यह' समस्त भव्य जीव, आहाहा! शान्तरस में अतीन्द्रिय आनन्दगर्भित शान्तरस जिसमें है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दगर्भित शान्तस्वरूप जहाँ है... आहाहा! **शान्तरस में एक साथ....** एक साथ, एक के बाद एक, ऐसा नहीं तथा थोड़े नहीं, समस्त। आहाहा! स्वयं हो गया न, इसलिए सब ऐसा ही करो न प्रभु! आहाहा! आहाहा! अब यह बाहर के विवादों में ऐसे और ऐसे रुककर जिन्दगी... अरे प्रभु! चैतन्यदेव है न नाथ! तू तो चैतन्य का पात्र... पात्र अर्थात् स्थान है न! चैतन्य ही जिसका स्वभाव है न! आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का पात्र अर्थात् स्थान है न! अतीन्द्रिय अकषाय शान्तस्वभाव का पात्र है न!

'अमी' यह **'समस्ताः लोकाः'** इस शान्तरस में – वीतरागी परिणति शान्तरस। आहाहा! **एक साथ ही 'निर्भरम्' अत्यन्त मग्न हो जाओ...** आहाहा! जिसमें से निकलना ही नहीं — ऐसे अत्यन्त मग्न होओ। आहाहा! आहाहा! ऐसी वाणी है! देखो तो सही! रामबाण है!! आहाहा! दिगम्बर सन्त, परमात्मा की जगह बात करते हैं। आहाहा! नहीं प्राप्त कर सकते और थोड़े प्राप्त करेंगे, यह यहाँ प्रश्न ही नहीं है। आहाहा! मैं प्राप्त हुआ हूँ तो सब प्राप्त होओ न प्रभु! आहाहा!

'मज्जन्तु' आहाहा! है न? है? आहाहा! **मग्न हो जाओ। 'मज्जन्तु'** स्नान करो। अन्दर मग्न हो जाओ... भगवान पूर्णानन्द का नाथ जिनबिम्ब, वीतरागस्वरूप में मग्न हो जाओ। आहाहा! क्या शैली! क्या मीठी मधुरी! आनन्द की धारा प्रगट कर, कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात है। कठिन लगे, बापू! अभ्यास नहीं है न! वस्तु तो – स्वरूप ही ऐसा है।

भगवान त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव ने पूर्णदशा प्रगट की और लोकालोक को जाना और उन्होंने यह उपदेश किया। जिनवाणी में 'रमन्ते' आता है न? इसलिए वे लोग कहते हैं जिनवाणी में रमन्ते अर्थात् निश्चय और व्यवहार में रमना... अरे भाई! दोनों में नहीं रमा जाता, भाई! जिनवाणी में तो है न, कलश-टीका में?

श्रोता : हाँ है न, चौथा कलश।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ने शुद्ध आत्मा पूर्णानन्द प्रभु को / जीवद्रव्य को उपादेय किया है, एक ही आदर करनेयोग्य कहा है। आहाहा! व्यवहार की पर्याय और राग की वहाँ बात ही नहीं की है। आहाहा! वह तो जाननेयोग्य कहा है।

भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण गुणों का पात्र अर्थात् जिसमें पूर्ण गुण रहे हैं — ऐसा जो जीवद्रव्य, अनन्त गुण से भरपूर भरा हुआ भगवान, उसे भगवान ने वाणी में ऐसा कहा है कि वह उपादेय है, वह आदरणीय है, वह स्वीकार करनेयोग्य है, उसका सत्कार करनेयोग्य है, उसकी पूजा करनेयोग्य है, उसकी आरती उतार। आहाहा! निर्मल धारा से उसकी आरती उतार। आहाहा!

'समस्ताः लोकाः' अत्यन्त मग्न... वापस मग्न होओ, इतना ही शब्द नहीं है।

इस प्रकार मग्न होओ कि बाहर आना ही न पड़े। आहाहा! अन्तिम गाथा, आहाहा! शरीर को नहीं देखना, शरीर है तो मिट्टी-हड्डियों का पिंजरा। आहाहा! अन्दर राग है, उसे मत देखो। कारण कि राग, वह पात्र आत्मा के स्थान में नहीं है। आहाहा!

श्रोता – न देखो तो देखना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री – देखना यह कि पर्याय निर्मल है, उससे आत्मा देखना। जो चैतन्यसिन्धु पात्र है, आहाहा! उसे देखना – ऐसी बात है।

श्रोता – दूसरे अपात्र...

पूज्य गुरुदेवश्री – रागादि अपात्र है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प है, वह ज्ञान का स्थान नहीं, आनन्द का स्थान नहीं, शान्ति का पात्र नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

परमात्मा जिनेश्वरदेव दिव्यध्वनि में परमात्मा ऐसा कहते थे। आहाहा! उसे सन्त आड़तिया होकर जगत के लिये प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! ऐसी बात, प्रभु! कहीं अन्यत्र नहीं है। आहाहा! अरे (दु:ख) लगे क्या हो?

श्रोता – यह तो स्वयं अपना स्वरूप निर्णय करने के बाद जान सके कि अन्यत्र कहीं नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह स्वयं ही है, इसे करने का। इसे करने का स्वयं ही है न? इसे स्वयं का करने का है, दूसरा क्या है? आहाहा! इसे कोई करने आता है और कर दे ऐसा है? स्वयं ही मग्न होता है – ऐसा कहा है। सर्वांग प्रगट होता है, वहाँ कोई देव-गुरु-शास्त्र मदद नहीं करते। आहाहा! क्योंकि स्वयं जो स्वभाव प्रगट करना है, उस स्वभाव का तो स्वयं पात्र-स्थान है। आहाहा! ऐसा स्वभाव का समुद्र प्रभु, उसे पर्याय में प्रगट कर। **प्रोन्मग्नः** ध्रुव पूरा (पूर्ण) रखा, उसका आश्रय लेकर **प्रोन्मग्नः** पर्याय उत्पन्न की, विभ्रम का नाश किया — यह उत्पाद-व्यय और ध्रुव सिद्ध किया। आहाहा! यह उत्पादव्ययध्रुव युक्तं सत् आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें हैं और झगड़ा करे, प्रभु! अरे भाई! तुझे कहाँ जाना है? व्यवहार से होता है और निमित्त से होता है... आहाहा!

श्रोता – किसी समय होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – किसी समय (नहीं), तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

वास्तव में तो वह उसका जन्मक्षण है। स्वभाव का सिन्धु भगवान, उसकी दृष्टि करके, ज्ञान करके चारित्र प्रगट किया, वह पर्याय का उत्पत्ति का काल है।

श्रोता – जन्मक्षण है।

पूज्य गुरुदेवश्री – उसका जन्मक्षण है प्रभु! उसे दूसरे की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! ओहोहो! यह क्रमबद्ध में भी यह आ गया। पर्याय का जब ऐसा क्रम है, उस काल में अकर्तापना प्रगट किया अर्थात् दर्शन-ज्ञान और चारित्र को प्रगट किया। आहाहा! क्रमबद्ध भी आ गया और व्यवहार से निश्चय हो, यह भी उड़ गया, क्योंकि व्यवहार-राग में यह स्वभाव नहीं है। आहाहा! यह तो स्वभाव है, वह तो भगवान पात्र में स्वयं में है। आहाहा! इसलिए राग से हो, यह बात नहीं रही। निमित्त से हो, यह नहीं रहा क्योंकि उसकी उत्पत्ति का काल है, उसमें निमित्त ने किया, आकर क्या किया? हो! आहाहा! इन पाँच बोल का विरोध है। क्रमबद्ध का, उपादान-निमित्त में, निमित्त से होता है इसका, व्यवहार-निश्चय में, व्यवहार से होता इसका, अरे प्रभु! बड़ी (चर्चा) अभी चलती है। वहाँ हस्तिनापुर में शिक्षण शिविर यहाँ के विरोध में... अरे भगवान! भगवान! तू यह क्या करता है भाई! लोग भी बेचारे साधारण प्राणी हैं। उन्हें सत्य बात सुनने को नहीं मिलती। इसमें मन्थन करना और इसमें से प्राप्त होता है, पता नहीं पड़ता। आहाहा! मग्न होओ, शान्तरस में मग्न होओ। अतीन्द्रिय आनन्द गर्भित शान्तरस की पर्याय, इसमें वहाँ लीन होओ। आहाहा!

कैसा है शान्तरस? '**आलोकम् उच्छलंति**' समस्त उच्छलन्ति उत्कृष्टरूप से वर्तता है। वह शान्तरस उत्कृष्टरूप से उच्छलंति। उत, उत्कृष्टरूप से अन्दर पर्याय में उछलता है। आहाहा! समझ में आया? यह स्व की अपेक्षा से बात की। '**आलोकम् उच्छलंति**' **समस्त लोक पर्यन्त उछल रहा है।** उत्कृष्टरूप से पर्याय में उछल रहा है। आहाहा!

श्रोता – उत्कृष्ट किसका अर्थ किया?

पूज्य गुरुदेवश्री – इस उच्छलंति का अर्थ किया है। उच्छलंति उत्कृष्टरूप से उछला है। आहाहा! आलोकम् उच्छलंति पूरण स्वरूपपने उत्कृष्टपने प्रगट हो गया।

आहाहा! और दूसरा साधारण अर्थ ऐसा है कि लोक (पर्यन्त) उछल रहा है अथवा वह दशा ऐसी हुई है कि ऊर्ध्व पर्यन्त चली जायेगी, अथवा पूर्ण लोकालोक को जाने, इस प्रकार उछल रहा है। बहुत प्रकार अन्दर, समझ में आया?

पूर्णानन्द का नाथ अवबोधसिन्धु भगवान — ऐसा शब्द है न? '**भगवान् अवबोधसिन्धुः**' आत्मा इन ज्ञान आदि अनन्त शान्तरस और अनन्त गुणों का पात्र — जिसमें रहे हैं, उसमें राग, विकल्प संसार और निमित्त रहे नहीं। आहाहा! ऐसे भगवान को तू दृष्टि में ले, उसका आदर कर, उसका सत्कार कर। अनादि से रागादि का सत्कार है, उसे छोड़ दे। आहाहा! वह तो यह सत्कार हुआ तो वह सत्कार छूट गया। आहाहा! यह तुझे आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्दगर्भित शान्तरस प्रगट होगा। शान्तरस को अन्तर में अनन्त आनन्द अतीन्द्रिय शान्तपना, वह चारित्र की दशा और उसमें अनन्त आनन्द, वह सुख की दशा.. आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा उत्कृष्टरूप से परिणम जायेगा और उत्कृष्टरूप से होगा तथा उत्कृष्टरूप से लोकालोक को जानेगा। उच्छलन्ति अर्थात् उसका स्वभाव पूर्ण हुआ है और वह ऊर्ध्व चला जायेगा। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है भाई! बहुत सूक्ष्म बापू! लोगों को सत्य मिला नहीं, मिला नहीं। अरे! अभी तो ऐसी प्ररूपणा ऐसी करते हैं, मूल चूककर (कि) व्रत करो, तप करो, अपवास करो, मन्दिर करो, पूजा, भगवान, यात्रा करो और...

श्रोता – वह तो ऐसा कहते हैं कि संयम लो, डरो मत।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह क्या बापू, उसे बेचारे को क्या पता? व्यक्ति भद्र था, उसे पता नहीं न, यह व्रत ले लो, संयम लो, नग्न हो जाओ, मत डरो — ऐसा कहते थे, शान्तिसागर! व्यक्ति जरा नरम थे न! क्या हो? यहाँ आये थे चौबीस घण्टे रहे। (संवत्) ९७ में, साधुपने की शुरुआत वहाँ से हुई। अरे बापू! साधुपना तो कहाँ था? यह क्या हो? स्वयं ही कहते और बेचारे ऐसी प्ररूपणा करते परन्तु लोग नहीं समझ सके कि हम वस्त्र छोड़कर बैठे हैं परन्तु कर्म हटे तब होता है न? ऐसा कहते थे। यहाँ कहते थे परन्तु कौन माने वे — ऐसा कहते थे, यह कौन माने? क्या हो भाई! दृष्टि सम्प्रदाय की रखनी है न। आहाहा!

प्रभु! यहाँ तो सत्य की बात है। आहाहा! मेरा नाथ सच्चिदानन्द प्रभु, वह सत् और आनन्द और ज्ञान का पात्र है। वह तो उसमें तो वह रहा है। आहाहा! और उसमें तो राग तो रहा नहीं परन्तु अल्पज्ञपना, त्रिकालस्वभाव में है नहीं। आहाहा!

श्रोता – अन्दर राग से नग्नपना है।

पूज्य गुरुदेवश्री – अन्दर राग से रहित, विकल्प से रहित, नग्नदशा अन्दर है इसकी। आहाहा! उस स्वरूप को तू सत्कार, उपादेय जान, जिससे तुझे विभ्रम का नाश होगा और तेरी शक्ति का जो संग्रह है, उस शक्ति का संग्रह जो कोठी में है, उस समय जैसे बाहर आता है। आहाहा! वैसे पर्याय में बाहर आयेगा। आहाहा! उसे यहाँ '**प्रोन्मग्नः**' कहा, विभ्रम का व्यय कहा, और पर्याय में उछल गया जो भाव, 'उछलंति' जैसे समुद्र पूर्णिमा के दिन ज्वार में उछलता है, पूर्णिमा के दिन पूरा उछलता है, वैसे यह पूर्ण-पूर्ण उछलता है। आहाहा! '**आलोकम**' समस्त लोक, 'आ' है न! आ, आ अर्थात् समस्त लोकम्, आलोकम् ऐसा शब्द है न? आलोक अर्थात् समस्त लोक, आ अर्थात् समस्त लोक — समस्त भव्य जीव उछलन्ति, उछल जाते हैं, कहते हैं। आहाहा! आहाहा! क्या वाणी! क्या समयसार! इसका एक श्लोक! इसका एक पद..... आहाहा!

श्रोता – वाक्य अधूरा रह गया आपका।

पूज्य गुरुदेवश्री – हो गया वह अन्दर। अन्दर से आता हो वह आता है। आहाहा! यह वस्तु है, जिसमें अनन्त गुण रहे हैं, बसे हैं, उसे यहाँ सिन्धु अवबोध का पात्र कहते हैं। यह ज्ञानपात्र कहा, ऐसा वह अनन्त गुणों का पात्र है। आहाहा! ऐसे समुद्र को अन्तर देखने को नजर कर, कहते हैं। आहाहा! जिससे तुझे अन्तर देखने पर पर्याय में शान्तरस अतीन्द्रिय आनन्द गर्भित अनन्त गुण की व्यक्तता पर्याय में प्रगट होगी। विभ्रम की और मिथ्यात्व आदि की पर्याय का व्यय होगा। आहाहा! डुबाकर — व्यय हो गया परन्तु वापस गया कहाँ?

श्रोता – द्रव्य में, पारिणामिकभाव हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री – द्रव्य में गया। आहाहा! गया अन्दर, मिथ्यात्व गया नहीं, उसकी ऐसी योग्यता एक अन्दर में रह गयी। आहाहा!

श्रोता – मिथ्यात्व नहीं जाता अन्दर में, मिथ्यात्व कहाँ से जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री – ऐसी एक योग्यता गयी अन्दर और यह बाहर आयी — निर्मल मोक्ष का मार्ग अथवा केवलज्ञान आदि दशा बाहर आयी। आहाहा! इसका नाम जीव का पूर्ण अधिकार प्राप्त हुआ। आहाहा! ऐसा है आत्मा।

श्रोता – शुद्धरूप परिणमित हो, उसे ही जीव कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री – वही जीव है। अशुद्धरूप परिणमे वह तो राग, विकार, संसार है। वह जीव कहाँ है? वस्तु तो जीव है परन्तु (शुद्धरूप से) परिणमे, तब उसे जीव कहने में आता है न? तब उसे ख्याल में आता है न? जीव तो त्रिकाल कारणपरमात्मा शुद्ध ही है परन्तु स्वीकार करे कि यह है, तब तो पर्याय में शुद्धता हुई। यह क्या कहा? इसे है, उसका स्वीकार होवे, तब तो वह पर्याय शुद्ध होवे, उसने स्वीकार किया। आहाहा! है, वह इसे जमा कहाँ है? है तो है त्रिकाली शुद्ध आनन्द का नाथ ही है, शुद्ध परमात्मस्वरूप ही स्वयं विराजता है। निगोद की पर्याय के काल में भी वह है और केवलज्ञान की पर्याय के काल में भी पूर्णानन्द का नाथ विराजमान है। अन्दर द्रव्यस्वभाव से एकरूप (है) परन्तु किसे? आहाहा! जिसे वह द्रव्यस्वभाव पर्याय में बैठा उसे। समझ में आया? जिसने उसे पीठ देकर राग और विकल्प को अपना मानकर स्वीकार किया है, उसे तो वह है ही नहीं। विद्यमान चीज भी उसे तो अविद्यमान है। आहाहा! अविद्यमान रागादि चीज, उसे – अज्ञानी को विद्यमान दिखती है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है प्रभु! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज है? आहाहा! आहाहा!

भावार्थ : जैसे समुद्र के आड़े कुछ आ जाये तो जल दिखायी नहीं देता.... समुद्र तो बड़ा भरा है अन्दर, परन्तु ऐसे चादर आड़ी आ जाये तो उसका जल नहीं दिखता। **जब वह आड़ दूर हो जाती है....** उसे तोड़ डाले, **तब जल प्रगट होता है;...** जल तो जल है ही परन्तु इसकी पर्याय में ख्याल आता है कि ओहोहो! आहाहा! **वह प्रगट होने पर, लोगों को प्रेरणायोग्य होता है कि 'इस जल में सभी लोग स्नान करो',...** इस जल में सर्व स्नान करो, यह मीठा जल, हों! खारा जल नहीं। इक्षुरस का आता है न? इक्षु के रस जैसा पानी... भगवान को जो स्नान कराये। आहाहा!

श्रोता – क्षीरसागर में से देव पानी लाते हैं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री – लाते हैं न वहाँ से, वहाँ से घट भरकर लाते हैं इन्द्र, इक्षुरस – क्षीरसमुद्र... जब भगवान को मेरु पर्वत पर ले जाते हैं, तब इन्द्रों की पंक्ति जमती है ऐसे देवों की ठेठ तक, पानी नीचे नहीं रखते, वहाँ से इक्षुरस (क्षीर सागर का जल) के कलश भरकर वह इसे दे, यह इसे दे... आहाहा ! भगवान को स्नान कराते हैं। इक्षुरस से वापस, हों ! लवण समुद्र के पानी से नहीं। आहाहा !

इसी प्रकार.... भगवान आत्मा आनन्दरस से भरपूर भगवान में स्नान कर, जा। आहाहा ! आनन्दरस से तुझे नहलाते हैं और राग को धो डाल। आहाहा ! ऐसी बातें हैं। व्यवहार के रसिक में पूरा सम्प्रदाय ही व्यवहार का रसिक है। अभी, बस तप करो, अपवास करो, यह करो, यह करो और उपदेश भी ऐसा देते हैं कि इससे लाभ होगा। अरे... अरे... ! प्रभु... प्रभु... प्रभु... क्या हो ? इस कारण बेचारे प्राणी को सत्य नहीं मिलता, सत्य की झाँकी होने का प्रसंग भी इसे नहीं है। आहाहा !

यहाँ कहते हैं, जैसे वह समुद्र का पानी बाहर दिखे और स्नान करे; **इसी प्रकार यह आत्मा विभ्रम से आच्छादित था....** यह राग, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम – राग से मुझे लाभ होगा — ऐसे मिथ्यात्व में था। आहाहा ! राग की रुचि में ही रुक गया था, आहाहा ! इस कारण भगवान आच्छादित – ढ़ँक गया था। **तब उसका स्वरूप दिखायी नहीं देता था;...** राग की रुचि के प्रेम में, पूरा भगवान आनन्द जल से भरा हुआ दिखायी नहीं देता था। बाह्य तरफ के लक्ष्यवाली वृत्तियों के प्रेम में रुकने से भगवान आनन्दस्वरूप सरोबर जल से भरा हुआ दिखायी नहीं देता था। आहाहा !

अब विभ्रम दूर हो जाने से.... यह राग दया, दान का चाहे तो भगवान की... भक्ति का हो परन्तु वह राग है, वह कोई धर्म नहीं, इस आत्मा के स्वरूप में वह नहीं। ऐसा कठिन काम ! लोगों को तो कहते हैं कितने ही – यह सोनगढ़ तो निश्चयाभासी, अकेले निश्चय की बातें करते हैं — ऐसा कहते हैं, कितने ही बेचारे...

श्रोता – निश्चय की अर्थात् वास्तविक, मोक्षमार्ग प्रकाशक में है।

पूज्य गुरुदेवश्री – आहाहा ! वही सत्य भी है, अन्य व्यवहार तो राग होता है, वह

ज्ञान करने के लिये है और उससे कोई निश्चय होता है (ऐसा नहीं है) आहाहा! धर्मी को भी आत्मा का ज्ञान-दर्शन होने पर स्थिरता पूर्ण न हो तो राग आता है। भक्ति आदि का, पूजा का भी (राग आता है), वह तो बन्ध का कारण है, हेय है, वह शरण नहीं है। आहाहा! ऐसी बहुत कठिन बातें हैं। आहाहा!

विभ्रम दूर हो जाने से यथास्वरूप (ज्यों का त्यों स्वरूप) प्रगट हो गया;.... आनन्द का नाथ आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय गर्भित, वह आनन्द प्रगट हुआ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, तब आनन्द प्रगट हुआ। आहाहा! **इसलिए 'अब उसके वीतराग-विज्ञानरूप शान्तरस में'....** आहाहा! वीतराग-विज्ञान नहीं आता? वीतराग-विज्ञान, हुकमचन्दजी का, पाठशाला की पुस्तिका है न? वीतराग-विज्ञानरूप शान्तरस, एक समय, एक ही काल में **'सर्व लोक मग्न होओ'....** आहाहा! पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान का जहाँ आश्रय लिया, तब पर्याय में पूर्ण आनन्ददशा प्रगट हुई। आहाहा! तब वह कहते हैं कि इसमें सभी जीव एक साथ आकर स्नान करो, प्रभु! आहाहा! इस संसार का मैल धो डालो। आहाहा! ऐसा है, इसमें कोई बड़ी विद्वत्ता और बड़े भाषण करे... ऐसा है, वैसा है और अमुक है.... बापू! यह मार्ग अलग, नाथ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग अलग है भाई! आहाहा! यह व्रत, तप, भक्ति और पूजा से धर्म मनवाना, यह तो राग से धर्म मनवाना है। यह जैनधर्म ही नहीं, यह तो इसने अजैन को जैन माना है। आहाहा!

श्रोता – जैन के प्रमुख ऐसा ही मानते हैं और प्ररूपण करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री – क्या हो भाई! सबको अभी... उन्हें मिला नहीं, सुनने को मिला नहीं, क्या मार्ग है...! आहा! सम्प्रदाय में हमारे गुरु थे, वे बेचारे बहुत भद्र थे, सज्जन थे, क्रिया ऐसी कि अभी दिगम्बर साधु तो उनके लिये बनाया हुआ आहार लेते हैं, यह तो प्राण जाये तो भी इनके लिये पानी की बूँद बनायी हो तो न लें – ऐसे थे सम्प्रदाय के.... गाँव में जावें सात-आठ घर बनियों के हों, जायें कि तुरन्त वे लोग बेचारे पानी बनावें (गर्म करें) महाराज आये हैं और गर्म पानी मिले नहीं, गाँव में जायें वहाँ बहिन! यह पानी ऐसा कैसे? महाराज! हमने स्नान करते हुए बढ़ाया। इतना अधिक पानी स्नान करते हुए बढ़ाया? नहीं लेते थे। दिन के दिन पानी बिना निकाले थे, हमने भी यही किया था, तब उसमें थे, हमारी

सब क्रिया बहुत कड़क थी। छाछ लेकर आते फिर.... छाछ समझे न, मट्ठा। काठी लोगों में बहुत मिलता है, काठी होते हैं न, ग्रासिया। बहुत छाछ मिलती, वह लेकर आते, पानी नहीं। पानी की बूँद पूरे दिन में न पिया हो कितने ही दिन ऐसे व्यतीत होते। यहाँ तो प्रतिदिन उनके लिये पानी का आहार करे – दस सेर पानी का। अररर.... !

उन्हें भी बेचारों को तत्त्व की बात कान में नहीं पड़ी थी। अरेरे! कि यह पर की दया का भाव, वह राग है और वह हिंसा है, वह धर्म नहीं, यह बात (उनके) कान में नहीं पड़ी। आहाहा! बेचारे काल कर गये (स्वर्गस्थ हो गये)। अरे! रास्ते में सांसत चढ़ा। आहाहा! कैसे थे सज्जन! उनकी मिठास, उनकी लौकिक दृष्टि, आहाहा! उनका नैतिक जीवन, परन्तु यह बात कान में नहीं पड़ी कि यह पर की दया पालना राग है और राग है, वह हिंसा (स्व) जीव की है। अररर! अभी मस्करी करते हैं। अरे! इस पर की दया के भाव को राग कहते हैं... परन्तु अब पुरुषार्थसिद्धियुपाय में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं और वहाँ आत्मा की हिंसा कहते हैं। सुन न प्रभु! तूने सुना नहीं भाई! आहाहा! दया का धर्म तो आत्मा की दया, पूर्णानन्द का नाथ है, जैसी जीवित ज्योति है, उसे उसरूप मानना, वह उसकी दया है। आहाहा! उसे हीनाधिक मानना, वह (निज) आत्मा की हिंसा है। आहाहा! क्या जीव अधिकार! आहाहा! ३८ गाथा, उसका यह कलश! आहाहा! अभिमान उतर जाये, ऐसा है। आहाहा!

वीतराग-विज्ञान शान्तरस में... एक तो वीतरागी-विज्ञान शान्तरस पर्याय में आया, उसमें **'एक ही साथ सर्व लोक मग्न होओ' इस प्रकार आचार्यदेव ने प्रेरणा की है।** आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य महासन्त परमेष्ठी... आहाहा! पंच परमेष्ठी में परमेष्ठी थे। आहाहा! आचार्य परमेष्ठी प्रेरणा करते हैं प्रभु! आहाहा! वीतराग शान्तरस में मग्न हुए, जगत को वीतराग शान्तरस में एक साथ सर्व जीव... आहाहा! हम कर सके हैं तो प्रभु! तुम क्यों नहीं कर सकते? तुम भी प्रभु आत्मा हो न? आहाहा! ऐसा कहते हैं। आहाहा! दुनिया के मान-अपमान को छोड़। आहाहा! भगवान निर्मान, अनन्त आनन्द का नाथ, उसका जो मान पर्याय में दिया, वीतरागी विज्ञानदशा, आहाहा! उसमें मग्न होओ (ऐसी) आचार्य ने प्रेरणा की है। **अथवा इसका अर्थ यह भी है कि जब आत्मा का अज्ञान दूर होता है, तब केवलज्ञान प्रगट होता है....** लो! यहाँ तो एकदम...

श्रोता – पूर्ण प्राप्त हो।

पूज्य गुरुदेवश्री – विभ्रम कहा था न? अज्ञान दूर हो, कारण कि अभी बारहवें तक अभी अज्ञान है। अज्ञान अर्थात् विपरीत नहीं परन्तु कम ज्ञान है न, आहाहा! इसलिए अज्ञान कहा है। आहाहा! **अज्ञान दूर होता है, तब केवलज्ञान प्रगट होता है....** अथवा यह मिथ्यात्व जाये, वह अज्ञान जाये तो केवलज्ञान हुए बिना रहता ही नहीं इसे। आहाहा!

समस्त लोक में रहनेवाले पदार्थ.... आलोकम् उच्छलन्ति कहा था न, उसका दूसरा अर्थ किया कि **समस्त लोक में रहनेवाले पदार्थ एक ही समय ज्ञान में झलकते हैं,....**

श्रोता – पदार्थ उसमें आकर झलकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री – एक समय में सब ज्ञान होता है। तीन काल-तीन लोक एक समय में झलकते हैं, यह भी व्यवहार है। अर्थात् पर्याय में जानने में आते हैं। भाषा तो भाषा क्या करे? आहाहा! **उसे समस्त लोक देखो।** लो, यह पूरा हुआ।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

इस प्रकार इस समयप्राभृत ग्रन्थ की आत्मख्याति नामक टीका में टीकाकार ने पूर्वरङ्ग स्थल कहा।

यहाँ टीकाकार का यह आशय है कि इस ग्रन्थ को अलङ्कार से नाटकरूप में वर्णन किया है। नाटक में पहले रङ्गभूमि रची जाती है। वहाँ देखनेवाले, नायक तथा सभा होती है और नृत्य (नाट्य, नाटक) करनेवाले होते हैं जो विविध प्रकार के स्वाङ्ग रखते हैं तथा शृङ्गारादिक आठ रसों का रूप दिखलाते हैं। वहाँ शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत – यह आठ रस, लौकिक रस हैं; नाटक में इन्हीं का अधिकार है। नवमा शान्तरस है, जो कि अलौकिक है; नृत्य में उसका अधिकार नहीं है। इन रसों के स्थायी भाव, सात्विक भाव, अनुभावी भाव, व्यभिचारी भाव, और उनकी दृष्टि आदि का वर्णन रसग्रन्थों में हैं, वहाँ से जान लेना। सामान्यतया रस का यह स्वरूप है कि

ज्ञान में जो ज्ञेय आया, उसमें ज्ञान तदाकार हुआ, उसमें पुरुष का भाव लीन हो जाय और अन्य ज्ञेय की इच्छा नहीं रहे, सो रस है। उन आठ रसों का रूप नृत्य में नृत्यकार बतलाते हैं और उनका वर्णन करते हुए कवीश्वर जब अन्य रस को अन्य रस के समान कर भी वर्णन करते हैं, तब अन्य रस का अन्य रस अङ्गभूत होने से तथा अन्यभाव रसों का अङ्ग होने से, रसवत् आदि अलङ्कार से उसे नृत्यरूप में वर्णन किया जाता है।

यहाँ पहले रङ्गभूमिस्थल कहा। वहाँ देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है, उनको दिखलाते हैं। नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं और दोनों का एकपना, कर्ताकर्मपना आदि उनके स्वाङ्ग हैं। उनमें वे परस्पर अनेकरूप होते हैं - आठ रसरूप होकर परिणमन करते हैं, सो वह नृत्य हैं। वहाँ सम्यग्दृष्टि दर्शक जीव-अजीव के भिन्न स्वरूप को जानता है; वह तो इन सब स्वाङ्गों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि, जीव-अजीव के भेद नहीं जानते, इसलिए वे इन स्वाङ्गों को ही यथार्थ जानकर उनमें लीन हो जाते हैं। उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हें शान्तरस में लीन करके सम्यग्दृष्टि बनाता है। उसकी सूचनारूप में रङ्गभूमि के अन्त में आचार्य ने 'मज्जंतु' इत्यादि इस श्लोक की रचना की है, वह अब जीव-अजीव के स्वाँग का वर्णन करेंगे, इसका सूचक है — ऐसा आशय प्रगट होता है। इस प्रकार यहाँ तक रंगभूमि का वर्णन किया है।

नृत्य कुतूहल तत्त्व को, मरियवि देखो धाय।
निजानन्द रस में छको, आन सवै छिटकाय॥

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री समयसार परमागम की (श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित) आत्मख्याति नामक टीका में पूर्वरंग समाप्त हुआ।

मैं परमात्मा हूँ - ऐसा नक्की कर!
मैं परमात्मा हूँ - ऐसा निर्णय कर!
मैं परमात्मा हूँ - ऐसा ऐसा अनुभव कर!

- पूज्य गुरुदेवश्री